भारतीय अर्थशास्त्र

लेखक :

केवल कृष्ण ड्यूवेट एम. ए. पी. एच. डी.

अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग यूनीवर्सिटी कॉलिज, होशियारपुर

तथा

गुरुचरण सिंह एम. ए.

भूतपूर्व अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, गवर्नमेंट कॉलिज, होशियारपुर

द्वितीय संशोधित तथा परिवर्धित संस्करण

(१९५४)

प्रीमियर पब्लिशिंग कम्पनी

फव्वारा — दिल्ली

लेखक की अन्य पुस्तकें :

अर्थशास्त्र के आधुनिक सिद्धान्त——केवल कृष्ण ड्यूवेट (१९५४) १०॥)
सुबोध अर्थशास्त्र सिद्धान्त——केवल कृष्ण ड्यूवेट तथा
जयदेव वर्मा १९५४ ५॥)
सुबोध भारतीय अर्थशास्त्र——केवल कृष्ण ड्यूवेट तथा
जयदेव वर्मा १९५४ ६)

इन पुस्तकों के अंग्रेजी ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं ।

मूल्य १०) मात्र

गौरीशंकर शर्मा के प्रबन्ध से प्रीमियर पब्लिशिंग कम्पनी ने प्रकाशित किया, तथा क्रॉनिकल प्रेस, मोरीगेट दिल्ली, में छापा।

दूसरे संस्करण की भूमिका

प्रस्तुत 'भारतीय अर्थशास्त्र' हमारी अंगरेजी की (Indian Economics) का द्वितीय हिन्दी-संस्करण है। हमें प्रसन्नता है कि अर्थशास्त्र के बी० ए० के विद्यार्थियों ने भारतीय अर्थशास्त्र के प्रथम संस्करण का यथोचित स्वागत किया, और इसी के फलरूप हम द्वितीय संस्करण भी उपस्थित करने योग्य हुए हैं।

प्रस्तुत संस्करण में पुस्तक का आद्योपान्त और विस्तृत संशोधन कर दिया गया है और साथ ही बहुत-सी नयी सामग्री का भी समावेश किया गया है। सर्वत्र नये तथ्य और अंकों को दे दिया गया है। इसके अतिरिक्त, भारत में जिस नई अर्थव्यवस्था और अर्थ-नीति की रचना की जा रही है, उसे दृष्टि में रखते हुए नवीन विचार धारा से तत्सम्बंधी तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। तात्पर्य यह कि विद्यार्थियों की आवश्यताओं को विचार में रखते हुए प्रस्तुत संस्करण सब भांति पूर्ण करने की भरसक चेष्टा की गई है। भाषा संबंधी कठिनाइयों के प्रति भी हमने उपेक्षा नहीं की, और पर्याप्त रूप में सुधार कर दिया है।

सब से महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रकाशक ने इस बार मूल्य की भारी कमी कर दी है। प्रथम संस्करण का मूल्य १५) था, किंतु प्रस्तुत संस्करण केवल १०) में ही उपलब्ध होगा। प्रथम संस्करण के अवसर पर भी हमने प्रकाशक का इस ओर ध्यान आकर्षित किया था, किंतु प्रारंभिक-व्ययों के कारण वह उस समय वैसा करने में असमर्थ रहे। हमें प्रसन्नता है कि विद्यार्थियों की जेब का ध्यान रखते हुए प्रकाशक ने इस ओर ध्यान दिया है। इसके लिए वह हमारे और विद्यार्थी-जगत के धन्यवाद के पात्र हैं।

हमें विश्वास है, विद्यार्थी प्रस्तुत संस्करण का भी पूर्ववत सहृदयतापूर्वक स्वागत करेंगे।

—लेखक

विषय-सूची

भारतीय अर्थशास्त्र

प्रस्तावना

भारतीय अर्थशास्त्र का रूप और उसका कार्य-क्षेत्र

१. भारतीय अर्थशास्त्र क्या है ? "भारतीय अर्थशास्त्र" शब्द के उपयोग के विषय में अत्यधिक वाद-विवाद चला आता है। इस शब्द का सब से प्रथम न्यायाधीश रानाडे ने अपने उन व्याख्यानों में उपयोग किया था, जो उन्होंने पूना के डेकन कॉलेज में सन् १८९२ में भारतीय राजनीतिक अर्थशास्त्र पर दिये थे। 'भारतीय अर्थशास्त्र' शब्द की अनेक व्याख्याएँ की जा सकती हैं।

इसका एक अर्थ भूतकालीन तथा वर्तमान भारतीय आर्थिक विचारों का अध्ययन हो सकता है। किन्तु भारतीय आर्थिक विचारों के क्षेत्र के सम्बन्ध में अभी तक भी बहुत-कुछ अनुसन्धान करना बाकी है। तदनुरूप सामग्री बहुत कम है। यदि हम भारतीय आर्थिक विचारों के इतिहास के सम्बन्ध में अन्वेषण करें तो हमको उसमें इतने अधिक अन्तरालों को पार करना पड़ेगा कि हमें अपने प्रयत्न को व्यर्थ समझ कर उससे हाथ खींचना पड़ेगा। कुछ प्राचीन हिन्दू-शास्त्रों---विशेषकर कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ऐसे विचारों का भारी भंडार भरा पड़ा है, जिनको अर्थशास्त्र सम्बन्धी विचार कह सकते हैं। किन्तु उनका सम्बन्ध एक विशेष काल से ही है और उससे भारतीय आर्थिक विचारों के क्रमबद्ध विकास का पता नहीं लगाया जा सकता। अतएव, हम भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन को भारतीय आर्थिक विचारों के अध्ययन के साथ एकाकार नहीं कर सकते।

शब्द 'भारतीय अर्थशास्त्र' का दूसरा संभावित अर्थ यह है कि यह अर्थशास्त्र का बिल्कुल नया विज्ञान है, जो एडम स्मिथ से प्राप्त उस अर्थशास्त्र विज्ञान से मौलिक रूप में भिन्न है, जिसको पश्चिम के विचारकों ने पुष्ट किया है। न्यायमूर्ति रानाडे ने इस बात पर विशेष रूप से बल दिया है कि पाश्चात्य अर्थशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों को भारतीय परिस्थितियों पर लेशमात्र भी लागू नहीं किया जा सकता। भारत की असाधारण सामाजिक रचना (जिसमें जाति-प्रथा तथा सम्मिलित परिवार प्रणाली के अलावा प्रतियोगिता तथा समानता के व्यावहारिक नियम के स्थान पर रीतियों तथा प्रथाओं की प्रधानता पाई जाती है) के कारण रानाडे की सम्मति में भारतीय लोग पाश्चात्य लोगों के ठीक विपरीत दिशा में जाते हैं। जिस समय रानाडे ने पाश्चात्य अर्थशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्त के विषय में इस प्रकार की गर्जना की थी तो हम एक प्रकार की उनसे आशा लगाये बैठे थे। उस समय यह दिखाई देता था कि संभवतः उनके द्वारा एक नये विज्ञान को जन्म दिया जायगा। किन्तु रानाडे का एकमात्र उद्देश्य था पाश्चात्य अर्थशास्त्र सम्बन्धी सिद्धांत को भारतीय परिस्थितियों पर बिना विवेक के लागू करने के विरुद्ध प्रबल प्रतिरोध उपस्थित करना।

वास्तव में भारतीय अर्थशास्त्र का कोई नया विज्ञान उसी प्रकार संभव नहीं हो सकता, जिस प्रकार भारतीय गणित, भारतीय भौतिक-शास्त्र आदि नहीं हो सकते।

शब्द 'भारतीय अर्थशास्त्र' का एक अन्य उपयोग यह है कि यह अर्थशास्त्र के साधारण सिद्धांतों का उस प्रकार का अध्ययन है, जिसमें भारतीय आर्थिक जीवन के समुचित उदाहरण दिये गये हों। किन्तु भारतीय जीवन के अर्थशास्त्र सम्बन्धी नियमों का दृष्टांतपूर्वक विवेचन उपयोगी एवं आवश्यक होने पर भी यह बात ध्यान में रखने की है कि अर्थशास्त्र के इस प्रकार के अध्ययन को 'भारतीय अर्थशास्त्र' नहीं कहा जा सकता। इतने पर भी वह अर्थशास्त्र सम्बन्धी सिद्धांतों का अध्ययन ही बना रहेगा। भारतीय अर्थशास्त्र--जिससे अब हम परिचित हो चुके हैं--बिल्कुल ही भिन्न विषय है।

सार्वजनिक तथा उचित दृष्टिकोण यही है कि शब्द 'भारतीय अर्थशास्त्र' का अभिप्राय है अर्थशास्त्र के सामान्य सिद्धांतों के भाववाचक अध्ययन से भिन्न ठोस भारतीय आर्थिक समस्याओं का अध्ययन। भारत को आज अनेक आवश्यक आर्थिक समस्याओं का मुकाबला करना पड़ रहा है। भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य यह दिखलाना है कि यह समस्याएं किस प्रकार उत्पन्न हो गईं तथा उन समस्याओं को किस प्रकार सुलझाया जा सकता है, जिससे भारत को समृद्धि के मार्ग पर ले जाया जा सके। भारतीय अर्थशास्त्र को पक्षपात रहित होकर भारतीय आर्थिक समस्याओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना होगा। उसको शांति के साथ वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों का विश्लेषण करना होगा तथा सहानुभूतिपूर्ण ढंग से देश के लिए अत्यधिक हितकारी राष्ट्रीय नीति का निर्माण करना होगा।

२. भारतीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र। जैसा कि भारतीय अर्थशास्त्र की ऊपर दी हुई परिभाषा से स्पष्ट है, भारतीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र में भारत की विभिन्न आर्थिक समस्याएँ तथा उनके समाधान का अध्ययन किया जाता है। भारतीय अर्थशास्त्र अर्थ-सम्बन्धी नियमों के निर्माण से स्वयं कोई सम्बन्ध नहीं रखता। उसमें तो वर्तमान नियमों का भी बहुत कम, और वह भी कभी-कभी ही उल्लेख किया जाता है। यह एक ठोस और वास्तविक अध्ययन है। यह ऐसा भाववाचक अध्ययन नहीं है, जिसमें वास्तविकता का परित्याग कर दिया गया हो। यह भारतीय कृषि, व्यापार, उद्योग, मुद्रा (Currency) तथा विनिमय और भारत की बैंकिंग प्रणाली से सम्बन्ध रखने वाली समस्याओं का अध्ययन करता है। यह आन्दोलनों का अध्ययन भी करता है, जैसा कि श्रमिक आन्दोलन, सहकारिता समितियों का आन्दोलन तथा मूल्यों की गतियों का आन्दोलन। प्राकृतिक तथा सामाजिक वातावरण और उनके द्वारा पड़ने वाले आर्थिक प्रभाव का भी अत्यन्त सतर्कता से अध्ययन किया जाता है। इसके अतिरिक्त हमको भूमि-कर प्रणाली, यातायात प्रणाली तथा सार्वजनिक राजस्व का भी अध्ययन करना पड़ता है। ग्रामीण ऋणग्रस्तता, विदेशी पूंजी तथा राजकर सम्बन्धी नीति की समस्याओं की भी सावधानी से छानबीन की जाती है। सारांश यह है कि भारतीय अर्थशास्त्र में हमको भारतीय आर्थिक जीवन की प्रत्येक गति का अध्ययन करना पड़ता है। वास्तव में यह अध्ययन की एक अत्यन्त लालसापूर्ण योजना है।

यह अध्ययन एक और प्रकार से भी लालसापूर्ण है। यह भूतकाल को खोद-खोद कर देखता है, यह वर्तमान का सावधानी से विश्लेषण करता है तथा अपने अध्ययन से प्रत्येक समस्या के सम्बन्ध में भविष्यवाणी का प्रयत्न करता है। किसी आर्थिक समस्या के संभावित कारणों का पता लगा लेने से ही उसका कार्य समाप्त नहीं हो जाता। उसको उस समस्या का, उसके सभी महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोणों से अध्ययन करना चाहिए। फिर उसका

अनुसरण करने योग्य एक नीति के सम्बन्ध में सुझाव देना चाहिए। और उस प्रकार की नीति के परिणामों के विषय में पहले से ही अनुमान लगा लेना चाहिए। इस प्रकार यह अध्ययन विस्तृत तथा गहरा--दोनों ही प्रकार का है।

भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का एक मुख्य उद्देश्य है भारतीय जनता के आर्थिक हितों का अधिकाधिक संपादन करना। यह उच्च कोटि के प्राचीन अर्थशास्त्री केयरनीज़ (Cairnes) तथा नवीन अर्थशास्त्री रॉबिन्स (Robbins) के समान तटस्थ वृत्ति का अवलम्बन नहीं करता। भारतीय अर्थशास्त्री स्पष्ट रूप से पक्षपाती हैं। वह अपने देश का हित सम्पादन करना चाहते हैं, यद्यपि ऐसा वह अन्य देश के हितो का बलिदान करके करना नहीं चाहते। इस प्रकार भारतीय अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों को दृढ़ता से भारत के राष्ट्रीय हित को लगातार ध्यान में रखना होता है; किन्तु इसका अभिप्राय अन्तर्राष्ट्रीय गतिविधियों में उदासीनता नहीं है। भारत के अर्थशास्त्री पृथकत्ववादी नहीं होते। इसका अभिप्राय केवल यह है कि वह भारत के लिए जो कुछ भी आर्थिक सुविधा प्राप्त हो सके, उसके लिए प्रयत्न करना चाहते हैं। वह भारत को सबसे ऊंचा स्थान देना चाहते हैं, और उनकी इस वृत्ति में कोई बुरी बात नहीं है।

३. भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता। भारतीय अर्थशास्त्र इतने अधिक प्रकार की तथा पेचीदा समस्याओं का वर्णन करता है कि उससे मस्तिष्क को अत्यधिक सामग्री मिलती है। मानसिक उत्कर्ष में इस प्रकार के अध्ययन का एक आवश्यक स्थान होता है। यदि कोई व्यक्ति अपने निजी देश की आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में वार्तालाप न कर सके तो वह ठीक तौर से शिक्षित होने का दावा नहीं कर सकता। यह विषय इतना अधिक महत्त्वपूर्ण है। जिन मामलों का हमको मुकाबला करना पड़ता है उनको ठीक तौर से समझने के लिए भी यह अध्ययन आवश्यक है। अनेक पठित व्यक्ति किसी दैनिक पत्र के प्रथम पृष्ठ पर मुद्रा-प्रसार (Inflation) अथवा क्रॉसरेट (Cross Rate) शब्दों को देखकर परेशान हो जाते हैं। भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से उनको इस कठिनाई में सहायता मिलेगी।

किन्तु इस विषय के उन्नति-संबंधी दृष्टिकोण के अतिरिक्त इसक अध्ययन करने की आवश्यकता इससे भी अधिक एक भारी दृष्टिकोण से है। भारत आज अपने इतिहास के अत्यधिक नाजुक समय में से गुजर रहा है। आज उसने अपने सौ वर्ष पुराने स्वतन्त्रता के स्वप्न को कार्यरूप में परिणत कर लिया है। यदि उसको सफल होना है और यदि उसको कुशलतापूर्वक भारतीय जनता की वास्तविक भलाई के लिए कार्य करना है तो भारत के विधान-निर्माताओं को पूर्ण अध्ययन के साथ जनतंत्र को कार्यरूप में परिणत करना चाहिए। उसको जागरूक जनता द्वारा भी समर्थन मिलना चाहिए। कुछ सम्माननीय अपवादों को छोड़ कर, हमारी विधान सभा के अधिकांश सदस्य मुद्रा (Currency) विनिमय (Exchange) की समस्याओं, तटकर नीति तथा सार्वजनिक राजस्व (Public Finance) की समस्याओं से नितांत अपरिचित हैं। उनको हल करने में वह क्या संभव सहायता कर सकते हैं? सभी प्रकार के विधान का प्रधान रूप अर्थशास्त्र है। अतएव भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन सभी सम्बन्धित व्यक्तियों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण आर्थिक समस्याओं की भरमार हो गई है प्रत्येक पठित भारतीय से यह आशा की जाती है कि वह इन समस्याओं के हल करने में स्वयं कुछ योग दें। भारतीय अर्थशास्त्र के मामलों के आवश्यक ज्ञान से लैस रहना

हमारी आवश्यक तैयारी का एक अंग है। जब तक भारत की आर्थिक समस्याओं को संतोषजनक रूप से नहीं सुलझाया जायगा, भारत में वास्तविक स्वतंत्रता नहीं आ सकती।

भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन का व्यावहारिक महत्त्व तो वर्णनातीत है। भारतीय कृषि की समस्याओं पर वाद-विवाद से व्यावहारिक किसानों को अत्यधिक लाभ होगा। भारतीय उद्योग-धन्धों के अध्ययन से उद्योगपतियों को अत्यंत उपयोगी शिक्षा मिल सकती है। व्यापारी भी व्यापारिक समस्याओं और उनकी प्रवृत्तियों के अध्ययन से अत्यधिक लाभ उठा सकता है। बैंकिंग कार्य में लगा हुआ व्यक्ति भारतीय बैंकिंग प्रणाली के अध्ययन से अच्छा फल प्राप्त कर सकता है। भारतीय श्रमिक नेता भारत की श्रमिक समस्याओं से अधिक परिचित होकर श्रमिकों के संग्राम को अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से लड़ सकेंगे। सारांश यह कि भारतीय आर्थिक जीवन के बुद्धिमत्तापूर्ण अध्ययन से भारत की दरिद्रता की समस्या को हल करने में बड़ी भारी सफलता मिलेगी।

पहला अध्याय

भौगोलिक पृष्ठभूमि

१. भारतीय आर्थिक जीवन पर भौगोलिक प्रभाव। कहा जाता है कि "देश स्वयं ही अपने निवासियों का निर्माण करता है।" हम इस कथन की यह कह कर व्याख्या कर सकते हैं कि किसी देश की प्राकृतिक परिस्थितियों का सभी मामलों में उसके आर्थिक जीवन पर भारी प्रभाव पड़ता है। जलवायु का श्रमिकों की योग्यता पर प्रभाव पड़ता है। वर्षा तथा भूमि के उपजाऊपन की प्रकृति के साथ मिल कर जलवायु यह भी निश्चय करता है कि वहां फसल में क्या वस्तुएं बोई जायँगी। प्राकृतिक दशा तथा नदी प्रणाली तो किसी देश की विशेष प्रकार की भौगोलिक रचना का परिणाम होती है। यह सब मिलाकर व्यापार तथा उद्योग-धन्धों के परिमाण तथा उनकी गति का निश्चय करते हैं, जो फिर सरकारी राजस्व तथा सरकारी कार्यों को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार सभी आर्थिक तथा राजनीतिक कार्य प्राकृतिक परिस्थितियों के परिणाम होते हैं।

भारतीय आर्थिक जीवन पर प्राकृतिक प्रभावों की प्रधानता रही है। हिमालय वर्षा पर प्रभाव डालता है और वर्षा देश भर में कृषि-कार्यों को प्रभावित करती है। हमारे समुद्री तट के रूप और भूमि की सीमा ने व्यापार की दिशा और उसके परिमाण पर अपना प्रभाव डाला है। आकार तथा भूगर्भ-रचना देश की खनिज सम्पत्ति के रूप का निर्णय करते हैं। साथ ही वह भारतीय उद्योग-धन्धों को उपलब्ध होने वाले शक्ति-साधनों के लिए भी उत्तरदायी हैं। भारतीय जलवायु भारतीय श्रमिकों की योग्यता पर कम प्रभाव नहीं डालता। और वह देश की पशु-सम्पत्ति तथा वनस्पति-सम्पत्ति पर भी प्रभाव डालता है। यह कहा जाता है, कि भारत का बजट 'मौनसून वायु में एक जुआ है।' इस प्रकार भारतीय कृषि, व्यापार और उद्योग-धन्धों, राजस्व तथा सभी बातों पर देश के प्राकृतिक वातावरण का प्रभाव पड़ता है। वास्तव में भारतीय जीवन के किसी ऐसे पहलू के विषय में विचार करना कठिन है जिस पर प्राकृतिक परिस्थितियों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभान न पड़ता हो।

२. भारत के विषय में कुछ भौगोलिक तथ्य—आकार, स्थिति आदि। हमारे देश के विषय में पहली बात जिसकी ओर किसी का ध्यान जाता है, देश के बृहद् आकार और उसके महाद्वीपीय विस्तार की है। अविभक्त भारत का समस्त क्षेत्रफल १५,७४,००० वर्गमील था। विभाजन के फलस्वरूप अब भारतीय संघ का क्षेत्रफल १२,२१,००० वर्गमील है। आज भी संपूर्ण भारत का समस्त क्षेत्रफल ग्रेट-ब्रिटेन के क्षेत्रफल से बारह गुना है। भारत आज भी अपने अन्दर फ्रांस, ब्रिटेन, आयरलैण्ड, बेल्जियम, हालैण्ड, जर्मनी, डेनमार्क, आस्ट्रिया, हंगरी, स्विटज़रलैंड, स्पेन, पुर्तगाल, इटली और रूमानिया को समा सकता है। भारत आकार में ही बड़ा नहीं है, वरन् वह मनुष्य जाति के लगभग षष्ठांश $\frac{1}{6}$ का निवासस्थान भी है। इस प्रकार वह एक देश नहीं, बल्कि एक महाद्वीप है।

इसके अतिरिक्त भारत एक ऐसा देश है, जिसमें सब प्रकार की विभिन्नताएँ मिलती हैं। उसके कुछ भागों में वर्षा बिल्कुल नहीं होती और कुछ भाग ऐसे हैं, जिनमें संसार भर

में सबसे अधिक वर्षा होती है। इसका जलवायु बर्फानी शीत से लेकर अयनवृत्त (Tropical) विषयक गरमी तक के अनेक रूपों का है। मलाबार अपनी अयनवृत्त सम्बन्धी वनस्पति से समृद्धि वाला है तो उसके विरुद्ध पंजाब के कुछ मैदानों में एक भी वृक्ष नहीं है। जनसंख्या का घनत्व भी इतनी विभिन्नता लिये हुए है कि काश्मीर में प्रति मील ४९ व्यक्ति रहते हैं तो कोचीन राज्य में प्रति मील ९५३ व्यक्ति रहते हैं। राजस्थान की बालुकामय मरुभूमि काश्मीर की घाटियों जैसे स्थानों की विरोधी है।

किन्तु इस विभिन्नता में एक प्रकार की एकता भी निहित है। यह अनेकरूपता हमारे आर्थिक तथा सामाजिक जीवन को समृद्ध बनाती है। इस प्रकार यह विभिन्नता भारत के लिए स्वागत योग्य है।

भारत की भौगोलिक स्थिति तो उसके अत्यधिक अनुकूल है। पूर्वी गोलार्द्ध के वह ठीक मध्य में है। स्वेज़ नहर के द्वारा पश्चिम से वह उतनी ही दूर है, जितना सुदूरपूर्व से अथवा आस्ट्रेलिया और अफ्रीका से। इस प्रकार व्यापार के लिए निःसन्देह उसकी स्थिति अत्युत्तम है। प्रकृति का स्पष्ट रूप से यह अभिप्राय था कि वह विश्व व्यापार के बहुत बड़े भाग के वितरण केन्द्र का काम दे सके। सारांश यह कि प्रकृति ने भारत को विशेष रूप से छाँटकर एक बड़ा तथा महत्त्वपूर्ण देश बनाया है।

३. जलवायु। देश के आर्थिक जीवन को प्रभावित करने वाले अंगों में जलवायु एक अत्यधिक महात्त्वपूर्ण अंग है। प्राकृतिक हरियाली का वितरण, पशु-सम्पत्ति तथा वनसम्पत्ति,मनुष्य की कार्य करने की योग्यता, मानवी आवश्यकताएं तथा उद्योग-धन्धों का स्थानीकरण सभी जलवायु के परिणाम हैं।

भारत में समग्र रूप से अयनवृत्त सम्बन्धी मानसून शैली का जलवायु है, तो भी वर्षा की ऋतु और उसके विभाजन और तापक्रम पर ऊंचाई के प्रभाव के कारण भारत को कई जलवायु वाले भागों में विभक्त किया जा सकता है।

इस प्रकार भारत में पहाड़ों तथा एकदम उत्तर में शीत जलवायु है तो मैदानों में उष्ण तथा शुष्क जलवायु है। यह तापक्रम की एक विभिन्न प्रकार की विस्तृत श्रृङ्खला को उपस्थित करता है जो उत्तर के कुछ भागों में ५०° से लेकर पंजाब के भटिंडा जैसे स्थानों में ११६ डिग्री और उससे भी अधिक विभिन्नता को प्रकट करता है। दक्षिण-पश्चिम का जलवायु उष्ण तथा आर्द्र है जबकि वहां का तापक्रम एक जैसा ही रहता है, कुछ भागों में तापक्रम, आर्द्रता तथा दबाव में दैनिक श्रृंखलाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं, तो भी भारत में जलवायु की एकता है।

हम अपने जलवायु के कारण ही इतने विभिन्न प्रकार की फसलें पैदा कर सकते हैं तथा अनेक समृद्ध उद्योग-धन्धों की नींव रख सकते हैं। यह हमारा जलवायु ही है जो हमारे आर्थिक आत्मनिर्भरता के उद्देश्य को हमारे समीप आता हुआ दिखलाता है, बशर्ते कि हम उस तक पहुंचने की इच्छा करें। किन्तु यह कहा जाता है कि भारतीय जलवायु मानवी शरीर को दुर्बल बना देता है। यह लोगों को उदासीन तथा आलसी बनाकर उनको कठोर तथा लगातार परिश्रम करने के अयोग्य बना देता है। किन्तु हमको अपने जलवायु के इस विपरीत प्रभाव के विषय में अतिशयोक्ति से काम नहीं लेना चाहिए और न ही अपने आर्थिक पिछड़ेपन का कारण उसे मानना चाहिए। ऐसे ही जलवायु में प्राचीन काल की भारतीय कला, साहित्य, औषधि, व्यापार और उद्योग-धन्धे आदि उन्नति के चरम-शिखर पर पहुंचे हुए थे, अतएव अपनी आर्थिक गिरावट के कारण हमको कहीं और ही खोजने चाहियें।

४. **वर्षा** । भारत जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए वर्षा के महात्त्व के विषय में कहना कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं हो सकती । हम वर्षा पर इतने निर्भर हैं कि यदि एक वर्ष वर्षा न पड़े तो हमारा समूचा आर्थिक जीवन नष्ट हो जाता है । फसलें न होने के कारण किसानों को कष्ट भोगना पड़ता है । क्रय-शक्ति न होने के कारण दूसरे औद्योगिक माल की मांग में पर्याप्त कमी हो जाती है जिसके परिणाम-स्वरूप सरकारी राजस्व में भी कमी आ जाती है और सरकार को अपने कार्यों में काट-छांट करके कार्यकर्त्ताओं की छंटनी करनी पड़ती है । सर गे फ्लीटवुड विल्सन (Sir Guy Fleetwood Wilson) ने जो भारत के कभी अर्थ-सदस्य थे, भारतीय बजट को "वर्षा में जुआ" बतलाया है और ऐसा कहने में वह पूर्णतया ठीक थे ।

भारत में वर्षा अनेक रूप दिखलाती है, उसका विभाजन तो देश भर में अत्यधिक असमान है । औसत वार्षिक वर्षा देश के विभिन्न भागों में इतनी अधिक विभिन्नता लिये हुए है कि यदि हिसार (पंजाब) में वर्ष भर में १० इंच होती है तो चेरापूंजी (आसाम) में ४६० इंच होती है । आसाम, बंगाल तथा पश्चिमी घाट जैसे प्रदेश अत्यधिक वर्षा वाले प्रदेश हैं । पंजाब, बम्बई तथा उत्तर प्रदेश जैसे क्षेत्र अनिश्चित वर्षा वाले हैं । फिर कुछ प्रदेश ऐसे हैं जहां अत्यन्त कम वर्षा होती है । पंजाब के कुछ दक्षिणी भाग, सिन्ध और राजस्थान ऐसे ही प्रदेश हैं ।

भारत की अधिकांश वर्षा समुद्री हवाओं (मानसून) से आती है । यह मानसून अरब सागर तथा बंगाल की खाड़ी से उठते हैं । भारत की ९० प्रतिशत वर्षा को यही लाते हैं । भारतीय वर्षा न केवल एक स्थान से दूसरे स्थान में विभिन्नता लिये हुए होती है, वरन् प्रति वर्ष मानसून की तीव्रता में भी परिवर्तन होता जाता है । पांच वर्ष के चक्कर में से यह कहा जाता है कि एक वर्ष अच्छा है, एक बुरा है और शेष तीन न अच्छे हैं और न बुरे हैं । यह हो सकता है कि एक साल वर्षा इतनी अधिक हो कि उससे बाढ़ें आ जायँ और एक दूसरे वर्ष केवल बूंदाबांदी होकर ही रह जाय । किन्तु हमारी वर्षा की विशेषता यह है कि वह ऋतु के अवसर पर ही होती है । उदाहरणार्थ लन्दन की वर्ष भर की २४ इंच वर्षा १६१ दिन में हल्की बूंदाबांदी के रूप में बहुत धीरे-धीरे होती है, जबकि बम्बई की ७१ इंच वर्षा केवल[1] ७५ दिन में होती है । इस प्रकार हमारी वर्षा का अधिकांश जल मूसलाधार वर्षा के रूप में आता हुआ बह कर निकल जाता है और व्यर्थ जाता है । इससे कृषि भूमि के कट जाने और बाढ़ आने से उसके अत्यधिक विनाशकारी परिणाम होते हैं ।

भारत में वर्षा की एक निश्चित ऋतु होती है और वह प्रायः ग्रीष्म ऋतु के महीनों में पड़ती है । किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ वर्षा जाड़ों में भी होती है । यह विशेष रूप से पश्चिमोत्तर में होती है । यह शीत ऋतु की वर्षा गेहूं जैसी जाड़ों की फसल के लिए अधिक उपयोगी और आवश्यक होती है । गर्मियों में मानसून के न आने अथवा जाड़ों में वर्षा के न होने से अकाल पड़ जाता है ।

५. **भूमि**—भारतीय भूमि को मोटे तौर से तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है—

(१) **नदी-निर्मित भूमि** (Alluial Soil)—इसमें गंगा के मैदान, पूर्वी तथा पश्चिमी घाट की समुद्र तटवर्ती पट्टियां और आसाम में सुर्मा घाटी । इसका क्षेत्रफल लगभग ३ लाख वर्गमील है । यह भूमि मुलायम, गहरी और छिद्रों वाली है और नमी को

---

१. आर दुबे—भारत का आर्थिक भूगोल Economic Geography of India 1941, Page 2 (a).

अधिक समय तक धारण कर सकती है। इसको नदियों ने बराबर धो-धोकर उपजाऊ बनाया है और यह फसलों की अनेक प्रकारों को बड़े परिमाण में उगाने योग्य होती है।

(२) **दक्षिणी जाल भूमि** (Deccan Trap Soil)—यह लगभग समस्त दक्षिण में फैली हुई है। इसका क्षेत्रफल लगभग दो लाख वर्गमील है। बम्बई प्रान्त के अधिकांश भाग, समस्त बरार, पश्चिमी मध्य-प्रदेश, और हैदराबाद में इस प्रकार की भूमि है। पहाड़ियों पर भूमि की ऊपरी परत पतली होती है, इसलिए निर्बल तथा अनुत्पादक होती है। किन्तु नीचे नदियों की घाटियों में भूमि की परत गहरी और अत्यन्त उपजाऊ होती है। इसमें अनेक प्रकार की फसलें—विशेषकर रूई उत्पन्न हो सकती है। नमी को थामे रखने की अपनी शक्ति के कारण इस भूमि में सिंचाई करना बिल्कुल अनावश्यक होता है।

(३) **बिलौर के समान स्वच्छ भूमि** (Crystalline Soil)—यह समस्त मद्रास प्रान्त, बम्बई प्रान्त के दक्षिण-पूर्व में, उड़ीसा, छोटा नागपुर, मध्यप्रदेश के अधिकांश भाग, आधे हैदराबाद, मध्यभारत और बंगाल तथा उत्तर प्रदेश के कुछ जिलों में मिलती है। यह भूमि लाल पत्थर की उन चट्टानों के पास मिलती है, जिनका रंग ईंट जैसा होता है और जिनको लैटेराइट (Laterite) चट्टान कहते हैं। अतएव ऐसी भूमि को लैटेराइट भूमि भी कहते हैं। जहां वर्षा अनुकूल होती हो, अथवा सिंचाई की सुविधा हो तो उस भूमि में अनेक प्रकार की अच्छी फसलें हो सकती हैं। इसमें गहराई, अनुरूपता तथा उपजाऊपन की अनेक किस्में दिखलाई देती हैं।

इनके अतिरिक्त मरुभूमि का भी उल्लेख किया जा सकता है, जो राजस्थान तथा दक्षिणी पंजाब के बड़े भारी भाग को घेरे हुए है। फिर पंजाब की रेह की भूमि या कल्लर भी है। उनमें "अत्यधिक अप्रवेश्यता तथा चिपचिपाहट के साथ-साथ बहुत अधिक खार होता है और इसमें प्रायः स्वतन्त्र रूप से अत्यधिक नमक होता है।" इनमें नत्रजन (Nitrogen) तथा ह्यूमस (Humus) बहुत कम होता है। अतएव बिना रासायनिक खाद मिलाये यह फसल उत्पन्न नहीं कर सकती।

अन्य भारतीय आर्थिक समस्याओं के समान भारतीय भूमि की समस्या भी अपने ढंग की निराली ही है। हमारी भूमि शुष्क है, जबकि अन्य अनेक देशों की भूमि गीली है। अतएव अन्य देशों में सरकार का ध्यान भूमि सुधार की ओर जाने की आवश्यकता है, जब कि भारत में सिंचाई अधिक महात्वपूर्ण है।

६. वन-सम्पत्ति। भारत के पास अपनी विस्तृत तथा विभिन्न प्रकार की वन-सम्पत्ति के रूप में अत्यन्त महात्वपूर्ण सम्पत्ति है। भारत के वनों का कुल क्षेत्रफल २,०७,७७० वर्ग मील है, जो कि देश[1] के समस्त क्षेत्रफल का १९.२ प्रतिशत है।

विभिन्न प्रदेशों में भूमि क्षेत्रफल की अपेक्षा वनों का प्रतिशत अनुपात विभिन्न प्रकार का है। उत्तर प्रदेश में यह केवल १६.४ प्रतिशत है। पंजाब में ११ प्रतिशत, बिहार में १४.८ प्रतिशत, उड़ीसा में १३.७ प्रतिशत, मद्रास में २६.९ प्रतिशत, बंगाल में १५.२ प्रतिशत, आसाम में ३९.० प्रतिशत और मध्य प्रदेश में ४७.७ प्रतिशत है।[2]

---

१. योजना कमीशन की रिपोर्ट १९५१—प्रथम पंचवर्षीय योजना, इंगलिश संस्करण (a draft outline) पृष्ठ १२९.

२. योजना कमीशन की रिपोर्ट तथा भारतीय वनों के क्षेत्र (१९४९)

अधिकांश राज्यों में वनों का क्षेत्रफल वहाँ की जनता की आवश्यकताओं के अनुसार अपर्याप्त है। केवल मद्रास, आसाम तथा मध्य प्रदेश में वन क्षेत्रफल को पर्याप्त माना जा सकता है। वनों की कमी के कारण ईंधन में कमी होती है, जिसके फलस्वरूप गाय के गोबर को ईंधन के रूप में प्रयोग करने की प्रवृत्ति बढ़ती है।

७. वनों की उपयोगिता। भारत के वन बड़ी भारी राष्ट्रीय सम्पत्ति हैं। भारत के लिए उनकी उपयोगिता अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। वह बाढ़ों के विरुद्ध प्रकृति के बीमा (Insurance) हैं। नमी की रक्षा करके वह सूखे की कठोरता को कम कर देते हैं। वह वायु-धाराओं पर भी नियन्त्रण रखते हैं। वह देहात के सौन्दर्य को बढ़ाते हैं तथा सफाई में भी सहायता करते हैं। जलवायु पर उनका प्रभाव अच्छा होता है।

वनों के इन अप्रत्यक्ष लाभों के अतिरिक्त उनसे अनेक प्रत्यक्ष आर्थिक लाभ भी हैं। वनों से मकान बनाने के वास्ते लकड़ी मिलती है तथा घरेलू एवं औद्योगिक कार्यों के लिए जलाने की लकड़ी मिलती है। वह कागज, दियासलाई और लाख जैसे महत्त्वपूर्ण उद्योगों के लिए कच्चा माल देते हैं। इसके अतिरिक्त वह अन्य भी अनेक मूल्यवान पदार्थ देते हैं, जैसे चमड़ा कमाने के लिए छाल, गोंद, अनेक प्रकार के रंग, औषधियाँ तथा जड़ों एवं फलों से कुछ खाद्य उत्पादन। वह पशुओं के लिए गोचर भूमि तथा चारा देते हैं तथा पक्षियों एवं पशुओं को निवास-स्थान प्रदान करते हैं। वन की पत्तियों का खाद के रूप में प्रयोग किया जाता है।

वन उत्पादनों को प्रायः दो श्रेणियों में बांटा जाता है–(१) बड़े उत्पादन तथा (२) छोटे उत्पादन। इमारती लकड़ी तथा जलाने की लकड़ी बड़े उत्पादन हैं। भारत की महत्त्वपूर्ण इमारती लकड़ियों में साल, देवदार, सागवान का वृक्ष, रोजवुड नामक सुगन्धित लकड़ी (Rosewood), भारतीय महोगनी तथा शीशम होते हैं। लकड़ी का उपयोग अधिक इमारती उद्देश्यों, रेलवे की गाड़ियों के निर्माण, सलीपरों के लिए, बसों की बाडी (Bodies) बनाने के लिए, फर्नीचर बनाने के लिए तथा कृषि के औजार बनाने के लिए किया जाता है।

छोटे उत्पादनों में लाख, राल, तारपीन, आवश्यक तेल, चमड़ा कमाने की सामग्री, बांस, घासें तथा जड़ी बूटियां हैं। जंगलात के छोटे उत्पादनों का मूल्य १९४४-४५ में २,२१,०८२ रुपये कूता गया था। भारत का कागज उद्योग विभिन्न प्रकार का कागज बनाने में बांस, उल्ला और सबाई घासों का उपयोग करता है। यह अनुमान लगाया जाता है कि कागज उद्योग में ३५,००० टन बाँस की लुगदी तथा २५,००० टन सबाई घास की लुगदी का उपयोग किया जाता है। दियासलाई के उद्योग के लिए तीलियाँ तथा डिब्बियाँ बनाने के लिए लकड़ी का बड़े भारी परिमाण में उपयोग किया जाता है। लाख के विषय में तो भारत का विश्व के बाजार में व्यावहारिक रूप में एकाधिकार है। यह मध्यभारत, उड़ीसा, बिहार, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, तथा मध्य आसाम से बड़े भारी परिमाण में प्राप्त की जाती है। इसके समस्त उत्पादन में से लगभग ६० प्रतिशत बिहार के छोटा नागपुर से प्राप्त की जाती है। इसमें से समस्त उत्पादन का ९८ प्रतिशत विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है। अमरीका, ब्रिटेन, जर्मनी और जापान लाख के हमारे प्रधान ग्राहक हैं। भारत में लाख से चमड़ा बनाया जाता है, जिसका उपयोग ग्रामोफोन के रिकार्ड, वारनिश तथा इनसुलेटर (बिजली बनाने योग्य बिजली के उपकरण) बनाने में लिया जाता है। राल चीड़ तथा देवदार के वृक्षों से निकाली जाती है, जिसका उपयोग बीरोजा तथा तारपीन का तेल बनाने में

किया जाता है। राल का उपयोग कागज तथा साबुन के बनाने में तथा तारपीन के तेल का उपयोग वारनिश बनाने तथा स्वास्थ्यदायक औषधियों में किया जाता है। माईराबेलान एक अत्यन्त उपयोगी वृक्ष होता है। वह चमड़ा कमाने तथा रंग बनाने में विशेष रूप से उपयोगी होता है। उसकी लकड़ी को कई यूरोपीय देशों को निर्यात किया जाता है। बबूल की फली, आम की छाल तथा तरवाद (Tarwad) की छाल का भी चमड़ा कमाने में उपयोग किया जाता है। हमारे बांस के जंगल—जो कि भारतीय कागज उद्योग के लिए प्रधान कच्चा माल है—इतने विस्तृत हैं कि वह संभवतः कभी भी समाप्त नहीं हो सकेंगे।

हमारी इतनी विशाल वन-सम्पत्ति का अभी केवल एक छोटा-सा भाग ही आर्थिक उपयोग में लाया जा सका है। प्रायः वन तो दुर्गम एवं अप्रवेश्य हैं। हमारे वनों से आर्थिक लाभ उठाने में मुख्य बाधा यातायात के सस्ते साधनों का अभाव है। भारत के विभाजन से यह कठिनाइयां और भी अधिक बढ़ गई हैं।

पिछले दिनों वनों के कुछ छोटे उत्पादनों ने अधिक आर्थिक महत्व प्राप्त कर लिया है। उदाहरणार्थ, चन्दन के तेल का उपयोग सुगन्धित इत्रों के बनाने में तथा नीम के तेल का उपयोग चर्म-रोग के लिए उपयोगी साबुन बनाने में किया जाता है। अनेक बूटियों तथा औषधियों के पौदों का उपयोग आज औषधियाँ बनाने में बड़े परिमाण में किया जा रहा है। देहरादून की वन अनुसन्धानशाला वन-सम्पत्ति के नये-नये उपयोग निकालने में मूल्यवान कार्य कर रही है। आज उसका ध्यान जिन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर लगा हुआ है उनका सम्बन्ध ऐसी लकड़ी से है, जो छापने के कागज को सस्ते ढंग से छापने के लिए काम में लाई जा सके, अथवा विमान-निर्माण के लिए उपयुक्त लकड़ी, बटरी पृथक करने वाले यंत्रों तथा बिजली के कार्यों के लिए।

८. वन-नीति। यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि किसी देश के हित तथा विकास में वनों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। बहुत समय तक भारत के वनों का बहुत बेदर्दी से विनाश किया जाता रहा। यह अनुभव नहीं किया गया कि वनों की रक्षा करने अथवा उनका वैज्ञानिक प्रबन्ध करने से देश को आर्थिक तथा भौतिक हित सम्पादन करने में बड़ी सहायता मिलेगी। यह अनुभव सरकार को गत शताब्दी के मध्य में तब हुआ, जब उसने जंगलात विभाग स्थापित करने के लिए यत्न किया। इस बार समय पाकर जंगलात के केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विभागों की स्थापना की गई।

वन के तीन भेद किये जाते हैं—बन्द जंगल (Reserved), संरक्षित (Protected) तथा बिना वर्ग वाले। १९४६–४७ में ६५,७७३ वर्ग मील जंगल रिजर्व थे, ७,८२५ एकड़ संरक्षित थे, तथा १५,४२१ एकड़ बिना वर्ग वाले थे। बन्द जंगलों के विषय में सरकार अत्यन्त कठोर नियन्त्रण रखती है। संरक्षित जंगलों के विषय में जनता को उनका उपभोग करने की अधिक छूट रहती है। बिना वर्ग वाले जंगलों में सरकारी नियन्त्रण कम से कम होता है और न उन क्षेत्रों का प्रबन्ध ही वैज्ञानिक ढंग से किया जाता है, तो भी जंगलों का यह वर्गीकरण दोषपूर्ण है। आर्थिक दृष्टिकोण से उनका वर्गीकरण कुछ ऐसा होना चाहिए : (क) इमारती लकड़ी तथा ईंधन देने वाले क्षेत्र और (ख) पशुओं के चारे के लिए उपयोगी क्षेत्र और (ग) सुगमता से कृषि-भूमि बनाने योग्य क्षेत्र।

भारत में प्राचीन वन-नीति की घोषणा १८९४ में की गई थी। उसका आधार निम्नलिखित सिद्धांत थे : (१) जंगलों के पर्याप्त क्षेत्र को बनाये रखा जाये जिससे

देश के जलवायु तथा भौतिक दशाओं की रक्षा करके उसको भौतिक महत्त्व दिया जा सके; (२) जनता के साधारण उपयोग के लिए पर्याप्त जंगल बचा रखने की आवश्यकता उसके बाद आती है; (३) कृषि जंगलात की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है, किन्तु स्थायी कृषि करके जंगलों को अपने निश्चित न्यूनतम परिमाण से कम न होने दिया जाय; और (४) जंगलों से यथासंभव अधिक से अधिक आय की जाय, किन्तु वह देहाती तथा स्थानीय जनता की आवश्यकताओं को निःशुल्क अथवा रियायती मूल्य पर पूर्ण करके ही की जाय। व्यावहारिक रूप में सरकार का मुख्य कार्य आय बढ़ाना ही रहा है।

यह अत्यन्त संतोष का विषय है कि गत कुछ वर्षों से भारतीय सरकार वनों के विकास पर पर्याप्त बल दे रही है। इस नीति के अनुसार श्री के. एम. मुन्शी ने जो कि उस समय केन्द्रीय सरकार के कृषि तथा खाद्य मन्त्री थे, जुलाई १९५० में 'वन महोत्सव' या 'अधिक वृक्ष उगाओ' के आंदोलन का श्रीगणेश किया। अब 'वन महोत्सव' एक वार्षिक उत्सव की तरह प्रत्येक वर्ष वर्षा ऋतु में मनाया जाता है। एक अखिल भारतीय वन-नीति के निर्माण के लिये केन्द्रीय सरकार ने केन्द्रीय वन-परिषद् की स्थापना की है। १३ मई १९५२ को इस नई राष्ट्रीय वन-नीति की घोषणा की गई। इस वन-नीति के अनुसार भारत के कुल क्षेत्रफल का एक तिहाई भाग जंगलात के नीचे लाया जायेगा। इसके अतिरिक्त ऐसे भागों में जहां इस समय जंगलात थोड़े हैं और जंगलात लगाने की भी व्यवस्था है।

योजना-कमीशन ने भी पंच-वर्षीय योजना में वनों के महत्त्व पर बहुत बल दिया है और तदनुसार निम्न बातों के प्रस्ताव किये हैं—(१) जंगल क्षेत्रों को तब तक आगे न साफ किया जाये जब तक उसके समान क्षेत्र में जंगल पैदा न हो जायें; और (२) जंगल-अधीन क्षेत्र को जंगल उगाने की योजनाओं के साथ विस्तृत किया जाये।

योजना-कमीशन ने आगामी पांच वर्षों में ९५९·५ लाख रुपये जंगलात के विकास पर खर्च करने की व्यवस्था की है।

कृषि को लाभ पहुंचाने के लिए कमीशन ने प्रस्ताव किया है कि प्रत्येक गांव में सीमान्त भूमियों पर ग्राम-जंगल लगाये जायें। नहरों के तट पर तथा सड़कों व रेलवे लाईनों के दोनों ओर भी वृक्ष लगाये जायें। जंगल उत्पादनों पर आधारित उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिये कमीशन ने प्रस्ताव किया है कि वन-अनुसन्धान-शाला तथा व्यापारियों एवं उद्योगपतियों में निकट सम्पर्क होना चाहिये। दुर्गम या अप्रवेश्य जंगलों के लिये यातायात एवं संवाहन का विस्तार होना चाहिये।

१९४८ में भारत में उत्पन्न कुल खनिज द्रव्यों का मूल्य १११ करोड़ रुपये[1] था। देश में मुख्य खनिज-द्रव्य यह उत्पन्न हुए—कोयला, लोहा, मैंगेनीज, ताँबा, सोना, चांदी, सीसा, अभ्रक, क्रोमाइट आदि। अब तो गंधक भी मिलता है। महत्त्वपूर्ण खनिज-द्रव्यों का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है:—

कच्चा लोहा—यदि किसी देश को विदेशों की दया पर आश्रित नहीं रहना है तो उसके पास निर्माण कार्यों के योग्य धातुओं का पर्याप्त भंडार होना चाहिये। इनमें से लोहा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भारत के कच्चे लोहे की कुछ किस्में संसारभर में सर्व-श्रेष्ठ समझी जाती हैं और उनमें ६० प्रतिशत धातु होती है। "भारत के पास एशिया भर में कच्चे लोहे की सबसे बड़ी खानें हैं। केवल बिहार और उड़ीसा की खानों

1. Indian Year Book, 1950, Page 225.

की पट्टी में ही २,८३,२०,००,००० टन कच्चा लोहा होने का अनुमान किया जाता है, जो भारतीय निर्माताओं की एक सहस्र वर्ष तक की आवश्यकताओं की पूर्ति करने योग्य है। " इन कोयला खानों की निकटता इनके भंडार को और भी अधिक बहुमूल्य बनाती है। कच्चा लोहा सिंहभूम, केओन्झर, मयूरभंज, बंगाल, मध्यप्रदेश, मैसूर तथा हिमालय में मिलता है। औसत वार्षिक उत्पादन लगभग तीन लाख टन है। किन्तु यह फ्रांस का लगभग दसवां अंश तथा अमरीका का पचासवां अंश है।

मैंगेनीज—किसी देश के पास निर्माण-योग्य धातुओं के अतिरिक्त ऐसी मिलावट करने योग्य धातुएं भी होनी चाहियें जिनका उपयोग फौलाद के औजारों, बन्दूकों, कवच की चादरों आदि को बनाते समय उनको कठोर बनाने में किया जा सके। मैंगेनीज का सम्बन्ध इसी वर्ग की धातुओं से है। इन कठोर बनाने वाली धातुओं के पर्याप्त भंडार के बिना एक देश शांति तथा युद्ध दोनों ही काल में अत्यधिक असुविधा में रहता है। मैंगेनीज एक अत्यधिक उपयोगी सामग्री है और "सभी व्यापारों में हरफन मौला" कहलाता है। इसकी आवश्यकता मीनाकारी, चीनी मिट्टी के बर्तनों, रासायनिकों, मूर्तिकला, वार्निश, शीशे की तरह चमकते हुए बर्तनों, सूखी बैटरियों (Dry Batteries) और सभी कार्यों में पड़ती है। किन्तु इसका सबसे बड़ा उपभोक्ता फौलाद उद्योग है। हमारे फौलाद उद्योग के पूर्णतया विकसित न होने के कारण भारत में उत्पन्न अधिकांश मैंगेनीज का निर्यात कर दिया जाता है। मैंगेनीज के विषय में भारत रूस के बाद संसार में सबसे बड़ा उत्पादक है। १९५० में कुल उत्पादन ६,४६,००० टन था। भारतीय लोहा तथा फौलाद उद्योग इसमें से एक वर्ष में कुल ६०,००० टन खपा पाता है। नागपुर, बालाघाट, भंडारा और छिंदवाड़ा, मध्यप्रदेश के जिले, बम्बई राज्य के कुछ भाग, मैसूर मद्रास राज्य, बिहार और उड़ीसा इसके उत्पन्न होने के मुख्य स्थान हैं।

सोना—सोना भारत भर में पाया जाता है, यद्यपि सभी जगह यह अत्यन्त कम वरन् नगण्य परिमाण में मिलता है। इसको नदी के बालू को धोकर प्राप्त किया जाता है। किन्तु मैसूर की कोलर के स्वर्ण क्षेत्र इसके एकमात्र महत्त्वपूर्ण साधन हैं। कोलर के अतिरिक्त सोना हैदराबाद (दक्षिण) के हुट्टी में दस लाख स्टर्लिंग का मिलता है। मद्रास के अनन्तपुर में ७॥ लाख स्टर्लिंग का मिलता है। किन्तु यह बहुत कम उत्पादक है। १९५२ में २,४३,००० औंस शुद्ध सोना उत्पन्न किया गया।

अभ्रक—भारत कच्चे अभ्रक के उत्पादन में संसार भर का नेता है। अभ्रक के भंडार अजमेर, ट्रावनकोर, मैसूर और बिहार के हज़ारीबाग़ ज़िले में हैं। हज़ारीबाग़ में भारत भर के उत्पादन का ८० प्रतिशत अभ्रक उत्पन्न होता है। यह मद्रास के नेल्लोर ज़िले में भी मिलता है। बिजली के सामान बनाने में अभ्रक अत्यधिक उपयोगी होता है। भारतीय अभ्रक पृथकत्वकारी विद्युत्सामग्री के निर्माण में विशेष रूप से उपयोगी होता है। अभ्रक का उपयोग दीवार पर लगाने के कागज़ के उद्योग, रोगनों के निर्माण रेडियो में तथा विमानों में भी किया जाता है। काले अभ्रक का उपयोग चूल्हे, स्टोव (Stove) और भट्टी, खिड़कियों, गैस के लैम्पों और चिमनियों, लैम्प के छायाकारकों (Shades) तथा गैस नकाबों आदि में किया जाता है। भारत के पास अभ्रक के विषय में संसार का एकाधिकार है। वह विश्व भर के उत्पादन का ७५ प्रतिशत उत्पादन करता है और उसका, लगभग सारा-का-सारा विदेशों को निर्यात कर दिया जाता है। १९५० में भारत में कुल २,५१,७६२ हंडरवेट अभ्रक निकाला गया।

क्रोमाइट—क्रोमाइट का भंडार भारत को प्रकृति ने बहुत कम दिया है। यह युद्ध के उद्देश्यों के लिये एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धातु है। और गत युद्ध तक इसका प्रयोग

मुख्य रूप से कठोर सामग्री में किया जाता था। हमारे उद्योग-धंधों में पिछड़ा होने के कारण इसके लिये भारत में बहुत कम मांग है। मैसूर राज्य इसका सब से बड़ा उत्पादक है। सिंहभूम, बम्बई तथा मद्रास के कुछ भाग इसके अन्य केन्द्र हैं।

थोरियम--यह अणु शक्ति उत्पन्न करने के लिये उपयोग में लाया जाता है। ट्रावनकोर-कोचीन में बड़ी मात्रा में उपलब्ध है।

अन्य खनिज पदार्थ--उपर्युक्त खनिज पदार्थों के अतिरिक्त भारत में अनेक प्रकार की मिट्टियां होती हैं, जिनमें उच्चकोटि की ऐसी कोमलता होती है, जो बर्तन, टाइल (Tiles), नल (Pipes) और उच्च-कोटि के चीनी मिट्टी के बर्तन बनाने में अत्यधिक उपयोगी होती हैं। ऊपरी गोंडवाना, बंगाल, सिंहभूम, मैसूर, दिल्ली और जबलपुर में चीनी मिट्टी के भंडार मिलते हैं। उच्चकोटि की उम्दा मिट्टी भी मिलती है।

उत्तर प्रदेश के कई क्षेत्रों तथा बड़ौदा में बालू की कई प्रकार की जातियां मिलती हैं और वह कांच उद्योग के लिये बहुत उचित होती हैं।

आसाम, मध्य प्रदेश, बम्बई तथा मद्रास के कुछ भागों में बाक्साइट (Bauxite) के विस्तृत तथा विपुल भंडार हैं। किन्तु हमने अभी तक इससे ऐल्यूमीनियम धातु बनाकर नहीं देखा है।

हमारे नमक के साधन भी कम नहीं हैं। नमक मद्रास और बम्बई में समुद्र के पानी से निकाला जाता है और सांभर झील जैसे देश के आन्तरिक भाग में झीलों से निकाला जाता है। सेंधा सारे का सारा पाकिस्तान में मिलता है। नमक रासायनिक द्रव्यों के बनाने में एक अत्यधिक उपयोगी सामग्री है। मनुष्य तथा पशुओं के भोजन के लिये इसकी विश्व भर में मांग है। १९५२ में कुल उत्पादन ७०,४६७,००० मन था।

अभी अभी सितम्बर १९५१ में बम्बई राज्य के दक्षिणी पहाड़ी प्रदेश में स्वर्ण-माक्षिक या सोना मक्खी (Pyrites) के अत्यन्त विस्तृत भंडार का पता लगा है। यह कहा गया है कि वह समस्त पर्वत-श्रृंखला केवल सोनामक्खी से बनी हुई है, जो कि इस कच्चे धातु का कम से कम लाखों टन होना चाहिए। यह कहा जाता है कि इस कच्चे धातु में ५१ प्रतिशत गन्धक, (जोकि संसार के सब से अच्छे गन्धक का मुकाबला कर सकता है), ५ प्रतिशत निकल, और १ प्रतिशत तांबा है। इस समय भारत के पास निकल बिल्कुल नहीं और तांबा बहुत कम है। विशेषज्ञों का अनुमान है कि आरम्भ में इससे दस सहस्र टन कच्ची धातु प्रति मास निकाली जा सकती है, जो देश के गन्धक के तेजाब के सभी कारखानों को चला सकेगी।

१०. खनिज स्थिति की आलोचना। भारत अभ्रक का सबसे बड़ा उत्पादक है। उसका कच्चा लोहा सबसे अच्छी प्रकार का है, और ब्राजील के अतिरिक्त उसके कच्चे लोहे के साधन संसार में सबसे बड़े हैं। ब्रिटिश राष्ट्र मंडल में वह कोयला तथा लोहे का दूसरा सबसे बड़ा उत्पादक देश है, किन्तु भारत के खनिज साधनों का नम्र दृष्टिकोण ही लेना ठीक रहेगा। स्थिति यह है, "युद्ध सामान्य के महत्त्व की धातुएं कुछ भागों में पर्याप्त हैं, किन्तु टंगस्टन, टीन, सीसा, जिंक, पारा, ग्रेफाइट तथा तरल ईंधन जैसी गोलाबारूद बनाने वाली धातुओं की अत्यधिक कमी है। किन्तु लोहा, मैंगनीज, ऐल्यूमी-नियम, मैग्नेशियम और क्रोमियम जैसी मौलिक धातुएं देश में पर्याप्त मात्रा में हैं। और प्रथम तीन धातुएं तो उसके पास अपनी आवश्यकता से भी अधिक हैं।"[1] इस प्रकार

1. Indian Year Book, 1950, Page 224.

हम सुगमता से यह परिणाम निकाल सकते हैं कि हमारे खनिज साधनों पर उद्योगीकरण की किसी भी योजना के लिये अच्छी तरह निर्भर किया जा सकता है। तो भी खनिज द्रव्य के वितरण से यह स्पष्ट है कि महत्त्वपूर्ण धातुएं मुख्य रूप से दक्षिण की उच्च-भूमि (Plateau) के उत्तर-पूर्वी भाग में पाई जाती है। यहां वह मुख्य रूप से बिहार और उड़ीसा राज्यों में मिलती हैं। इस तथ्य की दृष्टि से इन राज्यों के उद्योगीकरण का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। तो भी इन धातुओं के देश के उत्तर-पूर्वी भाग में केन्द्रित हो जाने से देश के दूसरे भागों के उद्योगीकरण में बाधा पड़ सकती है, क्योंकि धातुएं भारी होती हैं और उनको सुगमता से देश के दूसरे भागों में नहीं भेजा जा सकता। आज अधिकांश धातुएं कच्चे रूप में विदेशों को निर्यात की जाती हैं। अतएव हम उनका सब से अच्छा उपयोग नहीं कर पाते। देश के उद्योगीकरण से क्षणमात्र में स्थिति बदल सकती है। ऐसी दशा में हमारे भंडार की अनेक वस्तुएं, जिनका आज हमारे लिए बहुत कम मूल्य है, कभी भी महत्वपूर्ण बन सकती हैं। जब हमारी मुख्य खनिज सम्पत्ति का उचित परिमाण देश में खपने लगेगा तो हम देखेंगे कि भारत विश्व मे नेतृत्व का स्थान प्राप्त कर लेगा। आज देश के स्वतंत्र हो जाने से हम यह आशा कर सकते हैं कि हम एक बुद्धिमत्तापूर्ण तथा योजनाबद्ध खनिज नीति पर चल सकेंगे और भारत को विश्व के औद्योगिक मानचित्र पर शीघ्र ही प्रभुत्व से अंकित कर सकेंगे। हमको अपनी धातुओं का कच्चे रूप में निर्यात वन्द करके उसका अपने घर में ही निर्माण करना चाहिये।

योजना आयोग (Planning Commission) ने एक ऐसी समुचित खनिज नीति का प्रस्ताव किया है, जिसका मुख्य उद्देश्य होगा धातुओं का संग्रह और उनका आर्थिक रूप में उपयोग। साथ ही यह नीति सहयोग और आर्थिक विकास की होगी। इस नीति की आवश्यक बातें यह होंगी—(क) संचित भंडारों का मूल्य निश्चित करना (ख) खानों में काम करानेवालों का उचित आचरण, (ग) खनिज सम्पत्तियों को ठेके पर देना और खनिज विकास को नियमबद्ध करना, (घ) खनिज उद्योग के आंकड़े तैयार करना, (ङ) खनिज व्यापार, और (च) अनुसन्धान।

११. **शक्ति-साधन**। औद्योगिक उन्नति के लिए सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण आवश्यकता सस्ती बिजली की पूर्ति है। भारत उच्च कोटि का औद्योगिक देश बनने की इच्छा करता है। अतएव हमको यह देखना है कि वह अपने औद्योगिक कारखानों को चलाने के लिए बिजली के दृष्टिकोण से समर्थ है अथवा नहीं।

शक्ति उत्पन्न करने के अनेक साधन हैं। उदाहरणार्थ, लकड़ी, वायु, जल, मद्यसार, (Alcohol), तेल और कोयला। यद्यपि यूरोप के देश नीदरलैंड्स में वायु का विद्युत के लिए बहुत अधिक उपयोग किया जाता है, किन्तु इस देश मे अभी इसका उपयोग नहीं किया गया है। चीनी उद्योग के सहायक उत्पादन के रूप में मद्यसार (स्पिरिट) का उत्पादन बहुत बड़े परिमाण में आगे किया जा सकता है, किन्तु आज इसका औद्योगिक ईंधन के रूप में कुछ भी महत्त्व नहीं है। लकड़ी एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण साधन है और अतीत में इससे अत्यधिक काम लिया जा चुका है। किन्तु इसका मुख्य परिणाम यह हुआ कि वनों को बेहिसाब नष्ट किया गया और औद्योगिकों को लकड़ी के लिए किसी अन्य क्षेत्र की ओर देखना पड़ा। अतएव हमारे पास अब केवल पेट्रोलियम, कोयले तथा जल की बिजली के साधन ही शेष रह जाते हैं।

१२. **पेट्रोलियम**। यद्यपि भारत में उत्पन्न होने वाले खनिज पदार्थों में मूल्य की

दृष्टि मे पेट्रोलियम का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, अर्थात् पांचवां, किन्तु वह भारत में इतने कम परिमाण में उत्पन्न होता है कि वह उसकी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए पर्याप्त नहीं है। भारत अपनी आवश्यकता का कुल ५ प्रतिशत पेट्रोलियम उत्पन्न करता है। प्रतिवर्ष लगभग तीस करोड़ गैलन पेट्रोलियम भारत को आयात करना पड़ता है। विभाजन के फलस्वरूप हमको पूर्ति का एक साधन—हिमालय का पश्चिमी भाग—पाकिस्तान के लिए छोड़ना पड़ा और अब हमारे पास उसका केवल पूर्वी भाग आसाम में बचा है। इस क्षेत्र में तीन महत्वपूर्ण तेलक्षेत्र हैं—डिगबोई, बप्पापुंग और हंसापुंग। १९४९ में इनका समस्त उत्पादन लगभग ६६ लाख ७० हजार गैलन था। भारत में खनिज तेल की कमी को चीनी के शीरे और तिलहन (तेल के बीजों) के विश्लेषणात्मक ईंधन का तेल बना कर पूरा किया जा सकता है।

यद्यपि भारत राष्ट्रमंडल में दूसरा सबसे बड़ा कोयले का उत्पादक देश है, किन्तु देश के महाद्वीप जैसे विस्तार पर ध्यान देने से पता चलता है कि हमारे कोयले के साधन अत्यन्त सीमित हैं और न उनका स्थान ही संतोषजनक है। हमारे कोयले में राख अधिक होने तथा नमी मिलने के कारण वह हल्की किस्म का है। इसके अतिरिक्त कोयले के भंडार भी अत्यन्त असमान रूप में विभक्त हैं। अतएव समस्या कोयले के उत्पादन की अपेक्षा उसके यातायात की है।

१९५२ में भारत में कुल ३ करोड़ ६२ लाख टन कोयला निकाला गया। पूंजी की दृष्टि से कोयले की खपत अमेरिका के ४·७५ टन के मुकाबले में भारत की ·०७ टन है, जिससे पता चलता है कि हम औद्योगिक रूप में कितने पिछड़े हुए हैं।[1] झरिया के कोयला-क्षेत्रों का हिसाब ४७ प्रतिशत से कुछ ही कम तथा रानीगंज का लगभग ३० प्रतिशत होता है। लगभग ९० प्रतिशत तो अकेले बिहार तथा बंगाल के ही कोयला क्षेत्रों से मिला। गोंडवाना के कोयला क्षेत्रों में लगभग ९८ प्रतिशत मिला। इस प्रकार कोयले का समस्त भण्डार इतने बड़े देश के एक कोने में ही केन्द्रित है।

हमको पिछले दिनों से इस बात की बराबर चेतावनी दी जा रही है कि निकट भविष्य में हमारा कोयले का भंडार समाप्त हो सकता है। १९३४ में डा० सी० एस० फॉक्स (Dr. C. S. Fox) ने अनुमान लगाया था कि भारत में बढ़िया किस्म के कोयले का कुल भंडार पांच अरब टन है। खाना बनाने के कोयले का भंडार कुल दो अरब टन है। और संग्रह करने के उपायों—विशेषकर ठीक प्रकार से रखने, मिलाने और धोने का उपयोग न किया जाय तो यह परिमाण आधा ही रह जायगा। यह अत्यन्त भयावह स्थिति है।

विशेषज्ञों द्वारा बतलाई हुई स्थिति पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाना चाहिए। अतएव यह आवश्यक है कि हमको कोयले के प्रयोग में कमी करनी चाहिए और ऐसे साधन निकालने चाहिएँ जिससे कोयले के हमारे सीमित साधनों से यथा संभव अधिक से अधिक समय तक काम लिया जा सके। इसके विपरीत हम देखते हैं कि हम अपने कोयले के साधनों को अत्यंत मूर्खतापूर्वक नष्ट कर रहे हैं।

हमारी कोयला खानों की चलाने की शैली में भी बहुत सा कोयला व्यर्थ जाता है। कोयले को मिला कर रखने, साफ करने और उसका लदान करने में यांत्रिक शैली से बहुत कम काम लिया जाता है। भूमि के नीचे के कार्य का भी उसी अच्छी तरह से यंत्रीकरण नहीं हो पाया है।

---

१. वाडिया एण्ड मर्चेन्ट—Our Economic Problem, पृष्ठ २२।

कम खर्च करने के उपाय के रूप में योजना कमीशन ने सुझाव दिया था कि (१) यद्यपि कोयले का कोक बनाने के कार्य को वर्तमान स्तर पर ही चलने दिया जाय, तथापि नये क्षेत्रों का विकास किसी स्थिति में भी न किया जाय; (२) सामग्री को ठिकाने से रखने मिलाने तथा धोने के कार्य को अनिवार्य रूप से कराने के लिए कानून बना दिया जाय; (३) कुछ चुने हुए क्षेत्रों में कोयला निकालने के कार्य को पूर्णतया बंद कर दिया जाय; (४) एक कार्यक्रम द्वारा कोक वाले कोयले के स्थान में दूसरे कोयले से काम लिया जाय और (५) कोयला बोर्ड बनाये जायँ, जो कोयले के सम्बन्ध में सभी प्रश्नों की विस्तार से जाँच करें।

१४. पन-बिजली साधन। हम यह देख चुके हैं कि भारत में बिजली की स्थिति लकड़ी अथवा कोयले अथवा पेट्रोलियम के किसी भी दृष्टिकोण से संतोषजनक नहीं है। भारत के वन अप्रवेश्य हैं। किन्तु यदि वर्तमान उद्योग-धंधों की आवश्यकता की पूर्ति लकड़ी से ही की जाय तो वन बहुत समय तक नहीं चल सकेंगे। कोयले के विषय में स्थिति यह है कि भारतीय कोयले की न केवल किस्म ही घटिया है, वरन् उसका परिमाण भी सीमित है और उसका देश में विभाजन भी अत्यन्त विषम रूप में हुआ है। पेट्रोलियम भी पर्याप्त नहीं है। किन्तु यदि प्रकृति ने कोयले या तेल के विषय में भारत के साथ कंजूसी की है तो उसने उसको पनबिजली साधन पर्याप्त मात्रा में दिये हैं। भारत में पनबिजली की शक्ति के विकास के लिए बहुत अधिक संभावनाएँ हैं, विशेषकर उन क्षेत्रों में जो कोयले की खानों से दूर हैं। यह समझा जाता है कि भारत में पानी द्वारा ४ करोड़ किलोवाट बिजली उत्पन्न करने योग्य साधन हैं; हिमालय की प्रत्येक १००० फुट की ऊंचाई से गिरने वाली सिंधु नदी से पूर्व की सात बड़ी नदियां तीस लाख हार्सपावर की बिजली उत्पन्न कर सकती हैं। यही बात अन्य नदियों पर भी लागू होती है। १९५० में भारत में लगाए हुए कुछ कारखानों की शक्ति १७ लाख किलोवाट[1] थी।

१५. वर्तमान पनबिजली कारखाने। भारत पनबिजली कारखानों के मामले में संसार के मुख्य प्रेरक देशों में से एक है। भारत में प्रथम पनबिजली कारखाना दार्जिलिंग में १८९७-९८ में खोला गया था। दूसरा कारखाना मैसूर में १९०२ में कावेरी नदी पर खोला गया था। कुछ समय तक यह लाइन बिजली भेजने की संसार में सबसे लम्बी लाइन थी।

बम्बई में मेसर्स टाटा एंड संस के प्रबन्ध में इस समय बिजली के तीन कारखाने चल रहे हैं और वह लोनावल, आंध्रवाटी और नीलामला में हैं। उनकी संयुक्त शक्ति २,४६,००० अश्वशक्ति है। वह बम्बई की मिलों तथा बिजली की रेल गाड़ियों को दो पैसा प्रति यूनिट से भी कम पर बिजली देते हैं।

दक्षिण में पाइकारा पनबिजली कारखाना (मद्रास) की क्षमता ९०,००० अश्वशक्ति है। उसमें कुछ नीचे के एक और पुच्छ-जल को मिलाकर ३०,००० अश्व-शक्ति और मिल जाती है। यह ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में सबसे बड़ा बिजली का कारखाना है। इसकी बिजली की कुल मांग में से ६० प्रतिशत कपड़े की मिलें लेती हैं तथा १५ प्रतिशत अन्य कारखाने लेते हैं। फिर दक्षिण में एक मेत्तूर पनबिजली कार-खाना है। यह कारखाना संसार भर में अपने ढंग का सबसे बड़ा कारखाना है। इसकी क्षमता ५०,००० किलोवाट है। इनके अतिरिक्त मद्रास में अन्नोली, करतेरी तथा मुनार में भी पनबिजली के कारखाने हैं। पापानासम की योजना, जिसे १९४४

१. अंकों का मासिक संक्षेप, जुलाई १९५१।

में ही पूर्ण किया गया है, २१,००० किलोवाट बनाती है। ट्रावनकोर का पल्लीवसल कारखाना भी इतनी ही बिजली बनाता है।

पंजाब के मण्डी के पनबिजली कारखाने की क्षमता १,१८,००० किलोवाट है। वह दिल्ली की वर्तमान पीढ़ी तथा समस्त पंजाब की आवश्यकताएं पूरी करके भी बिजली बचा लेगी।

उत्तर प्रदेश में पनबिजली का छड़ लगे हुए ढाँचे की प्रणाली द्वारा गंगा नहर से बिजली उत्पन्न करके राज्य के प्रधान-प्रधान नगरों को बिजली दी जाती है। एक और कारखाना नैनीताल में है।

काश्मीर ने भारत में दूसरे पनबिजली कारखाने की योजना को पूर्ण कर लिया है। बारामूला में जेहलम नदी पर बिजली उत्पन्न की जाती है। उस कारखाने की क्षमता २६,००० अश्वशक्ति है।

१६. पनबिजली विकास का परीक्षण तथा भावी संभावनाएँ। भारत की जल-शक्ति के साधन इतने अधिक हैं ओर उनकी स्थिति इतने अच्छे स्थानों में है कि उनसे तीन-चार करोड़ किलोवाट बिजली उत्पन्न की जा सकती है। किन्तु अभी भारत ५ लाख किलोवाट से अधिक बिजली उत्पन्न नहीं कर सका है, जो कि उसकी समस्त क्षमता का १·५ प्रतिशत ही है। भारत में पनबिजली की योजना के मार्ग में सब से बड़ी बाधा उसकी वर्षा का ऋतु-सम्बन्धी रूप है। उसके कारण हमको बड़े खर्चे से बड़े-बड़े बांध बनाने की आवश्यकता है, जिससे बिजली के कारखानों को जल बराबर मिलता रहे। अभी तक भारत का जन-साधारण बिजली से अपरिचित है और उसकी खपत नागरिक क्षेत्रों तथा कुछ गिने-चुने ग्रामों तक ही सीमित है। भारत आज वर्ष-भर में जितनी बिजली का उपयोग करता है उतनी अमरीका एक सप्ताह में पैदा कर लेता है। बिजली का प्रति व्यक्ति व्यय ९·२ किलोवाट है, जब कि अमेरिका में प्रति व्यक्ति १,६६० किलोवाट, स्विटजरलैंड में १,९४४ किलोवाट, स्वीडन में २,१०० किलोवाट, नार्वे में ३०९० किलोवाट तथा कैनेडा में ४००० किलोवाट है।

अब हमारी भारत सरकार की सब से बड़ी अभिलाषा यह है कि हमारे "जल को सम्पत्ति" रूप में बदल दें। इस समय भारत में निर्माण कोटि में, अनुसंधान कोटि में तथा विचार कोटि में कुल १६० योजनाएँ हैं। उन पर अनुमानतः १२८० करोड़ रुपया व्यय होगा। इन निर्माण कार्यों के पूर्ण होने पर अढ़ाई करोड़ एकड़ भूमि को सिंचाई की सुविधाएँ मिल जायँगी (जो अमेरिका के समस्त सिंचाई क्षेत्र के बराबर हैं)। इससे पचास-साठ लाख टन गेहूं की उपज बढ़ जायगी तथा एक करोड़ ४० लाख किलोवाट अतिरिक्त पनबिजली उत्पन्न होगी। इससे भारत इस विषय में संसार में तीसरा बड़ा देश बन जायगा और केवल अमेरिका और रूस ही उस से आगे रह जायँगे। इन योजनाओं के पूर्ण हो जाने से न केवल बिजली मिलेगी वरन् सिंचाई, बाढ़ों पर नियंत्रण, नौचालन, मत्स्यपालन, आमोद सुविधाएँ और यात्रा के नये स्थान भी प्राप्त होंगे। नई पनबिजली विकास योजनाओं को संक्षेप में नीचे दिया जाता है :—

पंजाब के नये राज्य के आर्थिक पुनर्जन्म के लिए भाकड़ा-नांगल योजना को पूर्ण करने का प्रत्येक प्रयत्न किया जा रहा है। भाकड़ा बांध सीधी बिजली उत्पादन करने वाला संसार भर में सबसे बड़ा बांध होगा। उसमें ५६ मील लम्बी झील बनायी जायगी। भाकड़ा बांध के पास बिजली के दो कारखाने बनाये जायँगे। प्रत्येक कारखाना बारह इकाई (यूनिट) का होगा। प्रत्येक इकाई में ८४,००० किलोवाट बिजली होगी।

नांगल जल-विद्युतधारा में दो बिजली-घर होंगे। उनमें से प्रत्येक में तीन उत्पादन सेट (Generating Sets) होंगे और एक-एक उत्पादक से २४,०००किलोवाट बिजली बनेगी। भाकड़ा-नांगल योजना के अन्तिम रूप में पूर्ण हो जाने पर चार लाख किलोवाट बिजली शत-प्रति-शत भार उठाने वाली होगी।

भाकड़ा-नांगल योजना की अनुमानित लागत १५६ करोड़ रुपये हैं। किन्तु अत्यन्त अनुदारता से यह अनुमान भी लगा लिया गया है कि यह सारी लागत अकेले रूई तथा अन्न के उत्पादन से ही प्रथम दो वर्ष में वसूल हो जाएगी। उससे पंजाब, पटियाला तथा पूर्वी पंजाब राज्य संघ ओर बीकानेर की ६५ लाख एकड़ भूमि सींची जायगी। नांगल जल-विद्युत कारखाना पंजाब के ६७ नगरों को केवल बिजली न देकर उनकी प्रकाश, गर्मी तथा औद्योगिक आवश्यकताओं को भी पूर्ण करेगा। साथ ही वह अम्बाला जैसे क्षेत्रों में, जहां सिंचाई की सुविधाएं नहीं हैं, ट्यूबवैल (कुओं) से पानी भी निकालेगा। यह अधिक जल वाले क्षेत्रों के जल को इकट्ठा करके उसको शुष्क क्षेत्रों में पहुंचाएगा और सिंचाई वाली भूमि तथा बिना सिंचाई की भूमि के अन्तर को बहुत-कुछ कम कर देगा। यह भी आशा की जाती है कि बाद में दिल्ली तथा अम्बाला के बीच चलने वाली रेलगाड़ियाँ बिजली से चला करेंगी।

उत्तर प्रदेश में दो कारखाने बनाने के लिए आरम्भिक जाँच का कार्य पूर्ण हो चुका है। यह दोनों कारखाने गढ़वाल जिले में बनेंगे—एक भरोड़ा बांध तथा दूसरा रामगंगा बांध होगा। भरोड़ा बांध योजना में नायर नदी को पार करके एक बांध बनाया जाएगा। इससे भरोड़ा बांध से दो लाख किलोवाट तथा व्यासघाट पर ३२,००० किलोवाट बिजली बनेगी। इस योजना की लागत २४ करोड़ रुपये होगी। रामगंगा योजना से ९०,००० किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी। उसके नीचे के जल से और भी २०,००० किलोवाट बिजली बनेगी। इसमें कुल व्यय १,१०,५०,००० रुपए होगा। शारदा पनबिजली योजना पर आजकल काम किया जा रहा है। वह सात करोड़ रुपए की लागत पर ४१,४०० किलोवाट बिजली देगी। मुहम्मदपुर का बिजली का कारखाना तो लगभग बनकर तैयार हो चुका है। उसकी क्षमता ९,३०० किलोवाट है। बेतवा जल-विद्युत योजना को दो श्रेणियों में पूर्ण किया जाएगा। प्रथम स्थल में नारायणी नदी पर पीपरी में एक बांध बनाया जायगा। साथ ही एक बिजलीघर धुकुपारी में बनाया जायगा। इसमें १ करोड़ ३१ लाख रुपये की लागत लगेगी और २,५०० किलोवाट बिजली बनेगी। दूसरे स्थल में सिहपुरा में बांध बनाया जायगा, इसमें लगभग आठ करोड़ रुपये की लागत लगेगी। इसके पूर्ण होने में तीन वर्ष लगेंगे। यह ४,५०० किलोवाट उत्पन्न करेगा। घोघरा जल-विद्युत योजना दो स्थलों में तीन लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न करेगी। गढ़वाल जिले में कोठरी बांध योजना ५,००० किलोवाट उत्पन्न करेगी। एक अत्यन्त महत्वपूर्ण योजना, जो विचार कोटि में है—पीपरी बांध तथा पावर स्टेशन योजना है। इसमें रिहंद नदी के पार पीपरी के समीप मिर्जापुर जिले में एक बांध बनाया जाएगा। इसके बिजली घर में २,३०,००० किलोवाट की शक्ति होगी। इसमें कुल २९ करोड़ रुपये लागत लगेगी और ६ वर्षों में काम पूरा होगा। एक और बड़ी योजना यमुना-जल-विद्युत योजना है। यह प्रथम स्थल (Stage) में ४०,००० किलोवाट और दूसरे स्थल में ५०,००० किलोवाट बिजली उत्पन्न करेगी। फिर मई से अक्तूबर तक ४७,२०० किलोवाट और ७२,८०० किलोवाट इसके अतिरिक्त और पैदा कर सकेगी। पिंडार जल-विद्युत योजना ४०,००० किलोवाट स्थिर शक्ति तथा ५०,००० किलोवाट मौसमी शक्ति उत्पन्न करेगी।

बिहार में कोसी योजना सबसे अधिक महत्वपूर्ण योजना है। इसमें नैपाल में छत्र घाटी को पार करके ७५० फुट ऊँचा एक बांध बनाया जायगा। इसका बिजली घर ५० प्रतिशत भार के आधार पर १०,८०,००० किलोवाट बिजली उत्पन्न करेगा। इस सम्पूर्ण योजना पर ९० करोड़ रुपये लागत बैठेगी।

बम्बई में कोयाना घाटी योजना के नाम से एक बहुत बड़ी पनबिजली योजना का प्रस्ताव किया जा रहा है। यह स्थान सतारा जिले में करड रेलवे स्टेशन से ४० मील दूर है। यह भारत में सबसे बड़े बिजली घरों में से एक बनेगा, जहाँ अढ़ाई लाख किलोवाट से अधिक बिजली बनेगी। इसमें २५ करोड़ रुपये की लागत आयेगी। काली नदी पनबिजली योजना पर जनवरी १९४७ में काम आरम्भ किया जा चुका है। इससे साढ़े तीन लाख किलोवाट बिजली मिलेगी।

मध्यप्रदेश में पनबिजली के विकास के लिए चार स्थान हैं, जो पांच स्थलों में पूरे किये जायँगे। इनके पूर्ण होने पर एक लाख किलोवाट की लगातार बिजली अथवा दो लाख किलोवाट ५० प्रतिशत भार के आधार पर बिजली उत्पन्न होगी। इसमें कुल खर्च २० करोड़ रुपया लगेगा।

मद्रास में पाइकारा बिजली घर विस्तार योजना के तृतीय स्थल की स्वीकृति १९४६ में दी गयी थी, जिससे पाइकारा क्षेत्र की बिजली की मांग को पूरा किया जा सके तथा मेत्तूर और पापनासम प्रणालियों की मौसमी तथा संकटकालीन कमियों को दूर किया जा सके। इससे २,१२,००० किलोवाट बिजली मिलेगी। इसमें आरम्भ में दो करोड़ रुपये तथा दसवें वर्ष के अन्त में ३ करोड़ ६० लाख रुपये खर्चा लगेगा। मोपर जल-विद्युत योजना पाइकारा बिजली-घर के नीचे के पानी से काम लेगी। रामपद सागर योजना तथा किस्टना पावर योजना भी कुछ बिजली देंगी। तुंगभद्रा योजना मद्रास और हैदराबाद की सेवा करेंगी। सिंचाई की सुविधाओं के अतिरिक्त यह १,४५,००० किलोवाट बिजली उत्पन्न करेगी। इसके जून १९५३ में पूर्ण हो जाने की आशा है।

उड़ीसा में महानदी घाटी को एक बनाकर उसका विकास करने की योजना है। इसमें तीन इकाइयाँ हैं—हीराकुण्ड बांध योजना, तिकरपाड़ा बांध योजना और नारज बांध योजना। इन तीनों इकाइयों का एक दूसरी से स्वतन्त्रतापूर्वक विकास किया जा सकता है और तब भी यह महानदी के सारे क्षेत्र की एक योजना का भाग बनी रहेंगी। हीराकुंड बांध जंगली महानदी के वेग को सम्बलपुर नगर से नौ मील ऊपर एक बांध द्वारा रोकेगा। इस योजना में साढे तीन लाख किलोवाट बिजली बनेगी और अनुमानत: ४८ करोड़ रुपये लागत आयगी। डूडुना झरने पर मचकुंड के प्रवाह से भी एक लाख किलोवाट बिजली बनेगी।

पश्चिमी बंगाल में दामोदर घाटी योजना अत्यन्त महत्वपूर्ण योजना है। इस योजना में दामोदर ओर उसकी सहायक नदियों के ऊपर बहूद्देशीय आठ बांध बनाये जायँगे। इसमें लगभग ८००० वर्ग मील क्षेत्र आ जाएगा। इससे तीन लाख किलोवाट बिजली बनेगी। इस पर लगभग ५५ करोड़ रुपये की लागत आएगी। केंद्रीय सरकार ने जुलाई १९४८ में एक अधिनियम (Act) पास करके अमेरिका के प्रसिद्ध टी. वी. ए. की शैली पर स्वतन्त्र रूप से स्वयं काम करने वाली दामोदर घाटी कारपोरेशन की रचना की थी। सरकार ने इस योजना को सर्वप्रधानता दी है। इस योजना के एक महत्वपूर्ण अंग के लिए विश्व बैंक ने एक बहुत बड़ा ऋण दिया है। यह कार्यरूप में परिणत होने के अत्यन्त अग्रगामी स्थल में है।

भारत सरकार ने १९४८ में एक महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि उसने बिजली देने वाला अधिनियम (Electricity Supply Act) बनाया। उस अधिनियम का उद्देश्य यह था कि बिजली उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाए और सारे देश में शीघ्रता से बिजली फैल जाए। इस अधिनियम में इस बात की व्यवस्था की गई कि प्रत्येक राज्य में एक राज्य विद्युत बोर्ड (State Electricity Board) बनाई जाय तथा एक केन्द्रीय विद्युत अधिकारी (Central Electricity Authority) नाम से विशेषज्ञों का संघ बनाया जाय जो राज्य विद्युत सभाओं के काम की सूक्ष्मतापूर्वक देखभाल करता रहे और उन बड़ी बिजली योजनाओं के विषय में परामर्श देता रहे, जो वह समय-समय पर हाथ में लें। इस अधिनियम के अनुसार सन् १९५० में केन्द्रीय विद्युत अधिकारी का संगठन किया गया। अधिकांश राज्यों में विद्युत सभाएं बन गई हैं।

भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना में इन पनबिजली योजनाओं को बहुत ही महत्व दिया गया है। इस आयोग के पांच वर्षों (१९५१–५६) में इन योजनाओं पर अन्तिम रिपोर्ट के अनुसार ५५८ करोड़ रुपये व्यय करना निश्चित हुआ है। इस राशि में से ५१८ करोड़ रुपये तो वर्तमान स्कीमों पर खर्च किये जायँगे और शेष ४० करोड़ रुपये नवीन स्कीमों पर व्यय किये जायेंगे। यह नवीन स्कीमें पंचवर्षीय योजना के अन्तिम दो वर्षों में आरम्भ की जायँगी।

यह गणना की गई है कि इस योजना के पूरा होने पर ८५ लाख एकड़ नई भूमि में सिंचाई के अतिरिक्त पनबिजली योजनाओं से लगभग ११ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न की जाएगी। जब यह योजनाएँ पूर्ण हो जायँगी तो १४ लाख किलोवाट इनसे मिलेगी।[1]

१७. धनी देश की निर्धन जनता। भारत के साधनों का यह परीक्षण यह दिखलाने के लिए पर्याप्त है कि प्रकृति ने भारत के प्रति अत्यधिक उदारता दिखलाई है। उसका सबसे बड़ा वरदान—हिमालय—हमको असंख्य आर्थिक लाभ देता है और उसमें अनेक धन-सम्पदाएँ छिपी पड़ी हैं। भारत का गंगा मैदान तो विभिन्न प्रकार की समृद्ध फसलों का स्थाई स्रोत है। जलवायु की अपरिमित किस्में हमको एक अत्यन्त समृद्ध आर्थिक जीवन का विकास करा सकती हैं। हमारे खनिज साधन भी अच्छी तरह से विभिन्न प्रकार के हैं और पर्याप्त रूप में अधिक हैं। कोयला कम हो सकता है, किन्तु जल शक्ति के साधन बहुत अधिक हैं। हमारे पास पशुओं की भारी संख्या है और जनसंख्या भी बहुत अधिक है। भौगोलिक रूप से भी हम एक आदर्श स्थान में स्थित हैं। इस प्रकार यह दिखलाई देता है कि भारत विश्व के अत्यधिक समृद्ध देशों में से एक बनने वाला है।

किन्तु वास्तविक स्थिति क्या है? सारे देश में निर्धनता छाई हुई है और निर्धनता भी ऐसी कि जिसकी विश्व भर में कोई समानता नहीं। यह वास्तव में देखने में असत्य दिखलाई पड़ता है कि जब हमारा देश इतना समृद्ध है तो हम स्वयं निर्धन हैं। स्पष्ट रूप से मनुष्य प्रकृति के सभी वरदानों से लाभ उठाने में असफल प्रमाणित हुआ है।

1. Final Report of the Five-year Plan, December, 1952.

निर्धनता के रहस्य को समझने के लिए हम यहाँ कुछ साधारण परीक्षण कर सकते हैं।

एक बात जिसकी ओर हमारा ध्यान बरबस जाता है, वह है हमारे साधनों का दोषपूर्ण विनाश। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए हमारे कोयले के साधनों का किस प्रकार विनाश किया जा रहा है। डाक्टर आर. के. दास ने अपने ग्रन्थ 'भारत की औद्योगिक कार्यक्षमता' में भारत के साधनों के विनाश का विस्तृत अध्ययन किया है। उनके हिसाब के अनुसार भारत के कृषियोग्य क्षेत्रफल में से केवल ३० प्रतिशत उत्पादक कार्यों के उपयोग में आ रहा है और शेष ७० प्रतिशत व्यर्थ पड़ा हुआ है। अत्यन्त उदार दृष्टिकोण से भी हमारे वन साधनों में से भी केवल २५ प्रतिशत का उपयोग किया जा रहा है और शेष ७५ प्रतिशत व्यर्थ नष्ट हो रहा है। मत्स्यशालाओं के तो तृतीयांश का प्रतिवर्ष नष्ट हो जाता है। कच्चे लोहे का उत्पादन भी अपने उचित उत्पादन का कुल ११ प्रतिशत ही किया जाता है। पानी के तो ९९ प्रतिशत साधन व्यर्थ में नष्ट हो रहे हैं। अन्त में उन्होंने परिणाम निकाला है कि भारत के ७५ प्रतिशत प्राकृतिक साधन व्यर्थ नष्ट हुए जा रहे हैं।[1]

फिर अस्वास्थ्य, अज्ञानता, बेरोज़गारी अथवा न्यून रोज़गार, व्यर्थ के प्रसव तथा अकाल मृत्युओं के कारण मानवी साधनों का भी विनाश हो रहा है।

पूंजी के विनाश के कारण अनुत्पादक कार्यों में पूंजी लगाना, पूंजी के साधनों को एकत्रित न कर सकना तथा वर्त्तमान पूंजी साधनों का अपूर्ण उपयोग।

उत्पादक अंगों अर्थात् भूमि, श्रम तथा पूंजी का समस्त विनाश ६९ प्रतिशत[1] हो रहा है, जो कि दो तृतीयांश से भी अधिक है। दूसरे शब्दों में हम अपनी उत्पादक शक्ति के दो तृतीयांश से भी कम का प्रयोग कर रहे हैं तो क्या यह आश्चर्य की बात है कि हम निर्धन हैं?

इस विनाश के कारण अनेक तथा पेचीदा हैं, वे हमारी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रचना में निहित हैं। जातीय विशेषताएँ, अज्ञान, अनुभवहीनता और अशिक्षा सभी का इस विषय से कुछ-न-कुछ सम्बन्ध है।

सामाजिक दशाओं का विपरीत प्रभाव भी बिल्कुल स्पष्ट है। जाति प्रथा ने हमारे समाज को अनेक टुकड़ों में बांट दिया है और श्रमिकों को स्वतन्त्रतापूर्वक काम में न लगने देकर इसने चौकोर छिद्रों के बीच में गोल खूंटियाँ गाड़ दी हैं। सम्मिलित परिवार प्रणाली ने व्यक्तिगत आंशिक प्रयत्न और साहसिक कार्यों को समाप्त कर दिया है और आलसी मनुष्य पाल रखे हैं, जो अपनी ओर से पूंजी के एकत्रित होने के अवसरों को कम कर देते हैं। इस प्रणाली के कारण जो घर में पड़े रहने की आदत पड़ती जाती है, उससे श्रमिकों के मिलने में और उनके लिए मांग उत्पन्न होने का प्रबन्ध बहुत बिगड़ गया है।

धर्म-प्रधानता लोगों को भाग्यवादी, अंधविश्वासी और पुरातनपंथी बना देती है और आर्थिक स्वत्वों के संगठन में बहुत-कुछ काट-छाँट कर देती है। धार्मिक भावनाएँ अधिकांश मामलों में हमारे पशु-धन के साधनों के पूर्ण आर्थिक उपयोग में भी बाधा उपस्थित करती हैं। अत्यन्त महत्वपूर्ण कारण हमारी राजनीतिक पराधीनता भी रही है। अब स्वतन्त्र हो जाने पर हम एक ठीक आर्थिक नीति का अनुसरण कर सकेंगे।

1. R. K. Das---Industrial Efficiency of India, 1930.

दूसरा अध्याय

सामाजिक पृष्ठभूमि

जनता

१. अध्ययन का महत्त्व। यह पूर्णतया अनुभव कर लिया गया है कि किसी देश की उन्नति उसमें रहने वाली जनता पर इतनी अधिक निर्भर है कि उसके विभिन्न रूपों की ठीक-ठीक जांच किये विना कोई भावी योजना नहीं बनाई जा सकती। भारत एक निर्धन देश है और उसकी आर्थिक स्थिति को संभालने के लिए भारतीय आर्थिक जीवन का गम्भीर तथा वैज्ञानिक अध्ययन करना आवश्यक है। उसकी जनता का, उनकी संख्या, आयु के वर्ग, पेशों, रोगों, स्त्रियों तथा पु षों के सम्बन्धित अनुपात आदि अध्ययन किये विना उनकी किसी कार्यकारी औषधि के सम्बन्ध में प्रस्ताव नहीं किया जा सकता।

२. जनसंख्या के आँकड़े। १९४१ में आज की भारतीय क्षेत्र की जनसंख्या ३१,८८,९७,५३२ थी। १९५१ की जनसंख्या में यह संख्या ३६,१८,२१,६०४ हो गई। अर्थात् उस समय १९४१ के अंकों में १३.४ प्रतिशत की वृद्धि हो गई। यह जनसंख्या चीन को छोड़कर विश्व की सबसे बड़ी जनसंख्या है। राज्यों में उत्तर प्रदेश की जनसंख्या सर्वाधिक है। (६ करोड़ ३० लाख से अधिक); उसके बाद मद्रास (५ करोड़ ७० लाख); बिहार (४ करोड़) और बम्बई (३ करोड़ ६० लाख)। इस प्रकार उत्तर प्रदेश की जनसंख्या इंग्लैंड से अधिक और पाकिस्तान की जनसंख्या का ५।६ है।

१९३१ से १९५१ तक के बीस वर्ष में १९२१ से १९३१ तक के दस वर्ष की अपेक्षा जनसंख्या में तिगुनी वृद्धि हुई और १९०१ से १९३१ तक के तीस वर्ष की अपेक्षा दुगुनी वृद्धि हुई।

३. जनसंख्या में वृद्धि। जैसा कि नीचे दी हुई तालिका से स्पष्ट है, गत पचास वर्षों में भारत की जन संख्या १२ करोड़ तीस लाख बढ़ गई—

तालिका १

भारत की जनसंख्या में वृद्धि

वर्ष	जनसंख्या	विभिन्नता	प्रतिशत अनुपात
१९०१	२३८	..	..
१९११	२५२	+१४	+५.८
१९२१	२५१	— १	—०.३
१९३१	२७९	+२८	—११.०
१९४१	३१९	+४०	—१४.२
१९५१	३६२	+४३	—१३.४
	योग	+१२४	५२%

पिछली तालिका से यह प्रगट है कि प्रत्येक दशाब्दि में जनसंख्या की वृद्धि समान नहीं हुई है। इस विषमता को लाने वाले कारण अकाल अथवा महामारियों के समान बिखरे हुए एवं आकस्मिक हैं। उनके फैलने से जनसंख्या घटी तथा उनके अभाव से जनसंख्या पर्याप्त बढ़ गई। १९०१ से १९११ तक भारत में कृषि-सम्बन्धी उन्नति अत्यधिक हुई। अतएव इस बीच में जनसंख्या ५·८ प्रतिशत बढ़ गई। अगली दशाब्दि में इंफ्लूएंजा के कारण उन्नति रुक गई जो कि महामारी के रूप में फूट निकला। इसमें १ करोड़ ४० लाख व्यक्ति बीमार पड़े, जिससे दस लाख व्यक्ति मर गये। १९२१ से जनसंख्या अत्यन्त शीघ्रता से बढ़ी है। प्रकृति की कृपा रही। इसके अतिरिक्त महामारियों पर विजय प्राप्त करने के उपाय भी अधिक कार्यकारी रहे। अधिक उत्तम सिंचाई की सुविधाओं ने अकाल नहीं होने दिया। जनसंख्या में वृद्धि का कुछ कारण जनसंख्या के क्षेत्र में वृद्धि तथा गणना की प्रणाली में सुधार भी था। इन बातों को स्वीकार कर लेने पर भी ११ प्रतिशत की वृद्धि भारी वृद्धि है। १९३१ से १९४१ तक की १४ प्रतिशत वृद्धि भी घबरा देने वाली है। १९४१ से १९५१ तक की १३·४ प्रतिशत की वृद्धि तो और भी अधिक घबरा देने वाली है। देश के विभाजन के कारण उत्तर में जनसंख्या का पूर्ण परिवर्तन किया गया और पूर्व में आंशिक रूप में किया गया। पिछली तालिका में जो वृद्धि के अंक दिये गये हैं, वह पाकिस्तान को निकाल कर दिये गये हैं।

हमको जनसंख्या के तेजी से बढ़ने के कारणों पर विचार करना चाहिए—

१९०१ से आगे जनसंख्या में लगातार वृद्धि होने के कारण संक्षेप में यह हैं—

(१) पंजाब में नए सिंचाई योजना से अर्द्ध-मरु-भूमि वाले क्षेत्रों में नई बस्तियाँ बनन लगीं। बीकानेर में भी नई बस्तियों में यही अनुभव हुआ—बंगाल में भी कृषि क्षमता बढ़ने के साथ-साथ जनसंख्या बहुत शीघ्रता से बढ़ी।

(२) १९३१ की जनगणना के अंक कम थे, क्योंकि यह जनगणना राजनीतिक दंगों के समय की गई थी। सविनय अवज्ञा आन्दोलन के कारण अनेक व्यक्तियों के रजिस्टरों में नाम तक नहीं आये। उत्तरी भारत में ऐसे नाम बहुत छूट गये। जो कुछ १९३१ में छूट गये थे वह १९४१ में पकड़े गये। अतएव उन दिनों उत्तरी भारत की जनसंख्या बढ़ी हुई दिखलाई देती है।

(३) १९४१ में समस्त जनता को जनसंख्या के महत्व का पता चल गया था। अतएव उस समय कोई भी लिखे जाने से छूटना नहीं चाहता था। वास्तव में यह भी सन्देह किया गया कि साम्प्रदायिक उत्साह ने भी गणना में गड़बड़ पैदा की।

(४) यद्यपि भारत में डाक्टरों, नर्सों तथा अस्पतालों की संख्या कम है और देश के विस्तृत क्षेत्रफल को ध्यान में रखते हुए चिकित्सा की सुविधा का प्रबन्ध बहुत कम है, किन्तु तो भी इन वर्षों में चिकित्सा की सुविधाएं पहले की अपेक्षा बढ़ गईं। इसके परिणामस्वरूप जन्मसंख्या के स्थिर रहते हुए मृत्यु-संख्या घटने लगी। इसके अतिरिक्त हैजे, चेचक ओर प्लेग जैसी महामारियों से मृत्यु की संख्या भी घट गई।

(५) स्पष्ट रूप से इन सभी कारणों से जनसंख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। किन्तु देश में जनसंख्या के बढ़ने का सबसे बड़ा कारण देश में जीवनमान का नीचा होना है। यह एक तथ्य है कि देश में निर्धन व्यक्तियों के संतान अधिक होती है।

८. **जनसंख्या की गहनता**[१] । एक वर्गमील में रहने वालों की औसत संख्या को किसी देश की जनसंख्या की गहनता कहते हैं । १९५१ की जनगणना के अनुसार संपूर्ण देश की जनसंख्या की गहनता २९६ है ।

यदि हम भारत के घनत्व का ब्रिटेन जैसे अन्य देशों के साथ तुलना करें तो भय का कोई कारण शेष नहीं रह जाता ।

तालिका २

कुछ देशों में प्रति वर्गमील गहनता

देश	गहनता	वर्ष
ब्रिटेन	५३३	१९३१
बेल्जियम	६५४	१९४८
इटली	३९४	१९४७
जर्मनी	४४३	१९३१

उपर्युक्त वर्ग में औद्योगिक देश हैं और ऐसे देश सुगमता से अधिक संख्या को रख सकते हैं । परंतु जब हम भारत की तुलना कृषि-प्रधान देशों से करते हैं तो हमको समस्या की गंभीरता का पता चलता है ।

तालिका ३

देश	गहनता	वर्ष
फ्रांस	१९२	१९४७
अमरीका	४९	
आस्ट्रेलिया	३	१९४८
कनाडा	३	——

उपर्युक्त देशों में भारत की गहनता सब से अधिक है ।

भारत के विभिन्न भागों में भी जनसंख्या की गहनता भिन्न-भिन्न है । हम इस विषय में इतनी भिन्नता पाते हैं कि जहां जम्मू और काश्मीर राज्य में प्रति वर्ग मील ५६ व्यक्ति रहते हैं वहां पश्चिमी बंगाल में ७१९ रहते हैं, राजस्थान में १९९ तथा पंजाब में कुल ३३९ रहते हैं । इन विभिन्नताओं के अनेक कारण हैं ।

गहनता पर सब से प्रथम जलवायु का प्रभाव पड़ता है । स्वास्थ्यकर स्थान अधिक व्यक्तियों को आकर्षित करता है और उससे अधिक संख्या को अपने यहां रख लेता है । यदि जलवायु कम अनुकूल हो, जैसे कि आसाम में, तो गहनता कम होगी । बंगाल और उत्तर प्रदेश में घनत्व निश्चय से अधिक रहेगा ।

दूसरे, स्वास्थ्य पर जलवायु के प्रभाव के अतिरिक्त भारत की जनसंख्या का घनत्व अन्य देशों के समान मुख्य रूप से वर्षा के वितरण से नियंत्रित होता है । यदि वर्षा पर्याप्त तथा समय तथा समान रूप से विभक्त होती है तो उससे चावल जैसे अनाज की फसल अच्छी होगी । चावल की उपजाऊ फसल होने के कारण यह जनसंख्या के उच्च घनत्व की रक्षा कर सकता है । किन्तु केवल वर्षा ही घनत्व को निश्चित नहीं करती । हिमालय के देहरादून, अल्मोड़ा और शिमला में वर्षा पर्याप्त होती है और ६० से लेकर ८५ इंच तक वर्ष भर में होती है । तो भी वहां प्रति वर्ग मील संख्या

१. गहनता के अंक १९५१ की जनसंख्या के अंकों से लिये गए हैं और क्षेत्रों को १९५० में की गई वार्षिक पुस्तक (Year Book) में दिया गया है ।

बहुत कम है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जनसंख्या के घनत्व में भूमि का आराम महत्वपूर्ण कार्य करता है। जिन देशों में वर्षा तो अधिक होती हो, किन्तु उनके पर्वत वनों से ढके हुए हों, वहाँ अधिक चावल उत्पन्न नहीं हो सकता। वास्तव में घनत्व में परिवर्तन का कोई एक कारण नहीं हो सकता। कई कारणों के अच्छी तरह मिलने से ही अधिक घनत्व हो सकता है।

तीसरे, यह देखा जाता है कि सिंचाई की सुविधाएं, जिनसे कृषि स्थायी रूप से अच्छी होती है जनसंख्या में घनत्व का कारण होती हैं। पंजाब के सिंचाई वाले क्षेत्र हिसार जैसे जिलों की अपेक्षा अधिक सघनता से बसे हुए हैं।

चौथा, अधिक आर्थिक उन्नति से जनसंख्या का घनत्व बढ़ता है और उसके न होने से घनत्व घटता है। निःसंदेह, गडरियों जैसी दशा में जनसंख्या अधिक नहीं रखी जा सकती। कृषि की दशा में अधिक संख्या को पाला जा सकता है। किन्तु औद्योगिक स्थिति में और भी अधिक व्यक्तियों के लिए स्थान बन जाता है।

पांचवें, भूमि की प्रकृति भी कुछ अन्तर का कारण होती है। बालुकामय भूमि में उपजाऊ क्षेत्रों की अपेक्षा कम घनत्व होगा, उदाहरणार्थ, राजस्थान बहुत कम जनता से बसा हुआ है।

छठे, सम्भवतः घनत्व पर सबसे अधिक अकेला प्रभाव किसी क्षेत्र के आकार का पड़ता है। पृथ्वी तल का आकार घनत्व में सबसे अधिक विभिन्नता उत्पन्न करता है। भारत के पूर्वोत्तर में पार्वत्य प्रदेश पंजाब तथा उत्तर प्रदेश के समतल में मैदानों की अपेक्षा कम घनत्व वाले हैं।

सातवें, किसी क्षेत्र में रहने वालों की संख्या का कारण उस क्षेत्र में जान और माल की रक्षा का प्रबन्ध भी होता है। सीमान्त क्षेत्रों में इसीलिये घनत्व कम है।

अन्त में, प्रत्येक राज्य में घनत्व की विभिन्नता का कुछ कारण अप्रवृत्ति भी है। दूसरे राज्य में, जहां रीति-रिवाज तथा भाषा बदली हुई होती है—जीवन उन्नति के अधिक अवसर होते हुए भी लोग अपने निजी स्थान को छोड़ना पसन्द नहीं करते।

५. नगरों के बसने की समस्या। १९२१ में भारतीय जनता का १०·२ प्रतिशत नगरों में रहता था। १९३१ में ११ प्रतिशत, जबकि १९४१ में १२.८ प्रतिशत नागरिक क्षेत्रों में मिला। भारतीय जनतन्त्र की स्थिति निम्नलिखित है :—

भारतीय जनतंत्र की जनसंख्या का प्रतिशत अनुपात

वर्ष	ग्रामीण	नागरिक
१९२१	८८.७	११.३
१९३१	८७.९	१२.१
१९४१	८६.१	१३.९

इस प्रकार लगभग ८६ प्रतिशत जनता भारत में अब भी गांवों में ही रहती है। पश्चिम की स्थिति इसके ठीक विपरीत है। पश्चिमी देशों में नागरिक जनसंख्या का प्रतिशत विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार का है। फ्रांस में ५२ तो इंगलैंड में ८० है। तो भी यह बात ध्यान में रखने की है कि यद्यपि भारत के नगरों में लगभग १४ प्रतिशत मनुष्य ही रहते हैं, किन्तु १४ प्रतिशत ३६ करोड़ २० लाख

के अर्थात् ५ करोड़ हैं, जो यूनाइटेड किंगडम (ब्रिटेन और आयरलैण्ड) की समस्त जनसंख्या से अधिक है ।

किन्तु यद्यपि वृद्धि का प्रतिशत अनुपात बहुत कम है तो भी नागरिक क्षेत्रों का विस्तार खूब हुआ है। निःसंदेह, भारत में बड़े नगरों की संख्या बहुत कम है। भारतीय जनतन्त्र में १९४१ में पांच लाख जनसंख्या से अधिक वाले कुल ६ नगर तथा एक लाख जनसंख्या से अधिक वाले कुल ४८ नगर थे। किन्तु यह संख्या धीरे धीरे स्थिरता से बढ़ी है। १९३१ से १९४१ तक नगरों की संख्या में १५ की वृद्धि हुई। १९४७ में देश के विभाजन से नागरिक क्षेत्रों की संख्या अत्यधिक बढ़ गई। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर नगरों के निर्माण की संख्या पर्याप्त तेजी से बढ़ी हुई दिखलाई देती है। भारत और पाकिस्तान में नागरिक जनसंख्या १९३१ के ३ करोड़ ७० लाख से बढ़कर १९४१ में पांच करोड़ हो गई, जबकि ग्रामीण जनसंख्या ३० करोड़ १० लाख से बढ़कर कुल ३३ करोड़ ९० लाख इसी समय में हुई। इस उन्नति के मुख्य कारण नीचे दिये जाते हैं :—

(क) नगरों में जनता की भीड़ बढ़ते रहने के साथ उद्योगीकरण बढ़ रहा है। स्पष्ट रूप से भारत में बहुत बड़े पैमाने पर नगरों को बसाया जा रहा है और बड़े नगर और भी बड़े हो रहे हैं।

(ख) मध्यम श्रेणी के लोगों को नागरिक जीवन में अधिक रस आता है। बिजली का प्रकाश, नल का पानी, ट्राम और बस सब अपना-अपना काम इस विषय में करते हैं। लड़के लड़कियों के लिए शिक्षा की सुविधाएं और भी अधिक आकर्षण हैं। पुस्तकालय, थियेटर तथा सिनेमा घर भी जनता को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। वास्तव में बड़े नगरों का आराम और उनकी सुविधाएं उनकी संख्या को बढ़ाने में सहायक होती हैं।

(ग) पंजाब के साहूकार-विरोधी कानूनों के कारण गांवों के अनेक शिक्षित व्यक्ति अच्छे रोजगार की तलाश में कस्बों और नगरों में एकत्रित हो गए हैं।

बम्बई राज्य में नगर में रहने वाले लोगों का सबसे अधिक प्रतिशत अनुपात २४ है जबकि आसाम में सबसे कम अनुपात ३ है। पंजाब और पटियाला संघ दोनों में ही नागरिक क्षेत्रों में पन्द्रह-पन्द्रह प्रतिशत जनता रहती है।

जनसंख्या का भिन्न-भिन्न पेशों में विभाजन लोगों के आर्थिक संगठन का सुरक्षित पथ-प्रदर्शक है। निम्न तालिका भिन्न प्रकार के आर्थिक कार्यकलापों में नियोजित कार्यशील जनसंख्या के प्रतिशत को प्रकट करती है। आंकड़े १९५१ की जन-गणना से लिये गये हैं।

तालिका ४

भारत में जनसंख्या का व्यावसायिक विभाजन

आजीविका का साधन	सम्पूर्ण कर्मकरों की संख्या का अनुपात
कृषि	७०
उद्योग	१०.५५
व्यापार	६.०
यातायात	२.५
शेष-फुटकर	१२.०

इससे एक महत्वपूर्ण तथ्य यह प्रकट होता है कि विश्व के सम्पूर्ण सभ्य देशों में, हमारे यहां कृषि में नियोजित महत्तम अनुपात है और उद्योगों में न्यूनतम ।

यह अत्यधिक दु:खद स्थिति है और हमारे पिछड़ेपन का स्पष्ट संकेत है। इससे असंतुलित एवं अस्थिर अर्थ-रचना का भी दिग्दर्शन हो जाता है। कृषि पर अत्यधिक निर्भरता बहुत ही असंतोषप्रद है क्योंकि जब कभी वर्षा नहीं होती तो लोगों के बहुत बड़े अनुपात को विवश होकर बेकार हो जाना पड़ता है। यह इस कारण है कि सिंचाई कृषि के लिए अत्यावश्यक है और वर्षा के न होने पर, प्रकृति एक प्रकार से मनुष्य के विरुद्ध अस्थाई रूप में ताला-बंदी (बेकारी) का रूप धारण कर लेती है ।

७. स्त्री-पुरुष का अनुपात । यह एक सर्वविदित तथ्य है कि कन्याओं की अपेक्षा लड़के अधिक उत्पन्न होते हैं। दोनों में १०८ तथा १०० का अनुपात है। विदेशों में लड़के अधिक मरते हैं, इससे लड़कियां लड़कों से अधिक बढ़कर बाद में स्त्रियां हो जाती हैं। भारत में लड़कियों की अपेक्षा लड़के अधिक पैदा हाते हैं। भारत में अधिक स्त्रियां मरती हैं इससे भारत में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का अनुपात घट जाता है।[1] बालविवाह, पर्दे तथा शिक्षित दाइयों के अभाव के कारण, स्त्रियां अधिक मरती हैं। हानिकारक रक्ताल्पता, क्षय तथा गर्भाशय के रोग भी स्त्रियों की मृत्यु संख्या को बढ़ाते हैं। अत्यधिक निर्धनता के कारण स्त्रियां प्रसव से पूर्व तथा प्रसव के बाद पर्याप्त विश्राम नहीं कर पातीं और इससे भी वह अधिक मरती हैं। भारत में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों के लिए जीवन की परि-स्थितियां निश्चित रूप से अधिक कठोर हैं और इसके परिणाम से उत्तरोत्तर प्रत्येक दशाब्दी में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या घटती जाती है। निम्नलिखित तालिका इस भयानक स्थिति को भली प्रकार प्रगट करती है :—

तालिका ५

प्रत्येक १००० पुरुषों की अपेक्षा भारत में स्त्रियों की संख्या

वर्ष	स्त्रियों की संख्या
१९११	९५४
१९२१	९४६
१९३१	९४०
१९४१	९३५
१९५१	९४६[2]

भारत में औरत सस्ती समझी जाती है, और उच्च घरानों में भी उसके स्वा-स्थ्य और आहार के प्रति उपेक्षा की जाती है। बड़े प्रांतों में से पंजाब में स्त्रियां १००० के पीछे ८४७ हैं। केवल मद्रास, उड़ीसा और ट्रावनकोर में ही पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां अधिक हैं। किन्तु उन प्रान्तों में भी स्त्रियों का अनुपात कम हो रहा है।

भारत में महिलाएं कम होने का महत्वपूर्ण कारण महिलाओं की मृत्यु है। पिछले दिनों मद्रास, कलकत्ता और बम्बई में डाक्टरों द्वारा तीन विशेष जाँच की गई थीं, जिनमें पता चला कि प्रति १०० नवजात बच्चों में से १६.६, २.४४ और

1. P. K. Wattal—Population Problem of India.

२. यह अंक १९५१ की जनसंख्या के भारतीय जनतंत्र के हैं और अभी तक अस्थायी हैं। इनमें काश्मीर सम्मिलित नहीं हैं। १९०१ से लेकर १९४१ तक के अंक संयुक्त भारत के हैं, जिसमें भारत और पाकिस्तान दोनों थे।

८.९ बच्चे मर जाते हैं। यह श्रृंखला अत्यन्त विस्तृत है। सर जान मेगा (Sir John Megaw) की गांवों की १९३३ की जांच से पता चला कि २४५ माताएं मर जाती हैं। भारत के पब्लिक हैल्थ कमिश्नर (Public Health Commissioner) ने बतलाया था कि भारत में प्रति १०००नवजात बच्चों में २० मर जाते हैं। इंगलैण्ड तथा वेल्स के सब ताजे अंक २.९[1] हैं।

८. **जीवन की आयु**—विदेशों की अपेक्षा भारत में उत्पन्न होने वाले बच्चे के कम आयु तक जीने की आशा की जाती है। अन्य देशों में जीवन के औसत काल को बढ़ा लिया गया है जबकि भारत में कुछ भी उन्नति नहीं हुई है। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत में जीवन का मान नहीं बढ़ा। पौष्टिक आहार की कमी के कारण जीवन की आयु भी कम है। नीचे कई देशों के जीवन की आयु के तुलनात्मक अंक दिये जाते हैं, जिससे अध्ययन का अच्छा आधार मिलता है।

तालिका ६

प्रत्याशित आयु

न्यूजीलैण्ड	६७ (१९३४-३८)	अमरीका	६५ (१९४०-४१)
ब्रिटेन	६२ (१९३७)	रूस (यूरोप)	४४ (१९२६-२७)
जापान	४८ (१९३५-३६)	ब्रिटिश भारत	२७ (१९१३).

ब्रिटेन ने दीर्घ जीवन के विषय में अधिक उन्नति की है। १८९१ में उसकी औसत आयु ४४.१३ से बढ़कर १९३१ में ५५.६२ और १९३७ में ६२ हो गई। इससे यह भी पता चलता है कि ब्रिटेन के जीवनमान के उच्च होने के साथ साथ चिकित्सा की सुविधाओं में भी उन्नति हुई है। राष्ट्रसंघ (League of Nations) द्वारा एकत्रित किये हुए अंकों से पता चलता है कि संसार के सभी महत्वपूर्ण देशों में लोग भारत[2] की अपेक्षा अधिक जीने की आशा करते हैं। भारत में आयु इतनी अधिक कम होने का कारण बच्चों तथा माताओं की मृत्यु है। प्राय. अशिक्षित होने के कारण भारतीय लोग स्वास्थ्य, भोजन तथा सफाई के नियमों को कम जानते हैं। इसके अतिरिक्त देश का जलवायु भी ऐसी महामारियों तथा बीमारियों के फैलने के लिए उपयुक्त है जो समशीतोष्ण भूमि मे नहीं होतीं। भारत प्लेग, चेचक हैजे तथा पेचिश के लिए सर्वांग सम्पन्न क्षेत्र है। इन सबके अतिरिक्त मलेरिया भी एक भयंकर समस्या है। यद्यपि इन रोगों के आतंक को कुछ कम कर दिया गया है और उससे जीवन की आयु को कुछ बढ़ना ही चाहिए, किन्तु जब तक हमारे जीवन का मान नहीं बढ़ता और हमें अधिक पौष्टिक आहार नहीं मिलता तब तक हम पश्चिम की बराबरी नहीं कर सकते।

भारतीय परिस्थितियों की दूसरी विचित्रता यह है कि मनुष्य की अपेक्षा स्त्रियां और भी कम आयु तक जीवित रहती हैं। पुरुष की २६.९१ की आयु के मुकाबले स्त्रियों की आयु २६.५६ वर्ष ही होती है। जबकि अमेरिका में पुरुषों की आयु ६३.६५ तथा स्त्री की ६८.६१ वर्ष की औसत आयु होती है। इसी प्रकार अन्य देशों में भी स्त्रियों की आयु पुरुषों की अपेक्षा अधिक होती है। भारत में भी अधिक जीवन के परिमाण में कुछ वृद्धि हुई है। १८८१ के २३.६३ से बढ़कर १९१३ में यह

1. Mr. Yeats Census Report. 1941, Vol. I. P. 24.
2. League of Nations' Monthly Bulletin for December 1941.

२७ वर्ष हो गया। किन्तु इसका कारण अधिक पौष्टिक आहार न होकर सार्वजनिक स्वास्थ्य की दशा में सुधार है।

९. जन्म तथा मृत्यु की दर। जैसा कि सातवीं तालिका में दिखलाया गया है, भारत जन्म तथा मृत्यु दोनों के विषय में संसार भर में अग्रणी है। भारत में विवाह की अधिक व्यापकता होने तथा विवाह के उर्वर होने के कारण जन्म संख्या अधिक रहती है। लोग अशिक्षित, अज्ञानी तथा अन्धविश्वासी होते हैं। वह अपने परिवार की संख्या बढ़ने पर जानबूझ कर कोई नियंत्रण स्थापित करने योग्य नहीं होते। उनको बच्चों की असीमित संख्या में लालसा लगी रहती है, यदि वह लड़का ही होता रहे। उनके जीवन का मान इतना कम होता है कि उनको अपने परिवार की संख्या बढ़ने की कोई आर्थिक चिन्ता नहीं होती। किन्तु यदि अधिक पैदा होंगे तो अधिक ही मरेंगे भी। भारत में बाल-मृत्यु की संख्या अत्यन्त ऊंची है। प्रति १००० जीवित नवजात बच्चों में १९५० में १३७ मर गए, जबकि अमरीका में ३२, ब्रिटेन में ३६ और आस्ट्रेलिया में १९४८ में २८ मरे। भारत में अधिक बालमृत्यु होने का कारण बाल विवाह, मातृत्व के विषय में अज्ञानता, दोषपूर्ण धाय-प्रबन्ध, दूध का कम मिलना और बच्चों को दवा खिलाने का अभ्यास है। भयानक निर्धनता तथा अत्यधिक फैलने वाली और बार-बार आने वाली महामारियाँ भी हमारी संख्या को निर्दयता से घटा रही हैं। इस प्रकार माताओं का बड़ा भारी परिश्रम व्यर्थ जा रहा है।

भारत में १९४० तक जन्म संख्या प्रति १००० पर ३२ के रूप में स्थिर रही तो मृत्यु संख्या १९२० में ३१ से घट कर १९४० में २२ ही रह गई। १९४० से जन्म तथा मृत्यु दोनों की ही संख्या में कमी हुई है जैसा कि आठवीं तालिका से स्पष्ट है। तो भी प्रोफेसर ज्ञानचन्द का विश्वास है कि गांव के विश्वसनीय अंक न मिलने के कारण यह अंक अत्यन्त कम हैं और उनकी सम्मति में यह अंक क्रमशः ४८ और ३३ होने चाहिएं।[1] पश्चिम के देशों से तुलना करने पर यह अंक भी बहुत ऊंचे हैं, और यह प्रमाणित करते हैं कि इस देश में मानवी जीवन का कितने भयंकर रूप से अपव्यय किया जा रहा है।

तालिका ७

जन्म तथा मृत्यु का अनुपात

देश	जन्म अनुपात	मृत्यु अनुपात	वर्ष
अमरीका	२४.४	९.९	१९४८
ब्रिटेन	१८.१	१०.९	१९४८
कैनाडा	२६.९	९.३	१९४८
आस्ट्रेलिया	२३.१	१०.०	१९४८
फ्रांस	१८.०	१६.०	१९४०
जर्मनी	१७.०	११.०	१९४०
भारत	२५.५	१६.७	१९५१

बच्चों तथा माताओं की मृत्यु में क्रमिक ह्रास होने से गत दो दशाब्दियों में हैजे तथा प्लेग के कारण होने वाली मृत्यु संख्या भी घटी है, और इस बीच मृत्यु अनुपात

1. Gyan Chand—India's Teeming Millions.

के गिरने से और जन्म अनुपात के स्थिर रहने से जनसंख्या का बढ़ना अनिवार्य था। मृत्यु-संख्या में कमी के कारण जनसंख्या के आगे बढ़ जाने की संभावना है। इस शताब्दी के सन् ६० तक संख्या की शक्ल में तब तक कमी देखने को नहीं मिल सकती, जब तक सरकार जनसंख्या को परिमित करने की कार्यवाही के लिए पग न उठाये।

९. **भारत में जनसंख्या की समस्या।** भारत की जनसंख्या की समस्या की तुलना यूरोप तथा अमरीका की समस्या के साथ करने से अच्छी शिक्षा मिलेगी। वास्तव में अमरीका, कैनेडा और आस्ट्रेलिया, अर्जेन्टाइना अथवा अन्य नए देशों में जनसंख्या की कोई समस्या नहीं है। यह देश अभी नए हैं और उनमें जनसंख्या का घनत्व अभी हल्का है।

भारत की स्थिति से यूरोप की स्थिति भिन्न है। गत महायुद्ध के समय और उसके पूर्व भी यूरोप के सभी देश अपनी-अपनी जनसंख्या को बढ़ाने का यत्न कर रहे थे। ब्रिटेन के दार्शनिक तो इस बात पर भारी चिन्ता प्रकट कर रहे थे कि वहां इच्छित अनुपात पर जनसंख्या नहीं बढ़ रही थी। फ्रेंच सरकार ने जनसंख्या बढ़ाने के लिए कुछ बड़े परिवारों को शिक्षा,करभार तथा रेलवे के भाड़े में सुविधाएं दी थीं, किन्तु उनका कुछ भी परिणाम नहीं निकला। १९४० में मोशिये पेतां (M. Petain) ने अत्यन्त दुःख-पूर्वक कहा था कि "फ्रांस की आपत्ति का कारण उसमें नवजात शिशुओं की संख्या का अत्यधिक कम होना है।" इसी प्रकार के कारणों से हिटलर ने भी जर्मनी में जन-संख्या बढ़ाने के लिए डिक्टेटरी प्रणालियों को अपनाया था। मुसोलिनी भी हिटलर के चरणचिह्न पर ही चला और उसने गर्भपात तथा गर्भनियंत्रण के लिये सजा का विधान किया। यद्यपि सन् १८७० से लेकर १९३० तक इन देशों में भारत की अपेक्षा भी अधिक उच्च अनुपात पर जनसंख्या बढ़ रही थी, तथापि इन देशों ने इस तथ्य पर बिल्कुल ध्यान न देते हुए अपने-अपने देश की जनसंख्या बढ़ाने के उपाय किये।

भारत के सम्बन्ध में विचार करने पर हम देखते हैं कि यहां जनसंख्या की समस्या बिल्कुल ही दूसरे ढंग की है। गत पचास वर्षों में यहां ५२ प्रतिशत की वृद्धि हुई है। इस शताब्दी की प्रथम दो दशाब्दियों में वृद्धि की औसत कुछ कम रही है। किन्तु १९२२ से लेकर १९५२ तक के तीस वर्षों में वह कम से कम ३९ प्रतिशत बढ़ी है। जन-संख्या में इस क्रमिक वृद्धि का कारण जन्म दर की वृद्धि न होकर मृत्यु दर में कमी है। मृत्यु दर की औसत में इस कमी का कारण है चिकित्साविज्ञान में उन्नति का होना जिसने रोगों के नष्ट करने के साथ रोगनिवारक नई-नई औषधियों का भी आविष्कार करके सहस्रों व्यक्तियों की जान बचाई। इसलिए यह संभव है कि आगामी कुछ वर्षों में जनसंख्या बराबर बढ़ती जायगी।

इसके विपरीत भारत में इन वर्षों में जीवनमान ऊंचा नहीं हुआ। पेशों की रचना में बहुत कम परिवर्त्तन हुआ है। उदाहरणार्थ, राष्ट्रीय आय कमेटी बतलाती है कि १९४९ में ६८.२ प्रतिशत जनता कृषि कार्यों में लगी हुई थी। १९११ में यह संख्या ७१ प्रतिशत थी। इसके अतिरिक्त प्रति व्यक्ति द्वारा बोई हुई भूमि का औसत १९११-१२ में ०.८८ एकड़ से घट कर १९४८ में ०.७१ एकड़ हो गया। औद्योगिक क्षेत्र में भी कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई। आज (१९५१ में) संगठित-उद्योग धन्धों में लगे हुए समस्त मजदूरों की संख्या २० लाख ४० हजार से अधिक नहीं है। जनसंख्या के भूमि पर दबाव को कम करने के लिए उद्योग-धन्धों की उन्नति की औसत में भी पर्याप्त तेजी नहीं आई। इस प्रकार इसमें सन्देह नहीं कि भारत की आर्थिक व्यवस्था बहुत समय तक समग्र रूप में उत्पादन के निम्न स्तर पर चलती रही और उसके अनिवार्य परिणामस्वरूप

खपत भी कम हुई। अतएव प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में कोई उन्नति नहीं हुई।

निश्चय ही भारत के पास सम्भावित साधन हैं। यह भी संभव है और संभवतः यदि वर्त्तमान विज्ञान तथा उसकी कार्यप्रणाली का ठीक-ठीक उपयोग किया गया तो देश की उत्पादक योग्यता को बढ़ाया जा सकेगा। किन्तु यह बिल्कुल स्पष्ट है कि वर्त्तमान परिस्थितियों में उत्पादन में वृद्धि से भारत की अर्थ-व्यवस्था पुष्ट न होकर निर्बल होगी। भारत की वर्त्तमान औसत से बढ़ती हुई जनसंख्या सुगमता से देश में बढ़े हुए उत्पादन को ले लेगी और कुछ वर्षों में ही इस समस्या को फिर इसी भयंकर रूप में उपस्थित कर देगी। अतएव यह बहुत आवश्यक है कि इस देश में संख्या को सीमित कर दिया जाय और एक योजनाबद्ध जनसंख्या–नीति का अनुसरण किया जाय। जब तक जन-संख्या की औसत को नहीं घटाया जायगा, जनसंख्या इससे भी अधिक औसत पर बराबर बढ़ती रहेगी। क्योंकि बच्चों तथा प्रसूति के लिए अधिक सुधरी हुई चिकित्सा सुविधाएं देश को बराबर दी जा रही हैं। यह निश्चित है कि चिकित्सा सम्बन्धी अधिक उत्तम सुविधाएं मिलते रहने के कारण मृत्युसंख्या की औसत में भी कमी होगी और यदि जनसंख्या की औसत को कम न किया गया तो जनसंख्या बहुत शीघ्र गति से और भी बढ़ेगी।

भारत जैसे निर्धन देश में, जहां जीवनमान अत्यन्त नीचा है, गर्भनियंत्रण जैसे उपायों का अवलम्बन नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त किसी देश का जीवन-मान ऊंचा होने के कुछ वर्षों के बाद ही उसकी जनसंख्या में कमी होनी आरम्भ होती है। भारत अपनी वर्त्तमान स्थिति में जनसंख्या घटने के लिए वर्षों तक बैठा नहीं रह सकता। यह अत्यन्त आवश्यक समस्या है और देश जनसंख्या के स्वयं घटने के अवसर की प्रतीक्षा नहीं कर सकता। अतएव, हमें तत्काल ही जनता में इस बात का प्रचार करके उसकी सम्मति को बदलना चाहिए कि वह जनसंख्या पर स्वयं ही रोक लगाये। प्रथम पंचवर्षीय योजना के संक्षिप्त वर्णन में कहा गया है, "इस बात का सामाजिक आन्दोलन किया जाना चाहिए कि प्रत्येक परिवार अपने ऊपर स्वयं पाबन्दी इस प्रकार लगाए कि प्रत्येक परिवार इसमें स्वयं पहल करे और इस विषय में लोकमत को जाग्रत किया जाय।" हमारा यह विश्वास है राज्य को भी अनेक चिकित्सा-गृह खोलकर इस बात की शिक्षा तथा सम्मति उन सब को देनी चाहिए, जो लेना चाहें। इसके अतिरिक्त गर्भनियंत्रण की ऐसी प्रणालियों को मालूम करने के लिए अनुसंधान केन्द्र खोले जांय जो सभी वर्गों की जनता के अनुकूल एवं अनुरूप हों।

हमारे भारत में जनसंख्या का आधिक्य है या नहीं, यह एक पुराना विवाद है। यह प्रश्न बार बार किया जाता है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमको यह जानना चाहिए कि अति जनसंख्या का वास्तव में अभिप्राय क्या है। प्रत्येक देश के लिए एक ऐसी आदर्श संख्या उसके निवासियों की होती है, जिनके स्वास्थ्य तथा कार्यकुशलता का वह भली प्रकार प्रतिपादन कर सके। यह संख्या स्वेच्छापूर्वक तय नहीं की जाती। इसका सम्बन्ध उस देश के आर्थिक साधनों और उनके विकास के परिमाण से होता है। यदि साधनों को पूर्णतया विकसित नहीं किया जाता तो छोटी-सी जनसंख्या भी अधिक मालूम देती है। किन्तु यदि उनको भली प्रकार विकसित कर लिया जाता है तो उससे अधिक जनसंख्या को अच्छी तरह से पुष्ट किया जा सकता है।

कुछ ऐसी संख्या होती है जो देश के साधनों को उसके अधिकतम लाभ में परि-वर्तित कर सकती है। यदि यह संख्या औसत से कम होती है तो प्रति व्यक्ति आय उससे कम होगी, जो वह इससे विपरीत परिस्थिति में होती, क्योंकि वहां के साधनों को विकास करने वालों की संख्या कम है। ऐसी दशा में यह विषय निम्न जनसंख्या

(Under-Population) का बन जाता है। उसके विपरीत यदि उस देश में अत्यधिक व्यक्ति ऐसे हों तो साधन बहुत हल्के रूप में फैल जांयगे । ऐसी दशा में भी प्रति व्यक्ति आय उससे कम होगी, जैसी वह होनी चाहिए थी । ऐसी दशा में वह अति जनसंख्या (Over Population) का विषय बन जायगा ।

कभी कभी अति जनसंख्या की दशा तथा अति जनसंख्या की प्रवृत्ति में अन्तर कर दिया जाता है। अति जनसंख्या की दशा में देश में पहले से ही जनसंख्या अत्यधिक होती है और उसकी प्रति व्यक्ति आय उससे कम होती है, जैसी कि होनी चाहिए थी। ऐसी दशा में जनसंख्या में किसी प्रकार की भी कमी होने पर प्रति व्यक्ति आय बढ़ेगी । किन्तु यदि देश की जनसंख्या ऐसी स्थिति में बढ़ती हो, जबकि उसकी प्रति व्यक्ति आय कम हो रही हो, तो उसे अति जनसंख्या की प्रवृत्ति (Tendency) कहते हैं ।

भारत के विषय में अनेक प्रकार के विभिन्न दृष्टिकोण हैं। कुछ का विचार है, भारत में अति जनसंख्या नहीं है। क्योंकि उसकी जनसंख्या का घनत्व यूरोप के अनेक देशों से कम है और उसके प्राकृतिक साधन बहुत अधिक हैं। यह अनुमान नहीं, वरन् आभास है। निस्सन्देह, हमारे प्राकृतिक साधन बहुत अधिक हैं, किन्तु उनसे उचित रूप में लाभ प्राप्त नहीं किया जा सका है । यह देखने के लिए कि किसी देश में अति जनसंख्या है अथवा नहीं, हमको उसके प्राकृतिक साधनों पर अस्तित्व की दृष्टि से विचार न करके वास्तविकता की दृष्टि से विचार करना चाहिए। जिस परिमाण में हमारे साधनों को विकसित किया गया है, उस दृष्टिकोण से तो हमारी वर्त्तमान जनसंख्या भी भारत के ऊपर एक बोझा है । अधिक घनत्व वाले देश हमसे अधिक विकसित हैं और उस संख्या की अपेक्षा, जो हम अपने त्रुटिपूर्ण ढंग से विकसित साधनों से अपने यहां खपा सकते हैं, वह कहीं अधिक संख्या को अपने देश में खपा सकते हैं। यह विश्वास करने के कारण हैं कि यदि हमारी संख्या कम होती तो भारत की प्रति व्यक्ति आय आजकल की अपेक्षा कहीं अधिक ऊंची होती। अधिक संख्या कुछ नहीं कमाती । यदि कभी भारत प्रति एकड़ अधिक अन्न पैदा करने लगे, अपने कारखानों में कम लागत पर अधिक माल बनाने लगे और अपनी खानों से अधिक खनिज द्रव्यों को खोदकर उनका अधिक पूर्णता के साथ उपयोग करने लगे तो वह निश्चय से अधिक उच्च जीवन-मान पर अब की अपेक्षा कहीं बड़ी जनसंख्या को अपने अन्दर खपा सकेगा । आज उसके वर्त्तमान औद्योगिक तथा कृषि साधनों को दृष्टि में रखते हुए उसके पास उससे अधिक जनसंख्या है,जितनी वह उचित रूप से अपने यहां खपा सकता है ।

दूसरे यह कहा जाता है कि हमारी राष्ट्रीय आय के प्रत्येक अनुमान में हमारी प्रति व्यक्ति वृद्धि को दिखलाया जाता है । उसको दृष्टि में रखते हुए अति-जनसंख्या कैसे हो सकती है । हम यह बतला कर इस तर्क को सुगमता से काट सकते हैं कि प्रति व्यक्ति वृद्धि इतनी कम है कि वह नहीं के बराबर है, यह हो सकता है कि वास्तविक आय बिल्कुल ही न बढ़ी हो। राष्ट्रीय द्रव्य की आय बढ़ती रही है किन्तु जनसंख्या भी बढ़ती रही है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति का भाग उससे कम है, जितना वह होना चाहिए था ।

तीसरे यह बताया जाता है कि भारत में श्रमिक कम हैं। एक अति--जनसंख्या वाले देश में यह कमी कैसे हो सकती है ? यह कहा जा सकता है कि हमारे यहां अशिक्षित मजदूरों की कमी नहीं है वरन् शिक्षित मज़दूरों की कमी है। हमारे यहां औद्योगिक मज़दूरों को सिखाने की सुविधा के निन्दनीय अभाव को दृष्टि में रखते हुए उनकी कमी आश्चर्यजनक नहीं है। वास्तव में बहुत कम उद्योग-धन्धों को मज़दूरों की कमी का मुकाबला करना पड़ता है। भारत में उच्च-कोटि के शिक्षाप्राप्त व्यक्तियों की वास्तव में कमी है।

अतएव भारत में अति जनसंख्या होने का विरोध करने वालों के तर्कों में अधिक बल नहीं है ।

डारविन जैसे वैज्ञानिकों ने शीघ्रतापूर्वक प्रगुणित होते रहने वाले विश्व नियम पर जैसा कि वह जीवित प्राणियों पर लागू होता है, अधिक बल दिया है । मानव भी इस व्यापक नियम का अपवाद नहीं है । यह अनुमान लगाया गया है कि एक अकेला जोड़ा वृद्धि की वर्त्तमान गति से १७५० वर्षों में इतनी अधिक सन्तान उत्पन्न कर सकता है जितनी आज समस्त विश्व की जनसंख्या है । इस प्रकार के अध्ययन के फलस्वरूप ही मालथस (Malthus) इस परिणाम पर पहुँचा कि जब तक जनसंख्या के बढ़ने को न रोका जायगा, वह जीवित रहने के साधनों को भी समाप्त कर देगी। जहां तक पश्चिमी देशों का सम्बन्ध है, मालथस एक सच्चा भविष्यवक्ता सिद्ध नहीं हुआ। किन्तु यह सिद्धांत भारत पर लागू होता हुआ दिखलाई दे रहा है ।

इसके अतिरिक्त यदि हम यह दिखला सकें कि भारत की जनसंख्या बिना प्रतिरोध के बढ़ती रही है तो हमको भारत में अति-जनसंख्या होने के पक्ष में प्रबल तर्क मिल जायगा। इस उद्देश्य के लिए हमको यह देखना होगा कि मालथस द्वारा सोचे हुए विभिन्न प्रतिरोध किस परिमाण में कार्य कर रहे हैं। यूरोप में कुंवारे स्त्री पुरुषों की संख्या बहुत अधिक है। किन्तु भारत में विवाह प्रायः सबको ही करना पड़ता है। भारत में विवाह एक धार्मिक आज्ञा है । अतएव यहां प्रत्येक व्यक्ति विवाह करता है । यदि प्रत्येक विवाह से कम बच्चे पैदा किये जायें तो यह आवश्यक नहीं कि विवाह के सार्वजनिक प्रचलन से यहां जनसंख्या बढ़ती ही रहे। बड़ी आयु में विवाह करने, स्वेच्छापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करने अथवा गर्भनिवारक उपायों के उपयोग से कम सन्तान उत्पन्न की जा सकती है। किन्तु भारत में बहुत छोटी आयु में विवाह कर दिया जाता है और उसको रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। इसके विरुद्ध अधिक संख्या बच्चे पैदा करने को उत्सुक रहती है और उसका वास्तव में यह विश्वास है कि "जिसने मुख दिया है वह उसके लिए भोजन भी देगा ।"

किसी समय भारत में कन्याओं की पैदा होते ही हत्या कर दी जाती थी और इससे जनसंख्या नहीं बढ़ने पाती थी, किन्तु आज कोई भी बुद्धिमान् जनसंख्या को रोकने के लिए इस अपराधी प्रणाली का उपदेश देना पसन्द नहीं करेगा । इस बात की सभी समाज सुधारकों को प्रसन्नता है कि भारत के मुख से यह कलंक का धब्बा मिट गया ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मालथस के बतलाये हुए निवारक प्रतिबन्ध भारत में काम नहीं करते । इसके विपरीत अकाल तथा महामारी जैसे विध्यात्मक प्रतिबन्ध पूरी तरह से अपना काम कर रहे हैं । मालथस ने चेतावनी दी है कि यदि निवारक प्रतिबन्धों द्वारा जनसंख्या के बढ़ने को न रोका गया तो देश में जनसंख्या अत्यधिक बढ़ जायगी और उसकी संख्या को कम करने के लिए विध्यात्मक प्रतिबन्ध अपना काम करने को घुस आवेंगे। कम मृत्युदर के मुकाबले अधिक जन्मदर का अस्तित्व यह प्रकट करता है कि जनसंख्या शीघ्रतापूर्वक बढ़ रही है । डाक्टर हटन (Dr. Hutton) ने १९३१ में कहा था कि "इस देश की जनसंख्या के गम्भीरतापूर्वक बढ़ने की ओर पहले ही ध्यान आकर्षित किया जा चुका है । वृद्धि के वास्तविक अंक ३ करोड़ ४० लाख से कुछ ही कम हैं। यह संख्या इटली और फ्रांस की सम्मिलित जनसंख्या के बराबर है ।" इसी प्रकार मिस्टर यीट्स (Mr. Yeats) १९३१ से ४१ तक के दस वर्षों में पांच करोड़ की बात करते हैं। यह वृद्धि जर्मनी तथा रूस के अतिरिक्त यूरोप के किसी भी देश की समस्त जनसंख्या से अधिक है। यद्यपि १८९१ से लेकर १९४१ तक के बीच में वृद्धि का प्रतिशत अनुपात कुल

३९ था, जिसे कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता और जो इंग्लैंड, जर्मनी आदि से कहीं कम है, किन्तु समस्त संख्या पर दृष्टि डालने से भय लगता है। क्या वास्तव में माल्थस का कहना गलत था ? बच्चों तथा माताओं की मृत्यु की अधिक संख्या की औसत जीवन की छोटी आयु तथा प्रति व्यक्ति कम आयु इस तथ्य के पर्याप्त चिह्न हैं कि देश में जनसंख्या उसकी आवश्यकता से अधिक है। जनसंख्या की समस्याओं के डाक्टर आर. के मुकर्जी. मिस्टर पी. के. वात्तल (Mr. P. K. Wattal) तथा प्रोफेसर ज्ञानचन्द जैसे विद्वानों को यह विश्वास है कि भारत की जनसंख्या उसके अन्न की पूर्ति के परिमाण से बहुत आगे बढ़ती जाती है। १९४३ का बंगाल का अन्न-संकट तथा विदेशों से अन्न का लगातार आयात इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि भारत अपनी वर्त्तमान संख्या को नहीं खिला सकता। इस संख्या को रोकने के लिए कोई इच्छापूर्वक प्रयत्न नहीं किया गया। देश में संक्रामक बेरोजगारी है। यह सब तथ्य निश्चित रूप से अति-जनसंख्या की ओर संकेत कर रहे हैं। "भारत में जन्म और मृत्यु कृषि तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य की दशाओं पर निर्भर करते हैं। पश्चिम को इस प्रणाली का पता नहीं है। पश्चिमी देशों में आयु का निर्माण प्रायः स्थिर होता है, वह पुनः प्रसूति की औसत से शासित होता है। मृत्यु की वहां प्रायः उपेक्षा की जाती है। इसके विरुद्ध भारत में सभी इच्छाओं तथा उद्देश्यों के लिए पुनः प्रसूति मानवी नियमभंग से नहीं रुकती और फसल की दशाएं छोटी-छोटी आयु के विभिन्न वर्ग बनाने का कारण बन जाते हैं।"[1] इसके परिणामस्वरूप वहां की भूमि पर जनसंख्या का दबाव लगातार बढ़ता जाता है। भारत में अपर्याप्त पोषण अत्यन्त व्यापक रूप में है और लाखों व्यक्ति अर्द्ध मानव स्तर पर जीवन व्यतीत करते हैं। अतएव बहुत कम अर्थशास्त्री ऐसे हैं, जो गम्भीरता से सोचते हैं कि भारत में अति-जनसंख्या है।

१०. प्रस्तावित उपाय। अतएव हम यह मान लेते हैं कि भारत में अति-जनसंख्या है और हम उसके लिए प्रस्तावित विभिन्न उपायों पर विचार करते हैं।

(क) पारिवारिक योजना—संख्या में अधिक वृद्धि होते रहने पर भी लोग पारिवारिक योजना की गंभीर आवश्यकता को नहीं समझते। जब तक जन्म संख्या की औसत को इच्छापूर्वक कम न किया जायगा, यह भारी वृद्धि होती ही रहेगी। अतएव पारिवारिक योजना एक आवश्यक तथा तात्कालिक आवश्यकता है। इससे न केवल जनसंख्या की वृद्धि रुकेगी वरन् माताओं एवं बच्चों का स्वास्थ्य भी सुधर जायगा और बाल मृत्यु की संख्या कम हो जायगी।

संख्या को घटाने के लिए यह भी प्रस्ताव किया गया है कि विवाहित दम्पति ब्रह्मचर्य से रहें और इच्छापूर्वक अलग-अलग रहें। मानवी प्रकृति के स्पष्ट होने के कारण यह आशा नहीं की जा सकती कि इस प्रस्ताव का कोई कार्यकारी परिणाम निकलेगा। इस विषय में केवल गर्भनिवारक उपायों से ही ठोस परिणाम निकल सकता है। यह कहा जाता है कि उनके उपयोग से संकीर्णता को प्रोत्साहन मिलेगा, वह उपयोग करने वाले को हानिप्रद भी हैं और निर्धन व्यक्ति की सामर्थ्य से बाहर भी। किन्तु इन आपत्तियों के होते हुए भी यह आवश्यक है कि सरकारी खर्च से इस प्रकार के चिकित्सा-गृह खोले जायं, जिनमें उन सबको परामर्श दिया जाय, जो उसकी सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि से आवश्यकता अनुभव करें। आरम्भ में इस ज्ञान का दुरुपयोग भी हो सकता है किन्तु 'बच्चों की बाढ़' के रुक जाने से इससे हानि की अपेक्षा लाभ अधिक होगा। परिवारों

1. N. P. C. Series—Population, P, 33.

को तर्कपूर्ण अनुपात में रखने के लिए उसके समान प्रभावशाली दूसरा उपाय नहीं है।

संख्या में कमी का उपाय विवाह के स्थगित करने को भी बतलाया गया है। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि अधिक आयु में निःसन्देह विवाह करने से सन्तान बहुत कम होगी किन्तु इससे मृत्यु भी कम होगी। अतएव विवाह के स्थगित करने से जनसंख्या की कमी में कोई विशेष लाभ नहीं होगा। किन्तु निश्चय ही इससे जीवन तथा शक्ति के वर्त्तमान विनाश से बचा जा सकेगा। अतएव, यह उपाय उपयोगी हो सकता है। यह प्रसन्नता की बात है कि भारत सरकार ने पारिवारिक योजना (Family Planning) की आवश्यकता को अनुभव कर लिया है। अभी हाल ही में इस विषय पर परामर्श देने के लिए उसने एक अमरीकी विशेषज्ञ डाक्टर स्टोन को आमंत्रित किया था। डाक्टर स्टोन के कहने के अनुसार प्रत्येक स्त्री की एक निःशंक अवधि होती है जिसमें गर्भ ठहरने का कोई भय नहीं होता। यह निःशंक अवधि (Safe period) थोड़े से प्रयत्न से मालूम की जा सकती है। डाक्टर महोदय की रिपोर्ट भारत सरकार के विचाराधीन है। कई नगरों में लोगों को इस विषय पर परामर्श देने के लिए चिकित्सा-गृह खोले गये हैं।

अपनी अन्तिम रिपोर्ट (दिसम्बर १९५२ में पेश की गई) में योजना कमीशन ने पंचवर्षीय योजना की अवधि में पारिवारिक योजना के पक्ष में प्रचार करने और सस्ते सहज उपाय ढूंढ़ निकालने तथा उनको प्रचलित करने के लिए ६५ लाख रुपये व्यय करने निश्चित किये हैं। पारिवारिक योजना के कार्यक्रम को प्रचलित करने के लिए भारत सरकार ने हाल में दो समितियां भी नियुक्त की हैं।

(ख) **परदेश गमन**——यूरोप में परदेश गमन द्वारा पुराने देशों की रक्षा हो चुकी है। १९ वीं शताब्दी में कम से कम तीन करोड़ दस लाख व्यक्ति यूरोप से अमरीका को प्रवास कर गए। अकेले ब्रिटेन ने ही इस प्रकार १८५० से १९०० के ५० वर्ष में डेढ़ करोड़ व्यक्तियों को अमरीका भेजा। किन्तु भारतीय जनता के विषय में परदेश गमन कुछ अधिक सहायता नहीं कर सका। भारत के बाहर तीस लाख भारतीयों से अधिक नहीं रहते, जिनमें से बीस लाख ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में हैं। भारतीयों के बाहर न जाने का एक कारण यह है कि उनके विरुद्ध विदेशों में दक्षिणी अफ्रीका जैसा वर्णप्रतिबन्ध है। विदेशों में भारत की अपेक्षा जीवन का मान कहीं अधिक उच्च है। अतएव वहां उनके प्रवेश पर प्रतिबन्ध हैं यह अत्यन्त अनुचित है। भारत इस विभेदात्मक व्यवहार को दूर कराने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ (U.N.O.) में बराबर लड़ रहा है किन्तु उसका अभी तक कोई ठोस परिणाम नहीं निकला।

(ग) **उत्पादन में वृद्धि**——भौतिक उन्नति से व्यक्ति की उत्पादक वृत्ति के पक्ष में स्वाभाविक रुकावट आ जाती है, किन्तु यह उन्नति इतनी बड़ी होनी चाहिए कि व्यक्ति इसमें अपनी भावी उन्नति देखकर स्वयं ही दिलचस्पी लेने लगे। भारत में यह तभी हो सकता है, जब यहां कृषि तथा उद्योग-धंधों का अत्यधिक उत्पादन बढ़ जांय।

(१) **कृषि**——कृषि उत्पादन में वृद्धि होने के लिए सिंचाई की सुविधाएं अधिक होने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त इसमें भारत की आवश्यकता के अनुरूप मशीनों की भी आवश्यकता है। यह आवश्यक नहीं है कि अमरीका में काम आने वाली बहुत बड़ी-बड़ी मशीनें ही हों। भारी-भारी ट्रैक्टरों की आवश्यकता कांस द्वारा खराब की हुई भूमि को सुधारने में ही पड़ती है। रासायनिक खाद, फसल के अदल-बदल कर बोने और सूखी खेती की प्रणालियों के ठीक-ठीक उपयोग से प्रति एकड़ पैदावर बढ़ जायगी और इससे अन्न की कमी तथा फसल से नकदी मिलने की कमी भी दूर हो जायगी। मध्य प्रदेश और आसाम जैसे जिन राज्यों में कृषि-योग्य परती भूमि है, उनको अपने अपने राज्य में

कृषि बस्ती बसाने के लिए भूमि सुधार विभाग (Land Reclamation Department) खोल देने चाहिएं।

(२) **उद्योग-धन्धे**—बहुमूल्य वस्तुओं के आयात में कठिनाइयां होने पर भी गत युद्ध से भारतीय उद्योग-धंधे अनेक दिशाओं में चमक उठे। उस समय यह स्वीकार कर लिया गया था कि भारत को अपने द्वारा बनाये जाने योग्य वस्तुओं की आवश्यकता को स्वयं ही पूरा कर लेना चाहिए और ब्रिटेन तथा अमरीका को उसे मशीनें तथा केवल ऐसा माल भेज कर ही संतोष कर लेना चाहिए, जो भारत में नहीं बन सकता था। मुद्रा प्रसार के एक और कारण से भी अधिक माल का बनाना अधिक आवश्यक हो गया है। पूर्ण रोजगार, जीवन का उच्चतर मान और भारतीय माल के निर्यात से जनसंख्या का बोझ कम हो जायगा। इस उद्देश्य के लिए ग्रामीण-धंधों के साथ-साथ बड़े-बड़े उद्योग-धंधों को भी बढ़ाना आवश्यक है। पश्चिम का अनुभव हमको बतलाता है कि जीवन-मान के बढ़ जाने से परिवार को छोटा करने और बच्चों के लिए स्वास्थ्यकर स्थान प्राप्त करने की इच्छा बढ़ जाती है। इन प्रमुख उपायों के अतिरिक्त हम कुछ सहायक उपायों का भी वर्णन करेंगे।

(क) **सार्वजनिक स्वास्थ्य की योजनाएं**—आरम्भ में सार्वजनिक स्वास्थ्य की योजनाएं इसलिये आरम्भ की जाती हैं कि उनसे बाल मृत्यु तथा मातृ मृत्यु कम हों और मलेरिया, पेचिश, क्षय तथा अन्य रोग कम हों। आरम्भ में इन उपायों से जनसंख्या बढ़ेगी और भविष्य में बढ़ने की संभावना भी बढ़ जायगी, तो भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि बीमार तथा अल्पजीवी अधिक जनसंख्या की अपेक्षा कम संख्या की स्वस्थ जनसंख्या अच्छी होती है। इस प्रकार के उपायों से जनता की योग्यता तथा आयु बढ़ेगी। आगे चलकर वह स्वयं ही जनसंख्या का अधिक बढ़ना रोक देंगे। इस उद्देश्य का प्राप्त करने के लिए भारत को आवश्यकता है :

(१) **अधिक अस्पतालों की**—भारत में अस्पतालों और डाक्टरों की भारी कमी है। आज नगरों के प्रत्येक ४०,००० व्यक्तियों के पीछे एक अस्पताल है। गांवों की दशा तो इससे भी बहुत बुरी है। अस्पतालों की संख्या में योजना-बद्ध वृद्धि अत्यन्त आवश्यक है। ग्रामीण क्षेत्रों में चलते-फिरते अस्पताल अत्यन्त उपयोगी हो सकते हैं।

(२) **अनुसंधान**—उष्ण देशों के रोगों में अनुसंधान की अत्यन्त आवश्यकता है। कलकत्ता स्कूल आफ ट्रापिकल हाइजिन (Calcutta School of Tropical Hygiene) जैसी संस्थाओं की संख्या को पर्याप्त बढ़ा कर उनसे लाभ उठाना चाहिए। उन अनुसंधानों के फलस्वरूप जो औषधियां तैयार हों, उनको देश के बाज़ार में बहुत बड़े पैमाने पर लाना चाहिए।

(३) **सफाई**—सफाई तथा स्वास्थ्य की आदतों का बनाना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जब तक जनता उन्नति करने की दृढ़ इच्छा स्वयं न करेगी, स्वास्थ्य अधिकारियों के प्रयत्नों का अधिक परिणाम न निकलेगा। इस प्रकार की इच्छा का निर्माण करने के लिए प्रदर्शिनियों, व्याख्यानों, मैजिक लालटेनों और सिनेमा द्वारा इच्छित फल प्राप्त किया जा सकता है। सफाई वाले तथा स्वस्थ गांवों को अच्छे पारितोषिक देकर इस प्रकार के प्रयत्नों को बढ़ाया जा सकता है।

(ख) **आहार**—कोनूर की अनुसंधानशाला के डायरेक्टर डाक्टर डब्ल्यू. डी. अकरायड (Dr. W. D. Ackroyd) ने हिसाब लगाया कि एक काम करने वाले मनुष्य को उसके दैनिक भोजन में शक्ति की २५०० कैलोरियां अर्थात् तापमान की

इकाइयां (Calories) मिलनी चाहियें । एक औसत भारतीय का आजकल का आहार तापमान को इकाइयों की दृष्टि से ही त्रुटिपूर्ण नहीं होता, वरन् उसमें स्निग्ध तथा विटामिन की भी कमी होती है। उसमें दूध फल, और सब्जियों को भी मिला कर उसको स्वस्थ तथा शक्त बनाये रखने के लिए अच्छी तरह पूर्ण किया जाना चाहिए। एक भारतीय के दरिद्र भोजन के लिए उसका अज्ञान तथा पक्षपात भी आंशिक रूप से कारण है। "आधे पेट रहने का मुख्य कारण जेब का खाली रहना है।" आने वाली पीढ़ी का अच्छी तरह ध्यान रखना चाहिए और उसकी जीवन-शक्ति बढ़ानी चाहिए। स्थानीय संस्थाओं को दिन में स्कूल के लड़कों को अपनी ओर से दूध देना चाहिए।

(ग) **शिक्षा**---भारतीय जनता अशिक्षित तथा अज्ञानी है। जब तक शिक्षा तथा गर्भनियंत्रण की योजनाएं एक साथ काम नहीं करेंगी जनसंख्या अधिकाधिक बढ़ती ही रहेगी। अतएव निःशुल्क अनिवार्य प्राइमरी शिक्षा के साथ वयस्कों की शिक्षा की विस्तृत योजना बनाना भी आवश्यक है। "प्रत्येक व्यक्ति एक व्यक्ति,को पढ़ा दे" की योजना बड़ी उपयोगी है।

तीसरा अध्याय

सामाजिक पृष्ठभूमि

(गत अध्याय का शेषांश)

संस्थाएँ

१. **आर्थिक जीवन में सामाजिक संस्थाओं का महत्व**। आर्थिक कार्यकलाप देश में सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यकलापों के साथ घनिष्ठ रूप में मिले होते हैं। मनुष्य के आचरण पर उसके दैनिक, धार्मिक, सामाजिक कार्यों का प्रभाव पड़ता है। आर्थिक क्षेत्र में उसके द्वारा प्राप्त की गई सफलताएं अधिकतर उसके सामाजिक वातावरण का परिणाम होती हैं। जैसा कि डाक्टर मार्शल कहते हैं––"संसार में सबसे बड़ी दो निर्माणकारी संस्थाएं धार्मिक तथा आर्थिक रही हैं।" इस प्रकार किसी जाति का कलाकौशल तथा व्यापार-सम्बन्धी जीवन उसकी धार्मिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं का आवश्यक परिणाम होता है। सम्भवतः यह बात अन्य अधिकांश देशों की अपेक्षा भारत के विषय में अधिक सत्य है। अतएव भारत में इस प्रकार की संस्थाओं का गंभीर अध्ययन करने से अच्छा लाभ होगा।

२. **भारत में धर्म**। भारतवासियों के जीवन में धर्म सदा एक अत्यन्त प्रभावशाली शक्ति रही है। उसने बहुत समय से भारतीय इतिहास का निर्माण किया है और यद्यपि आज के भारत ने अपने धर्मतटस्थ होने की घोषणा कर दी है, तो भी वह बहुत समय तक इसी प्रकार अपना इतिहास बनाता रहेगा। हमारे यहां जीवन का कोई रूप ऐसा नहीं है, जिस पर धर्म का प्रभाव न पड़ा हो।

बहुत बार धर्म क्रियापद्धति से ढक जाता है, जिसका यथार्थ अर्थ समय के धुंध में खो जाता है। कभी-कभी यह नैतिकता को उठाने के––जो कि इसका वास्तविक उद्देश्य है––स्फूर्तिदायक काम करने के स्थान पर नशे में सुलाने जैसा पतनकारी कार्य भी करता है। उस समय इसमें सुधार की आवश्यकता होती है, किन्तु हिन्दू धर्म में सदा ही एक केन्द्रीय तत्त्व रहा है, और वह है त्याग तथा तपश्चरण द्वारा 'आत्मा' के ऊपर स्वामित्व की प्राप्ति। पश्चिम ने जो 'प्रकृति' के ऊपर स्वामित्व का ध्येय बनाया है, उसकी यह ठीक विपरीत दिशा है। पश्चिम में वैज्ञानिक तथा आर्थिक उन्नतियों से अत्यधिक भौतिक उन्नति हुई है, किन्तु वह न तो निर्धनता को निर्मूल कर पाए और न मनुष्य को अधिक सुखी बना पाए। इसके विपरीत "हमारे यहां अनेक नगरों में गगनचुम्बी अट्टालिकाओं को छाया में रोटियों की पंक्तियां लगी होती थीं और भोजन के गोदाम के गोदाम भरे रहते थे, क्योंकि यहां कोई मोल लेने वाला नहीं था।"[1] यंत्रीकरण ने मजदूरों की आवश्यकता को कम कर दिया और अनेक को बेरोजगार बना डाला। निर्धन तथा धनी के बीच की खाई अत्यधिक चौड़ी हो गई है ओर उसके परिणामस्वरूप बहिष्कार तथा हड़तालें हो रही हैं।

भारतीय धर्म की बहुधा अपनी अप्रगतिशीलता के कारण निन्दा की जाती है।

---

1. Miller—The Beginnings of Tomorrow, P: 92.

पश्चिमी शैली पर उन्नति न करने पर तथा पश्चिमी मान पर जीवन के अस्तित्व के लिए कठिन संघर्ष का अभाव हिन्दू अध्यात्मवाद का ही परिणाम बतलाया जाता है। कुछ शिक्षित व्यक्तियों---विशेषकर विश्वविद्यालय के छात्रों ने धर्म से विमुख होना आरम्भ कर दिया है, किन्तु यह विचारधारा अभी जनता तक नहीं पहुंची । इस गुणदोष-विवेचक विद्रोह से एक उत्तम उद्देश्य की सिद्धि हो रही है। यह हिन्दू धर्म को परिवर्तित परिस्थिति में ढाल रहा है और उन अनेक रुकावटों को उसमें से निकाल रहा है, जो परम्परा तथा प्रथाओं द्वारा उसमें घुस आई थीं।

भारत की निर्धनता का मुख्य कारण भारतीय अध्यात्मवाद कदापि नहीं है । सच्चा धर्म अधिक अच्छे भौतिक जीवन के लिए उत्साहपूर्वक यत्न करने को शिक्षा देता है, न कि संसार छोड़ देने की । संसार में रहने के लिए उसकी सेवा करना, धन कमाना और समाज के लिए उसका उपयोग करना और अन्त में मोक्ष प्राप्त करना, यही एक औसत भारतीय के सामने आदर्श होता है।

भारत की निर्धनता के कारण कुछ और ही हैं। भारत एक उष्ण देश है और यहां भीषण रोग होते हैं। मानवी आयु बहुत छोटी होती है। सूखा, अकाल तथा मलेरिया ने एक अन्धकारमय दृष्टिकोण बना दिया है। विदेशी आक्रमणों तथा उनके शासनाधिकार ने उसके पतनशील प्रभाव को बढ़ा दिया है। भारतीय जनता के निराशाजनक दृष्टिकोण को उन चीजों ने बनाया न कि धर्म ने।

३. सामाजिक संस्थाएं---जाति-पांति-प्रणाली। जाति-पांति-प्रणाली भारतीय समाज में सबसे प्राचीन संस्थाओं में से एक है। यह वृक्ष आज भी लहलहा रहा है, यद्यपि इसमें आज वह प्राचीनकालीन ज्योति नहीं है तथापि वह आज भी बहुत दूर-दूर तक छाया कर रही है। हिन्दू आज भी अधिकतर उसकी मर्यादाओं का पालन करता है और उसके द्वारा लगाये हुए प्रतिबन्धों को मानता है। उसमें विभिन्न वर्गों में अन्तर्विवाह अथवा अन्तर्भोज की भी अनुमति नहीं है। यह प्रतिबन्ध जीवन भर मार्ग में खड़े रहते हैं। भारत का इम्पीरियल गजेटीयर (Imperial Gazetteer of India) इस विचार को स्पष्ट रूप में इस प्रकार उपस्थित करता है, "किसी व्यक्ति के सामाजिक तथा घरेलू सम्बन्धों की समस्त धारा को जन्म अटल रूप से निश्चित कर देता है और उसे अपने जीवन भर जिस जाति में उसका जन्म हुआ था उसी के रीति-रिवाजों के अनुसार खाना, पीना, वस्त्र पहनना, विवाह में कन्या लेनी तथा कन्या देनी चाहिये।"[1]

उसी ग्रंथ में जाति की परिभाषा करते हुए उसे "ऐसे परिवारों अथवा वर्गों का समूह बतलाया गया है, जिसका एक सांझा नाम होता है, जो सदा एक विशेष पेशे को प्रकट करते हुए उससे सम्बद्ध होता है, और जो अपनी सांझी वंश-परम्परा को एक पौराणिक पूर्वज, मानव अथवा देवत्व को बतलाते हैं; उसी के नाम पर अपने को घोषित करते हैं। इस विषय में जो सम्मति देने के लिए योग्य समझे जाते हैं उनके द्वारा वह एक समान उत्पत्ति वाला समाज माना जाता है।"[2]

जाति का उद्गम---अनेक प्रसिद्ध लेखकों ने यह जानने के लिए यत्न किया कि जाति का उद्गम किस प्रकार हुआ, किन्तु अभी तक किसी भी वैज्ञानिक परिणाम पर नहीं पहुँचा जा सका है। साधारणतया जाति का विकास आर्य लोगों में हुआ, जहां कहीं वह गये और बसे, वहीं---यूनान, रोम और भारत में जाति देखने को मिलती है।

1. Vol. I. Page 323.
2. Ibid. P. 313.

आदिवासी जातियों के साथ---जिन्हें अत्यन्त निम्न स्थान दिया गया था---सम्बन्ध स्थापित करने में जातीय विभेदात्मक व्यवहार और भी स्पष्ट हो गया। जेम्स मिल[1] (James Mill) का विश्वास है कि श्रम के विभाजन की आवश्यकता के कारण जातिवाद की प्रणाली का विकास हुआ। ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने कुछ समय बाद अधिक उच्च स्थान प्राप्त कर लिया, क्योंकि उनके कार्य अत्यधिक महत्वपूर्ण थे और उनकी स्थिति वंशानुगत हो गयी। आरम्भ में जातिवाद के नियम अधिक कठोर नहीं थे। उस समय एक जाति से दूसरी जाति में जाना संभव था, किन्तु बाद में निहित स्वार्थ बढ़ने पर जाति का बंधन इतना अधिक कठोर हो गया कि एक जाति से दूसरी जाति में जाना असंभव हो गया। आरम्भ में चार वर्ण थे---जिसका काम क्रमशः शिक्षा देना और प्रचार करना, शासन तथा रक्षा करना, कृषि और व्यापार करना तथा सेवा और शारीरिक श्रम करना था। उनके नाम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र रखे गये।

जातिवाद के लाभ---अतीत काल में समाज की योजना करते हुए व्यक्ति की अपेक्षा वर्गों का अधिक ध्यान रखा गया। जाति का अर्थ है, अनेक के स्वार्थ के लिए एक का आंशिक बलिदान। उस समय व्यक्तिगत लाभ और उन्नति उस जातिवाद के बीमे के लाभ थे, जब कि सामाजिक स्थिरता उसकी किश्त (Premium) थी। जातिवाद के प्रशंसकों ने उसकी परिभाषा रूप में उसे "प्राचीन काल से समय की कसौटी पर उतारा हुआ ऐसा वैज्ञानिक समाजवाद बतलाया है, जिसने व्यावहारिक वर्गों में शक्ति संतुलन को सदा बनाये रखा।"[2]

गांव के स्वतंत्र संगठन का विकास जातिवाद ने ही किया था। पंचायत उसके राजनीतिक शरीर की प्रेरक थी। पंचायतों ने अत्यधिक सामाजिक जीवन-शक्ति का परिचय दिया है और विभिन्न प्रान्तीय सरकारें अपनी-अपनी ग्राम-सुधार योजनाओं में उनका पुनरुद्धार करने का प्रयत्न कर रही हैं।

समाज को वर्गों में विभक्त करना और श्रम का सीधे-सादे ढंग से विभाजन कर देना बड़े भारी मस्तिष्क का काम था। उससे गड़बड़ी की स्थिति में व्यवस्था और नियमबद्धता स्थापित हो गई और इसके परिणामस्वरूप बड़ी भारी आर्थिक उन्नति हुई। इससे आर्य लोग उन्नतिशील राष्ट्रों के नेता बन गये। किसी नवयुवक के व्यावहारिक जीवन में प्रवेश करते ही आजीविका तलाश करने की आवश्यकता नहीं थी। उसके जन्म लेते ही उसका स्थान तैयार हो जाता था। उसके बड़ा होने पर उसको अपनी कला की शिक्षा प्राप्त करने के लिए सभी प्रकार का अवसर ऐसे स्कूल में मिलता था, जो सबसे अधिक सहानुभूतिपूर्ण होता था---वह होता था पैतृक स्कूल। वह अपने पिता की सम्पत्ति का ही उत्तराधिकारी नहीं बनता था, वरन् उसकी संपूर्ण विद्या तथा कारीगरी का भी उत्तराधिकार पाता था और फिर अपनी बारी आने पर वह इस उत्तराधिकार को अपनी संतान को दे देता था। "इस प्रकार प्राचीन परम्परा की रक्षा की जाती थी, सामाजिक शान्ति को सुरक्षित रखा जाता था, नागरिक तथा आर्थिक कल्याण प्राप्त किया जाता था तथा व्यक्तिगत आनंद और सन्तोष को बढ़ाया जाता था।"[3] जाति ने असन्तोष को नष्ट कर दिया था। उस समय इस विचार का प्रचार किया जाता था कि प्रत्येक व्यक्ति

१. जॉन स्टुआर्ट मिल के पिता।

2. Bhagwan Das—Ancient U. S. Modern Scientfic Socialism.

3. R. P. Masani on Caste in The Legacy of India, Ed. Garratt P. 151.

को अपने पिछले जन्म के कार्यों के अनुसार जन्म लेना पड़ता है और अपने भाग्य के अनुसार स्थान ग्रहण करना पड़ता है। अतएव जो लोग जीवन में अधिक उत्तम स्थान पर थे, उनके प्रति ईर्ष्या करने का कोई अवसर नहीं था। इस प्रकार जाति-वर्ग संघर्ष को कम करता था और आर्थिक शक्तियों के—जिनके परिणामस्वरूप आज अनेक बुराइयां देखने में आती हैं—अनियंत्रित कार्य के विरुद्ध बीमे का काम देता था।[1]

जाति के दोष—आरम्भ में जाति प्रथा में अनेक गुण थे, किन्तु निहित स्वार्थों की वृद्धि होने पर उनका विभाजन कठोर हो गया और उसके गुण जाते रहे। उसके अधिकांश दोषों का कारण उसमें लचीलेपन का अभाव है। डाक्टर राधाकृष्णन् कहते हैं "दुर्भाग्यवश उस उपाय ने, जिसे सामाजिक संगठन का पतन रोकने के लिए बनाया गया था, अंत में; उसको उन्नति करने से रोका।"[2]

आज जातिवाद देश की आर्थिक उन्नति के मार्ग में रुकावट है। यह लोगों को ऐसे पेशे अपनाने से रोकता है, जिनकी उनके अन्दर स्वाभाविक प्रेरणा है, साथ ही यह वर्गाकार छिद्रों में गोल खूंटियां ठोकता है। यह श्रम को एक होकर संगठित नहीं होने देता, क्योंकि उच्च जाति वाले नीची जाति वालों के साथ काम नहीं कर सकते। जाति श्रम की पारस्परिक आधीनता की जड़ों तक को खोद देती है। यह कारखानों में भिन्न जाति के वर्ग बनाती है और देश में उन ट्रेड यूनियनों के विकास में बाधा डालती हैं, जो अपना उद्योगीकरण करने की अभिलाषा रखते हैं। क्योंकि ट्रेड यूनियन ही वर्गों में शक्ति का सन्तुलन रखते हैं और औद्योगिक शान्ति की स्थापना करते हैं।

यह जाति प्रथा ही आज भारत की राजनीतिक फूट के लिए मुख्यतः उत्तरदायी है। इसने उच्च जातियों के मन में एक उच्चता की झूठी भावना भर दी जिसके परिणामस्वरूप भारत में 'अछूतों' तथा 'अप्रवेश्य लोगों' की सृष्टि हुई। दलित जातियों के साथ अमानवीय व्यवहार करने के उपरान्त एक औसत ब्राह्मण अपने को शाबाशी देता है और यह अनुभव करता है कि इससे उसकी पवित्रता बढ़ गई। हिन्दू किसान अपनी जाति चली जाने और अपने गांव के समाज द्वारा बहिष्कार किये जाने के भय से अपने खेत में हड्डी और मछली के खाद को नहीं डालता। इन्हीं कारणों से कुछ लोग मांस जैसे कुछ विशेष प्रकार के आहार का भोजन नहीं करते, जिससे उनका आहार असंतुलित रहता है और उनका शरीर निर्बल बना रहता है। उसी छोटी सी जाति में लगातार विवाह करते रहने से स्वास्थ्य और शारीरिक शक्ति का ह्रास हो रहा है।

परिणाम—पाश्चात्य सम्पर्क द्वारा भारत में छोड़ी हुई शक्तियों ने जातिवाद को नष्ट करने के लिए कठोर परिश्रम किया। नागरिक क्षेत्र वाले अधिक उदारमना हो गए, क्योंकि वहां समस्त देश भर से सभी प्रकार के व्यक्ति आते थे। उत्तराधिकार में प्राप्त हुए पेशे आधुनिक मांग को पूर्ण करने में असमर्थ थे। अतएव उनकी उपेक्षा की जाने लगी। शिक्षित व्यक्तियों ने जाति-बन्धन के विरुद्ध विद्रोह किया। उन्होंने उस रुकावट को मानने से इन्कार कर दिया, जो उनके कार्यों पर जाति द्वारा लगाई जाती थी। उन्होंने सभी जाति वालों के साथ सभी प्रकार का भोजन करना आरम्भ कर दिया।

रेलों और बसों ने भी अस्पृश्यता तथा अप्रवेश्यता को तोड़ने में बड़ी सहायता दी। यात्रा में ऊंच और नीच वाले सभी भीड़ में मिल जाते हैं। रेलवे प्लैट फार्म पर

1. R. P. Masani on Caste in The Legacy of India, Ed: Garratt. P. 159.
2. Indian Philosophy, Vol. I, P. 113.

उनको जो कुछ भी मिल जाता है, उसी से भूख और प्यास बुझानी पड़ती है, और वह भी अपनी अशुद्धि को दूर करने के लिए बिना आवश्यक स्नान किये।

हिन्दू धर्म के अन्दर भी सुधार आन्दोलन ने इसी दिशा में कार्य किया। उदाहरणार्थ, आर्यसमाज जातिभेद को स्वीकार नहीं करता और अन्तर्भोज तथा अन्तर्जातीय विवाहों को स्वीकार करता है। उत्तरी भारत में सिक्ख धर्म भी एक प्रबल शक्ति है। उसने भी सामाजिक बन्धनों को नष्ट करके मानव की क्षमता को स्वीकार किया है। इस्लाम ने भी समस्त भारत में जाति को अर्थहीन मानने का यत्न किया है।

तो भी जाति-प्रथा की जड़ अत्यन्त गहरी है और जो लोग पचास वर्ष पूर्व यह समझते थे कि जातिवाद शीघ्रतापूर्वक समाप्त हो जायेगा अब तक भी ठीक सिद्ध नहीं हुए हैं। जाति अब तक भी लाखों मनुष्यों के जीवन में एक बलवान शक्ति है और देश की आर्थिक उन्नति के मार्ग में बाधा बनी हुई है। स्वतंत्र भारत में, अछूत कहलाने वाली जातियों को विशेष सहायता तथा विशेष सुविधाओं द्वारा ऊपर उठाने का जो आन्दोलन आरम्भ किया गया है, वह कुछ समय में उच्च तथा नीच जातियों की दराड़ को बहुत कुछ भर देगा।

४ सम्मिलित परिवार प्रथा। आदर्श सम्मिलित परिवार में एक पिता, उसके पुत्र और पौत्र तथा कुछ लड़कियां होती हैं, जब तक कि उनमें से कुछ का विवाह होकर वह दूसरे सम्मिलित परिवारों में प्रवेश नहीं करतीं। सम्मिलित रहना हिन्दू समाज की साधारण शर्त है। किन्तु इच्छा होने पर उनमें बटवारा भी हो सकता है। जब तक परिवार का विभाजन नहीं होता, तब तक उसका एक चौका और सम्मिलित सम्पत्ति रहती है। सभी सदस्यों की आय को एकत्रित किया जाता है और उसी में से सबकी आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है। परिवार का सबसे वृद्ध पुरुष इन मामलों पर नियंत्रण रखकर उनका संचालन करता है।

उसके गुण—विश्व अनियंत्रित पूंजीवाद से अतितृप्त है। सोवियत रूस में समाजवाद के प्रयोग की ओर आंखें लगी हुई हैं। यह सिद्धान्त संसार में नवीन नहीं है। इसके कीटाणु सम्मिलित हिन्दू परिवार में मिलते हैं, जहां प्रत्येक सदस्य अपनी योग्यता के अनुसार काम करता है और आवश्यकता के अनुसार उपभोग करता है। रूसी प्रणाली को अनेक देशों की अपनी परिस्थितियों के कारण उनके ऊपर लागू नहीं किया जा सकता। किन्तु कुछ की सम्मति में सम्मिलित परिवार की भारतीय संस्था को विश्वभर में लागू किया जा सकता है। इसके लागू करने से कोई भारी परिश्रम अथवा कोई रक्तपात नहीं करना पड़ता, और तिस पर भी उसका उद्देश्य प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति करना है।

जब तक परिवार की भू-सम्पत्ति अविभक्त रहती है, तब तक अनार्थिक भू-सम्पत्ति (Uneconomic holding) की बुराई पैदा नहीं होती। प्राचीन सम्पत्तियों का बंटवारा व्यक्तिवाद की भावना ने कराया। सम्मिलित परिवार को "कालगणना का एक भ्रम"[1] कहा जाता है। किन्तु कुछ लोगों की सम्मति में अनार्थिक भू-सम्पत्ति की—जो भारतीय कृषि में एक अत्यधिक विनाशकारी दोष है—औषधि केवल सम्मिलित परिवार प्रथा है। यह "बिना विभाजन के उत्तराधिकार की सम्मिलित कृषि को" संभव बनाती है। सहकारी प्रणाली पर कृषि से भी इसी प्रकार के उद्देश्य की सिद्धि हो सकती है। इसमें सम्मिलित परिवार की हानियां न होने के कारण इसको अधिक पसन्द किया जाता है।

---

1. Jathar and Beri—Indian Economics. Vol. I.

इस प्रणाली के दोष—परिवार के छोटे सदस्य अपने उत्तरदायित्व को नहीं समझते और अमितव्ययी होते हैं। वह परिवार के नाम पर बनियों से बुरी तरह से उधार ले लेते हैं। परिवार में विवाह अथवा मृत्यु होने पर और 'मुंडन' तथा 'जनेऊ' जैसे अन्य धार्मिक उत्सवों पर अत्यधिक अपव्यय किया जाता है और प्रायः इसके परिणामस्वरूप परिवार पर ऋण बढ़ जाता है।

सम्मिलित परिवार में सबको भोजन तथा वस्त्र की ओर से बिना कठिन परिश्रम के भी बेफिक्री होने के कारण, उसमें अनेक आलसी आदमियों का होना अनिवार्य है। वास्तव में किसी भी प्रकार के साम्यवाद के विरुद्ध यह सबसे प्रबल युक्ति है। सम्मिलित परिवार में परिवार की समस्त आय को पश्चिम वालों की संख्या से कहीं अधिक दावेदारों में खर्चना पड़ता है। बचत करने की शक्ति क्षीण हो जाती है और पूंजी बहुत कम जमा हो पाती है। इसके अतिरिक्त बड़े परिवार के बोझ के कारण मनुष्य नए-नए उद्योगों को आरम्भ नहीं कर सकता और न ही खतरे के बड़े-बड़े कार्यों में पड़ सकता है। इस प्रकार के विपरीत वातावरण में व्यक्तियों के लिए किसी नए कार्य को स्वयं अपने आप उठाना असंभव होता है।

परिणाम—सम्मिलित परिवार प्रणाली शीघ्रता से टूटती जा रही है। यह भारत में जनसंख्या की वृद्धि, पाश्चात्य शिक्षा तथा संस्कृति के प्रसार के कारण जातिवाद की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से टूट रही है। परिवार के मुखिया के प्रति सम्मान की प्राचीन भावना का लोप होता जा रहा है और पारिवारिक विनयानुशासन के बन्धन ढीले पड़ते जा रहे हैं। १९५१ की जनगणना रिपोर्ट (Consus Report 1951) के अनुसार सम्मिलित परिवार प्रणाली भारत के ग्रामों में भी तेजी से टूट रही है।

५. उत्तराधिकार की विधियां। भारतीयों में उत्तराधिकार मिताक्षरा तथा दायभाग के नियमों के अनुसार मिलता है। दायभाग का रूप बंगाल में चलता है और मिताक्षरा के नियम देश के अन्य सब भागों में चलते हैं।

(१) **मिताक्षरा प्रणाली**—इस प्रणाली के अनुसार पितृपरम्परागत सम्पति के मालिक परिवार के सभी व्यक्ति सामूहिक रूप से होते हैं और सभी उसका उपभोग करते हैं। परिवार का मुखिया उसका उस समय के लिए प्रबन्धक मात्र होता है। उस को बिना सभी पुरुष-सदस्यों की सहमति के उस सम्पत्ति को बेचने का अधिकार नहीं होता। परिवार एक संघ अथवा कारपोरेशन (Corporation) होता है, जिसमें व्यक्तियों के अधिकारों की न तो परिभाषा की जाती है और न उनको निश्चित किया जाता है। किसी सदस्य की मृत्यु हो जाने पर उसके भाग का उत्तराधिकार भी नहीं होता। वह अपने-आप ही शेष जीवित बचने वालों की सम्पत्ति हो जाती है। जब तक पितृसम्पत्ति (जायदाद वारिसगी) का विभाजन नहीं होता, परिवार सम्मिलित रहता है। ऐसा अवसर उपस्थित होने पर पुत्रों का पिता के समान ही उसमें बराबर अधिकार होता है।

(२) **दायभाग**—इसमें परिवार का मुखिया अपने जीवन भर निर्विवाद मालिक रहता है। वह उस सम्पति को जब चाहे और जैसे चाहे समाप्त कर सकता है। इस कानून के अनुसार सम्मिलित परिवार में भी उत्तराधिकार होता है और मृतक सदस्य का भाग उसके उत्तराधिकारी को जाता है। इसमें पिता तथा पुत्रों में विभाजन नहीं होता, केवल भाइयों में होता है।

इन दोनों ही प्रणालियों में स्त्रियों को पितृसम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं होता। दोनों प्रणालियों में कर्ता खानदान को स्वयं अर्जित सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार दिया जाता है। ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकार मिलने का नियम भारत में—राजाओं तथा बड़े जमींदारों के अतिरिक्त अन्यत्र लागू नहीं किया जाता। ऐसी स्थिति में उनकी रियासत का विभाजन नहीं किया जा सकता और सबसे बड़ा पुत्र समस्त सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनता है।

(३) **इस्लामी विधि**—इस्लामी विधि (Law) में पुरुषों तथा स्त्रियों दोनों को सम्पत्ति में भाग मिलता है। यद्यपि दोनों का भाग समान नहीं होता किन्तु अनेक राज्यों में व्यावहारिक रूप में मुसलमानों में भी हिन्दू कानून का ही अनुसरण किया जाता है। किन्तु मुसलमानों की अब अपनी इस्लामी विधि का अनुसरण करने की इच्छा बढ़ती जाती है।

(४) **उत्तराधिकार विधि के आर्थिक प्रभाव**—हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों की ही विधि संहिताएं न्यायपूर्ण हैं। वह सम्पत्ति के विभाजन के समय ज्येष्ठ पुत्र और कनिष्ठ पुत्र में कोई अन्तर नहीं करते। इन विधियों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को जीवन आरम्भ करने की सुविधा मिलती है और एक मध्यम श्रेणी के निर्माण में प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार की मध्यम श्रेणी समाज तथा सरकार दोनों का मेरुदण्ड होता है। हमारे गांव ऐसे आत्मनिर्भर कृषक मालिकों को उत्पन्न करते हैं जो कि विदेशी आक्रमण तथा आन्तरिक गड़बड़ के विरुद्ध सर्वोत्तम रक्षा का काम देते हैं। यह अच्छा है कि एक व्यक्ति का भाग छोटा होता है। उससे उसे कठिन कार्य करने की अतिरिक्त प्रेरणा मिलती है। पूंजीवाद की बुराइयों को बचा दिया जाता है और सम्पत्ति का अधिक समानता से विभाजन कर दिया जाता है।

विपरीत दिशा में विचार करने पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उत्तराधिकार के नियमों से अनेक खराबियां आती हैं। भूमि अधिकाधिक छोटे भागों में यहां तक विभक्त होती जाती है कि उसमें कृषि करना भी लाभदायक नहीं रहता। कानून मुकदमेबाजी को प्रोत्साहन देता है, जिसमें समय और धन का अपव्यय होता है। उससे बचत करने में बाधा उपस्थित होती है और बड़े-बड़े काम तो किये ही नहीं जा सकते।

६. **भारत में पंचायतें**—इस स्थान पर पंचायतों का अध्ययन अप्रासंगिक न होगा। प्राचीन काल में पंचायतों के क्षेत्र में गांव के जीवन के सभी कार्य आ जाते थे। ब्रिटिश काल में सरकार के केन्द्रीय बन जाने के फलस्वरूप उनकी उपयोगिता कम हो गई। अभी-अभी उनका पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया गया है और भारत के कई राज्यों में पंचायत अधिनियम पास किये गये हैं। इनके अधीन सहस्रों पंचायतें भारत के विभिन्न भागों में स्थापित की गई हैं। पंजाब में भी कुछ मास हुए "पंजाब गांव पंचायत अधिनियम" पास कर दिया गया है। इस अधिनियम के अनुसार सरकार का यह उत्तरदायित्व था कि वह प्रत्येक गांव या, जहां गांव अधिक छोटे हों, वहां गांवों के समूह में एक गांव-सभा और एक पंचायत की स्थापना करे। इन दोनों का निर्वाचन सारे गांव की जनता मिलकर करेगी और गांव की समस्त सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति वह पंचायतें करेंगी।

पंचायतों को शासन तथा न्याय, दोनों का काम दिया गया है। उनके शासन सम्बन्धी कर्त्तव्य नगरपालिकाओं (Municipal Committees) जैसे हैं और वह गांव के समस्त साम्प्रदायिक जीवन, उदाहरणार्थ—कृषि, व्यापार, उद्योग-

धन्धे, स्वास्थ्य, त्योहारों तथा यातायात के साधनों की देख भाल करते हुए उनमें रुचि लेंगी ।

न्याय के दृष्टिकोण से उनको फौजदारी तथा दीवानी की छोटी अदालतों के अधिकार दिये गये हैं और चोरी, घर में घुस आना आदि साधारण अपराधों के मुकदमे ले सकेंगी। वह आरम्भिक शिक्षा (Primary Education), पशुओं के अनधिकृत जगह में घुस जाने तथा टीका अधिनियम (Vaccination Act) के अपराधों की भी सुनवाई कर सकेंगी। वह पचास रुपये तक जुर्माना कर सकती हैं। यह प्रस्ताव है कि उनके अधिकार को २५०) के जुर्माने तक बढ़ा दिया जाय। कुछ चुनी हुई पंचायतों को ऐसे मुकदमों के सुनने का अधिकार दिया जाने को है, जिनमें ऋण की राशि ५००) से अधिक न हो ।

पंचायत के दीवानी मुकदमों की अपील जिला मजिस्ट्रेट के यहां तथा फौजदारी मुकदमों की अपील जिला जज के यहां होगी ।

"पंचायत घर" गांव की समाज के सभा-स्थल तथा सांस्कृतिक केंद्र का काम देगा। उसमें एक पुस्तकालय तथा वाचनालय भी होगा और यदि धन हुआ तो रेडियो सेट भी होगा ।

पंचायतें भारतीय ग्रामों के सामाजिक जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती हैं। ग्रामवासी अपनी शक्ति को समझ सकेगा और कानून के नौकर उसको डरा-धमकाकर उससे काम न निकाल सकेंगे। वह जनतन्त्र सम्बन्धी शक्ति के राजमार्ग पर चल पड़ेगा और ग्राम-जनतन्त्र के नागरिक के रूप में उसका उपयोग करेगा।

चौथा अध्याय

कृषि का सामान्य निरीक्षण

१. भारतीय अर्थशास्त्र में कृषि का महत्त्व। भारत की भौतिक तथा सामाजिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करने के उपरान्त अब हम उसकी आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में वादविवाद करने की स्थिति में आ गये हैं। आरम्भ में हम कृषि को लेंगे। भारत के लिए कृषि के महत्त्व के सम्बन्ध में कोई अतिशयोक्ति नहीं की जा सकती। प्रत्येक तीन व्यक्तियों में से दो कृषि में लगे हुए हैं और अनेकों उसमें परोक्ष रूप से लगे हुए हैं। इस प्रकार हमारी बहुसंख्या का बहुत बड़ा भाग अपनी आजीविका के लिए उस पर निर्भर है। कृषि उनको भोजन के अतिरिक्त उनके उद्योग-धन्धों के लिए कच्चा माल भी देती है। यह उनको इस योग्य बनाती है कि विदेशियों से अपने कारखानों के लिए मशीनें और सामान तथा उपभोग्य वस्तुएं खरीद सकें। यह व्यापारी वर्ग की आजीविका और सरकार की आय का साधन है। इस प्रकार कृषि की समृद्धि अथवा भारत की समृद्धि पर्यायवाची हैं।

२. क्षेत्र का विभाजन। भारत में प्रकाशित तथ्यों की अल्पता और उनके विश्वसनीय रूप के सम्बन्ध में आम शिकायत है। कृषि-सम्बन्धी अंकों के सम्बन्ध में यह शिकायत सबसे बड़ी है। अंकों की योग्यता को बढ़ाने का यत्न किया जा रहा है और यह आशा की जाती है कि इन प्रयत्नों का फल समय पर अवश्य होगा। भारत का समस्त क्षेत्रफल इस प्रकार विभाजित किया गया है—

(दस लाख एकड़ों में)

१ देश	२ वर्ष	३ समस्त क्षेत्र-फल	४ जंगलों से ढका हुआ	५ कृषि के लिए अप्राप्य	६ कृषि योग्य व्यर्थ भूमि	७ ऊसर भूमि	८ बोई हुई भूमि के समस्त एकड़	९ सिंचित क्षेत्र
भारतीय जनतन्त्र[1]	१९५१	७८१	१०९	२५५	८६	५४	२७७	५०
प्रतिशत अनुपात	—	१००	१४	३२.७	११	७	३५	१८

कृषि मन्त्रालय द्वारा प्रकाशित उपर्युक्त अंकों के सम्बन्ध में हम निम्नलिखित परिणाम निकाल सकते हैं—

(१) जंगलों से ढका हुआ १४ प्रतिशत क्षेत्र जनता की आवश्यकता के लिए पर्याप्त नहीं है। उसको २५ प्रतिशत तक बढ़ाने का तत्काल प्रयत्न किया जाना चाहिए।

---

१. देशी राज्यों सहित

(२) जंगलों तथा ऊसर भूमि को मिलाकर समस्त क्षेत्रफल का ५५ प्रतिशत वर्ष में खेती के लिए नहीं मिलता।

(३) प्रथम पंचवर्षीय योजना में बतलाया गया है कि ऊसर भूमि के क्षेत्र में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। इस वृद्धि का कारण सम्भवतः विपरीत ऋतु, भूमि सुधार सम्बन्धी कानून तथा खेती के लिए बैल तथा कार्यकर्ता प्राप्त करने में कठिनाइयां हैं। इन बातों के सम्बन्ध में विस्तृत जांच की जानी चाहिए।

(४) भारत में लगभग ११ प्रतिशत क्षेत्रफल कृषि करने योग्य भूमि व्यर्थ पड़ी हुई है। खाद्य की संक्रामक कमी के कारण सरकार इस बात के लिए अत्यधिक प्रयत्न कर रही है कि इस क्षेत्र के यथासम्भव अधिक से अधिक भाग में बहु-उद्देशी योजनाओं तथा सिंचन योजनाओं द्वारा खेती कराई जाय।

(५) अविभक्त भारत के २४ प्रतिशत के मुकाबले आज भारत में समस्त बोए हुए क्षेत्र का केवल १८ प्रतिशत ही सींचा जाता है। शेष कृषि-भूमि वर्षा पर निर्भर करती है। अतएव बहुत छोटा भाग वर्ष में एक बार से अधिक बोया जाता है। भारत में सिंचित क्षेत्र का अनुपात कम होने से उसकी खाद्य-स्थिति पर बहुत विपरीत प्रभाव पड़ा है।

(६) भारत में समस्त बोई हुई भूमि २५ करोड़ १० लाख से लेकर साढ़े सत्ताईस करोड़ एकड़ के बीच में है। यह संख्या १९५१ की जनसंख्या के अनुसार प्रति व्यक्ति .७ एकड़ पड़ती है।

३. फसलों का सापेक्ष महत्त्व। भारत में वर्ष भर में दो-दो फसलें देने वाली भूमि सहित जिस २४ करोड़ ८० लाख एकड़ भूमि में खेती की गयी थी, उसमें से १९४०-१९४१ में कुल ८० प्रतिशत में खाद्य पदार्थ बोये गये थे, शेष २० प्रतिशत में अखाद्य पदार्थों की खेती थी। इसमें से ७५ प्रतिशत में तो अकेले अनाज ही थे। १९४८ में खाद्य पदार्थ (गन्ने सहित, किन्तु तिलहन को छोड़कर) कुल १८ करोड़ २ लाख एकड़ भूमि में बोये गये थे। इसके अतिरिक्त ३ करोड़ ६६ लाख एकड़ में अखाद्य फसलें, तिलहन तथा मसाले बोये गये थे। इससे हमारी अर्थ-व्यवस्था की असन्तोषजनक स्थिति का पता लगता है। हमारी जनसंख्या का तीन चौथाई और हमारी खेती का चार-पंचमांश खाद्य पदार्थों के उत्पादन में लगा हुआ है और फिर भी वह देश की जनता के लिए पर्याप्त नहीं होते और भारतीय संघ को गेहूं तथा चावल का बहुत बड़े परिमाण में आयात करना पड़ता है। इस प्रकार १९४८ में हमको २८ लाख टन तथा १९४९ में ३७ लाख टन का आयात करना पड़ा। यह आशा की जाती थी कि अपने सतत प्रयत्न से भारत १९५२ में अन्न के विषय में आत्मनिर्भर हो जाएगा।

पृष्ठ ४८ पर दी गई तालिका से भारत में १९४७-४८ और १९५०-५१ में पैदा होने वाली फसलों के सापेक्ष महत्त्व का पता लगता है।

आगे की तालिका से यह स्पष्ट है कि खाद्य पदार्थ, विशेषकर चावल तथा गेहूं उत्पादन के दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण हैं। आगे चलकर हम यह देखेंगे कि विदेशों को निर्यात के दृष्टिकोण से रुई, पसटन, चाय और तिलहन (विशेषकर मूंग-फली), अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

खाद्य फसलें (लाख टनों में)[1]

भारत	चावल[2]	गेहूं	ज्वार	बाजरा	चरी	रागी	जौ	जई	चना	योग	गन्ना[3]
१९४७–४८ (अन्तिम)	२१३	५६	५७	२६	२४	१४	२५	१६	४३	१७४	५८
१९५०-५१	२०३	६३[4]	५२	२३	१७	१४	२३	१९	३८	४३३	५५

खाद्येतर फसलें (लाखों में)

भारत	तिलहन खाने योग्य (लाख टनों में)			खाद्येतर तिलहन (लाख टनों में)		तंतु (लाख गांठों में)		पेय पदार्थ (लाख पौंड में)		विभिन्न	
	तिल	मूंगफली	तरा व सरसों	अलसी	रेडी	रूई	पटसन	चाय	कहवा	तम्बाकू	रबड़ पौंड
१९४७-४८	४	३४	८	४·३	१·१	२२	१७	५६१७	३८६	२.४	३५०
१९५०-५१	४	३३	८	४	१	२९	३३	५७२०	३९०	२.५	३५०[5]

1. Source : Agricultural Situation in India इसमें रिपोर्ट न करने वाले क्षेत्रों के अंक भी सम्मिलित हैं।
२. बिना छिलके वाला। ३. गुड़ के लिए। ४. सन् १९४९-५० के लिए। ५. १९५० के अंक।

४. **खाद्य फसलें**। अब भारत में उत्पन्न होने वाली प्रत्येक फसल के सम्बन्ध में विस्तार से वादविवाद किया जा सकता है—

(१) **चावल**—चावल भारत की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण फसल है। यह अच्छे पानी वाली नीची भूमि में गरम जलवायु में उत्पन्न होता है। यह जाड़ों की फसल है। इसको दिसम्बर से जनवरी तक काटा जाता है। देश के विभिन्न भागों में स्थानीय दशाओं के अनुसार चावल की अनेक प्रकार की विभिन्न किस्में पैदा होती हैं। उदाहरणार्थ बंगाल में दो फसलें होती हैं—**औस** या अगेती फसल और **अमान** या पिछेती फसल। औस को अमान की अपेक्षा कम वर्षा की आवश्यकता होती है। इसको गरीब लोग अधिक खाते हैं। जब कभी वर्षा होती है तो यह अकाल के विरुद्ध भोजन का काम देती है। नदी के मुहाने पर की निरल भूमि (Delta) की दलदलों में व्यावहारिक रूप से अकेले चावल की ही खेती की जा सकती है।

१९५२-५३ में हमारे देश में चावल का सम्पूर्ण क्षेत्र ७ करोड़ ४६ लाख ७४ हजार एकड़ था और सम्पूर्ण उत्पादन २ करोड़ ३४ लाख टन था।[1] यद्यपि विश्व में सर्वाधिक चावल उत्पन्न करने वालों में भारत द्वितीय स्थान पर है तथापि उसका उत्पादन अपनी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाता। बर्मा, हिन्द-चीनी, थाईलैंड से इसकी आयात होती है। युद्ध के दिनों में, बर्मा पर जापान के अधिकार के कारण ये आयातें बंद हो गई थीं और उनका परिणाम विनाशकारी हुआ था। ये आयातें अब पुनः जारी हो गई हैं।

चावल का उत्पादन करने वाले अन्य देशों की तुलना में हमारी चावल की प्रति एकड़ औसत प्राप्ति बहुत कम है। उदाहरण के लिए, जापान तथा मिश्र के सुकाबले में यह $\frac{1}{3}$ है और इटली के मुकाबले में $\frac{1}{4}$।

१९४९ में अन्तर्राष्ट्रीय चावल कमीशन ने दक्षिण-पूर्व एशिया में चावल के उत्पादन और वितरण की व्यवस्था के सम्बन्ध में वाद-विवाद करने के उपरान्त उसके विकास के लिए अनेक निश्चय किये थे। इनमें से कुछ ये हैं:—

(१) चावल की फसल का परिवर्द्धन, (२) उसके बीजों तथा फसल के रोगों के नियन्त्रण, (३) उसकी खेती के यन्त्रों और उसके अर्थशास्त्र, (४) चावल की खेती के लिए भूमि, जवलायु, खाद और सिंचाई के सम्बन्ध में सूचनाएं एकत्रित करने, (५) माल का प्रामाणिक मान निश्चित करने, (६) अधिक अच्छे स्टोर बनाने, (७) उसके उप-उत्पादनों, उदाहरणार्थ पुआल और भूसी के उपयोग, और (८) एक अंक विज्ञान परामर्शदातृ तथा अनुसन्धान संस्था के विषय में थे।

(२) **गेहूँ**—यह दूसरी महत्वपूर्ण फसल है और पंजाब तथा उत्तरप्रदेश के लोगों का मौलिक खाद्य है। अन्य राज्यों में इसे उपभोग के क्षेत्रों को निर्यात करने के लिए उगाया जाता है। यह चावल की अपेक्षा अधिक पोषक है। १९५१-५२ में, भारत में गेहूं के अधीन सम्पूर्ण क्षेत्र २ करोड़ ३२ लाख एकड़ था और उत्पादन लगभग ५८ लाख टन था।[1]

गेहूं मुख्यतः उत्तरप्रदेश, पंजाब (१), मध्यप्रदेश, बम्बई और मध्यभारत में उत्पन्न किया जाता है। उत्तरप्रदेश और पंजाब में देश के सम्पूर्ण उत्पादन का $\frac{2}{3}$ भाग पैदा किया जाता है। विश्व के सर्वाधिक गेहूं उत्पन्न करने वाले देशों

1. Agricultural Situation, September 1952.

में भारत तृतीय है। पाकिस्तान में एक एकड़ में ८ मन गेहूं पैदा होता है जबकि भारत में कुल सात मन ही पैदा होता है। इसके अतिरिक्त प्रति एकड़ उत्पादन प्रत्येक प्रांत में विभिन्न प्रकार का है—बिहार में प्रति एकड़ ८८२ पौंड, पंजाब में ७२८ पौंड और हैदराबाद में २३१ पौंड है। यूरोप में सबसे अधिक उत्पादन १,१४० पौंड प्रति एकड़, कैनेडा में ९७२ तथा अमरीका में ८४६ है। इस प्रकार यदि भारत में विज्ञान की सहायता ली जाय और हमारी ग्रामीण अर्थव्यवस्था को ठीक-ठीक संगठित किया जाय तो यहां भी इस स्थिति में उन्नति हो सकती है। डाक्टर बर्न्स (Dr. Burns) ने हिसाब लगाया है कि प्रति वर्ष रस्ट (Rust) रोग हो जाने पर ५ प्रतिशत गेहूं बरबाद हो जाता है। किन्तु जिन स्थानों में बीमारियां बुरी तरह फैल जाती हैं वहां १०० प्रतिशत गेहूं खराब हो जाता है। इसलिए गेहूं की ऐसी किस्मों में उन्नति करनी चाहिए जो रस्ट का मुकाबला कर सकें। स्मट (Smut) नामक एक और रोग का भी प्रबन्ध करना है। इसका उष्ण जल के प्रयोग से इलाज किया जा सकता है। इस इलाज को पंजाब के कृषि विभाग के प्रोफेसर लूथरा ने निकाला है। सिंचाई, खाद तथा फसलों को अदल-बदल कर बोने से प्रति एकड़ उत्पादन अवश्य ही अधिक होगा।

१९१४ से पूर्व भारत गेहूं का निर्यात करता था। किन्तु विभाजन के बाद वह अन्न का बड़ी भारी मात्रा में आयात कर रहा है। १९४९ तथा १९५० में उसने कम से कम २२ और १४ लाख टन गेहूं तथा गेहूं के पदार्थों का क्रमशः आयात किया। इस बीच में सरकार ने गेहूं, चावल तथा अन्य अनाजों को किसानों से लेने का एकाधिकार स्थापित किया, जिससे राशन क्षेत्रों के लोगों को अन्न दिया जा सके।

अधिक कृषि के क्षेत्र छांट लिये गये हैं, खाद बांटे जा रहे हैं, ट्रैक्टरों द्वारा बंजर भूमि को तोड़ा जाकर उसमें कृषि कराई जा रही है। कांस तथा हरियाली भूमि का सुधार किया जा रहा है तथा ट्यूब वैल एवं सिंचाई के अन्य कार्यों को हाथ में ले लिया गया है। उद्देश्य केवल यह है कि १९५५-५६ तक अन्न के विषय में आत्मनिर्भरता हो जाय।

(३) **जौ**—भारत में कुल ७५ लाख एकड़ में जौ बोया जाता है। इसमें से $\frac{2}{3}$ उत्तरप्रदेश में तथा शेष बिहार तथा पंजाब में बोया जाता है। हम सब मिला कर २५ लाख टन जौ पैदा करते हैं। यह फसल खाद्य फसल की अपेक्षा अधिक नकद मूल्य देती है, क्योंकि इसका मुख्य रूप से शराब बनाने में उपयोग किया जाता है। भारत में इससे बीयर (Beer) नाम की शराब बनती है। पहले जौ की कुछ किस्मों का ब्रिटेन तथा अमरीका को निर्यात किया जाता था। किन्तु विभाजन के बाद की खाद्य स्थिति ख़राब हो जाने से अब देश में कुछ जौ का आयात भी करना पड़ता है।

(४) **छोटे अन्न या मिलेट** (Millets) अथवा जई, बाजरा और रागी समस्त देश में होते हैं। किन्तु यह अधिकतर बम्बई, मद्रास, हैदराबाद, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश के खुश्क क्षेत्रों में होते हैं। यह खरीफ की फसल है और इसको उससे अधिक जल की आवश्यकता होती है, जितना उसको दक्षिण-पश्चिमी मानसून देता है। नागपुर, कोयम्बटूर और इन्दौर में किये हुए प्रयोगों के फलस्वरूप अब इनकी सुधरी हुई किस्में अच्छी मात्रा में बोई जा रही हैं।

निर्धन लोगों का भोजन यह छोटे अन्न ही हैं। बाजरे का इन कैलोरियों (पौष्टिक भोजन) की दृष्टि से अधिक मूल्य है। रागी में गेहूं से भी अधिक कैलशियम

(Calcium) होता है। ज्वार कम वर्षा वाले क्षेत्रों में भारत में सदा ही बोई जाती रहेगी। अतएव स्मट (Smut) के विरुद्ध उपायों तथा खुश्क खेती की प्रणालियों में अधिक अनुसन्धान करने से इसकी प्रति एकड़ उपज को बढ़ाया जा सकेगा।

चरी आदि छोटे अनाज पशुओं के भोजन के लिए भी उत्तम चारे का काम देते हैं। १९५२-५३ में ६ करोड़ ७२ लाख एकड़ों में जवार और बाजरा बोया गया था और ९० लाख ३० हजार टनों की लगभग प्राप्ति हुई थी।

भारत में खाद्यान्नों के संकट के कारण हम इन छोटे अन्नों का भी आयात कर रहे हैं। १९४९ में हमने ४ लाख टन माइलो (Milo) बाहर से मोल ली थी और १९५१ के प्रथम आठ मास में ७.६ लाख टन मंगवाया जा चुका है।

(५) **दालें**—देश भर में चना, उड़द, मसूर, मोठ, मटर, अरहर आदि अनेक प्रकार की दालें पैदा होती हैं और यह लोगों के भोजन का आवश्यक भाग बनी हुई हैं। चना मुख्य दाल है और मुख्य रूप से पंजाब, उत्तरप्रदेश, मध्यभारत, पटियाला राज्य संघ और बिहार में बोया जाता है। १९४७-४८ में एक करोड़ ७० लाख एकड़ में ३६ लाख टन तथा १९५०-५१ में एक करोड़ ९.७ लाख एकड़ में ३८ लाख टन चना भारत में पैदा हुआ। १९४९-५० हमारा सर्वोत्तम वर्ष था। इसमें भारत में ४५ लाख टन का उत्पादन हुआ था। देश के विभिन्न भागों में प्रति एकड़ उत्पादन कम नहीं है। कम से कम बम्बई में ५० पौंड, गुजरात में ५०० पौंड और पंजाब में १२०० पौंड है।

दालों का क्षेत्रफल तथा उत्पादन निम्नलिखित था—

दालें (लाखों में)

वर्ष	क्षेत्रफल (एकड़ में)	उत्पादन (टनों में)
१९४७–४८	८५.९	८.२
१९४९–५०	८७.२	७.७

१९४० में कृषि अनुसन्धान की इम्पीरियल कौंसिल ने भारत में दालों के सम्बन्ध में किये हुए अन्वेषणों की सहायता करने तथा प्रत्येक मामले में एक बीज की किस्म का विकास करने तथा मिश्रित फसलें और खाद आदि अन्य उत्पादन बढ़ाने वाली दशाओं के सम्बन्ध में एक विशेष कमेटी नियुक्त की थी। दालों का चारे के रूप में भी कम महत्व नहीं है।

(६) **मक्की** (Maize)— अमरीका में इसे 'भारतीय अनाज' कहा जाता है, क्योंकि भारत में मुख्यतः इसे मानवी खाद्य के लिये प्रयोग में लाया जाता है जबकि अमरीका में इसे घोड़े खाते हैं। उत्तरप्रदेश, बिहार और पंजाब के राज्यों में मुख्यतः पैदा होती है। १९५२-५३ में, ८८ लाख एकड़ों में बोई गई थी और इसका उत्पादन लगभग २६ लाख टन हुआ था। स्टार्च (Starch) का उद्योग इस फसल पर निर्भर है।

भारत गत कुछ वर्षों में अपने लाखों भूखों को खिलाने के लिए मक्की का भी आयात करता रहा है।

(७) **गन्ना**—भारत में गन्ने का क्षेत्रफल संसार के सभी देशों से अधिक है। गत वर्षों में इस उद्योग को संरक्षण दिये जाने से इसका उत्पादन अत्यधिक बढ़ गया है। १९४७-४८ में भारत में ३६ लाख एकड़ भूमि में गन्ना बोया गया था, जिससे ५०

लाख टन गुड़ बना। सरकारी प्रयत्न से १९५०-५१ में गन्ने का क्षेत्रफल बढ़ कर ४० लाख एकड़ हो गया और उससे ५५ लाख टन गुड़ बना। १९४९ में सफेद चीनी को फिर राशन में सम्मिलित कर दिया गया क्योंकि उसका स्टाक कम हो गया था और मूल्य चढ़ता जाता था। इस स्थिति में और भी सुधार करने के लिए सरकार ने चीनी सिन्डीकेट को बन्द कर दिया। चीनी के उत्पादन तथा वितरण पर इसी सिन्डीकेट का नियंत्रण था और जिसके विषय में यह कहा गया कि यह चोरबाजार पैदा करने में सहायता दे रहा था। १९५० में ५०,००० टन सफेद चीनी का आयात करना पड़ा था, किन्तु १९५१ में अधिक उत्पादन ने इस आवश्यकता को दूर कर दिया है।

गन्ना मुख्य रूप से उत्तरप्रदेश तथा बिहार में बोया जाता है। भारत में इसकी हल्की किस्म ही बोई जाती है, और उसकी प्रति एकड़ पैदावार भी अन्य गन्ना-उत्पादन देशों की अपेक्षा कम है। सरकार गन्ने की किस्म तथा प्रति एकड़ उत्पादन पर विशेष ध्यान दे रही है। कोयम्बटूर में गन्ने की नसल को बढ़ाने के लिए एक केन्द्र खोला गया तथा राज्य के कृषि विभागों ने गन्ने की नई–नई किस्मों को चालू किया है जिनसे प्रति एकड़ अधिक गन्ना पैदा होता है।

५. खाद्येतर फसलें। प्रधान खाद्येतर अथवा नकदी की फसलें रूई, पटसन, चाय, कहवा, तम्बाकू, अफीम, रबड़ और मसाले हैं। इनको मुख्य रूप से बेच दिया जाता है। इनका भारत के निर्यात में मुख्य स्थान है। १९५०–५१ में भारत में खाद्येतर फसलों (सभी प्रकार के खाने तथा न खाने योग्य तिलहनों सहित) का क्षेत्रफल ४ करोड़ २० लाख एकड़ था, जबकि खाद्य वस्तुएं २१ करोड़ ७० लाख एकड़ में बोई जाती थीं, अर्थात् खाद्येतर का अनुपात खाद्य वस्तुओं की अपेक्षा ८३% के विरुद्ध १७% था।

(१) **चाय**—विश्व में सर्वाधिक चाय उत्पन्न करने वाले देशों में भारत द्वितीय है। चीन का प्रथम स्थान है।

१९५० के उपलब्ध सरकारी आंकड़ों के अनुसार चाय के अधीन सम्पूर्ण क्षेत्र ७ लाख ७७ हजार एकड़ था जिसमें से आसाम और पूर्वी बंगाल का क्षेत्र लगभग ३/४ था। उत्पादन के अन्य क्षेत्र यह हैं: कांगड़ा (पंजाब); देहरादून (उत्तरप्रदेश), मद्रास और ट्रावनकोर। उस वर्ष सम्पूर्ण उत्पादन ६० करोड़ ७३ लाख पौंड हुआ।

भारत, विश्व भर में सर्वाधिक चाय निर्यात करने वाला देश है। यह अपने उत्पादन का ४/५ भाग प्रति वर्ष निर्यात करता है। १९५१-५२ में लगभग ९४ करोड़ रु० की चाय निर्यात की गई थी। ब्रिटेन, फ्रांस, कैनाडा और अमरीका इसके मुख्य ग्राहक हैं।

(२) **कहवा**—भारत के अनेक स्थानों में अब कहवे के स्थान में चाय की खेती की जाने लगी है। इस कमी का कारण कुछ तो हानिप्रद पान तथा कुछ ब्राजील के सस्ते कहवे का बाजार में आ जाना है। कहवा (Coffee) प्रायः मैसूर राज्य (९६,२०० एकड़), मद्रास (४९,६०० एकड़) तथा कुर्ग (३७,५०० एकड़) में बोया जाता है। कहवे के कुल उत्पादन अंकों को नीचे दिया जाता है—

वर्ष	क्षेत्रफल (एकड़ों में)	उत्पादन (टनों में)
१९४८–४९	२,१८,०००	३५,०००
१९४९–५०	२,२१,०००	३९,०००

भारत पूरे वर्ष भर में एक करोड़ रुपये का ५००० टन कहवा निर्यात करता है। १९३५ से भारतीय कहवा कमेटी उसके पीने को सार्वजनिक रूप देने के लिए प्रचार कर रही है। इसके प्रचार के लिए प्रत्येक हंडरवेट पर आठ आना तट-कर लगा कर कमेटी को दिया जाता है।

(३) **रूई**—भारतीय रूई की किस्म प्राय: नीचे दर्जे की होती है। "इसका तार छोटा होता है और प्रति एकड़ पैदावार भी कम होती है।" इस घटियापन के कई कारण हैं। (क) इसकी किस्म को उन्नत करने में कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया जाता, क्योंकि इसका ऊन में मिलावट करने के लिए निर्यात किया जाता है और इस प्रकार इसके अच्छे दाम मिल जाते हैं, (ख) नीची किस्म के अधिक बोये जाने का कारण यह भी है कि यह सूखे का अच्छा मुकाबला कर सकती है, (ग) गांठ बंधने के कारखानों में बीज मिल-जुल जाता है।

भारतीय रूई की किस्म तथा उसके प्रति एकड़ उत्पादन को बढ़ाने का यत्न भी किया गया। कृषि विभाग इसकी अच्छी किस्मों का विकास करने के कार्य में लगे हुए हैं।

भारतीय केन्द्रीय रूई कमेटी ने रूई की किस्म में सुधार करने की दिशा में बहुत काम किया है। उसने प्रयोगशालाओं की स्थापना की तथा बम्बई, इन्दौर और अन्य स्थानों में अनुसन्धान कार्य किया। उसके कार्यों के खर्चे के लिए प्रति गांठ दो आना कर लगाया जाता है। यह कर भारत में बनी सभी गांठों पर लगाया जाता है। रूई को बेचने की दशाओं में सुधार करने के लिए रूई बाजार अधिनियम (Cotton Markets Act) बम्बई, मध्यभारत तथा मद्रास में पास किये गये।

१९५०-५१ में १ करोड़ ३९ लाख एकड़ों में कपास बोई गई थी और उससे लगभग ३० लाख गांठों की प्राप्ति हुई थी। १९५१-५२ में ३३ लाख गांठों की और १९५२-५३ के लिए ३६ लाख गांठों का अनुमान लगाया गया है।

कपास के प्रधान क्षेत्र यह हैं—बम्बई, मध्यप्रदेश, हैदराबाद, मद्रास, मध्य-भारत। कपास के सम्पूर्ण क्षेत्र में से आधा क्षेत्र बम्बई और बरार का है।

भारत विभाजन ने भारत की रूई व्यवस्था को भी अत्यधिक निर्बल कर दिया। भारत जहां पहले रूई का निर्यातक था, अब उसका विशुद्ध आयातक है।

(४) **जूट**—१९२९–३५ तक की मंदी के दिनों में पटसन का मूल्य अत्यधिक गिर गया था। बाजार बढ़ाने में सहायता देने के लिये बंगाल सरकार ने उत्पादकों से अनुरोध किया था कि वह स्वेच्छापूर्वक पटसन की खेती कम करें, किन्तु उसका कुछ विशेष परिणाम नहीं निकला। १९३६ में अनुसन्धान करने तथा ठीक अंकों का संकलन करने के लिए ५ लाख रुपया वार्षिक के अनुदान से एक भारतीय केन्द्रीय जूट कमेटी नियुक्त की गई। युद्ध के कारण पटसन की मांग अत्यधिक बढ़ गई। १९४० में कारखानों का नियमन करने, जूट की खेती में एकड़ों का नियंत्रण करने तथा मूल्य का नियन्त्रण करने के लिए बंगाल जूट नियन अधिनियम (Bengal Jute Regulation Act) पास किया गया। अभी पिछले दिनों सरकार ने पटसन पर से नियन्त्रण उठा लिया है, जिससे उसका मूल्य अत्यधिक चढ़ गया।

कुछ इलाकों में लोगों ने पटसन की खेती के कारण चावल बोना बन्द कर दिया है। इससे पटसन के कारण खाद्यान्नों के परिमाण में भी कमी हो गई है। पटसन किसी अन्य फसल की अपेक्षा भूमि के उर्वरापन को अधिक कम करता है।

किन्तु बंगाल की केवल १० प्रतिशत भूमि पर ही पटसन बोया जाता है जबकि चावल वहां की ७२ प्रतिशत से भी अधिक भूमि पर बोया जाता है। विदेशी विनिमय प्राप्त करने के लिए भारत से पटसन का निर्यात किया जाना बहुत आवश्यक है। भारत में पटसन का उत्पादन बढ़ाने का लगातार प्रयत्न किया जा रहा है। १९५२-५३ में लगभग १८ लाख ३८ हजार एकड़ में जूट पैदा हुई थी, जिसके उत्पादन का अनुमान लगभग ४७ लाख गांठें था।

दुर्भाग्यवश पटसन का ¾ क्षेत्रफल पाकिस्तान में चला गया जब कि पटसन की सभी मिलें भारत में हैं। अतएव भारत को लगभग ५० लाख पटसन की गांठों के लिए पाकिस्तान पर निर्भर रहना पड़ता है। किन्तु भारत के अपनी मुद्रा (Currency) का मूल्य घटाने तथा पाकिस्तान के न घटाने से पाकिस्तान का पटसन भारत को अधिक महंगा पड़ने लगा। वास्तव में सितम्बर १९४९ से लेकर अप्रैल १९५० तक, जब तक नेहरू-लियाकत समझौते के फलस्वरूप यह मामला अपने आप ही ठीक न हो गया, तब तक भारत तथा पाकिस्तान का व्यापार एकदम बन्द रहा। मामले को और खराब करने के लिए पाकिस्तान ने भारत द्वारा मोल लिये हुए पटसन को भी रोक लिया। अतएव भारत में पटसन के उत्पादन को बढ़ाना अत्यन्त आवश्यक हो गया। इस बढ़े हुए उत्पादन के लिए उत्तरप्रदेश, मद्रास तथा ट्रावनकोर को चुना गया। इसके फलस्वरूप पटसन बोये जाने वाले हमारे क्षेत्रफल में वृद्धि हुई। पंचवर्षीय योजना में अगले पांच वर्षों में पटसन के उत्पादन में २०,६०,००० गांठों की वृद्धि करने का प्रस्ताव किया गया है। १९५० में कुल कमी ३३ लाख गांठों की थी। यह अनुमान लगाया गया है कि १९५६ में कुल १२ लाख गांठों की कमी रहेगी।

(५) **तम्बाकू**—भारत अमरीका तथा चीन के बाद तम्बाकू के उत्पादक देशों में संसार का तीसरा सबसे बड़ा देश है। १९५० में उसने ८,३६,००० एकड़ भूमि में २,४६,००० टन तम्बाकू पैदा किया। तम्बाकू भारत भर में पैदा होता है, किन्तु मद्रास के गुन्टूर, किस्टना और गोदावरी जिलों में सिगरेटों के लिए सर्वोत्तम वर्जीनिया तम्बाकू की खेती की जाती है। गुन्टूर इसका मुख्य बाजार है। १९४८ में ८ करोड़ ७९ लाख रुपयों के तम्बाकू का तथा १९५० में १५ करोड़ ९० लाख रुपयों के तम्बाकू का निर्यात किया गया। ब्रिटेन इसका मुख्य बाज़ार है।

(६) **चारे की फसलें**—१९०१ के २९ लाख ४० हजार एकड़ क्षेत्रफल के मुकाबले में १९४०–४१ में १ करोड़ ५ लाख एकड़ में भारत में चारे की खेती की गई। यह खेती प्रायः पंजाब, बम्बई और उत्तरप्रदेश में की गई। किन्तु पशुओं की बड़ी भारी जनसंख्या को दृष्टि में रखते हुए यह क्षेत्रफल पर्याप्त नहीं है। पिछले वर्षों में हमारे कृषि विभाग ने अधिक उत्तम चारे की बुवाई करने तथा चारे को गोदामों में रखने की समस्याओं पर अधिक ध्यान दिया है। अन्य घासों में मिस्र की क्लोवर (Clover) तथा बरसीम (Berseem) घासों को भारत में सफलतापूर्वक बोया गया है।

(७) **रबड़**—रबड़ की खेती मुख्यरूप से मद्रास, कुर्ग और मैसूर में की जाती है। १९५० में रबड़ की खेती का कुल क्षेत्रफल १,७०,००० एकड़ था। इससे साढ़े तीन करोड़ पौंड रबड़ निकली। युद्ध पूर्वकाल में रबड़ के मूल्य में भारी गिरावट आने से रबड़ का उत्पादन तथा निर्यात अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के अनुसार नियमित कर दिया गया। इससे बाज़ार को बड़ी भारी सहायता मिली। युद्धकाल में रबड़ के अधिक वृक्ष लगाने और उसके नए-नए साधन ढूंढ़ने का यत्न किया गया। भारत

को प्रति वर्ष कई सौ टन रबड़ का आयात करना पड़ता है। इस कमी को पूर्ण करने के लिए कम रबड़ देने वाले वृक्षों के स्थान पर अधिक रबड़ देने वाले वृक्षों को लगाया जा रहा है। इस प्रकार २० वर्ष में १५,५०० टन का वर्त्तमान उत्पादन बढ़कर ४१,००० टन हो जायगा।

(८) **तिलहनें**—भारत में दो प्रकार की तिलहनों (तेल के बीजों) की खेती की जाती है—एक खाने योग्य, दूसरे न खाने योग्य। मूंगफली खाने योग्य होती है, जबकि तरा, सरसों, रेंडी और अलसी खाने योग्य नहीं होते। मूंगफली अत्यन्त महत्व-पूर्ण होती है। निम्न तालिका से उसके महत्व का पता लग सकता है :—

मूंगफली

वर्ष	क्षेत्रफल (एकड़ों में)	उत्पादन (टनों में)	निर्यात (टनों में)
१९४७-४८	१,००,७९,०००	३४,११,०००	६०,०००
१९५०-५१	१,०४,७२,०००	३३,३१,०००	९६,०००

मद्रास में मूंगफली की सबसे अधिक खेती ४० लाख एकड़ भूमि में होती है। उसके बाद बम्बई में लगभग २० लाख एकड़, हैदराबाद में १५ लाख एकड़ तथा मध्यप्रदेश में ६ लाख एकड़ भूमि में मूंगफली की खेती की जाती है। भारत ने १९४९-५० में १,२६,००० टन मूंगफली का निर्यात करके १९५०-५१ में कुल ३६,००० का ही निर्यात किया। किन्तु उसने इसी बीच में ७० लाख गैलन मूंगफली के तेल के मुकाबले १ करोड़ ५६ लाख गैलन तेल का निर्यात किया। मूंगफली के लिए जर्मनी, नीदरलैण्ड्स, स्विट्जरलैण्ड और ब्रिटेन हमारे सबसे अच्छे ग्राहक हैं और उसके तेल के लिए बर्मा, फ्रांस और नीदरलैण्ड्स हमारे ग्राहक हैं। भारत सरकार मूंगफली के दाने की उपेक्षा उसके तेल का निर्यात बढ़ाने में सफल हो गई है।

भारत भर में १९४८ में १ करोड़ ४० लाख एकड़ भूमि में १७,०६,००० टन तिलहन का उत्पादन हुआ। यह उत्पादन १९५१ में बढ़ कर १ करोड़ ५५ लाख एकड़ भूमि में १७,३८,००० टन हो गया। नीति यह है कि बीजों की अपेक्षा तेल का निर्यात बढ़ाया जाय, जिससे उनकी खली हमारे पशुओं के भोजन के लिए बच रहे। अलसी इन सब में अधिक महत्वपूर्ण है। १९४८-४९ में ३९ लाख एकड़ भूमि में ४,३९,-००० टन अलसी का उत्पादन हुआ था। अलसी के तेल का निर्यात १९४९-५० के १८ लाख गैलन तेल के मुकाबले १९५०-५१ में १४ लाख टन तेल हुआ। आज अलसी तथा उसके तेल के लिए आस्ट्रेलिया हमारा सबसे बड़ा ग्राहक है। उसके अन्य मुख्य ग्राहक इटली, मिस्र, न्यूजीलैण्ड, ब्रिटेन और पाकिस्तान हैं।

हमारे रेंडी के बीज तथा तेल का निर्यात बहुत घट गया है। किन्तु १९४९-५० के ५,००० टन रेंडी के बीज तथा ११ लाख टन तेल के निर्यात की अपेक्षा वह १९५०–५१ में बढ़ कर ७८,००० टन तथा ६० लाख गैलन हो गया। उसके निर्यात को बढ़ाने के लिए उत्पादन की किस्म को अधिक अच्छा करने का यत्न किया जा रहा है।

तरे (Rape seed)को सरसों में मिलाकर भ्रम नहीं उत्पन्न करना चाहिए। इसका उत्पादन मुख्य रूप से उत्तरी भारत अर्थात् उत्तरप्रदेश, पंजाब, बिहार और बंगाल में किया जाता है। तरे के बीज का निर्यात ब्रिटेन, इटली, बेल्जियम तथा फ्रांस को किया जाता है। भारत भर में तरे तथा सरसों का उत्पादन १९४९–५० में ४८ लाख एकड़ भूमि में ७,९३,००० टन का हुआ था। उसके बाद १९५०-५१ में ५५ लाख एकड़ भूमि में ८,२६,००० टन का हुआ। उत्तरप्रदेश तिल का सबसे बड़ा

उत्पादक है। इसका निर्यात सबसे अधिक यूरोप के महाद्वीप के देशों को किया जाता है। १९५०-५१ में तिल का ५० लाख एकड़ में ४,२७,००० टन उत्पादन हुआ था।

गोले का तेल भी एक खाद्य पदार्थ है। इससे भोजन पकाने में काम लिया जाता है। साथ ही इससे नकली मक्खन (Margarine) तथा बनस्पति बनाया जाता है। इसकी खेती १५ लाख एकड़ में की जाती है।

६. उत्पादन बढ़ाने की आवश्यकता। भारत की ग्रामीण जनसंख्या का अधिकांश केवल पेट भरने द्वारा ही अपनी गुजर करता आया है। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति आय के विभिन्न अनुमान उसको वास्तव में अत्यन्त निम्न स्तर पर ही ले जाते हैं। १९४८-४९ के सम्बन्ध में राष्ट्रीय आय कमेटी (National Income Committee) की प्रथम रिपोर्ट १९५१ में प्रकाशित हुई थी, उसमें ३४ करोड़ १० लाख जनसंख्या की प्रति व्यक्ति आय २५५ रुपया लगाई गई थी। इस कमेटी के निर्णय के आधार पर लगाए हुए हिसाब के अनुसार ६८ प्रतिशत व्यक्ति कृषि की आजीविका में लगे हुए थे। कृषि कार्य में लगे हुए व्यक्ति की आय १८० रुपया तथा अन्य कार्य में लगे हुए व्यक्ति की आय ४१६ रुपये लगाई गई थी। ग्रामीण आय को बढ़ाने का एकमात्र उपाय कृषि उत्पादन को बढ़ाने का प्रयत्न करना है।

इस समस्या पर एक और दृष्टिकोण से विचार करने पर यह देखने में आता है कि आज भारत को अन्न की भयंकर कमी का सामना करना पड़ रहा है। 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के चलाये जाने पर भी यह कमी बनी हुई है, वरन् और अधिक बढ़ गई है। सूखा, बाढ़ें तथा अन्य प्राकृतिक आपत्तियां इस आपत्ति को बढ़ाने का कारण हैं। जबकि हमारा उत्पादन घट रहा है हमारी जनसंख्या चालीस लाख प्रति वर्ष की दर से बढ़ रही है। इसके परिणामस्वरूप विदेशों से अत्यधिक मात्रा में अन्न का आयात करना पड़ रहा है।

१९४७ में देश के स्वतन्त्र होने पर सरकार ने स्थिति की गम्भीरता का अनुभव किया। अतएव उसने इस विषय में देश को आत्मनिर्भर बनाने के लिए खाद्य-पदार्थों का उत्पादन बढ़ाने का निश्चय किया। भुगतान के संतुलन में कमी तथा पाकिस्तान के साथ व्यापार ठप्प हो जाने के कारण सरकार को रूई तथा पटसन का उत्पादन भी बढ़ाने के लिए विवश होना पड़ा। उन्होंने घोषणा की कि सरकार की इच्छा मार्च १९५२ के बाद अन्न का आयात करने की नहीं है, किन्तु प्राकृतिक आपत्तियों के कारण उसके प्रयत्न इस विषय में भी असफल प्रमाणित हुए। अतएव उन्होंने इस उद्देश्य को १९५६ में प्राप्त कर लेने की योजना बनाई है। इस विषय में दो दिशाओं में यत्न किया जा रहा है—अधिकाधिक भूमि में कृषि किये जाने का यत्न किया जा रहा है और प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ाने का यत्न भी किया जा रहा है। प्रथम समस्या का अर्थ है व्यर्थ पड़ी हुई भूमि का सुधार, और दूसरी समस्या अत्यधिक खेती पर बल देती है। अब उनके सम्बन्ध में विचार किया जायगा।

७. यान्त्रिक कृषि द्वारा भूमि सुधार की सम्भावनाएं। ७८ करोड़ १० एकड़ लाख के समस्त क्षेत्रफल में से ८ करोड़ ८० लाख एकड़ कृषि योग्य परती भूमि समझी जातीहै। इसके अतिरिक्त एक करोड़ एकड़ भूमि ऐसी है जो किसी समय कृषि के काम में आती थी, किन्तु अब उस पर इतनी अधिक कांस पैदा हो गई है कि इसको छोड़ देना पड़ेगा। एक तीसरी प्रकार की बेकार भूमि और भी है जो ऊसर कहलाती है। उसमें रेत जैसे क्षार मिले होते हैं।

'कृषियोग्य परती भूमि' कहलाने वाली भूमि 'कृषियोग्य' नहीं है। इसमें

से दो या अढ़ाई करोड़ एकड़ से अधिक भूमि को जोत कर लाभ प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह हमारी बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकता पूरी करने के लिए कोषागार है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि अधिक भूमि में कृषि करना एकदम आवश्यक हो गया है; अतएव हम उसकी सम्भावनाओं पर विचार करेंगे।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि क्षेत्रफल में १९५६ तक निम्न प्रकार से वृद्धि करने का प्रस्ताव किया गया है—

बड़े-बड़े सिंचाई के कार्यों से	८० लाख एकड़
छोटे-छोटे सिंचाई के कार्यों से	७० लाख एकड़
ऊसर में खेती करने से	४० लाख एकड़
केन्द्रीय ट्रैक्टर संगठन द्वारा भूमि-सुधार से	१५ लाख एकड़

जंगली घास वाली भूमि प्रथम श्रेणी के खाद्य उत्पादक क्षेत्र हैं। कांस, हरिया अथवा दूब वह जंगली घास हैं, जिन्होंने इन क्षेत्रों को देशी औज़ारों से खेती न करने योग्य बना दिया है। केवल विशेष ८० अश्व शक्ति के ट्रैक्टर विशेष हलों के साथ, जो भूमि के अन्दर १२ इंच तक घस सकें, इस काम को कर सकते हैं। इन भूमियों के आरम्भ से ही बसी होने के कारण, उनके ऊपर नई बस्ती बसाने का खर्चा भी नहीं होगा।

नई भूमियों को सुधारना कुछ कठिन कार्य है। वह मलेरिया से भरे हुए क्षेत्र हैं और उनमें यातायात के साधन भी नहीं हैं। वहां न गांव हैं और न पीने का पानी। इन गहन झंखार वाले जंगलों को साफ करने के बाद यहां इन सभी सुविधाओं को भी उपलब्ध करना पड़ेगा। वृक्षों को गिरा कर भूमि में से उनकी जड़ों को भी निकालना होगा। अतएव यहां वृक्ष उखाड़ने वाले भारी भारी ट्रैक्टरों की आवश्यकता पड़ेगी। उत्तर प्रतेश के गंगा खादर तथा नैनीताल (तराई) में इस प्रकार की योजनाएं चला दी गई हैं और वहां सफलता प्राप्त हुई है।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने अमरीका से ३७५ नए ढंग के भारी ट्रैक्टर तथा अन्य सामान मोल लेने के लिए भारत को एक करोड़ डालर का ऋण दिया है। अमरीका से यह माल आ चुका है। उसको पन्द्रह-पन्द्रह की इकाइयों में उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, मध्य भारत और भोपाल को दे दिया गया है। कुछ ट्रैक्टर पंजाब को भी दिये गये हैं।

यन्त्रों द्वारा भूमि सुधार करने का यह सारा खर्चा केन्द्रीय सरकार उठाती है। यह भूमि-सुधार से स्वतः आय सिद्ध है। जंगली घासों की भूमि को सुधारने का खर्च प्रति एकड़ ४० रुपये तथा नई भूमि को सुधारने का खर्च प्रति एकड़ ५० रुपये पड़ता है। इस सारे खर्चे को ५ से लेकर १० वर्ष तक सुगमता से चुकाया जा सकता है।

ऊसर अथवा रेह वाली भूमि को सुधारने की समस्या बिलकुल भिन्न प्रकार की है। किन्तु उसको सुधारने के साधनों को भी अच्छी तरह से समझ लिया गया है। इस प्रकार की भूमि में कुछ थोड़े ही समय में हल चलाया जा सकता है।

इन विभिन्न प्रकार की योजनाओं से हम को ७२ लाख टन अन्न, २० लाख गांठ पटसन तथा १२ लाख गांठ रूई तिलहन तथा चीनी के अतिरिक्त मिलेगी।

८. **वर्तमान बंजर भूमियां**। एक वर्ष में साढ़े पांच करोड़ एकड़ भूमि को घेर लेती हैं। इस प्रकार की भूमियों का अनुपात अत्यधिक है। इससे हमारे **कृषि-**

प्रणालियों के पुरानेपन पर प्रकाश पड़ता है। वैज्ञानिक खाद देने तथा फसलों की ठीक तौर से अदला-बदली करते रहने से इस क्षेत्र को बरबाद होने से बचाया जा सकता है। पाश्चात्य देशों में बंजर भूमि के स्थान पर अनाज, आलू तथा जड़ों वाली फसलें एक-दूसरे के अंदर जोत कर बो दी गई हैं। इससे हमारी कृषि अर्थ-व्यवस्था में ऐसा परिवर्तन होगा कि फसलों से और भी अधिक विशेषता प्राप्त की जा सकेगी। अगले पांच वर्ष में ४० लाख एकड़ बंजर भूमि को कृषियोग्य बनाया जायगा।

९. उन्नत कृषि-प्रणाली के लिए कार्यक्षेत्र। १९४८ में भारत की जनसंख्या में प्रति व्यक्ति खेती का क्षेत्रफल .७१ एकड़ था। जापान में प्रति व्यक्ति कृषि भूमि १.३ एकड़ से कुछ कम पड़ती है, किन्तु जापान में कृषि की उन्नत प्रणालियों का उपयोग किये जाने के कारण प्रति एकड़ उत्पादन भारत की अपेक्षा कहीं अधिक है, जिससे वहां खाद्य की कोई बड़ी कमी नहीं है। भारत में प्रति एकड़ उत्पादन संसार भर में लगभग सबसे कम है। नीचे दी हुई तालिका से यह स्पष्ट हो जायगा।

उत्पादन का तुलनात्मक अध्ययन (१९४८)[1]

		पौंड प्रति एकड़	पौंड प्रति व्यक्ति
१. रूई (ओटी हुई)	भारत	८७	३
	पाकिस्तान	१५९	६
	मिस्र	५९०	४५
	अमरीका	३१२	४९
२. चावल	भारत	१०४५	१८५
	थाईलैण्ड	११४१	६८७
	बर्मा	१२१६	६८६
	चीन	२२४३	—
	जापान	३३२१	३१३
३. गेहूँ	भारत	५९३	३५
	पाकिस्तान	७३३	१००
	आस्ट्रेलिया	९०९	१४८४
	कैनाडा	९७९	१८३२
	अमरीका	१०७९	५३८
	फ्रांस	१६१०	४१२
४. कच्ची खांड (चुकन्दर सहित)	भारत	३०६३	३३
	क्यूबा	४५६७	२६२२
	मारीशस	६१३२	१९५६
	अमरीका	३७०१	२५
५. पटसन	भारत	१०५९	२
	पाकिस्तान	११६८	३०

ये अंक वास्तव में दिलचस्प हैं। इनसे यह स्पष्ट रूप से पता लग जाता है कि पाकिस्तान सहित सभी देश किस प्रकार भारत की अपेक्षा प्रति एकड़ प्रत्येक वस्तु का उत्पादन कर रहे हैं। भारत को नदी योजनाओं तथा सिंचाई की अन्य

1. Agricultnral Situation in India and F. A. O. Year Book of Agriculture, 1249.

योजनाओं के पूर्ण हो जाने पर इस बात का कोई कारण नहीं रहेगा कि भारत भी पर्याप्त रूप में अपने प्रति एकड़ उत्पादन को क्यों नहीं बढ़ा लेगा।

भारत में उन्नत कृषि के लिए अनेक संभावनाएं हैं। भारत में केवल उपज ही कम नहीं होती, वरन् एक राज्य से दूसरे राज्य में विभिन्नता भी कम नहीं है। उदाहरणार्थ, १९४८-४९ में चावल की प्रति एकड़ उपज इतनी विभिन्न थी कि मद्रास में ९६१ पौंड से लेकर बिहार में ५८६ पोण्ड थी। गेहूं की उपज पंजाब में ८०९ पौण्ड से लगाकर हैदराबाद में १२२ पौण्ड तक थी; गुड़ की उपज बम्बई में ७,३९५ पौंड से लेकर पंजाब में २,२७२ पौंड तक थी। रूई की उपज पंजाब में १२६ पौंड से लेकर बड़ौदा[१] में केवल ४३ पौंड तक थी। इस अन्तर के कुछ तो भूमि तथा वर्षा आदि प्राकृतिक कारण हैं तथा कुछ कृषि की प्रणालियों में अन्तर।

१०. कम उत्पादन का उपचार। भारत में प्रति एकड़ उत्पादन अत्यन्त कम है। यह अन्य सब देशों से ही कम है। भारत में कम उत्पादन के मुख्य कारणों को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है—विभाजन तथा पुनर्विभाजन के कारण भारत के खेतों का अत्यधिक एवं अलाभदायक छोटा परिमाण, घटिया बीज तथा खेती के पुराने तरीके, प्राचीन जमाने के औजार, खाद्य तथा सिचाई की अपर्याप्तता, पूंजी को कमी, बेचने की सुविधाओं की न्यूनता, भूमि को भौतिक तथा रासायनिक गुणों की कमी, निर्धनता, अस्वास्थ्य, अज्ञान, किसान का दकियानूसीपन तथा उसकी ऋण-ग्रस्तता और भूमि पर अधिकार की दोषपूर्ण प्रणालियां।

अगले अध्यायों में इनमें से प्रत्येक विषय पर पृथक्-पृथक् विचार किया जायगा। तोभी साधारणतया प्रति एकड़ उपज को निम्नलिखित रीतियों से बढ़ाया जा सकता है—

(१) फसलों को अच्छी तरह से बार-बार अदल-बदल कर, (Rotation of crops)

(२) भूमि के प्रकार के अनुसार फसल में अधिक विशेषता प्राप्त करके;

(३) बढ़िया तथा चुने हुए बीज बोकर;

(४) अधिक अच्छा खाद देकर, अधिक अच्छी खेती करके, नियमित तथा पर्याप्त पानी देने का प्रबन्ध करके;

(५) मनुष्य, पशु-रोग तथा संक्रामक रोगों से की जाने वाली हानि का परिमाण घटाकर।

अदल-बदल कर फसल बोने के विषय में किसान तभी कुछ सीख सकता है जब उसके पास खेत कुछ बड़ा हो। अनेक युगों के संचित अनुभव ने उसको यह सिखला दिया है कि सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त करने के लिए एक फसल के बाद दूसरी कौन सी बोई जाय।

किसी स्थान की फसल में आवश्यकता से अधिक विशेषता प्राप्त करना उचित नहीं है। उसी गांव द्वारा विभिन्न प्रकार की बोई हुई फसलें मूल्य के परिवर्तनों तथा प्रतिकूल ऋतु के विरुद्ध बीमे का काम देती हैं, तो भी रुई, गेहूं तथा तिलहन जैसी वस्तुओं में उचित विशेषता प्राप्त करने से उत्पादन बढ़ सकता है।

जहां तक बीजों के चुनने तथा सुधार का प्रश्न है, कृषि विभाग के प्रयत्नों का बहुत

१. ये अंक Agricultural Situation in India, 1949. नामक पुस्तक से लिये गए हैं।

अच्छा परिणाम हुआ है । गेहूं, बिनौले,गन्ने आदि की सुधरी हुई किस्मों से उनका प्रति एकड़ उत्पादन पर्याप्त बढ़ा है । इस विषय में अभी और भी उन्नति की संभावना है ।

कृषि की अधिक उन्नत प्रणाली, खाद को आवश्यक परिमाण में देने तथा पर्याप्त वर्षा न होने के स्थानों में ठीक सिंचाई की सुविधाओं से पौधे अधिक अच्छी तरह बढ़ते हैं। यद्यपि इस विषय में अभी बहुत कुछ करने को है तथापि कुछ न कुछ किया भी जा चुका है।

अन्त में, मनुष्य तथा पशु के विरुद्ध खेतों की बाड़ लगाने की समस्या को कृषि की अन्य समस्याओं के समान खेतों को एक करके सुगम बनाया जा सकता है । छोटे-छोटे खेतों को मिला कर उन्हें एक बड़ा खेत बना देने के आन्दोलन को आग्रह द्वारा और जहां आवश्यक हो कानून द्वारा गतिशील कर देना चाहिये । सहकारी कृषि (Co-operative Farming) की प्रणाली द्वारा खेती के छोटे-छोटे टुकड़ों की समस्या को अंतिम रूप से सुलझाया जा सकता है । जहां तक साधारण तथा संक्रामक रोगों का सम्बन्ध है, कृषि विभागों ने इन रोगों के रूप तथा उनको दूर करने के सम्बन्ध में अनुसंधान करके अत्यन्त उपयोगी काम किया है। इन विचारों के लिए अधिक प्रचार की आवश्यकता है। इन उपायों द्वारा अधिकतम परिणाम प्राप्त करने के लिए साधारण शिक्षा का एक कार्यक्रम बनाने की आवश्यकता है, जिससे किसान को नए विचारों के ग्रहण करने को तैयार किया जा सके ।

११. सहकारी कृषि। ऊपर जिन उपायों पर विचार किया गया है, वह सभी तबतक व्यर्थ हैं जब तक किसान के पास लाभदायक भूसम्पत्ति न हो। यदि भारत में कृषि को उन्नत करना है तो किसान के खेतों के आकार को बढ़ाना होगा। रूस ने समस्त भूमि का राष्ट्रीयकरण करके तथा कृषि को राष्ट्रीय उद्योग बनाकर इस समस्या का हल कर लिया। ब्रिटेन जैसे कुछ देशों में अब भी बड़े-बड़े जमींदार हैं। तो भी भारत में इन दोनों में से किसी भी योजना को नहीं अपनाया जा सकता। इनमें से प्रथम सम्भव नहीं है,क्योंकि भारतीय मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं है। दूसरी सामाजिक दृष्टिकोण से उचित नहीं है। अतएव एक तीसरा उपाय है––संयुक्त कृषि अथवा सहकारी कृषि। इसके द्वारा किसान भूमि में दिलचस्पी रखते हुए भी बृहत्परिमाण पर कृषि के सभी लाभ प्राप्त कर सकते हैं। संयुक्त सहकारी कृषि कार्यों की स्थापना अनेक देशों में की जा चुकी है । उनमें से अत्यधिक महत्वपूर्ण देश फिलिस्तीन, मैक्सिको और अमरीका हैं। इन सहकारी फार्मों द्वारा पिछड़े हुए क्षेत्रों में कृषि की उन्नत प्रणालियों को लागू करने में सफलता मिली है। किसानों ने प्रति एकड़ उपज को बढ़ाया है और अपने जीवनमान को ऊंचा किया है ।

भारत में सहकारी कृषि के लिए विशाल क्षेत्र है । जमींदारी प्रथा को यथासंभव शीघ्र समाप्त करके भूमि पर राज्य को अधिकार कर लेना चाहिये । फिर उनको आर्थिक रूप से विभक्त करके ऐसे किसानों को दे दिया जाय, जो उस पर स्वयं खेती करें और उसको किसी और को भाड़े पर न दें। इस कार के खेतों का भविष्य में विभाजन कानून द्वारा बन्द कर देना चाहिये। इसके अतिरिक्त कृषियोग्य परती भूमि को सुधार कर उस पर सहकारी आधार पर खेती कराई जाय। कृषि के सभी कार्यों की शाखाओं में कोआपरेटिव कृषि की जाय। न कोआपरेटिव फार्मों में व्यक्तिगत स्वामित्व के अधिकार को मानते हुए भी उसका काम एक जगह होना चाहिये । और उत्पत्ति का वितरण प्रत्येक सदस्य द्वारा श्रम, औजारों तथा पशुओं के अनुदान के अनुपात में होना चाहिये ।

पाँचवा अध्याय

भूमि के पट्टों की प्रणालियाँ

१. **प्रस्तावना।** भारत में उत्पन्न होने वाली फसलों के रूप और उनके विभाजन के विषय में हम पहले ही पढ़ चुके हैं। उन खेतों के रूप तथा उनसे लाभ उठाने के लिए उपलब्ध सामग्री पर विचार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि पहले कृषक की भूमि के सम्बन्ध में और उसकी कानूनी स्थिति के विषय में जानकारी प्राप्त कर ली जाय। यह भूमि के पट्टों का विषय है। जिस भूमि पर कृषक खेती करता है, हम उसके ऊपर उसके अधिकार, उदाहरणार्थ, स्वामित्व, बिक्री तथा बंधक रखने आदि के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह देखेंगे कि कानून अथवा प्रथा उन अधिकारों को कहां तक स्वीकार करती ।

२. **भूमि पट्टों की प्रणालियाँ।** अब हम भारत में भूमि पर अधिकार करने के नियम की मुख्य प्रणाली के सम्बन्ध में वाद-विवाद करेंगे। बेडन पॉवेल (Baden Powell)[1] ने, जो इस विषय के अधिकारी लेखक हैं, निम्नलिखित तालिका में किसान तथा सरकार के बीच में आने वाले विभिन्न स्वत्व वालों को प्रकट किया है—

एक स्वार्थ	दो स्वार्थ	तीन स्वार्थ	चार स्वार्थ	
१. सरकार	१.सरकार	१ सरकार	१. सरकार	१. सरकार
एक मात्र मालिक	२. रैयत अथवा	२. एक जमींदार	२. जमींदार	२. एक ऊपरी
है अर्थात् राज्य	निश्चित अधि-	ताल्लुकेदार		मालिक।
की जमींदारी	कार (काश्त-	या गांव का	३. अर्धमालिक	३. एक मालिक
(State Land-	कार नहीं) के	मिश्रित समूह	भूमि पर अधि	जमींदार प्रायः
lordism)	साथ दखलकार,	३. वास्तविक	कार करने वाला	करके ग्राम
	जैसे	काश्त करने		की सभा
	मद्रास, बम्बई	वाला या व्यक्तिगत	४. रैयत या	४. वास्तव में
	और बरार में	हिस्सेदार	वास्तव में	खेती करने वाले
	अर्थात रैयतदार	आदि अर्थात्	खेती करने वाले	हिस्सेदार आदि
	वारी प्रथा	जमींदारी प्रथा		अथवा महल-
				वारी प्रथा

राज्य की जमींदारी प्रथा को अलग छोड़कर, जो कि अधिक महत्वपूर्ण नहीं है, इस प्रकार इस देश में भूमि पर अधिकार करने के नियम की तीन मुख्य प्रणालियाँ हैं:—

रैयतवारी, महलवारी, तथा जमींदारी।

1. Land Revenue and British India. P. 129.

अब हम इनमें से प्रत्येक प्रणाली के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

३. रैयतवारी प्रणाली। इस प्रणाली को मद्रास में प्रथम बार १७९२ में चलाया गया। बाद में इसको बम्बई में भी लागू किया गया। १८५५–५८ को मदरास शासन रिपोर्ट में रैयतवारी प्रणाली की निम्निलिखित शब्दों में व्याख्या की गई है। "रैयतवरी प्रणाली में भूमि के प्रत्येक रजिस्टर्ड (registered) करने वाले को उसका मालिक मान लिया गया है और वह सीधा सरकार को पैसा देता है। उसको अपनी सम्पत्ति को किसी और किसान को किराये पर देने अथवा उसको दानपत्र, बिक्री अथवा बंधक द्वारा हस्तान्तरित करने का अधिकार है। जब तक वह तखमीना की हुई निश्चित रकम को सरकार को चुकाता रहगा, उसको बेदखल नहीं किया जा सकता। उसका यह अधिकार है कि वह प्रति वर्ष अपनी सम्पत्ति को चाहे बढ़ावे, चाहे नष्ट करदे अथवा बिल्कुल छोड़ दे।"[1] पंजाब की नो आबादियों में भी भमि पर अधिकार करने की ऐसी ही प्रणाली थी।

कुछ लेखकों का विचार है कि रैयतवारी प्रणाली में राज्य जमींदार होता है। इस सम्बन्ध में यह युक्ति दी जाती है कि (क) यदि काश्तकार मालगुजारी न दे तो राज्य भूमि को छीन सकता है, (ख) बेकार भूमि राज्य की होती है, (ग) काश्तकार को भूमि को छोड़ने का अधिकार है, और तब उसको राज्य ले लेता है।

इसके विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है: (क) के अनुसार स्वामित्वाधिकार कभी पूर्ण नहीं होता। सभी सम्पत्ति इस मालगुजारी को देने की शर्त पर रखी जाती है, जो उस पर वाजिब होता है। यदि राज्य की मांग को न चुकाया गया तो वह किसी भी भूमि को वापिस ले सकता है।

(ख) खाली जमीन राज्य की हो सकती है, किन्तु यह बात कृषिक्षेत्रों पर लागू नहीं हो सकती। (ख) को स्वामित्व का अधिकार दिया जाता है। पंजाब में महलवारी प्रणाली में गांव की परती जमीन तक में स्वामित्व का अधिकार गांव वालों का तब तक संयुक्त रूप से बना रहता है, जब तक उसका विभाजन न कर दिया जाए।

(ग) काश्तकार को जमीन छोड़ने की अनुमति देने का अर्थ यह है कि वह भूमि को उस मालगुजारी के योग्य नहीं समझता जो उसको उस पर देनी पड़ती है। किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि राज्य अपने को जमींदार समझता है। काश्तकार को जमीन छोड़ने का अधिकार राज्य के स्वामित्वाधिकार की रक्षा के लिए न देकर उसको इस बात के लिए प्रोत्साहित करने के लिए दिया गया है कि वह ऐसे समय पर भी खेती करता रहे, जब कि भूमि पर स्वामित्वाधिकार को अधिक मूल्यवान नहीं समझा जाता और उसको भूमि में खेती करने के लिए विवश नहीं किया जाता।

अन्त में हम काले (Kale) के साथ इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि "रैयतवारी क्षेत्र में 'सरकारी भूमि' का तथाकथित अधिकारी अपनी भूमि का उतना ही मालिक है, जितना बंगाल का जमींदार। इन दोनों में केवल अंतर यह है कि बंगाल के जमींदार की मालगुजारी स्थिर होती है, जबकि दूसरे की मालगुजारी को कभी-कभी बढ़ाया जा सकता है।"[2]

इस प्रणाली से मुख्य लाभ यह होता है कि उसमें जमीन के बीच कोई मालिक नहीं होता और किसान का सरकार के साथ सीधा संबंध होता है। बिचौलिये कोई नहीं

1. Baden Powell—Land System of British India, Vol. I., P. 235.
2. Kale---Indian Economics, Vol. II, P. 781.

होते । अधिकारी द्वारा अपनी भूमि को किसी अन्य काश्तकार को भाड़े पर देने के कारण यह लाभ समाप्त होता जा रहा है। फिर भी यहां की स्थिति इतनी बुरी नहीं है, जितनी जमींदारी प्रथा में होती है। यह भी पता चला है कि इन क्षेत्रों में भूमि कृषि न करने वालों के हाथ में क्रमशः जा रही है। कृषि रहित श्रमिकों की संख्या लगातार बढ़ रही है और खेतों का आकार लगातार छोटा होता जा रहा है।

इस प्रणाली में भूमि की मालगुजारी का तखमीना करने की प्रणाली भी दोषपूर्ण है। इसमें प्रवंध अधिकारी की इच्छा पर सब कुछ छोड़ दिया जाता है, जिसे केवल अपने अनुमान पर काम करना पड़ता है। इसमें दूसरी कमी यह है कि फसल के व्यक्तिगत तखमीने के कारण ग्रामीण जीवन का सामूहिक आधार नष्ट हो गया है और इससे ग्रामीण समाज का पतन हो रहा है।

४. **महलवारी प्रणाली**। इस प्रणाली को आरम्भ में आगरा और अवध में अपनाकर बाद में इसे पंजाब पर लागू किया गया था। महलवारी प्रणाली में भूमि पर ग्रामीण समाज के हिस्सेदारों का सयुक्त अधिकार होता है। उन समाज के हिस्सेदार सदस्यों पर इस भमि की मालगुजारी का "संयुक्त रूप से तथा पृथक्-पृथक् उत्तरदायित्व समझा जाता है।" इस प्रकार भूमि पर अधिकार करने की एक विशेष प्रणाली पंजाब में पाई जाती है। कैलवर्ट (Calvert) कहता है कि "पूर्व के पुराने बन्दोबस्त के जिलों में ग्रामीण समाज का संयुक्त रूप से मालगुजारी देते रहने की शर्त पर भूमि पर पूर्ण स्वामित्वाधिकार होता है न कि उसके नीचे के खनिज द्रव्यों पर। राज्य जमीन का सबसे बड़ा मालिक होता है। वह उस भूमि को सार्वजनिक उद्देश्यों के लिए अथवा भीषण अपराध के कारण अथवा मालगुजारी न चुकाने पर अथवा बन्दोबस्त की नई मांग को अस्वीकार कर देने पर भूमि को वापिस छीन लेने का अधिकार अपने पास रखता है। किन्तु इन अधिकारों का प्रयोग इतना कम किया जाता है कि ग्रामीण समाज के पूर्ण अधिकार में बहुत कम और वह भी कभी-कभी ही हस्तक्षेप किया जाता है और राज्य के अधिकार एक बड़े जमींदार के कर्त्तव्यों तथा उतरदायित्वों में बाधा नहीं डालते।" कैलवर्ट इस सम्बन्ध में आगे यह भी लिखता है, "यदि कोई मालिक अपनी भूमि को छोड़ता है तो उसको उस भूमि की मालिक ग्राम-समाज ले लेती है। कानून तथा व्यवहार दोनों ही प्रकार से ग्राम-समाज के अधिकारों की सावधानी से रक्षा की जाती है। वह ग्राम की 'सर्वसाधारण' अथवा **शामिलात** भूमि के उसके वृक्षों तथा घास सहित मालिक होते हैं; और वह गांव के मकान के स्थान के भी मालिक होते हैं।"[१]

संयुक्त गांवों में भूमि का तीन प्रकार से भाग किया जाता है। तीन प्रकार के गांव यह होते हैं—

(१) वंशानुगत गांव, जहां भूमि के मालिक एक ही पूर्वज के वंशज होते हैं। प्रत्येक का भाग उसकी वंशावलि में स्थिति पर निर्भर करता है। इनमें से कुछ गांवों में भूमि का स्वामित्व सम्मिलित होता है। कुछ में पूर्वजों के भाग (पट्टादारी) के अनुसार विभाजन हो जाता है और कुछ अन्य गांवों में विभाजन आंशिक (आंशिक पट्टादारी) होता है।

(२) पूर्व पुरुषों के गांवों से भिन्न गांव, इनमें पूर्व-प्रथा अथवा **भाईचारे** के सिद्धान्त के अनुसार हिस्से बंटते हैं। यह हिस्सा-बांट कई ढंग से की जाती है: समान भाग में, अपने-अपने हलों की संख्या के अनुसार अथवा पानी या कुओं के भाग के अनुसार। भूमि को तब भी सम्मिलित स्वामित्व में ही माना जाता है।

1. Wealth and Welfare of the Punjab, pp. 169-70.

(३) ऐसे गांव, जिनमें वर्त्तमान खेतों की वर्त्तमान स्थिति को ही स्वीकार कर लिया जाता है और उनके विभाजन के लिए वहां कोई नियम नहीं होते।

एक आदर्श ढंग के सम्मिलित गांव में मालिक स्वयं ही किसान होते हैं। कुछ मामलों में भूमि कुछ अन्य ऐसे किसानों द्वारा भी जोती जाती है, जो लगान नकद अथवा बटाई के रूप में देते हैं। अन्य मामलों में बहुत अधिक भूमि का मालिक अपनी भूमि का कुछ भाग दूसरे किसान को दे देता है और शेष में खेती करता है। कुछ मामलों में कम जमीन वाला किसान कुछ अन्य भूमि को लगान पर लेकर अपनी छोटी सी जमीन को बढ़ा लेता है। जब किसी मालिक किसान के पास आर्थिक रूप से इतनी बड़ी भूमि होती है कि वह उसमें अपने परिवार की सहायता से ही खेती कर लेता है तो उस भूमि से सबसे अधिक लाभ होता है। यदि किसान अपने साधनों को सरकारी आधार पर एकत्रित करके कृषि की यांत्रिक प्रणाली का उपयोग करें तो यह एक आदर्श खेती हो सकती है। किसानों के स्वामित्वाधिकार की यह प्रणाली पंजाब में है, यद्यपि इसमें खेत बहुत छोटे-छोटे हो जाते हैं। ऐसे मामलों में भूमि से अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए सम्मिलित कृषि अत्यन्त आवश्यक है।

५. जमींदारी पट्टा प्रणाली। इस प्रणाली के अन्तर्गत एक या अधिक व्यक्ति एक गांव अथवा गांवों के मालिक होते हैं और वह मालगुजारी भुगतान के लिए उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार के गांव बंगाल की विशेषता हैं। यह उत्तरप्रदेश में भी हैं; किन्तु पंजाब में यह बहुत कम होते हैं। मध्यप्रदेश में मालगुजार लोग बंगाल के अर्थ में जमींदार नहीं होते। बम्बई में भी जमींदारी रियासतों की कुछ किस्में मिलती हैं। मद्रास में भी बंगाल की शैली के कुछ बड़े जमींदार होते हैं। उनके पास समस्त क्षेत्रफल की लगभग $\frac{1}{3}$ भूमि है।[1]

भूमि बन्दोबस्त के समय के दृष्टिकोण से जमींदारी प्रथा भी दो प्रकार की होती है—स्थायी बन्दोबस्त वाली रियासतों की प्रणाली। इसमें भूमि की मालगुजारी सदा के लिए निश्चित कर दी जाती है। जैसा कि बंगाल में तथा मद्रास के कुछ भागों में। दूसरी प्रणाली अस्थायी बन्दोबस्त वाली रियासतों की प्रणाली है। इसमें प्रायः ३० या ४० वर्ष के बाद भूमि की मालगुजारी पर फिर विचार किया जाता है।

बड़ी रियासतों के मालिक प्रायः स्वयं खेती नहीं करते, वरन् मुजारे रखते हैं। मुजारे भी दो प्रकार के होते हैं—प्रथम स्थायी मुजारा जिसे जब तक वह लगान देता रहे, बेदखल नही किया जा सकता और न ही उस लगान का कुछ विशेष परिस्थितियों के बिना बढ़ाया जा सकता है। दूसरा अस्थायी मुजारा जिसे जमींदार जब चाहे भूमि से बेदखल कर सकता है और जितना लगान चाहे ले सकता है। असली किसान तथा जमींदार के बीच भी—जो सरकार को मालगुजारी देता है—लगान लेने वालों का प्रायः एक समूह पाया जाता है, जिनके इस प्रकार के विभिन्न नाम होते है—

(१) **बंगाल के भूस्वत्वाधिकारी**—"वह स्थायी मालगुजारी देते हैं। उनको भूमि पर अधिकार करने का स्थायी उत्तराधिकार योग्य तथा हस्तान्तरित करने योग्य अधिकार" की सुविधा प्राप्त है। १८८५ के अधिनियम ने उन सबको भूमि अधिकार प्राप्त करने वाला मान लिया, जिनके पास जमींदार के आधीन सौ बीघा जमीन थी।

(२) **पट्टीदार**—भी बंगाल में मिलते हैं। जो जमींदार अपनी जमीन के अत्यधिक होने के कारण उसका स्वयं प्रबन्ध नहीं कर पाते वह उनके कुछ भाग का स्थायी

---

१. उनको बम्बई और मद्रास में अभी-अभी हटा दिया गया है।

किराये पर दे देते थे। पट्टीदार उस भूमि को लेकर अपने नए किरायेदार बनाते हैं, जिन्हें **दिरपट्टीदार** कहते हैं। उनको भी वही सुविधाएं प्राप्त होती हैं और वह भी मालगुजारी के उत्तरदायित्व में भाग लेते हैं। १९१९ के बंगाल रेगुलेशन के अनुसार इस प्रकार के अर्द्ध स्वामित्व के अधिकार को स्वीकार कर लिया गया।

(३) **मालगुजारी** को मध्यभारत में मालगुजारी के उत्तरदायित्व को निश्चित करने के लिए बनाया गया था। प्राचीन स्वामित्वाधिकार वाले जमींदारों के समूह को अर्द्धस्वामित्वाधिकार स्वीकार करने के लिए इसकी आवश्यकता पड़ी।

(४) अवध में कुछ गांवों के मालिक ताल्लुकेदार को लगान देते रहने की शर्त पर अपने स्वतंत्र प्रबन्ध को बनाए रखने में समर्थ हुए। उनके अर्द्ध-स्वामित्वाधिकार को एक पृथक् बन्दोबस्त द्वारा स्वीकार करके उनके द्वारा दी जाने वाली मालगुजारी को निश्चित कर दिया गया। अर्द्ध-स्वामियों को अधिकार है कि चाहे स्वयं खेती करें अथवा उसे काश्तकारों को दे दें।

६. जमींदारी प्रथा की आलोचना। जमींदारी प्रथा को ब्रिटिश राज्य ने जन्म दिया। भू-प्रबन्धक अधिकारियों को जिनका कर्त्तव्य केवल मालगुजारी एकत्रित करना मात्र था--स्वामित्वाधिकार दे दिए गए। इसका कारण कुछ तो शासकों का भारतीय परिस्थितियों से अज्ञान था और कुछ मालगुजारी प्राप्त करने में सुविधा थी।

ईस्ट इंडिया कम्पनी का स्वार्थ अधिकतम मालगुजारी प्राप्त करना था, न कि किसान का हित सम्पादन करना। कम्पनी ऐसे स्वत्वों का भी निर्माण करना चाहती थी, जिनकी समृद्धि भारत में ब्रिटिश राज्य के बने रहने पर निर्भर थी और जो इस प्रकार उसे और प्रबल बनाते। ब्रिटिश नीति के कुछ सहानुभूतिपूर्ण आलोचकों का कहना है कि इस प्रकार ब्रिटिश की इच्छा देहात में जनता के नेताओं का निर्माण करने की थी, किन्तु तथ्य प्रथम दृष्टिकोण में ही है और वही अधिक ठीक भी है।

उसके बनाने की आरंभिक इच्छा कुछ भी क्यों न रही हो, इस प्रणाली से कुछ लाभ नहीं हुआ। स्थायी प्रबन्ध के साथ मिलकर इस प्रणाली ने भूमि से होने वाले वास्तविक लाभ को बढ़ाने के लिए राज्य से उसका उचित भाग छीन लिया। इस प्रणाली ने विदेशी राज्य को भले ही प्रबल किया हो, किन्तु जब भारत से अंग्रेजों का राज्य जाता रहा तो इस बात को सोचना अप्रासंगिक है। भारतीय दृष्टिकोण से इस प्रणाली में कोई गुण नहीं था। जमींदार लोग नेता तथा पथ-प्रदर्शक न बन कर अनुपस्थित परान्नभोजी बन गए। इस प्रकार भूमि पर अधिकार करने की जमींदारी प्रणाली निश्चित रूप से किसानों तथा देश के कृषि विकास के लिए हानिप्रद सिद्ध हुई। किसानों से अत्यधिक लगान लेकर उनकी भूमि को भी उनसे बारबार छीना जाता रहा है। जमींदारों की बेपरवाही से कृषि को बहुत हानि पहुंची क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य कृषि की उन्नति के लिए बिना कोई यत्न किए अधिकतम लगान वसूल करना था। किसानों को भूमि को सुधारने की कोई प्रेरणा नहीं हो सकती थी। लगान के बार-बार बढ़ाये जाने तथा बेदखली के भय के बराबर बने रहने से उन्होंने भूमि में कुछ भी रुचि लेना बन्द कर दिया।

भारतीय जमींदार प्रायः अनुपस्थित जमींदार होता है। उसकी अप्रगतिशीलता को सभी मानते हैं। बंगाल भूमि मालगुजारी कमीशन ने १९४० में कहा था, "वह कृषिजीवी जनता के कार्य में एक भयानक दुःस्वप्न बना हुआ है। उसके कारण ही कृषि-जीवी जनता, जहां तक कृषि की उन्नति का सम्बन्ध है, उसमें कोई भौतिक सुधार करना उचित नहीं समझती और भूमि के साधनों में कोई भी प्रभावशाली सुधार करना पसन्द नहीं करती।"[1]

1. Bengal Land Revenue Commission Report, p. 37.

७. काश्तकारी प्रथा के दोष। ज़मींदारी प्रथा में काश्तकारी कृषि भी आ जाती है। इस प्रकार की कृषि कृषक-स्वामियों की कृषि की अपेक्षा कम अच्छी होती हैं। आर्थर यंग (Arthur Young) ने लिखा है कि किसी व्यक्ति को एक रूखी चट्टान का सुरक्षित कब्जा दे दो तो वह उसको एक बाग के रूप में बदल देगा और यदि उसे एक बाग का ९ साल के लिए पट्टा दिया जाय तो वह उसको मरुभूमि में परिवर्तित कर देगा। पंजाब के किरायेदार काश्तकारों के विषय में कैलवर्ट (Calvert) ने लिखा है—"वह फसल को तैयार करने में बहुत कम ध्यान देते हैं। भूमि को प्रायः कम बार जोतते हैं, उसमें खाद कम डालते हैं और मालिकों की अपेक्षा उसमें कम औजारों से काम लेते हैं। वह मूल्यवान फसलें कम पैदा करते हैं, जिन फसलों में भूमि में पूंजी अधिक दिनों तक लगती है उन फसलों से तो विशेष रूप से बचते हैं। वह अपने खेतों को सुधारने में बहुत कम अथवा कोई प्रयत्न नहीं करते। वह प्रायः घटिया किस्म के पशु रखते हैं। वह पूरे वर्ष भर रहने वाली फसल पसन्द नहीं करते और वृक्षों की कोई परवाह नहीं करते।"[1]

बटाई या बंडाई प्रणाली। जहां भूमि का किरायेदार जिन्स के रूप में लगान देता है, वहां परिणाम और भी विपरीत होते हैं। पंजाब की बटाई-प्रथा से, जिसके अनुसार लगान देने की प्राचीन-प्रथा भूमि की उपज की आधी फसल होती है—कुछ अच्छी फसल में सहायता नहीं मिलती। कभी-कभी बटाई-किराये को यह कहकर उचित ठहराया जाता है कि उस पर से मूल्य के उतार-चढ़ाव के कारण नकदी लगान अधिक अच्छा नहीं रहता और उससे जमींदार और उसके काश्तकार के सम्बन्ध अच्छे बने रहते हैं। "किन्तु इन सुविधाओं को अत्यधिक मूल्य देकर मोल लिया जाता है।"[2] पंजाब के २७ काश्तकारों के खेतों की जांच करने पर पता चला था कि वास्तविक काम करने वाले को वास्तविक आय का १८ प्रतिशत से भी कम मिला, शेष उसके काम न करने वाले मालिक को मिला, जो किसी प्रकार के खतरे में सहायता नहीं देता।

८. कृषि सम्बन्धी नीति। आज भारत की खाद्यपूर्ति में अत्यधिक कमी के कारण सरकार को विश्वास हो गया है कि समस्या का केवल सुधार करने से बुराई दूर नहीं होगी। रोग की जड़ें बहुत गहरी हैं और साहस के साथ इसका मुकाबला करना पड़ेगा। इस प्रकार कृषि के पुनर्निर्माण पर यथासंभव पूरा ध्यान दिया जा रहा है। इस नीति का उद्देश्य ऐसे सुधारों को लागू करना है, जिनसे जमींदारी तथा रैयतवारी दोनों ही प्रकार के क्षेत्रों की सब बुराइएँ दूर हो जायं और प्रति-व्यक्ति प्रति एकड़ उत्पादन को अधिक से अधिक बढ़ाया जा सके। १९४६ में कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने इस प्रश्न को गम्भीरता से हाथ में लिया था और बिहार तथा मद्रास जैसे कुछ राज्यों में कुछ उन्नति हुई भी थी। अधिकांश अन्य राज्यों में इस विषय पर विचार करने के लिए उस विशेष उद्देश्य की कमेटियां (ad hoc Committees) बना दी गयी थीं। विभिन्न राज्यों के कार्यों में एकरूपता लाने के लिए तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने किसान सुधार कमेटी (Agrarian Reforms Committee) १९४८ में बनाई थी। इस कमेटी ने कुछ सिद्धान्तों को स्थिर किया है, जिन्हें राष्ट्रीय योजना कमीशन ने स्वीकार किया है। वह सिद्धान्त यह हैं।

१. किसान के व्यक्तित्व का विकास करना चाहिए।

२. वर्ग-शोषण के लिए कोई गुंजायश नहीं रहने देनी चाहिए :—

1. Calvert—Wealth and Welfare of the Punjab; pp. 206-7.
2. Calvert—op. cit., p. 198.

३. उत्पादन में अधिकतम कार्यकुशलता होनी चाहिए ।

४. सुधारों की योजना व्यवहारिक होनी चाहिए ।

यह सिद्धान्त कुछ भारी परिवर्त्तनों की ओर संकेत करते हैं। उदाहरणार्थ, (क) किसान की दशा में कानून द्वारा सुधार, (ख) जमींदारी-प्रथा की समाप्ति, (ग) कृषि की इकाई में वृद्धि, (घ) खेतों का समूहीकरण, (ङ.) यांत्रिक कृषि को अपनाना तथा (च) कृषि में विभिन्न प्रकार से उन्नति करने के लिए पानी, विजली और पूंजी का प्रबन्ध । इनमें से प्रथम दो के सम्बन्ध में अभी तथा शेष के सम्बन्ध में बाद में विचार किया जायगा ।

९. **काश्तकारी कानून** । जब मालिक स्वयं खेती करता हो तो काश्तकारी की समस्या नहीं उठती । यह तभी उठती है जब वह उसको किराये पर उठाता है। यह समस्या तब उत्पन्न हुई जब स्थायी प्रबंध वाले क्षेत्र में सरकार ने मालगुजारी अधिकारियों को स्वामित्व का अधिकार दे दिया और भूमिधारियों को अधीन स्थिति में गिरा दिया गया । ऐसे जमींदारों को केवल इतना ही मतलब था कि उनको अधिकतम लगान मिलता रहे, जिससे वह उसके एक भाग से मालगुजारी की मांग को चुकाते रहें। इस प्रकार वास्तविक कृषि करने वाले को अपनी इच्छा के अनुसार किरायेदार या काश्तकार बना दिया गया और उसकी दशा बहुत गिर गई । इससे अनुपस्थित रहने वाले जमींदारों की संख्या अधिक हो गई और किसानों को भूमि से निकालने और उनसे लगान लेने की प्रथा इतनी अधिक प्रबल हो गई कि राज्य को किसान की कानून द्वारा रक्षा करनी पड़ी ।

रैयतवारी क्षेत्र में भी, जहां भूमि को किराये पर देने की प्रणाली ने प्रवेश किया, इसी प्रकार की समस्याएं उत्पन्न हो गईं। दक्षिण के कुछ जिलों में किराये के काश्तकारों की अपेक्षा मालिक काश्तकारों की संख्या कम है। वहां किराये का काश्तकार सुरक्षित नहीं है और उसकी दशा भूमिहीन श्रमिक की भांति शोचनीय है । पंजाब, मद्रास और बंगाल बैंकिंग जांच कमीशनों ने कहा है कि इस प्रथा के कारण किरायेदार काश्तकारों की संख्या बराबर बढ़ती जाती है । अतएव, न केवल जमींदारी क्षेत्रों में वरन् रैयतवारी क्षेत्रों में भी किसान की शोषण से कानून द्वारा रक्षा करने की आवश्यकता है। हम उस समस्या पर पृथक राज्यवार विचार करेंगे, क्योंकि उस पर बिल्कुल विभिन्न प्रकार से विचार किया गया है ।

१०. क. **स्थायी बन्दोबस्त वाले जमींदारी क्षेत्र** । बंगाल में सन् १७९३ में भूमि की मालगुजारी लगान की दर ९⁄१० निश्चित कर दी गयी और उसको स्वीकृत जमींदार वसूल कर सकते थे। १८५९ में बंगाल में भी लगान अधिनियम (Rent Act) स्वीकार कर दिया गया । १८८५ में उसमें संशोधन किया गया। जिन किसानों के पास वही भूमि १२ वर्ष से थी, उनको इसके अनुसार रक्षा दी गई । उनको बिना किसी समुचित अदालत की डिग्री के बेदखल नहीं किया जा सकता था और न ही उस पर ५ वर्ष पूर्व लगान बढ़ाया जा सकता था । पारस्परिक समझौते द्वारा लगान वृद्धि को रोकने तथा अन्य त्रुटियों को दूर करने के लिए उसमें १९०७ में फिर संशोधन किया गया । १९२८ में एक और काश्तकारी कानून बना कर काश्तकार को यह अधिकार दिया गया कि वह एक शुल्क देकर अपनी भूमि को हस्तान्तरित कर सकता था । साथ ही जमींदार को हकशुफा (पूर्वत्य अधिकार) भी दिया गया । इस अधिनियम द्वारा अधीन रैयतों की दशा में सुधार किया गया । १९३८ में कांग्रेस मंत्रिमंडल ने एक और काश्तकारी अधिनियम स्वीकार किया। इसके अनुसार जमींदार द्वारा कानून विरुद्ध ली जाने वाली रकमों तथा

करों को बन्द कर दिया गया और बकाया लगान पर लिये जाने वाले सूद को घटाकर ६१/४ सैंकड़ा कर दिया गया। इस अधिनियम के अनुसार हकशुफा (पूर्वत्य अधिकार) को जमींदार से लेकर काश्त के हिस्सेदार को दे दिया गया। इस अधिनियम में १९३९ और १९४० में फिर संशोधन किया गया। यह संशोधन लगान बढ़ाने में धोखेबाजी को रोकने तथा बंधकों की रक्षा करने के लिए किया गया था। इन कानूनों से दखिलकारों (Occupancy Tenants) और अधीन रैयतों को कुछ सुरक्षा मिली, किन्तु फसल में भाग लेने की प्रणाली पर बंगाल में १/५ भूमि पर खेती करने वाले बरगदारों की स्थिति अब भी पहले के समान ही बुरी बनी रही। बंगाल मालगुजारी कमीशन (Bengal Revenue Commission) ने उनके लिए सीमित दखिलकारी के अधिकार (Limited Occupancy Rights) दिये जाने का सुझाव दिया। साथ ही उनके सम्बन्ध में यह भी सुझाव दिया गया कि वह जमींदार को अपनी उपज का आधा भाग न देकर एक तिहाई भाग दिया करें।

मद्रास—मद्रास में काश्तकारों के अधिकार की रक्षा १९०९ में जायदाद-भूमि अधिनियम (Estates Land Act) द्वारा की गई। इस कानून को १८६५ के लगान वसूली अधिनियम (Rent Recovery Act) का स्थान दिया गया था। जायदादों की भूमि को जोतने वाले काश्तकारों को दखिलकारी के अधिकार (Occupancy Rights) दे दिये गए और उनको निश्चित लगान देते रहने की दशा में बेदखल नहीं किया जा सकता था। लगान को कुछ स्पष्ट रूप से बतलाए हुए कारणों से ही बढ़ाया जा सकता था। कांग्रेस मंत्रिमंडल ने १९३९ में काश्तकारों को कुछ और अधिकार देने का यत्न भी किया, किन्तु वह उसमें सफल न हो सके। सन् १९४६ में एक अधिनियम बेदखलियों को रोकने तथा कार्यवाहियों को ठहराने के लिए पास किया गया। १९४७ में जायदादों के लगान में कमी का अधिनियम (Reduction of Rents on Estates Act) पास किया गया। उसके अनुसार सन् १८०२ में प्रचलित दर पर लगान को निश्चित किया गया और उसके बाद सब प्रकार की वृद्धि को काट दिया गया। स्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों की रैयत को दखिलकारी के अधिकार मिल गए, जो उत्तराधिकार तथा हस्तान्तरित किये जाने योग्य थे।

बिहार—बिहार में १९३४ के अधिनियम द्वारा **सलामी** तथा **अबवाब** जैसे करों को नियम-विरुद्ध ठहरा दिया गया, किन्तु वह चलते ही रहे। १९३८ में कांग्रेस मंत्रिमंडल ने एक काश्तकारी अधिनियम (Tenancy Act) पास किया। इसके अनुसार काश्तकार को अपने खेत को हस्तान्तरित करने का पूर्ण अधिकार दिया गया, बकाया लगान के ऊपर ब्याज की दर ६१/४ प्रतिशत निश्चित कर दी गई, अबवाबों के लेने को दण्डनीय अपराध ठहराया गया और लगान की वृद्धि को सर्वथा रोककर केवल उस स्थिति में ही उसकी अनुमति दी गई, जब जमींदार भूमि में सुधार करे। इसी वर्ष बिहार बाकाश्त भूमियों की वापिसी का अधिनियम (Bihar Restoration of Bakasht Land Act) तथा बकाया लगान में कमी के अधिनियम (Reduction of Arrears of Rents Act) भी पास किये गये। इसमें यह व्यवस्था की गई कि मंदी के दिनों में बेची हुई भूमि को रैयत घटाई हुई दर पर बकाया लगान चुका कर वापिस ले सकेगी। छोटा नागपुर की रैयतों को भी इसी प्रकार की सहायता दी गई, किन्तु इन कानूनों से उन किसानों को कोई लाभ नहीं पहुंचा, जो बटाई के आधार पर भूमि के अधिकारी की इच्छा पर काम कर रहे थे। इस प्रकार के किसान कम से कम २० प्रतिशत भूमि को जोतते थे, जो बंगाल के बरगदारों के समान थे।

उड़ीसा—इस राज्य में अस्थायी बन्दोबस्त वाली जायदादें हैं। १९३८ में कांग्रेस मंत्रिमंडल ने रैयत को अपनी भूमि को हस्तान्तरित करने का अधिकार दिया, अबवाब के लिए जेल की सजा का विधान किया, बकाया लगान पर ब्याज की दर घटा कर सवा छः प्रतिशत कर दी तथा भूमि में जमींदार द्वारा की जाने वाली उन्नति के अतिरिक्त अन्य सभी दशाओं में लगान बढ़ाने को रोक दिया गया। इस पर अत्यधिक विरोध प्रकट किया गया। १९४६ में जायदाद भूमि अधिनियम (Estates Land Act) में संशोधन करके इनामदारों के काश्तकारों को भी मौरूसी (दखिलकारी) हक दे दिए गए। रैयत की रक्षा करने के लिए काश्तकारी कानून में १९४७ में दो बार संशोधन किया गया। १९४७ में जायदाद भूमि अधिनियम में फिर संशोधन किया गया जिससे लगान में कमी की जा सके।

ख. रैयतवारी क्षेत्र। पंजाब और बम्बई में भूमि पर अधिकार करने की रैयतवारी प्रथा चालू है। संयुक्त पंजाब में ४२ प्रतिशत भूमि किसान मालिकों के पास, ८ प्रतिशत मौरूसी काश्तकारों के पास तथा ५० प्रतिशत अस्थायी काश्तकारों के पास थी। मौरूसी अथवा दखिलकार काश्तकार (Occupancy Tenant) वह है, जिसने दो पीढ़ियों तक मालिक को न तो लगान और न सेवा दी हो, वरन् भूमि की मालगुजारी का भाग भी दिया हो। उसके अत्यन्त व्यापक अधिकार होते हैं और जब तक वह अपनी वाजिब रकम चुकाता रहे वह भूमि को अपने पास रख सकेगा। वह उस भूमि को इन्हीं शर्तों पर अपने उत्तराधिकारियों को भी दे सकेगा। तो भी अस्थायी काश्तकारों का क्षेत्र बढ़ रहा है।

विभाजन के फलस्वरूप हिन्दुओं तथा सिक्खों की जनता पूर्वी पंजाब में आ गई। जितनी भूमि पूर्वी पंजाब में थी उससे वह बहुत अधिक भूमि पश्चिमी पंजाब में छोड़ आए। इसके परिणामस्वरूप मालिकों को उनके भाग के अनुसार पूरी भूमि नहीं दी जा सकती। निम्नलिखित आधार पर अर्ध-स्थायी अधिकार दे दिया गया—

(१) प्रत्येक आठ एकड़ अथवा उससे कम भूमि के मालिक को पूरी भूमि दी गई।

(२) आठ एकड़ से अधिक भूमि के मालिक को आनुपातिक आधार पर कम भूमि दी गई।

बम्बई—बम्बई में काश्तकारी कानून का शासन रिवाजी कानून के अनुसार किया जाता है। तो भी कानून की आवश्यकता अनुभव करके कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने १९३९ काश्तकारी कानून (Tenancy Act) पास किया। इसको १९४१ में कुछ चुने हुए क्षेत्रों में लागू किया गया। इसकी मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—

(क) एक नये किस्म के काश्तकारों का वर्ग बनाया गया, जिसको बेदखल नहीं किया जा सकता था बशर्तेकि उसके पास १९३८ से पूर्व वह भूमि रही हो और उसने उसको स्वयं जोता-बोया हो।

(ख) उसके काश्तकारी-अधिकार को कुछ शर्तों के अधीन सुरक्षित कर दिया गया था, जो यह थीं: (१) जमींदार चाहे तो उसको स्वयं खेती करने के लिए ले सकता था, (२) काश्तकार लगान बराबर देता रहे और (३) इस भूमि को किसी और काश्तकार को न उठाये। किन्तु बेदखल किये जाने पर काश्तकार को उस भूमि में अपने द्वारा किये हुए सुधार-कार्यों का हर्जाना लेने का अधिकार था।

(ग) 'कोई काश्तकार लगान किस प्रकार चुकाए' इस विषय की विधि कोई अन्य इकरारनामा न होने की दशा में निश्चित करदी गई।

(घ) सभी प्रकार के काश्तकारों को कुछ लाभ दिये गए। सरकार कुछ क्षेत्रों पर लगान की अधिकतम दर लागू कर सकती थी। सरकार यदि जमींदार की मालगुजारी में कमी करती तो जमींदार को भी उसी अनुपात में अपने किसानों की लगान में छूट देनी पड़ती। जमींदारों को कानून विरूद्ध वसूली के लिए दण्डित होना पड़ेगा। किसानों का अपने द्वारा लगाए गए वृक्षों पर अधिकार होगा और बेदखली की दशा में उसे उनका हर्जाना पाने का अधिकार होगा।

बम्बई का अभी पिछले दिनों का कानून और भी अधिक उन्नतिशील है। जिस काश्तकार के कब्जे में ५० एकड़ या अधिक भूमि है, उसे जमींदार बेदखल नहीं कर सकता। किसान को अपने द्वारा कृषि की जाने वाली भूमि को मोल लेने का भी अधिकार है, बशर्ते कि उसका खेत ५० एकड़ से कम है। इसका उचित मूल्य एक न्यायालय (ट्रिब्यूनल) तय करेगा। ऐसा तभी होगा यदि जमींदार का छोड़ा हुआ खेत ५० एकड़ से कम न हो, किन्तु यदि किसान अयोग्य हो और उस भूमि से न्यूनतम उत्पादन न कर सके तो उससे भूमि छीन ली जायगी।

११. **काश्तकारी कानूनों की सफलताएं।** भारत में काश्तकारी कानूनों के मुख्य उद्देश्य यह रहे हैं: (क) लगान वृद्धि को सीमित करना, (ख) स्वेच्छापूर्वक बेदखली को दूर करना, (ग) काश्तकारों को मौरूसी अधिकार देना, (घ) बकाया लगान के लिए कुर्की के अधिकार को सीमित करना और औजारों, बीज आदि की कुर्की से मुक्त करना, (ङ.) मालगुजारी में कमी या अवलम्बन होने पर लगान में भी कमी या अवलम्बन दिलाना, (च) किसान के द्वारा की हुई उन्नति के लिए उसे हर्जाना दिलवाना और (छ) किसान की **सलामी**, अबवाब आदि देनदारियों से रक्षा।

साधारणतया प्रत्येक राज्य द्वारा बनाए हुए कानूनों के द्वारा इन उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफलता मिलती है। उन्होंने जमींदार की सुविधाओं को अधिक कम कर दिया है। किन्तु दुर्भाग्यवश लाभ सदा ही भूमि पर वास्तविक खेती करने वाले को नहीं पहुंचा। जिस मौरूसी काश्तकार के अधिकारों की रक्षा की गई है वह सदा ही असली काश्तकार नहीं होता। वह भी केवल लगान लेने वाला ही बन गया। वास्तविक किसान अब भी प्रायः अस्थायी काश्तकार है, जो बटाई देता है। काश्तकारी कानून उसकी रक्षा नहीं करता। उससे अब भी पहले के समान अधिक लगान वसूल किया जा रहा है और उसको चाहे जब बेदखल होने से नहीं रोका जा सकता। भूमि पर जनसंख्या का दबाव इतना भारी है कि काश्तकार एक अत्यन्त निर्बल सौदा करने वाले की स्थिति में रह जाता है। इसके अतिरिक्त कानून में छिद्र भी सदा ही रहते हैं और अदालती कार्य-वाहियां इतनी अधिक पेचीदी होती हैं कि निर्धन काश्तकार को कानून से लाभ नहीं पहुंच पाता।

बंगाल दुर्भिक्ष जांच कमीशन ने यह पता लगाया था कि काश्तकारी स्थिति के विषय में तीन प्रवृतियां सर्वत्र पाई जाती हैं। **प्रथम**, पूर्व मालिकों के हटाए जाने के परि-णामस्वरूप काश्तकारों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि, **द्वितीय** किसानों, विशेषकर अस्थायी किसानों से अत्यधिक लगान लिया जाना, **तृतीय**, अनुपस्थित मालिकों की संख्या में वृद्धि।[1]

---

१. इसके विस्तृत वर्णन के लिए विभिन्न प्रान्तीय सरकारों द्वारा दिये, उस प्रश्नावली के उत्तरों को पढ़ो, जो कमीशन ने निकाली थी। Appendix II..pp. 446-48 of the Final Report.

बंगाल दुर्भिक्ष कमीशन द्वारा की हुई उस समस्या की आलोचना से पता लगता है कि बेदखल काश्तकारों द्वारा जोती जाने वाली भूमि का अनुपात बहुत अधिक है। "फसल की बटाई की प्रणाली साधारणतया सब जगह चलती है और सभी प्रान्तों में पाई जाती है।"

१२. क्या जमींदारी प्रथा को समाप्त कर देना चाहिए ? बंगाल दुर्भिक्ष कमीशन के एक सदस्य सर मणीलाल नानावटी ने अनुभव किया कि उत्पादन की कार्यकुशलता बटाई प्रथा के साथ असंगत है। अतएव बटाई प्रथा को बन्द कर दिया जाय।[1] उन्होंने सम्पूर्ण भूमि प्रणाली में आमूल परिवर्त्तन करने का प्रस्ताव किया, जिसके बिना उनकी सम्मति में हमारी ग्रामीण समस्या का सुलझना असंभव है।

सर नानावटी के अनुसार (१) स्थायी बन्दोबस्त वाली जमींदारी रियासतों को उनकी वर्त्तमान व्यवस्था में रैयतवारी क्षेत्रों के समान भूमि राजस्व के एक उत्तम विभाग के रूप में बदल देना एकदम असम्भव है ; (२) जमींदारी रियासत का मालिक उस रियासत के पुनर्वास पर होने वाले खर्च को बर्दाश्त करना कभी पसन्द न करेगा, क्योंकि उसके लिए उसे कोई बदला नहीं मिलेगा ; (३) वर्त्तमान स्थितियों में जब कि राज्य का कार्य शीघ्रता से बढ़ता जाता है, राज्य के प्रधान आधार वाले विभाग (भूमि राजस्व विभाग) के शासन को किसी व्यक्तिगत संस्था के हाथ में नहीं सौंपा जा सकता; (४) एक व्यक्तिगत संस्था के प्रबन्ध में भूमि सुधार की नई योजना को कार्यान्वित नहीं किया जा सकता; (५) किसान, जिसके लाभ के लिए यह योजना छायारूप में प्रदर्शित की जा रही है, जमींदारों के साथ अपने पिछले सम्बन्ध को देखते हुए उनको अपना इच्छापूर्वक सहयोग नहीं देगा ; (६) अंत में संसार के किसी भाग में इस प्रकार के प्रयोग को सफलतापूर्वक नहीं आजमाया गया।[2]

गत सौ वर्षों में किसान का इतिहास एक दुःखभरी कहानी है। उसकी दशा बुरी से और भी बुरी हो गई है जबकि मालगुजारी के रूप में सरकार ने कोई वृद्धि नहीं की। किसान के ऊपर लगान बराबर बढ़ता रहा, लगान न देने के कारण बेदखलियां बराबर होती रहीं। अनेक बार बकाया लगान वसूल करने के लिए किसान के घर की छोटी छोटी चीजें, चारपाइयां, पशु, छप्पर तक नीलाम कर दिये गए। अतएव सर नानावटी की सम्मति में जमींदारी प्रथा को न केवल बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों में वरन् अस्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों में भी समाप्त करके उसके स्थान में रैयतवारी प्रथा को लागू कर देना चाहिए। एन. पी. सी. (N.P.C.) की उप-समिति ने भूमि नीति के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट में प्रस्ताव किया कि "प्राकृतिक सम्पत्ति के सभी रूपों का स्वामित्वाधिकार भारतीय जनता का होना चाहिए और उसी को सामूहिक रूप से दे दिया जाना चाहिए ....किसी प्रकार के भी परान्न-भोजी—जमींदारों, ताल्लुकेदारों, मालगुजारों आदि को स्वीकार न किया जाय।"[3]

१३. जमींदारी प्रथा को समाप्त करने के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने कई बार घोषणा की है कि वह सरकार और भूमि को जोतने वाले के बीच सभी प्रकार के बिचवैयों के अधिकार को समाप्त करने के पक्ष में है।

---

1. देखो, सर नानावटी का मतभेद पत्र, रिपोर्ट, पृष्ठ ३४८-७५ तक।
2. See Minute of Dissent by Sir Nanavati, Report, pp. 348-75.
3. N. P. C- Report on Land, Policy and Agriculture pp. 48-9.

केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों ने भी इसको स्वीकार कर लिया है। इसका अर्थ यह है कि राज्य वर्तमान जमींदारों से उनके सभी प्रकार के स्वमित्वाधिकारों को मोल लेकर उन्हें वास्तव में कृषि करने वालों को देकर उन्हें माली काश्तकार बना दे। इस प्रकार खेती करने वाले और सरकार के बीच के सभी बिचवैये दूर हो जायंगे और किसान को उसके आय तथा व्यय का पूरा बदला मिलेगा। इस प्रकार जनता का एक ऐसा परिश्रमी तथा आत्मनिर्भर वर्ग अस्तित्व में आयगा, जो राज्य का मेरुदण्ड होगा। तब अधिक उत्पादन तथा ग्रामीण जनता के जीवन-स्तर के उच्च होने के लिए अधिक क्षेत्र खुल जाएगा।

किन्तु किसान स्वामित्व की भी अपनी निर्बलता है। भारत में जहां उत्तराधिकारियों में सम्पत्ति का समान विभाजन होता है, उसके खतरे अधिक हैं। उसके फलस्वरूप भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटकर लाभदायक नहीं होती। अतएव प्रत्येक किसान के खेत का कम से कम एक क्षेत्रफल तय कर दिया जाय और उसको आर्थिक आकार में रखा जाय। इसके अतिरिक्त उसके मालिक किसान को उन्नत कृषि करने योग्य आवश्यक सामग्री भी दी जाय। इस बात का भी खतरा है कि किसान के स्वामित्वाधिकार से व्यक्तित्ववाद में वृद्धि होगी, जिससे राष्ट्रीय तथा व्यापक हितों को हानि पहुंचेगी।

योरोप के ताजे भूमि सुधारों में जमींदारियों को समाप्त करके किसानों के स्वामित्वाधिकार की स्थापना कर दी गई है। पूर्वी योरोप के अनेक देशों में आज मुख्य रूप से किसान मालिकों द्वारा खेती किये जाने की प्रणाली को प्रधानता प्राप्त होती जा रही है। इन देशों में राज्य में बड़ी-बड़ी जमींदारियों को मोल लेकर स्थायी आर्थिक कृषिक्षेत्रों का निर्माण करके उनके ऊपर छोटे-छोटे किसानों को बिठा दिया गया है। साथ ही उन्होंने भूमि के हस्तान्तरित किये जाने पर, खेती की सम्पत्ति पर कुर्की होने और उत्तराधिकार के कारण होने वाले विभाजन पर रोक लगा कर और बेकार पड़ी भूमि का सुधार करके और उसे किसानों को देकर अपनी कृषि व्यवस्था को सुव्यवस्थित कर लिया है।[1]

डा० मुकर्जी और प्रो० काले भारत के लिए इसी प्रकार की भूमि-नीति का सुझाव देते हैं।[2] उनका प्रस्ताव है कि समस्त कृषि-भूमि राज्य की होनी चाहिए और उसको ऐसी आर्थिक अधिसंपत्तियों में विभक्त कर देना चाहिए, जिससे न्यूनतम तथा अधिकतम क्षेत्रफल को विभिन्न प्रदेशों में नियमपूर्वक जांच करने के बाद निश्चित कर दिया जाय, कम क्षेत्रफल वाली अधिसंपत्तियों को मिला दिया जाय। वह इस बात पर बल देते हैं कि अधिसंपत्तियों को फिर न बंटने देने के विरुद्ध कानून बना देना चाहिए। इस विषय में जर्मनी में प्रचलित उत्तराधिकारी की प्रणाली को इस देश में प्रचलित करने पर विचार किया जा सकता है। प्रत्येक दशा में कृषि की दो ऋतुओं से आगे किसी प्रकार की अर्द्ध जमींदारी प्रथा अथवा भूमि को किराये पर देने की अनुमति न दी जाय। उनका यह भी प्रस्ताव है कि सरकार द्वारा प्राप्त किये नये सुधारे हुए क्षेत्रों में किसी नये निहित स्वार्थ को न बनने दिया जाय और वहां आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली पर सम्मिलित परिवार की कृषि प्रणाली को अपनाया जाना चाहिए।

१४. जमींदारी को समाप्त करने की कठिनाइयां। निःसन्देह, जमींदारी प्रथा समाप्त हो रही है किन्तु उसमें कुछ समय लगेगा। उसके मार्ग में दो कठिनाइयां हैं। इनमें आर्थिक कठिनाई सबसे अधिक भयंकर है। बंगाल के भूमि राजस्व कमीशन (Law Revenue Commission) ने अनुमान लगाया है कि वास्तविक लाभ

1. Nanavati and Anjaria---Indian Rural Problem. p. 324.
2. N. P. C.---Repart, op. cit. pp. 95-8.

के १५ गुने हर्जाने के आधार पर जमींदारों को कुल १३७ करोड़ रुपये देने पड़ेंगे। यदि इस रकम को ४ प्रतिशत ब्याज पर उधार ले लिया जाय तो उसको चुकाने में ६० वर्ष लगेंगे। अन्य राज्यों को भी जमींदारियों को मोल लेने के लिए बड़ी-बड़ी रकमें देनी पड़ेंगी। कुल रकम संभवतः ३५० करोड़ रुपये हो जायगी। अतएव बंगाल दुर्भिक्ष कमीशन का विचार था कि जमींदारियों को इतने कम समय के अंदर समाप्त नहीं किया जा सकता। तो भी सर नानावटी की सम्मति में इस आर्थिक कठिनाई को पार करना इतना कठिन नहीं है, क्योंकि इस सारी रकम को एकदम नहीं चुकाना है वरन् २० से लेकर ३० वर्ष तक के समय में चुकाना है और इस रकम के एक बहुत छोटे भाग का तत्काल उधार लेना पड़ेगा। इसमें से अधिकांश स्वामित्वाधिकार प्राप्त करने से आ जायगा। उनकी सम्मति में इसका भुगतान प्राप्त किये हुए साधनों से की हुई-अतिरिक्त आय की सालाना किश्तों से किया जायगा।

दूसरे, स्थायी बन्दोबस्त वाली जमींदारियों के विषय में शासन सम्बन्धी दृष्टि-कोण भी है। स्वामित्वाधिकार के कागजों का पुनर्निरीक्षण आरंभ में अवश्य करना पड़ेगा। बन्दोबस्त के आवश्यक कार्यों में कुछ वर्ष लग सकते हैं। किन्तु यह अगम्य नहीं हैं। एक बार योजना को हाथ में लेने के बाद इनको पार किया जा सकेगा।

अतएव जमींदारियों को समाप्त करने की दिशा में वास्तविक प्रगति कुछ अधिक बड़ी नहीं है। इस समस्या पर विचार करने के लिए ६ राज्यों में कमेटियां बनाई गई थीं। विधेयकों (Bills) का मसविदा बनाया गया, किन्तु प्रगति कम हुई और बाधाएं अनेक आईं। इसके परिणामस्वरूप अभी तक मद्रास में १९४८ के जायदाद अधिनियम (Estates Act) और उत्तर प्रदेश में यू. पी. जमींदारी उन्मूलन तथा भूमि सुधार अधिनियम १९५२, के अतिरिक्त अभी किसी कानून को कार्यरूप में परिणत नहीं किया जा सका। इस विलम्ब के लिए सबसे बड़ी बाधा हर्जाने के भुगतान की थी जिसका भुगतान नकदी में करने की हमारे विधान (Constitution) में अनिवार्य व्यवस्था की गयी है। यह अनुमान लगाया गया है कि मद्रास, बिहार, पश्चिमी बंगाल उत्तर प्रदेश, उड़ीसा और बम्बई के जिन छः राज्यों में जमींदारियों को समाप्त करने का प्रस्ताव किया जा रहा है, उनमें कुल लागत ३४१ करोड़ रुपये की बैठेगी।

१५. कृषि सुधारों का परीक्षण। स्थायी बन्दोबस्त तथा जमींदारी प्रथा को समाप्त कर देने का प्रश्न जनता के मन में अत्यधिक समय से घूम रहा है। यदि राजनीतिक स्वतन्त्रता का लाभ किसान को देना है तो जमींदारी प्रथा को बंद करना ही होगा। जब तक किसान का भूमि पर अधिकार न होगा और उसको अभाव से मुक्ति न मिलेगी तब तक पंचायत राज का कोई अर्थ नहीं और उसकी आर्थिक उन्नति भी असंभव है।

इसी कारण सरकार को जमींदारों तथा अन्य बिचवैयों को समाप्त करने तथा भूमि पर अधिकार करने के नियम की प्रणाली का अधिक उन्नत रीति पर पुनर्निर्माण करने के लिए प्रेरणा मिली। उसको सभी राज्यों में सबसे प्रथम समाप्ति की दिशा में प्रगति करने का सम्मान बिहार को मिला। किन्तु उसके शास्त्रीय विषय न रह जाने से लगभग सभी राज्यों ने ऐसे अधिनियमों को पास कर दिया। संक्षेप में किसान सुधार दो विशाल मार्गों पर चले :—

(क) जमींदारियों की समाप्ति, और

(ख) काश्तकारी नियमों में सुधार तथा भूमि प्रणालियों का पुनर्निर्माण।

क. जमींदारी की समाप्ति—(क) वर्ग के ९ राज्यों में छः—मद्रास, बिहार उड़ीसा, आसाम, उत्तर प्रदेश और मध्यप्रदेश ने आवश्यक कानून अपने-अपने यहां उपस्थित कर दिये हैं अथवा बना दिए हैं, जबकि बंगाल सुन्दरबन के क्षेत्र में जमींदारियों को पूर्णतया समाप्त करने की एक आरम्भिक योजना बनाने का विचार कर रहा है। बम्बई ने, जो मुख्य रूप से एक रैयतवारी क्षेत्र है—मेहवा, ताल्लुकदार, खोटी, मुलेकी, नरवादरी आदि भूमि पर अधिकार करने वाले पुराने लोगों के एक बड़े भाग को समाप्त कर दिया है। उसने १९४८ का बम्बई काश्तकारी और कृषि भूमि अधिनियम (Bombay Tenancy and Agricultural Land Act) पास करके बड़ी-बड़ी जमींदारी रियासतों के क्रमशः खण्ड-खण्ड होते जाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। इस अधिनियम में कुछ संशोधन करके इसे हैदराबाद और सौराष्ट्र ने भी अपना लिया है। (ख) वर्ग के राज्यों में मध्यभारत और हैदराबाद ने जमींदारी तथा जागीरदारियों को समाप्त करने के लिए कानून बनाने का कार्य आरंभ कर दिया है। इसके अतिरिक्त पटियाला राज्यसंघ (P. E. P. S. U.) ने १९५० में बिस्वेदारी समाप्ति अधिनियम (Abolition of Biswedari Act) पास कर लिया है। इसके अनुसार मौरूसी काश्तकारों (Occupancy Tenants) के पास की भूमियों को जमींदारों तथा काश्तकारों में एक के विरुद्ध तीन के अनुपात में विभक्त कर दिया गया है। इस योजना में जमींदार को कोई हर्जाना नहीं दिया गया है। मैसूर, राजस्थान, पेसू (P. E. P. S. U.), ट्रावनकोर-कोचीन, सौराष्ट्र और पंजाब जैसे राज्यों में इस मामले पर पूर्ण विस्तार से[1] विचार करने के लिए कमेटियां बना दी गई हैं।

समाप्ति का तरीका—इस कानून का उद्देश्य जमींदाराना रियासतों—महालों तथा उन भूमियों पर अधिकार करना है, जिन पर बिचवैयों का कब्जा हो और जो जमींदार, मालिक, लैण्डलार्ड, मालगुजार, जागीरदार, ठेकेदार ईनामदार, मुआफीदार आदि विभिन्न प्रकार के नामों से पुकारे जाते हैं, और फिर उन जमीनों को किसानों को देना है। सरकार हाटों, बाजारों, खानों और खनिज द्रव्यों, जंगलों, मत्स्यागारों, तथा जहाजघाटों पर एक-एक निश्चित घोषित तारीख के बाद कब्जा कर लेगी। इस घोषित तारीख के बाद सभी अधिकार तथा देनदारियाँ सरकार की हो जायँगी और जमींदारों को लगान, चुंगी अथवा किसी प्रकार की बकाया रकम को उन पर वसूल करने का अधिकार नहीं रहेगा। एक निश्चित तारीख के बाद भूमि का हस्तान्तरीकरण भी—यदि वह कानूनी हस्तान्तरीकरण न हों—नहीं किया जा सकेगा।

सभी बिचवैये बड़े-बड़े जमींदार नहीं हैं, बल्कि उनमें से अधिकांश के पास बहुत छोटे-छोटे टुकड़े हैं। उत्तर प्रदेश में इस कानून का प्रभाव २० लाख भूस्वामियों तथा ४ करोड़ २० लाख एकड़ भूमि पर पड़ेगा। मद्रास में जमींदारी तथा इनामी रियासतों का क्षेत्रफल १ करोड़ ४० लाख एकड़ है। अजमेर में इस्तमरारदारों के पास समस्त भूमि का ५० प्रतिशत है। हैदराबाद में जागीर क्षेत्र में ६,५०० गांव हैं, जो समस्त राज्य के क्षेत्रफल के तृतीयांश के लगभग है, मध्यभारत में १८,६३६ वर्गमील के मालिक जमींदारों पर इसका प्रभाव पड़ेगा।

इन अधिनियमों के अनुसार उन भूमियों का प्रबंध सरकार के पास आ जायगा, और वह प्रबन्धकों की नियुक्ति कर सकती है। वर्त्तमान किसानों को तब तक मौरूसी

१. इस विषय के विस्तृत विवरण के लिये भारत सरकार के खाद्य तथा कृषि सचिवालय द्वारा प्रकाशित 'भारत में कृषि सम्बन्धी स्थिति' शीर्षक से छपे हुए लेखों १, २ व ३ को पढ़ो।

अधिकार प्राप्त रहेंगे, जब तक वह सरकार को अपनी देनदारी चुकाते रहेंगे, और उसी परिमाण में उनका भमि पर अधिकार सुरक्षित रहेगा।

हमारे विधान के अनुसार, राज्य जिस सम्पत्ति को अनिवार्य रूप से प्राप्त करेगा उसके लिए उसे हर्जाना देना होगा। उसको या तो हर्जाने की रकम निश्चित कर देनी चाहिये अथवा उस सिद्धान्त का निर्देश कर देना चाहिये, जिसके अनुसार हर्जाने का हिसाब लगा कर वह दिया जाता है।

जहां तक हर्जाना चुकाने की प्रणाली का सम्बन्ध है, मद्रास के अतिरिक्त अन्य सब राज्यों में यह हुण्डियों (Bonds) में अथवा आंशिक रूप से हुण्डियों में और आंशिक रूप से नकदी में चुकाया जायगा। उत्तर प्रदेश, मध्यभारत और मध्यप्रदेश में हर्जाने की रकम उन काश्तकारों से एकत्रित की जायगी, जिनको किसी अर्थ में अर्द्ध स्वामित्व के अधिकार मिल जायेंगे। उनको अगले बन्दोबस्त तक भूमि के लगान में छूट भी दी जायगी। उत्तर प्रदेश में काश्तकार लोग अपने वर्तमान लगान का एक मुश्त दस गुना देकर अथवा चार किश्तों में १२ गुना देकर भूमिधर के अधिकार प्राप्त कर सकेंगे। इसके बदले में वह भविष्य में अपने लगान का ५० प्रतिशत ही देंगे, शेष भाग राज्य द्वारा चुकाया जायगा। मध्यभारत में मोरूसी काश्तकार (Occupancy Tenants) को ६ गुना तथा उप-काश्तकारों (Sub-Tenants) को १५ गुना देना पड़ेगा। इन साधनों से वसूल की हुई रकमों का उपयोग हटाये जाने वाले जमींदारों को हर्जाने देने में किया जायगा। उत्तर प्रदेश में इस प्रकार २७ करोड़[1] रुपया जमा हो चुका है।

ख. काश्तकार सम्बन्धी सुधार। विभिन्न राज्यों की संस्थाओं तथा स्थानीय प्रथाओं में अत्यधिक विभिन्नता होने के कारण उन परिस्थितियों की दशा के अनुसार ही सुधार करने पड़ेंगे। भूमि के प्रबन्ध की प्रणाली, काश्तकारी कार्य की शर्तों तथा खेतों के आकार में किये हुए ताजा परिवर्तनों की यहां संक्षेप में आलोचना की जाती है :—

व्यक्तिगत खेती—अपने कार्य से अनुपस्थित रहने वाले जमींदारों के अस्तित्व की प्रणाली भारत में कृषि की उन्नति के मार्ग में अत्यन्त भयंकर बाधा है। इस बुराई के दूर होने के साथ-साथ जमींदारियों के सुधार तथा काश्तकारों को भूमि अधिकार-प्राप्ति में सुरक्षा मिल जाने का परोक्ष प्रभाव यह होगा कि काश्तकारों द्वारा चुकाया जाने वाला लगान कम हो जायगा तथा आर्थिक आधार पर भूमियों की रचना हो जायगी। कुछ राज्यों ने इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए कृषि आजीविका न करने वालों को भूमि मिलने पर प्रतिबन्ध लगाए हैं। इन राज्यों में कृषिजीवी की परिभाषा में उन्हीं को लिया गया है, जो अपनी भूमि में खेती करता हो। व्यक्तिगत खेती की परिभाषा में ऐसे किसानों को लिया गया है, जो कृषि मजदूरों की सहायता से अथवा उनके बिना स्वयं खेती करें।

व्यक्तिगत खेती को प्रोत्साहित करने की एक और प्रणाली है, जमीन को किराये पर देने की प्रणाली पर प्रतिबन्ध। कुछ राज्यों में यह नियम पहले ही मौजूद है कि सीर और खुदकाश्त को तब तक किराये पर नहीं दिया जा सकता, जब तक काश्तकार को उन पर मौरूसी हक न मिल जाय। बम्बई, हैदराबाद और उत्तर प्रदेश के ताजा कानूनों (Acts) में भूमि को उठाने की अनुमति नाबालिगों, विधवाओं, असमर्थों, पागलों तथा

---

१. इस विषय के विस्तृत अध्ययन के लिए Guru Charan Singh द्वारा लिखी हुई Recent Agrarian Reforms को पढ़ें।

भूमिसेना, जलसेना तथा वायुसेना के कर्मचारियों के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं दी गई।

काश्तकारी कानून में परिवर्तन--स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद राज्यों के अंदर काश्तकारी कानूनों में अत्यधिक संशोधन किये जाने का उद्देश्य यह है कि भूमि पर अधिकार करने की विभिन्न प्रणालियों में सरलता आ जाय और काश्तकार को भूमि के ऊपर स्थिर अधिकार मिलने के साथ-साथ उसके लगान में कमी हो जाय। बम्बई और हैदराबाद में सुरक्षित काश्तकारों को यह भी अधिकार दे दिया गया है कि वह अपनी भूमि को इस प्रकार के उचित मूल्य पर मोल ले सकें, जो कृषिभूमि न्यायालयों (Agricultural Lands Tribunals) द्वारा तय किया जाय।

यद्यपि काश्तकारों के कुछ वर्गों को अपने खेतों पर उत्तराधिकार योग्य स्थायी अधिकार प्राप्त हैं तथापि उनके अधिकांश को अभी तक किसी प्रकार की भी कानूनी सुरक्षा प्राप्त नहीं थी। १९४८ के बम्बई काश्तकारी अधिनियम (Bombay Tenancy Act) तथा कृषि भूमि अधिनियम (Agricultural Land Act) तथा अन्य राज्यों में ऐसे ही अन्य अधिनियमों ने काश्तकारों के अपने खेतों में सुरक्षा के अधिकार को बढ़ा दिया है। वह अपनी भूमियों का सुधार कर सकते हैं और उनको उनसे तब तक नहीं निकाला जा सकता, जब तक वह लगान न दे सकें अथवा अपनी भूमि को किसी अन्य को उठादें अथवा भूमि के उपजाऊपन को हानि पहुंचायें।

इसके अतिरिक्त वर्तमान काश्तकारी कानूनों में इस बात की व्यवस्था कर दी गई है कि उचित लगान तय करके निश्चित कर दिया जाय।

छठा अध्याय

कृषि की इकाई

१. प्रस्तावना। उन्नतिशील कृषि के लिए तीन बातें आवश्यक हैं : (क) कृषि की एक आर्थिक इकाई, (ख) खेती का ठीक-ठीक उचित सामान, (ग) यत्न के लिए प्रोत्साहन। हम यह पहले देख चुके हैं कि किसान खेत में पूर्ण यत्न से तभी परिश्रम करेगा जब उसको अपने श्रम का फल मिलने का विश्वास हो जाय। ऐसा करने के लिए यह आवश्यक है कि कृषि के लाभ में भाग लेने वाले सभी उच्च स्वार्थों को समाप्त कर दिया जाय। कृषि के रूप और उसके लिए प्राप्य उपकरणों से भी भूमि की उपज का निश्चय किया जाता है, किन्तु **कृषि की इकाई भी किसी प्रकार कम महत्वपूर्ण नहीं है**। उसके आधार पर ही इस सामग्री का परिमाण निर्भर करता है, जिसका उसमें लाभदायक रूप में उपयोग किया जा सकता है। यदि भूसंपत्ति आर्थिक रूप से लाभप्रद आकार की न हो तो उसमें स्वामित्व का अधिकार भी सर्वोत्तम प्रयत्नों को प्रोत्साहित नहीं कर सकता।

२. भूसम्पत्ति। भूसम्पति दो प्रकार की होती है, प्रथम स्वामित्व भूसंपति, दूसरे कृषिक्रम भूसम्पत्ति। स्वामित्व भूसम्पत्ति आकार में बड़ी होती हुई भी अनेक किसानों में बंटी हुई हो सकती है, जिससे खेती की इकाई बहुत छोटी हो जाती है। इसके विपरीत यह हो सकता है कि एक किसान के पास कई मालिकों की जमीन हो, जिनमें से प्रत्येक भाग आकार में छोटा होने पर भी, सब पर एक ही किसान खेती करता हो, जिससे किसान का खेत बड़ा हो जाता हो। कभी-कभी मालिक अपने खेत को स्वयं जोतता है। यह हो सकता है कि वह अपनी भूमि का कुछ भाग किसी को लगान पर दे दे अथवा वह किसी पास की भूमि को लगान पर ले ले। पूर्णता के दृष्टिकोण से महत्व अपनी मालिकी की भूमि का नहीं, वरन् कृषि की जाने वाली भूमि का अधिक है। यह देखा जाता है कि भारत में एक औसत किसान की कृषि-अधिसंपत्तियां केवल आकार में ही छोटी नहीं होतीं वरन् अनेक टुकड़ों में बंट कर गांव भर में फैली होती हैं।

३. आर्थिक भूसम्पत्ति। आर्थिक भूसंपत्ति की परिभाषा करना सुगम नहीं है। उसका आकार परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता है, किन्तु वह ऐसा होना चाहिए कि उसके परिवार को बराबर काम तथा एक उचित आय मिलती रहे। उसका विस्तार (आकार) मुख्य रूप से निम्नलिखित बातों पर निर्भर करता है :—

(क) कृषि की प्रणालियां—यदि यांत्रिक प्रणालियों से काम लिया जाय तो उसका आकार कम से कम २०० एकड़ होना चाहिए। पुरानी प्रणाली से २० से २५ एकड़ तक पर्याप्त होगी।

(ख) उत्पन्न की जाने वाली फसलें—गेहूं के लिए भूमि का आकार बड़ा होना चाहिए, ताकि उससे सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त किया जा सकें, सब्जियों तथा फलों के लिए कम आकार की भूमि की आवश्यकता होती है।

में खुदकाश्त भूमियों के आकार तथा विभाजन की जांच की थी, और वह इस परिणाम पर पहुंचा था कि :—

(१) लगभग १७·९ प्रतिशत मालिकों की भूमियां एक एकड़ से कम थीं और इस प्रकार उनका क्षेत्रफल समस्त क्षेत्रफल का १ प्रतिशत था।

(२) लगभग ४०·४ मालिकों के पास एक एकड़ से लेकर पांच एकड़ तक भूमि थी। उसमें समस्त भूमि की ११ प्रतिशत भूमि थी।

(३) लगभग २६·२ प्रतिशत मालिकों के पास ५ एकड़ से लेकर १५ एकड़ तक भूमि थी, उसमें समस्त क्षेत्रफल का २६·६ भाग आता था।

(४) लगभग ११·८ प्रतिशत मालिकों के पास १५ से ५० एकड़ तक भूमि थी और उसमें समस्त क्षेत्रफल का ३५·६ प्रतिशत भाग था।

(५) लगभग ३·७ प्रतिशत मालिकों के पास पचास एकड़ अथवा उससे अधिक भूमि थी और उसमें समस्त क्षेत्रफल की लगभग २५·७ प्रतिशत भूमि आती थी।

पंजाब में प्रत्येक मालिक के पास औसत कृषि भूमि सात और आठ एकड़ के बीच थी। पंजाब के आर्थिक जांच बोर्ड (Board of Economic Enquiry) ने १९३९ में जांच करके यह पता लगाया था कि उनका आकार घट रहा था। काल्वर्ट के अनुसार ५८·३ प्रतिशत मालिक लोग ५ एकड़ से कम भूमि पर खेती करते थे। दूसरी जांच के अनुसार यह अनुपात बढ़ कर ६३·७ प्रतिशत तक पहुंच गया जब कि इसमें भूमि उतनी ही रही। यदि १५ एकड़ भूमि को एक आर्थिक भूमि माना जाय तो ८८ प्रतिशत मालिकों के पास १९३९ में उससे कम आकार की भूमियां थीं।

५. भूमियों का विभाजन। औसत आकार की अपेक्षा भूमि का विभाजन अधिक महत्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ, यद्यपि पंजाब में औसत आकार ७ से ८ एकड़ तक है किन्तु लगभग ६० प्रतिशत किसानों से प्रत्येक के पास पांच एकड़ से भी कम है। पृष्ठ ८१ की तालिका में विभिन्न वर्गों में (न कि क्षेत्रफल) विभाजन की सब से ताजी सूचना के अनुसार विवरण दिया गया है। इससे पता चलेगा कि भारत में अत्यधिक बहुसंख्यकों के पास पांच-पांच एकड़ से कम भूमि है।

६. कृषिकर्म भूमि का आकार। स्वामित्व के आकार की अपेक्षा कृषि का आकार अधिक उल्लेखनीय है। उदाहरणार्थ, एक एकड़ से कम की अनेक भूमियों को पंजाब में दूसरे क्षेत्रों के साथ जोता जा रहा है। इसके विरुद्ध अनेक बड़ी बड़ी भूमियों को मालिकों के छोटे छोटे भागों में विभक्त करके काश्तकारों को खेती करने के लिए रखा गया है। मिस्टर काल्वर्ट ने पंजाब में किसानों के खेतों के आकार तथा उनके विभाजन के सम्बन्ध में जांच करके पता लगाया है कि २२ प्रतिशत किसानों में से प्रत्येक के पास एक से पांच एकड़ तक भूमि खेती करने के लिए है, ३३ प्रतिशत में से प्रत्येक १५ से लेकर ५० एकड़ तक भूमि को जोतता है, और केवल १ प्रतिशत ५० एकड़ से अधिक भूमि को जोतता है।

अपनी दोनों जांचों के परिणामों की तुलना करने पर मिस्टर काल्वर्ट इस परिणाम पर पहुंचे हैं, " वहां लगभग पांच लाख ऐसे किसान हैं, जो अपने खेतों के मालिक नहीं है और जो असल किसान है। एक एकड़ अथवा उससे कम भूमि जोतने वालों की संख्या अत्यधिक है। एक एकड़ से पांच एकड़ तक भूमि जोतने वालों का वर्ग भी बहुत बड़ा है। यह लोग किसी न किसी प्रकार लगान पर अधिक भूमि प्राप्त कर

और इन भूमियों में से अधिकांश दो-दो तीन-तीन एकड़ से भी कम की भूमि हैं,"
[Re]port of the Agricultural Commission. P. 143,

(ग) **भूमि का उर्वरापन**--जब भूमि का ऊपरी भाग अच्छा होता है तो एक छोटे भाग से भी परिवार का खर्च चल जाता है। जब भूमि हल्की किस्म की होती है अथवा उसमें पानी की कमी होती है तो उसके लिए कुछ बड़े क्षेत्रफल की आवश्यकता होती है। उदाहरणतया, पंजाब के जालन्धर जिले की ६ एकड़ भूमि से एक परिवार को हिसार जिले की १५ एकड़ भूमि की अपेक्षा जीवन का अधिक उच्चमान मिल सकता है।

(घ) **कृषि का संगठन**--यदि सहकारिता आधार पर खेती की जाय तो बड़े आकार की भूसंपति अधिक उत्तम उपज देगी, किन्तु व्यक्तिगत रूप से स्वयं करने पर छोटे आकार की भी पर्याप्त उपज देगी, क्योंकि यंत्रों का उपयोग लाभदायक रूप में बड़े खेतों में ही किया जा सकता है।

एक परिवार का आकार और उसके साधन भी एक आर्थिक भूसंपत्ति को निश्चित करते हैं। भूमि के प्रकार, वर्षा, सिंचाई की उपलब्ध सुविधाओं तथा बाजार की सुविधाओं के अनुसार इस प्रकार का विभिन्न आकार हो सकता है। डाक्टर मान (Dr. Mann) का विचार है कि दक्षिण (Deccan) में २० एकड़ भूमि एक औसत परिवार को जीवन के न्यूनतम मान को दे देगी। कीटिंग (Keatinge) की सम्मति में एक परिवार के पास आराम से रहने के लिए ४० से ५० एकड़ तक भूमि होनी चाहिए। सर विजय राघवाचार्य का विचार है कि "एक परिवार के पास कम से कम ४ से लेकर ६ एकड़ तक भूमि होनी चाहिए।"

आधार मूलक भूसम्पत्ति--कांग्रेस किसान सुधार कमेटी की रिपोर्ट (Congress Agrarian Reform Committee) में कहा गया है कि आर्थिक भूसम्पति को जीवन का मान प्राप्त करने के योग्य होना चाहिए। उससे साधारण आकार के एक परिवार को पूरा रोजगार मिल जाय और वह उस क्षेत्र की किसान अर्थ-व्यवस्था के अंगों से सम्बन्ध रखती हो। वह आर्थिक आधारों की अपेक्षा सामाजिक आधार पर आर्थिक अधिसंपत्ति की सापेक्षता में छोटी भूसंपत्ति की भी सिफारिश करती है। उसी को वह आधारमूलक भूसंपत्ति (Basic Holding) कहा गया है और व्यक्तिगत कृषि को बहूद्देशीय सहकारिता संगठनों से अन्य कार्यों के लिए सहायता प्राप्त करने का प्रस्ताव किया गया है।

भूसम्पति का आशातीत परिमाण--किसान कमेटी की सम्मति में खेती के आकार की उच्चतर सीमा भी होनी चाहिए। अतएव, उसमें प्रस्ताव किया गया है कि किसी खेती का आशातीत परिमाण आर्थिक खेती के परिमाण से तीन गुने से अधिक न हो, सम्मिलित परिवारों तथा पारमार्थिक संस्थाओं के लिए अपवाद हो सकते हैं। अतएव आशातीत आकार की एक सीमा सामाजिक व्यय तथा आर्थिक कार्यकुशलता के स्वत्व की दृष्टि से बना ही लेनी चाहिए। आसाम जैसे कुछ जमींदारी निवारक कानूनों में एक किसान के पास रखने के लिए भूमि का अधिकतम परिमाण भी नियत करने का प्रस्ताव किया गया है। उत्तर प्रदेश में यद्यपि वर्तमान खेती की कोई सीमा निश्चित नहीं की गई तो भी भविष्य में किसी व्यक्ति को उत्तराधिकार अथवा बिक्री के द्वारा ३० एकड़ से अधिक भूमि नहीं लेने दी जायगी।

४. स्वामित्व भूसम्पति का आकार। एक आर्थिक भूमि की परिभाषा जो कुछ भी तय की जाय किन्तु भारत में अधिकांश भूसम्पति--भले ही वह स्वामित्व हों अथवा कृषिक्रम--आर्थिक आकार [1] की नहीं हैं। काल्वर्ट (Calvert) ने संयुक्त पंजाब

---

१. "भारत में इस प्रकार के सच्चे किसानों के पास औसत क्षेत्रफल बहुत कम

के सबसे नीचे वर्ग से ऊपर निकल आये हैं। एक बार प्रत्येक किसान को १५ एकड़ भूमि मिलने का नियम पास हो जाने पर यह संख्या अपने आप कम हो जायगी। यह समझा जाता है कि एक जोड़ी बैलों से लगभग १४ एकड़ भूमि को अच्छी तरह जोता जा सकता है। अतएव यह स्पष्ट है कि उस परिमाण में भूमि प्राप्त करने में अनेक किसान असफल रहे। इसलिए वहां लगान पर भूमि लेने की बड़ी मांग बन गयी है और इसी तथ्य के कारण वहां लगान बराबर बढ़ता जाता है और जमींदार उचित नकद[1] लगान लेने के बजाय उपज का आधा भाग प्रायः ले लेता है। इस प्रकार पंजाब के अधिकांश खेत आर्थिक स्तर से नीचे हैं। पंजाब (१) में खेतों का आकार और भी छोटा हो गया है। नहरी पानी की भूमि, जहां बड़े बड़े खेत थे—पाकिस्तान में चली गई। इसके अतिरिक्त पश्चिमी पंजाब में हिन्दुओं तथा सिक्खों द्वारा कुल ५७ लाख एकड़ छोड़ी गयी, जबकि पूर्वी पंजाब में मुसलमानों ने कुल ४५ लाख एकड़ भूमि ही छोड़ी। पूर्वी पंजाब में भूमियों के छोटा होने का यहां एक और कारण हैं।

निम्नलिखित तालिका में १९३१ में प्रति काश्तकार जोते जाने वाले एकड़ों और खेत के औसत आकार को दिया गया है। इससे स्थायी मौरूसियों की दशा पर प्रकाश पड़ता है। वास्तविक स्थिति इससे भी खराब है, क्योंकि अनेक छोटे-छोटे किसान अत्यन्त छोटे-छोटे खेतों को जोतते हैं।

प्रांत	प्रति किसान द्वारा जोते जाने वाले एकड़	१९३१ में खेतों का एकड़ों में औसत आकार
बम्बई	१६·८	११·७
मध्यप्रदेश	२०·०	८·५
पंजाब	८·८	७·२
मद्रास	५·९	४·५
बंगाल	३·९	२·५
आसाम	३·४	लगभग २·०
उत्तर प्रदेश	३·३	६·०
बिहार, उड़ीसा	२·९	४ और ५ के बीच में

यदि हम भारत की अन्य देशों के साथ तुलना करें तो हमको पता चलता है कि फ्रांस में प्रति किसान के पास १५½ एकड़, जर्मनी में १९ एकड़, इंग्लैंड में २७ एकड़ और अमरीका में कम से कम १४० एकड़ औसत भूमि है। इस विषय में कैनेडा, अर्जेन्टाइना और आस्ट्रेलिया तो और भी अच्छी स्थिति में हैं।

७. भूमियों का खण्डीकरण। एक भूसम्पति के उप-विभाग का परिणाम यह होता है कि उस किसान की प्रत्येक पीढ़ी के साथ वह अधिकाधिक छोटा होता जाता है। खण्डीकरण का अर्थ यह है कि भूमि के टुकड़े-टुकड़े होकर गांव भर के क्षेत्रफलमें बिखर जाते हैं। स्वामित्व का विभाजन होने का प्रायः परिणाम कृषि का विभाजन होता है। किन्तु ऐसा सदा नहीं हुआ करता। एक किसान एक ऐसी भूमि को लगान पर ले सकता है जिसमें विभिन्न मालिकों के कई टुकड़े हों। इसके विरुद्ध एक सम्पूर्ण बड़ी भूमि को छोटे टुकड़ों में बांट कर विभिन्न किसानों को दिय जा सकता है। आर्थिक दृष्टिकोण से कृषि का एकीकरण स्वामित्व के एकीकरण की अपेक्षा अधिकाधिक महत्वपूर्ण है। यदि दोनों का साथ-साथ एकीकरण हो तो यह और भी अच्छा है।

---

1. Calvert—op- cit, p- 176-

आकार[1] के अनुसार भूसम्पत्तियों का विभाजन

	मदरास	पंजाब	उत्तरप्रदेश	बंगाल	बम्बई	मैसूर	आसाम	उड़ीसा
खेत का औसत आकार (एकड़ों में)	४·५	१०·०	उपलब्ध नहीं	४·४	१३·३	६·२	४·८	४·९
५ एकड़ से कम के खेतों का समस्त योगफल में प्रतिशत अनुपात	८२	६३·७	८१·२	७१·३	४१·९	६५·९	६६·४	७९·२
१० ,, ,,	८९	८०·०	९३·९	८८·३	६०·९	८६·७	८७·४	८९·५
१५ ,, ,,	उपलब्ध नहीं	८७·९	उपलब्ध नहीं	उपलब्ध नहीं	७२·५	उपलब्ध नहीं	उपलब्ध नहीं	९४·३
२५ ,, ,,	,,	९३·७	९९·१	,,	८५·२	,,	उपलब्ध नहीं	९७·८

1. Dharm Bir Singh—Agricultural Legislation in India, Vol. II, p i.

जब कभी कई स्वामियों के अन्दर सम्पत्ति का उप-विभाजन होता है तो भूमि के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, क्योंकि उनमें से प्रत्येक अपने पूर्ववर्ती के प्रत्येक भाग का एक भाग चाहता है। अतएव स्वामित्व के विभाजन का परिणाम कृषि के विभाजन के रूप में होता है। भारत में भूमि-खण्डीकरण बहुत बढ़ गया है। डाक्टर मान (Dr. Mann) ने पता लगाया था कि पिंपला सौदागर नामक ग्राम में १५६ मालिकों के पास ७२९ भूमि-खंड (Plots) थे, उनमें से ४६३ एक-एक एकड़ से भी कम, और २११ चौथाई एकड़ से भी कम थे। रत्नागिरी में कुछ भूमि के खंड का आकार इतना छोटा था कि उसको ०·००६२५ एकड़ के रूप में लिखना पड़ता है। पंजाब में ऐसे खेत थे, जो एक मील लम्बे किंतु कुछ ही गज चौड़े थे और कुछ इतने छोटे थे कि उनको जोता भी नहीं जा सकता था। मिस्टर भल्ला ने पता लगाया था कि पंजाब के बैरामपुर गांव में ३४४ प्रतिशत किसानों में से प्रत्येक के पास पच्चीस-पच्चीस टुकड़ों से अधिक थे। पिंपला सौदागर में ६२ प्रतिशत भूमिखंड क्षेत्रफल में एक-एक एकड़ से कम थे, जाटेगांव में ऐसे भूमिखंड ३१ प्रतिशत थे। कीटिंग (Keatinge) ने बम्बई के विषय में लिखा है, "भूमि को टुकड़े-टुकड़े करने की यहां इतनी बुराई थी कि उससे लाभ नहीं हो सकता था।" कृषि का खण्डीकरण स्वामित्व के खण्डीकरण की अपेक्षा बहुत बड़ी बुराई है और वह अत्यधिक व्यापक भी है।

८. **उप-विभाजन तथा खण्डीकरण के कारण।** भूमियों के छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट जाने और फिर उनके भी छोटे टुकड़े हो जाने के कारण नीचे दिये जाते हैं :—

(१) **जनसंख्या की वृद्धि**—ज्यों-ज्यों जनसंख्या बढ़ती जाती है, भूमि अत्यधिक खंडों में विभक्त होती जाती है। और ऐसी दशा में भूमियों का आकार घटता जाता है।

(२) **उत्तराधिकार के कानून**—उत्तराधिकार हिंदू तथा मुस्लिम दोनों कानूनों में उत्तराधिकारियों में भूमि सम्पति के विभाजन का विधान है। बिभाजन के समय उत्तराधिकारी प्रत्येक प्रकार की भूमि में से एक-एक टुकड़ा मांगते हैं। इस प्रकार भूमि के खंड हो जाने से टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं।

(३) **दस्तकारियों का पतन**—मशीन के बने माल की प्रतियोगिता के कारण भूमि पर दबाव बढ़ गया है। विशेषकर ऐसी स्थिति में जब भूमि से बढ़ी हुई जनसंख्या को हटा लेने के लिए उसके साथ कोई औद्योगिक विकास का कार्य नहीं है।

(४) **भू-सम्पत्ति से प्रेम**—भारत में भूमि को सम्मान का साधन समझा जाता है और मालिक उसे सुगमता से नहीं बेचता। प्रत्येक व्यक्ति सम्पत्ति के अपने छोटे से भाग से चिपटा बैठा रहता है, जो स्थिति को और भी खराब कर देता है।

(५) **ब्रिटिश राज**—ने शान्ति स्थापित करके भूमि में अधिकार के मूल्य को बढ़ा दिया और रुपया उधार देने वालों को भूमि में रकम लगाने को प्रोत्साहित किया।

(६) **किसानों की ऋणग्रस्तता** ने भी उसी दिशा में कार्य किया।

(७) **सम्मिलित परिवार प्रणाली के टूट जाने तथा व्यक्तिवाद की भावना के विकास** ने सम्मिलित परिवार की कृषि को असंभव बना डाला।

तो भी, मुख्य कारण जनसंख्या का बढ़ना है, जिसके साथ रोजगार के वैकल्पिक क्षेत्रों का विस्तार नहीं हुआ।

९. **उप-विभाजन तथा खण्डीकरण की बुराइयां।** कभी-कभी खेतों के विभाजन को इस कारण उचित ठहराया जाता है कि उससे सभी उत्तराधिकारियों को समान

1. Report of the Royal Commission on Agriculture. pp. 134-35.

अवसर मिलता है। भूमि-रहित श्रमिकों की वृद्धि रुकती है तथा आर्थिक एवं सामाजिक स्थिरता बढ़ती है। इसी प्रकार टुकड़े-टुकड़े करने की प्रथा को भी इस कारण उचित ठहराया जाता है कि यह किसान की ऋतु विपर्यय से रक्षा करके उसको विभिन्न प्रकार की भूमि पर फसल बोने योग्य बनाती है और फसलों की अधिक उचित अदल-बदल को संभव बनाती है। **किन्तु भूमि खण्डीकरण की बुराई उससे होने वाले किसी भी प्रकार के लाभ से बड़ी है।** उनसे मानवी शक्ति तथा भौतिक साधनों की बरबादी होती है और कृषि की उन्नति रुकती है। यह देखा जाता है कि किसान अपने पास रखे हुए खराब से खराब सामान का भी उत्तम लाभ के साथ उपयोग नहीं कर पाता। कुओं का खोदना, श्रम-बचत के उपायों, बड़ी मात्रा में उत्पादन जैसी उन्नतियां तो असंभव हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य तथा पशु से फसल की रक्षा करने की कठिनाइयों के कारण उसमें कोई नया काम अपनी ओर से करने को मन नहीं होता। इससे भी खराब बात यह है कि बाढ़ों, सीमाओं और मार्गों में अधिक क्षेत्र बरबाद हो जाता है।

इसके अतिरिक्त खण्डीकरण की और बुराइयां भी हैं। उसमें समय शक्ति, खाद और उपज का बहुत विनाश होता है। यह तब होता है जब कि भूमि-खंड बहुत बड़े क्षेत्र में बिखरे होते हैं। कुछ भूमि खंड तो इतने छोटे होते हैं कि उनमें खेती की ही नहीं जा सकती। इस प्रकार इससे भूमि बेकार हो जाती है। इसके अतिरिक्त इनसे सीमाओं, मनुष्य, पशु तथा जल के मार्ग के अधिकार के विषय में ऐसे झगड़े पैदा हो जाते हैं, जो ग्राम-जीवन में सदा देखने को मिलते हैं और उनमें किसान का समय, धन और शक्ति का बहुत विनाश होता है।

१०. प्रस्तावित उपचार। इस बुराई को दूर करने के लिए दो प्रकार के उपचारों का प्रस्ताव किया जाता है—एक वह, जो आर्थिक भूमि खंडों का निर्माण करने का यत्न करते हैं, और दूसरे वह, जो इस बुराई के भविष्य में विस्तार को रोकते हैं, वह यह हैं :—

(१) **आर्थिक भूमिखण्डों का निर्माण**—(क) इसको या तो समस्त भूमि का सामाजीकरण करके और फिर उसमें रूस के समान सम्मिलित कृषि के सिद्धान्त पर खेती करके किया जा सकता है, अथवा—

(ख) व्यक्तिगत भूमि सम्पत्ति को एकत्रित करके उसमें सहकारिता अथवा सम्मिलित प्रबन्ध के आधार पर कृषि कर के इस प्रकार किया जा सकता है कि व्यक्तिगत भूसम्पत्ति भी बनी रहे।

(ग) इटली के समान राज्य धन देकर आर्थिक भूमियों के निर्माण के लिए सभी पुरानी बंधकों को ले ले। भारत में अर्थ-विरोधी भूमियों की संख्या अत्यधिक होने के कारण तथा स्वामित्व के पक्ष में प्रबल भावना के कारण इस प्रणाली में अत्यधिक खर्च बैठेगा। इसके अतिरिक्त इस विषय में भूमि-बंधक बैंक भी कुछ कार्य कर सकते हैं।

(२) **आर्थिक भूमियों की रक्षा**—एक उपाय ऐसा किया जा रहा है कि जो भूमियां आर्थिक रूप में दृढ़ हैं, उन्हें विभाजित होकर अनुत्पादक न बनने दिया जाय। यह निम्नलिखित ढंग पर किया जा सकता है :—

(क) उत्तराधिकार के कानून में परिवर्तन करके तथा सब से बड़े पुत्र को उत्तराधिकार देने के कानून को अपनाकर, जिससे भू-सम्पत्ति सब से बड़े लड़के को ही मिले, किन्तु उससे छोटे पुत्रों के लिए भी कुछ व्यवस्था करनी ही पड़ेगी, जो कि कठिन है। और इसके परिणामस्वरूप बिना भूमिवालों का बड़ा भारी वर्ग बन जायगा। इसके अतिरिक्त आर्थिक भावना भी इस मार्ग में भारी रुकावट सिद्ध होगी।

(ख) जब कभी कोई भूमि निर्माण योग्य आकार की हो जाय तो उसको अविभाज्य घोषित कर दिया जाय। मिस्र ने यह कार्य करने के लिए पांच फेन कानून (Five Fedden Laws) पास किये हैं। "यद्यपि भूमि का नाम मात्र के लिए उत्तराधिकारियों में विभाजन हो जाता है, किन्तु उसे वास्तव में उनमें से एक के हाथ में छोड़ दिया जाता है। जो उन सब की ओर से उस पर खेती करे, अथवा प्रबन्ध के लिए किसी ट्रस्टी के सुपुर्द कर दिया जाता है।[1] मिस्टर कीटिंग ने प्रस्ताव किया है कि किसी आर्थिक क्षेत्र के मालिक को यह अधिकार दे दिया जाय कि वह उस भूमि की रजिस्ट्री अविभाज्य भूमि के रूप में कर सके।

(ग) जैसा कि कई राज्यों में यत्न किया गया है, वर्तमान छोटे-छोटे टुकड़ों को एक में मिला कर; इस विषय में केवल पंजाब ने ही कुछ उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की है। पंजाब में पहले इस कार्य को माल और सहकारिता विभागों (Revenue and Co-operative Departments) की ओर से किया जाता था, किन्तु इसमें बहुत सुस्ती तथा विलम्ब होता था। १९३६ के एक्ट में ऐसे हिस्सेदारों के विभाजन के फलस्वरूप भविष्य में होने वाले टुकड़ों के कार्य को रोकने की कोई व्यवस्था नहीं थी। जहाँ किसान लोग भूमियों को एक नहीं करना चाहते थे, इस कानून ने वहां भी कोई प्रभावशाली कार्य का प्रबन्ध नहीं किया। पंजाब की नहरी नौ-आबादियों में अधिकार पृथक् करने पर रोक लगा कर उनके विभाजन को रोका गया। कुछ अनुदानों (Grants) के मामलों में केवल एक उत्तराधिकारी के लिए ही उत्तरधिकार सीमित कर दिया गया। जहां तक ठीक मालिक का प्रश्न था, यह नीति अत्यन्त सफल रही, किन्तु सब मिला कर भूमियों के विभाजन को देखने में यह भी सफल न हो सकी अतएव बम्बई भूमि खंडीकरण निवारक तथा भूसंपत्ति चकबन्दी अधिनियम (Prevention of Fragmentation and Consolidation of Holdings Act) जो पास हो चुका है और पंजाब और पेप्सू में आवश्यक परिवर्तन सहित लागू किया गया है, इन दोनों त्रुटियों को दूर कर देता है।

(घ) सहकारिता तथा सम्मिलित कृषि से भी, जो अन्य देशों में अत्यन्त सफल हो चुकी है, भूमियों के टुकड़े होना रुक सकता है। इस विषय में भारत में, विशेष कर उत्तर प्रदेश की नई सुधारी हुई भूमियों में प्रयोग करना आरम्भ कर दिया गया है। कुछ व्यक्तिगत भूमियों की कृषि पर भी इक्के-दुक्के इस प्रकार के प्रयोग किये जा रहे हैं।

११. भूमियों का एकत्रीकरण। शाही कृषि कमीशन ने लिखा था कि "भूमि के टुकड़े-टुकड़े होने की बुराई को रोक कर उसमें कुछ सहायता देने का केवल एक उपाय दिखलाई देता है, वह प्रणाली है खेतों का एकत्रीकरण। इसमें जहां तहां बिखरे हुए टुकड़ों के बदले में एक ठोस भूमि प्राप्त करके भूमि को एक किया जाता है। इस प्रणाली से एक मालिक की समस्त भूमि का एक भूमि-खंड अथवा विभिन्न प्रकार की मिट्टी के कुछ भूमि-खंड बन सकते हैं[2]।"

पंजाब में भूमि के एकत्रीकरण का कार्य १९२०-२१ में आरम्भ किया गया था। आरम्भ में यह कार्य सहकारिता संस्थाओं द्वारा बिल्कुल स्वेच्छापूर्ण आधार पर किया गया। तीन करोड़ एकड़ के समस्त कृषि-क्षेत्रफल में से कुल साढ़े चौदह लाख एकड़ कृषि-भूमि का ही एकत्रीकरण किया जा सका। इस कार्य में बाधा पहुंचाने वाले अड़ियल अल्पसंख्यकों के प्रबन्ध के लिए १९३६ में भूमियों का एकत्रीकरण अधिनियम

1. Agricultural Commission Report, p. 138.
2. Royal Commission on Agricultural Report, page 136.

(Consolidation of Holdings Act 1936) पास किया गया । इस अधिनियम ने एकत्रीकरण के कार्य को अनिवार्य बना दिया। पंजाब में भूमियों के एकत्रीकरण से बड़े लाभ हुए हैं। वहां जोतने योग्य भूमि बढ़ गई है और उसकी उपज भी बढ़ गई। अब भूस्वामियों में अपनी भूमि का विकास करने की बड़ी भारी इच्छा उत्पन्न हो गयी है। सिंचाई के अवसर अब घट गये हैं किन्तु भारत के अन्य भागों में एकत्रीकरण सफल प्रमाणित नहीं हुआ। पंजाब में भूमि की उत्पादन शक्ति एक-सी होने तथा भूमि पर अधिकार करने के नियम[1] सरल होने के कारण एकत्रीकरण के कार्य में सुविधा हुई। फ्लाउड कमीशन (Floud Commission) के अनुसार पंजाब में एकत्रीकरण को दो कारण प्रोत्साहित करते हैं, (१) फसलें पूर्णतया सिंचाई पर निर्भर रहती हैं। अतएव जिस किसान के भूमि-खंड मिल कर एक हो जाते हैं, वहां वह एक कुआं बना लेता है, (२) वहां अर्द्ध-जमींदारी प्रथा बहुत कम है। विभाजन के बाद पंजाब में इस विषय में और भी उन्नति की जा रही है।

१९४७-४८ में पंजाब में १,५७३ सोसाइटियां थीं और उनकी सदस्य संख्या २,२०,००० थी। दिल्ली में ५३ सोसाइटियां थीं और उनकी सदस्य संख्या ७,००० थी। पंजाब के नेतृत्व का अन्य राज्यों ने अनुगमन किया। १९३९-४० में उत्तर प्रदेश में १८२ सोसाइटियां थीं, जिन्होंने ७७,६७२ पक्के बीघा भूमि को मिला कर एक किया था। माल विभाग के कर्मचारियों के भ्रष्टाचार की शिकायतों के कारण १९४७ में इस योजना का परित्याग कर दिया गया। अब उस काम को फिर हाथ में ले लिया गया है। मध्यप्रदेश में एकत्रीकरण का कार्य १९२६ से किया जा रहा है, और इसमें अच्छी उन्नति की जा चुकी है: मध्यप्रदेश के १९२८ के अधिनियम के अनुसार यदि वास्तविक भूस्वामियों की आधी संख्या, जो हस्तगत किये हुए ग्राम-क्षेत्र के कम से कम $\frac{2}{3}$ क्षेत्र के मालिक हों—इस बात की घोषणा करे कि एकत्रीकरण के पक्ष में है, तो इस दिशा में अनिवार्यता का प्रयोग किया जा सकता है।

आरम्भिक दिनों में जब लोग एकत्रीकरण और उसके लाभों से परिचित नहीं थे, बहुत होशियारी से काम करना पड़ता था। शाहीकृषि कमीशन ने लिखा है कि "राज्य को एकत्रीकरण के विषय में—जहां कहीं उसको अनुमति देने वाले अधिनियम के अधीन लागू किया गया हो—अपने को बचाते हुए कार्य करना चाहिए। जब किसी प्रकार की अनिवार्यता को लागू करना हो तो विशेष क्षेत्रों को चुन लेना चाहिए, राज्य को प्रचार कार्य करना चाहिए, वास्तविक स्थिति की जांच करनी चाहिए, और आरम्भिक चरण में उसका खर्च भी उठाना चाहिए[2]।" हम अनुभव करते हैं कि अब वह समय आ गया है, जब एकत्रीकरण के कार्य को प्रत्येक गांव में अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए। प्रचार से क्षेत्र तैयार हो जायगा, किन्तु अन्त में अनिवार्यता किसी न किसी रूप में तो करनी ही पड़ेगी।

बम्बई का १९४७ का, खंड निवारक तथा भूमि एकत्रीकरण अधिनियम इस दिशा में प्रथम ठोस चरण था। इसके अनुसार यह अधिकार दिया गया है कि वह स्थानीय दशाओं का ध्यान रखते हुए किसी ऐसे भूमि खंड के परिमाण को अनिवार्य रूप से निश्चित कर दे, जिसमें पृथक् भूमि-खंड रूप में लाभप्रद खेती की जा सकती है, और जिसे 'प्रामाणिक क्षेत्र' (Standard Area) कहा जाता है। इस प्रामाणिक क्षेत्र से कम भूमि खंड को टुकड़ा (Fragment)

1. Ibid p. 139.
2. Royal Commission Report, page 139.

कहा जायगा। किसी प्रामाणिक क्षेत्र का नोटिस निकल जाने पर सभी टुकड़ों को अधिकार-पत्रों में 'टुकड़े' लिख दिया जायगा। इस प्रकार के टुकड़ों का हस्तान्तरीकरण अथवा पट्टे पर देना तब तक नहीं हो सकता जब तक वह एक स्वीकृत सर्वे (Survey) संख्या के उपविभाग (Sub-Division) में न मिल जांय। किसी भूमि का इस प्रकार हस्तान्तरीकरण अथवा विभाजन नहीं हो सकेगा, जिससे उस भूमि के टुकड़े होते हों। उक्त अधिनियम में सरकार को यह अधिकार भी दिया गया है कि वह किसी क्षेत्र में बिखरे हुए टुकड़ों का एकत्रीकरण कर सके। पंजाब के १९४८ के अधिनियम तथा पेप्सू के १९५० के अधिनियमों का बहुत कुछ आकार बम्बई का अधिनियम है।

जमींदारी प्रथा के समाप्त हो जाने पर और भूमि को वास्तव में खेती करने वाले को दिये जाने पर इस प्रकार का कानून बनाया जाना चाहिए कि भूमियों का एक निश्चित सीमा तक पहुंचने पर विभाजन न किया जा सके। अभी तक इस कल्याण-कर व्यवस्था को सौराष्ट्र के अधिनियम में ही रखा गया है।

१२. सम्मिलित कृषि। भूमि एकत्रीकरण इन बुराइयों का कोई कार्य साधक उपचार नहीं है। यदि किसी छोटी भूमि का एकत्रीकरण कर लिया गया और उसको फिर टुकड़े होने से बचा लिया गया तो भी वह छोटी भूमि ही बनी रहेगी। यदि उसका आकार आर्थिक स्तर से कम होगा तो उसमें श्रम तथा पूंजी का दुरुपयोग होगा। इसका एक हल जो कि एक क्रांतिकारी हल है—यह है कि भूमि में व्यक्तिगत स्वामित्व को एकदम समाप्त कर दिया जाय। यह प्रस्ताव है कि संपूर्ण भूमि का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय और उस पर आधुनिकतम वैज्ञानिक यंत्रों की सहायता से कृषि की जाय और श्रमिकों को उनकी आवश्यकता के अनुसार मजदूरी दी जाय। इसको 'सम्मिलित कृषि' कहा जाता है।

देश के वर्तमान सामाजिक संगठन में यह परिवर्तन अत्यधिक क्रांतिकारी होगा। धर्म तथा प्रथा दोनों में ही भूमि के ऊपर व्यक्तिगत अधिकार को स्वीकार किया गया है और किसान के मस्तिष्क में भूमि पर अधिकार की अभिलाषा इतनी गहरी होकर घुसी हुई है कि उसे सुगमता से नहीं निकाला जा सकता।

१३. सहकारिता कृषि। सहकारिता कृषि एक ओर सम्मिलित कृषि तथा दूसरी ओर कृषक स्वामित्व के अन्दर एक समझौता है। यह भूमिमें व्यक्तिगत सम्पत्ति को समाप्त किये बिना विशाल आकार की कृषि के सभी लाभ देती है। भूस्वामिमों को सहकारिता कृषि समितियां बनाने को प्रोत्साहित किया जाता है, गांव की भूमि को कृषि के लिए मिला कर एक कर दिया जाता है किन्तु इसमें व्यक्तिगत स्वामित्व के अधिकार को कायम रखा जाता है। इस प्रकार राज्य के यंत्रों अथवा सहकारिता संस्थाओं के वैज्ञानिक यंत्रों से खेती की जा सकती है। यंत्रों का केवल बड़े-बड़े खेतों पर ही लाभप्रद रूप म उपयोग किया जा सकता है। काम के अनुसार मजदूरी दी जाती है और स्वामित्वाधिकार के लिए पृथक् प्रतिफल दिया जाता है।

भारत के विभिन्न भागों में किये हुए प्रयोगों से पता चलता है कि यहां सहकारिता कृषि के लिए बड़ा भारी क्षेत्र है। साठ लाख एकड़ कृषि योग्य बेकार भूमि को सुधारा जा रहा है। लगभग सभी राज्यों में सहकारिता के आधार पर नई-नई बस्तियां बसाई जा रही हैं। फिलस्तीन की क्वुत्जा बस्ती तथा मेक्सिको में ईजीजोस बस्ती को इन बस्तियों के लिए आदर्श बनाया जा सकता है। भूमि को पांच-पांच सौ से लेकर पन्द्रह-पन्द्रह सौ एकड़ के प्रत्येक टुकड़ों में विभाजित करके ऐसे प्रत्येक भूमिखंड में

तीस से लेकर५० परिवार तक को बसाया जा सकता है। इन बस्तियों के प्रत्येक परिवार को एक घर, एक छोटा भूमि खंड, सब्जी बोने के लिए बीज तथा एक या दो गौएं दी जानी चाहिएं। उनको फसल के उत्पादन में परामर्श देने के लिए सरकार को एक विशेषज्ञ देना चाहिए। इस भूमि को सम्मिलित रूप से मिलाकर खेती की जाय, मजदूरों को स्थिर दर से मजदूरी दी जाय, खेत की सभी सम्पत्ति सम्मिलित सम्पत्ति के रूप में रखी जाय और खर्च काट कर उसके लाभ को उनके द्वारा कमाई हुई मजदूरी के आधार पर बांट दिया जाय। सम्मिलित कृषि उन क्षेत्रों में भी की जा सकेगी जहां बहू-द्देशीय नदी योजनाएं चलाई जा रही हैं और जहां जमींदारी समाप्त की जा चुकी है। तो भी, यह सभी क्षेत्रफल भारत की समस्त कृषियोग्य भूमि का एक बहुत छोटा भाग होगा। शेष भारत में भूमि का एक बहुत बड़ा भाग अब भी व्यक्तिगत भूस्वामियों के हाथ में है। जिनके खेत छोटे-छोटे तथा आर्थिक दृष्टि से अनुत्पादक हैं, उनमें किसी न किसी प्रकार से सहयोग की अत्यधिक आवश्यकता है और इनमें अंतिम लाभ अत्यन्त स्पष्ट होगा। यह छोटे-छोटे किसान अत्यन्त पुरातनपंथी तथा अज्ञानी हैं। कांग्रेस किसान सुधार कमेटी (Congress Agrarian Reforms Committee) ने १९४९ में प्रस्ताव किया था कि इनमें व्यापक रूप से इस बात का प्रचार किया जाना चाहिए कि वह सहकारिता कृषि संस्थाएं बना लें, और राज्य उनको अच्छे बीज, खाद, खेती के यंत्र और सस्ती पूंजी देकर सहायता करे। कमेटी का कहना है कि "यदि स्वेच्छापूर्वक किये गए प्रयत्नों का उल्लेखनीय परिणाम नहीं निकलता तो फिर अनिवार्यता के लिए नियम बनाने पड़ेंगे।"

भारत सरकार ने हाल ही में अपने चार उच्चाधिकारियों को इज्राईल में सम्मिलित तथा सहकारिता कृषि की प्रगति का अध्ययन करने के लिए भेजा है। इन अधिकारियों ने वहां जांच करने के बाद यह विचार प्रकट किया है कि भारत में ऐसी कृषि का भविष्य उज्ज्वल है और वह भारत लौट कर इज्राईल की इस सफल पद्धति को अपनाने का प्रयत्न करेंगे।[1]

१४. संयुक्त ग्राम-प्रबन्ध। अभी पिछले दिनों एक और सुझाव हुआ है कि सम्मिलित रूप से प्रबन्ध किये हुए गांवों का निर्माण किया जाय। इस योजना को लेखक के शब्दों में दिया जाता है, "संयुक्त प्रबन्ध शब्द का अभिप्राय ऐसी प्रणाली से है, जिसमें स्वामित्व के अधिकारों को मानते हुए भी भूस्वामी अपनी-अपनी भूमि को प्रबन्ध के लिए मिला कर एक कर लेते हैं। इसके अन्तर्वर्ती भाव को एक साधारण उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। कल्पना करो कि हमारे पास ६० एकड़ भूमि का एक क्षेत्रफल है, जिसके मालिक दस हैं और जिनकी अपनी दो, चार, छै, आठ अथवा अधिक एकड़ भूमि है। यह हो सकता है कि इन दस आदमियों में से चार अपने-आप खेती नहीं करते, संभवत: इसलिए कि उनमें से दो किसी प्रकार की नौकरी कर रहे हैं, एक व्यापार करता है और एक अत्यन्त वृद्ध होने के कारण काम करने योग्य नहीं है। वर्तमान प्रणाली में जो लोग अपने खेतों को स्वयं नहीं जोतते, वह अपनी खेती अस्थायी काश्तकारों से करा लेते हैं। किन्तु यह व्यवहार में काफी न होने के कारण हम यह मान लेते हैं कि उस ६० एकड़ भूमि का दसों मालिक मिल कर प्रबन्ध करते हैं, किन्तु वास्तव में उस पर छः मालिक ही काम करते हैं, जो गांव में काम करने के लिए उपलब्ध हैं।

"अब उस भूमि से होने वाली आय को दो भागों में बांट दिया जाता है। काम के कारण होने वाली आय तथा स्वामित्व के कारण होने वाली आय। यही वह अन्तर

1. Tribune, dated 20th May, 1953.

है, जो अस्थायी किसान और मालिक को उसी भूमि के टुकड़े से मिलने के बीच होता है। यह विभाजन माल अथवा नकदी किसी भी रूप में हो सकता है। इस विषय में कुछ तो गांव में रिवाज बन जाते हैं और कभी-कभी मजदूरी को प्रतियोगिता से तय किया जाता है। उदाहरण के लिए, यह मान लिया जाता है कि मालिक और कृषि मजदूर अथवा बटाईदार में उत्पादन को आधा आधा कर लेने की परिपाटी चली आती है। वह छः आदमी, जो उस ६० एकड़ भूमि में अपने हाथ से खेती करते हैं, अपने श्रम के बदले में उसके उत्पादन का आधा भाग पाने के अधिकारी हैं। उत्पादन के शेष आधे भाग को भूमि के स्वामित्व के नाते यह छः तथा शेष चार पाने के अधिकारी होंगे। यदि सुविधा के लिए इस ६० एकड़ भूमि को दस-दस एकड़ के ६ भागों में बांट दिया जाता है तो प्रत्येक कार्यकर्त्ता आधा अपने द्वारा किये हुए काम का पारिश्रमिक ले लेगा और शेष आधे को सम्मिलित साझे में रखेगा। इस सम्मिलित भाग (सम्मिलित बंटाई) में से फार्म पहले भूमि की मालगुजारी देगा, फिर पूंजी लगाने के ऐसे कार्य करेगा जो सम्मिलित कृषि के लिए आवश्यक हों तथा अन्य जरूरी खर्चे निकालेगा। शेष रकम को स्वामित्व के लाभ के रूप में प्रत्येक स्वामी द्वारा फार्म को दिये हुए क्षेत्र के परिणाम के अनुसार बांट दिया जायगा।[1]

इस प्रकार अपने समस्त लाभों सहित विशाल पैमाने पर खेती करके भी भूमि का स्वामित्व बना रहेगा। "किन्तु इस प्रकार की व्यवस्था हो जाने पर स्वामित्व का यह अर्थ नहीं रहेगा कि किसी विशेष भूमि-खंड पर स्थायी भौतिक कब्जा, और न उसका यह अर्थ होगा कि भूस्वामी उसे किसी अन्य स्थायी काश्तकार को लगान पर उठा दे। उसके पुत्र किसी विशेष भूमि-खंड का बंटवारा नहीं करा सकेंगे। उनको अपने भाग से प्राप्त होने वाले लाभ को आपस में बांटने का अधिकार होगा और उस सम्मिलित प्रबन्ध वाले गांव में उनको काम करने का अधिकार होगा।"[2]

उसकी प्रबन्धकारिणी सभा में गांव के सभी परिवारों के प्रतिनिधि रहेंगे। यह सभा अन्य कार्यों के अतिरिक्त काम की इकाइयों को देगी तथा लाभ का वितरण करेगी। यह स्पष्ट है कि संयुक्त प्रबन्ध एक ऐसी सहकारिता सोसाइटी द्वारा ही किया जा सकता है, जो इसी उद्देश्य के लिए बनाई गई हो।"

---

1. Tarlok Singh—Poverty and Social Change, pp.57-8.
2. Ibid. pp. 65-66.

सातवाँ अध्याय

कृषि सम्बन्धी समस्याएँ

१. **प्रस्तावना**। हम किसान की, उसकी भूमि की कानूनी स्थिति के सम्बन्ध में तथा भूमि का छोटा आकार होने के कारण उत्पन्न होने वाली समस्याओं के सम्बन्ध में पहले ही विचार कर चुके हैं। अब हम स्वयं किसान और उसके साधनों—जैसे, भूमि यंत्रों, बीज, खाद, पशु और सिंचाई की सुविधाओं के सम्बन्ध में—जो उसे मिल सकते हैं, विचार करेंगे।

२. **कृषक**। हल के पीछे रहने वाले आदमी, स्वतः किसान की क्या स्थिति है? उसके विषय में अनेक प्रसिद्ध लेखकों ने परस्पर विरोधी विचार प्रकट किये हैं। डाक्टर वोएलकर (Dr. Voelcker) भारत में कृषि कार्य के सम्बन्ध में अपनी योग्यतापूर्ण रिपोर्ट में, "भारतीय किसान के सावधानतापूर्ण कृषिकार्य के साथ-साथ उसके कठिन श्रम, उसकी दृढ़ निश्चयता तथा उसके साधनों के उपजाऊपन की" प्रशंसा करते हैं। कृषि कमीशन ने भी यह स्वीकार किया है कि, "जिन परिस्थितियों में एक साधारण किसान काम करता है, उनमें कृषि विशेषज्ञों ने सुधार का प्रस्ताव करने के काम को एक सरल काम नहीं पाया।"[1] संभवतः इन विचारों में यह सुझाव दिया गया है कि दोष किसान का नहीं, वरन् उसके वातावरण का है। इसके विरुद्ध काल्वर्ट एक आइरिश लेखक का उदाहरण देता है, "किसी राष्ट्र की सम्पत्ति उसके पास मिलने वाले भौतिक साधनों में न होकर उसके निवासियों की शक्ति, उनके द्वारा किये जाने वाले आरंभिक और उनकी नैतिक योग्यता में होती है।"[2] इसका अर्थ यह है कि भारतीय जनता में गुण न होने के कारण वह निर्धन है।

इस विषय में तथ्य यह है कि जहां वातावरण अनुकूल होता है, भारतीय कृषक अत्यधिक साधन सम्पन्नता प्रकट करता है। किन्तु जहां वर्षा अनिश्चित होती है अथवा भूमि पर अधिकार करने के नियम दमनात्मक होते हैं, इन गुणों का लोप जैसा हो जाता है। तो भी साधारणतया हमारे किसान उन्नत देशों के भौतिक और मानसिक विकास से बहुत नीचे हैं। उनके इस पिछड़ेपन के कारण कुछ तो ऐतिहासिक और राजनीतिक तथा कुछ सामाजिक तथा जलवायु सम्बन्धी हैं। किन्तु वह सभी कारण एक-दूसरे के साथ अभिन्नता से मिले हुए हैं।

वर्तमान स्थिति के कुछ भी कारण क्यों न हों, वर्तमान तथ्यों से इंकार नहीं किया जा सकता। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय किसान का स्वास्थ्य और उसकी शक्ति ब्रिटेन तथा अमेरिका के किसान के स्वास्थ्य तथा शक्ति से कम होती है। वह अनेक रोगों का तथा महामारियों का शिकार होता है। उन रोगों से न केवल अनेक किसान मर जाते हैं, वरन् शेष जीवित रह जाने वाले शारीरिक योग्यता को भी खो बैठते हैं। जिन लोगों को सदा रोग घेरे रहते हैं, वह जड़ बुद्धि वाले और निरुत्साही हो जाते हैं। इस समस्या को सुलझाने के लिए, रोकने तथा आरोग्य करने,

---

1. Report, p. 14.

2. Calvert. op. cit. p. 47.

दोनों प्रकार के उपायों से काम लेना पड़ेगा। इस दिशा में सार्वजनिक स्वास्थ्य चिकित्सा विभाग कार्य कर रहे हैं, किन्तु उसका अधिक लाभ नागरिक क्षेत्रों को पहुंच रहा है।

इसके अतिरिक्त ग्रामीण जनता की व्यापक अशिक्षा से इंकार नहीं किया जा सकता। उनमें से केवल ८ प्रतिशत पढ़े-लिखे हैं और वह भी प्रायः नगरों में रहते हैं। हमारे कृषि विद्यालयों ने भी अनेक व्यावहारिक किसान उत्पन्न नहीं किये। हमारी शिक्षा प्रणाली में तत्काल ही एक मौलिक परिवर्तन किये जाने की आवश्यकता है, जिससे वह ऐसे व्यावहारिक व्यक्तियों का निर्माण करे, जो देश के आर्थिक विकास को उच्च-स्तर पर पहुंचा दें।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि किसान पुरातनपंथी है। उससे नये वैज्ञानिक यंत्रों अथवा खाद का प्रयोग कराने के लिए उसके सामने प्रदर्शन करके उसे विश्वास कराना पड़ेगा। अतएव अनुसंधान जो कुछ सहायता दे सकता है, उसे मिलनी चाहिए, और शिक्षा, ट्रेनिंग और राज्य की सहायता भी उसको उपलब्ध होनी चाहिए। यदि उसकी व्यक्तिगत तैयारी कुछ नहीं है तो उसकी भूमि और उसके यंत्र भी अच्छे नहीं रह सकते। पहले हमको भूमि की समस्या का अध्ययन करना चाहिए।

३. भारतीय भूमि की समस्या। हम भारत में भूमियों के मुख्य प्रकारों के सम्बन्ध में पहले ही अध्ययन कर चुके हैं। यह प्रश्न प्रायः पूछा जाता है कि क्या उसकी उपजाऊ शक्ति घट रही है। १८९३ में डाक्टर वोएलकर (Dr. Voelcker) की सम्मति थी कि भूमि की उपजाऊ शक्ति घटने की कोई निश्चित गवाही नहीं मिलती। १९२८ में कृषि के सम्बन्ध में बिठलाए हुए शाही कमीशन ने लिखा था, "हमारे सामने जो प्रयोगात्मक तथ्य उपस्थित हैं, उनसे हमारी इस धारणा की पुष्टि होती है कि जब भूमि में प्रतिवर्ष फसल बोई जायगी और जब फसल खेत से उठा लेने पर भी उसमें खाद नहीं दिया जाता तो भूमि की दशा स्थिर हो जाती है। भारत में एक संतुलन स्थापित हो गया है और कृषि की वर्तमान स्थिति में और घटी होने की संभावना नहीं है।"[1] १९३७ में सर जान रसेल (Sir John Russell) ने लिखा था, "मुझे कई अवसरों पर बतलाया गया कि चावल की उपज कम हो रही है, किन्तु इसके अच्छे अंक नहीं मिलते। कौंसिल को उचित है कि वह नमूने की सर्वे (Survey) लेने का प्रबन्ध करे।"[2] १९३९ में मध्यप्रदेश के कृषि रासायनिक राव बहादुर वाल ने अपनी सम्मति प्रकट की थी कि "भूमि अपने उपजाऊपन की स्थिर दशा में अत्यन्त निम्न स्तर पर पहुंच गई है।"

इस प्रकार सर्वसाधारण दृष्टिकोण यह है कि निश्चयात्मक तथ्य नहीं मिलते, किन्तु उपलब्ध जांच परिणामों से पता चलता है कि भारतीय भूमियां ह्रास के निम्नतम स्तर पर पहुंच गई हैं। यद्यपि उनसे प्रति वर्ष भारी फसलें ली जाती हैं, तथापि उनको खाद के रूप में बहुत कम वापिस किया जाता है।

शक्ति समाप्त होने के अतिरिक्त भूमि को दराड़ों, हानिप्रद क्षारों के उभरने अथवा पानी भर जाने से भी हानि पहुंचती है। भूमि का तल अत्यधिक वर्षा और नदियों की बाढ़ से बढ़ जाता है। भूमि कट जाने की समस्या उत्तरप्रदेश, पश्चिमी बंगाल और पूर्वी बंगाल में उत्पन्न हुई, जहां इस प्रणाली से अनेक गुफाएं भूमि में बना गईं। पर्वतों की ओर अधिक वर्षा होने से बम्बई और मध्यप्रदेश के कुछ भागों में

1. Report, p. 76.
2. Russell Report on the work of the Imperial Council of Agricultural Resrarch, p. 24.

भूमि फट गई। उत्तर प्रदेश में इस प्रकार ८० लाख एकड़ भूमि बरबाद हो गई, पंजाब में अकेले होशियापुर में ही एक लाख एकड़ भूमि कृषि के लिए बेकार हो गई। या तो भूमि का ऊपरी भाग बह गया अथवा वह बाढ़ के कारण बालू से ढक गया।

भारत सरकार ने पांच वर्ष पूर्व अमरीकन भूमि संरक्षण विशेषज्ञ डाक्टर शुहर्ट (Dr. Shuhart) की सेवाएं प्राप्त करके कुछ वैज्ञानिकों को अमरीक की भमि रीतियों का अध्ययन करने का काम दिया था। अब वह वैज्ञानिक अमरीका से वापिस आकर राज्य सरकारों को भूमि को फटने से बचाने के लिए उचित योजनाएँ बनाने का परामर्श दे रहे हैं।

भूमि कई कारणों से फट सकती है (१) वृक्षों के काट देने से, (२) उसकी हरियाली हटा देने से, जिससे वह भूमि वायु और वर्षा के लिए खुल जाती है (३) पशुओं का अनियन्त्रित रूप में चरना, विशेषकर बकरियों द्वारा। क्योंकि उससे भूमि नंगी हो जाती है। (४) पहाड़ियों पर खेती करने से।

इसके उपचार यह हैं—वृक्षों का पुनः लगाना, सीमा बांधना, किनारे बनाना, भूमि को सुधारना तथा चराई पर नियन्त्रण रखना। पंजाब सरकार ने इस बुराई का निवारण करने के लिए एक दरार विरोधी विभाग खोला है (Anti-erosion Department)। वहां एक ऐसा कानून भी है, जिसके अनुसार भूमियों को किसी विशेष ऋतु में चरने के लिए बंद किया जा सकता है। थोड़े-थोड़े अंतर पर खाइयां खोदना भी लाभदायक है। इससे पानी का बहाव रुक कर पानी वहीं जज्ब हो जाता है। इन नालियों में घास और वृक्ष लगाये जा सकते हैं। पानी का नीचे की ओर अत्यन्त वेग से बहना रोकने के लिए किसान किनारों पर छोटे छोटे बांध बना सकते हैं। उत्तर प्रदेश की सरकार मानसून के महीनों में भूमि पर खाद का काम देने वाली फली बो देती है, जिससे भूमि के ढके रहने से वह फटने से बच जाय। इस फली से भूमि का उपजाऊपन भी बढ़ता है। पंजाब का जंगलात विभाग पानी से बरबाद हुई भूमि को सुधार रहा है।

४. खादें। भूमि में उर्वरापन फिर लाने तथा बंजर भूमि से फिर काम लेने के लिए सभी प्रकार के खादों से काम लेने की बड़ी भारी आवश्यकता है। उनके सम्बन्ध में नीचे विचार किया जाता है।

(क) पशु-क्षेत्र खाद—इसमें गाय भैंस का गोबर तथा मूत्र होता है। आजकल गोमूत्र को बरबाद होने दिया जाता है और गोबर के कण्डे पाथ कर जला लिया जाता है। इसका कारण सदा ही ईंधन की कमी नहीं होती, वरन एक रिवाज जैसा पड़ गया है। इस रिवाज को बन्द करना चाहिए। जहां गोबर को अन्य ईंधन न मिलने से जलाने के काम लिया जाता है, वहां गांव वालों के लिए अन्य ईंधन का प्रबन्ध किया जाना चाहिए। सड़क तथा नहर के किनारे तथा गांव के कुछ संरक्षित प्रदेश में वृक्ष लगाने से ईंधन की समस्या बहुत कुछ हल हो सकती है।

(ख) कम्पोस्ट खाद—यह खाद सभी प्रकार के कूड़े करकट तथा घास पात को इकट्ठा करके मिलाने से बनता है। चीन में पशुओं के गोबर आदि में वनास्पति तिनके आदि मिलाकर इस प्रकार का बहुत-सा खाद तैयार किया जाता है। मनुष्यों के मल को इसमें मिलाने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में खाइयों के पायखाने खोदे जा सकते हैं।

(ग) विष्टा—विष्टा को खाद के रूप में काम लेने के लोग अभी तक भी विरोधी हैं। यद्यपि यह विरोध अब क्रमशः बहुत कम होता जा रहा है। विशेषकर ऐसे

स्थानों में, जहां यह खाद के रूप में मिल जाता है। विष्टा को वस्ती से कुछ दूरी पर गड्ढे में भिजवाना पड़ता है। केवल म्युनिसिपैलिटियां ही ऐसा कर सकती हैं। किन्तु इसको बिक्री से आमदनी इसको भेजने के खर्च से कहीं अधिक होगी। बम्बई, मद्रास, पंजाव और अन्य राज्यों ने विशेष कानून बना कर म्युनिसिपैलिटियों को यह कार्य करने के लिए विवश किया है। सेवेज (नगर की नालियों की गंदगी) तथा कीचड़ भी खाद के महत्व पूर्ण साधन हैं। कम्पोस्ट खाद के उपयोग से खाद्य पदार्थों का उत्पादन बढ़ सकता है। सरकार ने कम्पोस्ट के उत्पादन का निरीक्षण करने के लिए विशेष अफसर रखे हुए हैं। एक अखिल भारतीय कम्पोस्ट विकास कमेटी भी है।

(घ) हरे खाद—भारतीय किसान चने जैसी दालों के फसलों के महत्व को जानता है, क्योंकि यह भूमि के उपजाऊपन को वढ़ाते हैं। प्रयोगों से पता चलता है कि सन की फसल से सबसे अच्छी खाद मिलती है। दैंचा, ग्वार, वरसीम तथा मूंगफली आदि जिनकी पत्तियों को हरे खाद के रूप में जोता जा सकता है, अच्छी खाद मानी जाती है। सरकार इन वस्तुओं के बीज बांट कर इनकी खाद को प्रोत्साहित कर रही है।

(ङ.) खली—तिलहन के निर्यात से नत्रजन के एक अत्यन्त बहुमूल्य साधन को खो दिया जाता है। यदि देश में ही तेल बनाया जाय तो पशुओं के लिए भोजन तथा खेतों के लिए खाद दोनों के काम आ सकती है।

(च) रासायनिक खाद—कृषि की उन्नत प्रणाली में नाइट्रेट आफ सोडा (Nitrate of Soda), सल्फेट आफ अमोनिया (Sulphate of Ammonia) आदि से नाइट्रोजन तैयार किया जाता है। नाइट्रोजन वर्षा तथा वर्षा के जल की खाद से भी प्राप्त किया जाता है, किन्तु वह पर्याप्त नहीं होता। अतएव कृत्रिम खाद की मांग बराबर बढ़ती जाती है। यद्यपि वह अभी परिमित है। जो थोड़ा बहुत रासायनिक खाद बनाया जाता है उसे चाय उत्पादक ले लेते हैं। भारत रासायनिक खाद के परिमाण तथा प्रकार, दोनों में ही दरिद्र है। अतएव उसका आयात किया जाता है। सरकार ने बिहार में धनबाद के पास सिंद्री में रासायनिक खाद का एक बड़ा कारखाना खोला है। यह पूर्ण हो गया है और हमको साढ़े तीन लाख टन अमोनिया सल्फेट देगा।

(छ) अन्य साधन—पश्चिमी समुद्र तट पर खाद के रूप में मछली का उपयोग किया जाता है। समुद्री तट के पास समुद्री घास भी बड़े भारी परिमाण में मिल जाती है और वह एक बहुमूल्य खाद है। चावल की भूसी भी उपयोगी होती है। फलों तथा सब्जियों की वृद्धि के लिए हड्डी का आटा बहुत अच्छी खाद होता है। कसाई खानों में एकत्रित किये हुए रक्त को सुखा कर उसका चूर्ण बना लिया जाता है। वह भी एक अच्छी खाद होता है। इनके अतिरिक्त फसलों का अदल-बदल कर बोना, मिश्रित फसल तथा बंजर भूमि को पत्तों से भरना भी भूमि के उपजाऊपन की अन्य प्रणालियां हैं। भारत सरकार देश में उत्पादन बढ़ाने के लिए सभी प्रकार के खाद का प्रयोग करने पर विशेष बल दे रही है।

५. कृषि के औजार। कृषि कमीशन ने लिखा है कि, "भारत में कृषि के औजार सब मिलाकर स्थानीय परिस्थिति के अनुसार बिलकुल ठीक हैं। वह सूखे बैलों की योग्यता के अनुरूप कम खर्च वाले हल्के, चाहे जहां ले जाने योग्य तथा सुगमता से बन जाने वाले हैं। उनका सबसे बड़ा महत्त्व इसमें है कि वह सुगमता से मिल जाते

हैं[1]।" तो भी वर्तमान ज्ञान के प्रकाश में उनमें सुधार की बहुत बड़ी गुंजायश है। कृषि विभाग ने लोहे के हल, गन्ना पेरने के कोल्हू, पानी फेंकने की छोटी मशीन, पानी उठाने की मशीन, मोटर के दो पहियों वाली गाड़ियां (Barrows), जिसे गांव वाले डनलप कहते हैं, कुदाली (Hoes), बीज बोने वाला, कुट्टी काटने की मशीन (Fodder Cutters) आदि सुधरे हुए यन्त्रों को जनता में चलाया है। गन्ने के रस को पकाने की सुधरी हुई किस्म की नई भट्टियों से भी काम लिया जा रहा है। भारत में काम आने वाले समस्त औजारों की संख्या से तुलना करने पर उपयोग में आये हुए सुधरे हुए औजार बहुत कम हैं।

(१) कांस भूमि तथा दलदल भूमि के सुधार, (२) कुछ राज्यों में जमींदारी प्रथा के समाप्त कर देने, (३) तथा बहूद्देशीय योजनाओं के आरम्भ करने के परिणामस्वरूप ऐसी बड़ी-बड़ी भूमियां बनाना सम्भव हो सकेगा, जिन पर भारी मशीनों से सहकारिता आधार पर खेती की जा सकेगी। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने भारत को अमरीका से ३७५ भारी ट्रैक्टर मोल लेने के लिए एक करोड़ डालर का ऋण दिया है। इनमें से अधिकांश ट्रैक्टर आ चुके हैं और वह केन्द्रीय ट्रैक्टर संगठन द्वारा किराये के आधार पर विभिन्न राज्यों को दे दिये गये हैं।

६. उन्नत बीज। अच्छी किस्म के बीजों के महत्त्व पर जोर देने की खास आवश्यकता नहीं है। यह अनुमान लगाया गया है कि बीजों की सुधरी हुई किस्म से उपज को दस से बीस प्रतिशत तक बढ़ाया जा सकता है। दुर्भाग्यवश बीज का चुनाव विशेष सावधानी से नहीं किया जाता। अनेक मामलों में बीज के लिए रखे हुए अनाज को बोने का समय आने से पूर्व ही खाकर समाप्त कर दिया जाता है। अथवा वह बेपरवाही से रखने के कारण खराब हो जाता है। तब किसान को अन्य प्रकार का बीज बोना पड़ता है।

पिछले वर्षों में कृषि-विभाग ने किसानों को उन्नत किस्म का बीज देकर बहुत अच्छा काम किया है। ऐसी नई-नई किस्मों का निर्माण किया गया है जो रोगों का मुकाबला कर सकें। कुछ संसार भर के सबसे अच्छे गेहूं तथा चावल के बीजों को भारत में पैदा किया गया है। किसान भी उनके मूल्य को खूब समझता है। किन्तु कठिनाई यह है कि वह पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलते। समस्या है उनका अधिक उत्पादन करके उनके अधिक विभाजन की। "विभिन्न प्रान्तों में उन्नत बीजों का एकड़ों में क्षेत्रलफ १ से १० प्रतिशत तक है। मध्यप्रदेश और मद्रास दो ही ऐसे अपवाद हैं जहां प्रतिशत अनुपात २३ प्रतिशत है। इसका एकमात्र उपाय यह है कि सरकारी फार्मों की संख्या बढ़ाई जाय, जहां मुख्य बीज को अधिक उगाया जा सके। इस उद्देश्य के लिए कई राज्यों ने योजनाएं बनायी हैं। उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, बम्बई और बिहार को अपने सुधारे हुए बीज की पूर्ति १९५२ तक लगभग २५० प्रतिशत बढ़ा लेने की आशा है।

७. फसल के सामान्य तथा संक्रामक रोगों का नियन्त्रण। अधिक अच्छे बीजों की समस्या से ही पौधों के रोगों के नियन्त्रण का प्रश्न भी निकट रूप से सम्बन्धित है।

गन्ने के विषय में यह समस्या अत्यन्त गम्भीर है। १९३७ में किये हुए परीक्षण से पता चला था कि १९३७ में बिहार की गन्ना फैक्टरियों को जो गन्ना दिया गया था,

1. Agricultural Commission Report, page, 107.

उसमें से ३७ में से ५३ प्रतिशत तक रोगयुक्त था, जबकि १९३६ में दिया हुआ २० से ३५ प्रतिशत तक रोगाक्रांत था। इससे पता चलता है कि रोग फैल रहा है। यह अनुमान लगाया गया है कि कीड़ों, जंगली पशुओं तथा संक्रामक रोगों द्वारा भारतीय फसलों के समस्त उत्पादन को १० से २० प्रतिशत तक हानि होती है।[1]

इसके मुख्य उपचार यह हैं : (१) रोग के एक स्थान से दूसरे स्थान पर फैलने से रोकने के उपाय, (२) रोग को किसी एक स्थान में नियन्त्रित करने के उपाय, (३) फसलों को संक्रामक रोगों से बचाने के उपाय, और (४) पशुओं से बचाने के उपाय।

(१) प्रथम उपाय के लिए हमको रोगयुक्त पौधों के आयात को बन्द कर देना चाहिए और साथ ही भारत में रोग के प्रसार को रोका जाय। सरकार ने कृषि तथा महामारी अधिनियम (Insects and Pests Act) बनाया हुआ है, जिसमें यह व्यवस्था है कि आयात किये हुए पौधों के साथ उनका स्वास्थ्य प्रमाणमात्र भी अवश्य होना चाहिए।

देश के आन्तरिक भागों में रोग फैलने के विषय में कृषि तथा महामारी अधिनियम में इस बात की व्यवस्था की गयी है कि इसके प्रसार को रोकने के लिए अन्तर्प्रान्तीय विधान बनाने चाहिएं, किन्तु इस व्यवस्था से पूरा लाभ नहीं उठाया गया।

(२) दूसरे प्रकार के उपायों में रोग रोकने के कुछ उपाय यह हैं—भूमि की दशा को बदल देना तथा पौधों पर चूर्ण छिड़क कर, उन पर तरल पदार्थ छिड़क कर अथवा उन्हें विभिन्न प्रकार के रासायनिक पदार्थ से धूनी दी जाय।

(३) टिड्डियां तथा टिड्डे फसलों को बहुत हानि पहुंचाते हैं। इनके सन्निकट आक्रमण की सूचना समय पर दे दी जाती है।

(४) जंगली पशु खड़ी फसल को सदा ही बरबाद करते रहते हैं। इस खतरे का प्रबन्ध करने के लिए बन्दूकों के क्लब बना देने चाहिएं तथा शस्त्रों के लिए लाइसेंस स्वतन्त्रतापूर्वक दिये जाने चाहिएं। गोदाम में रखे हुए खाद्य पदार्थों को चूहे तथा घूस नष्ट कर देते हैं। इसका उपाय केवल यह है कि खाद्य रखने के गोदामों में सीमेंट का फर्श हो, उनमें वायु के आवागमन के लिए पर्याप्त रोशनदान हों और उनमें डी. डी. टी. (D.D.T.) तथा गामैक्सीन (Gammaxene) नामक रसायनिक द्रव्यों को अच्छी तरह छिड़क दिया जाए।

८. पशुधन। भूमि के अतिरिक्त कृषि का महत्वपूर्ण साधन किसान के पशु होते हैं। अपने खेत के अत्यंत छोटा होने तथा आर्थिक साधन सीमित होने के कारण किसान के लिए यंत्रों से खेती करना व्यावहारिक नहीं है। अपने खेतों को जोतने के लिए, सिंचाई करने के लिए तथा उनकी उपज एवं खाद को उठा कर ले जाने के लिए पशुओं का होना अनिवार्य है। वह केवल दूध का साधन ही नहीं हैं किन्तु अपने जीवन काल में दूध और खाद भी देते हैं और मरने पर मांस, खाल, बाल, और हड्डियां देते हैं। यह हिसाब लगाया जाता है कि यद्यपि भारतीय पशुओं का आर्थिक नियमों के प्रतिकूल शोषण किया जाता है तो भी उन से प्रति वर्ष १२६५ करोड़ रुपये

---

१. भारत सरकार के कृषि सचिवालय द्वारा १९४९ में प्रकाशित दो पर्चे। इनमें एक का नाम "Self Sufficiency in Food" तथा दूसरे का "Protect Food and Seed Grains" है।

की आय होती है। यह रकम भारत की नकद[1] फसल के कुल मूल्य से भी अधिक है। डाक्टर राइट (Dr. Wright) की सम्मति में उनसे १००० करोड़ रुपये की आय प्रतिवर्ष होती है।

भारत में पशुओं का महत्व होते हुए भी कुछ ऐसी प्रतिकूलताएं भी हैं जिन की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। प्रथम बात यह है कि भारत में आर्थिक औचित्य से अधिक संख्या में गाय-भैंसों को रखा जाता है। यह अनुमान लगाया गया है कि भारत में १९४० में १७ करोड़ ८० लाख गाय-भैंसों की संख्या १९४५ में १७ करोड़ ७० लाख हो गयी, अर्थात् पांच वर्ष में १० लाख गाय-भैंस कम हो गयीं, इसी बीच भेड़ों, बकरियां तथा अन्य पशुओं में ७० लाख की कमी हो गई अर्थात् ९० लाख ८० हजार से ९० लाख १० हजार रह गए।[2] गो-संख्या एन. आई. सी. (N. I. C.) के अनुसार १९४८-४९ में १९४५ की अपेक्षा ३ प्रतिशत कम हो गयी।

मोटे हिसाब से हमारे पास बोई हुई प्रत्येक सौ एकड़ फसल के लिए सौ गाय-भैंस हैं, हालैंड में कुल ३८ तथा मिस्र में कुल ३५ हैं। इस प्रकार भारत के पास पशुओं की अत्यधिक और बेहिसाब संख्या है। काम करने योग्य पशुओं की संख्या साढ़े पांच करोड़ से अधिक नहीं है और वही कृषि का काम चलाते हैं। इस प्रकार हम अपनी मानव जन संख्या के समान पशु जनसंख्या में भी अत्यधिक व्यर्थ का बोझा उठाये हुए हैं। इसके कारण दोनों की ही दशा गिरती जा रही है।

इस देश में पशुओं की अत्यधिक संख्या होने के विभिन्न कारण हैं। हिंदुओं में जीवहिंसा के विरुद्ध भावना इतनी प्रबल है कि वह पशु की हत्या करने की अपेक्षा उसको भूखों मार देंगे, दूसरे गाय भैंसों को अयोग्यता तथा अधिक मृत्यु संख्या के कारण किसान अपने पास अनेक पशु सुरक्षित रखता है। भारतीय पशुओं के निम्न कोटि का होने के कारण उनको गलत ढंग से पालना, उनको कम भोजन मिलना और रोग है। यह सब कारण एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। अत्यधिक पशु रखने के कारण उन सब को चारा मिलना कठिन हो जाता है, जिससे उनको पेट से कम भोजन दिया जाता है। अतएव इन तीनों समस्याओं पर ध्यान देना आवश्यक है।

९. पशुओं की नस्ल बढ़ाना। भारत के पशु चरने के लिए गांव की साधारण कृषि-भूमि तथा फसल कटे हुए खेतों में मिल कर झुण्डों में जाते हैं। इस प्रकार गौओं को घटिया किस्म के बैलों से मिलना पड़ता है और उससे नस्ल लगतार घटिया बनती जा रही है। नस्ल सुधारने के लिए गौओं को चुने हुए सांड से ही मिलने देना चाहिए। इसके साथ ही गांवों को चुने हुए अच्छे सांड भी दिये जाने चाहिएं। पशु-चिकित्सा विभाग ने अभी-अभी बधिया करने का कार्य आरम्भ किया है। गांवों को सांड देने के विषय में कृषि विभाग अधिक ध्यान दे रहा है। पंजाब के हिसार फार्म में तथा मद्रास राज्य के होसूर फार्म में इस विषय में अत्यन्त उपयोगी कार्य किया जा रहा है, जहां उच्च नस्ल के सांडों को तैयार करके सन्तान उत्पादन के लिए सस्ते मूल्य पर दिया जा रहा है।

1: Ward in Economic Problems of Modern India Vol. I., Edited by R. K. Mukerjee, P. 140.

2. Livestock Statistics—Ministry af Agriculture, January- 1950.

१०. पशुओं को खिलाना। भारतीय पशुओं को पेट भर चारा नहीं मिलता, क्योंकि (१) चारा पैदा करने के लिए पर्याप्त भूमि नहीं मिलती, (२) खिलाने की प्रणाली में चारा बहुत बरबाद होता है, दूध सूख जाने पर गौओं को तथा काम न करने वाले पशुओं को खुला छोड़ दिया जाता है कि वह बंजर भूमि में से जो कुछ मिले चर आया करें। इस समस्या को हल करने के लिए (१) बुरे पशुओं की संख्या कम कर देनी चाहिए, (२) सन्तानोत्पादन पर नियंत्रण लगाना चाहिए, तथा (३) चारा अधिक उत्पन्न किया जाय, तो भी हमारी अधिक खाद्यान्न, पटसन, तथा रुई की आवश्यकताओं के कारण यह संभव है कि चारे का उत्पादन अधिक न किया जा सके, इसलिए मिस्र की बरसीम नामक घास तथा अन्य अत्यधिक उत्पन्न होने वाली घासों का उत्पादन अपने खेतों में करके चारे को बढ़ाया जा सकता है, उपलब्ध चारे को अस्तबल में नांदों में खिला कर बचाया जा सकता है, घटिया तिनकों की कुट्टी बनाई जा सकती है, घास को सुखा कर गोदाम में रखा जा सकता है, तथा मशीन से उसकी कुट्टी काटी जा सकती है।

११. पशुओं के रोग। भारतीय पशुओं में समय-समय पर मुंह तथा पैरों के रोगों के अतिरिक्त अन्य महामारियां भी फैलती रहती हैं। उनका कारण उनकी कम जीवनशक्ति, अस्वास्थ्यकर रहने की जगहें तथा पीने के पानी का गंदा होना है। इस कार्य के लिए रोग को रोकने तथा उसकी चिकित्सा, दोनों प्रकार के ही कार्य करने होंगे। सफाई शिक्षा से हो सकती है और प्रचार ग्रमीण उन्नति की साधारण योजना का एक भाग है। इंजेक्शन देकर रोग रोकने के उपायों को भी आजमाया गया है। इसमें दो प्रधान बाधाएं हैं, एक धन की कमी तथा दूसरी गांव वालों का दकियानूसीपन—यद्यपि इसमें अब कुछ कमी होती जा रही है, चिकित्सा की समस्या को हल करने के लिए अनेक स्थानों पर पशुओं के अस्पताल काम कर रहे हैं और भ्रमणशील कार्यकर्ता गांव में जा-जा कर चिकित्सा करते हैं, किन्तु ऐसे अस्पतालों की संख्या बहुत कम है। अतएव हम यह कह कर निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भारत को आज अधिक पशुओं की आवश्यकता नहीं, वरन् अच्छे पशुओं की है।

आठवाँ अध्याय

कृषि मज़दूर

१. इस समस्या का महत्व। प्रकृति शासन विज्ञान (Physiocracy) के नेता क्वेसने (Quesnay) ने एक बार कहा था, "निर्धन किसान, निर्धन राजा निर्धन देश।" यह बात भले ही सब देशों के विषय में सत्य न हो, किन्तु भारत के विषय में, जहां, ७० प्रतिशत व्यक्ति कृषि में लगे हुए होने पर भी वह अपने देश की आवश्यकता पूर्ण करने के योग्य उत्पादन नहीं कर पाते—यह निश्चय से ठीक है।

पहले भारत सरकार औद्योगिक मजदूरों पर अधिक ध्यान दिया करती थी और कृषि मजदूर की प्रायः उपेक्षा किया करती थी। इसके परिणामस्वरूप भूमिहीन मजदूरों की दशा अत्यन्त दयनीय हो गई है। भारत के स्वतंत्र होने के बाद भारत सरकार की निद्रा भंग हो गई है। वह ग्रामीण भारत में कृषि मजदूरों की मजदूरी को नियमित करने की भारी आवश्यकाता का अनुभव कर रही है। अब कानून तथा अन्य साधनों द्वारा मजदूरों की दशा को सुधारने का यत्न किया जा रहा है। समस्या वास्तव में अत्यन्त आवश्यक है और इस पर सभी दृष्टिकोण से विचार किये जाने की आवश्यकता है।

यहां अधिकृत रूप से मालूम किया गया है कि आज समस्त भारत में १६ करोड़ मजदूर हैं। इनमें शिल्पकार, छोटी-छोटी भूमि के किसान, अस्थायी काश्तकार और बिना भूमि के कृषि मजदूर हैं। इनमें कम से कम ६ करोड़ ८० लाख कृषि मजदूर हैं।[1] यह बात चिंता की है कि यह संख्या बराबर बढ़ रही है।

२. कृषि मजदूरों के भेद। कृषि मजदूरों को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। (क) खेत में काम करने वाले—जैसे खेत काटनेवाले, हल चलाने वाले आदि, (ख) साधारण मजदूर, जैसे कुंआं खोदने वाले या अन्य छोटे-छोटे काम करने वाले और (ग) अभ्यस्त मजदूर जैसे राज, बढ़ई, लुहार, आदि। फिर कुछ के पास भूमि के बहुत छोटे-छोटे टुकड़े भी हैं। उनकी दशा भूमिहीन मजदूरों से भी गई-बीती हैं। अपने जीवन यापन के लिए उनको भी कभी-कभी मिलते रहने वाले छोटे-छोटे काम करने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त यह ऐसे किसान हैं, जो अस्थायी रूप से भूमि को किराये पर लेकर जोतते हैं। वह भूमि के मालिक के साथ फसल को बांट लेते हैं और 'बटाईदार' कहे जाते हैं। भूमि के लिए प्रतियोगिता के कारण उनको भूमि के लिए अत्यधिक किराया देना पड़ता है। अतएव वे कम मजदूरी पाने वाले मजदूरों से अधिक अच्छी दशा में नहीं हैं। उनमें बालक मजदूरों तथा महिला मजदूरों का भी अत्यधिक प्रतिशत अनुपात है। यह अनुपात प्रत्येक प्रान्त में भिन्न भिन्न प्रकार का है। पंजाब में यह प्रति १००० में ११५ तथा उड़ीसा में ४११ हैं।

३. पगार की दरें तथा उसके चुकाने की प्रणालियां। कृषि मजदूरों के विषय में विश्वास योग्य अंक नहीं मिलते। इनकी मजदूरी नकद में न होकर जिन्स में होने तथा उसके साथ कुछ अतिरिक्त सुविधाएं होने के कारण, जो प्रत्येक स्थान में भिन्न प्रकार की हैं, उनकी मजदूरी का नकदी में हिसाब लगाना अत्यन्त कठिन है। इस विषय में डाक्टर

---

१. अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ का १९४४ का अनुमान।

आर० के० मुकर्जी ने अंकों को एकत्रित करने में बहुत अच्छा काम किया है। प्रायः देखने में आया है कि खेतिहर मजदूरों को उनकी सेवा के लिए जिंस के रूप में मजदूरी दी जाती है। वह कुछ अन्य देनदारियों के अतिरिक्त जो परम्परा से निश्चित है, फसल का एक भाग पाते हैं। द्वितीय महायुद्ध के समय मजदूरियां बढ़ जाने पर भी खेतिहर मजदूरों को मूल्य बढ़ जाने के कारण अत्यधिक हानि उठानी पड़ी। जांच करने से यह पता चला है कि जहां मजदूरी जिंस में दी जाती है, उसकी नकद कीमत का तखमीना नहीं लिया जा सकता। किन्तु जहां नकदी में दी जाती है, वहां वह नीचे लिखे प्रकार से दी जाती है।

खेतिहर मजदूरों के दैनिक पगार[1]

राज्य	मनुष्य	स्त्री	बच्चा
आसाम	२—०—० से २—२—०	१—१२—० से १—१२—७	१—४—०
बिहार	१—०—४ सें २—०—११	०—१२—६ से १—३—०	०—१२—६ से ०—१५—२
बम्बई	०—१४—३ से २—२—५	०—१०—२ से ०—१०—७	०—७—९ से ०—१०—८
मध्य प्रदेश	०—६—० से ०—१२—०	०—७—६ से ०—९—६	०—७—२ से ०—९—०
मद्रास	०—१३—८ से ०—१४—८	०—८—० से ०—१३—७	०—७—११ से ०—९—७
पंजाब	२—९—७ से २—१०—७	२—२—७	उपलब्ध नहीं
उत्तर प्रदेश	१—२—१ से १—३—४	०—१२—११ से ०—१३—१	०—१०—३ से ०—११—०

१. यह आंकड़े भारतीय श्रम वार्षिक पुस्तक १९४९-५० से लिये गये हैं

श्रम सचिवालय ने मद्रास, मैसूर और बिहार के कृषि मजदूरों की दशा के सम्बन्ध में तीन रिपोर्टें प्रकाशित की हैं। इन मजदूरों के परिवार समस्त योगफल में से १५ प्रतिशत से लगा कर ३८ प्रतिशत तक हैं। प्रत्येक दशा में उनका खर्च उनकी आय से अधिक है। उनकी आय का एक बड़ा भाग भोजन पर खर्च हो जाता है, जो परिमाण और प्रमाण, दोनों की दृष्टि से घटिया होता है। इनमें से अधिकांश ऋणी हैं।

उपरोक्त तालिका से विदित हो जाता है कि खेतिहर मजदूरों की पगारें किसी भी दृष्टिकोण से संतोषजनक नहीं। केवल यही नहीं, इन बेचारे मजदूरों को एक वर्ष में काफी समय बेरोजगार रहना पड़ता है। पंजाब का दृष्टान्त देते हुए कालवर्ट साहिब लिखते हैं कि वहां एक औसत कृषक एक वर्ष में २५० दिनों से अधिक श्रम नहीं करता। ऐसे समय जब कि कोई काम नहीं होता मजदूर लोग ऋण लेकर अपनी गुजर करते हैं।

४. न्यूनतम पगार अधिनियम १९४८। इस अधिनियम में यह व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक राज्य सरकार इस अधिनियम के पास होने के तीन वर्ष[1] के अन्दर-अन्दर अपने-अपने यहां कृषि मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी तय कर दे। अतएव १९४९ में लगभग २००० गांवों में कृषि मजदूरों की दशा का पता लगाने के लिए जांच का कार्य किया गया। किसान सुधार कमेटी (Agrarian Reforms Committee) ने भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के लिए स्थानीय न्यूनतम मजदूरी तय करने के लिए पगार बोर्ड (Wages Boards) बनाने का प्रस्ताव किया है। इस प्रकार के बोर्डों में मालिक और मजदूरों दोनों का प्रतिनिधित्व होगा। उनको किसानों तथा मजदूरों के जीवनमान का अध्ययन करना चाहिए।

भारत के मजदूरों के तथ्यों को एकत्रित करने के कार्य की गुरुता के अतिरिक्त उनके निरीक्षण तथा जांच करने की भी समस्या है। कृषि मजदूर पूर्णतया असंगठित हैं और गांवों में बिखरे हुए हैं इसलिए इस समस्या को हल करना और भी कठिन है। अतएव कुछ अर्थशास्त्रियों का सुझाव है कि हमारा तात्कालिक कार्य यह है कि कृषि को एक लाभकर व्यवसाय बनाया जाय और श्रमिकों को स्वामियों तथा मनुष्यों के सामूहिक लाभ के लिए संगठित किया जाय न कि न्यूनतम मजदूरी अधिनियम को ग्रामीण क्षेत्रों में लागू किया जाय। तो भी सरकार ने कृषि मजदूरों की दशा सुधारने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया है। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि दिल्ली राज्य में कृषि मजदूर की न्यूनतम मजदूरी १–४–० से लेकर २–०–० तक निश्चित की गई है।

५. काम के घंटों का नियमन। काम के घंटे स्थान-स्थान पर पृथक्-पृथक् ऋतु में और यहां तक कि प्रत्येक फसल में भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, और न कृषि मजदूर को पूरे वर्ष भर काम ही करना पड़ता है। तो भी उसका खेत पर काम करने का दिन बहुत लम्बा होता है। औद्योगिक मजदूरों को यह लाभ है कि उसके काम के घंटे कानून द्वारा निश्चित कर दिये जाते हैं। कृषि मजदूरों को यह सुविधा देने के लिए कुछ भी नहीं किया गया है। उसके घंटे खेत बोते तथा काटते समय अत्यन्त लम्बे होते हैं, किन्तु काम इतना कठिन नहीं होता। किसान सुधार कमेटी (Agrarian Reforms Committee) का प्रस्ताव है कि एक दिन मनुष्यों के लिए १२ घंटे से और

---

१. यह अवधि अब बढ़ा दी गई है। अब राज्यों की सरकारों को न्यूनतम पगारें ३१ दिसंबर, १९५३ तक नियत करनी होंगी।

स्त्रियों के लिए १० घंटे से अधिक नहीं बढ़ना चाहिए और यदि वह आठ घंटे से बढ़ें तो उनको अतिरिक्त मजदूरी दी जानी चाहिए।

६. **किसान दास-प्रथा**। डाक्टर मुकर्जी एक प्रकार के भूमि मजदूर के विषय में कहते हैं, जिसको कभी नकद मजदूरी नहीं मिलती और जो कभी दासों से अच्छे नहीं रहते। बम्बई में कोली लोग, मद्रास में पुलेयान, बिहार में काम्या, उड़ीसा में चाकर, मध्य-प्रदेश में शलकारी उसी प्रकार के हैं। उनको उनका मालिक व्यावहारिक रूप में मोल ले लेता है। बम्बई के हाली लोग भी इनसे कुछ अच्छे नहीं होते। उनको सामान्यतः खाद्यान्न का थोड़ा राशन दिया जाता है। कभी-कभी उनको गाय भैंस के गोबर में से अनाज चुनने की अनुमति दे दी जाती है। वह अन्न को धोकर अपने काम में ले आते हैं और गोबर मालिक के जलाने के काम के लिए छोड़ देते हैं। अन्य मामलों में हाली अपने मालिक का जीवन भर दास रहता है, जो उसके लिए एक पत्नी को भी मोल लेकर देता है। इन श्रमिकों में से कुछ बेगार करते हैं। इस बुराई से पंजाब भी खाली नहीं है। राज्यों में, जहां, अर्द्ध सामन्त-प्रथा है, यह बुराई और भी बुरे रूप में है। गांव वालों को अपने जमींदार को कुछ दिन तक बेगार देनी पड़ती है, नकद नजराना देना पड़ता है और अपनी मुर्गियों, बकरियों, तथा अन्य घरेलू पशुओं का एक भाग मुफ्त में देना पड़ता है।

७. **श्रमिकों का संगठन—एकमात्र उपाय**। किसान सुधार कमेटी ने प्रस्ताव किया है कि सुयोजनाबद्ध कृषि विधान के साथ-साथ देश भर में श्रमिकों का एक संगठन होना चाहिए। इस संगठन का उद्देश्य यह प्रचार करना होना चाहिए कि "उस विशाल जनसंख्या को अर्द्ध मानव के उस स्तर से ऊपर उठाया जाय, जिसमें यह कुछ स्थानों में इतना गिर गई है कि वह घोंघे, चूहे तथा गोबर से चुने हुए अन्न के दाने खाकर गुजारा करती है।" अमीर किसानों को मजदूरों का भविष्य में शोषण न करने दिया जाय। इन दोनों के स्वार्थों की टक्कर को उन सुसंगठित कृषि मजदूरों के यूनियनों (संघों) द्वारा रोकना चाहिए जो सहकारिता की प्रणाली पर सहकारिता की भावना में काम करेंगे, अन्यथा संघर्ष अनिवार्य है और उससे शीघ्र या देर में रक्तपात होगा।

श्रम संगठनों के मार्ग में बाधाएं। विशाल क्षेत्रों में फैले हुए कृषिमजदूरों की विशाल संख्या को यूनियनों के रूप में संगठित करना सुगम काम नहीं है। उनका अज्ञान तथा उनकी निरक्षरता कठिनाई को और भी बढ़ाती है। उनमें से अनेक दलित जातियों के हैं। यद्यपि उनके पुनरुत्थान के लिए बहुत कुछ किया गया है किन्तु वह अभी तक समाज के नीच वर्ग में गिने जाते हैं। राजनीतिक कार्यकर्त्ता अभी तक औद्योगिक क्षेत्रों में ही लगे हुए हैं। इसके अतिरिक्त गांवों में मजदूरों की मांग कभी-कभी और वह भी मौसम पर ही होती है। वह अधिक कार्य का बहुत थोड़ा समय होता है और उसके बीच के समय में कोई भी काम नहीं होता। किसान सभाओं ने भी खेतिहर मजदूरों की अभी तक उपेक्षा ही की है। अतएव उनके सम्बन्ध में कोई अंक नहीं मिलते और ना ही कोई सुलझे हुए विचार मिलते हैं।

अतएव इस कठिनाई को सुलझाने के लिए किसान मजदूर को संगठित करने के साथ-साथ बिना भूमि के मजदूरों को काम देने के लिए निम्न-प्रकार की योजना अप-नानी चाहिए।

१. कृषि मजदूरों को लगातार काम देने के लिए फसलों को अदल-बदल करने तथा मिश्रित खेती की प्रणाली को अपनाना चाहिए।

२. काम तथा मजदूरों को एक साथ लाने के लिए ग्रामीण श्रम नियोजन संगठनों (Rural Labour Exchanges) की स्थापना करनी चाहिए ।

३. कृषि से सम्बन्ध रखने वाले उद्योगों—उदाहरणार्थ दुग्धशालाओं, तेल निकालने के कारखाने, सब्जी तथा फल लगाने तथा टीनों में भरने के कामों को गांवों में खोलना चाहिए ।

४. बड़ी-बड़ी घास वाली और ऊसर भूमियों को सुधारने का काम करना चाहिए, जिससे श्रमिकों को स्थिर किया जा सके ।

५. महिला श्रमिकों को घरेलू काम के लिए सुरक्षित रखा जाना चाहिए अथवा उनसे कोई हल्का काम लेना चाहिए, जिसके लिए वह विशेष रूप से उपयुक्त हों ।

नौवाँ अध्याय

सिंचाई

१. सिंचाई का महत्व। यह हो सकता है कि भूमि, बीज और खाद सभी अच्छे हों, खेती, औजार और पशु भी अच्छे हों, किन्तु बिना उचित और नियमित पानी मिले खेती अनिश्चत होती है। जहां वर्षा समय पर और पर्याप्त नहीं होती, वहां कृत्रिम सिंचाई कृषि-कार्यों के लिए अनिवार्य होती है।

भारत में सब मिला कर प्रति वर्ष ४५ इंच वर्षा होती है, किन्तु इसमें स्थानीय विभिन्नताओं पर ध्यान रखना पड़ता है। उदाहरणार्थ, पश्चिमी राजस्थान में वर्ष भर में कुल १९ इंच वर्षा होती है, किन्तु उत्तर प्रदेश में पर्वतों के नीचे के इलाकों में १०० इंच तक वर्षा होती है। इसके अतिरिक्त वर्षा ऋतु के द्वारा विषम रूप से विभक्त कर दी जाती है। मद्रास के अतिरिक्त शेष भारत में अधिकांश वर्षा जून से लेकर अक्तूबर तक होती है। वर्ष का शेष भाग अत्यन्त सूखा होता है। तीसरे, कभी कभी वर्षा बहुत कम होती है तथा लगभग सूखा पड़ जाता है। इस प्रकार रेलों तथा नहरों के युग से पूर्व "देश में कभी-कभी भयंकर अकाल पड़ते रहते थे और अनेक वर्षों में बड़े भारी इलाकों में जनता को अभाव का सामना करना पड़ता था।"[१]

२. सिंचाई किया जाने वाला क्षेत्र। अविभक्त भारत में समस्त कृषि क्षेत्र २९ करोड़ ८० लाख एकड़ में से ७ करोड़ २० लाख एकड़ सिंचाई वाले क्षेत्र थे, अर्थात् समस्त कृषि क्षेत्र के २४ प्रतिशत भाग में सिचाई होती थी। विभाजन के बाद भारत के पास २५ करोड़ १० लाख एकड़ कृषि भूमि में से ४ करोड़ ८० लाख एकड़ अर्थात् १९ प्रतिशत सिंचाई क्षेत्र ही रह गया। आज (१९५१) में ५ करोड़ भूमि की सिंचाई की जाती है। इसमें लगभग १८ प्रतिशत में वर्ष में दो-दो फसलें ली जाती हैं। विभिन्न राज्यों में सिंचाई का महत्व भिन्न-भिन्न प्रकार का है जैसा कि नीचे दी गई तालिका[२] से प्रगट है।

सिंचाई क्षेत्रफल (१९४९-५०)

राज्य	कुल सिंचित क्षेत्रफल (हजार रोकड़ों)
१. आसाम	१०८२
२. बिहार	४२८०
३. बम्बई	१७६०
४. मध्य प्रदेश	२६८६
५. मदरास	१०,०७०
६. उड़ीसा	१६०५
७. पंजाब	५८४६
८. उत्तर प्रदेश	१०,८०३
९. पश्चिमी बंगाल	२३१३

1. Sir Bernard Barley in Economic Problems of Modern India, op. cit., p. 148, also India Year Book, 1944-45, p. 288.

२. यह आंकड़े पंच-वर्षीय योजना से लिये गये हैं। देखिये पृष्ठ, ३७३

३. **सिंचाई कार्यों के भेद**—भारत में सिंचाई कार्यों के तीन मुख्य भेद हैं—(क) कुएं, (ख) तालाब, और (ग) नहरें।

१९५० में कुल साढ़े सत्ताईस करोड़ क्षेत्रफल में से साढ़े पांच करोड़ एकड़ में सिंचाई होती थी। यह क्षेत्र विभिन्न प्रकार के सिंचाई कार्यों में इस प्रकार विभक्त था :—

सिंचित क्षेत्र (१० लाख एकड़ों में)

नहरों द्वारा	तालाबों द्वारा	कुओं द्वारा	अन्य साधनों द्वारा	समस्त क्षेत्रफल
२८	६	१४	७	५५

(क) **कुओं द्वारा सिंचाई—ऊपरी भाग के कुएँ**—भारत में लगभग २५ लाख कुएं हैं और उनमें कुल १०० करोड़ रुपये की पूंजी लगी हुई है। भारत में पंजाब, उत्तर प्रदेश, मद्रास और बम्बई राज्य कुओं की सिंचाई के लिए प्रसिद्ध हैं। कुएं प्रायः व्यक्तिगत होते हैं किंतु सरकार भी तकावी ऋण[1] देकर उनके बनाने में सहायता करती है। साथ ही वह इस प्रकार सुधारी हुई भूमि पर मालगुजारी की वृद्धि को अस्थायी रूप से स्थगित कर देती है। 'अधिक अन्न उपजाओ' आंदोलन के अनुसार १९४४ से लेकर १९४७ तक ७२,००० कुएं बनवाये गए। अगले दो वर्षों में ५९००० नये कुएं बनवाये गए। औसत रूप से एक कुआं ५ एकड़ भूमि को सींच सकता है और प्रति कुएं पर एक टन खाद्य का अतिरिक्त उत्पादन होता है। ऊपरी भाग के कुओं में यह सुविधा होती है कि उनको देश के अन्दर उपलब्ध सामग्री से ही बनवाया जा सकता है।

नलीदार कुएँ या ट्यूबवेल—१९४८ में सरकार ने दो अमरीकन विशेषज्ञों की सेवाएं यह विचार करने के लिए प्राप्त कीं कि फसलों को नलीदार कुओं से एकड़ों के परिमाण के आधार पर सबसे अच्छी तरह किस प्रकार जल दिया जा सकता है।

उन्होंने अपनी रिपोर्ट में कहा कि पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा बिहार में नलीदार कुओं के विकास के लिए बड़ी भारी गुंजाइश है। अतएव सरकार ने ६००० नलीदार कुएं बनाने की योजना बनाई। इस मार्ग में सबसे बड़ी कठिनाई बिजली की कमी की थी, जिसको उत्पन्न करने के लिए अनेक योजनाएं भारत में चल रही हैं। एक नलीदार कुआं ६० फुट से ले कर ५०० फुट तक गहरा जाता है। उसको विशेष यंत्रों से ही बनाया जा सकता है। वह एक घंटे में ३३,००० गैलन पानी खींचता है और लगभग ५०० एकड़ भूमि को सींच सकता है।

(ख) **तालाब**—जबकि कुएं व्यक्तियों के ही होते हैं, तालाब प्रायः सदा ही राज्य के होते हैं। पंजाब के बाहर वह लगभग सभी प्रान्तों में मिलते हैं। मद्रास में वह सबसे अधिक संख्या में ३५,००० हैं। वह सभी प्रकार के आकार के होते हैं। वह बड़ी-बड़ी झीलों से लेकर—जो नदी के तल में उसके आरपार

१. यह ऋण भूमि सुधार ऋण अधिनियम (Land Improvement Loans Act of 1883) के अनुसार दिये जाते हैं। इस अधिनियम के अनुसार स्वीकृत प्रार्थियों को ६ प्रतिशत ब्याज पर (बम्बई में पांच प्रतिशत) ऋण दिये जाते हैं, इसकी वसूली सरल किश्तों में ७ से ३० वर्ष तक के समय में की जाती है।

बड़े ऊंचे बांध बनाकर तैयार की जाती है—गांव की छोटी तलैया तक के आकार के होते हैं। अनेक तालाब अत्यन्त प्राचीन काल के बने हुए हैं तथा अनेक पट गए हैं। जहां नहर बनाना संभव नहीं होता वहां यह बड़े उपयोगी होते हैं, किन्तु उनके लगातार साफ किये जाते रहने की आवश्यकता है।

(ग) **नहरें**—वर्तमान समय में सिंचाई का सबसे अधिक महत्वपूर्ण रूप है। कुछ थोड़े से अपवाद को छोड़ कर उन सबको सरकार ने ही बनाया है और वही उनका खर्चा चला रही हैं। वह साधारणतया दो प्रकार की होती हैं—बारह-मासी तथा बाढ़ की। बारहमासी नहरों से पूरे वर्ष भर जल मिलते रहने का विश्वास रहता है, किन्तु बाढ़ की नहरों से केवल बाढ़ के दिनों में ही जल मिलता है। एक तीसरे प्रकार की—बांध की नहरें—भी होती हैं। उनको किसी घाटी के आर-पार बांध बना कर वर्षा के दिनों में बरसाती पानी को एकत्रित करके बनाया जाता है। फिर इस जल से वर्ष के सूखे दिनों में भूमि- सींचने का काम लिया जाता है। इस प्रकार की नहरें दक्षिण तथा मध्यभारत में हैं।

४. **विभाजन से पूर्व सिंचाई**। भारत के पास जल के साधन अत्यन्त विस्तीर्ण हैं। एक विश्वस्त गणना से पता चला है कि समुद्र को बह कर जाने वाले जल में से कुल ६ प्रतिशत जल का ही उपयोग सिंचाई के लिए किया जाता है। यद्यपि प्रत्येक स्थान की परिस्थितियां अलग-अलग होती हैं, तो भी यह कहा जा सकता है कि सिंचाई के विकास की संभावना सब कहीं है।

प्राचीन काल में भी, यद्यपि आधुनिक प्रणालियों का उपयोग नहीं किया जाता था, तथापि भारत में बड़ी बड़ी नहरें थीं। पूर्वी जमना नहर, पश्चिमी जमना नहर, गंगा नहर और कावेरी तथा किस्टना डेलटाओं की सभी नहरें प्राचीन नहरें हैं। पंजाब में एक प्राचीन हसली नहर थी। वह सब गत शताब्दी में बेकार हो गयी थीं। उनकी मरम्मत करवा कर उनको उपयोग लायक बनाया गया है। कुछ व्यक्तिगत कंपनियों ने इस दिशा में कार्य करने का यत्न किया, किन्तु वह असफल रहीं और उन्होंने सरकार के लिए मैदान छोड़ दिया। ऋण लिये गए और १८८० से लेकर १९०० तक अत्यन्त विशाल आकार की पांच सिंचाई की नहरें बनायी गयी थीं। इसमें पंजाब में सरहिंद नहर, उत्तर प्रदेश में गंगा की नीची नहर तथा आगरा नहरें तथा उपनिवेश नहरें थीं, जो अब पाकिस्तान में चली गयी हैं। १८७७-७८ के अकाल से रक्षा करने के लिए अकाल रक्षा बीमा फंड की आधी रकम सिंचाई की नहरें बनाने में लगा दी गई। इस योजना के अधीन उत्तर प्रदेश में बेतवा नहर, मद्रास में ऋषिकुल्या योजना, और नीरा तथा परियार नहर प्रणालियों जैसे महत्व-पूर्ण जलाशय बनाये गये। इनको बम्बई राज्य के बांधों द्वारा बनाई हुई झीलों से पानी मिलता था। १९०३ में भारतीय सिंचाई कमीशन के प्रस्तावों के फलस्वरुप अनेक नई योजनाओं को बना कर पूर्ण किया गया, उनमें पंजाब की तीन नहरें (जो अब पाकिस्तान में हैं) और बिहार की त्रिवेणी नहरें बनायी गईं।

१९१९ के राजनीतिक सुधारों के बाद सिंचाई प्रान्तीय विषय हो गया है और प्रान्तीय सरकारों ने इसमें अधिक दिलचस्पी ली। उन पर अनुमानित व्यय ५० लाख रुपए से अधिक होने की दशा में भारत सरकार से खर्च की स्वीकृति लेनी पड़ती थी। रकम उधार ली जा सकती थी और अनेक नई योजनाएं, जैसे पंजाब में सतलुज घाटी और सक्खर बांध, अवध में शारदा नहर योजना और मद्रास-कावेरी-मेत्तू योजनाओं को चालू किया गया।

५. विभाजन के बाद सिंचाई । भारत के विभाजन के बाद सरकार ने अन्न का उत्पादन बढ़ाने के लिए सिंचाई की भारी आवश्यकता को अनुभव किया है। इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए अनेक छोटी तथा बड़ी सिंचाई योजनाओं को हाथ में ले लिया गया है। सबसे बड़ी बाधा यंत्रों की कमी है। इन सब, एक उद्देश्य वाली तथा बहूद्देश्यी योजनाओं की संख्या १७० है। इन सबके पूर्ण हो जाने पर और भी अढ़ाई करोड़ एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी।

मद्रास ने सिंचाई की अत्यन्त विशाल योजना आरम्भ कर दी है। उसने उसको तीन वर्गों में विभाजित किया है : (क) अल्पकालीन योजना—पांच करोड़ रुपये की लागत से ४ लाख एकड़ भूमि को सींचने के लिए है, (ख) मध्य आकार की योजना में ३० करोड़ रुपये की लागत से ५ लाख एकड़ भूमि को सींचा जाएगा, (ग) बड़ी योजना में ७८ करोड़ रुपये की लागत से ३० लाख एकड़ भूमि में नहरें बनाई जाएंगी। इन योजनाओं में तुंगभद्रा नदी तथा रामपद सागर के बांध भी सम्मिलित हैं।

उत्तर प्रदेश ने भी कुछ अत्यन्त उपयोगी योजनाओं को हाथ में लिया है। वहां बिजली पैदा करने के लिए अनेक नये बांध, बिजलीघर तथा नदियां बनाई जांयगी। इस बिजली से नलीदार कुएं (ट्यूबवैल) चलाये जाएंगे। इनमें पीपरी बांध और बिजलीघर अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। रिहंद नदी के आरपार एक २८० फुट ऊंचा बांध सवा सोलह करोड़ रुपये की लागत से बनाया जायगा। यह ४० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करेगा। इससे बाढ़ नियंत्रण, मत्स्यपालन, नौका संचरण तथा आमोद-प्रमोद की सुविधाओं का अतिरिक्त लाभ होगा। नायर नदी पर बनाये जाने वाले नायर बांध से २,३८,००० एकड़ की विशाल भूमि को सींचने के अतिरिक्त इससे दस एकड़ भूमि के सिंचाई साधन अधिक विकसित हो जांयगे। रामगंगा योजना से बिजली मिलने के अतिरिक्त ८ लाख एकड़ भूमि सींची जायगी। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक योजनाओं की भी मंजूरी दी गई है।

पश्चिमी बंगाल ने दामोदर घाटी बांध योजना को अपने हाथ में लिये हुआ है। इससे किसानों की आय प्रति वर्ष ६ करोड़ रुपये और बढ़ जायगी। इसमें मूरा-के ही नदी पर एक बांध बनाया जायगा। इससे ६ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक छोटी-छोटी योजनाएं भी हाथ में ली गयी हैं।

बिहार में सब से अधिक महत्वपूर्ण योजना कोसी बहूद्देशीय योजना है। इस से सिंचाई, बिजली, नौका, संचरण, बाढ़ नियंत्रण, पानी भरी भूमि का सुधार तथा मत्स्यपालन आदि अनेक काम होंगे। इसमें २० करोड़ रुपये लगेंगे और २० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी। इससे १·८ लाख किलोवाट सस्ती बिजली भी मिलेगी। गंडक घाटी योजना एक नदी पर बांध बना कर सारन जिले की ६ लाख एकड़ तथा मुंगेर जिले की ५०,००० एकड़ भूमि को सींचा जायगा। बिहार ने बिजली के पम्प लगाकर पानी ऊपर उठाने की अनेक योजनाएं भी अपने हाथ में ले रखी हैं।

बम्बई के पास मेशवा नदी तथा माही नदी योजनाएं तथा वरदला तालाब योजना, गंगापुर बांध योजना, अशोक ताल योजनाएं हैं। इन पर कुल खर्च ३४ करोड़ रुपया बैठेगा और इनसे ७,६०,००० एकड़ भूमि की सिंचाई होगी।

मध्य प्रदेश चार करोड़ रुपये की लागत से ११ योजनाओं को अपने हाथ में ले रहा

बन जायगा। इस योजना को सब से अधिक प्राथमिकता दी गई है। इसके १९५४ तक समाप्त होने की आशा है। उसमें कुल व्यय ४८ करोड़ रुपये होगा।

(ग) भाकरा और नांगल योजनाएं—नांगल योजना से भाकरा को बिजली दी जायगी। इसमें सतलुज नदी के आरपार नांगल में भाकरा से ८ मील नीचे बांध बनाया जायगा। यह बांध १,०२९ फुट लम्बा, ४०० फुट चौड़ा होगा। इसका तल नदी तल से ५० फुट नीचे होगा। इस तल के ऊपर १०,००० क्यूसेक (Cusecs) योग्यता की नहरों को धाराएं दो बिजलीघरों को जायगी। यह दोनों बिजलीघर ९८ फुट के झरने से चलेंगे और ८०,००० किलोवाट बिजली उत्पन्न करेंगे।

भाकरा में भाकरा पर बीच के संकुचित मार्ग के आरपार ६८० फुट ऊंचा एक बांध बना कर एक ५६ मील लम्बा तालाब बनाया गायगा। इसमें ७४ लाख धन फुट पानी आ सकेगा अर्थात् इसमें से प्रति सैकिंड में ६,६०० क्यूसेक (Cusces) उन २७० दिनों तक छोड़े जा सकेंगे जो वर्ष का सूखा भाग होता है। इस सिंचाई प्रणाली में २०० मील लम्बी नहर तथा उसकी विभाजक शाखाएं होंगी, जो ४५ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई करेंगी। इस योजना से चार लाख किलोवाट बिजली बनेगी। उसमें कुल खर्चा १३३ करोड़ रुपये लगेगा, जिसमें से २१ करोड़ रुपये खर्च भी हो चुके हैं। ७७ करोड़ रुपया १९५६ तक खर्च होगा और और शेष बाद में खर्च होगा। इस योजना से प्रतिवर्ष निम्नलिखित उत्पादन का अनुमान किया गया है।

खाद्य पदार्थ ११ लाख ३० हजार टन, दर ५०० रुपया प्रति टन। कुल मूल्य ५६ करोड़ रुपये। लम्बे रेशे की कपास की ८ लाख गांठें, भाव ४०० रुपये प्रति गांठ, कुल मूल्य ३२ करोड़ रुपये। योग फल ८८ करोड़ रुपये।

इन योजनाओं के पूर्ण होने पर पंजाब की आर्थिक समस्याएं हल हो जायँगी।

७. सरकार की सिंचाई नीति। भारत अपने जल-साधनों के विषय में अत्यन्त भाग्यशाली है, किन्तु अभी तक उनमें से ६ प्रतिशत से अधिक का उपयोग नहीं किया जा सका है। शेष जल बेकार जाता है। बड़े-बड़े क्षेत्रफल वीरान पड़े हैं। अनेक क्षेत्रों में पानी की कमी के कारण फसल अच्छी नहीं होती। इसके अतिरिक्त कुल लगाई हुई पन-बिजली की शक्ति पांच लाख किलोवाट से अधिक नहीं है, जबकि उसमें से चार करोड़ किलोवाट बिजली ली जा सकती है।

ब्रिटिश शासकों ने भारत के उत्पादन साधनों का उपयोग करने का अधिक प्रयत्न नहीं किया। अंत में अब हमारे यहां राष्ट्रीय सरकार बन गई, जो सिंचाई तथा पन-बिजली योजनाओं को अत्यधिक प्राथमिकता दे रही है।

भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सभी योजनाओं के व्यय का संयुक्त योगफल ७३४ करोड़ रुपया है। इसमें से १४४ करोड़ रुपया मार्च १९५१ तक खर्च किया जा चुका है। ४५० करोड़ रुपया अगले पांच वर्षों में १९५६ तक खर्च किया जायगा और शेष १४० करोड़ रुपया बाद में खर्चा जायगा। इन योजनाओं से ८८ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होगी। पांचवें वर्ष में ११ लाख किलोवाट बिजली का अतिरिक्त उत्पादन होगा।

८. सिंचाई के खतरे। बड़ी-बड़ी सिंचाई योजनाएं विशुद्ध वरदान ही सिद्ध नहीं हुई हैं। पंजाब (पाकिस्तान) तथा बम्बई के कुछ इलाकों में भूमि में पानी भर जाने तथा रेह बढ़ आने से न केवल भूमि बिगड़ गई है वरन् वह स्थान अस्वास्थ्यकर भी हो गए

हैं। इस प्रकार भूमि का बड़ा भारी भाग कृषि के योग्य नहीं रहा। इसका कारण भूमि के अन्दर पानी के स्तर का ऊपर आ जाना है। उसके प्रभाव भूमि पर निम्न प्रकार से देखने में आते हैं। (१) इससे कृषि भूमि में पानी भर जाता है। अत्यधिक पानी भर जाने से झील भी बन जाती है, (२) भूमि की ऊपरी तह में खार जमा हो जाते हैं, जिन्हें थुर या खार भी कहते हैं।

प्रोफेसर बृजनारायण के अनुसार इस खतरे का निम्नलिखित चरणों में पता हो जाता है —

(१) एक दो वर्ष तक बरानी फसलें अत्यधिक अच्छी होती हैं, (२) तीसरे वर्ष ऐसे प्रभावित क्षेत्रों में कल्लर दिखलाई देने लगता है, जहां बीज नहीं उगता, (३) उत्पादन कम होने लगता है और पानी के क्षेत्र फैलने लगते हैं, (४) नहर के समीप के क्षेत्रों में जंग लगे हुए रंग का पानी भर जाता है, (५) पानी का स्तर भूमि के समीप तक बढ़ जाता है, (६) आबादी के मकान फट-फटकर टूटने लगते हैं, (७) आबादी में एक दुर्गन्ध फैल जाती है और पीने के पानी का स्वाद कच्चा[1] हो जाता है।

जल के भूमि की ऊपरी सतह के अन्दर आ जाने पर भूमि के खाद भी उसके ऊपरी भाग में आ जाते हैं। नहरें इस संकट को दो प्रकार से लाती हैं। वह पानी-निकास की नालियों को काटती हुई निकलती हैं और इस कारण वर्षा या बाढ़ के पानी का अधिक जमाव हो जाता है। दूसरे, उनके कारण उसका जल लंब रूप में सोखा जाता है और अन्ततः सिमने के स्तर तक जा पहुँचता है।

इसके उपचार साधारणतया यह बतलाये गए हैं: (क) पानी को नलीदार कुओं या सिंचाई के अन्य साधनों द्वारा खींचा जाय, (ख) नहरों की तली कंकरीट की बनाई जाय किन्तु इससे वितरण की शाखाओं को उन्नत नहीं किया जा सकता, (ग) अवरुद्ध पानी-निकासों को खोलना। संभव है इसमें सारी नहर को ही दुबारा बनाना पड़े। (घ) नहरों से सिंचाई न करा कर कुओं से सिंचाई कराई जाय। इसमें बहुत खर्चा लगता है। यह तभी ठीक रहता है जब खतरा बिल्कुल सामने हो। (ङ) अति सिंचाई न की जाय। नहरों से पानी लेने की वर्त्तमान प्रथा में सिंचाई आवश्यकता से अधिक हो जाती है। सिंचाई-कर उपयोग किये हुए जल के परिमाण के अनुसार नहीं लगाया जाता, वरन् उत्पन्न की हुई फसल पर लगाया जाता है। जल की बिक्री परिमाण के अनुसार करने से किसान पानी का व्यर्थ व्यय नहीं करेंगे।

1. Brij Narain—Indian Economic Life; p. 383.

दसवाँ अध्याय

कृषि-उपज की बिक्री

१. **समस्या का रूप**। बहुत समय नहीं हुआ, जब भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था स्वावलम्बी थी। जो कुछ पैदा होता था, वह गांव में या उसके आसपास ही खप जाता था। बिक्री की कोई समस्या नहीं थी। किन्तु अब स्थिति बदल गई है। गांव के अतिरिक्त उत्पादन को दूर के बाजारों में बेचा जाता है, और इस प्रकार प्राप्त की हुई रकम से विदेशी माल खरीदा जाता है। इस प्रकार किसान की आर्थिक स्थिति उस रकम पर निर्भर करती है, जो वह अपने अतिरिक्त उत्पादन को बेच कर प्राप्त कर सकने में समर्थ होगा। मूल्यों के ऊपर उसका लेशमात्र भी नियंत्रण नहीं है, जो संसार में पूर्ति तथा मांग के व्यापक अंगों द्वारा निश्चित की जाती है। यदि उसके उत्पादन को ठीक हाथ में दिया जाय, उसके तथा उसके उपभोक्ता के बीच के बिचवैयों के लाभ को कम कर दिया जाय तो उसको अपनी बिक्री से कुछ अधिक मिल सकता है। यह तभी हो सकता है जब किसान के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर कर दिया जाय। किसान को प्रत्येक स्थान में बाधाएं हैं। उसके कार्यों का ऋतु-सम्बन्धी तथा बिखरा हुआ रूप और प्रकृति पर उसको निर्भरता भारतीय किसान की बाधाएं हैं। इसके अतिरिक्त, उसका अज्ञान, पुरातनपंथी, पूंजी का अभाव, यतायात के त्रुटिपूर्ण साधन तथा अन्य बाधाएं हैं। हम अब विक्रेता के रूप में किसान की इनमें से कुछ बाधाओं और उन्हें दूर करने के उपायों के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

उसकी सबसे बड़ी बाधा यह है कि उसको अपने उत्पादन को प्रतिकूल स्थान, प्रतिकूल समय में तथा प्रतिकूल शर्तों पर बेचना पड़ता है।

२. **वर्तमान प्रणाली**। (१) **गांवों में बिक्री**—प्रत्येक वर्ष में बिकने वाली. उपज का अनुपात प्रत्येक व्यक्ति तथा स्थान के विषय में भिन्न होता है। खाद्य फसलों की अपेक्षा व्यापारिक फसलों का 'आधिक्य' (Surplus) अधिक बिकता है। धनी किसान अधिक अनुपात में अंत में बेच सकते हैं। किन्तु वह फसल के समय में थोड़ा परिमाण बेचेंगे। निर्धन किसान सरकार के प्रति अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण करने तथा सर-कार का कर्जा चुकाने के लिए अपने निजी खर्च को काट कर भी अपनी पर्याप्त उपज को बेच देता है।

कृषि-उपज का जो भाग गांव तथा बाजार में बिकता है, उसके अनुपात के सम्बन्ध में कुछ सूचना उपलब्ध है। यह अनुपात लगाया गया है कि ६० प्रतिशत गेहूं, ३५ प्रतिशत कपास तथा ७० प्रतिशत तिलहन (तेल के बीज) पंजाब के गांवों में ही बिक जाते हैं।[1]

उत्तर प्रदेश में ८० प्रतिशत गेहूं, ४० प्रतिशत कपास तथा ७५ प्रतिशत तिलहन गांव में बेच दिया जाता है। बिहार, उड़ीसा और बंगाल में ८५ प्रतिशत तिलहन तथा

1. Hussain—Marketing of Agricultural Produce in Northern India, page 96.

९० प्रतिशत पटसन को गांवों में ही बेच दिया जाता है[१]। "किसानों के ऋणग्रस्त होने अथवा अपने छोटे-छोटे खेतों पर अल्प परिमाण में खेती करने के कारण बाजार में उनकी उपज का अनुपात गांव की अपेक्षा कम जाता है।" संवाहन के कारण भी बाजार में बेचे जाने वाला अनुपात कम होता है।

गांव में उपज का जो भाग खेती न करने वाले उपभोक्ता के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के मध्य श्रेणी वालों को बेचा जाता है, और उन्हीं के द्वारा यह दूरवर्ती उपभोक्ता-केंद्रों में पहुंचता है। यह मध्य श्रेणी वाले या तो गाँव के बनिये या फेरीवाले व्यापारी[२] होते हैं, जो या तो स्वयं अपने लिये मोल लेते हैं अथवा किसी छोटे कस्बे के आड़ती के प्रतिनिधि के रूप में, किन्तु जहां किसान की गर्दन महाजन के हाथ में फंसी होती है, वह अपनी उप्ज को स्वतन्त्रता से नहीं बेच सकता। तब ऋणी को धनी के हाथ उसकी शर्तों पर अपना माल बेचना पड़ता है। प्रत्येक दशा में यह तथ्य है कि यदि किसान अपने माल को बाजार में ले जाने के बजाय गांव में ही बेचता है तो उसको मूल्य बहुत कम मिलता है। किन्तु उसे बाजार तक ले जाने के लिए गाड़ी तथा अच्छी सड़कों की आवश्यकता है।

(२) **गाँव से बाजार को ले जाना**—"संवाहन साधन प्रायः अत्यन्त कम और खराब होते हैं, उनके कारण न केवल ले जाने का खर्चा बढ़ जाता है, वरन् उनके कारण माल बेचने में छोटे-छोटे व्यापारी तथा बिचवैयों की संख्या अधिक होती जाती है। वह कृषि उत्पादन को बाजार में सस्ते किराये पर जल्दी लाकर बाजार में बाधा भी उपस्थित करते हैं।[3] यह कठिनाइयां पहाड़ी जिलों में और भी अधिक बढ़ जाती है, जहां किसान अनाज के व्यापारी की दया पर ही निर्भर रहता है, क्योंकि माल की ढुलाई करने योग्य पशुओं की संख्या उसी के पास होती है। कभी-कभी वह २० प्रतिशत मूल्य तो किराये में ही वसूल कर लेता है, चाहे भले ही बाजार १५ मील के अन्दर-अन्दर ही हो।[४]

कृषि उत्पादन को मंडी तक बैल गाड़ियों, ऊंट गाड़ियों या जानवरों पर लाद कर ले जाया जाता है। विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रणालियों से काम लिया जाता है। बंगाल में तथा दक्षिण के समुद्री किनारों के मैदानों में नदी यातायात अब भी महत्वपूर्ण बना हुआ है। उत्तरी भारत में गाड़ी तथा लद्दू पशुओं से प्रायः काम लिया जाता है, मोटर ट्रक का भी उपयोग किया जाने लगा है।

(३) **मंडी**—बहुत कम मंडियाँ संगठित हैं, अधिकतर मंडियां असंगठित हैं और पुराने ढंग की हैं, उनमें बिक्री या हिसाब के लिए कोई विशेष नियम नहीं हैं। वहां स्थायी कार्यकर्त्ता नहीं होते। वह बहुत छोटी मंडियां होती हैं, जहां केवल **आड़तिया** होता है, जो वहां से माल खरीद कर कुछ बड़ी मंडी में बड़े **आड़तिया** के पास भेज देता है, बड़ा आड़तिया प्रायः छोटे आड़तिया की पूंजी से सहायता करता है।

---

१. गांव के बाजार दो प्रकार के होते हैं, (१) गांवों में कभी-कभी लगने वाली पैंठ, यह या तो सप्ताह में दोबार या पन्द्रह दिन में लगती है, इसमें फेरीवाले गांव की उपज बेचते हैं। (२) बड़े-बड़े मेले, जो कभी-कभी किसी धार्मिक अवसर पर होते हैं।

२. यह फेरीवाले मध्य श्रेणी वाले विभिन्न राज्यों में विभिन्न नामों से पुकारे जाते हैं जैसें पंजाब में ब्योपारी और मध्य प्रदेश में बंजारा आदि।

3. Mukerjee—Economic Problems of Modern India, Vol. I. page 295.

4. Nanavati and Anjaria—Indian Rural Problem, p: 36.

जिन स्थानों में मंडी योग्य उत्पादन गेहूं कपास, गन्ना तथा पटसन अधिक पैदा होते हैं, उनके पास संगठित मंडियां बन गई हैं। इस प्रकार के स्थानों में विशेष प्रकार की फसलें होती हैं और मूल्यों का निर्धारण दूर की मंडियों के चालू मूल्य के अनुसार किया जाता है। ऐसा प्रायः वहीं होता है जिन क्षेत्रों में यातायात की सुविधाएं होती हैं। "इन बड़ी-बड़ी मंडियों में थोक आड़तिया दिखलाई देता है और अनाज के सौदों में सहायता करता है। वह गांव के बनिये या व्यापारी को इस शर्त पर पूंजी देता है कि आस-पास की उपज उसके पास फसल के समय नियमित रूप से पहुंचाई जायगी। बड़े-बड़े नगरों तथा सराफों तथा निर्यात फर्मों के कमीशन एजेंटों का काम भी करता है।"[1]

थोक आड़तिये को **पक्का आड़तिया** भी कहते हैं। वह कच्चे आड़तिया से बिल्कुल भिन्न होता है। कच्चा आड़तिया गांव के किसानों, बनियों, तथा व्यापारियों का एजेंट होता है। **पक्का आड़तिया** किसान विक्रेता के साथ कभी भी सीधा सोदा नहीं करता। **आड़तिये** के अतिरिक्त कुछ बिचवैये और भी होते हैं, जिन्हें 'दलाल' कहा जाता है।

मंडियों में सौदे प्रायः इस प्रकार के होते हैं, "व्यापारी अथवा बेचने वाला अपना माल एक ऐसे आड़तिये या दलाल को सौंप देता है, जो मोल लेने वाले की ओर से काम करता है। दोनों आड़तिये अपने-अपने हाथ एक कपड़े के अन्दर डालते हैं और एक दूसरे की उंगली को पकड़ने का यत्न करते हैं। सौदा प्रायः आने के विषय में किया जाता है, क्योंकि रुपयों के सोदे के विषय में कोई मतभेद नहीं होता। इस प्रकार कपड़े के अन्दर तब तक सौदा होता रहता है जब तक वह या तो तय न हो जाय अथवा टूट न जाय। उसके पश्चात् तय की हुई कीमत बेचने वाले को बतला दी जाती है।"[2]

कभी-कभी उपज को सब के बीच में नीलाम कर दिया जाता है। कच्चे आड़तिया का स्थान लेने वाली सहकारिता दुकानें मंडियों में बहुत कम हैं। सौदा समाप्त होते ही कच्चा आड़तिया बेचने वाले को मूल्य चुका देता है, यद्यपि उसको मोल लेने वाले पक्के आड़तिये से तुरन्त मूल्य नहीं मिलता। उन आड़तियों के द्वारा यह उपज खुदरा व्यापारियों, मिलों और निर्यातकों तक जाती है।

३. वर्तमान प्रणाली की त्रुटियां। भारत में माल बेचने की वर्तमान प्रणाली की मुख्य त्रुटियां यह हैं—(१) उत्पादन की किस्म का अच्छा न होना, (२) यातायात की अपर्याप्त सुविधाएं, (३) बिचवैयों की संख्या का बढ़ते जाना, (४) माल को गोदाम में रखने की सुविधाओं का अभाव, (५) बाजार की धोखाधड़ी। अब उनके विषय में विचार कर उनके उपचारों के सम्बन्ध में भी विचार किया जायगा।

(१) उत्पादन की किस्म का अच्छा न होना—यद्यपि गत कुछ वर्षों में स्थिति में कुछ सुधार हुआ है। तथापि भारतीय उत्पादन की विदेशी बाजारों में ख्याति अच्छी नहीं है। उत्पादन की किस्म के अच्छा न होने के कारण यह हैं। (क) बेपरवाही से चुने हुए बीज, (ख) प्राकृतिक आपत्तियां, जैसे रोग, महामारियां, सूखा, अति वर्षा आदि (ग) फसल काटने का बाबा आदम के जमाने का तरीका, जिस से अनाज में कंकर मिट्टी भर जाती है, (घ) गोदाम ठीक तौर से रखे जाने की सुविधाओं का अभाव, जिससे अनाज वर्षा, धूल तथा चूहों के लिए खुला रह जाता है (ङ) जानबूझ कर मिलावट करना और पानी छिड़कना, (च) वर्गीकरण का अभाव।

---

1. Ibid., op. cit.

2. Hussain—op. cit., p. 103.

भारत के समस्त क्षेत्रफल के ९० प्रतिशत भाग में अब भी घटिया किस्म का बीज बोया जाता है। रोगों तथा महामारियों की समस्या की ओर भी अभी तक अधिकांश रूप में ध्यान नहीं दिया गया है, फसल काटने की प्रणाली प्राचीन काल से ही दोषपूर्ण चली आ रही है। जब तक फसल मशीन से न काटी जायगी, यह प्रणाली ऐसी ही रहेगी। गोदामों की सुविधा बढ़ाने की दिशा में अभी बहुत थोड़ा काम किया गया है। किसान ऐसे गोदाम बनाने के लिए अत्यन्त निर्धन हैं जिन पर सीलन तथा चूहों का बस न चले। किस्म के घटिया होने का कारण कुछ तो बेईमानी है और कुछ निर्यात के लिए नियत किये मान का निम्न होना है। अतएव बेचने वाला अच्छी किस्म के माल को घटिया बना कर बेचता है। कपास में मिलावट को रोकने के लिए पग उठाये जा चुके हैं। इस प्रकार के कानून अन्य उत्पादनों के विषय में भी बनाये बिना उनकी किस्म को नहीं सुधारा जा सकता।

(२) **वर्गीकरण तथा चिह्न बनाना**—१९३७ का कृषि उत्पादन (वर्गीकरण तथा चिह्न बनाना) अधिनियम (Agricutural Produce Grading and Marking Act of 1937) जब से पास हुआ है, तब से वर्गीकरण तथा प्रमाणीकरण की दशा में कुछ निश्चित काम हुआ है। इस अधिनियम के अनुसार विश्वस्त व्यापारियों को लाइसेन्स देकर उन को अधिकार दिया जाता है कि वह सरकारी मार्केटिंग कर्मचारियों के निरीक्षण में कृषि उत्पादनों का वर्गीकरण करें। तब ऐसे उत्पादन पर 'आगमार्क' का लेबल लगा कर बाजार में बिकने को भेज दिया जाता है। आगमार्क के अधीन १९४७ में १० करोड़ रुपये के, १९४८ में १२ करोड़ रुपये तथा १९४९ में १३ करोड़ रुपये के उत्पादन बेचे गए। इनमें तम्बाकू, घी तथा सन को अधिक ख्याति मिली।[1]

(३) **यातायात की सुविधाएं**—शाही कृषि कमीशन ने लिखा है कि "गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विश्व की इतनी अधिक उन्नति होने पर भी भारत को रेलों तथा सड़कों के विषय में अब भी एक पिछड़ा हुआ देश समझा जाता है।" भारत में प्रति सौ वर्ग मील में कुल २·८ मील रेल लाइन ही है, जब कि ब्रिटेन में २२·७ मील तथा अमरीका में ८·३ मील हैं। इसके अतिरिक्त भारत में माल के किराये की दर भी कृषि उत्पादनों को बाहर भेजे जाने को अनुत्साहित करती है।

भारत अन्य देशों की तुलना में सड़कों के विषय में भी दरिद्र ही है। उसमें प्रति सौ वर्ग मील में कुल २० मील सड़कें हैं, जब कि ब्रिटेन में २०७, जापान में ३९९ तथा अमरीका में १०१ मील सड़कें हैं। कच्ची सड़कें गर्मियों में धूल वाली तथा ऊंची-नीची और बरसात में कीचड़ तथा दलदल से भर जाती हैं। इसलिए यदि गांव वाला अपने उत्पादन को अपने गांव में ही बेचता है, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। विनाशकारी प्रतियोगिता से बचाने के लिए सड़क तथा रेल सर्विस का ठीक-ठीक सहयोग होना आवश्यक है।

(४) **बिक्री-सम्बन्धी सूचना**—बिक्री के समाचार मिलते रहने का आरम्भ कर दिया गया है। आकाशवाणी के स्टेशनों से कुछ वस्तुओं के बाजार भावों को प्रतिदिन सुनाया जाता है। किन्तु रेडियो सुनने के यंत्र देश में पर्याप्त नहीं हैं। सरकार के मार्केटिंग अफसरों को मुख्य बाजारों के मूल्य मालूम करके उन्हें गांव के बाजारों में भेजना चाहिए।

(५) **बिचवैयों की अधिकता**—किसान तथा उपभोक्ता के बीच में बिचवैयों

---

1. The Indian Year Book, 1951, p. 259,

की बड़ी भारी संख्या है। हम देख चुके हैं कि व्यापारी, कच्चा आड़तिया, दलाल, पक्का आड़तिया, थोक व्यापारी तथा खुदरा बेचने वाला सभी कमा रहे हैं। संभव है, उनकी संख्या इससे भी अधिक हो। उनमें से प्रत्येक को अपना-अपना पारितोषिक मिलता है। यदि इनमें से कुछ को कम किया जा सके तो बिक्री-खर्च कम होकर उसका लाभ उत्पादक और उपभोक्ता दोनों को मिले। उनमें से कुछ तो बिलकुल बेकार हैं जैसे **दलाल**। यदि किसान अपनी उपज को स्वयं बड़ी मंडी में ले जा सके तो व्यापारी को भी दूर किया जा सकता है। क्योंकि **कच्चे आड़तिये** के स्थान पर सहकारी दूकान खोली जा सकती है, किन्तु उसको पूर्णतया मिटाया नहीं जा सकता। **पक्का आड़तिया** तथा थोक में मोल लेने वाले अब भी प्रायः एक व्यक्ति ही होते हैं। गांव की सहकारिता सोसाइटी के द्वारा बिक्री करने से उपभोक्ता के पास सीधे पहुंचा जा सकता है।

(६) स्टोर तथा गोदामों की सुविधाएं—सुरक्षित आर्थिक स्थिति न होने के कारण किसान फसल काटते ही अपनी उपज को बेच डालता है। जितना उसको अपने उपयोग तथा बीज के लिए चाहिए, उसको पास रखकर शेष को वह बेच देता है। अतएव वह स्टोर या गोदाम बनाने का खर्च करना व्यर्थ समझता है। वह प्रायः मिट्टी के बड़े-बड़े बर्तनों में, थैलों में अथवा भूमि के नीचे खत्तियों में, जहां पानी का स्तर ऊंचा नहीं होता, अनाज का संग्रह कर लेता है। भूमि के नीचे के गोदामों में सफेद चींटियों, चूहों तथा नमी से बरबादी होती है। बड़े-बड़े बाजारों में उत्पादन को कोठों में रखा जाता है। इस माल को अधिक समय तक रखने के लिए **खत्तियों** तथा **कोठों** की अपेक्षा संग्रह करने के लिए अधिक उत्तम साधन होने चाहिएं। यदि ऊंची जगह पर सीमेंट के गोदाम बनवा कर उनमें अनाज रखा जाय तो बैंकों द्वारा उस पर धन देने की प्रथा अधिक चल पड़ेगी। महत्वपूर्ण **मंडियों** में लाईसेंस वाले गोदामों का होना आवश्यक है। इस प्रकार के गोदाम बनाने के लिए सरकार को सहायता करना आवश्यक है। केवल बम्बई, मध्य प्रदेश, ट्रावन्कोर-कोचीन, और मद्रास राज्यों में गोदाम बनाने के अधिनियम बन चुके हैं। गांवों में सहकारिता समितियां अपने सदस्यों के लिए गोदाम बना सकती हैं।

(७) धोखा-धड़ी के कार्य—वर्तमान प्रणाली की एक और कमी है। अनेक प्रकार की ऐसी धोखाधड़ी, जिससे किसान-विक्रेता से उसके विक्रय मूल्य के कुछ भागों को ठग लिया जाता है। यह प्रणाली सुसंगठित मंडियों तक में है। इनमें से कुछ कार्य यह हैं। (क) **आड़तिया** और **दलाल** बेचने वाले तथा मोल लेने वाले दोनों की ओर से काम करते हैं, (ख) पर्दे के अन्दर मूल्य तय करना, (ग) गलत तोलना और (घ) अनेक प्रकार के शुल्क।

(क) **कुछ लोग बेचने वाले तथा मोल लेने वाले दोनों की ओर से काम करते** हैं और दोनों से अपना कमीशन लेते हैं। इस प्रकार किसान के स्वत्व को बाधा पहुंचती है।

(ख) **पर्दे के अन्दर मूल्य तय करना**—हम देख चुके हैं कि आड़तिये लोग किस प्रकार मूल्य तय करते हैं। बेचने वालों को तब तक पता नहीं चलता जब तक मूल्य तय नहीं हो जाता। इससे उसको विश्वास नहीं होता। क्योंकि दोनों आड़तिये एक ही मंडी के होते हैं। मूल्य को खुले आम तय करना चाहिए।

(ग) गलत तोलना—देश में अनेक प्रकार के बाट तथा नाप प्रचलित हैं। कभी-कभी उसी बाजार में दो प्रकार के बाटों से काम लिया जाता है—एक मोल लेने के लिए, तथा दूसरा बेचने के लिए। बाटों का एक मान निश्चित करने के लिए विभिन्न प्रान्तों में कई अधिनियम पास किये गए हैं। किन्तु वह बुराई तब भी नहीं मिटी। केन्द्रीय विधान

मंडल (Central Legislature) ने १९३९ में एक बाटों का मान निर्धारण अधिनियम (Standards of Weight Act) पास किया था, जिससे सभी प्रान्त एक से बाटों तथा नापों से काम ले सकें। इससे बाजार में कुछ अच्छी स्थिति हो गई और उससे उत्पादन तथा उपभोक्ता दोनों को लाभ हुआ, किन्तु जिन क्षेत्रों में यह अधिनियम लागू है,, वहां भी अभी बहुत कुछ काम करना बाकी है।

(घ) **बाजार के शुल्क**— भारत में वर्तमान विक्रय प्रणाली की सबसे बड़ी बुराई है बेचने वाले पर अनेक प्रकार के शुल्कों का लगाया जाना। गेहूं के लिए समस्त प्रतिशत शुल्कों की दर अलग-अलग है, जैसे—पंजाब में १।≡) २ से लेकर उत्तर प्रदेश में ३।) १ और मध्य प्रदेश में ३।॥) २ तक। इन्हीं प्रान्तों में मोल लेने वाला १॥=)।, १=) ८ तथा ।-) देता है। यह शुल्क ऊंचा है और बेचने वाले को मोल लेने वाले की अपेक्षा सदा अधिक देना पड़ता है।

यह शुल्क कमीशन, पल्लेदारों, तुलाई, इनाम, धर्मादा (मंदिर या गोशाला-के लिए) आदि का योगफल होते हैं। बेचने वाला यदि सहकारिता दुकानों द्वारा बेचे तो वह उनमें से कम से कम आधे शुल्कों को बचा सकता है। बेचने वाले को माल लेने वाले के नौकर, उसके दलाल और उसके दानकार्यों के लिए क्यों देना चाहिए? व्यर्थ के शुल्कों को गैर-कानूनी बनाकर अन्य शुल्कों में एकरूपता उत्पन्न करनी चाहिए। नियमित बाजारों में इस उद्देश्य को प्राप्त करने के यत्न किये गए हैं। किसान को नगर-प्रवेश कर (Octroi duties) या चुंगी, मार्ग से अन्त्य कर (Terminal taxes) और मार्ग कर (Toll tax) भी देने पड़ते हैं। गेहूं रिपोर्ट (Wheat report) के अनुसार यह कभी-कभी समस्त उत्पादन के ४ अथवा ५ प्रतिशत तक होते हैं।

४. नियमबद्ध मंडियां। किसान को वर्तमान प्रणाली की बुराइयों से बचाने के लिए साधारणतया दो सुधारों का प्रस्ताव किया जाता है। उनमें से एक है, बम्बई के नमूने पर नियमबद्ध मंडियों की स्थापना तथा दूसरा है सहकारिता संस्थाओं द्वारा उनके माल की बिक्री। इन दोनों सुझावों को पहले ही किसी न किसी मात्रा में कार्यरूप में परिणत किया जा चुका है।

नियमबद्ध मण्डी सबसे प्रथम १८९७ में बरार में कपास के लिए खोली गई थी। कृषि कमीशन ने सुझाव दिया था कि इसी प्रकार की मंडियां अन्य क्षेत्रों में भी खोली जांय। बम्बई ने एक अधिक विस्तृत कानून—बम्बई कृषि उत्पादन मंडी अधिनियम (Bombay Agricultural Produce Markets Act) बनाया था। हैदराबाद राज्य, मद्रास, मध्यप्रदेश, मैसूर तथा पंजाब में भी उसी प्रकार के कानून १९३९ में बनाए गए थे। अपने मूल रूप में यह सभी कानून एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं। इन अधिनियमों की मुख्य बातें यह हैं :—

(क) प्रत्येक मंडी में मंडी का प्रबन्ध करने तथा वहां ईमानदारी से काम कराने के लिए उस मंडी के क्षेत्र में एक मंडी कमेटी बनाई जायगी। उस कमेटी में फसल उत्पन्न करने वालों, कमीशन एजेंटों (आड़तियों) तथा व्यापारियों के प्रतिनिधि होंगे। इन लोगों का निर्वाचन सरकार उन नामों में से करेगी, जो उस कार्य के लिए उसे बाजार के व्यापारी तथा जिला बोर्डों के सदस्य लोग देंगे।

(ख) यह मंडी-कमेटी मंडी के विभिन्न कार्यों तथा शुल्कों का मान निश्चित करेगी, प्रामाणिक बातों की खोज करेगी, इस बात की देखभाल करेगी कि एक दलाल बेचने वाले तथा मोल लेने वाले का प्रतिनिधित्व न करे और ईमानदारी से काम करने का प्रबन्ध करेगी। झगड़ा होने पर यह पंच निर्णय की सुविधा भी देगी।

(ग) इस अधिनियम में दलालों को लाइसैंस देने तथा बाटों के सम्बन्ध में व्यवस्था की गई है। इसमें कानून भंग करने वालों के लिए दण्ड का विधान भी किया गया है।

इन अधिनियमों के अन्तर्गत किसानों को पर्याप्त लाभ हुआ है और मंडियों में बिक्री सम्बन्धी परिस्थितियां सुधर गई हैं।

५. सहकारिता बिक्री। सहकारिता बिक्री के अनेक लाभ बतलाए जाते हैं, जैसे अधिक बिक्री, स्थिर उत्पादन, आवश्यकता की वस्तुओं का नियंत्रित रूप से बराबर मिलते रहना, उत्पादनों की सौदा करने की शक्ति का बढ़ जाना, खर्चा घट जाना, अधिक अच्छा काम देना, खेती में लागत लगाने के लिए ज्यादा पूंजी मिल सकना, इत्यादि। भारत में सहकारिता बिक्री आरंभिक चरण से निकल कर आग बढ़ रही है। अनेक राज्यों ने बिक्री करने के संघ बनाए हैं, मद्रास में धान की बिक्री करने वाली सोसाइटियां, उत्तर प्रदेश में घी यूनियन तथा गन्ना बेचने की कमेटियां (Cane Marketing Societies) तथा बम्बई में रुई बेचने वाली सोसाइटियां इस विषय में उल्लेखनीय है। वह न केवलअपने सदस्यों की उपज को कमीशन लेकर बेचती ह, वरन् कभी-कभी वह खाद तथा शुद्ध बीज देकर सदस्यों का उत्पादन भी बढ़ाती हैं। उत्तर प्रदेश तथा बिहार की गन्ना कमेटियां गन्ना उत्पादकों के स्वत्वों की मिल-मालिकों के विरुद्ध रक्षा करती हैं तथा गन्ने की किस्म को उन्नत करने में सहायता देती हैं, रुपया उधार देती है और गांव में लोकोपकारी कार्य करती हैं। बम्बई की रुई बिक्री सोसाइटियां भी सहकारिता सफलता का उत्तम उदाहरण हैं। वह अपने सदस्यों के लिए कपास ओट कर रुई के गट्ठे बनाती हैं तथा उत्पादन का बीमा भी करती हैं। १९४७-४८ में भारत में बिक्री सोसाइटियों की कुल संख्या ३,७५१ थी। उनके सदस्यों की संख्या २० लाख थी और उनकी कार्यकारी पूंजी ५॥ करोड़ रुपये से अधिक थी।

सरकार द्वारा स्थापित किये हुए बिक्री करने के नये-नये संगठन सहकारिता बिक्री का बाजार बनाने में उपयोगी काम कर रहे हैं।

६. बिक्री करने के नये संगठन। कृषि कमीशन का सुझाव था कि बाजार की विविध बिक्री योग्य वस्तुओं की जांच करने के लिए विशेषज्ञ बिक्री अफसर (Expert Marketing Officer) रखे जांय। १९३४ में शाही कृषि कौंसिल (Imperial Council of Agriculture) के परामर्शदाता के रूप में मिस्टर ए. एम. लिविंग्सटन (A. M. Livingstone) को रखा गया। निम्नलिखित दिशाओं में कार्यवाही की गई: (१) भारतीय उत्पादकों के लिए विदेशी बाजार में प्रचार; (२) मुख्य उत्पादन का वर्गीकरण तथा गोदामों में संग्रह, बिगड़ने, वाली वस्तुओं के लिए विशेष बिक्री विभाग; (३) उपभोक्ता की आवश्यकताओं की सूचनाएं भारत में तथा विदेशों में देना: (४) किस्म तथा मांग के आधार पर उत्पादन की योजना; (५) नियमबद्ध मंडियों का विकास; (६) समस्त भारत में एक सर्वमान्य योजना का विकास करने के लिए बाजारों की छानबीन (surveys) करना; और (७) सुसंगठित 'भावी' मंडियों, वस्तु विनिमय साधनों तथा गोदामों की स्थापना।

१९३९ में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय बिक्री कर्मचारी रखे गए। केन्द्रीय कर्मचारियों में एक कृषि बाजार परामर्शदाता (Agricultural Market Adviser), प्रयोगात्मक वर्गीकरण और पैकिंग स्टेशनों के लिए निरीक्षण अफसर Supervising Officer) तथा अधीन अफसर (Subordinate Officers) रखे गए। प्रांतीय कर्मचारियों में एक प्रधान बिक्री अफसर (Chief Marketing

Officer) तथा सहायक अफसर रखे गए। उनका काम तीन प्रकार का था।

(१) अन्वेषण, (२) विकास, तथा (३) वर्गीकरण। अन्वेषण में महत्वपूर्ण वस्तुओं की बिक्री की छानबीन, नियमबद्ध मंडियों की समस्याएं, माल बाहर भेजना तथा गोदाम में रखना आदि। विकास का कार्य प्रायः छानबीन के परिणाम पर निर्भर करता था। इसका अर्थ था उत्पादक तथा व्यापारी को उपभोक्ता की आवश्यकताओं का समाचार देते रहना तथा प्रामाणिक वर्गों का जनता में प्रचार करना। वर्गीकरण का कार्य पारिभाषिक था तथा उस पदार्थ के उन रासायनिक तथा भौतिक गुणों से सम्बन्ध रखता था, जिनका वर्गीकरण किया जाता था। यह पदार्थ तिलहन, अनाज फल आदि थे।

७. इस संगठन की सफलताएं। इस संगठन ने अच्छा काम किया। (१) अनेक वस्तुओं की बिक्री की छानबीन करके उनके संबन्ध में रिपोर्ट छाप दी गई। जिन वस्तुओं की छानबीन की गई थी, उनमें मुख्य यह थीं—चावल, गेहूं अलसी, मूँगफली तम्बाकू, कहवा (coffee), फल, दूध, अण्डे, पशु, खालें—कच्ची और पक्की खालें।

(२) छानबीन से पता चला कि जिन वस्तुओं की किस्मों में मिलावट की जाती है, उनका वर्गीकरण कर देने की आवश्यकता है। इस उद्देश्य के लिए १९३७ में कृषि उत्पादन वर्गीकरण तथा चिह्नित करना अधिनियम (Agricultnral Produce Grading and Marking Act) पास किया गया। उसके फलस्वरूप वर्गों में विभाजित सभी वस्तुओं, विशेषकर बिगड़ने योग्य माल का अच्छा मूल्य मिल जाता है।

(३) गेहूं, अलसी तथा मूंगफली के ठेके की शर्तों का मान निश्चित करने में भी उन्नति की गई। इस प्रकार उनकी बिक्री का क्षेत्र व्यापक हो गया।

(४) अन्त में बाजार-समाचारों के मिलते रहने का प्रबन्ध किया गया। जिंसों के मूल्यों, कोषों और गतियों के सम्बन्ध में आकाशवाणी द्वारा सुनाकर इस कार्य को किया जाता है। देहाती कार्यक्रम में बंद होने के प्रति दिन के भाव भी सुनाये जाते हैं।

८. कृषि-मूल्यों की स्थिरता। जब तक किसान को अपने उत्पादन का लाभ-प्रद मूल्य मिलने का विश्वास न कराया जा सके, बाजार में कोई उन्नति नहीं हो सकती। स्थिरता अत्यधिक उतार-चढ़ाव को रोकती है, जैसा कि गत दो दशाब्दियों में हो चुका है—मंदी के समय अत्यधिक कम मूल्य तथा युद्ध के समय अत्यधिक ऊंचे मूल्य। यह किसान को पहले की अपेक्षा अधिक अच्छे जीवन-मान का विश्वास दिलाती है, और उसमें अधिक उन्नत उत्पादन के लिए उत्साह उत्पन्न करती है।

संयुक्त राष्ट्र संघ (U.N.O.) ने भी कृषि वस्तुओं के मूल्यों के स्थिर होने की आवश्यकता को स्वीकार कर लिया है और उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (International Trade Organizations) में जिंसों के समझौतों (Commodity Agreements) को उसका एक भाग बना दिया गया है। मूल्यों को स्थिर करने के लिए निम्नलिखित उपाय करने आवश्यक हैं:

(१) उस स्तर को तय करना, जिस पर विशेष जिंसों के मूल्य को स्थिर किया जाय। यह स्तर अधिकतम तथा निम्नतम स्तर के बीच में घटता-बढ़ता रहता है। यह उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनों के लिए लाभकर है।

(२) उनके स्टाक (संग्रह) को सरकार अपने पास रखे। यह स्टाक व्यापारिक साधनों द्वारा अथवा सीधे सरकार द्वारा बनाए जा सकते हैं। किन्तु उनका

परिमाण ऐसा होना चाहिए कि सरकार उस जिंस को निश्चित न्यूनतम मूल्य पर बाजार में दे सके ।

(३) सरकार को अधिकतम और निम्नतम मूल्य पर, जैसी की आवश्यकता हो, जिस को मोल लेकर और बेचकर मूल्य के निश्चित स्तर को स्थिर रखना चाहिए । व्यक्तिगत व्यापार उसी स्तर के अंदर करने दिया जाय । यदि मूल्य निश्चित निम्नतम मान से कम होने लगें तो उनको ऊपर उठाने के लिए (१) निर्यात बढ़ाना चाहिये अथवा (२) माल को स्वयं मोल ले लेना चाहिये । यदि मूल्य अधिकतम स्तर से ऊपर जाते हों तो सरकार को (१) निर्यात बंद कर देना चाहिये और (२) अपने स्टाक को कम मूल्य पर बिकने के लिए बाजार में लाना चाहिये ।

ग्यारहवाँ अध्याय

कृषि अर्थ-प्रबन्ध और ऋणत्व

१. **प्रस्तावना**। आज का प्रत्येक आधुनिक व्यवसाय साख पर चलता है, तो भी कृषि पूंजी लगाने की विचित्र रूप से आवश्यक समस्या को उत्पन्न करती है। क्योंकि कृषि का भविष्य कुछ निश्चित नहीं होता। उसमें उत्पन्न की इकाई बहुत छोटी हैं और उसके कार्य स्वभाव से ही अत्यन्त बिखरे हुए होते हैं। किसान की अशिक्षा के कारण भारत में ये विशेषताएं अधिक ख्याति पा गई हैं। इसलिए गांव को पूंजी देने की समस्या के लिए प्रथम तो उनका 'ऋणत्व' से छुटकारा करना है। इसके अतिरिक्त किसान को भूमि में सुधार करने, अपने औजारों को बदलने तथा बीज, खाद और पशु मोल लेने के लिए रुपये की आवश्यकता पड़ती है। वास्तव में उसके खेत में बहुत थोड़ी[1] पूंजी लगी होती है। उसके ऋण में जकड़े रहने का मूल कारण यह है कि भारतीय कृषि अपनी प्राचीन प्रणाली तथा छोटी-छोटी भूमियों के कारण पर्याप्त लाभजनक नहीं रही है। अतएव किसान को आवश्यक कार्यों के लिए उधार लेने पर विवश होना पड़ता है, जो उचित होते हुए भी उत्पादक नहीं है।[2] जिस रकम को विशुद्ध रूप से उत्पादक कार्यों के लिए ऋण रूप में लिया जाता है, उससे ऋणत्व नहीं बढ़ता। अतएव गांव को पूंजी देने की समस्या को तीन दृष्टिकोणों से देखा जाना चाहिये :

(क) वर्तमान ऋण को कम किया जाय और यदि संभव हो तो बिल्कुल समाप्त कर दिया जाय ; (ख) भविष्य में 'अनुत्पादक कार्यों' के लिए ऋण लेने को अनुत्साहित किया जाय और (ग) उत्पादक कार्यों के लिए ऋण लेने को प्रोत्साहित किया जाय।

अतएव, हमारा अध्ययन अन्वेषण की तीन दिशाओं में चलेगा :—

(१) किसान की ऋण के लिए आवश्यकता और उसे अब तक किस प्रकार पूरा किया गया है ; (२) ऋणी होने के कारण, और ऋण का परिमाण; (३) उसको दूर करने के लिए अब तक अपनाए गए उपाय और भावी कार्यक्रम।

२. **किसान की साख के लिए आवश्यकता**। किसान को खेती का काम चलाने के लिए तीन प्रकार की साखों की आवश्यकता होती है :

(क) कुएं, तालाब, बंद पानी की दिशा बदलने की नाली को बनवाने, पहाड़ी इलाके को सपाट करने, जंगलों को साफ करने, सिंचाई की नाली बनाने, भूमि का सुधार करने अथवा बाढ़ लगाने आदि स्थायी उन्नति के कार्यों के लिए दीर्घकालीन साख (अथवा पांच वर्ष से अधिक अवधि के लिए)।

(ख) मध्यकालीन साख (१५ मास से लेकर ५ वर्ष तक की अवधि के लिए)

---

१. पंजाब में मोटे तौर से प्रति एकड़ तीस रुपये पूंजी पर्याप्त समझी जाती है, ब्रिटेन में १५ पौंड की आवश्यकता पड़ती है—Trevaski's.—The Punjab Today. Vol. II. p. 323.

२. बैंकिंग जांच कमेटी के अनुसार उत्तर प्रदेश, बंगाल और बंबई में ऋणों का ७० प्रतिशत तथा मद्रास में ऋणों का ६० प्रतिशत अनुत्पादक कार्यों के लिए लिया गया था।

की महंगे औजारों, पशु मोल लेने तथा मकान खड़ा करने के लिए आवश्यकता पड़ती है।

(ग) अल्पकालीन साख (१५ मास या उससे कम अवधि के लिए)——इसके अतिरिक्त किसान को अपनी वर्तमान आवश्यकताओं, जैसे बीज, खाद, भोजन सामग्री आदि की व्यवस्था के लिए द्रव्य चाहिये।

३. **अर्थ-प्रबन्ध की संस्थाएँ**। किसान इन साधनों द्वारा अपनी आवश्यकताओं के लिये पूंजी प्राप्त करता है।

(१) गांव का महाजन।

(२) देसी महाजन किसी बिचवैया के द्वारा काम करता हुआ।

(३) व्यापारिक या संयुक्त पूंजी बैंकों से।

(४) सरकार।

(५) सहकारिता साख समितियाँ (Co-operative Credit Societies)।

(६) भूमि बंधक बैंकों से (Land Mortgage Banks)।

हम इस अध्याय में महाजन के कार्यों तथा उसके फलस्वरूप कृषि के ऋणत्व के सम्बन्ध में विचार करेंगे। उन उपायों पर भी विचार करेंगे, जिनसे इस बुराई को दूर किया जा सकता है। सहकारिता साख समितियों के विषय में इससे अगले अध्याय में विचार किया जायगा।

(१) **सरकार**——अर्थ-प्रबन्ध की संस्था के रूप में——उन्नीसवीं शताब्दी में पास किये हुए उन दो अधिनियमों की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिनके अनुसार सरकार किसानों को ऋण देती है। वह यह हैं :—

(क) भूमि सुधार अधिनियम (Land Improvement Act) १८८३। इसके अनुसार कुएं आदि स्थायी सुधार-कार्यों के लिए दीर्घकालीन साख दी जाती है

(ख) कृषक ऋण अधिनियम (Agriculturists Loan's Act) १८८४। इसके अनुसार बीज, औजार खाद, पशु आदि के लिए अल्पकालीन ऋण दिये जाते हैं। इन ऋणों से अकाल जैसी आपत्तियों के समय बड़ी भारी सहायता मिली है।

तकावी ऋण——जैसा कि इन ऋणों का नाम है——कई कारणों से लोकप्रिय नहीं हुए। प्रथम, यह विशेष कार्यों के लिए दिये जाते हैं, जबकि महाजन किसी भी कार्य के लिए दे देता है। किसान महाजन को ही फलतः पसन्द करता है। **दूसरे**, ऋण बहुत देरी करके दिये जाते हैं और वह भी किसी अधीन अफसर को घूस देकर। **तीसरे**, उसको वसूल करने का ढंग अत्यधिक कठोर है। **अन्ततः** किसान को तकावी ऋण की न तो सुविधाओं का पता है, और नहीं उसको लेने की विधि का ज्ञान है।

इसलिए यह प्रस्ताव किया जाता है कि इन ऋणों को अधिक उदारता से दिया जाय और इनके देनें में कम से कम देरी की जाय। विभाजन के बाद से सरकार ने भूमि सुधार, रासायनिक खाद, कुओं तथा औजारों के लिए ऋण तथा सहायता देने की उदार नीति अपना ली है। अतएव, तकावी ऋण तथा 'अधिक अन्न उपजाओ' योजना के लिए सरकार ने दी जाने वाली रकम में पर्याप्त वृद्धि कर दी है। उक्त दोनों अधिनियमों के

अधीन दिये हुए ऋणों की रकम १९३८-३९ के १ करोड़ रुपये (भारत तथा पाकिस्तान दोनों में) से बढ़ कर १९४९-५० में अकेले भारत में ही २५ करोड़ रुपये हो गई है।[1]

(२) **गांव का महाजन**—गांव का महाजन गांव की कृषि की साख का अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन है। उसके भी दो वर्ग होते हैं, उधार देने का पेशा करने वाला, जो व्यापारी भी होता है, गांवों में अधिक पाया जाता है। १९३१ में भारत में इस प्रकार के २५-३० लाख महाजन या साहूकार थे। दूसरा उधार देने वाला पेशेवर नहीं होता, और वह प्रायः जमींदार होता है। पेशेवर के विरुद्ध कठोर कानून बन जाने के कारण जमींदार को अब अधिक ख्याति मिल रही है।

सौ वर्ष पूर्व उधार देने वाला महाजन अत्यन्त उपयोगी था। वह रुपया तो उधार देता था किन्तु **दामदुपत** के परम्परागत नियम के कारण वह अपनी उधार दी हुई रकम से दोगुनी रकम से अधिक नहीं ले पाता था। अतएव, उस समय ऋण न चुकाने के कारण भूमि, मकान अथवा मवेशियों की कुर्की का कोई प्रश्न नहीं था। जनसंख्या का दबाव अधिक बढ़ने पर भूमि का मूल्य बढ़ गया। ब्रिटिश दीवानी कानून में भी ऋणदाता के साथ रियायत की जाती थी, जो किसान का शोषण करके उसकी भूमि ले लेने में अपना लाभ समझता था। अपने हानिकारक कार्यों के साथ भी गांव का महाजन भारतीय ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का एक अनिवार्य अंग है। उसके कई कारण हैं। जैसा कि केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी ने बतलाया है, "उसके पास पहुंचना आसान है, उसके व्यवसाय की प्रणाली सीधी-सादी तथा लोचदार है, उसका ऋण लेने वाले के साथ घनिष्ठ व्यक्तिगत सम्बन्ध होता है। प्रायः; उसके परिवार के साथ उसके वंश परम्परागत सम्बन्ध होते हैं। अपने स्थानीय ज्ञान तथा अनुभव और उसी स्थान पर उपस्थित रहने के कारण वह, व्यक्तियों को बिना स्पष्ट सम्पत्ति के भी रुपया उधार दे देता है, और तिस पर भी हानि से अपनी रक्षा करता है।" वह उत्पादक तथा अनुत्पादक कार्यों के लिए दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन दोनों ही प्रकार की आवश्यकताओं के निमित्त साख देता है। इस विभेदरहित उधार देने का परिणाम अदूरदर्शिता होती है। उसी के कारण बंगाल कमीशन की समिति में "देश के अनेक भागों में भाव अब भी ऊंचे हैं। पेशेवर साहूकार अपने ऋणों के ऊपर अपने प्रभाव का दुरुपयोग करता है, विशेषकर वह ऋणी के उत्पादन को सस्ती दर पर मोल लेता है, और जमींदार साहूकार का रुपया उधार देने का उद्देश्य अन्त में ऋणी की भूमि को ले लेना होता है।[2]

निजी रुपया उधार देने के साथ अनेक बुराइयां लगी होती हैं, यद्यपि उनका प्रचलन कुछ कम हो गया है। "महाजन लोग झूठे कागज लिखवा लेते हैं, उनमें उधार दी हुई रकम से बड़ी रकम लिखवा लेते हैं, उसमें से बलपूर्वक किश्तें काटते हैं, उन अदायगियों की कोई रसीद नहीं देते और बाद में उनसे मुकर जाते हैं, उनका उधार धोखे की कीमतों पर चलता है, वह बिना दी हुई रकमों के अस्थिर प्रतिज्ञा पत्रों को रखे रहते हैं, अत्यधिक सूद लगाते हैं और अन्य भी बीसियों प्रकार की नीचताएं करते हैं—यह तथ्य गवाहियों द्वारा प्रमाणित हो चुके हैं।[3] इस प्रणाली की त्रुटियां असामान्य हैं, किन्तु त्रुटियों के होते हुए भी इस प्रणाली को सहन किया जाता है। इस साहूकार को ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में से निकाला नहीं गया। इससे पता चलता है कि वर्तमान स्थिति

१. आंकड़े पंच-वर्षीय योजना, पृष्ठ, २३५ से लिये गये हैं।

2. Final Report: op. cit. p. 294.

३. बंगाल अकाल कमीशन की रिपोर्ट। पृष्ठ २९४.

में भारत की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था उसके बिना नहीं चल सकती। बंगाल अकाल कमीशन ने लिखा है कि "हमारा विचार है कि व्यक्तिगत महाजन अभी बहुत समय तक गांवों में ऋण बांटने के कार्य को मुख्य रूप से करता रहेगा। इस तथ्य को स्वीकार कर लेने के आधार पर ही ग्रामीण साख के सम्बन्ध में कोई नीति बनाई जानी चाहिए। साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि इस प्रणाली में संशोधन भी करना पड़ेगा।"[1]

(३) **सहकारिता साख** को कृषि के लिए अर्थ-व्यवस्था का अत्यधिक हितकर साधन होने के कारण अर्थशास्त्रियों द्वारा पसन्द किया गया है। उसके सम्बन्ध में विस्तार से अगले अध्याय में विचार किया जायगा।

४. ऋणत्व का परिमाण। भारत में कृषक लोगों की ऋणग्रस्तता के परिमाण के सम्बन्ध में अनेक बार अनुमान लगाया गया है। सन् १८९५ में सर एफ. निकलसन ने अनुमान लगाया था कि मद्रास में गांवों का समस्त ऋण ४५ करोड़ रुपया था। इसी आधार पर १९११ में सर मैक्लैगन (Sir Maclagan) ने समस्त ब्रिटिश भारत के ग्रामीण ऋण को ३०० करोड़ रुपया बतलाया था।

इसके बाद अगली महत्वपूर्ण जांच सर एम. एल. डार्लिंग ने की थी। उन्होंने अपनी जांच का आधार सन् १९१८-१९ में पंजाब की २,१०६ सहकारिता संस्थाओं के ५५३०८ सदस्यों से सम्बन्ध रखने वाले अंकों को रखा था। उन्होंने परिणाम निकाला था कि इस प्रान्त का समस्त कृषि-ऋण ९० करोड़ रुपया था, अर्थात् उसका औसत प्रति एकड़ ३१ रु० और प्रति किसान ७६ रु० पड़ता था और वह भूमि की मालगुजारी की मांग से कम-से-कम १९ गुना था।

पंजाब में प्रत्येक ऋणी मालिक के ऊपर औसत ऋण ४६३ रुपये था, किन्तु प्रत्येक ऋणी अस्थायी किसान पर यह १५० रु० था। इस आधार पर डार्लिंग ने यह हिसाब लगाया कि ब्रिटिश भारत (बर्मा सहित) का समस्त कृषि ऋण ६०० करोड़ रुपयों से कम नहीं था।[2]

१९३५ में डाक्टर मुकर्जी के हिसाब के अनुसार वह १२०० करोड़ रुपये था तथा मि. ई. वी. एस. मैनम (E. V. S. Mainam)[3] के अनुसार १८०० करोड़ रुपये था। डाक्टर पी. जी. टॉमस (P. G. Thomas)[4] के अनुसार १९३३ तक यह बोझ २२०० करोड़ रुपये हो गया होगा। गत वर्षों में कृषि उत्पादन का मूल्य पर्याप्त बढ़ गया है। इस मूल्य वृद्धि से उन बड़े-बड़े जमींदरों को लाभ हुआ है जिनके पास बेचने के लिए फालतू जिन्स थी। साधारण किसान को इससे विशेष लाभ नहीं हुआ। अकाल जांच कमीशन ने १९४५ में यह परिणाम निकाला था कि थोड़ी भूमि वाले वर्ग को कोई भौतिक लाभ नहीं हुआ। हां, जिन लोगों ने, अन्य प्रकार की मजदूरियां कीं, वह लाभ में रहे, क्योंकि मजदूरों की दर भी बढ़ गई थी। ग्रामीण ऋण-

---

1. बंगाल अकाल कमीशन की रिपोर्ट, पृ० २९४,
2. Darling—The Punjab Peasant in Prosperity and Debt. pp. 20—1.
3. "Essentials of Rural Development"—Paper Contributed to the World Co-operator's Conference, 1938, p. 23.
4. Economic Problems of Modern India, op. cit., p. 176.

ग्रस्तता[1] के सम्बन्ध में ऊंची कीमतों के समस्त प्रभाव के पूर्ण चित्रण को छानबीन से उपस्थित किया जा सकता है। किन्तु १९४६ में रिजर्व बैंक की सम्मति में "ऋणी किसानों ने या तो अपनी बढ़ी हुई आय से अथवा अपनी भूमि के एक भाग को बेच कर अपने ऋणों को चुका दिया था. . . . . इस प्रकार न केवल बैंकों तथा सोसाइटियों के ऋणों का हीं भुगतान कर दिया गया वरन् अनेक प्रान्तों में वापिसी की रकमें अग्रिम रूप में बैंकों में जमा हो गई थीं।"[2]

किन्तु भारत के विभिन प्रांतों में की गई ताजी जांच ने इस दृष्टिकोण का खंडन कर दिया। मद्रास तथा मैसूर में, जहां अत्यन्त विस्तार से जांच की गई है, यह पता चलता है कि ऋण फिर बढ़ रहे हैं। संभवत: ऋण सबसे कम १९४४ के आसपास रहे होंगे। इसके अतिरिक्त कीमत बढ़ जाने के कारण मिलने वाली सुविधाओं को किसानों तथा कृषि मजदूरों तक नहीं पहुंचाया गया। कृषि मजदूरों की जांच से भी इसी परिणाम का समर्थन होता है। सहकरिता ऋण भी बढ़ते जा रहे हैं। तो भी यह आशा की जाती है कि वर्तमान ऋणग्रस्तता का अधिकांश भाग उत्पादक उद्देश्यों के लिए है। जमींदारी प्रथा के बन्द होने तथा ग्रामीण सुधारों का भी अवश्य प्रभाव हुआ होगा अर्थात् भूमि के अधिकार (उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश में भूमिदारी) प्राप्त करने और ऋण की मर्यादा[3] के लिए धन की चिन्ता ने निर्धनों के ऊपर और ऋण बढ़ा दिया।

५. **ऋणग्रस्तता के कारण**। ऋण लेने वालों के लिए ऋण लेने का अर्थ है, उसकी ऋण लेने की आवश्यकता और चुकाने की जमानत। इसका अभिप्राय यह भी है कि उधार देने वाला अपनी पूंजी उधार देने के लिए सहमत है। उधार देने की सहमति (१) उधार लेने वाले द्वारा दी जाने वाली जमानत और (२) उस न्यायालय के अस्तित्व पर निर्भर है, जिसमें कर्जे की वापिसी के लिए प्रार्थना की जा सके।

यद्यपि किसान सदा ही उधार लेता रहा है, तथापि ब्रिटिश राज्य के पूर्व उसकी ऋणग्रस्तता कभी भी एक गंभीर समस्या नहीं बनी थी। उस समय यह (क) उधार देने के लिए पूंजी कम थी, (ख) खर्च काट कर बचत इतनी कम होती थी कि उधार चुकाने की गुंजाइश नहीं थी (ग) किसी प्रकार की जमानत देने के लिए नहीं थी और (घ) उधार को वापिस वसूल करने के कोई निश्चित साधन नहीं थे।

ब्रिटिश राज्य ने उधार लेने तथा देने, दोनों के ही अवसरों को बढ़ा दिया। भूमि पर दबाव बढ़ने के साथ-साथ उधार लेने की आवश्यकता बढ़ती गई। फिर सामाजिक आवश्यकताएं भी थीं, उन्होंने किसान की खर्चीली आदत के साथ मिल कर ऋण के बोझ को भयंकर बना दिया। अब हम ग्रामीण ऋणग्रस्तता के कारणों को संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं। मुख्य कारण सात हैं :—

१. किसान को अपना काम चलाने के लिए उधार लेना ही पड़ता है। उसका खेत एक आर्थिक इकाई नहीं होता। वह कई-कई टुकड़ों में बिखरा हुआ होता है। उसे अनेक बार प्रकृति की दया पर निर्भर रहना पड़ता है। सूखा तथा बाढ़ें उसे उसके

---

1. Final Report. p. 300.
2. Review of the Co-operative Movement. 1939-46. op. cit. p. 29.
3. अधिक विस्तार के लिए Economic and Statistical Adviser द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ Agricultural Situation in India में 'Rural Indebtedness in Recent Years' शीर्षक लेख पढ़ें।

परिश्रम का लाभ नहीं उठाने देतीं। उसके पास औजार थोड़े होते हैं और वह भी घटिया किस्म के। उसमें खाद मोल लेने की सामर्थ्य नहीं होती। उसको इन सब आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए उधार लेना पड़ता है।

२. उसके मवेशी खाल तथा हड्डी के थैले मात्र हैं। उनके लिए चारा पर्याप्त नहीं होता। वह सूखा तथा रोग के कारण मर जाते हैं। किसान के पास अन्य कोई साधन न होने से उसे उधार लेना पड़ता है।

३. फसल की असुरक्षा के कारण किसान की फिजूलखर्ची की आदत और भड़क उठती है। उसको व्ययसाध्य मुकदमेबाजी का भी शौक है। श्री त्रिलोकसिंह ने पंजाब के जिला होशियापुर में ३८ प्रतिनिधि गांवों की जांच की थी। उनको पता चला कि प्रत्येक सात परिवारों में से दो सीधे तौर से मुकदमेबाजी में फंसे हुए थे।[1]

४. किसान का विवाह तथा अन्य उत्सवों में अत्यधिक व्यय उसके ऋण के परिमाण को और बढ़ा रहा है।

५. महाजन के दुष्टतापूर्ण तरीके किसान के एक बार पंजे में फंस जाने पर फिर उसे वहां से नहीं निकलने देते। वास्तव में किसान अपना जीवन-कार्य ऋण के भारी बोझ को अपने सिर पर लिये हुए आरंभ करता है, उसको वह कुछ और बढ़ाकर अपने उत्तराधिकारी को दे देता है।

६. भूमि का मुद्रा-प्रसार के कारण बढ़ा हुआ मूल्य किसान को अधिक ऋण लेने के लिए तथा बनिये को ऋण देने के लिए प्रलोभित करते हैं।

७. छोटे-छोटे खेतवाले के लिए मालगुजारी की रकम चुकाना भारी बोझा है। उसके पास नकद रुपया तो होता नहीं, अतएव उसे मालगुजारी चुकाने के लिए प्रायः उधार लेना पड़ता है, फिर भले ही उसका औसत २ रु० प्रति एकड़ हो।

मिस्टर थार्बर्न (Mr. Thorburn) ने पंजाब के एक क्षेत्र में जांच करके १८९६ में पता लगाया था कि उस क्षेत्र में लिये हुए ऋण में से १२ प्रतिशत मालगुजारी चुकाने के लिए लिया गया था। पंजाब की सहकारिता समितियों की रिपोर्ट से पता चलता है कि लगभग १५ प्रतिशत ऋण मालगुजारी चुकाने के लिए दिया गया था। बम्बई के एक माल अफसर सर टी. होप. (Sir T. Hope) ने १८७९ में घोषणा की थी कि "रैयत के ऋण का कुछ भाग हमारी मालगुजारी में भी आता है।"[2]

अतएव हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भारत के कुछ भागों में भूमि पर मालगुजारी लगाने की प्रणाली भी ग्रामों की ऋणग्रस्तता का कारण बनी, किन्तु आज ऊंचे मूल्यों के युग में यह बात महत्वपूर्ण नहीं है।

६. **ऋणत्व के परिणाम**। उत्पादक उद्देश्यों के लिए उधार ली हुई रकम से समृद्धि अधिक बढ़ती है, किन्तु अनुत्पादक उद्देश्यों के लिए लिया हुआ ऋण किसान के अन्य अधिकांश ऋणों के समान एक ऐसा अभिशाप है, जिसका बोझ सदा बढ़ता जाता है, और जो एक स्थायी दुःस्वप्न सिद्ध होता है। इसके आर्थिक, सामाजिक और नैतिक सभी प्रकार के बुरे परिणाम होते हैं।

---

1. T. Singh, I. C. S.—Poverty and Social Change, p. 174. 175 F. N.

2. Ibid, p. 251.

(१) **आर्थिक परिणाम**—ऋणग्रस्तता से कृषि अपूर्ण रह जाती है। जब किसास को पता चलता है कि उसके अतिरिक्त परिश्रम का लाभ उसके ऋणदाता को पहुंचता है तो वह अपनी स्थिति को उभारने में रुचि लेना बन्द कर देता है। इस प्रकार उत्पादन कम हो जाता है। यदि ऋणग्रस्तता का परिणाम भूमि की बिक्री या बंधक करना हो, जैसा कि देश[1] के अन्य सभी भागों में देखने में आया है। इसका अर्थ यह हुआ कि किरायेदार किसानों तथा भूमि रहित मजदूरों की संख्या में वृद्धि हुई। अपनी उपज को बेचने में भी ऋणी किसान हानि में रहता है। उसे अपने ऋणदाता को उसकी शर्तों पर बेचनी पड़ती है। इसका अर्थ यह है कि न केवल उसकी उपज का आर्थिक लाभ कम मिलता है वरन् उससे बेचने की उन्नत प्रणाली में भी बाधा आती है। इस प्रकार कृषि सम्बन्धी उन्नति सम्भव नहीं है।

(२) **सामाजिक परिणाम**—पारस्परिक स्वत्वों के टकराने के कारण ऋण-दाता तथा ऋणी में झगड़ा पैदा होता है। भूमि-रहित वर्ग बढ़ता जाता है और उसके पास आजीविका का कोई साधन भी नहीं होता। इससे सामाजिक असन्तोष तथा राज-नीतिक आन्दोलन बढ़ता है, ऐसी स्थितियों में साम्यवाद को उर्वरा भूमि मिल जाती है।

(३) **नैतिक परिणाम**—किसान की सम्पत्ति छिन जाती है, और अनेक मामलों में उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता भी छिन जाती है। कुछ राज्यों में इस प्रकार की दास-प्रथा मौजूद है। बिहार और उड़ीसा में कमिऔती[2] समझौता तथा मद्रास में पन्नैयल प्रथा ने श्रमिकों की दासता की परिस्थितियों को उत्पन्न कर दिया। प्रोफेसर पी. जे. टॉमस (Prof. P. J. Thomas) का कहना है कि "एक श्रमिक एक विवाह अथवा मृतक संस्कार के लिए थोड़ी-सी रकम उधार लेता है। किन्तु उसके बदले में उसे अपने ऋणदाता से केवल नाममात्र का गुजारा लेकर काम करना पड़ता है। वह आवश्यक रकम कभी भी नहीं बचा पाता और यह सौदा उसकी जन्म भर की दासता में परिणत हो जाता है।"[3]

७. ऋण से मुक्ति के उपाय। इस समस्या पर दो प्रकार से आक्रमण किया जा सकता है, पुराने ऋणों का निपटारा तथा नये ऋणों पर नियन्त्रण।

(१) **पुराने ऋणों का निपटारा**—यह स्पष्ट है कि जब तक पुराने ऋणों का बोझ कम न किया जायगा, कृषि की उन्नति की कोई आशा नहीं की जा सकती। जहां ऋणी की सम्पत्ति उसके ऋणों को चुकाने के लिए पर्याप्त न हो, हम ऋणी को दिवालिया घोषित कर सकते हैं। कुछ राज्यों में इस प्रकार के कानून पास हुए हैं कि कुछ दशाओं में उनको दिवालिया स्वीकार कर लिया जाय। अन्य राज्यों में भी कुछ निश्चित समय तक

---

१. बम्बई में १९२६ से १९३७ तक कृषि-जीवियों की पचास लाख एकड़ भूमि कृषि न करने वालों के हाथ में चली गई। अन्य सब राज्यों में भी यही सब कुछ हुआ, इसी कारण भूमि के अधिकार बदलने के अधिनियमों (Land Alienation Laws) को स्वीकार करना पड़ा।

२. कमिऔती समझौतों को १९२० के एक अधिनियम द्वारा कानून-विरुद्ध ठहरा दिया गया। कृषि कमीशन ने लिखा था कि कमिया इस कानून से काम लेने के लिए अत्यन्त निर्धन हैं, और इस लिए यह कानून प्रभाव रहित सिद्ध हुआ।" (पृष्ठ ४३५)

3. Mukherjee—Economic Problems of Modern India, Vol. I, p. 172.

ऋणों की अदायगी के स्थगित किये जाने, (Moratorium) तथा ऋणों में कमी करने तथा ऋणों को शान्त (Conciliation) करने के कानून बनाये गए हैं।

(क) **ऋणों की अदायगी का स्थगित किया जाना अथवा मोरैटोरियम**—इसका अभिप्राय अदालत में ऋण चुकाये जाने की कार्यवाही को रोक दिया जाना है। ऋणी-किसानों की मंदी के समय में रक्षा करने के लिए राज्य सरकारों ने बहुत समय से यह व्यवस्था की हुई है। अभिप्राय यह था कि डिगरी को एकदम इजराय न कराया जा सके। ऋणियों पर डिगरियों के इजराय को रोकने तथा उनकी बेदखली को रोकने के कानून उत्तर प्रदेश में १९३२ में, मध्य प्रदेश में १९३४ में और बम्बई में १९३८ में बनाए गए थे। अन्य राज्यों में भी ऋण शक्ति अधिनियम पास करके ऋणी को यह अधिकार दिया गया कि यदि वह ऋणों को शान्त करने का प्रार्थना-पत्र दे दे तो न्यायालय इजराय की कार्यवाही को रोक देगा। इसका अर्थ है ऋण के सम्बन्ध में उसकी अदायगी को स्थगित करने की परोक्ष सुविधा।

(ख) **ऋण समझौता विधान**—इसका अभिप्राय है ऋणी तथा ऋणदाता, दोनों समझौता बोर्डों (Conciliation Boards) की सहायता से ऋण के सम्बन्ध में परस्पर समझौता करलें। इसके सम्बन्ध में कानून का आधार केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी की सिफारिशें थीं। इस कानून की आवश्यकता सन् १९३० की भयंकर मंदी के समय कृषि पदार्थों का मूल्य अत्यधिक घट जाने के कारण अनुभव की गई थी। इस विषय में नेतृत्व मध्य प्रदेश ने १९३३ में किया। इसके बाद पंजाब (ऋण मुक्ति) अधिनियम (Punjab Relief of Indebtedness Act) १९३४, बंगाल (कृषि ऋणग्रस्त) अधिनियम (Bengal Agricultural Debtor's Act) १९३५, आसाम ऋण समझौता अधिनियम (Assam Debt Conciliation Act) १९३५ तथा मद्रास ऋण समझौता अधिनियम १९३६ में बने।

विस्तार की बातों में कुछ विभिन्नता होने पर भी इन सब अधिनियमों की साधारण बातें एक-सी ही थीं। उन सभी में ऋण के लिए ऐसे समझौता बोर्ड बनाने का विधान था, जिसके ३ से ९ तक सदस्य हों। ऋणी तथा ऋणदाता उसके सामने उपस्थित होकर अपना मामला रखें। इसका अध्यक्ष एक सरकारी अफसर होता है। कोई ऋणी अथवा उसका कोई भी ऋणदाता इस बोर्ड को ऋण का समझौता करने का प्रार्थना-पत्र दे सकता है। तब प्रत्येक ऋणदाता को एक नोटिस दिया जाता है कि उक्त ऋणों पर वह अपने ऋण का विवरण भेजें। इसके पश्चात् दोनों पक्ष अपना-अपना मामला समझाते हैं। बोर्ड समझा कर काम ले सकता है, किन्तु बंगाल में उसकी रजिस्ट्री करदी जाती है। तब ऋणी की स्थिति का ध्यान रखते हुए उसकी १५ से लगा कर २० वर्ष तक की किश्तें कर दी जाती हैं।

समझौता किये हुए ऋण की अदायगी इस सम्पूर्ण समस्या की एक पहेली है। यह आवश्यक है कि अदायगी का उचित ढंग निकाला जाना चाहिए। उनका चुकाने से इंकार कर देना भौतिक रूप से गलत है, भूमि बंधक बैंक संभवतः इस कार्य के लिए सबसे अच्छे प्रतिनिधि प्रमाणित हो सकते हैं। इस प्रकार के बैंक मध्य प्रदेश, मद्रास, मैसूर और बम्बई में अच्छा काम कर रहे हैं। समझोते द्वारा ऋण मध्य प्रदेश, पंजाब, बंगाल तथा आसाम में पर्याप्त मात्रा में कम कर दिये जाते हैं।

(ग) **अनिवार्य रूप से ऋण को कम तथा समाप्त करना**—इस प्रकार की व्यवस्था मद्रास कृषक मुक्ति अधिनियम (Madras Agricultural Relief Act) १९३८, मध्य प्रदेश और बरार ऋणग्रस्तता मुक्ति अधिनियम (C. P. and

Berar Relief of Indebtedness Act) १९३९, बम्बई कृषक ऋणी मुक्ति अधिनयम (Bombay Agricultural Debtor's Relief Act) १९३९, तथा उत्तर प्रदेश कृषक ऋण मुक्ति अधिनियम (U. P. Agricultural Debt Redemption Act) १९३९ में की गई थी। मैसूर तथा ट्रावन्कोर ने भी इस प्रकार की व्यवस्थाएं की थीं।

इन अधिनियमों के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं:—

(१) बकाया ऋणों की रकम को इस प्रकार कम करना कि वह ऋणदाता द्वारा वसूल की हुई सब रकमों को मिलाकर मूलधन के दोगुने से न बढ़ने पाए।

(२) ब्याज की बकाया रकम को कम करना, और

(३) बाद के वर्षों के लिए ब्याज की दर तय करना।

इनमें मद्रास का अधिनियम सबसे अधिक मौलिक था। वह १ अक्तूबर १९३७ को बकाया निकलने वाले ब्याज की सभी रकमों को साफ कर देता था, केवल असल रकम ही चुकानी पड़ती थी। भावी ऋणों में दमदुपत[1] का नियम लागू किया जाता था। ब्याज की अधिकतम दर ६। प्रतिशत हो सकती थी।

मध्य प्रदेश तथा बरार के अधिनियमों में ऋण-मुक्ति अदालतों की व्यवस्था की गई थी और ऋण की मूल पूंजी में भूमि की अनुमानित कमी के आधार पर ऋणी को सीढ़ी दर सीढ़ी चुकाने की सुविधा दी जाती थी।

बम्बई के अधिनियम में दीवानी अदालतों की अधीनता में काम करने वाले ऋण तसफिया बोर्ड (Debt Adjustment Boards) द्वारा कृषकों के ऋणों को अनिवार्य रूप से आंशिक रूप में कम कर दिया जाता है। इस कम किये ऋण की भी आसान किश्तें कर दी जाती हैं।

उत्तर प्रदेश के अधिनियम के अनुसार ऋणदाता को असल रकम से दोगुनी रकम से अधिक नहीं देना होता और उसमें भी उसे पहले ली हुई रकमों को मुजरे देना होता है।

(२) **नये ऋणों पर प्रतिबन्ध**—ऋणग्रस्तता की समस्या को दूसरे रूप से सुलझाने के लिए अनुत्पादक ऋण को अनुत्साहित किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि ऋण लेने वाले में एक उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न की जानी चाहिए। यह काम प्रचार तथा शिक्षा के प्रसार से ही हो सकता है। इस सम्बन्ध में ग्राम पंचायतें बहुत कुछ कर सकती हैं।

किन्तु केवल समझाने से कुछ परिणाम निकलने में बहुत समय लगेगा। इस बीच किसान की रक्षा की जानी चाहिए। यह किसी अंश में उसके ऋण को सीमित करके किया जा सकता है। हम देख चुके हैं कि भूमि का मूल्य बढ़ जाने पर ऋण अधिक लिये जाने लगे, क्योंकि उन उधार देने वालों को अधिक जमानत मिलने लगी। अतएव भूमि के हस्तान्तरण के अधिकार को सीमित कर देने से ऋण लेना कम हो सकता है। इसके अतिरिक्त किसान की सम्पत्ति को कुर्की से मुक्त करके उधार देने के प्रलोभन को भी कम किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त उधार को इस प्रकार नियमित किया जा सकता है कि उसमें धोखाधड़ी के कार्य असम्भव हो जायं। यदि ऋणदाता नियमित हिसाब रखे, ऋणी को उसकी देनदारियों के सम्बन्ध में सूचना देता रहे, निश्चित दर से अधिक ब्याज न ले और

1. कुल देनदारी उधार दी हुई रकम के दोगुने से न बढ़ने पाए।

उधार देने का व्यवसाय करने के लिए एक लाइसैंस ले ले तो उसकी ओर से धोखा-धड़ी के काम असम्भव हो सकते हैं। इस प्रकार के नियम विभिन्न राज्यों में लागू किये गए हैं और यदि उनको भली प्रकार से कार्यरूप में परिणत किया गया तो अनुत्पादक उधार लेना निश्चित रूप से कम हो जाएगा।

८. उधार लेने वाले पर प्रतिबन्ध। इनमें से सबसे अधिक महत्वपूर्ण भूमि के हस्तांतरित करने पर कानूनी प्रतिबन्ध है। इसका एक असाधारण उदाहरण १९०१ पंजाब भूमि हस्तान्तरीकरण अधिनियम (Punjab Land Alienation Act) में मिलता है। इसी प्रकार का एक अधिनियम उत्तर प्रदेश में १९०३ में बुन्देलखंड के लिए पास किया गया था। मध्य प्रदेश तथा बम्बई में आदिवासियों द्वारा भूमि के हस्तान्तरित किये जाने पर प्रतिबन्ध लागू है।

पंजाब अधिनियम पर बहुत वाद-विवाद चला। कृषि कमीशन के शब्दों में "उसकी व्यवस्था के अनुसार मुख्य परम्परागत कृषिजीवी वर्गों को उस कोटि में रखा गया है। जिन पर यह प्रतिबन्ध लागू होते हैं। अनुसूचित कबीलों (Notified Tribes) के सदस्यों को जिलों के वर्ग में रखा गया है और इस प्रकार के वर्ग वालों को हस्तान्तरीकरण की सुविधा दी गई है बशर्ते कि उक्त कबीले की कोई प्राचीन प्रथा इसमें बाधक न हो; एक वर्ग के सदस्यों द्वारा दूसरे वर्ग के सदस्यों को भूमि बेचने या बन्धक रखने पर इस अधिनियम में प्रतिबन्ध लगाया गया है।"[1] कमीशन की सम्मति में इस अधिनियम से उसका यह उद्देश्य पूरा हो जाता है कि कृषिजीवी की भूमि कृषि आजीविका न करने वाले को न दी जाय।

इस कानून से बचने के लिए बेनामी सौदों का प्रयोग किया गया। इसके द्वारा भूमि का हस्तान्तरण कृषिजीवी के नाम होता था, किन्तु उसका वास्तविक लाभ कृषि न करने वाले महाजन को जाता था।

इस कानून की आलोचना की सर्व साधारण बातें यह हैं :—

(१) विभाजन से पूर्व तथा जनसंख्या का परिवर्तन न होने से यह कहा जाता था कि यह एक साम्प्रदायिक कार्य है, जिसके द्वारा हिन्दुओं के विरुद्ध मुसलमानों को सहायता दी जा रही है। अब इस युक्ति में कोई बल नहीं है।

(२) इससे इसके उद्देश्य की पूर्ति नहीं हुई, क्योंकि इससे निर्धन किसान के लिए केवल स्वामी बदला गया है। अब कृषि न करने वाले के स्थान में कृषिजीवी महाजन उसकी भूमि को मोल लेता है और उसे एक साधारण किसान बना देता है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि अधिनियम का आशय सभी प्रकार की भूमि के सौदों को रोकना नहीं था। आर्थिक खेत बनाने के लिए भूमि का मालिक बदलना लाभदायक है। अन्त में १९३८ का संशोधन कृषि-जीवी महाजन को भी कृषि न करने वाले महाजन के स्तर पर ही ले आता है।

(३) यह नगर की पूंजी को गांव में खर्च होने से रोककर उन्नति के मार्ग में रोड़े अटकाता है। डार्लिंग का कहना है कि "जर्मनी में ग्रामीण कार्य प्रायः ऐसे मनुष्य कर रहे हैं, जो कृषिजीवी नहीं होते।"[2] पंजाब का अनुभव भिन्न प्रकार का है। यहां कृषि न करने वाला जमींदार स्वयं कृषि नहीं करता और "उसके सुधार में कोई पूंजी भी नहीं खर्च करता।.....किन्तु वह उससे यथासम्भव अधिक से

1. Report, p. 420
2. Darling, op. cit., p. 188.

अधिक लगान वसूल करके ही संतुष्ट हो जाता है।"[1]

भारत में जनतन्त्र बन जाने के बाद पंजाब भूमि हस्तान्तरण अधिनियम (Punjab Land Alienation Act) को विधान के विपरीत समझ कर राष्ट्रपति ने इसका खंडन कर दिया है। इसका मुख्य कारण यह था कि इस अधिनियम में जनता के किसी विशेष वर्ग के विरुद्ध विभेदात्मक व्यवहार किया गया था।

भूमि के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध के अतिरिक्त सम्पत्ति के अन्य रूपों की कुर्की पर भी प्रतिबन्ध है। उदाहरणार्थ, जाब्ता दीवानी (Code of Civil Procedure) में परिवर्तन करके यह व्यवस्था की गई कि कृषि के लिए आवश्यक औजारों, पशुओं तथा कृषक के मकान को न तो कुर्क किया जा सकता है, और न ही नीलाम किया जा सकता है। उसकी गिरफ्तारी पर प्रतिबन्ध लगा कर उसे किश्तों में ऋण चुकाने की सुविधा दी गई।

९. **ऋणदाता पर प्रतिबन्ध।** ऋणदाता पर भी कुछ सीधे से प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। जैसे, उसको अपनी रजिस्ट्री करा कर उधार देने का व्यापार करने का लाइसेंस लेना होगा, अपने हिसाब को नियमित रूप से रखना होगा। ब्याज की दर सीमित रखनी होगी, इत्यादि।

इन शर्तों को विभिन्न राज्यों द्वारा पास किये हुए अनेक अधिनियमों में रखा गया है। इस विषय में एक महत्वपूर्ण कानून ऋणों पर अधिक ब्याज लेने का अधिनियम (Usurious Loans Act) है, जिसे केन्द्र द्वारा १९१८ में पास किया गया था। इसका उद्देश्य है ब्याज की न्यूनतम दर को तय कर देना। इसकी एक विशेषता यह है कि अदालत पुराने सौदों पर फिर विचार कर सकती है और उसकी शर्तों के औचित्य की जांच कर सकती है। तो भी, कृषि कमीशन की सम्मति में यह अधिनियम मर चुका है। अतएव, इसका लगभग सभी राज्यों ने संशोधन किया और अब न्यायालयों के लिए यह अनिवार्य हो गया है कि वह पिछले हिसाब को फिर खोलें और उसमें ब्याज की दर को कम करें।

अन्य कानून लगभग सभी राज्यों में उसी उद्देश्य से पास किये गए थे। यहां उन सब पर एक साथ विचार किया जायगा।

(१) **ऋणदाता की रजिस्ट्री और उसका लाइसेंस लेना**—मध्य प्रदेश, बिहार, बंगाल, बम्बई, उत्तर प्रदेश और पंजाब में किसी ऋणदाता को उधार देने का व्यवसाय आरम्भ करने से पूर्व अपनी रजिस्ट्री कराकर लाइसेंस लेना अनिवार्य है। बेईमानी करने पर लाइसेंस को रद्द किया जा सकता है। मध्य प्रदेश में लाइसेंस न लेने वाले ऋणदाता पर जुर्माना किया जा सकता है, जबकि बिहार, बंगाल, उत्तर प्रदेश और पंजाब में वह अदालत से अपने दावे को अमली रूप देने के लिए नहीं कह सकता।

(२) **हिसाब को नियमित रूप से रखना**—ऋणदाता के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने हिसाब को नियमित रूप से रखे और अपने ऋणी को समय-समय पर उसके ऊपर वाजिब रकम तथा ब्याज के सम्बन्ध में सूचना देता रहे। आसाम और मद्रास में इस प्रकार का विवरण ऋणी द्वारा मांगे जाने पर ही दिया जा

1. Calvert op. Cit., 271 & 274.

सकता है। उसको वसूल की हुई रकमों की रसीद भी देनी चाहिए। ऐसा न करने पर जुर्माना किये जाने की व्यवस्था है। आसाम, बिहार, उड़ीसा तथा उत्तर प्रदेश में नकली हिसाब रखने पर सजा का विधान किया गया है। तो भी यह देखने में आया है कि व्यावहारिक रूप से इस कानून पर ध्यान नहीं दिया जाता और इसे लागू नहीं किया जाता। ऋणी की तात्कालिक आवश्यकता और उसका अपने अधिकार के सम्बन्ध में अज्ञान उसको प्रभावहीन कर देता है।

(३) **ब्याज की दरों को सीमित रखना**—ब्याज की अधिकतम दर जो ली जा सकती है, उसको कानून द्वारा तय कर दिया गया है। सुरक्षित (Secured) तथा असुरक्षित (Unsecured) ऋणों में अन्तर कर दिया गया है। असुरक्षित ऋण में प्रायः ब्याज अधिक देना पड़ता है। बिहार तथा आसाम में चक्रवृद्धि ब्याज लेना वर्जित है। उत्तर प्रदेश में बाजार की स्थिति के अनुसार ब्याज की दर समय-समय पर प्रकाशित की जाती है। पंजाब में सुरक्षित ऋणों पर अधिकतम ब्याज १२ प्रतिशत साधारण तथा ९ प्रतिशत चक्रवृद्धि ब्याज लिया जा सकता है। असुरक्षित ऋणों पर क्रमशः १४ प्रतिशत साधारण ब्याज तथा ८॥। प्रतिशत चक्रवृद्धि ब्याज लिया जा सकता है। बंगाल में इससे भी ऊंची दर ली जा सकती है। लगभग सभी राज्यों में ब्याज की समस्त रकम मूल से नहीं बढ़ सकती।

ब्याज के नियम अमल में लाना अत्यधिक कठिन है। ऋणदाता एक आवश्यकता में पड़े हुए उधार मांगने वाले से सदा ही ब्याज अधिक ले सकता है। इस सम्बन्ध में या तो वह अदालत के बाहर इकरारनामा कर सकता है अथवा ब्याज की फालतू रकम को मूल में सम्मिलित करके दी हुई रकम से अधिक का कागज लिखवा सकता है। इस प्रकार के दुरुपयोग कई बार प्रकाश में आ चुके हैं। इस विषय में किसान को उसके अधिकारों का ज्ञान कराने के लिए बड़ा भारी प्रचार किये जाने की आवश्यकता है।[१]

(४) **मिश्रित**—अन्य धाराएं, मध्य प्रदेश, बंगाल और उत्तर-प्रदेश की तरह, ऋणी को अपमानित एवं परेशान करने से बचाने के सम्बन्ध में हैं। पंजाब, बिहार और उत्तर-प्रदेश की तरह उन धाराओं के अधीन कर्जे के भुगतान में उसके सामान की कुर्की नहीं हो सकती।

१०. **ग्रामीण साख के लिए नयी संस्थाएं।**[२] किसान ऋणी (कर्जदार) हैं, क्योंकि उसकी आमदनी थोड़ी है। ऋणी होने के कारण, उसकी साख नहीं है, इसलिए सूद की दर ऊंची है। थोड़ी आय, भारी कर्जा, महंगा उधार, हेतु और प्रभाव की एक कड़ी हैं। महंगे उधार का अर्थ है, थोड़ी आमदनी और उपरांत दुष्ट चक्र चल पड़ता है। वास्तविक समस्या यह है कि किसान की आय को कैसे उन्नत किया जाय। एक उपाय सस्ती साख का है। विश्लेषण करने पर हमें पता चलता है कि किसान की आवश्यकताएं दीर्घकालिक, मध्यकालिक, ओर अल्पकालिक साख के लिए हैं। अब अल्पकालिक ओर दीर्घकालिक साख में सहज ही अन्तर स्पष्ट हो गया है। अनेक सहकारिता संस्थाएं भूतकाल में असफल हो गईं, क्योंकि उन्होंने केवल अल्प-कालों के लिए रुपया कर्ज देने की आवश्यकता को नहीं समझा था।

---

1. Abhyankar—Provincial Debt Legislation, pp. 45—7

२. पाठक को इससे अधिक ज्ञान के लिए एन. पी. सी. की (Rural Marketing & Finance) पर दी गई रिपोर्ट पढ़नी चाहिए।

कीं। किन्तु सरकार की नीति मुख्यतः ऊपरी बातों तक ही सीमित थी अर्थात् मालगुजारी में छूट, अकालों में सहायता, तकावी ऋणों का देना आदि। १८८९ में शाही कृषि समिति (Royal Agricultural Society) के डा० न. ए. वोयलकर की रिपोर्ट ने भारतीय कृषि की समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित किया और साथ ही उन उपायों की तजवीज भी की कि जिनके द्वारा उनका हल हो सकता था।

वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में, जान पड़ता था कि सरकार ने अपनी उदासीनता की वृत्ति का परित्याग कर दिया था और वह सक्रिय कार्य करने को उद्यत थी, जिसके प्रमाण में उसने १९०४ की सहकारिता विधि (Co-operative Act) को स्वीकार किया। १९०५ में कृषि के केन्द्रीय और प्रान्तीय विभागों की स्थापना की, और १९०६ में अखिल भारतीय कृषि-सेवा के लिए (All India Agricultural Service) विधान बनाया। १९१९ से, जबसे कृषि राज्य का विषय बन गया, केन्द्रीय सरकार ने अपने कार्यकलापों को राज्य सरकारों के कार्यों को "निरीक्षण, निर्देशन और नियंत्रण" करने तक सीमित कर लिया।

१९३७ में, प्रान्तीय स्वायत्त शासन (Provincial Autonomy) के प्रादुर्भाव से, मन्त्रियों ने पर्याप्त उत्साह उत्पन्न किया, किन्तु अधिकांश प्रान्तों में मन्त्रीमण्डल अल्पकाल तक ही रह सके और उन्होंने अपना ध्यान काश्तकारी सुधार और ऋणी किसानों की सुरक्षा जैसी समस्याओं तक ही सीमित रखा, और कृषि कार्यवाहियों की उन्नति के लिए कोई खास कार्य न हुआ। सारांश यह है कि कृषि-क्षेत्र में सरकार के कार्यकलापों से कोई खास भाव उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि कृषि की उन्नति के लिए सरकार के व्यय का कुल योग, भारत में कृषि की जाने वाली भूमि के क्षेत्र और उसमें लगी जन-संख्या को दृष्टि में रखते हुए बहुत ही थोड़ा है। द्वितीय विश्व-युद्ध ने कृषि की समस्या को सर्वोपरि उपस्थित कर दिया। भारत की विदेशी खाद्य-अन्नों पर दयनीय निर्भरता ने हमारी सरकार में अभूतपूर्व स्फूर्ति उत्पन्न की और उस आपत्ति का सामना करने के लिए निश्चित कार्य किये जा रहे हैं। खाद्य-उत्पादन ने सर्वोच्च प्राथमिकता ग्रहण कर ली है, और प्रायः सभी राज्यों में "अधिक अन्न उपजाओ" आन्दोलन के लिए होने वाले कार्यों के अतिरिक्त बड़े-बड़े विकराल सिंचाई साधनों का निर्माण हो रहा है।

२. राज्य कृषि विभागों के कृत्य।[1] कृषि को उन्नत करने का कार्य मुख्यतः राज्य सरकारों का है, केन्द्रीय सरकार तो केवल श्रृङ्खला-बद्ध करने का साधन-मात्र है और वह राज्य सरकारों को आवश्यक प्रोत्साहन देती है, उनका संचालन और निर्देशन करती है।

कृषि के राज्य विभागों के मुख्य कृत्यों में निम्न की देख-रेख और नियन्त्रण भी सन्निहित हैं, (क) कृषि विषयक शिक्षा, (ख) कृषि विषयक अनुसन्धान, (ग) प्रदर्शन और प्रचार, (घ) कौशल विषयक प्रगतियां और (ङ) उन्नत बीजों, औजारों, बनावटी खादों आदि का वितरण।

अब हम इन पर विस्तृत विचार करते हैं।

कृषिविषयक शिक्षा। कृषि में विभिन्न स्तरों पर शिक्षा दी जाती है। प्रार-

---

१. विभिन्न प्रान्तों में हुए कार्य का विस्तृत अध्ययन करने के लिए रिजर्व बैंक आफ इंडिया द्वारा प्रकाशित (State Aid to Agriculturists in India,) पढ़ें।

म्भिक रूप में, प्राकृतिक अध्ययन द्वारा कृषि के एकांगी दृष्टिकोण से शिक्षा दी जाती है। पंजाब सरीखे कुछ राज्यों में वर्नाक्यूलर मिडिल स्कूलों और हाईस्कूलों में कृषि को एक विषय के रूप में पढ़ाया जाता है। कृषि में एफ. एस. सी. करने की भी गुंजा-यश रखी गयी है। वैज्ञानिक कृषि में उच्च-पाठ्यक्रम के लिए पूना, कोयम्बटूर, नागपुर कानपुर में कृषि कालेज भी हैं। लायलपुर कालेज (पश्चिमी पंजाब) के मुकाबले में लुधियाना (पंजाब) में भी कालेज शुरू किया गया है। कृषि में पोस्ट ग्रेजुएट की शिक्षा के लिए इंडियन एग्रीकल्चरल रिसर्च इंस्टीट्यूट, नई दिल्ली में शिक्षा दी जाती है।

एग्रीकल्चरल कालेजों में, सैद्धान्तिक और क्रियात्मिक, दोनों ही प्रकार की शिक्षा दी जाती है। वह कृषि समस्याओं के विषय में अनुसन्धान भी करते हैं। यह अनुसन्धान या तो स्वतन्त्रतापूर्वक होते हैं अथवा, किसी विषय की निखिल भारतीय महत्ता होने पर, इंडियन कौंसिल आव् एग्रीकल्चरल रिसर्च के निर्देशन में किये जाते हैं।

कृषि विषयक अनुसंधान। शाही कमीशन की सिफारिश के अनुसार, १९२९ में इम्पीरियल (अब भारतीय) कौंसिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च की स्थापना की गई थी। इसका उद्देश्य "सम्पूर्ण भारत में कृषि अनुसन्धान को उन्नत करना, निर्देशन करना और शृङ्खला-बद्ध करना, और ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य भागों और विदेशों में कृषि अनुसन्धान के साथ सम्पर्क करना था।" यह वैज्ञानिक सूचना के लिए क्लियरिंग हाऊस के रूप में कार्य करती है। यह कौंसिल दो संस्थाओं द्वारा कार्य करती है: (अ) एक प्रबंधक संस्था, जो कोष आदि तथा अन्य प्रश्नों का प्रबन्ध करती है, और (आ) एक परामर्शदातृ संस्था, जो अनुसन्धान के प्रस्तावों का परीक्षण करती है। और प्रबन्धक संस्था के समक्ष उपस्थित करती हैं।

कौंसिल, स्वीकृत आधार पर अनुसन्धान के लिए कृषि के राज्य-विभागों और विश्व-विद्यालयों को निश्चित उद्देश्य के लिए सहायता प्रदान करती है। सामान्यतः कौंसिल सीधे जांच का कार्य नहीं करती, किन्तु दो मामलों में उसने सीधे नियन्त्रण का कार्य किया है। वह यह है: उत्पादन का मूल्य, विशेष कर कपास और गन्ने का, और (२) कृषि विषयक प्रयोगों का सैनिक दृष्टि से नियन्त्रण। कौंसिल की अनेक योजनाओं पर विभिन्न संस्थाओं ने कार्य किया।

कौंसिल की ओर से, अनुसन्धान के परिणामों को विस्तार देने के लिए एक मासिक पत्रिका प्रकाशित होती है।

कौंसिल ने ग्राम-जीवन को उन्नत करने के लिए और भारतीय कृषि तथा पशु-पालन को अधिक लाभदायक बनाने के लिए अर्थपूर्ण कार्य किया है। इसने शृङ्खला-बद्ध अनुसंधान का संगठन किया और ऐसी ग्रामयोजनाएं चालू कीं, जिनका सम्बन्ध कृषि और पशुपालन के सभी महत्वपूर्ण अंगों से था। क्षेत्रीय कमेटियां बनाई गई हैं, जो क्षेत्रीय समस्याओं के प्रति ध्यान आकर्षित करेंगी।

लगभग १·२५ करोड़ रुपये खर्च करके यह गत २० वर्षों में उन्नत किस्म के चावलों, गेहूं तथा अन्य अन्नों के उत्पादन का कारण बनी है, और उनके द्वारा लगभग २९ करोड़ रुपये की प्राप्ति हुई है। चावल की सिंदूरी किस्म में परिवर्तन कर देने से चावलों में जंगली घास की बुराई से सफलतापूर्वक पिण्ड छुड़ाया गया है और उसके फलस्वरूप, मध्य प्रदेश के अकेले छत्तीसगढ़, डिवीजन में २० लाख मन धान की पैदावार हुई। ऐसी किस्म का गेहूं तैयार किया गया है, जिसे कीड़ा न लग सके। गेहूं के कीड़े ने बहुत बड़े क्षेत्रों को उजाड़ दिया है। और वार्षिक हानि का अनु-

मान ६ करोड़ रुपये किया जाता है । जहां तक छोटे अनाजों का सम्बन्ध है, ज्वार में २० प्रतिशत और बाजरा में ३० प्रतिशत अधिक प्राप्ति की गई है। मक्की के विषय में भी कार्य आरम्भ कर दिया गया है । दालों में ऐसी किस्में तैयार की गयी हैं, जो मुरझा न सकें और चने की चुनी हुई किस्मों से स्थानीय किस्म की अपेक्षा १० से ३० प्रतिशत अधिक प्राप्ति हुई है ।

पशु-पालन के सभी अंगों मे आपूर्ण १०० से अधिक योजनाएं प्रगति कर रही हैं । मुख्य जोर रोगों के नियन्त्रण पर दिया जा रहा है, और उनमें भी रिंडर पैस्ट (एक प्रकार का गाय-बैलों का रोग) पर मुख्यतः मुक्ति के उपायों का उदारतापूर्वक प्रयोग किया जा रहा है ।

पशुओं की नसल बढ़ाने के अनुसन्धान के फलरूप उन्नत किस्म के नर-पशुओं का उत्पादन हुआ है । भेड़ों की नसल में अनुसन्धान करने के फलरूप बढ़िया ऊन का उत्पादन हुआ है । मुर्गी-नसल बढ़ाने के अनुसन्धान से प्रकट हुआ है कि पश्चिमी पक्षियों को जल-वायु के अनुकूल बनाया जा सकता है और स्थानीय पक्षियों की क्रास-ब्रीडिंग (भिन्न प्रकार के नर-मादा से उत्पन्न प्राणी) से उत्पादन और प्राप्ति में वृद्धि हो सकती है ।

शहद की मक्खियों के बारे में अनुसन्धान किया गया है और देसी मक्खियों की किस्म का ज्ञान हासिल किया गया है । उनके पालन और जंगली दशा के विषय में भी खोज की गई है, ताकि ग्रामीणों को मक्खियों को पालने के उन्नत उपाय सिखाये जा सकें ।

मिश्रित खेती और सूखी खेती के सफल प्रयोग किये गए हैं । इससे कृषि आंकड़े और पैदावार की भविष्य-वाणियों के तरीके में उन्नति हुई है ।

प्रदर्शन और प्रचार । अनुसन्धान करने के बाद उस परिणाम का क्षेत्र अथवा स्वतः किसान की भूमि पर प्रदर्शन करना होता है । जिन अवस्थाओं में किसान रहता है, उनमें उस उपाय का सफल प्रदर्शन करने के बाद, यह आवश्यक है कि नये ढंग के विषय में जोर-शोर के साथ प्रचार किया जाय । सरकारी क्षेत्रों में उन्नत बीज भारी परिमाण में पैदा किये जाते हैं अथवा निजी उत्पादकों से खरीदे जाते हैं । उसी प्रकार नवीन प्रणाली के औजार सरकार की देख-रेख में बनाये जाते हैं । इसके बाद, सुविधाजनक स्थानों पर सरकारी डिपुओं, अथवा स्टोरों (भण्डारों) द्वारा किसानों के लिए बीजों , औजारों और खादों की पूर्ति के प्रबन्ध किये जाते हैं। किसानों तक पहुंचाने के लिए सहकारी समितियों का भी उपयोग किया जाता है ।

टैक्निकल प्रगतियां । भारतीय कृषि को सरकारी मार्गों द्वारा जो टैक्निकल प्रगतियां प्राप्त हुई हैं, वह इस प्रकार हैं : उन्नत किस्मों को चालू करना, रोगों पर नियन्त्रण, सिंचाई, मिट्टी की कांट-छांट की रोक, अच्छे और उन्नत औजार, फसल का बेहतर क्रम, चारे की फसलों का अधिक उपयोग, ताकि क्षेत्र को अधिकाधिक खाद मिल सके। जितने कुल क्षेत्र में गन्ना बोया जाता है और जितने कुल के आधे में जूट बोया जाता है, उसमें ८० प्रतिशत उन्नत बीज का उपयोग होता है । व्यापारिक या नकद फसलों के विषय में बिक्री के सिद्धान्त को दृष्टि में रखा जाता है और खाद्य फसलों के बारे में पोषण मूल्य के सिद्धान्त को दृष्टि में रखा जाता है ।

विनाशकारी कीड़ों को रोकने की दिशा में भी बहुत-सा काम किया गया है । इस उद्देश्य के लिए खेती के समय या मिट्टी की अवस्थाओं में परिवर्तन किया जा सकता है, प्रतिरोधी किस्मों को चालू किया जा सकता है अथवा कीड़ों को रासायनिक

औषधियों द्वारा नष्ट किया जा सकता है। भारत में कीड़ों वाले पौधों की आयात के विरुद्ध और स्थानीय कीड़ों को नष्ट करने के उपायों के लिए कानून पास हो चुके हैं। अभी तक इस बुराई की पकड़ नहीं हो सकी।

जहां तक सिंचाई का सम्बन्ध है, पानी के इकट्ठा हो जाने के विरुद्ध सावधानी रखी गई है। कृषि विभाग, जंगल विभाग के सहयोग से मिट्टी की कांट छांट (Soil-erosion) की भीषण समस्या का हल करने की चेष्टा कर रहा है। यह कांट-छांट केवल अधिक वर्षा के क्षेत्रों में ही नहीं होती, प्रत्युत सूखे क्षेत्रों में भी होती है। बेहतर खादों और कृषिसार मुहय्या करने की भी चेष्टाएं की जा रही हैं। सिंद्री में सरकार का कृषि-सार का निजी कारखाना है।

३. सफल परिणाम। कृषि उन्नति के विषय में प्रान्तीय कृषि विभागों और कौंसिल ने लाभदायक कार्य किया है।

इस काम का सम्बन्ध फसल की बेहतर किस्मों को चालू करने, हल चलाने और खाद डालने के उन्नत उपायों, कटाई और संग्रह करने के बेहतर उपायों, टिड्डियों के लिए उपायों, उत्पादन सम्बन्धी कार्यवाहियों, और संरक्षित सेरा के प्रयोग, और पशुओं की उन्नति, मिट्टी और खादों को उन्नत करने के प्रबन्धों से है।

जो भी हो, सबसे महत्वपूर्ण काम भिन्न फसलों के लिए उन्नत किस्म के बीज से सम्बन्धित है। हाल ही के उपलब्ध आंकड़ों से पता चलता है कि उन्नत किस्म की फसलों का क्षेत्र, जो पहले ब्रिटिश भारत के नाम से ख्यात था, बोये जाने वाले क्षेत्र के कुल-योग का १० प्रतिशत है। किन्तु एकाकी फसलों के सम्बन्ध में पर्याप्त रूप से अनुपात में अन्तर है, सबसे ऊंचा अनुपात गन्ने और जूट का है।

यद्यपि बहुत प्रभावपूर्ण उन्नति की गई है, तथापि समस्या की पोर को ही केवल छुआ जा सका है। क्योंकि हम देख चुके हैं कि कृषि-क्षेत्र का केवल $\frac{1}{10}$ ही उन्नत किस्म की कृषि के उपयोग में है। भारत सरकार का कृषि-सम्बन्धी प्रति अंश का व्यय एक आना छः पाई होता है। राज्यों का प्रति अंश का औसत व्यय साढ़े ९ आने है किन्तु यह अमरीका में कृषि पर व्यय होने वाले प्रति अंश के ७७ रु. और कैनेडा में खर्च होने वाले २० रुपये की तुलना में कुछ भी नहीं। इसमें कोई आश्चर्य की भी बात नहीं कि प्रगति बहुत मन्थरगति से हो रही है।"

४. ग्राम पुर्ननिर्माण। ग्राम पुर्ननिर्माण क्या है? ग्राम पुर्ननिर्माण अथवा ग्राम उद्धार, जैसा कि बहुधा कहा जाता है, भारतीय ग्रामजीवन के पुर्ननिर्माण के लिए एक आन्दोलन है। इस आन्दोलन के भौतिक, मानसिक और नैतिक अंश हैं। भौतिकरूप में, इसके द्वारा कृषक-वर्ग के स्वास्थ्य को उन्नत करना है और उनके जीवन-मान को ऊंचा उठाना है। पहला कार्य सफाई के प्रति प्रोत्साहन उत्पन्न करने और चिकित्सा सहायता द्वारा पूर्ण हो सकता है। दूसरा कार्य पूर्ण करने के लिए कृषि की बेहतर रीतियों, अर्थ और बिक्री को लोकप्रिय बनाना होगा। जहां तक मानसिक अथवा बौद्धिक अंश का सम्बन्ध है, लड़के-लड़कियों और वयस्कों के लिए शिक्षा सुविधाएं दी गई हैं।

रेडियो, सिनेमेटोग्राफ, और यात्रा दलों द्वारा भाषणों और प्रदर्शनों से भी जानकारी और शिक्षा दी जाती है, जो भी हो, नैतिक अंश सर्वोपरि आधार-मूलक है। वह ग्रामीण की इच्छा-शक्ति को सजग करेगा ताकि वह अपने व्यक्तित्व के मूल्य को पहचाने। इसका उद्देश्य उसमें आत्मोन्नति और आत्मनियन्त्रण की इच्छा उत्पन्न करना

हैं ; और वह इसकी पूर्ति चाहे व्यक्तिगत रूप में करे अथवा सामूहिक रूप में। इसके द्वारा उसे सदियों के आधारहीन भयों, मिथ्याडंबरों और हीन-भावों से मुक्त करना है। सारांश, यह कि उसके जीवन के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन करना है।

आन्दोलन का श्रीगणेश—सरकार के भिन्न विभाग—कृषि, सहकारिता, सिंचाई, जंगल, पशु-चिकित्सालय, शिक्षा, स्वास्थ्य और चिकत्सा—अपने-अपने ढंग से और अपनी-अपनी सीमा के अन्तर्गत ग्रामों की सहायता करने में लगे हुए हैं। जो भी हो, यह देखा गया है कि इन विभागों के अधिकारी ग्रामीण को किसी प्रकार की उन्नति के लिए प्रेरणा प्रदान नहीं कर सके। अनेक संस्थाओं ने उसे गड़बड़ा दिया है और उनके नुस्खों ने, जो कभी-कभी एक-दूसरे के विपरीत होते हैं, उनमें विश्वास उत्पन्न नहीं किया। उसे अपनी समस्या को भी अपनी आंखों देखने योग्य नहीं बनाया गया।

पहले तो, बहुत ही अनमने होकर यह माना गया, किन्तु भारी मन्दी के अवसर पर निश्चित रूप से मान लिया गया कि यदि पर्याप्त और चिरस्थायी परिणाम प्राप्त करने हैं, तो ग्राम सम्बन्धी गरीबी, अज्ञानता, अशिक्षा, गंदगी, बीमारी, आदि सब समस्याओं को एक समस्या मानकर एक ही समय सुधारना होगा।

५. पंजाब में ग्राम-पुनर्वास। इस बात का श्रेय एफ. एल. ब्रेन, आई. सी. एस. को है कि जिन्होंने ग्राम सुधार आन्दोलन को संगठित रूप में आरम्भ किया। उन्होंने अपने पहले प्रयोग जिला गुड़गांव (पंजाब) में किये थे, जबकि वह वहां के डिप्टी कमिश्नर थे। उन्होंने प्रत्येक गांव में एक ग्राम पथ-प्रदर्शक (guide) नियत किया था। यह पथ-दर्शक भिन्न विभागों के विशेषज्ञों और ग्रामवासियों के बीच सम्बन्ध बनाये रहता था और विशेषज्ञों की सम्मतियों को ग्रामवासियों तक पहुंचाता था। इस योजना से आशातीत सफलता नहीं मिली।

मि० डारलिंग ने कहा था[1] कि ग्राम पथ-दर्शकों को जल्दी में चुन लिया गया था, वह "पर्याप्त रूप में शिक्षित नहीं थे" और उनकी "देख-रेख का प्रबन्ध नहीं था।" अपनी नितांत युवावस्था के कारण, वह ग्रामीणों को किसी प्रकार प्रभावित नहीं कर सके। इसके अतिरिक्त, स्थानीय अवस्थाओं के सविस्तार अध्ययन की ओर भी उचित ध्यान नहीं दिया गया।

महान अपकर्ष के दिनों में ग्राम पुनर्वास आन्दोलन ने बहुत लोकप्रियता प्राप्त की। इस उद्देश्य के लिए पंजाब में मि० ब्रेन की सेवाओं का उपयोग किया गया और वह अक्तूबर १९३३ में, ग्राम पुनर्वास के कमिश्नर नियत किये गए। १९३५–३६ में, भारत सरकार ने प्रान्तों में वितरण करने के लिए एक करोड़ रु. की सहायता की घोषणा की, जो ग्राम क्षेत्रों की उन्नति और आर्थिक प्रगति की योजनाओं पर व्यय किया जाना था। भिन्न प्रान्तों में, ग्राम-उद्धार आन्दोलन को इससे पर्याप्त शक्ति प्राप्त हुई। जो भी हो, मि० ब्रेन की अध्यक्षता में यह आन्दोलन पंजाब में बहुत जोरों के साथ चला।

मि० ब्रेन ने जो कार्यक्रम बनाया था, उसका लक्ष्य निम्न क्रियात्मक कार्यवाहियों के लिए था :—

(अ) स्वास्थ्य,

(१) अधिकार दिया गया कि सब प्रकार का कूड़ा-कचरा गड्ढों में डाला

---

1. M. L. Darling—Rusticus Loquitur, pp. 121-28 and 155.59.

जाय और ग्राम के प्रत्येक सहन और मकान को शुद्ध और साफ रखा जाय और उनकी उफाई की जाय; चाहे वह मकान हो, दफ्तर हो स्कूल हो, मन्दिर हो, अस्तवल हो या आवास हो ।

(२) व्यक्ति और वस्त्रों की सफाई, विशेषकर बच्चों की, और सफाई तथा शुद्धता की शिक्षा देना और अभ्यास करना ।

(३) प्रत्येक रहने वाले कमरे में दो रोशनदान रखना ।

(४) सम्पूर्ण ग्राम में टीके लगाना और पुन: लगवाना ।

(५) मलेरिया को रोकने के लिए जोहड़, नाली, छेद, गड्ढे किसी मकान, सेहन या गांव अथवा किसी सरकारी काम के आसपास पानी के जमाव में मच्छरों की वृद्धि असम्भव बनाई जाय । ऐसे पानी के सब स्थान, जो धोने और पीने के उपयोग के नहीं, या तो पूर दिए जांय, अथवा उनमें तेल डाला जाय ।

(६) शिक्षित दाइयों का प्रबन्ध करना ।

(आ) कृषि कार्य :

(१) अच्छे बीज, विशेष रूप से गेहूं, कपास और गन्ने के लिए ।

(२) धरती की ओर अधिक ध्यान देने के लिए निम्न बातों पर कार्य किया जाय : उन्नत ओजारों तथा उपायों का प्रयोग किया जाय, धरती की अधिक खुदाई और गोड़ाई हो, नई और अधिक लाभदायक किस्म की फसलों को बोया जाय, कपास को पंक्तियों में बोया जाय, पौधों के रोगों और कीड़ों की रोकथाम की जाय, पहाड़ी और असमान प्रदेश में खेतों की मेढ़ें बनाना तथा उन्हें समतल बनाना ।

(३) पशुओं की नसल को उन्नत करने के लिए अच्छी किस्म का सांड खरीदने और रखने के लिए ग्रामीणों में रुचि उत्पन्न करना ।

(४) पशु-रोगों की रोकथाम के लिए मेलों तथा अन्य गांवों से आने वाले पशुओं को पृथक् रखना ।

(इ) मिश्रित :

(१) बच्चों के कानों को छेदने की रीति का त्याग और बच्चों को सोने या चांदी के आभूषण पहनाने के चलन की रोकथाम ।

(२) मितव्ययता, बचत और सब प्रकार के अनावश्यक और अनुत्पादक खर्चे की काट-छांट करना, विशेषकर मुकदमेबाजी और आपसी झगड़ों, सामाजिक उत्सवों, आभूषणों तथा मद्यपान से सम्बन्धित व्ययों में ।

(३) खाली समय का उपयोग करने के लिए, और बच्चों तथा वयस्कों की स्वास्थ्य उन्नति के लिए खेलों एवं स्वास्थ्य-प्रद मनोरंजनों का आयोजन ।

(४) कन्या-शिक्षा; इसे नगर और ग्राम में समान रूप से सब प्रकार की प्रसन्नता और उन्नति का मूल माना जाय ।

इन ध्येयों की प्राप्ति के लिए निम्न साधनों का निश्चय किया गया :—

(१) जो कुछ किया जाना है, उसकी जानकारी के लिए सुसंगठित प्रचार का आयोजन ।

(२) अच्छे स्कूल हों, खेल के मैदानों और बागों का प्रबन्ध हो, अच्छे खेलों और शारीरिक व्यायाम की शिक्षा हो, सफाई के अभ्यास पर और स्वास्थ्य-ज्ञान की शिक्षा पर बल दिया जाय ।

(३) सहकारिता तथा अन्य प्रकार की संस्थाओं का आयोजन हो, ताकि उनके द्वारा लोगों को अपने हित के लिए संयुक्त रूप में मिल कर काम करने का उपयोग किया जा सके ।

वस्तुतः, इन्हीं आधारों पर कार्य किया गया और भिन्न शीर्षकों के अधीन नानाविध सफलता प्राप्त हुई । किन्तु यह आंदोलन स्वेच्छापूर्वक नहीं था । मि. ब्रेन ने स्वीकार किया था, "यह कार्य क्रियात्मक रूप में पूर्णतया सरकारी प्रेरणा, दबाव, अनुरोध और यहां तक कि आदेश द्वारा हो रहा है ।" यदि सरकार के विशेष यत्न बन्द कर दिये जायें, तो सारी प्रगति रुक जायगी और पूर्वतः प्राप्त परिणाम भी नष्ट हो जायेंगे ।

६. **अन्य राज्यों में ग्राम-पुनर्निर्माण ।** अन्य राज्यों की सरकारों ने भी उन्हीं आधारों पर कार्य किया । प्रत्येक के विषय में कुछ शब्द नीचे लिखे जाते हैं :—

(१) **उत्तर प्रदेश**—उत्तर प्रदेश में कांग्रेस सरकार ने ग्राम-पुनर्निर्माण के लिए एक विशेष अफसर नियत किया । एक प्रान्तीय ग्राम सुधार बोर्ड (Provincial Rural Development Board) बनाया गया, और राष्ट्रीय निर्माण विभागों के अधिकारी उसके सदस्य बने । जिला-ग्राम-सुधार समितियों द्वारा कार्यक्रम का संचालन होता है । प्रत्येक ग्राम-पुनर्वास की एक इकाई में १५ ग्राम सम्मिलित किये गये हैं । यह काम बेहतर जीवनयापन संस्था और बेहतर कृषि-कार्य समितियों और पंचायतों द्वारा किया जाता है । उनके मुख्य कामों में उन्नत बीजों और औजारों का वितरण, पशुओं की नस्ल को उन्नत करना, घरेलू दस्तकारियों को उन्नत करना, ग्राम की सफाई और पानी की पूर्ति में उन्नति करना और अच्छे पंचायत घरों का निर्माण करना है ।

(२) **बम्बई**—बम्बई में ग्राम-पुनर्निर्माण विभाग को पहले सहकारिता विभाग के साथ जोड़ा गया था, किन्तु बाद में दोनों विभागों को पृथक् कर दिया गया । ग्राम-उन्नति के कार्य को आर्थिक रूप में जिला कलैक्टर के अधीन कर दिया गया । प्रचार कार्य का भार कृषि और सहकारिता विभागों को सौंपा गया । ग्राम-उन्नति का एक प्रान्तीय बोर्ड निर्देशन और परामर्श के लिए बनाया गया । कुछ गैर सरकारी मनोनीत सदस्यों के अतिरिक्त इसके निम्न सदस्य थे : सहकारिता समितियों का रजिस्ट्रार, डाईरक्टर आव् इंडस्ट्रीज (उद्योग) ग्राम उन्नति और कृषि-मन्त्री, अध्यक्ष के रूप में । बोर्ड के कार्य को सुविधा प्रदान करने के लिए चार कमेटियां बनाई गईं । (अ) कृषि और चल-सम्पत्ति की कमेटी; (ब) शिक्षा और प्रचार कमेटी, (स) घरेलू उद्योग-धन्धों की कमेटी, (द) पिछड़े क्षेत्रों के लिए एक कमेटी । जिला ग्राम-सुधार बोर्ड उन्हें सहायता देने के लिए बनाये गए । उन्नति के कार्य के लिए निम्न मुख्य संस्थाएं थीं : ताल्लुका सुधार समितियां, बेहतर कृषि कार्य की समितियां और अन्य सहकारिता समितियां । उनके कार्य में निम्न बातें समाविष्ट हैं, उन्नत प्रणाली के बीजों और औजारों का सस्ती दरों पर वितरण, पशुओं की नसल में प्रगति, सूखे कृषि-कार्य की रीतियों का विस्तार, घरेलू दस्तकारियों को उन्नत करना, सफाई का उन्नति करना, चिकित्सा-सहायता की पूर्ति, और पिछड़े क्षेत्रों तथा कबीलों की देखभाल करना ।

(३) **पश्चिमी बंगाल**—ग्रामपुनर्वास के डाइरैक्टर के अधीन ग्राम-सुधार का एक अलग विभाग है । यूनियन बोर्डों, ग्राम-उद्धार समितियों और लोक-कल्याण

समितियों द्वारा कार्य का संचालन होता है। इस कार्य में निम्न कार्य सम्मिलित हैं: काटने योग्य जंगलों को काटना, सड़कों की मरम्मत, नालियां बनाना, कुनीन का वितरण, पानी की काई को साफ करना, बीजों का वितरण और ट्यूबवैलों (कुओं) की खुदाई। मुख्यतः ग्राम-सुधार का उद्देश्य जीवन की अवस्थाओं को उन्नत करना, खाद्य के मान को ऊपर करना, मनोरंजन प्रदान करना और घरेलू दस्तकारियों को उन्नत करना है।

(४) **मद्रास**—मद्रास में जिला बोर्ड ग्राम-सुधार के कार्यों की देख-भाल करते हैं। ग्राम की पंचायत द्वारा यह कार्य होता है। मुख्य कार्यों में सफाई को उन्नत करने, यातायात और पानी की पूर्ति सम्मिलित हैं। एक महत्वपूर्ण कार्य ग्रामीण डिस्पैन्सरियों को सहायता देना है। अन्य कार्य अच्छे बीजों और औजारों का वितरण और ग्रामों में गोदामों के निर्माण हैं।

(५) **अन्य राज्य**—अन्य राज्यों में बिहार और आसाम का नाम इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। बिहार में, १९३८ में ग्राम-उन्नति विभाग की स्थापना की गई थी। प्रत्येक डिवीजन में चार आदर्श केन्द्र बनाए गए थे, जिनमें २० से ३० ग्राम शामिल थे। उन केन्द्रों में ग्राम उन्नति का तीव्रगति से कार्य होता है। इन केन्द्रों में संगठन-कर्त्ताओं को इस बात की शिक्षा दी जाती है कि वह नये केन्द्रों में कार्य आरम्भ करें। राष्ट्र-निर्माण विभागों के मुख्य अधिकारियों का एक प्रान्तीय-ग्राम-सुधार सलाहकार बोर्ड है, जो संयोजक संस्था का काम करता है।

कोचीन, मैसूर, हैदराबाद, बड़ौदा और काश्मीर जैसे अन्य राज्यों में भी उन्हीं दिशाओं में कार्य हो रहा है।

७. कार्य करने की प्रतिनिधि संस्थाएं। सरकारी—भिन्न राज्यों में ग्रामपुनर्वास, संगठन और गति-विधियों का समान अनुपालन होता है। एक नियंत्रण संस्था है, जो अलग विभाग या विभाग के एक अंश द्वारा निर्मित की गई है। राष्ट्र-निर्माण के मुख्य अधिकारियों का एक सलाहकार बोर्ड है। देख-रेख करने वाली प्रतिनिधि संस्थाएं हैं, जो स्थानीय-प्रशासन सम्बन्धी सुविधा के अनुसार जिला बोर्ड, यूनियन बोर्डों अथवा ताल्लुका बोर्डों द्वारा निर्मित की जा सकती हैं। असल काम सहकारिता की भिन्न प्रणालियों द्वारा किया जाता है, जैसे बेहतर कृषि-कार्य समितियां और बेहतर जीवन-यापन समितियां। कुछ अवस्थाओं में ग्राम-पंचायतें इस कार्य के लिए महत्वपूर्ण संस्था का रूप धारण कर रही हैं। अधिकांशतः, धन सरकार द्वारा दिया जाता है, और कुछ दशाओं में पंचायतें भी देती हैं।

गैर सरकारी संस्थाएं—कतिपय गैर-सरकारी एजेंसियों द्वारा भी बहुत लाभदायक काम हो रहा है। इसमें महत्वपूर्ण निम्न हैं: अखिल भारतीय चर्खा संघ, अखिल भारतीय ग्राम-उद्योग समिति, लोक-सेवक मंडल (Servants of India Society) और ईसाई मिशन। अन्य संस्थाओं में निम्न उल्लेखनीय हैं: गो-सेवा संघ, श्री निकेतन, बोलपुर (बंगाल), आदर्श सेवा संघ, सर डेविड हैमिल्टन का गोसावा (बंगाल) में कार्य, और राज्यों में भिन्न किसान सभाएं। यह संगठन कार्य के एक अंग में विशिष्टता प्राप्त किये हैं।

८. परिणाम। ग्राम पुनर्वास से सम्बन्धित भिन्न संगठन अच्छे बीज की पूर्ति, उन्नत औजारों की पूर्ति, पशुओं की नसलों को उन्नत करने, घरेलू दस्तकारियों को प्रोत्साहन देने, सफाई को उन्नत करने, और प्रायमरी शिक्षा को प्रोत्साहन देने के

सम्बन्ध में प्रशंसनीय रचनात्मक कार्य कर रहे हैं। उनकी रिपोर्टों को पढ़ने से अच्छा प्रभाव होता है। इसमें सन्देह नहीं कि कतिपय दिशाओं और कतिपय क्षेत्रों में बहुत अच्छा कार्य हुआ किन्तु इस कार्य से ग्राम की अवस्थाओं में महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ और ना ही ग्रामीण के दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन हुआ। इस अल्प सफलता के अनेक कारण हैं।

पहली बात यह है कि भारत एक बहुत बड़ा देश है, जिसमें शारीरिक और सामाजिक अनेक प्रकार की विविधताएं हैं। संकीर्णता और रूढ़िवाद की शक्तियां इतनी बलवान हैं कि उन्हें अल्पकाल में जीत लेना आसान नहीं।

दूसरी बात यह है कि कार्य-विधियों के विषय में उचित योजना नहीं बनाई गई और न ही उन्हें शृङ्खला-बद्ध रखा गया। इस आन्दोलन के पहले दर्जे में समस्याओं की जांच और सविस्तर परिमाण का अनुमान होना चाहिए था और दूसरे दर्जे में एक अखिल भारतीय संगठन का निर्माण होना चाहिए था, जो आंदोलन को गति प्रदान करता।

तीसरी बात यह है कि प्रेरणा ऊपर की ओर से हुई और स्वतः लोगों की ओर से नहीं। ग्राम-नेताओं को शिक्षा के प्रति अधिक ध्यान देना चाहिए था। ग्राम-संस्थाओं—पंचायत, सहकारिता समिति और स्कूल—को अधिक सक्रिय कार्य सौंपा जाना चाहिए था। विशेष रूप से पंचायत को जिला बोर्ड सरीखी उच्च-संस्था की देख-रेख में ग्राम का असली प्रबन्धक बनना चाहिए था।

अंततः, ग्राम पुनर्निर्माण आन्दोलन ने कुछ आधार-मूलक समस्याओं को अछूता ही छोड़ दिया है। उदाहरणतया, भूमि-पट्टा की समस्या, काश्तकारी कानून, भूमि सुधार, भू-सम्पत्तियों की चकबन्दी, सहकारिता आधार पर कृषि कार्य को प्रोत्साहन देना, इत्यादि—जब तक इन समस्याओं का उचित निराकरण नहीं होता, तब तक ग्राम-जीवन में न तो लाभदायक परिवर्तन हो सकते हैं और न ही जीवन-मान को उच्च किया जा सकता है।

पन्द्रहवाँ अध्याय
भूमिकर नीति

१. भूमिका । प्राचीनतम काल से राज्य की आय के रूप में भूमिकर या मालगुजारी अब तक चला आता है। जो भी हो, प्रस्तुत नवीन काल में मालगुजारी निर्धारण की रीतियों, आंकने की विधियों और उसे संग्रह करने के तरीकों के विषय में विधान सभाओं, समाचार-पत्रों और सभा-स्थलों से समय-समय पर आक्रमण हुए हैं। इस अध्याय में पहले हम भारत में भूमिकर की प्रचलित रीतियों का विवरण देंगे, और उसके बाद सरकार की नीति के सैद्धांतिक आधार का परीक्षण करेंगे और अन्त में, उन भिन्न सुधारों का मूल्यांकन करेंगे, जिन्हें भूमिकर पद्धति को अधिक न्यायसंगत बनाने के लिए प्रस्तावित किया जा सकता है ।

२. भूमिकर की नीतियां । भारत में प्रचलित भूमिकर की रीतियों को दो दृष्टिकोणों से विभाजित किया जा सकता है ।

(अ) क्या भूमिकर सदैव के लिए एक ही बार नियत कर दिया गया है अथवा उसमें समयांतर संशोधन होता है। पहले को चिरस्थायी (भू-प्रबन्ध इस्तमरारी बन्दोबस्त (Permanent Settlement) कहा जाता है और दूसरे को अस्थायी भूप्रबन्ध (Temporary Settlement) । इस अवस्था में २० से ४० वर्ष की अवधि में संशोधन किया जाता है ।

(ब) वर्गीकरण के दूसरे आधार में भूमिकर के भुगतान का उत्तरदायित्व होता है। इस आधार पर हमारे यहां भूमिकर की तीन रीतियां हैं:

(१) **जमींदारी विधि**—इस विधि के अनुसार भूमिकर के भुगतान का उत्तरदायित्व जमींदार अथवा भूमि के उस स्वामी पर है, जो वास्तविक किसान से राशि वसूल करता है। यह बंगाल और उत्तर प्रदेश में अधिकतम प्रचलित है ।

(२) **रय्यतवारी-विधि**—इसके अनुसार प्रत्येक भूमिधारी भूमिकर के भुगतान के लिए व्यक्तिगत रूप में उत्तरदायी है। यह बम्बई और मद्रास में प्रचलित है ।

(३) **महालवारी-विधि**—इसके अधीन ग्राम-समाजों के सदस्य संयुक्त रूप में और खंडित रूप में भूमिकर भुगतान के लिए उतरदायी हैं। यह रीति पंजाब और उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में प्रचलित है।

संपूर्ण क्षेत्र का २५% जमींदारी पट्टा के अधीन चिरस्थायी भू-प्रबन्ध के अनुसार बसा हुआ है और ३९% जमींदारी और महालवारी पट्टा के अस्थायी भू-प्रबन्ध के अनुसार और रय्यतवारी पट्टा कुल क्षेत्र के ३६% पर है।[1]

३. चिरस्थायी भू-प्रबन्ध । सरकार को दातव्य भूमिकर के सरकारी निर्धारण को "भू-प्रबन्ध" की व्याख्या का रूप दिया जा सकता है । सबसे पहले माप, वर्गीकरण और भूमि का मूल्य और सब सम्बन्धित व्यक्तियों के अधिकारों की जांच कर ली

---

1. Nanavati and Anjaria---The Indian Rural Problem, p. 50

जाती है।[1] जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, एक भू-प्रबन्ध स्थायी भी हो सकता है अथवा अस्थायी भी।

१७९३ में, बंगाल में स्थायी भू-प्रबन्ध लागू किया गया था। जमींदारों से सदैव के लिए नकद मालगुजारी लेना नियत किया गया। जमींदारों द्वारा वसूल किये लगान का १०/११ सरकार को जाता है और १/११ जमींदारों के पास रहता है। उत्पादन की उन्नत कीमतों और सुरक्षा में वृद्धि के कारण भूमि की कीमत धीरे-धीरे बढ़ गई, और उसके फलरूप जमींदारों की आय पर्याप्त रूप में बढ़ गई। १९०० में सरकारी तौर पर अनुमान किया गया था कि स्थायी प्रबन्ध के अधीन क्षेत्रों की सरकार को दी जाने वाली मालगुजारी ४ करोड़ रु० से कुछ कम थी, जब कि उसी क्षेत्र की किरायों की आय लगभग साढ़े सोलह करोड़ रुपये थी।[2]

१७९५ में, स्थायी भू-प्रबन्ध बनारस में लागू किया गया और साथ ही मद्रास प्रांत के उत्तरीय भाग में भी लागू हुआ। इस विधि को विस्तार देने के लिए एक बार आन्दोलन भी हुआ था। किन्तु १८८३ में ऐसी तजवीजों को अन्त में रद्द कर दिया गया था। बंगाल मालगुजारी कमीशन (१९३८–४०) ने उसे हटाने की सिफारिश की थी।

स्थायी भू-प्रबन्ध का निम्न कारणों से समर्थन किया जाता है:—

(क) आर्थिक दृष्टिकोण से राज्य के लिए यह नियत और स्थिर आय का विश्वस्त साधन था।

(ख) यह सोचा गया था कि जमींदारों को राजभक्त-वर्ग बनाने से भारत में राजनीतिक स्थिरता में सहायता मिलेगी (किन्तु अस्थायी प्रबन्ध वाला क्षेत्र भी राजनीतिक स्थायित्व का उपभोग करता था।)

(ग) यह भी कहा जाता है कि इस विधि से किसानों की समृद्धि बढ़ी और वह साधन-सम्पन्न और साहसी बने। (किन्तु अन्य स्थानों की तरह ही बंगाल में भी अकालों का दौर था। किसानों और जनता के कोष की कीमत पर केवल जमींदारों ने ही ऐश्वर्य किया।)

स्थायी भू-प्रबन्ध लोगों के लिए तभी लाभदायक हो सकता है, जबकि खेती करने वालों और राज्य के बीच के सब बिचौले हटा दिये जायं, ताकि किराये की भावी वृद्धि के हितों का उपभोग वह असल आदमी कर सके, जो हल को स्वयं जोतता है।

४. स्थायी भू-प्रबन्ध को हटाने का प्रश्न। बंगाल मालगुजारी कमीशन के बहुमत ने स्थायी भू-प्रबन्ध को निम्न आधारों पर हटाने का समर्थन किया था:—

(क) इसके कारण भूमि की कीमत में वृद्धि के अंश के लिए सरकार वंचित रह जाती है। भूमि के मूल्य में वृद्धि का कारण जनसंख्या में वृद्धि और कृषि-कार्य का विस्तार है।

---

1. Ibid, p. 98,
2. Government Resolution on Land Revenue Policy. 1902. p. 82.

(ख) इनसे सरकार को खनिजों और मछली-व्यापार की आय में हानि होती है।

(ग) इसके कारण सरकार ग्राम-अवस्थाओं के सही ज्ञान से वंचित रह जाती है, किन्तु रय्यतवारी विधि में सरकार को संपर्क की सुविधाएं हैं।

(घ) यह ऐसा लोह-द्वार है, जिसने सब वर्गों के साहसिक कार्य और प्रारंभ करने की भावना को नष्ट कर दिया है।

(ङ) इसके कारण जमींदार के पिट्ठुओं की एक बड़ी भारी संख्या बढ़ी, जिन्होंने असल किसान और जमींदार के बीच अपने अनेक हितों की रचना कर ली थी।

संक्षेप में, स्थायी भू-प्रबन्ध के परिणामस्वरूप सामन्तशाही की बुराइयों का चलन हुआ और असली किसान का आर्थिक शोषण हुआ।

कमीशन ने इस विधि की जगह रय्यतवारी विधि जारी करने का समर्थन किया और साथ ही यह भी कहा कि वर्तमान समय की अवस्थाओं के लिए यह उपयुक्त नहीं। नीति यह होनी चाहिए कि असल किसान सीधे सरकार की अधीनता में काश्तकार के रूप में पहुंच जाय।[1]

तो फिर भू-प्रबन्ध की क्या अवधि होनी चाहिए ?——जहां तक भू-प्रबन्ध की अवधि का प्रश्न है, ३० से ४० वर्ष की अवधि युक्ति-संगत जान पड़ती है। जो क्षेत्र अभी उन्नत नहीं हुए, वहां अल्प-अवधि का प्रबंध होना चाहिए, ताकि परिवर्तित अवस्थाओं के अनुसार राज्य अपने अधिकार का यथाशीघ्र उपयोग कर सके। तीस वर्ष का प्रबन्ध एक पीढ़ी के लिए राज्य की मांग के विषय में अनिश्चितता को दूर करता है।

५. अस्थायी भू-प्रबन्ध। अस्थायी भू-प्रबन्ध समान चलन के नहीं होते। यहाँ निम्न कारणों से अन्तर उत्पन्न होते हैं (१) उन व्यक्तियों में अन्तर कि जिन से रकम संग्रहित की जाती है, (२) प्रबन्ध की अवधि में अन्तर, (३) कीमत गिनने की विधि में अन्तर, अर्थात् (अ) अखण्ड सम्पत्ति (net assets) का निर्णय करने के लिए, और (ब) सरकार द्वारा ली जाने वाली संपत्ति का अनुपात।

(१) उस प्रतिनिधि के विषय में, कि जो यह कर चुकाता है, निश्चय करने का अंश भूमि की काश्तकारी की विधि है कि जो हमारे यहां तीन प्रकार की हैं :

१. जमींदारी प्रबन्ध, २. महालवारी प्रबन्ध और ३. रय्यतवारी प्रबन्ध।

(२) जहां तक प्रबन्धों की अवधि का प्रश्न है, मध्य-प्रदेश में २० से ३० वर्षों की भिन्न अवधियां हैं, बरार में २५ से ३० वर्ष, मद्रास में ३० वर्ष, उत्तर प्रदेश और पंजाब में यह अवधि ४० वर्ष है।

(३) जहां तक अखंड सम्पत्ति के अन्तर का प्रश्न है, पंजाब सरकार अखण्ड सम्पति का २५% लेती है; बंगाल के अस्थायी प्रबन्ध वाले क्षेत्रों में ७० प्रतिशत तक है और बम्बई में ३५% है।

अब हम प्रबन्ध की तीनों विधियों के अधीन निर्धारण के विषय में अध्ययन करेंगे : जमींदारी, महालवारी और रय्यतवारी।

६. जमींदारी प्रबन्ध। बंगाल का स्थायी प्रबन्ध भी जमींदारी विधि है, और

---

1. Bengal Land Revenue Commission Report. Vol. I. p. 43.

उस पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं। यहां हम बंगाल के जमींदारों के साथ उस प्रबन्ध के विषय में विचार करेंगे, जो अस्थायी प्रवन्ध के अधीन हैं और साथ ही अवध के ताल्लुकेदारों के साथ प्रबन्ध के विषय में चर्चा करेंगे।

सामान्य प्रबन्ध कार्यो के विषय में चर्चा की जा चुकी है, अर्थात् भू-सम्पत्तियों की रेखा खींची जाती है, भूमि का माप होता है, भू-सम्पत्तियों में भिन्न दलों के अधिकारों को दर्ज किया जाता है, और राज्य को दी जाने वाली मालगुजारी का निर्धारण किया जाता है। प्रबन्ध अधिकारी (Settlement Officer) भूमि के मूल्य को निश्चित करता है। चूंकि बंगाल में भूमि के स्वामी प्रायः बीच-बिचौले लोग हैं, इसलिए राज्य किराये के मूल्य के अंश के रूप में ७०% तक ले लेता है। अवध के ताल्लुकेदारों की स्थिति भी कमजोर है और प्रबन्ध प्रत्यक्षतः उनके अधीनस्थ ग्राम-समाजों के साथ है। उन्हें कुछ अधिक देने के लिए कहा जाता है, ताकि ताल्लुकेदारों को सरकारी कोष से १०% तक, ताल्लुकेदारी भत्ता दिया जा सके।

७. महालवारी प्रबन्ध। इस ढंग का प्रबन्ध पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पंजाब में है। भूमि का स्वामित्व ग्राम-समाजों या साझी हिस्सेदार समितियों का होता है।

सब भूमियों का नाप किया जाता है, भू-सम्पत्तियों की सीमा-रेखाएं खींची जाती हैं, विशिष्ट जायदाद में दिलचस्पी रखने वाले सब दलों के अधिकारों को पूरी-पूरी तरह दर्ज किया जाता है। इस भूमि को उत्पादन की स्थिति के अनुसार वृत्तों में बांट दिया जाता है।

"अखण्ड-सम्पति"—किराया सम्पत्ति, अखंड सम्पत्ति कही जाती है। प्रत्येक जायदाद का निर्धारण किया जाता है। इस निर्धारण में निम्न प्रश्न सम्मिलित होते हैं: जमींदार जो नकद किराया प्राप्त करता है, और भूमि का स्वामी होने के नाते, जो लाभ वह प्राप्त करता है, उनका द्रव्य रूप में मूल्य, अर्थात् चराई के अधिकार, चारा, फल, सब्जियां आदि। यदि भूमि को मुफ्त किराए पर दिया जाता है, अथवा मालिक स्वयं भूमि पर खेती करता है, अथवा नकद के बदले किराया जिन्स के रूप में अदा किया जाता है, तो उस समय यह मालूम करने की चेष्टा की जाती है कि यदि जायदाद को नकद किराये पर दिया होता, तो किराया क्या होता। जमींदार का किराया "अखंड सम्पत्ति" कहलाता है।

'अखंड सम्पत्ति' और किराया, दोनों समान नहीं हैं, किन्तु सामान्यतः अस्थायी कृषक, जो सम्पूर्ण और युक्तियुक्त किराया चुकाता है, उसी को अखंड-सम्पत्ति के लिए लगभग सन्तोषप्रद मान लिया जाता है। इसलिए क्रियात्मक रूप में किराये के आधार पर निर्धारण होता है। १९३८ की मालगुजारी कमेटी के शब्दों में, "जमीन के एक खंड से सामान्यतः जितना किराया प्राप्त हो सकने की आशा की जाती है, उसमें से किराया प्राप्त करने में हुई सब लागतों को घटा करके, जो शेष रह जाता है, वह उस भूखंड की अखंड-सम्पत्ति का प्रतिनिधित्व करता है।" दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अखंड-सम्पत्ति और सामान्य किरायों में से लागत घटाना, दोनों पर्यायवाची हैं, और जैसी कि व्याख्या भी की गई है, उन्हें जमींदार की अखंड-सम्पत्ति कहा जा सकता है।

राज्य की मालगुजारी की मांग 'अखंड-सम्पत्ति' के अंश के रूप में नियत है। पहले, सरकार ने अखंड-सम्पत्ति का ८०% लगाया था, किन्तु बाद में, सहारनपुर नियमों (१८५५) के अनुसार यह न्यून करके, ५०% कर दिया गया था, और इस समय यह और भी कम हो गया है, और कतिपय राज्यों में २५% है।

पहली स्थिति में, मालगुजारी सम्पूर्ण गांव के लिए नियत की जाती है और उसके बाद व्यक्तिगत अधि-संपत्ति (Holdings) के अनुसार विभाजित कर दी जाती है। गांव के साझी हिस्सेदारों को संयुक्त रूप में और अलग-अलग रूप में उत्तरदायी ठहराया जाता है। एक पुराना साझी हिस्सेदार, जिसे पंजाब में लम्बरदार कहा जाता है, मालगुजारी संग्रहित करने की जिम्मेदारी लेता है, और प्रतिनिधि रूप में सरकारी कोष में जमा करता है। ग्राम-समाज का एक वर्ग अथवा एक साझी-हिस्सेदारी भी व्यक्तिगत रूप में, नियत सीमा से उस पार पृथक् निर्धारण पर जोर दे सकता है। इस पृथक् निर्धारण को "पूर्ण विभाजन" कहा जाता है। महालवारी क्षेत्रों में प्रबन्ध-कार्यों का यही सामान्य तरीका है, हां, जहां-तहां प्रान्तीयता के कारण कुछ अन्तर अवश्य है। यह प्रबंध स्वतः आंशिक कानूनी और आंशिक कर-विषयक हैं।

पंजाब में बहुधा लगान जिन्स रूप में दिये जाते हैं और फलस्वरूप नकद लगान निश्चित किया जाता है। आदर्श अधिसंपत्ति के किरायों के आधार पर उचित दर निश्चित कर ली जाती है। यदि एक वृत्त में, आदर्श अधिसंपत्ति पर नकद किराये के आधार पर कृषि हो रही है, तो यह दर वृत्त की सब अधिसंपत्तियों पर लागू कर दी जाती है। यदि नकद किराये की कोई मिसाल ही न हो, और जैसा कि सामान्यतः होता है, तो जमींदार द्वारा प्राप्त जिन्स रूप में किरायों का द्रव्य मूल्य निश्चित कर लिया जाता है, और उसका आधार प्रति एकड़ प्राप्ति की औसत और औसत कीमतें होती हैं। यह वृत्त के लिए प्रवन्ध का ढंग है। इसके बाद वह विभिन्न अधिसंपत्तियों पर बांट दिया जाता है। सिद्धांत रूप में भुगतान की संयुक्त जिम्मेदारी है, किन्तु क्रियात्मक रूप में प्रत्येक साझी-हिस्सेदार की मालगुजारी अलग-अलग वसूल की जाती है। पंजाब मालगुजारी संशोधन एक्ट, १९२९, (Punjab Land Revenue Amendment Act) के अनुसार सरकार अखंड-सम्पत्ति का २५% मालगुजारी के रूप में लेती है।

सरकने वाले स्तर की रीति—१९३५ में, जिला लायलपुर के पुनर्प्रबन्ध के अवसर पर पंजाब में निर्धारण का एक नया सिद्धांत बनाया गया था। यह सरकने वाले स्तर की रीति (Sliding Scale System) के नाम से प्रचलित है। १९३० में कृषि की कीमतों में गिरावट के कारण इसकी आवश्यकता हुई। इस प्रणाली का उद्देश्य यह था, "गत २० या तीस वर्षों के औसत स्तर के अनुसार कीमतों की वृद्धि की संभावना को दृष्टि में रखते हुए सरकार को पर्याप्त ऊंची मांग के योग्य बनाना, और इस बीच ऐसी मांग को प्रत्येक फसल के अवसर पर प्रचलित कीमत के अनुसार सही कर लेना।[1] पुरानी प्रणाली के अनुसार, प्रबंध के संपूर्ण काल में प्रमाणित दरों में परिवर्तन नहीं हुआ करता था। निःसन्देह, फसल की स्थिति के अनुसार छूट या सहायता दी जा सकती थी। नई विधि के अनुसार लगान की दर जो अन्तिम रूप में एक विशिष्ट (मुरब्बे—Square) के लिए घोषित हुई थी, अधिकतम रूप में थी, कि जिसे सरकार ४० वर्ष की अवधि में ले सकती है। किन्तु सरकार इस अधिकतम दर को तब तक नहीं लेगी जब तक कीमतों का सामान्य स्तर कम-से-कम अदल-बदल की कीमतों तक ऊँचा नहीं हो जाता। यदि किसी वर्ष में सामान्य कीमत-स्तर उक्त कीमतों से बढ़ जाता है, तो लगान देने वालों को आधिक्य का पूर्ण लाभ दिया जायगा। किन्तु

1. Ibid, p. 30.

ध्यान नहीं दिया जाता। यह बहुत ही अन्याय है। भारत में—वह देश, जिसकी भूमि पर बढ़ती हुई जनसंख्या का दबाव हो, जहां रोज़गार के साधन सीमित हों और जहां लोगों की भारी बहुसंख्या को जीविका-उपार्जन के लिए भूमि की ओर ही झुकना पड़ता है—किराये स्वभावतः ऊंचे होंगे। यदि असामीमात्र जोविका-उपार्जन की अपेक्षा कृषि को व्यापारिक रूप में करते, तो जो-कुछ वह देने योग्य हो सकते, उसकी अपेक्षा वह कहीं अधिक हैं। इसलिए, किराये को मालगुजारी का आधार बनाना उचित नहीं।

जब कृषि सम्बन्धी कीमतें गिरती हैं, (जैसी कि '३० के वर्षों में गिरी थीं) तो किसान को निश्चित हानि होती है। यहां तक कि उसकी आय किसान-परिवार के काम करने वाले सदस्यों की पगारें भी पूरी नहीं कर सकतीं। इस प्रकार उन्हें जमींदार के लाभ के लिए अपने को दास बनाना पड़ता है। प्रो० बृजनारायण के कथनानुसार, जमींदार के हिस्से में लूट का बहुत बड़ा अंश होता है और "सरकार की मालगुजारी इस लूट का एक अंश है।"

१०. मालगुजारी का भार। क्या मालगुजारी का बोझा अत्यधिक है? सरकारी नीति के परिपोषकों की युक्ति है कि यह बोझा भारी नहीं है। ऐतिहासिक रूप में हिन्दू अथवा मुस्लिम शासकों के काल की अपेक्षा मालगुजारी इस समय पर्याप्त रूप में कम है। इस प्रकार मनु ने संपूर्ण उत्पाद का १/१२ से १/६ तक, और "युद्ध अथवा अन्य सार्वजनिक संकट में" तो एक-चौथाई तक लेने का आदेश किया था।[1] अकबर के काल में यह अंश अधिक था। पंजाब में सिक्खों ने उससे भी अधिक लिया था। फलस्वरूप सिक्ख-काल में सम्पूर्ण उत्पाद की २/५ से १/३ तक की भिन्न मांग थी। अंग्रेजों ने अखंड सम्पत्ति की १/२ अधिकतम मांग नियत की थी, यद्यपि वास्तव में यह किराये के ३०% से कम होती है। सम्पूर्ण उत्पाद की दृष्टि से आंकने पर १९३६–३९ में समाप्त होने वाले तीन वर्षों में जो औसत वसूली हुई, वह केवल ६·७ प्रतिशत थी। पंजाब लगान कमेटी (१९३०) का कहना है कि, "यदि हमें मन्दी के पूर्व तीन वर्षों को लेना होता, तो अनुपात सम्भवतः ५ प्रतिशत की अपेक्षा न्यून होता। इसकी तुलना में सौ वर्ष पूर्व, सिक्खों ने ३३ से ४० प्रतिशत लिया था।"[2]

१९३६–३९ में समाप्त होने वाले तीन वर्षों में, पंजाब में कृषि-गत प्रति एकड़ की औसत मालगुजारी १ रु० ९ आ० २ पा० रही थी।

भारत के कुछ महत्वपूर्ण प्रान्तों में १९३९ की जन-संख्या के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति और कृषि-गत प्रति एकड़ की मालगुजारी का भार निम्न आंकड़ों द्वारा प्रकट होता है।[3]

---

1. Taxation Enquiry Committee Report, (1924—1925) p. 39.
2. Report, p. 11.
3. Taken from Wadia & Merchant: Our Economic Problem, p. 246.

१९३९ में मालगुजारी का भार

प्रान्त	प्रति कृषि-गत एकड़ पर	जनसंख्या के प्रति व्यक्ति पर
	रु०—आ०—पा०	रु०—आ०—पा०
बंगाल :		
स्थायी प्रबन्ध	१— ४—०	०—१२—०
अस्थायी प्रबन्ध	३— ४—०	०—११—०
अवध :		
स्थायी प्रबन्ध	१— ६—०	१—१५—०
अस्थायी प्रबन्ध	१—१५—०	१— ९—०
पंजाब :	१—१५—०	
बम्बई :		
रय्यतवारी	१—११—०	१—१५—०
मद्रास :		
रय्यतवारी	२— ८—०	१—१५—०
जमींदारी	१— ६—०	०—१४—०

इस प्रकार वर्तमान प्रणाली के समर्थकों का कहना है कि (१) प्रति एकड़ और जनसंख्या के प्रति व्यक्ति पर मालगुजारी का बोझा बहुत ही कम है और भूतकाल की तुलना में तो यह न के बराबर है; (२) यह कहा जाता है कि यदि इस भार को भी हटा दिया जाय तो वह किराया वसूल करने वालों के पास चला जायगा, और वास्तविक किसान को इससे लाभ नहीं होगा,[1] (३) यह कहा जाता है कि अंग्रेजी शासन-काल में किसान की समृद्धि में वृद्धि हुई, जब कि टैक्स कम कर दिया गया था, और अन्ततः (४) मालगुजारी टैक्स नहीं, प्रत्युत किराया है, और इस प्रकार उत्पादन के मूल्य में इसका प्रवेश नहीं और फलतः वह किसान की समृद्धि को प्रभावित नहीं करता।

मालगुजारी किराया है या टैक्स है, यह प्रश्न विवादास्पद है, इसके विषय में हम आगे विचार करेंगे। जहां तक इस वाद के समर्थन में दी गई अन्य युक्तियों का सम्बन्ध है कि भारतीय किसान पर मालगुजारी का गंभीर भार नहीं है, निम्न उत्तर दिया जा सकता है :

१. हिन्दू और मुस्लिम शासकों के काल में मालगुजारी नियत थी और जिन्स-रूप में संग्रहित की जाती थी; वर्तमान में, यद्यपि छूट और निलंबन स्वीकार किये जाते हैं तथापि दी जाने वाली राशि नकद में नियत है, जब कीमतें न्यून हों, तो इससे बहुत ही कठिनाई होती है। संग्रहित करने की राशि और ढंग भारतीय शासकों की अपेक्षा अत्यधिक कठोर हैं।

२. ब्रिटिश-काल में दस्तकारियों के क्षय और जन-संख्या में वृद्धि के कारण भूमि पर पर्याप्त रूप में दबाव बढ़ा। यहां तक कि जब भारतीय शासक सम्पूर्ण उत्पादन का बड़ा अंश ले चुकते थे, तो प्रति परिवार के लिए एक बड़ा अंश बच जाता था। उस शेष से वह अपनी परम्परागत सुविधाओं से गुजर-बसर कर सकते थे।

३. यदि हम इसी समस्या को मान लें कि सैकड़ों वर्ष पहले भार की अपेक्षा वर्तमान का भार हल्का है, तो अन्यायपूर्ण होने की दशा में, वर्तमान बोझा न्याय नहीं ठहराया जा सकता। हमें १६ वीं सदी के न्याय-स्तर को लागू नहीं करना चाहिए,

1. Anstey, op. cit., p. 377.

जबकि हम २०वीं सदी में रह रहे हैं। हमें मालगुजारी का अनुपात उसके गुणों के आधार पर टैक्स लगाने के नवीन-सिद्धांतों के अनुसार आंकना चाहिए।

४. यह कहना कि इस प्रणाली को हटा देने से उसका लाभ किराया प्राप्त करने वालों को चला जायगा, यह युक्ति-युक्त नहीं। अनेक मालगुजारी देने वाले किसान-मालिक हैं; किसी प्रकार की छूट अथवा समाप्ति से उन्हें प्रत्यक्षतः और तत्काल लाभ होगा। जहां तक सम्बन्ध बड़े जमींदारों से है (यदि उन्हें बना रहना है) तो यह बोझा अत्यधिक भारी होने की अपेक्षा अत्यधिक हल्का है। उन्हें मालगुजारी के रूप में नहीं प्रत्युत कृषि-आयों के रूप में अधिक राशि देनी चाहिए।

५. जहां तक किसानों की समृद्धि में वृद्धि का सम्बन्ध है, यह निश्चित तथ्य नहीं। इस विषय पर भिन्न मत हैं कि औसत किसानों को आज के दिन अधिक अन्न, वस्त्र और स्वास्थ्य लाभ हुआ है या सदियों पहले अधिक था। यदि उसकी गरीबी में न्यूनता हो गई (हम खुशहाली तो कह ही नहीं सकते) तो यह कोई न्याय नहीं कि उस पर ऐसा बोझा लादा जाय कि जो उसकी आर्थिक क्षमता के अनुकूल न हो। ऐसे ही वर्गों को लीजिये, कि जो ब्रिटिश राज्य में वास्तव में ही खुशहाल हुए थे, तो क्या उन्होंने उसी अनुपात मे अपना अंश चुकाया?

६. किसान-कृषक को सहायता देने से क्यों इंकार किया जाता है, इसका वास्तविक कारण यह है कि यदि अनार्थिक अधिसंपत्तियों को मालगुजारी से छूट दी जाये तो सरकार की अर्थ-व्यवस्था पर भीषण प्रहार होगा।

मालगुजारी का कोई भी रूप हो, वह देने वालों की टैक्स को क्षमता के अनुरूप होना चाहिए, और उसे टैक्स की विख्यात रीतियों के अनुसार ही लगाया जाना चाहिए। सब से महत्वपूर्ण रीति, अर्थात् "साम्य" (Equity) की संतुष्टि को जायगी बशर्ते कि अर्थ-व्यवस्थाहीन अधिसंपतियों को मालगुजारी में से निकाला जाना हो और प्रगति का सिद्धान्त (Principle of progression) लागू किया जाना हो। इसके अतिरिक्त, इसे मौसमी अवस्थाओं और कीमतों में परिवर्तन के अनुसार मेल बैठाने के लिए भी लोचदार बनाना चाहिए।

११. टैक्स या किराया। मालगुजारी टैक्स है या किराया, यह एक पुराना विवाद है और नीति के विषयों से इसका कोई क्रियात्मक सम्बन्ध नहीं। बेडन पावेल ने इसे लाभहीन "वाग्युद्ध" कहा है। इतने पर भी यदि हम मान लें कि भारत में राज्य की व्यापक जमींदारी है और फलस्वरूप मालगुजारी किराया है, तो लोक-हित से संबंधित किये बिना यह आरोप लगाना उचित नहीं। एक जमींदार भी, यदि वह जागरूक है, अर्थ-व्यवस्थाहीन अधिसंपत्तियों को किराये से मुक्त कर सकता है। जब वह जमींदार भी राज्य है, तो उसका मुख्य दृष्टिकोण प्रजा का हित होना चाहिए, (किसी प्रकार के सैद्धांतिक अधिकारों को थोपे बिना)। यदि छोटे अधिसंपत्ति वाले को सहायता चाहिए, तो उसे मिलनी ही चाहिए, भले ही वह, जो भुगतान कर रहा है, वह मालगुजारी रूप में सिद्धांततः टैक्स अथवा किराया माना जाता है।

मालगुजारी किराया है या टैक्स, यह इस प्रश्न के उत्तर पर निर्भर करेगा: "भूमि का मालिक कौन है?" यदि राज्य मालिक है तो यह किराया होगा; और यदि लोग मालिक हैं तो वह टैक्स। यह प्रमाणित करने के लिए बहुत थोड़े उदाहरण हैं कि भारत में राज्य ही जमींदार है। भारत में राज्य इतिहास के आधार पर भूमि के स्वामित्व का दावा नहीं कर सकता। विलसन के कथनानुसार, "सत्ता के स्वामित्व का अधिकार हिन्दुओं की व्यवस्थाओं अथवा प्राचीन नियमों द्वारा प्राप्त नहीं होता और न ही

नवीन हिन्दू वकील उसे विशिष्ट अथवा व्यक्तिगत स्वामित्व के अनुरूप स्वीकार करता है।" जहां तक मुस्लिम कानून का सम्बन्ध है, हमारे पास कर्नल गैल्लोवे के अधिकारपूर्ण शब्द हैं : "जहां तक सम्भव हो सकता है, भूमि किसान की सम्पत्ति थी। जब तक वह अपने करों का भुगतान करता था, तब तक उसे अशांत करने के लिए, न तो कानून ने कोई अधिकार दिया था, और न ही उसे हटाने के लिए नीति में कोई आदेश था।......"

यहां तक कि आधुनिक काल में भी, भारत में राज्य ने भूमि के स्वामित्व के अधिकार का दावा नहीं किया। जैसा कि बेडन पावेल ने जमींदारी भू-खंड के विषय में उल्लेख किया है, सरकार ने निश्चित रूप से यह कहा है कि भूमि के स्वामित्व के अधिकार "भूमिधारियों में निहित घोषित हो चुके हैं।" रय्यतवारी जिलों में रिक्त और व्यर्थ भूमि पर राज्य का "विशिष्ट अधिकार" है। किन्तु किसान को निकालने का उसे अधिकार नहीं, "सिवा मालगुजारी का भुगतान न करने के फलस्वरूप अपराध के कारण।" "फलतः", वह निर्णय करते हैं, "भारत के अधिकांश भाग पर सरकार का "स्वीकृत स्वामित्व" विद्यमान नहीं है ओर अन्य भागों पर केवल बहुत ही विशेष दशा में है।"[1]

इस दायित्व में टैक्स और साथ ही किराये के अंश भी सम्मिलित हैं। चूंकि राज्य द्वारा यह अनिवार्य कर लगाना ओर समयांतर संग्रहित करना है, इसलिए यह टैक्स से मिलता-जुलता है। किन्तु चूंकि प्रायः[2] सभी भूमियों को यह भुगतान करना होता है, और इसमें प्रगति (Progression) का कोई तत्व नहीं, और कुछ प्रांतों में कृषि-आयों के टैक्स से यह अतिरिक्त है, तो कोई इसे किराया भी समझ सकता है। "संभवतः यह कहना इसका निकटतम रूप होगा," वेरा एन्स्टे उल्लेख करती हैं, "कि यह किराये पर टैक्स है चूंकि भारत में असल कृषकों का एक बड़ा अनुपात 'भू-स्वामियों' के रूप में है, इसलिए इसमें संदेह नहीं कि सरकार उस एक आय को माल-गुजारी के रूप में प्राप्त कर रही है, जो अन्यथा उनकी जेबों में चली गई होती।"[3]

किन्तु, चाहे यह किराया है, अथवा टैक्स है, यह एक दायित्व है, जो सरकार द्वारा लगाया जाता है और फलरूप इसे किसानों की "भुगतान करने की कार्य-शक्ति" के समान कर लेना चाहिए और इसे टैक्स लगाने की ख्यात रीतियों के अनुरूप बना लेना चाहिए।

१२. मालगुजारी सुधार की दिशाएँ। भारतीय मालगुजारी-प्रणाली की विशेषज्ञों और राजनीतिज्ञों, दोनों ने ही कड़ी आलोचना की है। यह मुख्यतः इस सूत्र पर आधारित हैं : "पुराना टैक्स, टैक्स नहीं है।" वर्तमान प्रणाली के विषय में निम्न आपत्तियां हैं :

क. किसानों की बहुसंख्या पर यह भार दबाव के रूप में है।

ख. यह साम्यता की रीति को भंग करती है, क्योंकि इसमें न्यूनतम छूट नहीं और न ही प्रगति है।

ग. निर्धारण का आधार अन्यायपूर्ण और अस्पष्ट है।

---

1. Quoted by V. Anstey, op. cit., p, 376.
2. Some Lands are revenue free-grants.
3. V. Anstey. op. cit., p. 376.

घ. इस प्रणाली में लचीलेपन का अभाव है, क्योंकि या तो मालगुजारी स्थायी नियत कर दी जाती है अथवा ३०–४० वर्षों के दीर्घकाल के लिए।

ङ. संग्रहित करने में कठोरता की जाती है।

जहां तक वर्तमान प्रणाली को सुधारने का प्रश्न है, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, यह कहना कि मालगुजारी टैक्स है या किराया, इससे उसका कोई संबंध नहीं। वर्तमान प्रणाली उन्नत करने के विभिन्न प्रस्ताव किये गये हैं। (१) छोटी भू-सम्पत्तियों के स्वामियों की सहायता, (२) बड़ी मालगुरी देने वालों और अन्य रूपों में टैक्स देने वालों के बीच टैक्स लगाने के भार का अधिक साम्यतापूर्वक वितरण।

सुधार के लिए निम्न प्रस्ताव उपस्थिति किए जा सकते हैं :

१. स्थायी प्रबन्ध को हटा दिया जाय। इस विषय पर हम विचार कर चुके हैं और हमने उसका समर्थन किया है।

२. कुछ लेखकों का प्रस्ताव है कि आधुनिक मालगुजारी-प्रथा हटा दी जाय और उसकी जगह कृषि से प्राप्त आयों पर आयकर लगाया जाय।

३. कुछ अन्य मालगुजारी में आयकर के सिद्धांत को लागू करना चाहते हैं, अर्थात् छोटी भू-सम्पत्तियों को मुक्त किया जाय और बड़े भू-स्वामियों पर प्रमाणित दर लगाई जाय।

४. अन्ततः, कुछ लेखकों ने उन दोनों को व्यक्त किया है, जो शुद्ध-सम्पत्ति गणना के विषय में हैं, विशेष कर पंजाब में, और वह चाहते हैं कि इस अनुमान को अधिक वैज्ञानिक रूप दिया जाय।

सोलहवाँ अध्याय

भारतीय उद्योग

१. भारतीय उद्योग-धन्धों का सिंहावलोकन। भारत का औद्योगिक अतीत वर्तमान में हमारे लिए विशेष रूप से उत्साहप्रद है। जबकि शेष विश्व अभी अर्द्धसभ्य दशा में था, तब संसार के व्यापार और उद्योग में भारत की उच्चतम स्थिति थी। "जिस काल में योरोप के पश्चिम में, जो नवीन औद्योगिक प्रणाली का जन्म स्थान है, असभ्य जातियों का अधिवास था, उस समय भारत अपने शासकों की संपत्ति और अपने कारीगरों की कलापूर्ण चातुरी के लिए विख्यात था।"[1] "ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व की मिस्र देश की ममियां बढ़िया किस्म की भारतीय मलमल में लिपटी हुई देखी गई हैं।"[2] तेहरवीं शताब्दी के पूर्व-भाग में, जब मार्को पोलो ने भारत की यात्रा की, तो उसने कहा था कि भारत एशिया के मुख्य: विक्रेता के रूप में अपनी पुरानी ख्याति को स्थिर बनाये हुए है। इस प्रकार के अनेक उद्धरण दिये जा सकते हैं, किन्तु इस बात की आवश्यकता नहीं। यह सर्वमान्य है कि भारत ने अपने अतीत में जो औद्योगिक उन्नति की थी, उसका जाज्ज्वल्यमान रूप प्रकट किया जा सकता है।

२. भारतीय उद्योगों का पतन। किन्तु भारत ने जो स्पर्द्धापूर्ण स्थिति बना ली थी, वह सदैव के लिए स्थिर रहने वाली नहीं थी। हमारी इस गर्वपूर्ण रचना का विध्वंस करने के लिए कुछ अंशों ने षड्यन्त्र किया।

(१) पुरानी भारतीय अदालतों का अंत। भारतीय उद्योग देसी न्यायालयों की देख-रेख में फूलते-फलते थे। ब्रिटिश सत्ता के एकीकरण और केन्द्रीयकरण से उनका लोप हो गया। स्वाभाविक ही था कि जब उनके संरक्षक ही लोप हो गए, तो उद्योग भी जीवित नहीं रह सकते थे।

(२) विपरीत पश्चिमी प्रभाव—पश्चिमी रंग में शिक्षित हुआ नया शिष्ट समाज पुरातन भारतीय गौरव का फीका स्थानापन्न था। जैसा कि डा० एन्स्टे का कहना है, "भारत के धनी वर्ग ने योरोपीय फैशन को अपनाना शुरू कर दिया और या तो वह आयात की हुई वस्तुओं को खरीदते अथवा उन सस्ते देशी उत्पादनों से ही संतुष्ट हो जाते कि जो योरोपियनों को बेचे जाते थे। यदि उन्हीं को वह पहले अपने ही यहां से लेते, तो निश्चय ही नाक-भौं सिकोड़ते।" हर बात में पश्चिमी ढंग को अपनाने की एक लहर सी पैदा हो गई थी।

(३) घर में और भारत में ब्रिटिश-नीति—अपने निजी उद्योगों को उन्नत करने और उन्हें विदेशी प्रतिद्वन्द्विता से सुरक्षित रखने की इच्छा के फलस्वरूप, ब्रिटिश पार्लियामेंट ने भारतीय वस्त्र पर प्राय: प्रतिरोधी कर लगा दिये थे। १७०० और १८२९ के बीच रंगीन छींटे पूर्णतया रोक दी गई थीं, और कतिपय अन्य किस्मों पर ३० से ८० प्रतिशत तक कर देना होता था। प्रो० होरेस विल्सन लिखते हैं, "यदि इस प्रकार के प्रतिरोधी कर और बन्धन विद्यमान न होते, तो पैसले और

---

1. Report of the Indian Industrial Commission, 18, p. 1.
2. Ranade—Essay on Indian Economics, p. 171.

मांचैस्टर की मिलों का जन्मते ही गला घुंट जाता और उन्हें वाष्प की शक्ति से भी चलाना कठिन हो सकता था।"

भारत की अधीन-सरकार ने होम गवर्नमेंट की ईमानदारी के साथ हां-में-हां मिलायी। अंग्रेजी वस्तुओं को भारत में सस्ते दामों पर झोंकने का प्रत्येक यत्न किया गया और भारतीय उत्पादकों को निरुत्साहित करने और दवाने की हर चेष्टा की गई।

(४) **मशीन-बनी वस्तुओं की प्रतिद्वंद्विता**—मशीन की बनी वस्तुओं की प्रतिद्वंद्विता का एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि वह कठिनाई-रहित थीं और यातायात तथा वहनीयता के साधनों की प्रगति से अधिक प्रभावशाली बन गई थीं। पुरानी दस्तकारियां, जिनमें एक वस्तु को बनाने के लिए कारीगर असाधारण लम्बा समय लेता था, भले ही वह सुन्दर एवं कलापूर्ण होती थीं, स्वभावतः ही उस औद्योगिक क्रांति के समक्ष नहीं टिकती थीं, जो विदेशों में हो चुकी थी।

वर्तमान परिस्थिति यह है कि कुछ-एक प्राचीन उद्योग जीवित हैं और अनेक नवीन महान् उद्योगों को भी उन्नत किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में हम घरेलू उद्योगों के विषय में चर्चा करेंगे और आगामी तथा उसके बाद के अध्याय में नवीन वृहद्-उद्योगों तथा उनकी समस्याओं के विषय में चर्चा करेंगे।

घरेलू दस्तकारियाँ

३. नवीन औद्योगिक रचना में लघु-स्तर उद्योगों का भाग। अतीत में, विश्व-उद्योगों में भारत का प्रमुखतम स्थान था। पुराने भारतीय उद्योग अधिकांश लघु-स्तर पर थे और उनका स्थान "घरेलू" वर्ग में आता है। हमने यह भी देख लिया है कि कुछ एक विपरीत स्थितियों के कारण, भारतीय उद्योगों का, जो किसी समय वहुत फूली-फली दशा में थे, पतन हो गया।

हाल ही के समय में, लघु-स्तर उद्योगों को नये अनुकूल अंशों द्वारा विशेष सहायता प्रदान की गई है, अर्थात् सस्ती बिजली की प्रगति, जो छोटे अंशों में दी जा सकती है; धनी वर्गों में कलापूर्ण और ऐश्वर्य की वस्तुओं के लिए रुचि की वृद्धि, सहकारिता आन्दोलन की उत्पत्ति, और टैकनीकल (कला-कौशल विषयक) ज्ञान का विस्तार। इस प्रकार वृहद्-स्तर उद्योगों के साथ-साथ लघु-स्तर उद्योगों की सफलता भी हमें दिखाई पड़ती है। वह लघु-उद्योग प्रतिद्वंद्वी होने की अपेक्षा वृहद्-उद्योगों के पूरक के रूप में हैं।

फ्रांस में ९९ प्रतिशत से अधिक औद्योगिक व्यवसायों में, प्रत्येक में १०० से कम कार्यकर्त्ता नियोजित हैं। जर्मनी में, संपूर्ण जनसंख्या का १२·६ प्रतिशत दस्तकारियों से अपनी आजीविका उपार्जन करता है। बरमिंघम जैसे वृहद् औद्योगिक नगर में, कम से कम ५० प्रतिशत लघु-स्तर औद्योगिक व्यवसाय हैं, और उनमें ५० से भी कम कार्यकर्त्ता कार्य करते हैं।[1] जापान में, औद्योगिक जनसंख्या का ५३ प्रतिशत ऐसे छोटे व्यवसायों से जीविका उपार्जन करता है जिनमें ५ से भी कम कार्यकर्त्ता नियोजित हैं।[2] बैल्जियम, हालैंड और स्विट्जरलैंड में अनेक छोटी-छोटी वस्तुएं

1. Radha Kamal Mukerjee—Economic Problems of India, 1949, pp. 20-25.
2. Hubbard—Eastern Industrialisation and its Effect on the West, p. 114.

लघु-स्तर पर निर्मित की जाती हैं। अमरीका में यह अनुमान किया गया है कि अमरीका के व्यापारिक व्यवसायों में ९२·५ प्रतिशत लघु-व्यवसाय हैं, जिनमें देश का ४५ प्रतिशत श्रम नियोजित है, और वह सम्पूर्ण व्यवसाय के ३४ प्रतिशत का प्रबन्ध करते हैं।[1] प्रायः प्रत्येक देश में लघु-स्तर उद्योग जीवित हैं, और वह अत्यधिक महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

४. भारत में लघु-स्तर उद्योगों के पुनर्जीवन के कारण। औद्योगीकरण की उन्नत दशाओं में पहुंचे हुए देशों में से भी जब बृहद्-स्तर के उद्योग लघु-स्तर के उद्योगों का विनाश करने योग्य नहीं हो सके, तो भारत में घरेलू उद्योगों की दृढ़ता के विषय में समझ लेना कोई कठिन बात नहीं। घर और बाहर प्रतिद्वंद्विता के होने पर भी भारत में घरेलू दस्तकारियों ने अपने को ज्यों-त्यों जीवित रखा है। घरेलू उद्योगों को पुनर्जीवित करने के लिए संक्षेप में निम्न हेतु बताये जा सकते हैं:

१. घरेलू दस्तकार की निश्चलता और घर पर रहने की आदतों ने उसे पुरानी लकीर का फकीर बना रखा है। इसके साथ ही वैकल्पिक कार्यों के अभाव में दस्तकार अपने पैतृक व्यवसाय को न तो त्यागने योग्य बना और न ही उसमें ऐसी इच्छा उत्पन्न हो सकी।

२ जाति-पांति की प्रणाली भी इस बात के लिए उत्तरदायी है कि उसे जाति-गत व्यवसाय से ही चिपके रहना पड़ा, हालांकि उनमें से लाभ का अंश निकल गया था।

३. अपने ही मकान में, अपने परिवार के प्रिय सदस्यों की सहायता से अपनी इच्छा के आधार पर कार्य करने का एक निजी आकर्षण होता है। यह वातावरण बहुत ही सहानुभूतिपूर्ण होता है, और उसे ऐसा लगता है कि वह अपने व्यवसाय का विशेषज्ञ है।

४. हमारी जनसंख्या के ६५ प्रतिशत का व्यवसाय कृषि है किन्तु इस कृषि से जो रोजगार मिलता है, वह स्थायी नहीं। वर्ष में तीन-चार मास के लिए किसानों को बेकार रहना पड़ता है। अनेक ऐसे पूरक उद्योग हैं, जिन्हें कृषि के साथ जोड़ा जा सकता है।

५. अब भी भारत में ऐसे लोगों की बहुत बड़ी संख्या है, जो कलापूर्ण कार्य के लिए मूल्य देने को तैयार हैं और उसके ग्राहक हैं। उनके संरक्षण ने अनेक पुरानी दस्तकारियों को पतन से बचा लिया है।

६. कतिपय ऐसी वस्तुएँ हैं, जिनकी मांग स्थानीय है, अल्प है अथवा अत्यधिक सीमित है, और इसलिए उनका मशीन से उत्पादन नहीं हो सकता। उनका घरेलू उद्योग में ही निर्माण किया जा सकता है।

७. घरेलू दस्तकार में यह योग्यता है कि वह भिन्न ग्राहकों की भिन्न रुचियों के लिए अनेक ढंगों को चालू कर सकता है, और उन्हों के कारण वह स्थिर रहा और उन्होंने उसे मृत्यु से बचा लिया। बाजार की निकटता उसे अपने ग्राहकों की आवश्यकताओं का अध्ययन करने की सुविधा प्रदान करती है, और उसके कारण वह इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर सकता है कि उन्हें कोन-सी बात सर्वाधिक संतुष्ट करेगी।

---

1. Indian Fiscal Cmmission (1949-50), Report, p. 101.

८. गांव का एकाकीपन अभी पूर्णतया नष्ट नहीं हुआ और अनेक ग्रामीण दस्तकारियां अब भी ऐसी हैं, जिनका मुकाबला मशीन की बनी वस्तुएँ नहीं कर सकतीं।

९. कुछ कलाकारों ने अपने को नई अवस्थाओं के अनुकूल बना लिया है और उन्होंने अपनी दस्तकारी को नये पदार्थों अथवा नये औजारों का लाभ उठाकर बचा लिया है। जुलाहे ने मिल के बने सूत और वेगपूर्ण शटल (सूत की नली) को, रंगरेज ने बनावटी रंगों को, दर्जी ने सिलाई की मशीन को, ठठेरे ने पीतल और तांबे की चादरों को और लोहार ने मशीनों के बने लोहे को अपना लिया है।

१०. हाल ही के दिनों में भारतीय रुचि में भी कुछ परिवर्तन हो गया जान पड़ता है, और हाथ की बनी वस्तुओं का फिर से पोषण होने लगा। भारतीय भावना अब "भारतीय वस्तु को खरीदो" आन्दोलन के पक्ष में हो गई है और उसे बल प्रदान करने लगी है, और फलस्वरूप घरेलू दस्तकारियों को स्वाभाविक रूप में लाभ प्राप्त हुआ है।

११. हाल ही के वर्षों में, केन्द्रीय और राज्य-सरकारों ने भी घरेलू उद्योगों को पनपाने के लिए उदारतापूर्वक अनुदान किये हैं।

यही कुछ अंश हैं, जिनके कारण भारत में घरेलू दस्तकारियों की आश्चर्यजनक उपयोगिता प्रकट हो जाती है।

५. घरेलू उद्योगों की वर्तमान स्थिति। भारत में सब घरेलू उद्योगों की समान दशा नहीं है। उनकी वर्तमान अवस्था प्रत्येक के साथ होने वाली मशीनी वस्तुओं की प्रतिद्वंद्विता के आधार पर भिन्न-भिन्न हैं। कुछ दस्तकारियां तो संपूर्णतया मर ही गई हैं। उदाहरण के लिए, ढाका की मलमल का तो नाम-निशान ही नहीं मिल सकता। कुछ अन्य ऐसी हैं, जो मृतप्राय दशा में हैं, अर्थात् हाथ-कताई और अभी कुछ अन्य हैं, जैसे बुनने के हाथ के कर्घे, कि जो हाल ही के वर्षों में पुनः सांस लेने लगे हैं।

प्रो० राधाकमल मुकर्जी ने घरेलू दस्तकारियों की एक बहुत लम्बी सूची दी है, जो अब भी देश के भिन्न भागों में जीवित हैं।[1] उनमें से कुछेक हम यहां देते हैं: बनारस, इलाहाबाद और जौनपुर के जिलों में अनेक गांवों में टोकरी बनाना, मलाबार और दक्षिण तथा पूर्वी बंगाल में रस्से बटना, चटाई बनाना, पंखियां बनाना; आसाम में रेशम के कीड़ों का पालना, मेरठ, बदायूं, मिर्जापुर (उ० प्र०), बोलपुर (बंगाल), चेन्नापटन (मैसूर) और कोंडापल्ले (मद्रास) में लाख और खिलौने बनाना; अमृतसर, मिर्जापुर और बनारस में दरियां बनाना; मुर्शिदाबाद, मालदा, मदुरा और भागलपुर में रेशम बुनना; मिर्जापुर (उ० प्र०) और नदिया (बंगाल) में कलापूर्ण मिट्टी की मूर्त्तियां बनाना; तिन्नेवल्ली (मद्रास) में लुंगियां और साड़ियां बनाना; फतहपुर और फरीदाबाद (उ० प्र०) में कांच की चूड़ियों का काम। डा० मुकर्जी उल्लेख करते हैं, "प्रत्येक जिले के एक या अधिक गांवों में सूती कपड़ा और रेशम की बुनाई होती है, लकड़ी का काम होता है, सोने, चांदी, तांबे, द्विधातु, बांस, बेंत, पीठ और चमड़े का ऊँचे स्तर पर कलापूर्ण काम होता है। सारे देश भर में कर्घों पर कताई और बुनाई का काम होता है। साबुन-साजी का भी बहुत विस्तार के साथ काम किया जाता है।"

1. Vide Economic Problems of Modern India, 1941; pp. 14--21.

अब हम कुछेक महत्वपूर्ण घरेलू उद्योगों पर विचार कर सकते हैं।

६. सूती कर्घों का उद्योग। यह कहना भूल है कि कर्घा उद्योग अधूरी दशा में है अथवा इसका कोई महत्व नहीं। भारतीय टैरिफ बोर्ड, १९३२ (भारतीय तटकर संघ—Tariff Board—रिपोर्ट, पृ० १५७) के अनुसार कर्घा उद्योग में लगभग १ करोड़ आदमी लगे हुए थे—इससे अधिक संख्या केवल कृषि की ही है। उसी तटकर संघ ने अनुमान किया था कि देश में कर्घों की संख्या अढ़ाई लाख है। कर्घे द्वारा सूत की खपत और कपड़े का उत्पादन धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है। १९०० में २२ करोड़ पौंड से ८८ करोड़ गज और १९३८ में ४७ करोड़ ९० लाख पौण्ड से १९२ करोड़ गज से कुछ कम बना था। गत २० वर्षों में जो प्रगति हुई है, वह विशेष उल्लेखनीय है। इस प्रकार कर्घों का उद्योग न तो मरा ही है, और न ही गिर रहा है, और न ही किसी भी दशा में महत्वहीन है।

भारतीय कांग्रेस और महात्मा गांधी ने अखिल भारतीय चर्खा-संघ के कार्य-कलापों द्वारा विशेष रूप से, इस उद्योग को पुनर्जीवन प्रदान करने में सहायता प्रदान की है। सरकार भी इस दिशा में पीछे नहीं रही। १९३४ में, पंचवर्षीय योजना का आरम्भ किया गया था। केन्द्रीय सरकार ने इस उद्योग की उन्नति के लिए प्रांतीय सरकारों को ५ लाख रु० वार्षिक देना किया था। जून १९५० में, भारत सरकार ने हैंडलूमों के उत्पादन के निमित्त कतिपय सूत की किस्मों को सुरक्षित रखने की घोषणा की थी।

युद्धोत्तर-काल में हैंडलूम उद्योग को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है, अर्थात् मिल-उत्पादन में न्यूनता के कारण सूत की पूर्ति में कमी हुई। भारत पाकिस्तान की तनातनी, जिससे पाकिस्तान का निर्यात प्रभावित हुआ, और बर्मा तथा राजनीतिक संकटों के कारण अन्य सुदूरपूर्व के देशों के बाजारों की क्षति हुई। इन अंशों के कारण उत्पादन में भारी गिरावट हुई और बाजार में माल रुक गया। १९४७ में केन्द्रीय अनुदान बंद हो जाने से प्रांतीय सरकारों ने उद्योग की सहायता में न्यूनता कर दी और मद्य-निषेध की नीति के कारण प्रान्तीय सरकारों की आयों पर प्रभाव पड़ा। १९४९ में हैंडलूम उद्योग पर बड़ा भारी संकट आया। इस उद्योग को सहायता देने की दृष्टि से भारत सरकार ने हैंडलूम के वस्त्र को निर्यात-कर की छूट दे दी। विदेशों को निर्यात करने की एक योजना बनाई गई। सरकार ने अपनी आवश्यकताओं का एक-तिहाई हैंडलूम से खरीदना चाहा। किरायों में विशेष रियायतें की गई। समस्या का मर्म यह है कि आवश्यक किस्म के सूत की नियमित पूर्ति हो। इस उद्देश्य के लिए देश के तकुओं के एक निश्चित अनुपात को हैंडलूम के लिए सुरक्षित कर देना चाहिए।

७. रेशम उद्योग। भूतकाल में रेशम का उद्योग भारत में बहुत-ही बढ़ा-चढ़ा था। किन्तु जिन कारणों ने हैंडलूम के सूती उद्योग को प्रभावित किया था, उन्होंने भारतीय रेशम उद्योग को भी क्षति पहुंचाई। बनावटी रेशम का आविर्भाव उसके कफन में एक और कील सिद्ध हुआ।

फलतः, भारतीय रेशम उद्योग की स्थिति ईर्षा-रहित है। भारतीय रेशम घरेलू बाजार तक में हीन-दृष्टि से देखा जाता है। इसके तह करने की रीति इतनी खराब है कि घरेलू जुलाहा भी चीन और जापान के तह किये रेशम को उपयोग में लाना बेहतर समझता है। भारतीय रेशम भद्दे रूप में निर्यात् किया जाता है, जिससे रोलिंग (तह करना और पालिश करना) विदेश में किया जाता है। इस उद्योग के महत्वपूर्ण केन्द्र

काश्मीर, मैसूर और बंगाल हैं और रेशम बुनने के लिए निम्न नगरों के नाम उल्लेखनीय हैं : मुर्शिदाबाद, तंजोर, बनारस, सूरत, अमृतसर और मदुरा ।

हाल ही के वर्षों में गिरते हुए रेशम उद्योग ने सरकार और देशभक्त भारतीयों का ध्यान आकर्षित किया है, जिन्होंने घरेलू-बनी वस्तुओं को संरक्षण प्रदान करने की प्रवृत्ति का अधिकाधिक प्रदर्शन किया है । सरकार ने एक केन्द्रीय रेशम बोर्ड भी बनाया है, जो कच्चे रेशम के उद्योग को उन्नत करेगा । इसके मुख्य कार्य-कलाप यह हैं : वैज्ञानिक और कला-कौशल सम्बन्धी अनुसंधान, शहतूत की खेती को उन्नत करना, स्वस्थ रेशमी कीड़ों का पालन और वितरण, टैकनीकल सलाह देना, रेशम के बाजार को उन्नत करना, आंकड़ों को संग्रहित करना, और उद्योग की उन्नति के लिए सरकार को परामर्श देना ।

८. ऊनी उद्योग । ऊन की बनी हुई महत्वपूर्ण वस्तुएं शाल, कालीन, कम्बल पट्टू और पशमीने हैं ।

कोई समय था, जब काश्मीर के शाल बहुत मशहूर थे और उनसे भारी-भरकम कीमतें वसूल होती थीं । भारतीय नरेश-वाद के क्षय से भयंकर संकोचन हुआ । घरेलू मांग का तो लगभग सफाया ही हो गया किन्तु योरोपियनों की मांग ने इस उद्योग के पतन को किसी सीमा तक बचा लिया । जो भी हो, योरोपियनों की मांग स्पष्टतः सस्ती किस्म के लिए थी, और फलतः घटिया शालों के लिए । इससे घटिया क़िस्म का माल तैयार होने लगा । गत सदी के सन् ३० के आरम्भ में, काश्मीर में भीषण अकाल पड़ने के कारण इस उद्योग को भारी धक्का लगा । १८७१ में फ्रांस और एशिया के युद्ध ने योरोपीय मांग को रोक दिया और (इंग्लैंड में) पैसले में शालों के निर्माण ने उद्योग की स्थिति को और भी क्षीण कर दिया । काश्मीरी पश्मीनों—हाथ के बुने शाल—की आज भी बहुत ख्याति है ।

कालीन-उद्योग ने मुगल बादशाहों के संरक्षण में उन्नति की थी । किन्तु इसकी भी मुगल राज्य जैसी ही दशा हुई । विदेशी बाजारों के संकेत से रासायनिक रंगों और भड़कीले डिजाइनों के कारण भारतीय कालीन उद्योग में से कला और सजीवता का लोप हो गया है । फलस्वरूप, घरेलू दस्तकारी के रूप में कालीन उद्योग क्रियात्मक रूप में मर चुका है । और इन दिनों अधिकांश कालीन फैक्ट्रियों और जेलों में बनते हैं । अमृतसर (पंजाब) कालीन-उद्योग का महत्वपूर्ण केन्द्र है । इस उद्योग के अन्य केन्द्र हैं : बीकानेर, मिर्जापुर, एल्लोर और आगरा ।

कंबल-उद्योग का आशापूर्ण भविष्य है । कंबलों के लिए जो ऊन काम में आती है, वह देश के सभी भागों में प्राप्य है । इसके अतिरिक्त इसके लिए घरेलू बाजार भी बहुत बड़ा है । क्रियात्मक रूप में इस दिशा में विदेशी प्रतिद्वंद्विता भी नहीं । थोड़ी-सी सावधानी और ध्यान देने से इस उद्योग की सहज ही उन्नति की जा सकती है ।

९. हाथ-बने कागज का उद्योग । भारतीयों में हाथ के बने कागज की कला का सदियों से चलन है । भारत में प्राचीनतम कागज पर जो पांडुलिपी मिली है, यह तेरहवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश की है ।[1] काश्मीर अकबर के काल से कागज के लिए प्रख्यात था । अहमदाबाद में भी, कागज बनाने का व्यापार फूलता-फलता था और १८४८ में, ८०० आदमी और लड़के नित्य कागज बनाने

1, Indian Munitions Hand-book, 1919, P. 246.

के काम में नियोजित किये जाते थे।[1] केवल एक पीढ़ी पीछे की बात है कि मुसलमानों का एक वर्ग, जिसे काजी कहा जाता है, हुगली, हावड़ा और मुर्शिदाबाद (बंगाल) के जिलों में इस उद्योग में लगा हुआ था।

इस समय में भी देश के अनेक भागों में और भारत भर को जेलों में हाथ का कागज बनाया जाता है। देश के ऐसे मुख्य भाग यह हैं: काश्मीर, हैदराबाद, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, बम्बई और मद्रास।

इस लाभपूर्ण और प्राचीन कला को पुन: जीवित करने के लिए सक्रिय यत्न किये जा रहे हैं। अखिल भारतीय ग्राम उद्योग संघ ने बंगाल, बिहार, उड़ीसा, बंबई तथा अन्य स्थानों में बांस, कागज की रद्दी, जूट की रद्दी तथा अन्य वस्तुओं से कागज बनाना शुरू किया है। उत्तर प्रदेश की सरकार की प्रेरणा से देहरादून की जंगल अनुसन्धानशाला प्रयोग कर रही है कि इस घरेलू उद्योग को कैसे उन्नत किया जा सकता है, और इसके साधनों में क्योंकर प्रगति हो सकती है। यदि कागज की मिलें गूदे की पूर्त्ति करती रहें तो इससे स प्राचीन उद्योग को उन्नत करने की सुविधा हो सकती है।

१०. घरेलू उद्योगों की बुराइयां और उपचार। भारतीय घरेलू उद्योगों का अध्ययन यह प्रकट करता है कि वह सुखद स्थिति में नहीं हैं। कुछ एक उनमें से मर भी चुके हैं, कुछ अन्य मृतप्राय हैं और, कुछ और पानी पर तिरने के समान संघर्ष कर रहे हैं।

घरेलू दस्तकारियों के सामने जो कठिनाइयां हैं, उनमें से कुछेक निम्न हैं:

(क) अर्थ-व्यवस्था की सुविधाओं का अभाव और कारीगरों का ऋणी होना।

(ख) संगठित बाजारों की अनुपस्थिति, जो कारीगरों को पूर्णतया बिचवैयों की दया पर छोड़ देती है।

(ग) अयोग्य प्रणालियां और उत्पादन की ऊँची लागत, जिससे लाभ का अंश नाममात्र रह जाता है।

(घ) निरक्षरता, अज्ञानता और कारीगर की अनुदारता के कारण अयोग्य मानवता का अंश।

हमारे घरेलू उद्योगों को पुन: जीवित करने के लिए यह आवश्यक है कि इन दो दोषों को दूर करने के विषय में सोची-समझी हुई योजना बनाई जाय। इस दिशा में निम्न उपायों का संकेत किया जा सकता है:

१. शिक्षा का विस्तार, सामान्य और कला-कौशल सम्बन्धी, किया जाय, ताकि कारीगरों में से अज्ञानता और अनुदारता दूर हो।

२. कारीगर की अर्थ-व्यवस्था और सामाजिक उद्धार के लिए एक गम्भीर आन्दोलन किया जाय।

३. उसे उधार-पट्टे की प्रणाली पर अधिक योग्य और बेहतर औजार दिये

---

1. Kirk—A Monograph on Paper Making, Bombay Presidency, 1902, p. 2.

जायँ और साथ ही उचित दरों और सरल शर्तों पर आवश्यक गुणों वाले कच्चे पदार्थ भी दिये जायँ।

४. नये और आकर्षक डिजाइन उसके ध्यान में लाते रहना चाहिए और उसके मार्ग-दर्शन के लिए जगह-जगह जाने-आने वालों को भेजते रहना चाहिए और उन्हें आवश्यक प्रदर्शन देने चाहियें।

५. औद्योगिक प्रदर्शनियां की जायं ताकि घरेलू दस्तकारियों के उत्पादनों को आवश्यक प्रचार मिल सके, और उत्पादक और उपभोक्ता के बीच की खाई पूर्ण हो सके।

६. संग्रहालय तथा मार्केटिंग के डिपो खोले जायं, ताकि कारीगर को मार्केटिंग के कठिन कार्य से मुक्ति मिले और वह केवल उत्पादन-कार्य में ही अपनी शक्ति लगाये।

७. मार्केटिंग और अर्थ-व्यवस्था और कारीगर की सहायता सम्बन्धी सब समस्याओं का निराकरण सहकारिता में निहित जान पड़ता है, और इससे उसकी आर्थिक, नैतिक और शिक्षा-विषयक प्रगति होगी। सहकारिता उसे आर्थिक, और मार्केटिंग की सहायता देने के अतिरिक्त उसमें आत्म-विश्वास और आत्म-नियंत्रण की भावना भरेगी।

८. अनुसन्धान के प्रयोगों द्वारा हमें उसकी योग्यता को इतना ऊंचा बनाये रहना चाहिए कि वह अपने को सदैव मशीन से आगे ही देखे, पीछे नहीं, क्योंकि इस समय तो वह नितांत हीन-अवस्था में है।

९. घरेलू दस्तकारियों को शिल्प-संघों में संगठित किया जा सकता है। इस प्रकार के संघ काश्मीर में बन भी चुके हैं।

१०. १९३४ में उत्तर प्रदेश की सरकार द्वारा स्थापित कमेटी की सिफारिशों के अनुसार सरकार की सहायता से मार्केटिंग और अर्थ-व्यवस्था की कम्पनियां बननी चाहिएं, ताकि कारीगरों को यह सुविधाएं दी जा सकें।

११. एक बहुत ही आवश्यक कार्य यह जान पड़ता है कि घरेलू उद्योगों का नवीन वृहद्-स्तर उद्योगों के साथ गठबन्धन किया जाय। वर्तमान में, दस्तकारो एकाकी है। घर और बाहर से उसे सदैव प्रतिद्वन्द्विता का खतरा बना रहता है। उद्योग की भिन्न कड़ियों को शृङ्खलाबद्ध करने की नितांत आवश्यकता है।

सरकार ने लघु-उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए योरोप में विशेष यत्न किये। १९३५ से, भारत में भी, केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारें घरेलू उद्योगों पर विशेष ध्यान दे रही हैं। घरेलू उद्योगों को पुनर्जीवित करने और उन्नत करने के लिए धन खर्च कर रही हैं। किन्तु इस प्रकार के यत्न देश भर में बिखरे हुए घरेलू उद्योगों की आवश्यकताओं के तुल्य नहीं हैं। इस बात को दृष्टि में रखते हुए कि हमारे घरेलू उद्योगों पर लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या आश्रित है, और इस प्रकार के उद्योगों से जिन आर्थिक लाभों की आशा की जाती है, और उन वस्तुओं का कला की दृष्टि से जो मूल्य होता है, एक विशिष्ट यत्न करने की आवश्यकता जान पड़ती है।

भारत सरकार ने १९४८ में जो घरेलू उद्योग बोर्ड (The Cottage Industries Board) स्थापित किया था, उसका १९५० में पुन: निर्माण किया गया। इस बोर्ड के निम्न कार्य हैं: (क) केन्द्रीय सरकार की ओर से राज्य के

अनुदानों सहित उन कोषों का लेन-देन करना, जो घरेलू उद्योगों की प्रगति के लिए उपलब्ध हैं, (ख) घरेलू उद्योगों से सम्बन्धित योजनाओं की देखभाल कराना, उन्हें चलाना और उन्हें प्रारम्भ करना; (ग) घरेलू उद्योगों से सम्बन्धित योजनाओं को बनाने और चलाने के लिए भिन्न राज्यों को परामर्श देना और सहायता करना; और (घ) घरेलू उद्योगों के विषय में राज्य सरकारों के कार्य-कलापों को शृङ्खलाबद्ध करने में सहायक होना।

बोर्ड ने निम्न तात्कालिक कार्यक्रम का निर्णय किया: (१) वर्तमान घरेलू उद्योगों का शीघ्रातिशीघ्र पर्यालोकन किया जाय, (२) लघु-स्तर उद्योगों के लिए उन्नत मशीनों के उपयोग के लिए श्रम को शिक्षित करने की व्यवस्था; (३) सहकारिता आधार पर घरेलू उद्योगों की प्रगति के विषय में प्रोत्साहन देना; और (४) भारत तथा विदेशों में घरेलू उद्योगों के उत्पादनों के लिए बाजार की व्यवस्था करना।

उन ग्राम-उद्योगों की सहायता करने का निर्णय किया गया, जिन्हें वृहद्-स्तर व्यवसायों की प्रतिद्वंद्विता से क्षति होती है, अर्थात् चमड़ा रंगाई और चमड़े की दस्तकारी हाथ-कताई और बुनाई, जूट और ऊन की कताई, मिट्टी के बर्तन बनाना, खाने योग्य तेल, धातु का काम, धान से चावल निकालना, रस्से बनाना, हाथ बना कागज, आदि।

पंचवर्षीय योजना में भी भारतीय सरकार ने घरेलू तथा लघु-स्तर उद्योगों को पर्याप्त महत्व दिया है यद्यपि इन उद्योगों को उन्नत करना राज्य सरकारों की जिमेदारी है लेकिन फिर भी केन्द्रीय सरकार ने नीति, अनुसन्धान तथा उत्पादन योजनाओं के निर्माण करने में अपने ऊपर यह उत्तरदायित्व लिया है। लगभग सभी राज्य सरकारों को आदेश दिया गया है कि वे इन उद्योगों की उन्नति के लिये विशेष योजनाएं बनायें। कई राज्यों ने ऐसी योजनाएं तैयार भी कर ली हैं।

सत्रहवाँ अध्याय

वृहद्-स्तर उद्योग (१)

१. सूती मिल कारखाना उद्योग। इसका महत्व—हमारे देश में इस उद्योग की असाधारण महत्ता है। इस उद्योग में लगभग एक सौ करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है और यह लगभग ५ लाख श्रमिकों तथा उनके परिवारों को आजीविका प्रदान करता है और यदि हम उन लोगों की संख्या भी सम्मिलित कर लें, जो कृषि और सूती वस्त्र के वितरण तथा साथ ही जो सूती-वस्त्र का व्यापार करते हैं, तो सम्भवतः यह कहना अत्युक्ति नहीं कि इस उद्योग पर प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः १ करोड़ ५० लाख व्यक्ति आश्रित हैं।

यद्यपि भारत में पहली मिल कलकत्ता में १८१८ में स्थापित हुई थी, तथापि उद्योग की सही अर्थों में नींव बम्बई में रखी गई थी, जबकि १८५४ में वहां एक मिल की स्थापना हुई थी। तत्पश्चात और भी मिलें शुरू की गईं। विशेषरूप से अहमदाबाद, शोलापुर और नागपुर के प्रदेशों में। प्रथम विश्व-युद्ध से तत्काल पहले के समय में भारतीय सूती उद्योग अच्छे ढंग से चल रहा था और यातायात में संकुचन तथा सैनिक उद्देश्यों के लिए मांग में वृद्धि के कारण युद्ध ने उसे विशेष प्रगति प्रदान की।

युद्ध-काल की चहल-पहल समाप्ति के साथ ही भारतीय सूती-उद्योग के लिए अभूतपूर्व मंदी लेकर आई और १९२५ में तो स्थिति और भी संकटपूर्ण हो गई। इस मंदी के लिए निम्न अंश उत्तरदायी थे : जापान द्वारा 'गल-घोंटू' प्रतिद्वंद्विता, आन्तरिक प्रतिद्वंद्विता, ऊंचे पगार, स्थानीय ऊँचे टैक्स और बम्बई की अन्य ऊँची लागतें, दोषपूर्ण संगठन, पूँजी का सीमा-आधिक्य, इत्यादि। सहायता के उपाय के रूप में, १९२६ में रूई उत्पाद-कर हटा दिया गया। समय पाकर यह उद्योग संरक्षण के लिए अधिकारी बन गया, किन्तु ब्रिटिश-वस्त्र की आयात को प्राथमिकता की स्वीकृति होने के कारण, किसी सीमा तक, यह संरक्षण नष्ट-प्राय हो गया। द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भ के समय यह नहीं कहा जा सकता था कि भारतीय सूती-उद्योग सुखकर ढंग से चल रहा था।

द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व के दस वर्षों में भारतीय वस्त्र-उद्योग लगभग अंधकार पूर्ण समय में से निकल रहा था। युद्ध की घोषणा ने आशा की एक किरण छिटका दी थी। १९४२-४३ में सूतीवस्त्र की निर्यात ८१ करोड़ ९० लाख गज की थी, जो १९३८-३९ से चार गुना अधिक थी। लंका, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका और मध्य-पूर्व के समुद्र पार देशों में आशातीत मांग है। विदेशी प्रतिद्वंद्विता होने पर भी उसका स्वागत हुआ है। जापानी आयात पूर्णतया लोप हो चुके हैं और इंग्लैंड के आयात में भी पर्याप्त न्यूनता हो चुकी है। किन्तु जापानी उद्योग को पुनः तीव्र गति से जारी किया जा रहा है। इंग्लैंड भी बलवान प्रतिद्वंद्वी है। भारतीय उद्योग को विदेशी प्रतिद्वंद्विता का सामना करने के लिए तैयार होना चाहिए। १९४९-५० में भारत ने ९१·५ मिलियन (दस लाख का एक मिलियन) गजों की आयात की थी।

जो भी हो, उद्योग के लिए युद्ध केवल वरदान ही नहीं था। श्रम विषयक कष्ट हुए, पगारें बढ़ गईं और महंगाई भत्तों की स्वीकृति करनी पड़ी। मशीनों, रुई और मिलों के सामान का आयात करना आसान नहीं था, जिससे मांग की वृद्धि के फलस्वरूप उद्योग को विस्तार नहीं दिया जा सका। टैक्सों में वृद्धि हुई। इस सब का अर्थ उत्पादन का उच्चतर मूल्य था। मशीनों का अत्यधिक अवमूल्यन हुआ। लगभग ६०% मशीनें पुरानी हैं और उन्हें बदल डालने की आवश्यकता है। साररूप में यह कहा जा सकता है कि युद्ध ने उद्योग के लिए तुलनात्मक सफलता का अवसर उत्पन्न कर दिया।

अप्रैल १९४८ में, वस्त्र पर से नियन्त्रण हटा दिया गया था, किन्तु जुलाई १९४८ में पुनः नियन्त्रण करना पड़ा। दिसम्बर १९४८ से वस्त्र उत्पादन पर नियंत्रण लागू किया गया। इन नियंत्रण उपायों का उद्देश्य यह है कि उत्पत्ति में एकरूपता और स्थिरता लाने के लिए उत्पादन में वृद्धि की जाय और उत्पादन में अनेकरूपता लाई जाय। वितरण का कार्य राज्यों की इच्छा पर छोड़ा गया है। कुछ राज्यों ने मिल-बने कपड़ों का राशन कर दिया।

कुछ वर्षों से कपड़े के उत्पादन में ह्रास हो रहा था। पुनः नियंत्रण करने और राज्य सरकारों द्वारा व्यापार के सामान्य स्रोतों में हस्तक्षेप करने के फलस्वरूप उत्पादन पर रोक लगानी पड़ी, क्योंकि राज्य सरकारों द्वारा नियत की गई नई संस्थाएँ स्टाकों (माल) को खपाने के अयोग्य रहीं। कच्ची रुई की पूर्ति की कठिनाई भी एक बहुत बड़ा अंश था। किन्तु अब स्थिति सुधर रही है और उत्पादन बढ़ रहा है। १९५२ में कुल उत्पादन ४०७६·४० मिलयिन गज था और १९५२ में यह उत्पादन बढ़ कर ४६०३·२० मिलियन गज हो गया। इस प्रकार धागे के उत्पादन में भी बढ़ोत्री हुई। धागे का कुल उत्पादन १९५१ में १३०४ मिलियन पौण्ड से बढ़ कर १९५२ में १४४८ मिलियन पोण्ड हो गया।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना में कहा गया है कि १९५५–५६ तक स्थापित क्षमता १६७१ मिलियन पोण्ड सूत की और ४७४१ मिलियन गज कपड़े की होगी और अनुमानित उत्पादन १६०० पौण्ड सूत और ४५०० मिलियन गज कपड़ा होगा।

निःसन्देह, भारतीय वस्त्र व्यवसाय ने बहुत उन्नति की है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उद्योग की स्थिति नितांत स्थिर है। इसकी स्थिति को दृढ़ करने के लिए निम्न उपायों का आश्रय लिया जा सकता है :

१. यह आवश्यक है कि अधिक लाभों के काल में सुरक्षित कोष बनाने के लिए कार्य किये जायँ और लाभों को उच्च लाभांशों में नष्ट नहीं किया जाना चाहिए, ताकि यह उद्योग स्थिरता के साथ भविष्य का मुकाबला कर सके।

२. यदि उद्योग को विदेशी प्रतिद्वंद्विता का सफलतापूर्ण मुकाबला करना है, और विदेशी बाजारों में दृढ़ पग जमाना है, तो यह आवश्यक होगा कि जापान की तरह रुई को खरीदने और निर्मित वस्त्र को बेचने के लिए उच्चकोटि के व्यापारिक उपाय किये जायँ।

३. यह भी आवश्यक है कि वस्त्र की किस्म को उन्नत बनाने के प्रयत्न जारी रखे जायँ और उत्पादन में भिन्नता उत्पन्न की जाय।

४. वस्त्र उत्पादन की मिलों में मशीनों की पर्याप्त उन्नति की आवश्यकता है। हावर्ड और बुल्लो लिमिटेड के टैकनीकल एक्सपर्ट मि. हैरल्ड हिल की, जिन्होंने

कुछ वर्ष हुए भारतीय मिलों का दौरा किया था, राय थी कि भारतीय मिलों में बहुत सी मशीनों को बदलने की आवश्यकता है।

५. अज्ञानी और अन्यत्र व्यस्त डाइरेक्टर, अयोग्य और स्वार्थी मैनेजिंग एजेंट (कई मिलों में ऐसी अव्य-वस्था है), अर्थव्यवस्था के दोषपूर्ण बन्ध कि जिन्हें मौसमी-मित्र कहा जाता है, कुछ ऐसे दुर्बल चिह्न हैं, जिन्हें नष्ट कर देना चाहिए।

६. सबसे बढ़ कर यह कि उद्योग के संगठन को और कसा जाना चाहिए। यह सनतांत व्यक्तिगत आधार पर संगठित है। प्रत्येक मिल ने रुई, मशीनों और मिल सम्बन्धी सामान को क्रय करने के निजी प्रबन्ध किये हुए हैं, और साथ ही अपने उत्पादनों को विक्रय करने और अपने उपलब्ध साधनों के सीमित साधनों से बीमा करने के निजी प्रबन्ध किये हुए हैं। यह आवश्यक है कि इस उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया जाय और सहकारिता के क्षेत्र को विस्तार दिया जाय।

२. **जूट उद्योग**। जूट उद्योग भी पहले (हैंडलूम) हाथ के कर्घों का उद्योग था और डा० फोर्ब्स रॉयल (Forbs Royle) के शब्दों में, "इसका रूप विस्तृत घरेलू निर्माण का है। · · · · सभी वर्गों में इसका प्रवेश है और प्रत्येक गृहस्थी में इसका स्थान है।" १८५७ तक, भारत से निर्यात होने वाली सनी की सब बोरियां हाथ से बनती थीं। १८५०–५१ में निर्यात का मूल्य २१,५२,७८२ रु० था।[1]

जूट-मिल उद्योग का श्रीगणेश जार्ज आक्लैंड नाम के व्यक्ति ने किया था। उन्होंने सेरामपुर के निकट रिशरा में पहली जूट मिल की स्थापना की थी। १८५९ में, बोर्नियो जूट कम्पनी ने बिजली से चलने वाली पहली लूम लगाई थी। पहले तो बहुत धीमी प्रगति थी, और पहली मिल को बन्द कर देना पड़ा था। किन्तु कुछ ही बरसों में, जूट मिलों का कार्य बहुत चल निकला और वैलेस के शब्दों में, "उन्होंने", १८६८ और १८७३ के बीच "केवल रुपया ही बनाया"।

प्रथम विश्व-युद्ध से इस उद्योग को बहुत प्रेरणा मिली। किन्तु, युद्धोत्तर वर्षों में यह सुखद स्थिति में नहीं था, विशेष रूप से १९३० के वर्षों में विश्व-विस्तृत आर्थिक मंदी के कारण। संक्षेप में यह कहना चाहिए कि भारत ने जूट उद्योग में निरन्तर प्रगति की है। युद्ध की घोषणा से इस उद्योग में पुनः जान पड़ गई। उसके बाद से यह उद्योग निरन्तर फूल-फल रहा है। जो भी हो, युद्ध के कारण पूर्ण लाभ प्राप्त करने के मार्ग में विदेशी बाजारों की क्षति और जहाजी कठिनाइयों की बाधाएं थीं। हाल ही के युद्ध ने इस उद्योग की दुर्बलताओं को अस्थायी रूप में छिपाने में भी सहायता प्रदान की है। केवल आमूल रूप में पुनः संगठन ही इस उद्योग को सुदृढ़ बना सकता है। अनिवार्य रूप में, अभिनवकरण ही इसका केवल मात्र स्थायी निराकरण जान पड़ता है।

विभाजन ने संपूर्ण जूट उत्पादन के एकड़ों में से भारत को ७२% और जूट निर्माण में से ७३% वंचित कर दिया है। संपूर्ण, ११३ जूट मिलें भारत में हैं। विभाजन के शीघ्र बाद, पाकिस्तान ने 'जूट की लड़ाई' शुरू कर दी। १९४८ में एक समझौता किया गया, किन्तु पाकिस्तान ने ईमानदारी के साथ उसका पालन नहीं किया। पाकिस्तान अपने ही यहां इस उद्योग को उन्नत करने की चेष्टा कर रहा है। भारत भी, जूट के विषय में अपने को आत्म-निर्भर कर लेना चाह रहा है।

जूट-वस्तुओं का उत्पादन बढ़ रहा है। १९४७ में १०·१ लाख टन के विरुद्ध

1. Dr. Forbs Royale--The Fibrous Plants of India, 1850, p. 251.

१९४८ में १०.४ लाख टन का उत्पादन बढ़ गया। यदि हम गैर-एसोसियेशन मिलों के लगभग ७० हजार टन को भी शामिल कर लें, तो संपूर्ण उत्पादन, यदि बढ़ेगा नहीं, तो १९४६ के निकट तक पहुंच जायगा, जो १०.७ लाख टन था। जो भी हो, १९५० में, यह उत्पादन केवल ८.३६ लाख टन था।

३. लोहा और इस्पात उद्योग। यदि हम कृषि और उद्योग की उन्नति के कार्यक्रमों को सफलतापूर्वक निभाना चाहते हैं और देश के जीवन-मान के स्तर को उन्नत करना चाहते हैं, तो स्वदेशी लोहे तथा इस्पात के उद्योग को उन्नत करने की तात्कालिक आवश्यकता के विषय में किसी को भी मतभेद नहीं हो सकता। यह लोहे और इस्पात का ही उद्योग है, जो फैक्ट्रियों, औज़ारों और साधनों, मशीनों, ट्रैक्टरों, मकानों, बिजली घरों, इंजनों, जहाजों के लिए आधारमूलक कच्चे पदार्थों की पूर्ति कर सकता है और सबसे बढ़कर आर्थिक प्रगति के लिए यह अत्यावश्यक है।

नवीन प्रणालियों और वृहद्-स्तर पर अभी हाल ही से लोहे और इस्पात का निर्माण जारी हुआ है। सबसे पहला और वास्तविक सफल यत्न टाटा आइरन एंड स्टील कंपनी ने किया था, जो १९०७ में स्थापित हुई थी। उससे अगले वर्ष आसनसोल के निकट हीरापुर में इंडियन आइरन एंड स्टील कंपनी ने अपने कारखाने बनाये और १९२३ में, भद्रावटी में मैसूर आइरन वर्क्स की स्थापना हुई। १९३७ में, स्टील कार्पोरेशन आव् बंगाल की स्थापना हुई। टाटा आइरन एंड स्टील वर्क्स की क्षमता ८,५०,००० टन की है, स्टील कार्पोरेशन आव् बंगाल को २,५०,००० टन की और मैसूर आइरन एंड स्टील वर्क्स की २५ हज़ार टन की क्षमता है।

भारतीय लोहे और इस्पात का उद्योग टाटा आइरन एंड स्टील वर्क्स का क्रियात्मक रूप में पर्यायवाची बन गया है। कामनवैल्थ के महानतम व्यवसायों में से यह एक है। टाटा आइरन वर्क्स की विलक्षणता यह है कि इसकी निजी कोयले की खानें हैं और लोहे की कच्ची धातु की पूर्ति के कोष हैं, चूने के पत्थरों की खान हैं और कच्ची काली धातु (Manganese) के भंडार हैं।

प्रथम विश्व-युद्ध ने लोहे और इस्पात के उद्योग को बहुत उत्साह प्रदान किया था। किन्तु, युद्ध के उपरान्त, इस उद्योग का भी घोर मंदी से पाला पड़ा और फिस्कल कमीशन ने तात्कालिक जांच की सिफारिश की, ताकि उसे संरक्षण की स्वीकृति दी जाय। तदनुसार, १९२४ में आयात-करों और सरकारी सहायता के रूप में संरक्षण का अनुदान किया गया। १९४७ में, जांच के अवसर पर इस उद्योग ने संरक्षण के लिए अनुरोध नहीं किया और इसीलिए उसे नहीं मिला।

भारतीय लोहे और इस्पात के उद्योग को जो संरक्षण मिला था, उसका इसने उचित उपयोग किया, क्योंकि संरक्षण-काल में उसने उल्लेखनीय प्रगति की। उत्पादन की क्षमता बढ़ गई है, पद्धतियों में उन्नति हो गई है और लागत कम हो गई है।[1]

टाटा कम्पनी भारतीय बाज़ार के ७५% अंश को संतुष्ट करती है और लगभग ६ लाख स्त्री-पुरुष श्रमिकों तथा उनके आश्रितों का पालन करती है। सार्वजनिक (सरकारी) कोष को यह लगभग ६४७ करोड़ रुपये कर रूप में देती है। भारत में मुख्य

---

१. १९३३ में टाटा कम्पनी ने टैरिफ़ बोर्ड को जो स्मार-पत्र दिया था, उसके आधार पर।

लोहे और इस्पात के उत्पादकों की संपूर्ण लगी हुई पूंजी अनुमानतः ६८·२ करोड़ रुपये है।

अनेक अन्य सहयोगी उद्योगों का भी जन्म हो गया है। उदाहरण के लिए, मशीनीटूलों (औज़ारों) का उद्योग है, जिसने १९४६ में लगभग ९ हज़ार टूल बनाये थे, जिनका मूल्य पौने दो करोड़ रुपये था। इसके अलावा टीन-प्लेटों और तारों और तार के कीलों तथा इंजीनियरिंग विषयक सामान्य उद्योग हैं। इंजनों और रेलों के पहिये निर्माण करने जैसे भी अन्य अनेक उद्योग उन्नत हो गए हैं। सब किस्म की मशीनों की अब भी आयात की जाती है। इसलिए, विस्तार के लिए इस दिशा में बहुत बड़ा क्षेत्र है।

युद्ध शुरू होने से पूर्व युद्ध-सामग्री की महान तैयारी ने लोहे और इस्पात के उद्योग को खूब चमका दिया था। युद्ध शुरू होते ही वह और भी चमक उठा। अभूत-पूर्व समृद्धि का उदय हुआ। कीमतें, लाभ और उत्पादन—सब कुछ बढ़ गए।

युद्ध के उपरान्त, उत्पादन में क्षीणता और निर्यातों की गिरावट भारतीय लोहे और इस्पात के उद्योग के विशिष्ट कृत्य हैं। १९५०-५१ में इस्पात का उत्पादन १०,०४,५६१ टन था। उत्पादन में कमी के मुख्य कारण यह हैं:—कोयले की अल्प और चिन्ताजनक पूर्ति; श्रम-सम्बन्धी गड़बड़ें और यातायात की कठिनाइयां।

उद्योग के मुख्य उत्पादकों की स्थापित क्षमता अनुमानतः १,०७१,००० टन पूर्ण इस्पात और १,८७८,००० टन कच्चे, लोहे की है। ढलाई के कारखानों को तीन लाख टन वार्षिक कच्चे लोहे की दरकार होती है, और दूसरे दर्जे के उत्पादकों को ३ लाख टन इस्पात की छड़ों की जरूरत होती है। पूर्ण इस्पात की खपत का अनुमान १० लाख टन किया गया है, जो संभवतः १५ या २० लाख टन तक जा सकती है। वृद्धि-करण की योजनाओं पर काम हो रहा है और क्रियात्मक रूप होते ही स्थापित क्षमता साढ़े चार लाख टन हो जायगी। इस विस्तार के बाद भी उद्योग की क्षमता और देश की आवश्यकताओं के बीच न्यूनतम ५ लाख टनों का टोटा रह जायगा। इसलिए प्रति वर्ष ६ लाख टन पूर्ण इस्पात की क्षमता वाले नये कारखाने की अत्यावश्यकता है।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना ने १९५५–५६ तक पूर्ण इस्पात की स्थापित क्षमता १,६५९,००० टन बनाई और अनुमानित उत्पादन १,३१५,००० टन कहा है। २१ दिसम्बर १९५३ को भारत सरकार और एक जर्मन कम्पनी (Krupps and Demag) के बीच एक समनुबन्ध (Agreement) हुआ। इस समनुबन्ध के अन्तर्गत एक हिन्दुस्थान इस्पात लिमिटेड नामक कम्पनी का निर्माण किया जायगा और इस पर लगभग १०० करोड़ रुपये व्यय किये जायंगे।

४. खांड उद्योग। भारत के विषय में विश्वास किया जाता है कि खांड का यह असली घर है। कहा जाता है कि भारत में उस समय खांड बनती और उपयोग में लाई जाती थी, जब कि शेष दुनियाँ उसके नाम को भी नहीं जानती थी।[1] एक समय था, जब कि भारतीय निर्यात आयात से अधिक थे। किन्तु जावा की खांड और योरोप की सरकारी सहायता प्राप्त खांड की प्रतिद्वंद्विता ने भारतीय खांड उद्योग का घातक संहार किया।

प्रथम विश्व-युद्ध से जो प्रोत्साहन मिला था, वह केवल अस्थायी सहायता-मात्र था और भारत में जो चन्द कारखाने थे, उनकी भी बहुत बुरी अवस्था थी।

1. Prinsen Grasligs, quoted by Sanghai in a paper read at the Industrial Conference held in 1916.

१९३२ में, इस उद्योग को १५ वर्ष के लिए संरक्षण प्रदान हुआ था। संरक्षण-कर के अधीन आश्रय मिलने पर इस उद्योग ने आश्चर्यजनक प्रगति की। दो वर्षों के अन्दर-अन्दर कारखानों की संख्या में ४०० प्रतिशत की वृद्धि हो गई है। और १९३१-३२ से खांड के उत्पादन में ७०० प्रतिशत की वृद्धि हो गई है। इसके अतिरिक्त, आयातों में भी एकाएक ह्रास हुआ है। १९३०-३१ तक दस लाख टन की औसत थी, किन्तु १९३६-३७ में शुद्ध आयात केवल १२ हजार टन के आसपास थी। इस समय भारत विश्व में खांड का महानतम उत्पादक है और महत्ता की दृष्टि से भारत में सूती वस्त्र मिल उद्योग के बाद दूसरा स्थान खांड उद्योग का है।

कुछ ऐसी त्रुटियां और बाधायें हैं, जिनके कारण भारतीय खांड उद्योग कष्ट उठा रहा हैं : (१) सबसे बड़ी बाधा यह है कि भारत में गन्ने की उत्पत्ति बहुत कम है। वर्तमान में हमारी उत्पत्ति क्यूबा की अपेक्षा एक तिहाई है, जावा से एक चौथाई है और हवाई से ⅕ है।

इसके अतिरिक्त गन्ने की कृषि का वितरण भी ठीक नहीं है; कुछ कारखानों के आस-पास तो बहुतायत है, और कुछ अन्यों के पास कमी है। उत्तर प्रदेश और बिहार में शूगर कंट्रोल एक्ट्स (शक्कर नियंत्रण विधेयक) ने सुधार करने की दृष्टि से क्षेत्रीय विधि का परिचलन किया है और प्रत्येक कारखाने के लिए क्षेत्र नियत और सुरक्षित कर दिये हैं।

(२) जिस कीमत पर कारखानों में गन्ना पहुंचाया जाता है, वह जावा की अपेक्षा बहुत ऊंची है।

(३) खांड के उत्पादन में हमारी ऊंची लागत का एक अन्य कारण यह है कि गन्ने पेलने का मौसम बहुत छोटा होता है अर्थात् वर्ष औसत में ११० दिन। इसलिए यह आवश्यक है कि जल्दी पकने वाली और देर से पकने वाली किस्मों को मालूम किया जाय।

(४) पेलने की क्षमता भी हमारे यहां कम है। इसका कारण दोषपूर्ण आकार, प्रकार और मशीनों का असंतुलित रूप और अनेक शूगर मिलों का अर्थ-व्यवस्थाहीन आकार है।

(५) अनेक मिलों की स्थिति भी असंतोषजनक है। न तो वह कच्चे सामान की दृष्टि से ही ठीक हैं और न ही बाजार सम्बन्धों की दृष्टि से। उत्तर प्रदेश और बिहार में क्रमशः ७५% और ८१% खांड के कारखाने हैं। बम्बई में खांड की खपत सबसे अधिक है, किन्तु उत्पादन अत्यल्प, दूसरी ओर बिहार में उत्पादन अधिक और खपत अत्यल्प और मद्रास में उत्पादन थोड़ा और खपत अधिक होती है।

(६) हमारे शक्कर उद्योग में एक अन्य मूलाधार दोष कृषि और निर्माण की दिशाओं के बीच परस्पर मेल का अभाव है, जबकि अन्य देशों में दोनों का गठ-बन्धन एक सामान्य-अंग है। हमारे कारखाने निजी गन्ना नहीं उगाते और इसीलिए न तो परिमाण को उन्नत कर सकते हैं और न ही उसके प्रकार को।

खाँड उद्योग की आवश्यक समस्याओं म एक उप-उत्पादनों (by products) को उपयोगिता के विषय में है। फुजले को अधिक किफायत के साथ कागज और गत्ता बनाने के काम में लाया जा सकता है, किन्तु वर्तमान में वह ईंधन के काम आता

है। इसके बाद, सीरे की निरन्तर बढ़ने वाली मात्रा कारखानों के लिए दिन-दिन सिर-दर्दी का कारण बन रही है और इसके साथ ही सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए भी हानि-कारक बनती जा रही है। उसका खाद के रूप में, चारे के रूप में, सड़कों पर प्लस्तर करने के रूप में और मद्यसार बनाने के रूप में उपयोग किया जा सकता है।

भारत में खांड उद्योग के विस्तार की अवस्थाएँ विशेष रूप से अनुकूल ज्ञात पड़ती हैं। हमारे यहां गन्ने की बहुतायत है और सस्ता श्रम भी है। हमारी जन-संख्या का अधिकांश निरामिष होने के कारण हमें बहुत बड़ा बाजार मिला हुआ है। हमारी प्रतिअंश की वार्षिक खपत ६·७ पौण्ड है, जो दूसरे देशों की तुलना में तुच्छ सी जान पड़ती है। आस्ट्रेलिया में प्रतिअंश की खपत १०५·८ पौण्ड वार्षिक है, इंगलैंड में १०५·४ पौण्ड और अमरीका में ९४·८ पौण्ड है। जीवन-मान को किंचिन्मात्र भी उन्नत करने से बहुत बड़ा क्षेत्र हाथ आ सकता है।

द्वितीय विश्व-युद्ध ने भी खांड उद्योग की बहुत बड़ी पूर्ति की थी। खांड का नियन्त्रण लागू किया गया था। दिसम्बर १९४७ में यह हटा दिया गया था, किन्तु शूगर सिंडीकेट की समाज-विरोधी नीति के कारण उसे पुनः लागू करना पड़ा और सिंडीकेट को समाप्त कर दिया गया था।

१९५१-५२ में खांड का कुल उत्पादन १३·५ लाख टन था। प्रथम पंच वर्षीय योजना के अनुसार १९५५-५६ तक खांड उद्योग की स्थापित क्षमता १५·४ लाख टन की हो जायगी और अनुमानित उत्पादन १५ लाख टन होगा।

यह शोक की बात है कि इस उद्योग को लगभग १८ वर्ष तक संरक्षण मिलने पर भी यह विदेशी प्रतिद्वन्द्विता का मुकाबला करने योग्य नहीं हुआ। वस्तु-स्थिति यह है कि जब तक गन्ने के प्रकार में उन्नति नहीं हो जाती, और प्रति एकड़ की पैदावार में वृद्धि नहीं हो जाती, और जब तक पेलने की क्षमता नहीं बढ़ती, और अतिरिक्त लागतों को कम करने के लिए उप-उत्पादनों के उपयोग में वृद्धि नहीं की जाती, तब तक हमारा खांड उद्योग विदेशी प्रतिद्वंद्विता का सामना करने योग्य नहीं हो सकता।

४५. कागज़ का उद्योग। इस नवीन कागज उद्योग के आरम्भ का श्रेय डा० विलियम केरी को है, जिसने एक सो वर्ष पहले, हुगली नदी पर स्थित सेरामपुर में कागज बनाने की पहली मशीन लगाई थी। किन्तु वास्तविक आरम्भ १८६७ में बाल्ली में रायल पेपर मिल की स्थापना के साथ हुआ। इसके बाद अन्य मिलें इस प्रकार बनीं: अपर इंडिया पेपर मिल, लखनऊ (१८७९); कलकत्ता के निकट टीटा-गढ़ पेपर मिल (१८८२); डक्कन पेपर मिल कं० (१८८५); बंगाल पेपर मिल कं० (१८८९); इंपीरियल पेपर मिल्स (१८९२), जिसे १९०७ में टीटागढ़ पेपर मिल्स ने ले लिया था। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद जो मिलें बनी थीं, वह निम्न हैं: इंडियन पल्प कंपनी, (१९१८ में बनी और १९२२ में काम चालू किया गया); कर्नाटक पेपर मिल्ज, राजा मुन्द्री (१९२७); पंजाब पेपर मिल्ज, अब (श्रीगोपाल पेपर मिल्ज, जगाधरी)। अभी हाल ही एक मिल की स्थापना आसाम में हुई है, और अन्य अनेक मिलें १९३९ में शुरू हुईं। १९५१ में, भारत में १५ मिलें थीं, जिनमें से तीन पल्प बोर्ड बनाती हैं, और १७ गत्ता बनाने वाली मिलें हैं। बंगाल में मिलों की सर्वाधिक संख्या है और देश के कागज सम्बन्धी सम्पूर्ण उत्पादन का ५० प्रतिशत उत्पादन बंगाल में होता है।

इस उद्योग की कच्चे पदार्थों के विषय में भी सुखद स्थिति है। भारत में

विभिन्न किस्मों के घासों का अतुल भंडार है। सबाई नाम की घास सबसे अधिक उपयोगी सिद्ध हुई है। किन्तु अब बांस को इसका पूरक बना दिया गया है और उसके तार का कच्चा पदार्थ कागज उद्योग में लगाया जा रहा है। भारत में बांस का अतुल भंडार है और उपयोगिता विषयक अवस्था भी बहुत अनुकूल है। घास-बने कागज की अपेक्षा बांस-बना कागज बढ़िया होता है, क्योंकि बांस-बने कागज में दाग-धब्बे नहीं होतें, और यही नहीं कि इसमें आरम्भिक मज़बूती होती है, प्रत्युत यह बहुत टिकाऊ भी है।

भारतीय कागज़ उद्योग को १९२४ में जो पहला संरक्षण मिला था, उसका उसने उचित उपयोग किया था। द्वितीय विश्व-युद्ध के आरंभ से पूर्व भारत कागज़ विषयक आत्म-निर्भरता प्राप्त कर चुका था। इस समय उत्पत्ति बहुत बढ़ी हुई है और उसकी किस्म आयात किये कागज़ से किसी भी दशा में घटिया नहीं। भारतीय मिलें न्यूज़प्रिंट को छोड़कर, कि जिसकी आयात करनी पड़ती है, लगभग सभी किस्म के कागज़ बनाती हैं।

हाल ही के वर्षों में भारतीय मिलें अपनी मशीनों को उन्नत करने और उन्हें बढ़ाने के लिए बहुत-सा धन खर्च कर रही थीं। किन्तु अब भी कुछ महत्त्वपूर्ण त्रुटियां शेष हैं। अनेक ईकाइयां उत्पादन सम्बन्धी आकार की अपेक्षा छोटी हैं। बहुत-सी मशीनें अब भी पुरानी हैं, विशेष रूप से कागज़ बनाने वाली मशीनें; और संक्षेप में, पल्प बनाने वालीं और कागज़ बनाने वाली मशीनों की क्षमता में भी अन्तर है अर्थात् दोनों के बीच संतुलन का अभाव है।

भारत में कागज़ उद्योग के विस्तार के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र विद्यमान है। ज्यों-ज्यों निरक्षरता के विरुद्ध आंदोलन में प्रगति होगी, त्यों-त्यों कागज़ की मांग में वृद्धि होकर रहेगी। हमारे यहां कागज़ की प्रति अंश की खपत १·५ पोंड है जब कि अमरीका में २४० पौंड है।

द्वितीय विश्व-युद्ध का भारतीय कागज़ उद्योग पर घोर प्रभाव हुआ। बाल्टक देशों तक युद्ध के विस्तार के कारण वुडपल्प (Wood-pulp) की विदेशी पूर्त्ति रुक गई। आयात क्रियात्मक रूप में बन्द हो गई थी। सरकारी कार्य-कलापों तथा अन्य आवश्यकताओं ने मांग में वृद्धि कर दी थी। मिलों ने अपनी अधिकतम क्षमता के साथ काम किया। किन्तु, तिस पर भी कागज़ की बड़ी भारी कमी थी।

विभाजन के फलस्वरूप, जो जंगल कच्चे पदार्थों के लिए संपन्न थे, वह पाकिस्तान के भाग में चले गए। इससे कच्चे पदार्थों की कीमतें चढ़ गई थीं। इस उद्योग को जिन अन्य अड़चनों का सामना करना पड़ता है, वह यह हैं: कैमिकलों (रसायन) की ऊंची कीमतें और यातायात आदि के ऊंचे दाम।

१९५२ में कागज़ और कागज़ बोर्ड का उत्पादन १,३७,५०४ टन हुआ था। पंच वर्षीय योजना के अनुसार १९५५-५६ में कुल उत्पादन १,६५,००० टन हो जायेगा। इस उद्योग से प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः लगभग ६० हजार लोगों को रोजगार मिलता है।

इस वर्ष (१९५३) के मध्य में मध्यप्रदेश में नेपा मिल्ज़ का कार्य शुरू हो जायेगा। यह मिल लगभग ३०,००० टन अखबारी कागज़ उत्पन्न करेगी। यह उत्पादन भारतीय आवश्यकताओं के एक तिहाई भाग को पूरा करेगा।

४६. चमड़ा और चमड़ा रंगाई का उद्योग। प्रत्येक देश की राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में चमड़े के उद्योग का महत्वपूर्ण स्थान है। उसके विषय में कहा जाता है कि यह मूल उद्योग बन गया है।

चमड़ा और चमड़ा-बनाई के उद्योग को दो वर्गों में बांटा जा सकता है: देसी और नवीन किस्म का। भारतीय नरेशों और नवाबों की फौजी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भारत में बहुत लम्बे समय तक चमड़े का देसी उद्योग चलता रहा होगा। इस समय भी देश में इसका बहुत विस्तार है, जो कि स्थानीय चमड़ा-बनाई के साधनों से भद्दी-सी शक्ल का बनाया जाता है और उसके द्वारा अधिकांश स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। अमरीका में (क्रोम) कमाई की विशेष प्रणाली की खोज हो जाने से और मशीनों के चलन के कारण भारतीय टानिंग उद्योग का पतन हुआ, और फलस्वरूप खालें कच्ची अवस्था में निरंतर वृद्धि के साथ निर्यात की जाने लगीं। टानिंग की विधियों में अनेक दोष हैं। कहा जाता है कि प्रतिवर्ष खालों की कीमत का लगभग ४० प्रतिशत इस कारण नष्ट हो जाता है कि उनकी सफाई और धुलाई दोषपूर्ण होती है और उन्हें देरी में छीला जाता है। इसके अतिरिक्त घटिया और अपर्याप्त नमक का प्रयोग किया जाता है। मार्केटिंग के प्रबंध भी अधूरे और अपूर्ण हैं।

टानिंग उद्योग के नवीन वर्ग में पश्चिम में टानिंग के लिए उपयोग में लाये जाने वाले वैज्ञानिक उपाय हैं और उसके लिए यांत्रिक साधनों का उपयोग किया जाता है। १८६७ में, कानपुर में गवर्नमैंट हार्नेस एंड सैडलरी फैक्ट्री की स्थापना हुई थी और १८८० में, मैसर्स एलन एंड कूपर द्वारा प्रबधित आर्मी बूट एंड एक्विपमैंट फैक्ट्री सरकार की आर्थिक सहायता द्वारा स्थापित हुई थी। एक अन्य महत्वपूर्ण फैक्ट्री वैस्टर्न इंडियन आर्मी एंड एक्विपमैंट फैक्ट्री बम्बई में थी। अन्य अनेकों की भी स्थापना हुई।

फौजी आवश्यकताएं सदैव ही चमड़ा-उद्योग के सामने बड़े परिमाण में रही हैं। इनका स्रोत सेना की आवश्यकताएं हैं। १९१४-१८ के युद्ध-काल में, इस उद्योग को विशेष विस्तार प्राप्त हुआ था। द्वितीय विश्व-युद्ध ने भी इस उद्योग को अधिक विस्तार देने के लिए विशेष प्रेरणा प्रदान की थी। उत्पत्ति का परिमाण बहुत बढ़ गया था। मैसर्स एलन्न एंड कूपर युद्ध से पूर्व २ हजार जोड़े प्रतिदिन बनाते थे, किन्तु युद्ध के काल में १९ हजार जोड़े प्रतिदिन बनाते थे। बाटा कंपनी ने अपने उत्पादन को दोगुना कर दिया था। १९३६ में इस उद्योग में लगे तीन हजार लोगों की संख्या में वृद्धि हो गई और युद्ध-काल में वह २० हजार हो गई।

१९४९ में, १३ ऐसे बड़े व्यवसाय थे, जो नवीनतम प्रणालियों और मशीनों से काम लेते थे और लगभग ३५ हजार मजदूर उनमें काम करते थे। इसके अतिरिक्त उस समय भारत में २५० टैनरियां थीं। अनेक छोटी-छोटी टैनरियां भी पैदा हो गई हैं। इस दिशा में जूतों के ऊपरी चमड़े और बक्सों आदि के लिए बछड़ों की खाल का क्रोम बनाने के कार्य की आश्चर्यजनक प्रगति हुई है। चमड़े के पटों और चमड़े के रोलरों जैसी नई चीजों के निर्माण का कार्य भी होने लगा है।

अनुमानतः, जूतों का उत्पादन ८५ लाख जोड़ों का है, जिसमें से १ लाख सेना ले लेती है। नवीनतम मशीनों से संपन्न फैक्ट्रियां आगरा, कानपुर और कलकत्ता में हैं।

इस बात को दृष्टि में रखते हुए कि भारत में जूते का बहुत बड़ा बाजार है, औद्योगिक उन्नति चमड़े की बनी वस्तुओं की मांग में वृद्धि करेगी, और तिस पर

हमारे यहां असीमित कच्चे माल की पूर्ति भी है। इस उद्योग का पूर्णतया उज्ज्वल भविष्य है। भारत में अब भी जूते पहनने का बहुत कम चलन है। कुछ काल तक तो कोई भी उत्पादन की वृद्धि घरेलू मांगों में ही खप जायगी। निर्यात की संभावनाएं भी हो सकती हैं।

×७. **रासायनिक उद्योग।** रासायनिक उद्योगों की अत्यधिक राष्ट्रीय महत्ता है। भारी रसायन उद्योग मूल उद्योग है। ऐसा कोई भी महत्वपूर्ण उद्योग नहीं है, जो किसी-न-किसी अवस्था में रसायनों का उपयोग न करता हो।

इस उद्योग का इतना महत्त्व होने पर भी, हमने, भारत में इस उद्योग को उन्नत करने के लिए बहुत थोड़ा काम किया है। जान पड़ता है कि हम एक सौ वर्ष पीछे हैं। गंधक का तेजाब बनाने में कुछ उन्नति की गई है, किन्तु शोरे के लिए इतनी नहीं की गई। इस मंथर प्रगति का कारण तत्संबंधी ज्ञान और शिक्षित कार्यकर्ताओं का अभाव है। इसके अतिरिक्त भारतीय बाजार विदेशी मिश्रणों से आच्छन्न है।

प्रथम विश्व-युद्ध के समय रसायनों के उत्पादन को किसी सीमा तक प्रोत्साहन मिला था, किन्तु कोई सराहनीय प्रगति नहीं हो सकी। शीघ्र ही वह उत्साह समाप्त हो गया। १९२८ में, इस उद्योग को संरक्षण प्रदान करने के लिए टैरिफ़ बोर्ड को आवेदन किया गया और बोर्ड की सिफारिश पर १९३१ में उसे संरक्षण दिया गया, जो ३१ मार्च, १९४६ तक बढ़ा दिया गया था।

द्वितीय विश्व-युद्ध ने रसायन उद्योग को बहुत उत्साह प्रदान किया। युद्ध-कार्यों में इसकी उपयोगिता के कारण सरकार स्वत: इसकी उन्नति में दिलचस्पी लेने लगी। वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान समिति ने इस उद्योग की समस्याओं के प्रति बहुत ध्यान दिया। एक सरकारी कारखाना स्थापित किया गया। सोडा एश, हवाई जहाजों का तेल और अनेक औषधियां तथा रसायन, जो पहले विदेशों से आते थे, बनाने शुरू किये गए और गंधक के तेजाब तथा अलमोनियम सल्फेट जैसे पुराने रसायनों के निर्माण में पर्याप्त वृद्धि की गई। किन्तु इतने पर भी भारत में रसायनों का उत्पादन विदेशों—अमरीका तथा योरोपीय देशों, विशेषकर जर्मनी के उत्पादन की तुलना में तुच्छ है। यह देश की आवश्यकताओं के लिए अपर्याप्त है।

युद्धोत्तर प्रगतियां—१९४६-४७ में सात मुख्य कैमिकल उद्योगों ने संरक्षण के लिए आवेदन-पत्र दिया था और टैरिफ़ बोर्ड के विचार करने और उसकी सिफारिशों पर विद्यमान राजस्व करों को संरक्षण करों में बदल दिया गया। इसके अतिरिक्त विक्रय पर २ प्रतिशत की सहायता का भी अनुदान दिया गया।

सिंद्री में सरकारी फैक्ट्री, जो एशिया में सबसे बड़ी है, की योजना है कि तीन लाख ५० हजार टन अमोनियम सल्फेट पैदा किया जाय। फर्टेलाइजर्स एंड कैमिकल्स (ट्रावनकोर) लिमिटेड ने अपने उत्पादनों को बाजार में रखना शुरू कर दिया है। पूना में नेशनल कैमिकल लैबारेटरी की आधार-शिला रख दी गई है। इससे वैज्ञानिक अनुसंधान को बहुत प्रोत्साहन प्राप्त होगा।

१९४५ में, गंधक के तेजाबों का उच्चतम उत्पादन ६२,५५० टन था और १९५० में १,०२,४८० टन उत्पादन था। १९५५-५६ तक स्थापित क्षमता २,३०,००० टन तक हो जायगी और उत्पादन १,८०,००० टन होगा। १९५० में सोडा एश का उत्पादन ४४ हजार टन था, जबकि स्थापित क्षमता ५४ हजार टन की थी। १९५५-५६ तक स्थापित क्षमता की आशा ८६ हजार टन तक की है और अनुमानित उत्पादन

७८ हजार टन है। १९५० में कास्टिक सोडे का उत्पादन ११ हजार टन था, जबकि स्थापित क्षमता १९ हजार टन थी। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अनुसार १९५५-५६ तक स्थापित क्षमता ३३ हजार टन तक की हो जायगी और अनुमानित उत्पादन २९ हज़ार टन होगा।

युद्धोत्तर काल में रसायन उद्योग की प्रगति में विदेशी विनिमय की न्यूनता की बाधा थी, कारीगरों का अभाव था और यातायात की कठिनाइयां थीं। रसायनों की खपत देश की औद्योगिक प्रगति का संकेत समझा जाता है। भारत में प्रति व्यक्ति गंधक के तेजाब की खपत ०·४५ पौण्ड है, जबकि अमेरिका में १२० पौण्ड और इंगलैंड में ४५ पौण्ड है। सोडाएश की भारत में ०.६ पौण्ड खपत है किन्तु अमेरिका में ५६ पौण्ड है। कास्टिक सोडे की खपत अमेरिका के मुकाबले में १/१५० है। इससे पता लगता है कि हम किस प्रकार पिछड़े हुए हैं।

४८. **तेल निकालने का उद्योग**। संसार में भारत सबसे अधिक तिलहनों का उत्पादक है। किन्तु यह शोक की बात है कि अपने देश में बीजों से तेल न निकाल कर, तिलहनों का बहुत बड़े परिमाण में विदेशों को निर्यात किया जाता है। यह औद्योगिक दृष्टि से उचित नहीं और आर्थिक दृष्टि से हानिकारक है। इससे देश को केवल यही हानि नहीं होती कि निर्माण का लाभ नष्ट हो जाता है, प्रत्युत खली के रूप में एक ठोस सम्पत्ति से हम वंचित हो जाते हैं जो कि पशुओं के चारे और खाद के काम आ सकती है।

प्रथम विश्वयुद्ध से इस उद्योग को चेतना मिली थी। युद्धकाल में अलसी के तेल, मूंगफली के तेल और रेंडी के तेल की औसत निर्यातों में ४४३ प्रतिशत, १५० प्रतिशत और ६० प्रतिशत क्रमशः की वृद्धि हुई थी। तब से लेकर इस उद्योग ने पर्याप्त उन्नति की है। लगभग ५ सौ बड़ी मिलें हैं और लगभग १००० मध्यम आकार की मिलें देश में तेल निकालने का काम कर रही हैं। मिलें शहरी लोगों की आवश्यकताओं की व्यवस्था करती है और निर्यात के लिए तेल बनाती हैं। इनके अतिरिक्त देश भर में बैलों से चलने वाले कोल्हू भी हैं। इस प्रकार, देश भर में भारी परिमाण में तेल बन रहा है।

भारतीय तेल उद्योग के मार्ग में अनेक बाधाएं हैं। पहली बात तो यह कि अन्य देशों में तेलों के विरुद्ध बहुत ऊंचे करों की दीवारें हैं, जबकि तिलहनों का प्रवेश मुफ्त है। इससे भारत से तिलहन के निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है और तेलों के निर्यात के प्रति निरुत्साह। दूसरे यह कि, तिलहनों की अपेक्षा तेल का अधिक किराया है, जिससे तिलहनों की निर्यात अधिक लाभकर होती है। तीसरे यह कि, भारत की अपेक्षा योरोप में खली का अच्छा बाजार है। भारत में, बहुत थोड़े परिमाण में खली खाद और पशुओं के चारे के रूप में उपयोग की जाती है।

द्वितीय विश्व-युद्ध ने निर्यात सम्बन्धी कठिनाइयां पैदा की थीं, किन्तु साथ ही देश में तेल उद्योग को उन्नत करने के बहुत से अवसर भी प्रदान किये। हमारे यहां कच्चे माल का अतुल भंडार है। साबुन, ग्लिसरीन, पेंट, वनस्पति घी और वार्निस उद्योगों के लिए तेल आवश्यक है। किन्तु यदि उद्योग को स्थिरता की दशा में लाना है, तो तेल और खली का प्रामाणीकरण अनिवार्य होगा। इसके अलावा किसान को खाद और चारे के लिए खली का उपयोग करने की प्रेरणा करनी चाहिए और उसे समझाना चाहिए कि मशीनी खली भी सर्वथा उपयुक्त है।

अठारहवाँ अध्याय

वृहद्-स्तर उद्योग (२)

१. **शीशा उद्योग** । अन्य अनेक भारतीय उद्योगों की भांति, भारतीय शीशा उद्योग के भी भाग हैं: (१) देशी और (२) नवीन। इस उद्योग की देसी दिशा मुख्यत: चूड़ियां बनाने के सम्बन्ध में है, और देश भर में यह फैला हुआ है, विशेषरूप से उत्तर प्रदेश, बम्बई और मद्रास में। किन्तु इस घरेलू उद्योग का असली घर गंगा की घाटी है, जहां कुशल कारीगरों, कोयले और शोरे की बहुतायत है, और वहां यह एटा, फतहपुर और फीरोजाबाद में केन्द्रीभूत हो गया है। बेलगांव, दक्षिण में एक अन्य केन्द्र है। फीरोजाबाद में लगभग १०० नियमित चूड़ियां बनाने के कारखाने हैं। किन्तु नये फैशनों के कारण और शीशे के कारखानों में बनने वाली बेहतर चूड़ियाँ, विशेष रूप से जापान की रेशमी चूड़ियों की प्रतिद्वंद्विता, इस उद्योग को पतन की ओर ढकेल रही हैं।

प्रथम विश्व-युद्ध इस शिशु-उद्योग के लिए वरदान सिद्ध हुआ था। युद्ध-काल से पूर्व कारखानों की ३ की संख्या में वृद्धि हुई और १९१८ में यह संख्या २० हो गई। युद्ध के उपराँत यह उद्योग चल सकने योग्य हो गया था। दोनों युद्धों के बीच उत्पादन में २५० प्रतिशत की वृद्धि हुई। आयात की कीमत गिर गई। जो भी हो, फीरोजाबाद से बाहर की छोटी-छोटी दस्तकारियाँ मरणासन्न दशा को प्राप्त हो रही थीं। द्वितीय विश्व-युद्ध ने विदेशी प्रतिद्वंद्विता का नाश करके इसके पतन को रोक लिया।

नवीन शीशा उद्योग—नवीन शीशा उद्योग १८९० के वर्षों के बीच स्थापित हुआ था। पहले की महान् कोशिशें मुख्यत: इन कारणों से असफल रहीं: अनुभवशील प्रबन्धकों का अभाव; कुशल कारीगरी का अभाव; स्थान विषयक गलत चुनाव, जहां न तो पर्याप्त पूर्ति हो पाती थी और न ही आवश्यक माल मिल पाता था; अर्थ-व्यवस्था की कठिनाइयां। किन्तु जैसे-तैसे उद्योग सांस लेता रहा और उसी बीच प्रथम विश्व युद्ध उसकी रक्षा के लिए आ पहुंचा। जो भी हो, युद्ध के उपरांत, विदेशी प्रतिद्वंद्विता के पुनर्जन्म से यह उद्योग पुन: कठिनाई में पड़ गया। १९३२ में टैरिफ बोर्ड ने १० वर्ष के लिए संरक्षण की सिफारिश की, किन्तु सरकार ने इस आधार पर संरक्षण अस्वीकार कर दिया कि देसी कच्चे माल की पर्याप्त पूर्ति का अभाव है और उद्योग को सोडाएश की आयात पर आश्रित रहना पड़ता है।

द्वितीय विश्व-युद्ध ने इस उद्योग की बहुत सहायता की। रक्षा विभाग की आवश्यकताओं के कारण अनेक नयी-नयी वस्तुएं बनने लगीं। सरकारी टैकनालोजिस्ट ने उन नये प्रयोगों को तैयार किया और उद्योगों को नियमित उत्पादन के लिए उन्हें सौंप दिया। टैकनालोजिस्ट के निर्देशन में भट्टियों को उन्नत किया गया और शीशे की शक्ल बनाने वाली, साफ करने वाली और चित्रकारी करने वाली मशीनें लगाई गईं।

नये साधनों और मशीनों की फैक्ट्रियां गाजियाबाद, बनारस और फीरोजाबाद में स्थापित की गई। फीरोजाबाद में घरेलू उद्योग के लिए एक गैस बनाने का कारखाना खोला गया। आधारमूलक टैकनीकल (कला विषयक) उन्नति की गई। अनेक नई लाइनें जारी की गई अर्थात् शीशे की गोलीदार बोतलें, माईक्रोस्कोप के लिए शीशे, की स्लाइडें, जहाजों पर उपयोग के वृताकार शीशे, हल्के रंगों के शीशे, इत्यादि। भारतीय शीशे के कारखाने इस समय निम्न वस्तुएं निर्माण कर रहे हैं: लैंपों की चिमनियां, ग्लोब, पानी पीने के गिलास, पानी के जार, फूलदान, बोतलें, शीशे को चादरें, बिजली के बल्ब, वाष्प-यंत्र, अस्पतालों की वस्तुएं, इत्यादि। विदेशी आयातों की शीघ्रातिशीघ्र जगह ली जा रही है।

भारतीय शीशा उद्योग के वार्षिक उत्पादन का मूल्य २०० लाख रु० आंका गया था और यहां लगभग १०० कारखाने हैं, जो घरेलू आवश्यकताओं के ५० प्रतिशत की पूर्ति कर रहे हैं।

युद्धोत्तर प्रगतियां[1]—युद्धोत्तर प्रगतियों के लिए ध्येय नियत कर लिया गया है: शीशे की चादरों के लिए ४ करोड़ २० लाख वर्ग फुट (वर्तमान २ करोड़ वर्ग फुट के विरुद्ध); शीशे के खोल २ करोड़ ५० लाख नग (वर्तमान १ करोड़ ४० लाख के विरुद्ध); चश्मों और वैज्ञानिक प्रसाधनों के लिए असीमित क्षेत्र, क्योंकि वर्तमान उत्पादन न होने के बराबर है।

१९५० में, २५८,००० टनों की स्थापित क्षमता के विरुद्ध शीशे और शीशे के सामान का उत्पादन १०७,००० टन हुआ था। प्रथम पंच-वर्षीय योजना का विचार है कि १९५५-५६ तक स्थापित क्षमता ३०३,००० टन हो जायगी और अनुमानित उत्पादन २१८,००० टन होगा।

४२. **सीमेंट उद्योग**। सीमिंट का पहला कारखाना, जिसके आरंभ करने का श्रेय साऊथ इंडस्ट्रियल्स लि० मद्रास को है, १९०४ में चालू हुआ था। किंतु इसकी प्रणालियों में कार्य-कुशलता का अभाव था, इसलिए बाद में उसे बंद करना पड़ा। इस उद्योग की असली आधारशिला १९१२-१३ में रखी गई, जबकि तीन कारखाने एक साथ स्थापित हुए थे। अभी उन्होंने कार्य आरम्भ ही किया था कि प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ गया और सरकार ने उत्पादन पर अधिकार कर लिया। इन कंपनियों की सफलता के फलस्वरूप सात और कारखानों की स्थापना हुई और विद्यमान कारखानों ने १९१९ और १९२२ के बीच अपनी क्षमता को दोगुना कर लिया।

युद्ध-काल में उत्पादन-क्षमता में वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादन का आधिक्य हुआ और गल-घोंटू प्रतिद्वंद्विता जारी हो गई, जिसके कारण अधिकांश व्यवसायों को क्षति हुई। अपनी कठिनाइयों पर विजय पाने के लिए १९२४ में इसने संरक्षण के लिए आवेदन किया। किन्तु टैरिफ बोर्ड ने संरक्षण के लिए इस आधार पर सिफारिश करने से इंकार कर दिया कि इस उद्योग के दुर्भाग्य का कारण उत्पादन का आधिक्य और आंतरिक प्रतिद्वंद्विता है।

बोर्ड ने परामर्श दिया कि उद्योग में निकटतर सहयोग होना चाहिये, तो तत्काल स्वीकार कर लिया गया। १९२७ में, कंक्रीट एसोसियेशन आव् इंडिया बनाई गई, जिसका कार्य प्रचार करना और सीमिंट के उपयोग के लिए जनता को शिक्षित करना था। इससे आगे का कदम, १९३० में सीमिंट मार्केटिंग कम्पनी का निर्माण था। इस

1. The Eastern Economist, Jan. 10, 1947, p. 121.

कंपनी ने विक्रय प्रबन्धों का केन्द्रीकरण किया और भिन्न कारखानों के लिए कोटे नियत किये। किन्तु इस प्रणाली में दोष था और कई-एक कारखानों को क्षमता से निम्न स्तर पर काम करना होता था और यहां तक कि जो न्यूनतम रूप में अयोग्य थे, उन्हें भी कोटा दिया गया। फलतः १९३६ में एसोसिएटिड सीमेंट कं० लिमिटेड, (ए. सी. सी. A. C. C.) के नाम से सम्मिश्रीकरण (Merger) किया गया। इस प्रकार भारत में सीमेंट उद्योग का सुदृढ़ संगठन हुआ—उत्पादन और विभाजन, दोनों ही दिशाओं में। सीमेंट उद्योग ने अपना अभिनवकरण करके अन्य भारतीय उद्योगों के लिए सर्वोत्तम मार्ग-प्रदर्शन किया है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के काल में सीमेंट की मांग एकाएक बढ़ गई और इससे उद्योग को बहुत प्रेरणा मिली। नागरिक खपत पर प्रतिबन्ध लगाने पड़े। १९४१-४२ में उत्पादन भी चोटी तक पहुंच गया था। युद्ध की समाप्ति के बाद उत्पादन गिरना शुरू हुआ।

उत्पादन में ह्रास के कारणों के लिए निम्न बातें उत्तरदायी थीं : मजदूरों की अशांति, राजनीतिक अवस्थाओं की अस्थिरता; कोयले की चिंताजनक और अल्प पूर्ति; यातायात की कठिनाइयां; और युद्ध के दबाव के कारण मशीनों और कारखानों की टूट-फूट और घिसाई।

१९५२ में, भारत संघ में सीमेंट के उत्पादन का अनुमान लगभग ३५·३७ लाख टन था। प्रथम पंचवर्षीय योजना का विचार है कि १९५५ ५६ तक स्थापित क्षमता ५१·४ लाख टन की होगी और अनुमानित उत्पादन ४६·३ लाख टन हो जायगा।

३. दियासलाई उद्योग। भारतीय दियासलाई का उद्योग अभी हाल ही में पैदा हुआ है। १९२२ तक केवल एक सफल कारखाना था, जो अहमदाबाद में, १८९५ में गुजरात इस्लाम मैच फैक्टरी नाम से स्थापित हुआ था। अन्य सब कारखाने, जो युद्ध-पूर्व के काल में शुरू हुए थे, अर्थ-व्यवस्था की कठिनाइयों, या प्रबन्ध की अनुभवहीनता और अज्ञानता अथवा अनुचित स्थान चुन लेने के कारण बन्द करने पड़े।

१९२२ में, दियासलाई के आयात-कर में १॥) प्रति ग्रुस की वृद्धि कर दी गई, जिसके कारण भारतीय उद्योग को ठोस संरक्षण प्राप्त हुआ और उसके आश्रय में अनेक कारखाने स्थापित किए गये।

१९२७ में दियासलाई उद्योग ने अपनी स्थिति को कठिनाई में देखा और संरक्षण के लिए आवेदन किया किन्तु टैरिफ़ बोर्ड ने १९२८ में केवल इसी सहायता की सिफारिश की कि राजस्व-कर को संरक्षण कर में बदल दिया जाय, जिससे उद्योग को चलते रहने का विश्वास हो गया। जो भी हो, भारत में काम करने वाले स्विडिश संघ की विनाशकारी प्रतिद्वंद्विता के विरुद्ध भारतीय फर्मों के रोने-धोने के प्रति सहानुभूति से विचार नहीं किया गया।

भारतीय दियासलाई उद्योग को बहुत बड़ा घरेलू बाजार होने का लाभ है। अनुमानतः, १ करोड़ ७० लाख ग्रुस वार्षिक की खपत होती है। और सस्ता एवं योग्य श्रम भी पर्याप्त परिमाण में प्राप्त है। साथ ही इस उद्योग ने गतिशील उन्नति की है। बहुत दिन की बात नहीं, जब कि हम आयात की हुई दियासलाइयों पर निर्भर रहते थे। किन्तु, इस समय हम क्रियात्मक रूप में आत्मनिर्भर है। १९५२

में कुल उत्पादन ६,०८,२०० केस था। प्रथम पंचवर्षीय योजना का विचार है कि १९५५-५६ तक संपूर्ण स्थापित क्षमता ७,६६,००० केसों की होगी और अनुमानित उत्पादन ६,९०,००० केसों का हो जायगा।

किन्तु भारतीय दियासलाई उद्योग की विक्षिप्तता का एक कारण शक्तिपूर्ण स्विडिश संघ का आधिपत्य है। वर्तमान में यह वैस्टर्न इंडिया मैच कम्पनी के नाम से ख्यात है। भारतीय दियासलाई उद्योग की उन्नति अधिकांशतः इस विदेशी फर्म की उन्नति है। इसने पहले ही अनेक अनुचित उपायों द्वारा बहुत से भारतीय व्यवसायों को हथिया लिया है। बोर्ड में रुपये की पूंजी के साथ कुछेक बनावटी भारतीय डाइरैक्टरों को लेकर इसका हाल का पुनर्निर्माण इसकी वास्तविकता को छिपा नहीं सकता।

४. चाय का उद्योग। विश्व में चाय का महानतम निर्यात होने के कारण भारत की स्थिति स्पर्धा करने योग्य है। चाय के लिए विश्व भर की मांग में से ४०% से अधिक भारत पूर्ति करता है।

चिरकाल तक योरोपीय बाजारों में चीनी चाय को उच्चतम स्थान प्राप्त था। यह १८२० की बात है जबकि आसाम में देसी चाय की खोज हुई। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने १८३५ में प्रयोग के लिए एक बाग शुरू किया। तब से लेकर इस उद्योग ने काफी उन्नति की। चीनी चाय धीरे-धीरे योरोपीय बाजारों से निकाल दी गई। गत शताब्दी में भारत के चाय उत्पादनों में ३००% की वृद्धि हुई।

चाय की खेती नितान्त जलवायु की अवस्थाओं पर निर्भर करती है। चाय के बाग आसाम, बंगाल, बिहार, दक्षिणी भारत और उत्तर भारत में पाये जाते हैं। किन्तु पश्चिमी बंगाल और आसाम में अधिकांशतः वह केन्द्रीभूत हैं। भारत संघ में ७ लाख ३० हजार एकड़ों के चाय के सम्पूर्ण क्षेत्र में लगभग ७३% आसाम और पश्चिमी बंगाल के दो जिलों में है और २०% दक्षिण भारत में समझा जाता है। १९५० में, उत्पादन उच्चतम अंक तक पहुंच गया था अर्थात् ६५ करोड़ ८० लाख पौण्ड।

पंजाब सरकार को कांगड़ा में उत्पादन-वृद्धि की दृष्टि से चाय उत्पन्न करने वालों के लिए समय-समय पर वैज्ञानिक परामर्शदाता की सेवायें मुहय्या करनी चाहिएं।

१९३० के वर्षों की महान् मन्दी ने चाय उद्योग को भारी धक्का पहुंचाया। मूल्यों में भीषण गिरावट हुई और १९३२-३३ का वर्ष सबसे ज्यादा बुरा था। उद्योग को सम्पूर्ण विनाश से बचाने के लिए १९३३ में विश्व के मुख्य चाय-उत्पादक देशों के बीच पांच वर्ष के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय समझौता हुआ। १९३८ में वह दोबारा हुआ और इस समय भी वह चालू है। समझौते के अधीन प्रति वर्ष साथी देशों के लिए निर्यात के कोटे नियत किये जाते थे।

चाय उद्योग की समस्याओं का मूल स्वतः भारत में मिल जायगा। औसत भारतीय के पक्षपात और गरीबी के कारण भारत में चाय की बहुत थोड़ी खपत है। किन्तु भारत की लाखों करोड़ों की जनसंख्या प्रायः सीमाहीन बाजार का द्योतक है। इंडियन टी मार्केट ऐक्सपैन्शन बोर्ड (भारतीय चाय प्रचारक समिति) बहुत जोरों के साथ चाय का आन्दोलन शुरू कर रहा है। भारत में चाय की वर्तमान खपत का अनुमान १५ करोड़ पौन्ड के आसपास किया गया है। गत १० वर्षों में यह खपत लगभग दो गुना हो गई है।

द्वितीय विश्वयुद्ध ने चाय-उद्योग को अस्थिर कर दिया; समुद्र पार के बाजार जाते रहे, कीमतों में घटा-बढ़ी हो गई और निर्यात के कोटों का पुनः चलन हो गया। किन्तु जापान ने युद्ध में प्रवेश किया तो फारमोसा, चीन, जापान और डच ईस्ट इंडीज जैसे महत्त्वपूर्ण पूर्ति के साधन बन्द हो गये। फलस्वरूप, भारतीय चाय की मांग में वृद्धि हुई। युद्ध के दबाव और थकावट ने अमेरिका, इंग्लैंड, आस्ट्रेलिया और मध्यपूर्व के देशों से चाय की मांग में वृद्धि उत्पन्न की। सम्पूर्ण युद्धकाल में भारतीय चाय उद्योग समृद्धि प्राप्त करता रहा।

१९५२ में इस उद्योग में महान् अपकर्ष आया। चाय के मूल्यों में भीषण गिरावट हुई; कई बगीचे इस आर्थिक मन्दी के कारण बन्द हो गये। मजदूरों की छंटनी की गई और पगारें भी नीचे गिरीं। चाय उद्योग का नियन्त्रण करने के लिये भारतीय संसद ने १९५३ के आरम्भ में चाय उद्योग अधिनियम पारित किया। आशा है कि इस अधिनियम के अन्तर्गत उद्योग की स्थिति सुधर जायेगी।

५. तम्बाकू का उद्योग। तंबाकू के लिए भारत पुर्तगालों का ऋणी है कि जिन्होंने १६-वीं शताब्दी के आरम्भ में इसे यहां चालू किया था। भारत में तम्बाकू उद्योग का महत्व इसी बात से आँका जा सकता है कि इस फसल की वार्षिक पैदावार की कीमत अनुमानतः १८ करोड़ रुपए है। विश्व में तंबाकू पैदा करने वालों में अमरीका के बाद भारत का ही दूसरा स्थान है।

भारत में तंबाकू पांच क्षेत्रों में उत्पन्न किया जाता है: (१) उत्तरी बंगाल का क्षेत्र, जहां सिगार, चुरट, हुक्का और खाने की पत्ती का तंबाकू पैदा होता है; (२) मद्रास में गुंटूर का क्षेत्र, जहां वर्जिनिया सिग्रेट और पाईप का तंबाकू होता है; (३) उत्तरी बिहार का क्षेत्र, जहां खाने की पत्ती और सिगरेट का तंबाकू होता है; (४) बम्बई और बड़ौदा में गुजरात का क्षेत्र, जहाँ मुख्यतः बीड़ियों के लिए तंबाकू होता है; वर्जिनिया तंबाकू की भी कोशिश की जा रही है; और (५) बम्बई के बेलगांव और सूरत के जिलों का निपानी क्षेत्र और कुछ आस-पास के राज्य। किन्तु तंबाकू पैदा करने वाले इन विशिष्ट क्षेत्रों को छोड़ कर देश के सब भागों में स्थानीय खपत के लिए बहुत बड़े परिमाण में तंबाकू पैदा किया जाता है। भारत में पैदा किया हुआ तंबाकू आंशिक रूप में भारत में निर्मित होता है और आंशिक निर्यात किया जाता है। इंडियन लीफ टुबैको डिवैलपमैंट कम्पनी सबसे बड़ी क्रेता है और सम्पूर्ण फसल के आधे से अधिक को वह खरीद लेती है। गत २५ वर्षों में तंबाकू के निर्माण के लिए बहुत-से कारखाने स्थापित किये गए हैं। सिगारों और चुरटों के लिए मद्रास को विशेषता प्राप्त है; बीड़ियां प्रायः सभी मुख्य नगरों में बनाई जाती हैं। किन्तु पूना, जब्बलपुर और नागपुर मुख्य केन्द्र हैं। मध्यप्रदेश में यह घरेलू उद्योग बहुत समृद्धिपूर्ण है; लगभग ५० हजार व्यक्तियों को इससे रोजगार मिलता है। हुक्के का तम्बाकू प्रायः सभी स्थानों पर बनाया जाता है किंतु रामपुर, गोरखपुर, लखनऊ और दिल्ली इसके लिए विशेष मशहूर हैं। दिल्ली और संयुक्त प्रांत में खाने की पत्ती का तम्बाकू विशेषतया प्राप्त होता है और मद्रास और मैसूर में सुंघनी।

भारत में उत्पन्न होने वाले तम्बाकू की किस्म को उन्नत करने के लिए हाल ही के वर्षों में सफल चेष्टाएं की गई हैं। बढ़िया किस्म को उगाने की संभावनाओं की खोज की जा रही है। १९३६ में इंपीरियल (अब भारतीय) कोन्सिल आव एग्रीकल्चरल रिसर्च ने गुन्टूर में तंबाकू के लिए एक सत्र-स्टेशन (उपगृह) स्थापित

किया था। अनेक राज्यों ने अपने यहां निजी अनुसंधान के स्थान स्थापित किये हैं।

६. **लाख का उद्योग।** भारत प्रति वर्ष ४९ से ५० लाख टन लाख पैदा करता है। इसका मुख्य उपयोग फर्नीचर के पालिश करने में होता है। यह ग्रामोफोन के रिकार्डों, सोने और चांदी के जेवरों में रिक्त स्थान की पूर्ति करने, लकड़ी के खिलौनों को जोड़ने और पैन-होल्डरों (कलमों) के उपयोग में भी आता है। इन सब उद्देश्यों के लिए भारत में सम्पूर्ण उत्पादन को ३ प्रतिशत की खपत होती है और शेष का निर्यात किया जाता है। अमरीका इसका सबसे बड़ा ग्राहक है। ग्रामोफोन रिकार्डों के उद्योग के जन्म ने लाख उद्योग की प्रगति को गतिशील बना दिया है। इस उद्योग में लाख के विश्व-उत्पादन का ४०% खप जाता है। भारत में ग्रामोफोन रिकार्डों में प्रति वर्ष ३०० टन के लगभग की खपत हो जाती है।

ग्रामोफोन रिकार्डों के अतिरिक्त, विदेशों में फ्रांसीसी पालिश, फर्श के वार्निश, बिजली और सीमेंटों के वार्निश, पहियों के दांते बनाने, चमड़ा पालिश करने, कागज को पूर्ण करने इत्यादि निर्माण के कार्यों में इसका उपयोग किया जाता है। इससे पता चलता है कि लाख-उद्योग की प्रगति के लिए कितना विस्तृत क्षेत्र विद्यमान है। इस बहुमूल्य पदार्थ का पूर्ण उपयोग करने में हम अभी बहुत दूर हैं। बिहार में नामकुम स्थित इंडियन लाख रिसर्च इंस्टीट्यूट (भारतीय लाख अनुसंधानशाला) लाख के नये-नये प्रयोगों को सिखलाने और इसकी खेती को उन्नत करने की दिशा में बहुत हितकर कार्य कर रही है।

७. **सिनेमा उद्योग।** हमारे शिशु उद्योगों में फिल्म उद्योग एक है। १९३९ में इसने अपनी रजत-जयन्ती मनाई थी। किन्तु इसने तीव्र वेग के साथ उन्नति की है और इस समय भारतीय उद्योगों में इसका आठवाँ स्थान है। इसके द्वारा केन्द्रीय और प्रान्तीय राज्य-कोष को १·२१ करोड़ रुपया प्राप्त होता है और लगभग ४० लाख रुपया वार्षिक मनोरंजन टैक्स से प्राप्त होता है। इसलिए, भारत में फिल्म उद्योग के महत्व के विषय में कोई भी सन्देह नहीं रह जाता। हॉलीवुड के बाद, दुनिया में भारत सबसे बड़ा फिल्म-निर्माता है।

पहली भारतीय फिल्म "हरिश्चन्द्र" १९१३ में बनाई गई थी। बोलने वाली फिल्मों के निर्माण से इस उद्योग की उन्नति को प्रोत्साहन मिला। इस समय लगभग १५० कम्पनियाँ फिल्म निर्माण का कार्य कर रही हैं। अधिक महत्वपूर्ण केन्द्र बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और पूना हैं। किन्तु, देश में निर्मित होने वाली सम्पूर्ण संख्या का दो तिहाई अंश बम्बई में निर्मित होता है, इसलिए वह "भारत का हॉलीवुड" कहलाने का अधिकारी है। १९५१ की फिल्म जांच कमेटी के अनुसार ३२५० सिनेमाघर हैं और ६० स्टूडियो हैं।। इस उद्योग में ३२ करोड़ रुपये की पूंजी लगी हुई है और वार्षिक आय लगभग २० करोड़ रुपये की है।

किन्तु अभी तक हमने अपने कार्य-कलापों को फिल्मों के उत्पादन और वितरण तक ही सीमित रखा हुआ है। कच्चे फिल्मों तथा सिनेमा सम्बन्धी प्रसाधनों के लिए हम पूर्णतया विदेशों पर ही आश्रित हैं। भारत में फिल्मों की बढ़ती हुई माग से भारत में एक अनुकूल क्षेत्र को जन्म मिलता है और उसका उपयोग करने के लिए भारतीय औद्योगिकों को कच्चे फिल्मों तथा सिनेमा प्रसाधनों के निर्माण के कार्य को उठाना चाहिए।

फिल्म जांच कमेटी के शब्दों में "जहां बुद्धि और कला का संगम होता है, वहां आज की फिल्म का प्रदर्शन नितान्त क्षीण है, क्योंकि उसकी कथा-वस्तु पुराने ढर्रे तथा

घिसे-पिटे ढंग की है।" फिल्म निर्माता अपनी योग्यता और उच्च-श्रम का प्रदर्शन करने के लिए सच्चे अर्थों में कलापूर्ण फिल्में बाजार में दे सकते हैं। कमेटी ने अखिल भारतीय फिल्म कौन्सिल बनाने की सिफारिश की थी, जो "मित्र, दार्शनिक और पथ-प्रदर्शक" के रूप में कार्य करेगी। और साथ ही फिल्म फाइनेंस कार्पोरेशन की स्थापना की भी सिफारिश की थी, जिसकी आरम्भिक पूँजी एक करोड़ रुपए हो।

८. **रेयन का उद्योग**। यद्यपि भारत में रेयन का उद्योग अभी शिशु दशा में ही है, तथापि इसने तीव्र गति से उन्नति की है और इसने हमारे देश में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। वस्त्र उद्योगों में सूती वस्त्र उद्योग के बाद इसका महत्व है।

यह केवल १९३६ की ही बात है कि जब सूती उद्योग को संरक्षण मिला, तो उससे लाभ उठाने के लिए रेयन बुनाई का उद्योग संगठित आधार पर आरंभ किया गया। १९३६ तक रेयन सूत का केवल हैंडलूम पर बुनने वाले उपयोग करते थे अथवा मिलों में साड़ी की कन्नी बनाने के लिए इसका उपयोग होता था। केवल रेयन के वस्त्रों का उत्पादन नाम-मात्र को होता था। किन्तु १९३६ के बाद कुछ ही वर्षों में अनेक रेयन बुनने की मिलें स्थापित हो गईं और यह शिशु-उद्योग वृहद् वस्त्र-उद्योग में परिवर्तित हो गया। जब से रेयन की आयात पर से नियंत्रण हटा लिया गया है, तब से और अधिक मिलें स्थापित हो गई हैं। भारत में इस प्रकार की ३०० मिलें हैं, जिनमें १५ हजार कर्घे काम करते हैं। किन्तु उद्योग की क्षमता नये व्यवसाइयों द्वारा शीघ्र ही बढ़ रही है और साथ ही वर्तमान मिलें भी विस्तार करने जा रही हैं।

असली रेशम के निर्माता और सूती वस्त्र के निर्माता, पहले-पहल इस उद्योग की स्थापना के समय बहुत व्याकुल हुए थे। इसकी स्थिति बहुत चिन्ताजनक रही है। वास्तव में ही यह आश्चर्य की बात है कि यह उद्योग इतने लंबे युद्ध के काल में कैसे जीवित रह सका, जबकि पूर्ति सर्वथा टूट चुकी थी, और अब यह स्थिति है कि यह उद्योग स्थिर हो गया है, और सरकार को चाहिये कि वह इस उद्योग को निर्भरता से मुक्त करे।

९. **रेशम का उद्योग**। रेशम की घरेलू दस्तकारी के विषय में पहले ही विचार हो चुका है। १८३० तक, भारत रेशमी वस्तुओं का बहुत बड़े परिमाण में निर्यात करता था, किन्तु हम देख चुके हैं कि भारतीय रेशमी वस्तुओं को किस प्रकार आन्तरिक और बाहरी बाजार से धीरे-धीरे निकाल दिया गया।

घरेलू दस्तकारी के अतिरिक्त, रेशम के कारखाने भी स्थापित किये गए हैं। किन्तु सैसून और अलांयस सिल्क कम्पनी, बम्बई जैसी कुछेक सम्मानित फर्मों को छोड़ कर अधिकांश कारखाने तुलनात्मक दृष्टि से बहुत ही छोटे हैं, जिनमें कुछ सौ आदमी कार्य करते हैं। इन कारखानों को विशिष्ट रूप से रेशमी सूत के आयात पर निर्भर रहना होता है, खास कर चीन और जापान से। किन्तु भारत में अनेक बड़े भूखंड हैं, जो रेशम की खेती के लिए उपयुक्त हैं। इस विषय में कोई कारण नहीं जान पड़ता कि वैज्ञानिक अनुसंधान की सहायता मिलने पर भारत कच्चे रेशम और रेशमी वस्तुओं की विदेशी आयातों से क्यों छुटकारा नहीं पा सकता?

काश्मीर की अस्थिर अवस्थाओं ने रेशमी वस्त्रों के उत्पादन में बाधा डाल दी है।

इस उद्योग को १९३४ में पहले संरक्षण मिला था। इसके बाद पुनः टैरिफ बोर्ड की सिफारिश पर तीन वर्ष के लिये १९४९ में आयात-कर को लगभग तीन गुणा कर दिया गया। उद्योग द्वारा संरक्षण के स्तर की अपर्याप्तता के विषय में आपत्ति करने पर टैरिफ बोर्ड को पुनः १९५१ में जांच करने के लिए कहा गया। यह स्पष्ट है कि यह उद्योग केवल संरक्षण पर ही जीवित नहीं रह सकता। इसे न केवल आयातों की ही प्रतिद्वंद्विता का सामना करना होता है, प्रत्युत कृत्रिम रेशम का भी। केवल पुनः संगठन करने के आधार पर ही यह उद्योग सुदृढ़ हो सकता है।

१० ऊन का निर्माण। ऊन की घरेलू दस्तकारी को छोड़ कर, जिस के विषय में हम चर्चा कर चुके हैं, भारत में ऊनी मिलों (कारखानों) का उद्योग भी किसी सीमा तक उन्नति कर रहा है।

पहली ऊनी मिल १८७६ में कानपुर में स्थापित हुई थी। अगले दस वर्षों में कुछ और मिलें स्थापित हुईं, जिनमें सब से महत्वपूर्ण धारीवाल एजर्टन वूलन मिल्ज है। प्रथम विश्व-युद्ध ने इस उद्योग को कुछ प्रेरणा दी। १९१९ और १९२१ के बीच बम्बई में तीन मिलें स्थापित हुईं। कठोर प्रतिद्वंद्विता के फलस्वरूप १९२४ में कुछ मिलों का दिवाला निकल गया। १९३० के वर्षों में ऊन का उद्योग मन्दी की पकड़ में आ गया। किन्तु सरकार को १९३४ में टैरिफ बोर्ड की संरक्षण के लिए सिफारिश को स्वीकार करने के सिवा अन्य कोई चारा न रहा। इसके सिवा, घरेलू ऊन के उद्योग को ५ लाख रुपये का अनुदान स्वीकार किया गया, जो पांच वर्षों में फैला कर दिया जाना था।

ऊनी निर्मित वस्तुओं में फलैनल, सर्ज व ट्वीड, ब्रॉड क्लाथ, कंबल और नमदे भी निहित हैं। यह मिलें अधिकतर भारतीय ऊन का उपयोग करती हैं और केवल बढ़िया कपड़ों के लिए उन्हें आस्ट्रेलिया की ऊन पर निर्भर रहना पड़ता है। बम्बई, कानपुर, धारीवाल (पंजाब) और बंगलौर इस उद्योग के मुख्य केंद्र हैं।

द्वितीय विश्व-युद्ध ने ऊन के उद्योग को बहुत प्रोत्साहन प्रदान किया। भारत में ऊनी मिलों ने भारतीय सेना की बढ़ती हुई वस्त्र-सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए अपनी अधिकतम क्षमता के साथ काम किया। १९५२ में ऊनी वस्तुओं का उत्पादन १६६·६८ लाख पौण्ड था। इस उद्योग के सामने बढ़िया काऊंटों के उत्पादन में वृद्धि करने के विषय में यह समस्या है कि उसके पास ऊनके लिए लट्टुओं की कमी है और वह एकमात्र आस्ट्रेलिया से आयात किये जाते हैं।

११. नमक उद्योग। नमक भारत के अनेक भागों में बनाया जा सकता है। केवल बंगाल, बिहार, उड़ीसा में इसे बनाना कठिन है, क्योंकि वहां का जलवायु नमी वाला है और गंगा का समुद्र में निरन्तर बहने वाला पानी वाष्प द्वारा नमक बनाना कठिन कर देता है।

भारत में नमक के दो स्रोत हैं: (१) नमक वाला पानी राजपूताना में सांभर झील से; और (२) बम्बई और मद्रास में समुद्री नमक के कारखाने।

नमक उद्योग को १९३० में संरक्षण दिया गया था। १९३१ तक नमककर जारी रहा। १९३३ में गांधी-इरविन समझोते ने अपनी निजी आवश्यकता के लिए व्यक्ति को नमक बनाने का अधिकार दिया था। १९४७ में इस समझोते में संशोधन किया गया, जिसमें नमक के लिए व्यक्तिगत आवश्यकताओं के इस अधिकार की शर्त को स्पष्टतः व्यक्त किया गया था।

हाल ही के वर्षों में, जहां तक सम्बन्ध नमक की पूर्ति, क़ीमत और प्रकार से है, अवस्था बहुत ही असंतोषजनक रही है। विभाजन के कारण तो नमक के सम्बन्ध में भारत की स्थिति और भी क्षीण हो गयी है। पंजाब की नमक की पहाड़ियों और खेवड़ा की खानों को हानि से भारत को २५ लाख मन नमक की क्षति हुई है।

भारत सरकार ने डिवैलपमेंट कमेटी उत्पादन में वृद्धि करने के लिए स्थापित की थी। १९४६-४९ के काल में ४८० से ६३५ लाख मन का विभिन्न रूप में उत्पादन होता रहा। १९५० में यह ७१३ लाख मन हो गया और १९५१ में अनुमान किया गया है कि ७२७ लाख मन हो जायगा। यह सम्भव है कि ७३२ मन का चिह्नित अंक पार हो जायगा। भारत ने आत्म-निर्भरता प्राप्त कर ली है। और जनवरी १९५२ में ४.७ लाख मन की जापान को निर्यात की गई। आशा की जाती है कि दक्षिणी तट के कारखाने १९५२ में अपने उत्पादन में ४०% की वृद्धि करेंगे। प्रथम पंच वर्षीय योजना का विचार है कि १९५६ तक ३०,७५,००० टनों की उत्पत्ति हो जायगी।

१२. कुछ अन्य उद्योग। इंजीनियरिंग उद्योग—भारत में इंजीनियरिंग उद्योग का गत शताब्दी के अर्द्ध में आविर्भाव हुआ था। किन्तु यह मुख्यतः रेलों की मरम्मत के सम्बन्ध तक ही सीमित रहा है। नवीन वृहद्-स्तर के उद्योगों की प्रगति के साथ वर्कशाप (कारखाने) बनों। हाल ही में टाटा आयरन एंड स्टील कम्पनी ने इंजीनियरिंग की अनेक दिशाओं में कार्य करना आरम्भ किया है और इस उद्योग को उन्नत किया है। फलस्वरूप वर्तमान में कई किस्मों के टूल (औज़ार) और उपकरण भारत में बनने लगे हैं। किन्तु इतने पर भी आज तक इंजीनियरिंग उद्योग मरम्मत तक ही सीमित है। अब भी हम पूर्णतया आयात की हुई मशीनों पर आश्रित हैं, जो औसतन १६ करोड़ रुपये वार्षिक की आती हैं। इन मशीनों की कीमत के साथ यातायात, बीमा तथा अन्य दातव्यों को भी जोड़ा जा सकता है। इस सब का तात्पर्य यह है कि भारतीय व्यवसायी को पर्याप्त रूप से प्रारम्भिक बाधा होती है। पूंजी की ऊंची लागत, योग्य श्रम का अभाव और आन्तरिक प्रतिद्वंद्विता कुछेक कठिनाइयां हैं, जिनसे इंजीनियरिंग उद्योग को सामना करना पड़ता है। इंजीनियरिंग उद्योग निम्न मुख्य औद्योगिक केन्द्रों में केन्द्रीभूत हैं: बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, नागपुर, अहमदाबाद और मद्रास आदि। इंजीनियरिंग उद्योग की जांच करने के लिये भारत सरकार ने २० मई १९५३ को एक समिति नियुक्त की। इसकी घोषणा श्री टी० टी० कृष्णमचारी जो कि केन्द्रीय सरकार में उद्योग तथा व्यापार के मंत्री हैं, भारतीय संसद् में की। इस समय इंजीनियरिंग उद्योग की सम्पूर्ण क्षमता का प्रयोग नहीं किया जा रहा। समिति विशेष कर इस विषय पर विचार करेगी और क्षमता का सम्पूर्ण प्रयोग करने के लिये अपनी सिफारशें सरकार के सम्मुख रखेगी।

एल्यूमीनियम उद्योग[1]—एल्यूमीनियम उद्योग नवीनतम उद्योगों में से एक है। यह १९ वीं शताब्दी के अन्त की बात है, जबकि बिजली पालिश करने की प्रणाली की खोज हो जाने पर एल्यूमीनियम व्यावहारिक उपयोग के लिए संभव हो सका। वर्तमान में यह उद्योग दृढ़तापूर्वक भारत में जम गया है और इसे मूल-उद्योग घोषित किया गया है। राष्ट्रीय रक्षा की दृष्टि से इसके महत्व के प्रति उपेक्षा नहीं की जा

1· See article by K. C. Mahindra in Commerce of Dec. 1949.

सकती। बिजली के कार्यों में हल्का होने के कारण इसका अधिक उपयोग होता है। इसलिये यह उद्योग हमारी बहु-मुखी योजनाओं में बहुत सहायक सिद्ध होगा।

यह यातायात उद्योगों, संप्रेषण कार्यों, खाद्य और रसायन उद्योगों, मकान बनाने और रसोई में बासनों के रूप में इस्तेमाल होता है। महत्व की दृष्टि से एल्यूनियम उद्योग लोहे और इस्पात के उद्योग से दूसरे दर्जे पर है।

मई १९४९ से सरकार भारत में एल्यूमीनियम के एकमात्र निर्माताओं, इंडियन एल्यूमीनियम कम्पनी और एल्यमीनियम कार्पोरेशन आव् इंडिया को तीन वर्ष के लिए उनके उत्पादनों की विक्रय कीमत और वैसी ही आयात की हुई वस्तुओं के बीच के अन्तर द्वारा और आयात उत्पादनों पर अतिरिक्त विशिष्ट कर लगा कर सहायता दे रही है। उस सहायता को दृष्टि में रखते हुए कि जो इस उद्योग को विदेशों में मिलती है, भारतीय उद्योग को मिलने वाली सहायता अपर्याप्त घोषित की जानी चाहिए। सरकार ने टैरिफ बोर्ड की यह सिफारिश स्वीकार कर ली है कि चतुर्थ योजना के अधीन अमरीका से टैकनीकल परामर्श ओर सहायता प्राप्त करनी चाहिए और इस उद्योग के लिए महायंत्र और मशीनों की आयात को प्राथमिकता दी जाय। सरकार इस उद्योग को बिजली की पूर्ति में सहायता प्रदान करके ठोस मदद कर सकती है, क्योंकि बिजली की लागत अटकल रूप में सम्पूर्ण का ४०% होती है।

अप्रैल, १९५१ में राष्ट्रीय योजना कमीशन (नैशनल प्लानिंग कमीशन) ने वर्तमान इकाइयों को ५ हजार टन तक प्रत्येक को बढ़ा देने और हीराकुड क्षेत्र में १५ हजार टन की नई इकाई स्थापित करने तथा १९५५–५६ तक सम्पूर्ण उत्पादन को २५ हजार तक प्रतिवर्ष कर देने की समस्या पर उद्योग के साथ विचार किया। वर्तमान में दो प्रमुख कारखानों की सम्मिलित उत्पादन-क्षमता ४ हजार टन है। १९५० में उन्होंने ३५३६ टन का उत्पादन किया था, जब कि हमारी वार्षिक आवश्यकताएं १५ हजार टन प्रति वर्ष की हैं।

रंग-रोगन का उद्योग––रंग-रोगन बनाने वाला पहला कारखाना १९०२ में कलकत्ता के पास खोला गया था। यह पहला ही साहस बहुत सफल रहा। प्रथम विश्व-युद्ध के कारण इस उद्योग को प्रेरणा मिली। तब से लेकर यह क्रमशः उन्नति करता जा रहा है, यद्यपि उल्लेखनीय कोई बात नहीं। रंग-रोगन बनाने के लिए जो भी वस्तुएँ दरकार होती हैं, भारत में वह सब पैदा होती हैं, जैसे, तारपीन, अलसी का तेल, लाल जिस्त, सुहागा आदि। गत कुछ वर्षों में रंग-रोगनों का सराहनीय उत्पादन बढ़ गया है।

साबुन का उद्योग––इस उद्योग का यह उल्लेखनीय उदाहरण है कि इसने सरकार से संरक्षण अथवा किसी प्रकार की सहायता प्राप्त किये बिना ही उन्नति की है। भारत में साबुन निर्माण की परिस्थितियां सर्वथा अनुकूल हैं। हमारे देश में वनास्पति तेल बहुत बड़ी मात्रा में उत्पन्न किये जाते हैं और उनकी पूर्ति में और भी वृद्धि हो सकती है। केवल कास्टिक सोडे को आयात करनी होती है। इसके लिए बहुत बड़ा घरेलू बाजार है, सस्ता श्रम है, टैक्स का अनुपात न्यून है और विदेशी साबुन पर आयात-कर लगा हुआ है––यह सब अंश इस भारतीय उद्योग के लिए अनुकूल हैं।

नवीन प्रणाली के अनुसार साबुन का पहला कारखाना एन. डब्ल्यू. सोप कम्पनी ने १८७९ में खोला था। स्वदेशी आन्दोलन के कारण बंगाल में कई कारखाने खोले गए थे, जिनमें उल्लेखनीय यह हैं: बुलबुल सोप कम्पनी, नेशनल सोप वर्क्स, ओरियंटल

सोप वर्क्स। प्रथम युद्ध आरम्भ होने के अवसर पर साबुन का उत्पादन २० हजार टन था। युद्ध ने इसे विस्तार दिया। १९३५ और १९४४ के बीच उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई, जो १ लाख २० हजार तक चली गई थी।

सब प्रकार के साबुन और बहुत ही बढ़िया किस्म के साबुन भी बनाये जा रहे हैं। सम्पूर्ण उत्पादन में से नहाने का साबुन ८०% है। समूचे देश में साबुन बनाने के छोटे-छोटे कारखाने हैं, जो सम्पूर्ण उत्पादन में से २५% की पूर्ति करते हैं। मोदी सोप मैन्यूफैक्चरिंग कम्पनी, टाटा कैमीकल कम्पनी, गाडरेज और लिवर ब्रदर्स आदि कई बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ वृहद् परिमाण में बढ़िया किस्म के साबुन बना रही हैं। यह आवश्यक है कि इनके साथ ही डब्बे और बैरल (ढोल) बनाने के उप-उद्योग भी जारी किये जायें। भारतीय साबुन उद्योग ने अभी तक चर्बियों का बहुत ही थोड़ी मात्रा में उपयोग किया है, जबकि विदेश के साबुन उद्योग में यह साबुन के लिए महत्वपूर्ण पदार्थ माना जाता है।

१९५५-५६ तक स्थापित क्षमता की आशा २ लाख ८८ हजार टन तक जाने की है; और उत्पादन २ लाख ७० हजार टन तक हो जायगा।

वनास्पति उद्योग—हाल ही के वर्षों में वनास्पति उद्योग बहुत ही बढ़ गया है, और कुछ लोगों का मत है कि इसका भयानक रूप में विस्तार हुआ है। इस समय महान खाद्य-उद्योगों में इसका स्थान दूसरा है, जिसमें २३ करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है। वनास्पति उत्पादन करने वाली यहां ४० फैक्ट्रियां हैं, और इनके द्वारा प्रत्यक्षतः १५ हजार श्रमिकों को रोजगार मिलता है, और कई हजार को अप्रत्यक्ष रूप में उप-उद्योगों से रोजगार मिलता है।

सबसे महत्वपूर्ण विचार वनास्पति के खुराक विषयक मूल्य का है। इज्जतनगर में एक प्रयोग द्वारा पता चला है कि चूहों की खुराक में ५ प्रतिशत वनास्पति ने उन्हें तीसरी पीढ़ी में अन्धा कर दिया। जो भी हो, इस निर्णय के बारे में डा० गिल्डर जैसे अधिकारी व्यक्तियों ने चुनौती दी और कहा कि यह अंधता बंगाली क्षीण खुराक के कारण हुई और वनास्पति के कारण नहीं। सबसे ताजा निर्णय वनास्पति अनुसन्धान निर्माण समिति (वनास्पति रिसर्च प्लानिंग कमेटी) का है, जिसमें बताया गया है कि चार भिन्न केन्द्रों में प्रयोग करने पर मालूम हुआ है कि वनास्पति के पिघलने का तापमान ३७° सैंटीग्रेट है और यह मूंगफली के तेल के मुकाबिले में किसी प्रकार हानिकारक नहीं है। जो भी हो, यह केवल एक विपरीत निर्णय है। इससे केवल इतना ही पता चलता है कि वायुरूप तत्व के मिश्रण (hydrogenation) से तेल का खुराक विषयक मूल्य उन्नत नहीं हो जाता। तो फिर देश १२ करोड़ रुपये वार्षिक वायुतत्व मिश्रण पर क्यों खर्च करता जा रहा है? यह समझा जा सकता है कि इसके रंग, गंध और बनाने-ठनाने के लिए यह कीमत चुकाई जाती है। विशेषज्ञों द्वारा परस्पर-विरोधी सम्मतियों को दृष्टि में रखते हुए, वनास्पति के खुराक विषयक मूल्य के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत नहीं दिया जा सकता; इसे संदिग्ध ही समझा जा सकता है।

वनास्पति के विषय में असली कष्ट यह है कि सामान्य आदमी असली घी और इसमें भेद नहीं कर सकता। और इसके फलस्वरूप मिलावट की बुराई पैदा होती है, जो इन दिनों प्रायः सर्वत्र देखी जाती है। ढंग यह होना चाहिए कि जो वनास्पति चाहते हैं, वह वनास्पति ले सकें, किन्तु जो असली घी चाहते हैं, उन्हें वनास्पति की मिलावट के बिना असली घी मिल सके। इस उद्देश्य के लिए रंग डालना आवश्यक

जान पड़ता है। किन्तु रंग ऐसा होना चाहिए कि जो आंखों को भा सके, स्वास्थ्य के लिए हानिकर न हो, और उसके फीके पड़ने का भय न हो। भारतीय दुग्धशाला अनुसंधान संसद (इंडियन डेरी रिसर्च इंस्टीट्यूट) ने मालूम किया है कि रतनजोत की जड़ के रस से वनास्पति घी को यदि रंगा जाय, तो उससे बहुत संतोषजनक परिणाम हो सकता है।

१३. औद्योगिक प्रगति का अवलोकन। हमने भारत के औद्योगिक क्षेत्र को विस्तृत और विभिन्न रूपों में अवलोकन किया है। हमने भिन्न भारतीय उद्योगों के मूलोत्पादन और प्रगति की खोज की है और उनमें से प्रत्येक के समक्ष उत्पन्न होने वाली समस्याओं पर विचार किया है। इस औद्योगिक प्रगति का माप-दंड क्या है?

कुछ महत्वपूर्ण उद्योगों को देखते हुए हमें मालूम होता है कि जूट और चाय का उत्पादन घरेलू मांग की अपेक्षा सामान्यतः बढ़ गया है। द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भिक अवसर पर भारत निम्न उद्योगों में क्रियात्मक रूप से स्वतः संतुष्ट हो गया था: खांड, सीमेंट, कपड़ा, लोहा और इस्पात, कागज और दियासलाई। विश्व के दस महान् औद्योगिक देशों में भारत ने भी स्थान प्राप्त कर लिया है। इससे उच्चतम स्थिति का ज्ञान होता है। इससे भी बढ़कर, द्वितीय विश्व-युद्ध के काल में उद्योगों ने गुण-विषयक और परिमाण विषयक प्रगति में भी वृद्धि की। विद्यमान उद्योगों का विस्तार हुआ और कई नये उद्योगों की स्थापना हुई।

किन्तु इसके कारण वास्तविक स्थिति के प्रति हमें आँखें नहीं मूंद लेनी चाहिएं। निश्चय ही, अभी भी हम औद्योगिक रूप में पिछड़े हुए हैं। अन्य देशों के साथ तुलना करते हुए और अपने मानव-श्रम तथा सामान के प्रसाधनों को दृष्टि में रखते हुए हमारी औद्योगिक प्रगति तुच्छ-सी घोषित की जानी चाहिए। भारत की इस्पात की प्रति अंश खपत ८ पोंड प्रति वर्ष है, जबकि इसके विपरीत अमरीका में ८६० पौंड, इंग्लैंड में ५२० पोंड, और आस्ट्रेलिया में ४७० पोंड है। गंधक के तेजाब की खपत भारत में प्रति अंश अमरीका की अपेक्षा ४०० गुना न्यून है और सोडे की १०० गुना न्यून। बड़ी मुश्किल से भारत की कर्मकर जनसंख्या का २% वृहद्-स्तर उद्योग में लगा हुआ है।[1]

किन्तु हमारी प्रगति केवल यही नहीं कि धीमी थी, प्रत्युत यह असमान भी थी। परिपूरक होने की अपेक्षा यह प्रतिद्वंद्वितापूर्ण रही है। हमारे उद्योगपति लकीर के फकीर बने: प्रारम्भ करने के बजाय उन्होंने नकल की। जैसे ही किसी नये उद्योग की स्थापना का पता चलता है, तैसे ही अंधाधुन्ध खाई को पाटने को भगदड़ हो जाती है; और जब तक वह उद्योग पारिश्रमिक देना बन्द ही नहीं कर देता, तब तक कारखाने पर कारखाना खुलता चला जाता है। यही नहीं कि उसी दिशा को ही ग्रहण कर लिया जाता है, प्रत्युत उद्योगपति तब तक उसी स्थान की ओर कारखाने के लिए दौड़े जाते हैं, जब तक कि वह उद्योग बुरी तरह केन्द्रीभूत और असंतुलित नहीं हो जाता। इसके अतिरिक्त बाजार की दृष्टि से भी, जैसा कि खांड के विषय में हुआ, अथवा पदार्थों के विषय में, जैसा कि रुई के विषय में हुआ अथवा बिजली के स्रोत के विषय में, जैसा कि सीमेंट उद्योग के विषय में हुआ, विपरीत दशा हो जाती है।

इसके अतिरिक्त हमारे औद्योगिक स्वरूप की आधारशिला भी दृढ़ता से कोसों दूर है। हमें पूर्णतया विदेशों की मशीनों, मशीनों के औजारों, मिलों के सामान, पुर्जों और अनेक आवश्यक पदार्थों के लिए विदेशों पर निर्भर रहना होता है। यहां तक कि बहुधा कुशल-कारीगरों को भी बाहर से मंगाना पड़ता है।

---

1. Report of the Fiscal Commission, 1949—50. Vol. I., p. 33

(क) पुरानी घिसी-पिटी मशीनों की जगह नये यंत्र और नई मशीनें प्राप्त करने में कठिनाई ।

(ख) श्रमिकों में अनुपस्थित रहने का चलन और अपने रोज़गार की अवस्थाओं को उन्नत करने के लिए हड़तालों का शस्त्र अपनाने में वृद्धि ।

(ग) यातायात की समस्या महानतम बाधा थी । या तो कच्चे पदार्थों की समय पर और पर्याप्त परिमाण में प्राप्ति के विषय में अथवा पूर्ण वस्तुओं की बिक्री के विषय में अनेक कठिनाइयां थीं । स्टाक संचित हो गए थे और उत्पादन धीमा हो गया था ।

(घ) राजनीतिक प्रगतियां भी उत्पादन को रोकने में कम जिम्मेदार नहीं हैं । राजनीतिक मामलों के अंतिम निर्णय के विषय में पहले तो अनिश्चितता थी और जब १५ अगस्त १९४७ को अंतिम निर्णय हो गया तो उससे संपूर्ण समाज की अर्थ-व्यवस्था ही गड़बड़ा गई ।

(ङ.) मार्शल योजना ने भारत उत्पादन साहसों में बाधा उत्पन्न की, क्योंकि अमरीका ने अपने बड़े-बड़े सामान योरोप भेजने शुरू कर दिये थे । इसके साथ ही, हमें मालूम होता है कि देश अर्द्ध-युद्ध-काल की अर्थ-व्यवस्था में बदल रहा है ।

(च) १९४७–४८ के लियाकत अली बजट ने भी उद्योग पर अनावश्यक बोझ डाला । यद्यपि १९४८–४९ और उससे भी अधिक १९४९–५० के बजट ने ठोस सुविधा प्रदान की थी, तथापि औद्योगिक क्षेत्रों में यह धारणा विद्यमान थी कि टैक्स के स्तर का बोझा अब भी इतना भारी है कि जो भारतीय उद्योग के लिए असहनीय है ।

(छ) सरकार द्वारा औद्योगिक निश्चित-नीति के अभाव ने भी औद्योगिकों को कुंद कर दिया । उद्योग के राष्ट्रीयकरण के नारे ने भी, जो इन दिनों बहुधा सुनाई देता है, भावी पूंजीपतियों को भयभीत कर दिया है ।

अक्तूबर १९४८ में, सरकार ने उत्पादन को बढ़ाने के लिए अनेक रियायतों की घोषणा की थी, जिनमें यह भी सम्मिलित थीं :—

१. तीन वर्ष के बीच उत्पादन आरंभ करने वाले नये उद्योगों को ५ वर्ष के लिए लगी पूंजी पर ६% की सीमा तक के लाभों पर से आय-कर की छूट दी गई ।

२. जो कारखाने तीन शिफ्ट चला रहे हैं और जिनके नये मकान, नये यंत्र और नई मशीनें हैं, उन्हें वर्तमान दर से दो-गुना अवमूल्यन (Depreciation allowance) मंजूर किया गया ।

३. यंत्रों और मशीनों पर आगमशुल्क आधा कर दिया गया और कतिपय कच्चे पदार्थों पर से या तो आयात-कर हटा दिया गया अथवा कम कर दिया गया ।

१९४८ के उत्पादन के आंकड़े कुछ आशाप्रद थे और जान पड़ता था कि दिशा बदल गई है । पिछले वर्ष की तुलना में, कपड़े, सीमेंट, खांड, कैमिकलों (रसायनों), खादों, साइकिलों, मोटर की बैटरियों, हल्के इंजीनियरिंग के सामानों और अन्य मिश्रित उद्योगों की उत्पत्ति अपेक्षाकृत अधिक थी ।

उद्योगों की केन्द्रीय परामर्शदातृ समिति (नवम्बर १९४९) की स्थायी समिति के प्रस्ताव-अनुसार यह निर्णय किया गया कि कार्यकारी दलों को ६ मास के

अन्दर-अन्दर निम्न बातों पर सिफारिशें करने के लिए नियत किया जाय : (क) उत्पादन में वृद्धि करने के लिए आवश्यक उपाय; (ख) उत्पादन की लागतों को कम करने के उपाय; (ग) उत्पादनों में गुण-विषयक उन्नति करने के उपाय; (घ) उद्योगों के संगठन, प्रबन्ध और श्रम का योग्यता को उन्नत करने के उपाय; (ङ) उद्योग के अभिनवकरण के उपाय; (च) जिन्सों की क्रय के बेहतर उपाय। आवश्यक उद्योगों के उत्पादन के लक्ष्य नियत किये गए। इन उपायों का फल निकल रहा है और सभी दिशाओं में उत्पादन बढ़ रहा है।

औद्योगिक उत्पादन की दृष्टि से १९५१ का वर्ष बहुत अनुकूल था और गतवर्ष की अपेक्षा इसमें ६% की वृद्धि हुई थी, यद्यपि १९४८-४९ का चोटी का उत्पादन अभी अछूता ही रह गया था इस परिणाम के लिए अनुकूल अंशों का उल्लेख करते समय यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में उन्नति हो गई थी और कच्चे पदार्थों की प्राप्ति में यातायात की सुविधाओं से स्थिरता उत्पन्न हो गई थी (यद्यपि पूर्ति अभी अपर्याप्त ही थी), श्रम विषयक झगड़ों का अभाव हो गया था और पाकिस्तान के विनिमय दर को स्वीकार कर लेने से भारत में जूट के परिचलन की सुविधाएं हो गई थीं। १९५२ में भी औद्योगिक स्थिति में सुधार होता चला गया और कुल उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई। अब औद्योगिक वस्तुओं की इतनी न्यूनता नहीं रही जितनी कि युद्धोत्तर के तात्कालिक वर्षों में थी।

१५. हमारे औद्योगिक स्वरूप का आकार।[1] किसी देश के औद्योगिक स्वरूप के आदर्श को निश्चित करने वाले कुछ अंश हैं। अति महत्वपूर्ण अंश यह हैं : प्राकृतिक प्रसाधन और पूंजी की प्राप्यता, व्यवसायी की योग्यता, प्रबंध विषयक तथा कृत्य विषयक चतुराई और कला-कौशल ज्ञान जैसे 'अस्थिर' अंश हैं। राज्य की नीति भी औद्योगिक आकार की रूपरेखा को प्रभावित करने में कम नहीं कही जा सकती। इन अंशों ने भारत के वर्तमान औद्योगिक स्वरूप को पूर्णतया प्रभावित किया है और भविष्य की रूपरेखा के विषय में भी यह निश्चय करेंगे।

लोहे और इस्पात के उद्योग की प्रगति के लिए भारत में प्राकृतिक वातावरण विशेष रूप से अनुकूल है। इसलिए स्वभावतः यह आशा की जा सकती है कि जो उद्योग लोहे और इस्पात के उद्योग की जिन्सों के उपयोग और खपत पर निर्भर करते हैं, उनकी उन्नति के लिए संतोषप्रद सुविधाएं विद्यमान हैं। इस भारी उद्योग का क्षेत्र भी हल्के-फुल्के उद्योगों के लिए आकर्षण का विषय होना चाहिए।

हमारे औद्योगिक स्वरूप का यह आकार भारत में उपलब्ध अस्थिर अंशों का भी समर्थन करता है। भारत में पूंजी का अभाव है और विदेशी पूंजी के आने की भी बहुत आशा नहीं। बहुत ऊंचे औद्योगिक देशों से कला-कौशल विषयक ज्ञान प्राप्त कर लेना भी कठिन है, क्योंकि सामान्यतः उसके साथ विदेशी पूंजी भी आ जाती है। यह केवल विदेशों से, सरकारी अथवा अन्तर्राष्ट्रीय साधनों द्वारा प्राप्त हो सकती है, जैसे कि प्रेसीडेंट ट्रूमैन का चतुर्थ-योजना कार्यक्रम है। केवल प्रबंध विषयक और कार्य-चतुराई थोड़े काल में उन्नत की जा सकती है। इस प्रकार हम यह आशा नहीं कर सकते कि हम उन चंचल अंशों को इतना उन्नत कर लेंगे कि हम गहरे-श्रम उद्योगों के विपरीत गहरी पूंजी के उद्योगों की स्थापना करने योग्य हो जायँ। फलस्वरूप, वर्तमान स्थिति और भविष्य की आशाओं को दृष्टि में रखते हुए, भारत में वृहद् स्तर के

1. Fiscal Commission Report, 1950—51, Ch. IX:

उद्योगों का आकार अल्प-चतुर और हल्के उद्योगों का होगा; अनन्तर अधिक चतुर और हल्के उद्योगों का, और उससे भी बाद में अल्प चतुर और भारी उद्योगों का होगा। यदि हम अपने साधनों की पूर्ण उपयोगिता चाहते हैं तो अधिक चतुर और भारी उद्योगों की प्रगति की पर्याप्त काल तक प्रतीक्षा करनी चाहिए।

किन्तु राष्ट्रीय सुरक्षा के कारणों से सरकार भारी उद्योगों को उन्नत करने का विशिष्ट यत्न कर सकती है। १९४८ की औद्योगिक नीति के वक्तव्य से सुरक्षा उद्योगों की प्रगति का प्रगटीकरण हो जाता है अर्थात् अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण, हवाई जहाजों का निर्माण आदि; भारी मूल उद्योग, अर्थात् लोहा और इस्पात का उद्योग; यातायात के साधनों का निर्माण; हल्के आधारमूलक उद्योग अर्थात् कैमिकल (रासायनिक) उद्योग; और अनिवार्य खपत की वस्तुओं के उद्योग अर्थात् खांड, सीमेंट, कपड़ा आदि। जो भी हो, अपने सीमित साधनों और उनकी उन्नतहीन स्थिति को दृष्टि में रखते हुए इस आदर्श को केवल धीरे-धीरे ही स्वीकार किया जा सकता है।

अपने साधनों की संतुलित बांट के लिए हमें सार्वजनिक और निजी दिशाओं में प्राथमिकता के आधार पर कार्य करना चाहिए। इसके लिए राष्ट्रीय योजना बनाना अनिवार्य है। सार्वजनिक दिशा में जो उद्योग उन्नत होंगे, उनका क्रम संभवतः इस प्रकार होगा : प्रथम, अनिवार्य रक्षा उद्योग; द्वितीय, प्राकृतिक साधनों की उन्नति, जैसे पानी से बिजली, तृतीय,सार्वजनिक उपयोगिता के उद्योग; और चतुर्थ, वृहद् मूल और आधारमूलक उद्योग। निजी दिशा में यह क्रम सम्भव है। प्रथम, वर्तमान उद्योगों की स्थापित क्षमता से अधिकतम उत्पादन में वृद्धि करना; द्वितीय, प्रभावकारी मांग की सीमा तक वर्तमान उद्योगों का विस्तार करना; तृतीय, वर्तमान उद्योगों के पूरक उद्योगों (दोनों दिशाओं में); चतुर्थ, अन्य सम्बन्धित उद्योग, जो बाहरी अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र की वृद्धि करते हों और पंचम, ऐसे उद्योग, जो आन्तरिक और बाहिरी बड़े बाजार के लिए हों।

इच्छित आदर्श प्राप्त करने के लिए उद्योगों की स्थान-विषयक और लघु-स्तर तथा वृहद् स्तर के उद्योगों के पारस्परिक सम्बन्धों की समस्या को बहुत सावधानी के साथ हस्तगत करना होगा।

१६. औद्योगिक योजनाएं बनाना। १९५१ की योजना कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में भारत की औद्योगिक उन्नति की समस्या के प्रति अधिक ध्यान दिया है। वर्तमान औद्योगिक स्वरूप, युद्ध और युद्धोत्तर की औद्योगिक प्रगतियों और औद्योगिक संगठनों तथा प्रबन्धों का सरसरी अवलोकन करते हुए कमीशन ने कुछेक महत्वपूर्ण सिफारिशें की हैं। इस सम्बन्ध में उनकी मुख्य सिफारिशें यह हैं:—

(क) कृषि उन्नति और सिंचाई के विस्तार और बिजली विषयक योजनाओं की औद्योगिक जिन्सों की मांगों की पूर्ति की जानी चाहिए।

(ख) आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं की उत्पत्ति निश्चित लक्ष्य तक हो जानी चाहिए और इसके लिए उद्योग की वर्तमान क्षमता का पूर्ण उपयोग किया जाय।

(ग) जो उद्योग कच्चा लोहा, इस्पात, भारी रसायन आदि का उत्पादन करते हैं और जो देश की सामान्य आर्थिक प्रगति के लिए आधारमूलक महत्व रखते हैं, उनकी क्षमता को विस्तार दिया जाना चाहिए, और

(घ) विद्यमान औद्योगिक स्वरूप की त्रुटियों और हीनताओं को दूर किया जाना चाहिए।

देश की आवश्यकताओं और साथ ही उपलब्ध साधनों को दृष्टि में रखते हुए कमीशन ने औद्योगिक प्रगति के प्रश्नों को निम्न क्रम से प्राथमिकता देने की सिफारिश की है :

(१) उत्पाद वस्तुओं के उद्योगों में विद्यमान क्षमता की पूर्ण उपयोगिता, जैसे जूट और उपभोक्ता वस्तुओं जैसे सूती कपड़ा, खांड और साबुन की क्षमता का पूर्ण उपयोग किया जाय।

(२) इस्पात, सीमेन्ट, खादों, भारी रसायनों, मशीनों के औजारों आदि जैसे उत्पाद वस्तुओं के उद्योगों की उत्पादन-शक्ति की क्षमता को विस्तृत किया जाय। और,

(३) औद्योगिक इकाइयों की पूर्ति, कि जिन पर पूंजी का एक भाग पूर्वतः खर्च किया जा चुका है।

चूंकि प्रसाधनों का जो समूह सरकार के हाथ में है, वह कृषि, सिंचाई और शक्ति के लिए सुरक्षित रखा गया है, इसलिए उद्योगों की उन्नति का कार्य निजी उद्योगपतियों के जिम्मे लगा दिया गया है, किन्तु इस शर्त पर कि वह राज्य के सर्व-नियन्त्रण के अन्तर्गत यह कार्य करेंगे। उद्देश्य यह है कि दोनों दिशाएं मिल-जुल कर काम करें और निजी-भाग योजना के नियन्त्रण में रहें और योजना-अधिकारी द्वारा उपस्थित किये गए ध्येयों को स्वीकार करें। कमीशन ने १९५५-५६ तक मुख्य उद्योगों द्वारा प्राप्ति के लिए उत्पादन के लक्ष्य और स्थापित-क्षमता नियत कर दी थी।[1] इन लक्ष्यों को पदार्थों की उपलब्धता, पूंजी, पूंजी प्रसाधनों और बाजार की खपत की क्षमता का सावधानी के साथ परीक्षण करने के बाद नियत किया गया था। आशा की जाती है कि वस्तुओं के बहाव की वृद्धि होने से कतिपय दिशाओं की मांग के दबाव में कमी हो जायगी और यहां तक कि निर्यात के लिए भी गुंजायश रह जायगी।

निजी दिशा में साहसिक कार्यों के अतिरिक्त, राज्य के साहसिक व्यवसाय भी होंगे, जो भले ही संख्या में कम होंगे, किन्तु आर्थिक महत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण होंगे। इनमें निम्न उल्लेखनीय हैं: सिंद्री फर्टलाइजर फैक्ट्री, चित्तरंजन लोकोमोटिव वर्क्स, ड्राई कोर केबल फैक्ट्री और मशीनी औजारों, टेलीफोन प्रसाधनों, गणित विषयक सामान आदि बनाने के लिए भी विभिन्न साहसिक कार्य होंगे। राज्य सरकारों के अधीन साहसिक कार्यों में उल्लेखनीय यह है : मध्य प्रदेश में न्यूज प्रिंट (अखबार का कागज) बनाने वाला कारखाना और मैसूर में गैस विषयक खादों का कारखाना। यद्यपि पंच-वर्षीय योजना के अनुसार राज्य के साहसिक कार्यों का क्षेत्र सीमित है, तथापि राज्य का नियंत्रण पर्याप्त रूप में विस्तृत है।

उत्पादन-शक्ति, योग्यता और प्रबंध के स्तरों में क्रमिक प्रगति के लिए कमीशन ने प्रत्येक मुख्य उद्योग के लिए डिवैलपमैंट कौंसिल (Development Councils प्रगतिशील संसद) बनाने की सिफारिश की, जिसमें उद्योग, श्रम और कला-कौशल विषयक प्रबन्ध के प्रतिनिधि हों। सरकार को परामर्श देने के अतिरिक्त इन कौंसिलों के यह कार्य-कालाप होंगे : (१) स्थापित क्षमता की पूर्ण उपयोगिता प्राप्त करने के लिए उत्पादन के लक्ष्य की सिफारिश करना; (२) कच्चे पदार्थों को नष्ट होने से बचाने के लिए अधिकतम उत्पादन प्राप्ति के लिए, गुण को उन्नत करने और लागत को कम

1. These targets have been mentioned in the account given of each Industry.

करने की दृष्टि से योग्यता के सिद्धान्तों अथवा आदर्शों का प्रस्ताव करना; (३) उद्योग के कार्य-संचालन को उन्नत करने के लिए उपाय बताना, विशेष रूप से अयोग्य अंशों के विषय में; (४) वितरण और विक्रय प्रणालियां बनाने में सहायता देना कि जिससे उपभोक्ता को संतोष हो। इस प्रकार यह आशा की जाती है कि उद्योग सब सम्बन्धित लोगों के संयुक्त यत्नों और आंतरिक नियन्त्रण द्वारा व्यवस्थित होंगे।

विस्तार करने के कार्यक्रम की मूल लागत का अनुमान १२५ करोड़ रुपये किया गया है, जिसमें से, आशा की जाती है कि स्वतः उद्योग पूंजी के बाजार में से ८०-९० करोड़ रुपया पैदा करने की स्थिति में होगा। और १०-१५ करोड़ रुपये के लिए आशा की जाती है कि इंडस्ट्रियल फाइनैन्स कारपोरेशन (औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था समिति) दे सकेगी। सरकार को भी जहाज बनाने और स्पात के कारखानों जैसे बड़े-बड़े व्यवसायों में सहायता करनी होगी, विशेष रूप से ऐसे व्यवसायों में, जो चिर-काल तक कोई लाभ नहीं दे सकेंगे।

उन्नीसवाँ अध्याय

औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था और प्रबन्ध

१. **भूमिका।** अर्थ-व्यवस्था उद्योग का जीवन-रक्त है। औद्योगिक यंत्र के पहियों को चिकनाहट देने के लिए पर्याप्त अर्थ-व्यवस्था नितांत आवश्यक है, जिससे उसके सरलतापूर्वक चलने का भरोसा बना रहे अथवा बन्द होने से उसे रोका जा सके। भारत में उद्योगो की धीमो प्रगति के अति महत्वपूण कारणों में से एक कारण पर्याप्त और सामयिक अर्थ-व्यवस्था का अभाव है।

औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था की समस्या का अध्ययन (क) लघु-स्तर और मध्यम आकार के उद्योगों; और (ख) वृहद्-स्तर अथवा संगठित उद्योगों के सम्बन्ध में किया जा सकता है।

२. **लघु और मध्यम आकार के उद्योगों की अर्थ-व्यवस्था।** ग्राम-क्षेत्रों में औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था, छोटे उत्पादक को अर्थ की आवश्यकता, कच्चे पदार्थ क्रय करने, उत्पादन के खर्चों को पूरा करने और अंत में वस्तुओं के उत्सर्जन के लिए होती है।

ग्राम-क्षेत्रों में, पूँजी सर्वथा अव्यवस्थित है और वस्तु-स्थिति यह है कि अधिक पूंजी भी उपलब्ध नहीं। गांव में अर्थ का केवल एक ही साधन है और वह है साहूकार। छोटा उत्पादक गरीब होता है और वह अच्छी जमानत देने के भी अयोग्य है, इसलिए साहूकार का कोष अत्यधिक दरों के सिवा उसकी ओर नहीं बढ़ता। "ऋणी की अज्ञानता और असहाय दशा का प्रत्येक लाभ उठा लिया जाता है[1]" सहकारिता बैंक अपने कार्य-कलापों को चल कृषि-विषयक अर्थ-व्यवस्था तक सोमित रखते हैं और वह स्थानीय उद्योगों के लिए द्रव्य देना बुराई समझते हैं फलतः, स्थानीय उद्योग कोष के अभाव में क्रियात्मक रूप में भूखों मरते हैं अथवा उन्हें अकारण ऊंचे दर देने होते हैं।

शहरी केन्द्रों में औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था—शहरों में पूंजी बेहतर ढंग से संगठित होती है। प्रायः प्रत्येक नगर में या तो किसी न किसी बैंक की शाखा होती है अथवा संयुक्त पूंजी बैंक होता है। हाल ही के वर्षों में स्थिति पर्याप्त रूप से उन्नत हो गई है, क्योंकि बहुत से नये बैंक जारी हो गए हैं। किन्तु शहरी क्षेत्रों में घरेलू कारीगरों और मध्यम आकार के उद्योगों, जैसे आटे की मिलों, चावल की मिलों, छापेखानों, दियासलाई के छोटे कारखानों, बनियान-जुराबों के कारखानों, साबुन, खेलों के सामान के कारखानों, लोहे और पीतल की ढलाई के कारखानों इत्यादि के लिए भी अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षाकृत अधिक आवश्यकताएं हैं, क्योंकि उनके कार्य का स्तर बड़ा है।

घरेलू कारीगर को आर्थिक सहायता देने के लिए, साधारण साहूकार को छोड़ कर, मध्यवर्ग के कुछ लोग तैयार हो गए हैं। महाजन नकद उधार देता है, और वह कच्चे पदार्थ का व्यापारी भी है, तो वह उसे भी उधार में देता है। महाजन

1. Report of the Bombay Banking Enquiry Committee. 1931. p. 136.

कलाकार की दरिद्रता और एकाकीपन का पूर्ण लाभ उठाता है और इस सुविधा के लिए ऊंची कीमत वसूल करता है। पंजाब बैंकिंग एन्क्वायरी कमेटी (पंजाब साहूकारा जांच समिति) के अनुसार जुलाहों को १२½% से लेकर ३७% तक अदा करना होता था। निश्चय ही यह दर किसी भी उद्योग के लिए इतनी अधिक है कि वह उसे सहन नहीं कर सकता।

मध्यम-आकार के उद्योगों की दशा भी अच्छी नहीं। यद्यपि उन्हें साधन-पूर्ण व्यक्ति आरम्भ करते हैं तथापि, उन्हें भी, बहुधा सहायता की आवश्यकता होती है। देसी साहूकार, जो व्यक्तिगत जमानत पर उधार देते हैं, ९ से १५% तक की ऊंची दरें वसूल करते हैं। संयुक्त पूंजी बैंक स्थिर पूंजी के विरुद्ध ऋण देते हैं। यह संपत्ति और मशीनों के अनुमानित मूल्य का २० से ३०% तक देते हैं और गोदाम के माल के विरुद्ध ७०% तक। जिन शर्तों पर बैंक रुपया देते हैं, वह कष्टकर और असुविधा-जनक समझी जाती हैं। "इसमें संदेह नहीं कि छोटा व्यवसायी ····· बैंकों और उचित दरों पर अर्थ-व्यवस्था के अभाव में पूरी तरह अवरुद्ध है।"[1]

आर्थिक सहायता का एक अन्य साधन राज्य है। सभी राज्यों में (The State Aid to Industries Acts) राज्य-सहायता उद्योग विधेय कार्य कर रहे हैं। किन्तु राज्य के ऋणों का सुखद अनुभव नहीं रहा, क्योंकि ऐसे ऋणों की बड़ी संख्या अप्राप्य हो गई और उसे रद्द करना पड़ा। सरकारी ऋण अपनी लम्बी-चौड़ी वैधता के कारण विपरीत प्रचार के हेतु बनते हैं। वह व्यवसायी, जो अपनी साख के लिए उत्साही होते हैं, सरकारी अधिकारियों के जांच के नपैने से दूर रहना चाहते हैं। न ही सरकारी अधिकारी औद्योगिक समस्या और पक्ष-विशेष की साख की महत्ता को आंकने के योग्य होते हैं। १९३३ में पाँचवीं औद्योगिक कांफ्रेंस इस निर्णय पर पहुंची थी कि यह ऋण किसी सराहनीय सीमा तक उन्नति की प्रेरणा करने मेंसफल नहीं हुए।[2] फलतः, राज्य की प्रत्यक्ष सहायता की योजना का कोई महत्व नहीं जान पड़ता।

३. बृहद्-स्तर उद्योगों की आर्थिक-सहायता। बृहद्-स्तर उद्योगों को मुख्य व्यय के लिए कोषों की आवश्यकता होती है, अर्थात् भूमि क्रय के लिए, कारखाने का भवन बनाने के लिए, मशीनें आदि लगाने के लिए और यदि व्यवसाय चल रहा हो तो विस्तार के लिए और अदला-बदली के लिए। इसके अतिरिक्त, कच्चे पदार्थों के क्रय के लिए, गोदाम सम्बन्धी माल के लिए, उत्पादन और बिक्री प्रबन्धों के आरम्भिक अन्य खर्चों के लिए और उद्योग की दिन-प्रतिदिन की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए भी कोषों की आवश्यकता होती है। इसे कार्यकारी पूंजी कहा जाता है।

इन उद्योगों को कैसे आर्थिक सहायता दी जाती है: (१) हिस्सों और ऋण पत्रों से—हमारे उद्योग अपनी पूंजी के अधिकांश हिस्सों को सामान्य हिस्सों के रूप में चालू करते हैं और हाल के बरसों में उन्हें अल्प मूल्यों वाले हिस्से जारी करने की प्रवृत्ति हो गई है। भारतीय पूंजी लगाने वालों में ऋण-पत्रों की लोकप्रियता नहीं जान पड़ती और कम्पनियां भी, साख नष्ट हो जाने के डर से जारी करने में संकोच करती हैं। भारत में ऋण-पत्रों (Debentures) के लिए बाजार के सीमित होने के निम्न विभिन्न कारण हैं: कानूनी और स्टाम्प विषयक भारी दातव्य

1. Report of the Industrial Commission, 1918, p. 178.
2. Bulletins of Indian Industries and Labour, No. 50, p. 12.

(Charges) और अन्तर्लिखित बट्टा (Under-writing Commission), परिवर्तन करने की बड़ी फीस, सीमित लाभ, पूंजी विस्तार की आशा का अभाव, उद्योगों में लगी पूंजियों की बहुधा असफलताएं, बीमा कंपनियों का डूबने वाले कामों में पूंजी लगाना, इत्यादि। फलस्वरूप, कंपनियां अपनी सामान्य आवश्यकताओं के लिए उचित परिमाण में पूंजी उत्पन्न नहीं कर पातीं।

(२) **मैनेजिंग एजेंट**—भारतीय जनता सरकारी ऋण पत्रों (Government Securities) और म्युनिसीपल अथवा ट्रस्ट के ऋणों में पूंजी लगाना बेहतर समझती है। इस प्रकार चुकता पूंजी बहुधा मुख्य व्यय के लिये भी पर्याप्त नहीं होती। इससे कंपनी की अर्थ-व्यवस्था चिन्ताजनक हो जाती है और मैनेजिंग एजेंटों तथा अन्य अर्थ-व्यवस्थापकों की दया पर उन्हें छोड़ दिया जाता है। मैनेजिंग एजेंट अधिकांश हिस्सों को क्रय कर लेते हैं, विस्तार के लिए द्रव्य देते हैं और कष्ट के समयों पर व्यवसाय की सहायता के लिए भी हाथ बटाते हैं। हमारे उद्योगों में मैनेजिंग एजेंट जो कार्य करते हैं, उनके उस रूप का परीक्षण हम आगे करेंगे।

(३) **अमानतें**—कोषों के लिए एक अन्य स्रोत भी है, अर्थात् जनता की अमानतें जमा करना। यह रीति विशेष रूप से अहमदाबाद में प्रचलित है। किन्तु अमानतों को "मौसमी-मित्र" कहा जाता है और तनिक सी विपरीत दशा होते ही उनके भाग जाने की सम्भावना होती है। इसके अतिरिक्त, इन अल्प-कालिक अमानतों में से व्यय की योजनाओं की अर्थ-व्यवस्था करना सारहीन भी है।

(४) **नकद साख** (Cash credit)—नकद साख की प्रणाली के आधार पर अल्प-कालिक ऋण स्टाकों की जमानत पर व्यापारिक बैंकों से प्राप्त किए जा सकते हैं और कुछ दशाओं में, मैनेजिंग एजेंटों की अतिरिक्त जमानत के साथ भी। किन्तु नकद साख प्रणाली मंदी के दिनों में असफल हो जाती है, क्योंकि, या तो वह राशियां वापिस मांग ली जाती हैं कि जो बिक्री के लिए बाध्य करके मंदी को बढ़ाती हैं, अथवा मिल-मालिकों को जमानत में वृद्धि करने के लिए कहा जाता है, कि जो सदैव कर सकना आसान नहीं होता।

४. हमारे बैंक और उद्योग। यह जान पड़ता है कि हमारे बैंक बहुत ही रूखे और पुरानी लकीर के आधार पर कार्य कर रहे हैं और उद्योग के लिए उनका कोई अधिक उपयोग नहीं हो पाता। उनकी व्यक्तिगत जमानत पर अथवा बिना भार के रोध (Block) की जमानत पर द्रव्य अगाऊ करने की अनिच्छा और उनका ऐसी जमानत पर अड़े रहना, जिसमें स्पष्ट पृष्ठ-पोषण हो और सुविधापूर्वक वसूली हो सके, उद्योग उनकी उपयोगिता से वंचित रह जाता है।

हमारे द्रव्य के बाजार का एक भी ऐसा सदस्य नहीं, जिसने उद्योग को सहायता देने का लक्ष्य बनाया हो। इंपीरियल बैंक पहले से ही सामान्य व्यापारिक साहूकारा के कारोबार से परिपूर्ण है और ऐसे अनेक अन्य संयुक्त-पूंजी बैंक भी नहीं हैं, जो अनुभव और आर्थिक बल से उद्योगों को आर्थिक सहायता देने के योग्य हों। विदेशी विनियम बैंक अपने ही क्षेत्रों में व्यस्त हैं और भारतीय उद्योगों को आर्थिक सहायता देने में उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं है। देसी बैंकों को व्यापार और सामान्य साहूकारे में अर्थ लगाना अत्यधिक लाभकर जान पड़ता है और वह उद्योग की ओर नहीं झुकते। इसके अतिरिक्त, उनके साधन इतने क्षीण हैं कि वे उद्योग के लिए कोई ठोस सहायक भी नहीं हो सकते। सहकारिता बैंक कृषि की सहायता के लिए नियत

हैं। इस प्रकार, "औद्योगिक सम्बन्ध बनाने वाली कोई भी साहूकारा संस्था नहीं है।"[1]

हमारे बैंक बहुधा अपने कोषों को सरकारी ऋण-पत्रों में लगाते हैं और अपने गोदामों में वाणिज्य-वस्तुओं को रखकर द्रव्य अगाऊ देते हैं अथवा यदि ग्राहक के पास ही रखा गया हो, तो अन्य कानूनी कृत्य पूर्ण किए जाते हैं। उद्योग, जो आर्थिक रूप में भूखों मर रहा है, इन चलनों को पसन्द नहीं करता। श्री मनु सूबेदार ने माईनारिटी रिपोर्ट में उद्योग के प्रति बैंकों के व्यवहार की कड़ी आलोचना की है। उनका कहना है, "बैंकों ने अल्पकालिक पूंजी लगाने के सिद्धान्त पर अड़े रहने में अति करके उद्योग और स्वतः अपना अहित किया है।"[2] हाल ही के वर्षों में भी कोई उन्नति नहीं हुई। फिस्कल कमीशन (१९४९-५०) को इस निर्णय पर पहुंचना पड़ा था कि व्यापारिक बैंकों ने वर्तमान में साख-विषयक जो सुविधाएं दे रखी हैं, वह उनकी प्रगति की आवश्यकताओं के लिए अपर्याप्त हैं।[3]

बैंकों की अपनी निजी कठिनाइयां हैं। उन्हें अमानतें जमा कराने वालों (Depositors) के हित के लिए अपने आर्थिक साधनों को अत्यन्त तरल करना पड़ता है ताकि संकट के समय उनकी मांगों को पूरा किया जाय। एक औद्योगिक फर्म की विश्वसनीयता का निश्चय करने के लिए उनमें आवश्यक ज्ञान और साधनों का अभाव होता है। स्वतः व्यवसायी भी अपनी सही-सही दशा को पूरी तरह प्रकट कर देने के लिए तैयार नहीं होते। किन्तु इतना सब कुछ कहने पर भी वस्तु-स्थिति वही रह जाती है कि बैंकों ने हमारे उद्योगों की प्रगति के प्रति उपेक्षा की भावना रखी है और उनमें सहानुभूति का अभाव रहा है।

५. औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था की उन्नति के लिए प्रस्ताव। औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था के उक्त परीक्षण से प्रकट होता है कि हमारे उद्योगों को बैंकों से बहुत थोड़ी सहायता मिल रही है और हमारे यहां हाल ही के वर्षों में स्थापित इंग्लैंड जैसी सहायता देने वाली विशेष प्रकार की कोई संस्थाएं भी नहीं हैं। हमारे उद्योगों के सम्बन्ध में, या तो पर्याप्त आर्थिक सहायता नहीं पहुंच रही अथवा निषेधात्मक कीमतों पर उन्हें सहायता दी जाती है।

भारत में औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था की त्रुटियों को पूर्ण करने के लिए निम्न प्रस्ताव उपस्थित किये जा सकते हैं: (१) बड़े व्यापारिक बैंकों को उद्योगों के प्रति सहानुभूति की भावना उन्नत करनी चाहिए और उनके साथ निकट और निरन्तर सम्बन्ध बनाये रहना चाहिए, ताकि वह अपनी सुरक्षा को बनाये रह कर उन्हें सामयिक और पर्याप्त सहायता प्रदान कर सकें। यह बैंक कम-से-कम विशेष प्रकार की संस्थाएं बनाने में सहायक हो सकते हैं, जैसे कि इंग्लैंड में मध्यस्थ का कार्य करने वाली संस्थाएँ हैं। वह संस्थाएं एक ओर उद्योग और विनियोजक के बीच और दूसरी ओर, वर्तमान औद्योगिक फर्मों को आर्थिक परामर्शदाता के रूप में मध्यस्थ होती हैं।

(२) हमारे यहां बहुत बड़ी अंश-पूंजी के औद्योगिक बैंक होने चाहिएं और

---

1. Dr. Jeidles—Memorandum on Industrial Finance, Report of the Indian Central Banking Enquiry Committee, 1931; Vol. IV, p. 148.

2. Vide Report; p. 327.

3. Fiscal Commissiorn Repot, 1949-50. p. 249.

औद्योगिक अर्थ-सहायता के कारोबार में विशिष्टता के लिए उन्हें दीर्घ-कालिक अमानतें प्राप्त करनी चाहिएं। संभव है, अंश पूँजी में से एक भाग लेकर सरकार भी सहायता करे अथवा बैंकों द्वारा दी गई पेशगियों पर न्यूनतम लाभांश के संरक्षण द्वारा सहायता करे।

(३) छोटे विनियोजक की सहायता के लिए, जो उपस्थित की गई विभिन्न जमानतों के बीच भेद-भाव नहीं कर सकता, हमें ऐसे विनियोजक ट्रस्ट स्थापित करने चाहिएं जो हिस्से रखते हों अथवा कारोबार करते हों, ताकि वह छोटे विनियोजक को ऋणपत्र खरीदने का अवसर प्रदान कर सकें।

(४) पूँजी की बिखरी हुई और छोटी राशियों को संचित करने के लिए विशेष प्रकार की बैंकिंग संस्थाएं शुरू की जा सकती हैं। उन्हें छोटी अमानत वालों को बेहतर शर्तें और सुविधाएं देकर उनकी आवश्यकताओं की व्यवस्था करनी चाहिए।

यदि उपर्युक्त प्रस्तावों पर कार्य किया जाय, तो यह आशा की जा सकती है कि देश की औद्योगिक प्रगति की राह में से एक बहुत बड़ी बाधा हट जायगी।

६. औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था आयोग। द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति पर भारत में औद्योगिक प्रगति के लिए बहुत लालसा थी। किन्तु राजनीतिक अस्थिरता विद्यमान थी। विभाजन के कारण बहुत ही अस्थिर अवस्था हो गई थी और फलरूप कई बैंक असफल हुए। किन्तु उद्योग को घिसी-पिटी मशीनों को बदलने और अभिनव-करण के लिए पूँजी की अत्यन्त आवश्यकता थी। दूसरी ओर, पूँजी के बाजार की उदासीन स्थिति थी। फलस्वरूप, ऐसी संस्था की बहुत आवश्यकता थी, जो उद्योग के लिए प्राप्ति और विस्तार में सहायक होती। १ जुलाई, १९४८ को (Industrial Finance Corporation Act) औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था कार्पोरेशन अधिनियम लागू किया गया। अधिनियम की धारा के अनुसार इसका ध्येय यह है कि ऐसे उद्योगों की पूँजी विषयक आवश्यकताओं को मध्यकालिक और दीर्घ-कालिक साख के रूप में प्रदान किया जाय कि जो व्यापारिक बैंकों के सामान्य कार्य-कलापों से बाहर हैं। उसकी अंश-पूंजी ५ करोड़ रुपए की है और केन्द्रीय सरकार, रीजर्व बैंक, परिगणित बैंकों (Scheduled banks), बीमा कम्पनियों, विनियोजन ट्रस्ट और इसी प्रकार अन्य अर्थ-संस्थाओं ने संयुक्त रूप में इसके हिस्से लिये हुए हैं।

कार्पोरेशन के हिस्सों को केन्द्रीय सरकार का संरक्षण प्राप्त है और सरकार ने मूलधन को लौटाने तथा २½% तक का अधिकतम लाभांश देने की प्रतिज्ञा की हुई है।

कार्पोरेशन को निर्माण करने वाले व्यवसायों या उन व्यवसायों को, जो बिजली का उत्पादन अथवा पूर्ति करेंगे, दीर्घ-कालिक ऋण देने का अधिकार दिया गया है, जो पच्चीस वर्ष के अन्दर-अन्दर लौटाना होगा। कार्पोरेशन को यह भी अधिकार दिया गया है कि वह धारा के अनुसार किन्हीं ऋण-पत्रों और हिस्सों के विषय को अन्तर्लिखित करे, जिससे कार्पोरेशन प्राप्त किये हुए हिस्सों अथवा ऋण पत्रों को सात वर्ष के अन्दर-अन्दर अपनी अन्तर्लिखित देनदारी को पूर्ण करने के लिए उन्हें प्राप्त कर सके। इन ऋणों पर कार्पोरेशन ५½ प्रतिशत की दर से ब्याज लेती है और नियमित भुगतान करने पर आधा वापिस मिल जाता है।

राज्य के औद्योगिक व्यवसायों को इस क्षेत्र से बाहर रखा गया है। कार्पोरेशन केवल निजी औद्योगिक साहसिक कार्यों को, हिस्सेदार बनने के बिना अर्थ-सहायता

प्रदान करती है। यह पब्लिक लिमिटेड कम्पनियों अथवा सहकारिता समितियों को भी ऋण दे सकती है किन्तु प्राइवेट लिमिटेड कम्पनियों अथवा हिस्सेदारियों को नहीं। इसके कार्यकलाप व्यापारिक बैंकों की प्रतिद्वंद्विता के नहीं प्रत्युत पूरक के हैं, क्योंकि बैंक उस रूप और समय का अनुदान नहीं कर सकते कि जो कार्पोरेशन कर सकती है। कार्पोरेशन सैनिक और राष्ट्रीय महत्व के उद्योगों को विशेष महत्व प्रदान करती है।

औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था कार्पोरेशन हमारे उद्योगों के लिए बहुत सहायक सिद्ध हो सकती है। वह संस्थापकों को बहुमूल्य परामर्श दे सकती है और उनकी योजनाओं को उन्नत करने में सहायक हो सकती है तथा भिन्न दिशाओं में उनका पथ-प्रदर्शन भी कर सकती है और आर्थिक आधार की दृष्टि से उन्हें दृढ़ बना सकती है। भारतीय उद्योग को पुनः संगठन और युद्ध के कारण घिसी-पिटी मशीनों को बदलने के लिए वृहद् कोषों की आवश्यकता है। इस दिशा में भी कार्पोरेशन ठोस सहायता प्रदान कर सकती है।

कार्पोरेशन को यह विश्वास कर लेना चाहिए कि जो कोष उसने दिये हैं, उनका यथासंभव उपयोग हो रहा है या नहीं। उसे उन व्यवसायों पर निरन्तर दृष्टि रखनी होगी कि जिन्हें उसने सुविधाएँ दी हुई हैं। यह निरीक्षण उन फर्मों के लिए बहुत लाभकर प्रमाणित होगा और उन्हें अनेक अड़चनों पर विजय पाने के योग्य बनाएगा। यह सभी जानते हैं कि भारत में कला-कौशल विशेषज्ञों की बहुत ही कमी है। कार्पोरेशन प्राप्त प्रस्तावों का विशेषज्ञों द्वारा निरीक्षण करती है और इस प्रकार बहुमूल्य सहायता प्रदान करती है। इसके विशेषज्ञ के परामर्श से जिन्स की गुण-विषयक उन्नति की जा सकती है और इस प्रकार भारतीय उद्योग की तुलनात्मक स्थिति सुदृढ़ बन जाती है। कार्पोरेशन ने परामर्शदातृ कमेटी बना ली है, जो वस्त्र-निर्माण की योजनाओं का परीक्षण करेगी।

उन आवेदनों को रद्द कर दिया गया है, जो कानून की धाराओं को पूर्ण नहीं करते थे। कार्पोरेशन के अध्यक्ष का कहना है कि कार्पोरेशन में रुपये की कमी नहीं थी और कोई भी आवेदन-पत्र रुपये की आवश्यकता के कारण अस्वीकार नहीं किया गया।

७. विदेशी पूंजी की समस्या। भारत में औद्योगिक प्रगति का एक और पहलू है, जिस पर विशेष ध्यान देना चाहिए, और वह है विदेशी पूंजी का प्रभुत्व। रिजर्व बैंक आव् इंडिया ने हाल के परीक्षण में भारत में जून १९४८ तक संपूर्ण विदेशी पूंजी का अनुमान ५९६ करोड़ रुपये बताया है, जिसमें से इंग्लैंड के ३७६ करोड़ रुपये हैं, अमरीका के ३० करोड़ रु०, पाकिस्तान के २१ करोड़ रु०, और कैनेडा के ९ करोड़ रुपये हैं।

विदेशी पूंजी के लाभ—उपयोग करने वाले देश को विदेशी पूंजी से पर्याप्त लाभ होते हैं। जब देशी पूंजी की कमी होती है, तो देश की आर्थिक प्रगतियों का संचय करने के लिए उसे मुक्त भी नहीं किया जा सकता। सब उपनिवेशों, अमरीका और जापान ने अपने प्राकृतिक साधनों का उपयोग करने के लिए विदेशों से पूंजी ऋण ली थी। विदेशी पूंजी निःसंदेह, देश की राष्ट्रीय संपत्ति को बढ़ाती है। भले ही लाभ बाहर जाते हैं, किन्तु पगारों का भी महत्वपूर्ण लाभ होता ही है। विदेशी पूंजी से बनी रेलें और नहरें, विदेशी पूंजी का भुगतान करने के बाद राष्ट्रीय आय

का स्थायी स्रोत बन कर रहेंगी। फलस्वरूप, विदेशी पूंजी आर्थिक समृद्धि उत्पन्न करने का महत्वपूर्ण साधन हो सकती है।

विदेशी पूंजीवादी आरंभिक दशा में सामान्यतः हानियां उठाते हैं और देश को यह लाभ के समान है। बाद में, देशी पूंजी स्थापित दिशाओं का लाभ उठा सकती है और आगे बढ़ सकती है। हमने देखा है कि भारत में शीशा और लोहा और इस्पात के उद्योग प्रारंभिक अवस्थाओं में किस प्रकार असफल हुए और उनकी हानियां विदेशी व्यवसायों को हुईं।

इससे भी बढ़कर एक अन्य लाभ कला-कौशल विषयक ज्ञान को देश में लाने का है। विदेशी पूंजीवादी योग्य संगठन की स्थापना करता है और नवीन कला को जारी करता है। यदि धीरे-धीरे यह प्राप्त कर ली जाय और देश के साहसिक व्यवसायों को सौंपा जाय, तो निःसंदेह, बहुत लाभ होगा।

विदेशी पूंजी के दोष—विदेशी पूंजी के उपयोग के साथ सामान्यतः कुछ बुराइयां भी जुड़ी होती हैं। सबसे बड़ी बुराई राजनीतिक चलन की है। कहा जाता है कि "व्यापार के पीछे-पीछे झंडा चलता है।" जो देश विदेशी पूंजी का उपयोग करता है, वह शीघ्र ही विदेशी प्रभुत्व में चला जाता है। अनेक राजनीतिक पेचीदगियां उत्पन्न हो जाती हैं। मिस्र और चीन ने इस प्रकार के प्रभुत्व से हानि सहन की है। भारत में भी स्वार्थी हितों की रचना की गई थी। जिस देश में वह कार्य करते थे, उन्होंने स्वतः उसके साथ संपर्क नहीं बनाया था, और जैसे ही भारत को राजनीतिक अधिकार की स्वीकृति का अवसर हुआ, तैसे ही वह एकाएक भयभीत हो गए।

एक अन्य त्रुटि यह है कि देश के प्राकृतिक साधनों का विदेशों के हित के लिए शोषण हो सकता है और संबंधित देश को उससे चिरकाल तक हानि बनी रह सकती है। कुछ लोग उस समय तक प्रतीक्षा करना बेहतर समझेंगे जब तक कि देशी साहसिक व्यवसायी और पूंजी आगे नहीं आ जाते और उस समय तक देश के प्रसाधनों को उन्नत नहीं होने देंगे।

विदेशी नियन्त्रण के साथ विदेशी पूंजी 'मूल' उद्योगों और राष्ट्रीय रक्षा से संबंधित उद्योगों के मामलों में खतरनाक होती है। संभव है, इससे देश की स्वाधीनता को भी खतरा हो जाय। संभव है, आर्थिक प्रगति के लिए यह सौदा बहुत ही महंगा साबित हो।

रिजर्व बैंक के हाल ही के परीक्षण ने इस दृष्टिकोण का समर्थन किया है कि विदेशी विनियोजन में विदेशी स्वामित्व निहित होता है। विदेशी व्यवसायों में ऊंचे और महत्वपूर्ण स्थान वह अपने नागरिकों के लिए सुरक्षित कर देते हैं और भारतीयों को बेकार के ठाली काम सौंप देते हैं। इस विषय पर केन्द्रीय सरकार के व्यापार तथा उद्योग सचिवालय ने १९५२ में एक जांच की। इस से यह विदित हुआ कि भारत में १२५७ विदेशी फर्में हैं और उन में १००० रुपये या इस से ऊपर वेतन पाने वाले भारतीय कर्मचारियों की संख्या २२५९ थी जब कि इसी श्रेणी के विदेशी कर्मचारियों की संख्या ६९६४ थी। शिक्षाधीनों को शिक्षा नहीं दी जाती और कला-कौशल तथा विधियों को छिपा कर रखा जाता है। ऐसी अवस्था में विदेशी पूंजी के उपयोग से देश को कम लाभ होता है और उसे हीन स्थिति को सहन करना पड़ता है।

किन्तु यह स्मरण रखने की बात है कि यह आपत्तियां विदेशी नियन्त्रण के विरुद्ध हैं और विदेशी पूंजी के नहीं। विदेशी प्रबन्ध और विदेशी नियन्त्रण के बिना

विदेशी पूंजी का स्वागत किया जा सकता है और वह देश के आर्थिक हित के अनुकूल हो सकती है। इसलिए यदि विदेशी पूंजी का उचित संरक्षणों के साथ उपयोग किया जाय, तो कोई हानि नहीं हो सकती और इसके विपरीत बहुत हित हो सकता है।

८. **नई नीति।** ६ अप्रैल १९४८ को प्रकाशित किये प्रस्ताव में सरकार ने विदेशी पूंजी में भाग लेने के विषय में अपनी नीति की घोषणा की है। यह कहा गया था कि नियम रूप में, व्यवसाय के नियंत्रण और स्वामित्व में अधिकांश भाग भारतीयों के हाथ में होगा। पूजी की भारी आवश्यकता को महसूस करते हुए अब सरकार सीमित अवधि के लिए नियंत्रण के साथ विदेशी पूंजी को लेने के लिए तैयार हो गई है और १९४८ की नीति में फेर-बदल किया गया है। अप्रैल, १९४९ में प्रधान मंत्री ने विधान सभा में अपनी नीति का विवरण देते हुए विदेशी पूंजीपतियों की सब शंकाओं का समाधान करने की चेष्टा की थी। इस नीति के मुख्य अंग इस प्रकार हैं:

(अ) सामान्य औद्योगिक नीति को लागू करने में विदेशी और भारतीय व्यवसायों के बीच कोई भेद-भाव नहीं किया जाएगा।

(ब) विदेशी विनिमय की स्थिति के अनुकूल लाभों को भेजने और पूंजी को निकालने की उचित सुविधायें दी जाएंगी, और

(स) राष्ट्रीयकरण की दिशा में उचित और समान क्षतिपूर्ति की जायगी।

विदेशी पूंजी के लिए अत्यधिक उपयोगी क्षेत्र निम्न हैं, (१) सार्वजनिक योजनाएं, जिनमें विदेशी सामग्री और टैक्निकल ज्ञान की आवश्यकता है, (२) नये औद्योगिक कार्य, जिनमें देसी साहस आगे नहीं बढ़ रहा है; (३) जहां घरेलू उत्पादन घरेलू मांग के लिए संतोषप्रद नहीं और देसी उद्योग पर्याप्त रूप में तीव्र गति से विस्तार नहीं कर रहा। संयुक्त व्यवसायों की रीति का भी समर्थन हो सकता है, जिनमें विदेशी औद्योगिक और भारतीय व्यापारी परस्पर मिलें। इस विषय में कुछ संयुक्त व्यवसाय भारत में पहले ही आरम्भ हो चुके हैं जैसा कि बिड़ला-नफील्ड और टाटा-इम्पीरियल कैमिकल। यह दोनों व्यवसाय साझे आधार पर कार्य करेंगे। किंतु इस प्रकार के साझे कारोबार के संधि-पत्रों को सरकार की अनुमति प्राप्त करना अनिवार्य होना चाहिए और उन्हें राष्ट्रीय पूंजी के पर्याप्त अंश का भरोसा देना चाहिए, भारतीयों को शिक्षा की सुविधाएं देनी चाहिएं और भारतीय सहयोगियों को अधिकृत प्रणालियों की गुप्तता बतानी चाहिए।

इस समता पूंजी के अतिरिक्त, अमरीका के (Interntionl Bank for Reconstruction & Development) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं प्रगतिकारी बैंक तथा (Export Import Bank) आयात-निर्यात बैंक जैसी सरकारी और अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं से नियत ब्याज पर पूँजी प्राप्त हो सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने इस समय तक कृषि और बिजली की योजनाओं को पूर्ण करने के लिए ६२·५ मिलियिन पोंड का कर्जा प्रदान किया है। उसे यह भी निवेदन करना चाहिए कि वह उच्च प्राथमिकता की विशिष्ट औद्योगिक योजनाओं को, जिनके लिए वृहद् पूँजी की आवश्यकता है, चलाने के लिए सहायता दे। यह बड़े हर्ष की बात है कि गत वर्ष (१९५२) में भारत और अमेरिका के मध्य में एक सन्धि हुई जिसके अन्तर्गत अमेरिका ने भारत को आर्थिक तथा टैक्नीकल सहायता देने का वायदा किया है। इसी प्रकार कामनवैल्थ में पिछड़े देशों के साधनों को विकसित

देने वाली संस्थाएँ, योग्य संचालक समिति का अभाव और व्यापारिक बैंकों की पेशगियों के विषय में रीतियां आदि ।

जिन फर्मों का मैनेजिंग एजेंट प्रबन्ध करते हैं, उनकी ओर से सामान और मशीनों का क्रय, पूर्ण वस्तुओं का विक्रय और महायन्त्र, इमारतों के बीमे का प्रबन्ध तथा व्यापार में लगी पूंजी के प्रबन्ध के अतिरिक्त उनके तीन मुख्य काम होते हैं : (१) प्रारम्भ करना, (२) फर्म के कार्य को नियमित रूप से चलाना, (३) अर्थ-व्यवस्था करना । मैनेजिंग एजेंट फर्म का निर्माण करने के लिए प्रारम्भिक योजनाओं के कार्य करते हैं ओर उसे अपने पांवों पर खड़ा कर देते हैं । वह दिन-प्रति-दिन का कारोबार चलाते हैं । फर्म में उनका आर्थिक स्वार्थ पर्याप्त रूप में होता है । वे मुख्य हिस्सेदार होते हैं और कम्पनियों को स्वयं ठोस राशियां ऋण देने के अतिरिक्त वह बैंकों से अर्थ-व्यवस्था के प्रबन्ध करते हैं कि जहां उनकी व्यक्तिगत प्रत्याभूति प्रायः अनिवार्य होती है । यह भी उनकी ख्याति और साख ही होती है, जो कुछ धनी लोगों को अपना द्रव्य मिल में अमानत रखने के लिए प्रेरणा प्रदान करती है । संक्षेप में, मैनेजिंग एजेंट, संस्थापक, अर्थ-व्यवस्था करने वाला, प्रबन्धक और प्रतिनिधि--सब कुछ एक में है ।

उनके पारिश्रमिक का यह रूप होता है : नियत मासिक भत्ता, जिससे क्लर्कों तथा कार्यालय का संचालन व्यय पूर्ण किया जाना होता है, साथ में नियत न्यूनतम कमीशन और इनके अतिरिक्त लाभों का प्रतिशत अंश । लाभों पर कमिशन से हिस्सेदारों और मैनेजिंग एजेंटों के स्वार्थों में पारस्परिक निकट सम्पर्क हो जाता है ।

११. मैनेजिंग एजेंसी पद्धति की आलोचना । मैनेजिंग एजेंसी प्रणाली का समय-समय पर गम्भीर परीक्षण हुआ है, विशेष रूप से यह परीक्षण १९३६ में इंडियन कम्पनीज (अमैंडमैंट--संशोधन) एक्ट स्वीकार होने के समय हुआ था ।[1] प्रत्येक वस्तु के दो पहलू होते हैं : बुरा और अच्छा ।

बुराइयां--इस रीति की अनेक बुराइयों में यह कहा जा सकता है कि मैनेजिंग एजेंटों के मुकाबिले में हिस्सेदारों का स्वार्थ गौण हो जाता है, धोखाधड़ी और शोषण की गुंजायश होती है, एक ही मैनेजिंग एजेंसी के अधीन भिन्न फर्मों के स्वार्थों में खींचातानी होने के अवसर होते हैं ।

इस रीति ने स्वतन्त्र और योग्य डाइरैक्टरों की उत्पत्ति में बाधा डाली है। डाइरैक्टर केवल मैनेजिंग एजेंटों की कठपुतलियाँ होते हैं। १९२५ में, बम्बई काटन मिलों के १७५ डाइरैक्टरों में से ९५ मैनेजिंग एजेंसी के डाइरैक्टर थे।[2] मैनेजिंग डाइरैक्टर निर्णय करते हैं और डाइरैक्टर उन निर्णयों पर हस्ताक्षर कर देते हैं। मि. जे. ए. वाडिया ने, जो १३ काटन मिलों के डाइरेक्टर हैं, १९२७ में टैरिफ बोर्ड के सामने वक्तव्य दिया था, कि यदि डाइरैक्टर सक्रिय भाग लें, तो उन्हें डाइरैक्टरी से हाथ धो लेना होगा।

1. विस्तृत चर्चा के लिए पढ़ें, Reports of the Indian Industrial Commission, 1918. pp. 12-13; Indian Cotton Textile Tariff Board. 1927. Vol. I pp. 85-92 & 152, Vol. II.; & Evidence of Bombay, Baroda & Ahmedabad Mill Owners Association, Vol. IV, Indian Central Banking Enquiry Committee (Majority) Report, pp. 245-50 and (Minority) Report pp. 330-32, and Report of Indian Tariff Board on Cotton Industry. 1932. Ch. IV.
2. Rutnagar—Bombay Industries: Cotton Mills. 1927, p. 253.

उद्योग और बैंकिंग प्रणाली के बीच स्थिर सम्बन्धों की प्रगति के विषय में भी बाधा उत्पन्न हुई है, क्योंकि बैंक मैनेजिंग एजेंटों की गारंटी पर ऋण देते हैं और फर्म की वास्तविक शक्ति पर नहीं।

इस रीति के विरुद्ध एक अन्य हेतु यह है कि इन एजेंसियों के अधीन अनेक फर्में होती हैं। बिहार और उड़ीसा बैंकिंग जांच कमेटी के शब्दों में, "उन के कार्य-कलापों की विस्तृत और धुआंधार अग्नि में उन के पास अनेक लौह-शिरायें हैं, उनका दृष्टिकोण बहुत विशाल और उन के कार्यों का केंद्र उस से भी अधिक बड़ा है और उन के आर्थिक मापदंड बहुत बड़े हैं।" कलकत्ता की एंड्रयूल एंड कम्पनी, उदाहरणार्थ ५४ फर्मों का प्रबन्ध करती है।

अविवेकी एजेंटों ने अनेक प्रकार से इस रीति का दुरुपयोग किया है, जैसे नियम-विरुद्ध और गुप्त कमिशनें प्राप्त करना, गबन करना, जानबूझ कर हिस्सों की कीमतों को चढ़ा देना और उसके बाद उच्च शिखर पर बाजार को बेचने के लिए बाध्य करना, कंपनी के स्वार्थों की उपेक्षा करना, और सैंकड़ों उपायों से अस्थिर विनियोजक का शोषण करना। सितम्बर १९५१ में इंडियन कम्पनीज अमैंडमैंट एक्ट की बहस का उत्तर देते समय अर्थमन्त्री श्री देशमुख ने कहा था, कि उन के पास लगभग एक सौ ऐसे मामले हैं, जो मैनेजिंग एजेंटों के कुप्रबन्धों के भिन्न कृत्यों के ठोस उदाहरण हैं।

इसके अतिरिक्त मैनेजिंग एजेंट आरम्भ करने और साहसिक कार्य करने के लिए निन्दनीय क्षीणता का प्रदर्शन करते हैं। प्रबन्ध करने की रीतियां अत्यधिक संकीर्ण हैं। प्रबन्ध-चातुर्य की अपेक्षा अर्थ को अधिक महत्व दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि बहुत थोड़े प्रमुख मैनेजिंग एजेंट होते हैं, जो पूंजी बाजार पर प्रभुत्व जमा पाते हैं। जो केवल चुकता पूंजी के १० प्रतिशत के स्वामी होते हैं, वह अपने को सारे का मालिक समझते हैं।

योजना कमीशन के शब्दों में, "कच्चे पदार्थों को क्रय करने, पूर्ण जिन्सों की बिक्री करने और आर्थिक लेन-देन के अन्तर्परिवर्तन के विषय में अधिकारों के विशाल दुरुपयोगों के उदाहरण प्रकाश में आये हैं। सब से बढ़ कर, मैनेजिंग एजेंसी की कई फर्में कारखानों का प्रबन्ध, क्रय और विक्रय संगठन, परिगणना का तरीका आदि के विषय में अपनी प्रशासन प्रणाली में प्रगति करने में असफल रही हैं, और यह अंश औद्योगिक योग्यता के लिए अनिवार्य हैं।[1]

लाभ—किन्तु कतिपय लाभ भी हैं, जो मैनेजिंग एजेंसी रीति के पक्ष में कहे जा सकते हैं। अच्छे मैनेजिंग एजेंटों ने, जिन्होंने सद्-व्यवहार और ईमानदारी के लिए अपनी ख्याति की साहसपूर्वक रक्षा की है, और जिनकी एक व्यवसाय का प्रबन्ध करने की योग्यता के विषय में कोई प्रश्न नहीं किया जा सकता, इस रीति को उच्चतम लाभ करने योग्य बनाया है। विशिष्ट रूप में उन्होंने अपने अधीन विभिन्न व्यवसायों में संगठन के लाभ को उपलब्ध किया है। आन्तरिक और बाहरी, अनेक प्रकार की बचतों को स्वीकार किया गया है, क्योंकि एक एजेंसी अनेक व्यवसायों की ओर से वस्तुओं का विक्रय करती है और पदार्थों, मशीनों तथा मिल स्टोरों का क्रय करती है, और वही कार्यालय उसका प्रबन्ध भी करता है। इससे विभिन्न व्यवसायों में आर्थिक सहयोग की प्राप्ति भी संभव हुई है, क्योंकि एक व्यवसाय के आधिक्य कोषों को उस दूसरे को ऋण रूप में दिया जा सकता है कि जिसे आवश्यकता हो।

---

1. Planning Commission Report. 1951. p. 147.

मैनेजिंग एजेंसी पद्धति हिस्सेदारी के लाभों को संयुक्त पूँजी संगठनों के साथ मिला देती है। अन्त में हम औद्योगिक कमीशन के इस विचार से सहमत हो सकते हैं कि व्यक्तिगत मैनेजिंग डाइरैक्टर के अधीन असाधारण कम्पनी के प्रबन्ध की अपेक्षा इस रीति की सफलताओं की बहुत बड़ी सूची है। इसके साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि यह रीति बहुत महंगी है और भारतीय उद्योग इसे सहन नहीं कर सकता। जैसे ही व्यवसाय भली प्रकार स्थापित हो जाता है और भय की अवधि समाप्त हो जाती है तो मैनेजिंग एजेंटों के वेतन का स्तर निम्न किया जा सकता है।

यह आवश्यक है कि मैनेजिंग एजेंटों को अपने अंदर जिम्मेदारी की भावना पैदा करनी चाहिए, उनमें सार्वजनिक हित का भाव होना चाहिए और जिस फर्म का वह प्रबन्ध करते हैं, उसके प्रति विवेकपूर्ण हित होना चाहिए और उन्हें शीघ्र धनी बनने के उपायों को तिलांजलि दे देनी चाहिए। उन्हें औद्योगिक प्रगति को नई दिशाओं की खोज करनी चाहिए और नये व्यवसायों का मार्ग-दर्शक बनना चाहिए। जो कोई संकीर्ण और नये साहसिक कार्यों का निर्माण करने में क्षीण हैं, उनके लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए।

इंडियन कम्पनीज अमैंडमैंट एक्ट (१९३६) के कारण, जिसे भारतीय हिस्सेदारों का अधिकार-पत्र कहा जाता है, अनेक प्रकार की उन्नति हुई है। एजेंटों की अवधि २० वर्ष नियत कर दी गयी है, किंतु वह दोबारा नई हो सकती है। उन्हें इससे पूर्व भी, किसी अपराध अथवा दिवालिया हो जाने की दशा में हटाया जा सकता है। उनका पारिश्रमिक न्यूनतम की शर्त के अनुसार शुद्ध लाभों के प्रतिशत के रूप में नियत कर दिया गया है, यद्यपि शर्तें हिस्सेदारों द्वारा अदली-बदली जा सकती हैं। एक कम्पनी के कोषों का दूसरी कंपनी में उपयोग नहीं हो सकता, और मैनेजिंग एजेंट स्वतः अपनी ओर से कोई प्रतिद्वंद्वी व्यापार नहीं कर सकेंगे। चलित हिसाब के सिवा उन्हें ऋणों की मनाही कर दी गई है। डाइरैक्टरों के बोर्ड में उनके मनोनीत सदस्यों की एक तिहाई संख्या नियत की गई है।

निःसंदेह, यह बहुत बड़ी प्रगति है। किंतु मैनेजिंग एजेंट अब भी अनेक तत्सम व्यवसायों की ओर से कार्य कर सकता है और उनके स्वार्थ अनेकों में नहीं टकरायेंगे। अन्य कम्पनी की वस्तुओं को खरीदने वाले के रूप में और दूसरी कम्पनी को बेचने वाले के रूप में, वह अब भी कानून विरुद्ध लाभ कर सकते हैं।

श्री जे. जे. कापड़िया, मंत्री, बम्बई शेयर होल्डर्स एसोसियेशन के कथनानुसार, "हाल ही के वर्षों में प्रबन्ध अधिकारों को, हिस्सों की बहुत बड़ी संख्या के साथ, कृत्रिम कीमतों में बेच दिया गया है। मैनेजिंग एजेंसी पद्धति के अनेक आपत्तिजनक कृत्यों को प्रकाश में लाया गया है। हिस्सेदारों के स्वार्थों की चिन्ता किये बिना प्रबन्ध अधिकारों में नियमित व्यापार होता रहा है। क्षति-पूर्ति के रूप में बड़ी-बड़ी राशियों को समान करने के लिए कानूनी धोखे के उपायों को ग्रहण किया गया है। नये मैनेजिंग एजेंटों ने सब संभव उपायों से अपने को समृद्धिशाली बनाने की चेष्टा की है। हाल ही के वर्षों में मैनेजिंग एजेंसी पद्धति की बुराइयां लाभों की अपेक्षा अधिक मुख्य रही हैं। प्रबन्ध में विश्वास के अभाव ने पूंजी निर्माण के कार्य में घोर बाधा उत्पन्न की है। इस रीति को शुद्ध करने के लिए (कम्पनी लॉ) कम्पनी विधेयक का अधिक संशोधन किया जा रहा है। वर्तमान कानून में ठोस संशोधन की तजवीजों के लिए कम्पनी लॉ कमेटी कार्य कर रही है। इस बीच, सितम्बर १९५१ में इंडियन कम्पनीज एक्ट का संशोधन इस उद्देश्य से किया गया कि मैनेजिंग एजेंसी

के अधिकारों के लेन-देन के व्यवहार को और समाज विरोधी उद्देश्यों के लिए सु-स्थापित कम्पनियों के प्रबन्धों को हस्तगत करने की दृष्टि से हिस्सों को खुले बाजार में कठिन परिस्थिति में धकेलने से रोका जाय। अर्थ-मंत्री ने इसे "अन्तरिम प्रथम-सहायता-उपाय" का नाम दिया था। केन्द्रीय सरकार की पूर्व-स्वीकृति के बिना मनेजिंग एजेंसी की अवधि और व्यक्तियों में परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

१२. राज्य और उद्योग। भारत में उद्योगों के प्रति राज्य की नीति का संक्षेप में परीक्षण करना अनुचित न होगा।

भारतीय सरकार और व्यक्तिगत शासक हस्तक्षेप न करने के सिद्धांत में बुरी तरह जकड़े हुए जान पड़ते थे। "उद्योग को नियमित रूप से चलाना घातक था, उसको सहायता करना निरर्थक था, और उसमें भाग लेना सार्वजनिक द्रव्य को नष्ट करना था।" मुख्यत: प्रथम विश्व-युद्ध के आरम्भ होने तक यह नीति चालू थी।

किन्तु किन्हीं प्रान्तीय सरकारों ने, जिनमें मद्रास सरकार उल्लेखनीय है, निजी प्रेरणा से किंचित् अग्रगामी नीति को आपनाया था। मद्रास सरकार के नियुक्ति-काल में सर अल्फ्रैड चटर्टन ने एल्यूमीनियम और चमड़ा रंगाई-बनाई के उद्योगों में सक्रिय दिलचस्पी ली थी। किन्तु लार्ड मार्ले ने १९१० के सूचना-पत्र में इन कार्य-कलापों पर ठंडा पानी छिड़क दिया था और इस उत्साह की उष्णता को पर्याप्त रूप में शान्त कर दिया था। उसने यह सिद्धांत बना दिया था कि योरोपीय रीति और विज्ञान द्वारा प्रकाश में आये उन्नत उपायों के ज्ञान की शिक्षा देने से अधिक करने की आव-श्यकता नहीं। उसके अनुसार, सरकार का यह काम नहीं कि वह इस प्रकार के उपायों की व्यापरिक सम्भावनाओं का प्रदर्शन भी करे। उसका उत्तराधिकारी, लार्ड क्रीबी इस नीति में थोड़ा संशोधन करने को उद्यत था किन्तु सरकार पहले ही धक्के से स्वस्थ नहीं हो सकी थी।

जो भी हो, प्रथम विश्व-युद्ध के आरम्भ ने इस नीति में परिवर्तन किया। युद्ध को सफल बनाने के लिए भारतीय उद्योगों को उन्नत करने की अत्यावश्यकता हुई। १९१६ में भारतीय औद्योगिक कमीशन की स्थापना की गई, जिसने भारतीय साधनों और उद्योगों का व्यापक पर्यालोचन किया और उसने सिफारिश की कि सर-कार को उद्योगों की उन्नति में सक्रिय भाग लेना चाहिए। १९१७ में भारतीय युद्ध-सामग्री बोर्ड (Indian Munition Board) की स्थापना हुई, जिसके कार्य-कलापों ने भारतीय उद्योग को उन्नत करने में बहुमूल्य सहयोग प्रदान किया।

प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त औद्योगिक क्षेत्र में सरकार ने अधिक सक्रिय भाग लेना आरम्भ कर दिया। मांटेग्यू-चैम्सफोर्ड रिपोर्ट में कहा गया था, "कि देश की औद्योगिक प्रगति को बढ़ाने के लिए स्वीकृति देनी चाहिए और उसका उत्तरदायित्व भी ग्रहण करना चाहिए।" १९२१ में भारतीय स्टोर क्रय विभाग (Indian Stores Purchase Department) की स्थापना हुई। फिस्कल कमीशन की सिफारिशों के अनुसार सरकार भारतीय उद्योगों की संरक्षण-नीति की सहायता के लिए निश्चित रूप में वचनबद्ध हो गई थी।

१३. नई औद्योगिक नीति। भारतीय संसद में ६ अप्रैल १९४८ को डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने, जो उन दिनों उद्योग और पूर्ति के सचिव थे, भारत सरकार की नई औद्योगिक नीति की घोषणा की। इस नीति की मुख्य बातें यह थीं :

(अ) भारत सरकार का विचार है कि उत्पादन की सामान्य घटा-बढ़ी के

अनुसार लाभों में श्रम के भाग को सरकने वाले स्तर के आधार पर बनाना चाहिए। सरकार ने एक समिति स्थापित करने का प्रस्ताव किया, जो न्यायपूर्ण पगारों, पूंजी के लिए उचित लाभों और श्रम की बेहतर अवस्थाओं के विषय में परामर्श देगी।

(ब) उद्योगों को मोटे रूप में चार भागों में बांटा गया :

१. **नितान्त सरकारी एकाधिकार :** युद्ध सामग्री का निर्माण, अणुशक्ति का उत्पादन और नियन्त्रण तथा रेल यातायात का स्वामित्व और प्रबन्ध।

२. **सरकारी नियन्त्रण-क्षेत्र :** जिनमें राज्य निजी व्यवस्था का सहयोग प्राप्त कर सकता है, अर्थात् कोयला, लोहा और इस्पात, हवाई जहाजों का निर्माण, जहाज बनाना, टेलीफोन, टेलीग्राफ और बेतार के यंत्रों का निर्माण, किन्तु रेडियो-प्राप्ति के यन्त्रों और खनिज तेलों को छोड़कर, इन क्षेत्रों में विद्यमान व्यवसायों को १० वर्ष के लिए प्रगति करने की स्वीकृति होगी। राज्य के साहसिक कार्यों का प्रबन्ध सामान्यतः जनता के सहयोग से होगा। इस नीति के आधार पर सरकार पांच बड़ी योजनाओं को हाथ में लेगी, जिन पर २०० से ३०० करोड़ रुपए तक लागत आयगी, अर्थात् मशीनों के औजारों का कारखाना, तारें बनाने का एक कारखाना, एक रेडियो यन्त्र और रेडर बनाने का कारखाना, एक इस्पात का कारखाना और एक औद्योगिक मशीनें निर्माण करने वाला कारखाना। इस दिशा में (१९५१) के अन्त तक सरकार २७·४५ करोड़ रुपये लगा चुकी है, जिनमें से १६·५० करोड़ रुपए सिंद्री खाद कारखाने और ७·८७ करोड़ रुपये चित्तरंजन इंजन बनाने के कारखाने में लगे हैं।

३. **राज्य के नियमों और नियन्त्रण के अन्तर्गत**—नमक, मोटरें और ट्रैक्टर, बिजली, इंजीनियरिंग, मशीनों के औजार, भारी रसायन खादें और औषधि-निर्माण, बिजली-रसायन उद्योग, लोहा-इतर धातुएं, रबड़-निर्माण, विद्युत और औद्योगिक मद्यसार, सूती और ऊनी वस्त्र-व्यवसाय, सीमेंट, खांड, कागज, अखबारी कागज, हवाई और समुद्री यातायात, खनिज और सुरक्षा से सम्बन्धित उद्योग।

४. **राज्य के सामान्य नियन्त्रण के अन्तर्गत निजी व्यवसाय का क्षेत्र :** नीति के विवरण में इस श्रेणी के उद्योगों का उल्लेख नहीं किया गया था।

(स) विदेशी पूंजी के सम्बन्ध में, स्वामित्व और प्रबल नियन्त्रण की मुख्य दिलचस्पी, नियमतः भारतीय हाथों में रहेगी, किन्तु विशिष्ट विषयों का निपटारा करने की शक्ति ली जा सकेगी। जो भी हो, सभी विषयों में इस बात पर बल दिया जायगा कि योग्य भारतीयों को इस उद्देश्य से शिक्षित किया जाय ताकि वह अन्त में विदेशी विशेषज्ञों का स्थान ग्रहण कर सकें। जैसा कि पहले कहा गया है, १९४९ में इस नीति में संशोधन किया गया। इसके फलस्वरूप नीति पर्याप्त मात्रा में उदार हो गई।

(द) घरेलू और लघु-स्तर के उद्योगों के विषय में, सरकार की मान्यता है कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में उनका बहुत महत्वपूर्ण अंश है, और उसके लिए सरकार चाहती है कि व्यक्तिगत, ग्राम अथवा सहकारिता व्यवसाय जारी किये जायं और विस्थापित व्यक्तियों के पुनर्वास के साधनों को उपस्थित करती है। इन उद्योगों की उन्नति प्रान्तीय क्षेत्र में आती है, किन्तु केन्द्रीय सरकार इस बात की जांच करने की जिम्मेदारी लेगी कि कैसे और क्यों-कर यह उद्योग वृहद्-स्तर के उद्योगों के साथ शृङ्खला-बद्ध और संगठित किये जा सकते हैं, अर्थात् वस्त्र-मिल व्यवसाय को प्रतिद्वन्द्वी बनाने की अपेक्षा हैंडलूम उद्योग का पूरक क्यों-कर बनाया जा सकता है।

(इ) औद्योगिक-गृहों को उन्नत करने के लिए दस लाख श्रमिकों के लिए मकान बनाने की दस-वर्षीय योजना तैयार की गयी है और उस पर कार्य किया जा रहा है।

(फ) सरकार की आयात-निर्यात-कर नीति अनुचित विदेशी प्रतिद्वंद्विता को रोकने और उपभोक्ता पर अन्यायपूर्ण बोझा डाले बिना भारत के साधनों के उपभोग को उन्नत करने के लिए बनाई जायगी।

(ज) टैक्स-प्रणाली का निरीक्षण किया जायगा और जहां आवश्यक होगा, सुधार किया जायग, ताकि बचत और विनियोजन को प्रोत्साहन दिया जा सके और जन-संख्या के अल्प-वर्ग के हाथों में सम्पत्ति को अकारण केन्द्रीभूत होने से रोका जाय।

अक्तूबर १९४८ में, उद्योग के लिए सरकार ने इन रियायतों की घोषणा की : (१) अवमूल्यन रियायतों को उदार बना दिया गया, (२) नये उद्योगों को पूंजी पर ६ प्रतिशत की सीमा तक के लाभों पर ५ वर्ष के लिए छूट दे दी गयी, (३) यंत्रों और मशीनों पर आयात-कर में १० से ५ प्रतिशत की कमी की गई, (४) वस्त्र पर से निर्यात-कर में २५ से १० प्रतिशत की कमी की गयी और (५) औद्योगिक कच्चे पदार्थों पर से आयात-कर उठा दिया गया।

यह मान लिया गया है कि राज्य को औद्योगिक उन्नति में प्रगतिशील भाग लेना चाहिए किन्तु मुख्य ध्येयों को प्राप्त करने की योग्यता निजी व्यवसाय के उत्तर-दायित्व की तत्कालिक सीमा और परिधियों का निश्चय करेगी। वर्तमान में, संभव है, सरकार के साधन इस प्रकार विस्तृत रूप में उद्योग में अग्रगामी होने की स्वीकृति न दें कि जितनी होनी चाहिए। इस स्थिति का उपचार करने के लिए, अन्य उपायों के अति-रिक्त, सरकार एक संस्था बनाने का विचार कर रही है, जिसमें व्यापारिक उपायों और प्रबन्ध में योग्यता-प्राप्त व्यक्ति होंगे। इस बीच, राज्य, विद्यमान चालू इकाइयों को चलाने और हस्तगत करने की अपेक्षा अन्य उन क्षेत्रों में उत्पादन की नई इकाइयों को केन्द्रीभूत करने में अपने कार्य-कलापों का विस्तार करेगा कि जहां पहले से कार्य हो रहा है। उचित निर्देशन और नियंत्रण से निजी व्यवसाय बहुमूल्य कार्य कर सकेगा।

जान पड़ता है कि सरकार ने मध्य-मार्ग को अपनाया है। नई नीति दोनों मतों की उपेक्षा करती है : दाएं पक्ष का मत, जो यह कहता है कि राज्य को निजी व्यवसाय में कदापि हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए और बायें पक्ष का मत, जो शत प्रतिशत समष्टिवाद में विश्वास करता है और निजी लाभ-प्राप्ति के रूप को नैतिक-पतन मानता है। सरकार भारत में नियंत्रित अथवा मिश्रित अर्थ-व्यवस्था की स्था-पना करने की इच्छुक है।

१४. उद्योग कानून, १९५१ (प्रगति और विधि) (The Industries Development Regulation) Act 1951। उद्योग को सुदृढ़ अवस्था में लाने के लिए सरकार ने अक्तूबर १९५१ में उद्योग प्रगति और नियंत्रण अधि-नियम (Industries Development Control Act) स्वीकार किया। इसके द्वारा सरकार को विस्तृत अधिकार दिये गये हैं, जिनके अधीन यह किसी भी उद्योग को हस्तगत कर सकती है अथवा नया शुरू कर सकती है, इसके साथ ही निजी साहसिक कार्य को केन्द्र की नीति-विधि के अनुसार उद्योगों को प्रगति के लिए भी संभव बनाया गया है। इसके अधीन वर्तमान साहसिक कार्यों को रजिस्ट्री कराई जाय

और नयों के लिए लाइसैंस लिये जायं। लाइसैंस में निम्न बातों की शर्तें लगाई जा सकती हैं:—स्थान विषयक आकार के विषय में न्यूनतम स्तर, साधन और कला कौशल के विषय में। अधिनियम अधीन बनाये जाने वाले नियमों के अनुसार सरकार उद्योगों को निम्न बातों पर आचरण करने के लिए कह सकती है:—प्रगति को विस्तार देने के लिए, उत्पादन को विधिपूर्वक करने के लिए, विशिष्ट कच्चे पदार्थों के उपयोग के लिए, उत्पादन का परिमाण नियत कर सकती है, ऐसी रीतियों पर रोक लगाना, जिन से उत्पादन में न्यूनता की संभावना हो, निश्चित रूप में हिसाब-किताब रखना, परिणाम उपस्थित करना, इत्यादि। यह अधिनियम सरकार को अधिकार देता है कि वह किसी भी औद्योगिक व्यवसाय के मामलों की जांच आरम्भ कर सकती है, जिसमें या तो उत्पादन में ह्रास हो अथवा गुणविषयक गिरावट हो अथवा बुरा प्रबन्ध हो अथवा जब राष्ट्रीय साधनों की क्षति होती हो।

कानून में एक धारा रखी गयी है, जिसके अधीन ३० व्यक्तियों की केन्द्रीय परामर्शदातृ समिति बनायी जायगी। इसमें भिन्न आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व होगा और यह सरकार को उद्योगों के नियंत्रण और विधियों के विषय में परामर्श देगी। योजना कमीशन की सिफारिशों के आधार पर प्रत्येक महत्वपूर्ण उद्योग के लिए प्रगतिकारी समिति (Development Council) बन ई जायगी, जिसमें प्रबन्ध, श्रम ओर कुशल-कारीगरों (टैक्नीशियन) का प्रतिनिधित्व होगा, ताकि उद्योग की कार्यकुशलता में प्रगति हो सके। सरकार ने इस समय इस अधिनियम के अन्तर्गत दो ऐसी समितियां नियुक्त की हैं। उद्योग मन्त्री श्री टी० टी० कृष्णमाचारी के कहने के अनुसार, यदि यह प्रयोग सफल हुआ तो लगभग २० या ३० और समितियां स्थापित की जायेंगी। इसके अधीन औद्योगिक उत्पादन पर उपकर लगाने का भी अधिकार दिया गया है, जो औद्योगिक अनुसंधान और कला कौशल की शिक्षा में व्यय किया जायगा। सरकार किसी भी उद्योग से यह मांग कर सकती है कि वह कुशल-कारीगरों और श्रम को योग्यता-प्रदान के लिए सुविधाएं दे। इस कानून के अधीन किसी भी नियंत्रित उद्योग के विषय में सूचना अथवा आंकड़ों के लिए कहा जा सकता है।

डा. एस. पी. मुकर्जी ने देश के औद्योगिक विधानों में इस कानून को सीमा-चिह्न के नाम से उल्लेख किया था। उन्होंने कहा था कि देश में औद्योगिक प्रगति के लिए योजना के श्रीगणेश में यह रेखा चिह्न है। जो भी हो, व्यापारिक समाज ने इस कानून का स्वागत नहीं किया। भारतीय व्यापार मंडल ने इसकी इन शब्दों में आलोचना की थी, "असामयिक और शीघ्रतापूर्वक बनाया गया।" इसमें संदेह नहीं कि राज्य के नियंत्रण में दीर्घ-सूत्रता होती है, गति और कल्पना का अभाव होता है, किन्तु, क्या भारत में उद्योगपतियों की कार्यकारिता इससे अच्छी है?

५ मई १९५३ को भारतीय संसद ने इस अधिनियम में संशोधन किया। इस संशोधन के अन्तर्गत सरकार के अधिकार और भी बढ़ा दिये गये हैं। सरकार किसी भी औद्योगिक इकाई को कुछ परिस्थितियों के अन्तर्गत अपने अधिकार में ले सकती है।

यह सच है कि वर्तमान में भारत सरकार अपने को असहाय अनुभव करती है, क्योंकि उसके पास उद्योग का प्रबन्ध करने वाला योग्यता-प्राप्त मंडल नहीं है। किन्तु केवल रूस ही नहीं, यहां तक कि ग्रेट ब्रिटेन ने भी दिखा दिया है कि ऐसे जन-सेवकों की खोज करना कठिन नहीं, जो व्यापारिक प्रबन्ध की सफलता को भी प्रमा-

णित कर देंगे। जैसा कि टॉसिग का कहना है, "जब कि जनरल जन्मजात होते हैं, कपटन और कर्नल बनाये जा सकते हैं।"

१५. उद्योग के विषय में राज्य सरकारों के काम। प्रत्येक राज्य में "उद्योगों का विभाग" है, जिसका कार्य राज्य में औद्योगिक प्रगति को उन्नत करना है। यह विभाग कला-कौशल सम्बन्धी योग्यता की शिक्षा प्रदान करते हैं और केवल विद्यमान उद्योगों से सम्बन्धित औद्योगिक अनुसंधान ही नहीं करते प्रत्युत उनके विषय में भी, कि जिसको जन्म दिया जा सकता है। वह बिक्री-सम्बन्धी संगठन को भी उन्नत करने का प्रयत्न करते हैं, और औद्योगिक सूचना के लिए सूचना विभाग का भी काम करते हैं। राज्य की आर्थिक अवस्थाओं को उन्नत करने की अपनी चेष्टाओं में वह अन्य लाभप्रद विभागों को आवश्यक सहयोग प्रदान करते हैं। उनके निम्न मुख्य कार्य हैं:—

१. औद्योगिक शिक्षा—भारत में शिक्षा की प्रणाली अत्यधिक साहित्यिक और शास्त्रीय है और वास्तविक जीवन के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं बैठता। समय-समय पर कई समितियां सरकार ने नियुक्त कीं। उन सब ने भारत की शिक्षा-पद्धति की आलोचना की और टैकनीकल शिक्षा के महत्व पर बल दिया। इसके फलरूप सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ—वर्तमान में, प्रत्येक राज्य में दस्तकारी संस्थाएँ स्थापित हो चुकी हैं; जैसे लुधियाना (पंजाब) में हौजरी इंस्टीट्यूट, भागलपुर (बिहार) में सिल्क इंस्टीट्यूट; और गुलजारी बाग में घरेलू दस्तकारियों की संस्था। पंजाब में प्रत्येक जिले, अथवा औद्योगिक केन्द्र में एक दस्तकारी स्कूल है, जहां दस्तकारी की शिक्षा के अतिरिक्त विशिष्ट दस्तकारी में, जो उस क्षेत्र में महत्व रखती है, विशेष शिक्षा दी जाती है। टाटा आयरन एंड स्टील कम्पनी, जमशेदपुर जैसी बड़ी औद्योगिक फर्मों ने अपने निजी दस्तकारी स्कूल खोल दिये हैं।

किन्तु भारत में दस्तकारी शिक्षा की जो सुविधाएँ हैं, उन्हें न तो परिमाण में और न ही प्रमाण रूप में पर्याप्त कहा जा सकता है। उद्योग की आवश्यकताओं और जिस प्रकार की शिक्षा दी जाती है, उसके बीच पारस्परिक सम्बन्ध बहुत थोड़ा है। जो लोग कारखाने के काम में निपुण हैं, उनमें शिक्षा का अभाव है और जो नौजवान दस्तकारी संस्थाओं में शिक्षित होते हैं, वह जब कारखानों में प्रवेश करते हैं, तो उन्हें कुछ पता नहीं होता। हमें टैक्नीकल स्कूलों की आवश्यकता है, जहां साधारण कार्यकर्ता शिक्षित किया जाय, जहां मुख्य कार्यकर्ता की शिक्षा के लिए उच्च टैक्कीकल शिक्षा का प्रबन्ध हो, और हमें व्यापारिक कालेजों की आवश्यकता है, मैनेजरों को शिक्षा दी जा सके।

२. औद्योगिक अनुसंधान—भारतीय उद्योगों की प्रगति के लिए अनुसंधान के महत्व के बारे में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। हमने इस दिशा में द्विमुखी चेष्टाएं की हैं। प्रत्येक मुख्य उद्योग में जुदा अनुसंधान संगठन है। सब राज्यों के उद्योग विभागों ने भी अनुसंधान शालाएं स्थापित की हुई हैं। पंचम उद्योग कांफ्रेंस के विचारों के फलरूप १९३५ में औद्योगिक अनुसंधान ब्यूरो नाम से एक केन्द्रीय संस्था बनी थी। उसके साथ औद्योगिक अनुसंधान कौंसिल के नाम से एक सलाहकार समिति भी बनाई गई थी। यह संस्था औद्योगिक सूचना प्रदान करती है, अनुसंधान के कार्य में उद्योगों को सहयोग देती है और उद्योगों को लाभपूर्ण सूचना देने के लिए एक पत्रिका प्रकाशित करती है। गत युद्ध की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए भारत के सब औद्योगिक प्रसाधनों की शीघ्रातिशीघ्र प्रगति की आवश्यकता प्रतीत हुई थी। जिनमें इसके फलरूप एक नई संस्था की नियुक्ति हुई थी, अर्थात् वैज्ञानिक और औद्योगिक

भारत के आन्तरिक व्यापार के आकार और रूप को सही तौर पर नापने के लिए आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। बैंकों के भुगतानों के अंकों से भी, जैसा कि अन्य देशों में वह करते हैं, हमें विश्वस्त सूचना नहीं मिलती कि जिससे आन्तरिक व्यापार की सीमा अथवा राशि का पता लग जाय। न ही रेल के आंकड़े ही किसी रूप में विश्वस्त हैं। क्योंकि रेलों द्वारा सामान ढोना भी व्यापार की प्रचलित अवस्थाओं और भूमि यातायात की स्पर्धा पर अधिकांशतः निर्भर करता है। फलतः, हमारे आन्तरिक व्यापार के अनुमानों का आधार तो केवल अटकल ही है। एन० पी० सी० की व्यापारिक सब-कमेटी का निर्णय था कि "यह अटकल लगा लेना पर्याप्त होगा कि हमारा आन्तरिक व्यापार ७००० करोड़ रुपयों से कम नहीं। इन आंकड़ों की हमारे विदेशी व्यापार के आकार के साथ तुलना हो सकती है, जो ५०० करोड़ रुपयों का है।" यह अनुमान १९४० में किया गया था। तब से लेकर कीमतों में अभिवृद्धि के झुकाव, आर्थिक प्रतिबन्धों और अन्य असाधारण अंशों के प्रभाव के कारण भी आन्तरिक व्यापार की कुल राशि में भारी परिवर्तन हुआ ही होगा, किन्तु वस्तुस्थिति की सामान्य रूप-रेखा ज्यों की त्यों रह जाती है।

आन्तरिक व्यापार के परिमाण के कुछ संकेत भारत में रेलों की कुल आय और यातायात द्वारा उपस्थित किये गए हैं। यह देखा गया है कि जहां एक ओर १९४६ में भारत और पाकिस्तान की नम्बर १ रेलवे पर ५२ लाख वैगनें भरी गई थीं, वहां दूसरी ओर १९५० में केवल भारत में ही ६२·६ लाख वैगन भरी गई, जो लगभग २१ प्रतिशत अधिक हैं। यह वृद्धि रेलों के विभाजन के बावजूद भी हुई, जिसके फलस्वरूप उसी अवधि में २६५६ करोड़ ८० लाख से लेकर २५०० करोड़ टन मीलों की न्यूनता हो गई है। इसके साथ ही रेल-यातायात की कुल आय में वृद्धि हुई अर्थात् १९४६ में २१५ करोड़ रुपयों की अपेक्षा १९५० में २६० करोड़ रुपये हो गई।[1]

युद्ध-कालीन वर्षों में किसी भी सीमा तक औद्योगीकरण की ओर पग बढ़ाया गया। युद्धोत्तर वर्षों में, रेलों और सड़कों के निर्माण की विशाल योजनाएं उपस्थित की गई हैं। जैसे ही, वह सक्रिय होंगी और ज्योंही इंजनों और वैगनों की स्थिति में सुधार होगा, त्योंही, निश्चित रूप से भारत के आन्तरिक व्यापार में एकाएक वृद्धि होने लगेगी।

२. आंतरिक व्यापार का भविष्य। यद्यपि सम्पूर्ण आंकड़े तो उपलब्ध नहीं, तथापि भारत के आन्तरिक व्यापार की बढ़ती हुई महत्ता के विषय में प्रायः सही धारणा बनाई जा सकती है। यातायात के साधनों और उद्योगों की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ आन्तरिक-व्यापार में शीघ्र ही उन्नति होकर रहेगी। सुरक्षा और औद्योगीकरण की वर्तमान नीति से आयात में न्यूनता होगी और देश के आंतरिक व्यापार में वृद्धि। फलरूप, व्यापार के लिए अनुकूल सन्तुलन की आवश्यकता नष्ट हो चुकी है। भारत ने अपना सम्पूर्ण स्टर्लिंग ऋण चुका दिया है। इसके अतिरिक्त युद्ध-काल में उसने करोड़ों स्टर्लिंग की कमाई भी कर ली है। यद्यपि उसने एक बहुत बड़ी राशि खर्च कर डाली है, तथापि अभी भी उसके पास ५०० करोड़ रुपये से अधिक का स्टर्लिंग है। इस प्रकार यह प्रामाणित हो जाता है कि देश में कच्चे माल का अधिक प्रयोग होगा और विदेशों से मुख्य वस्तुओं, का अधिक क्रय हो सकेगा।

---

१. स्टेटिस्टिकल एब्स्ट्रैक्ट ऑफ़ इंडिया।

ब. तटवर्ती व्यापार

३. महत्ता । भारत की भौगोलिक अवस्था और दो हजार मील से अधिक लम्बा तट महान् विदेशी व्यापार और सामुद्रीय अवस्था के महत्व को प्रकट करता है। अधिकार के नाते उसके पास व्यापारिक जहाजों का विशाल बेड़ा और संवाहन की विशालता होनी चाहिए थी। किन्तु ब्रिटेन के राजनीतिक प्रभुत्व में होने के कारण उसके समुद्री व्यापार पर अंग्रेजी जहाजों का प्रभुत्व था। उसके जहाज अपने तटवर्ती व्यापार का २५ प्रतिशत अंश संवाहन करते थे। मि० एस० एन० हाजी तथा अन्य ने कई बार सरकार से प्रार्थना की कि तटवर्ती व्यापार को भारतीय हितों के लिए सुरक्षित किया जाय, किन्तु उनके यत्न हमेशा असफल रहे। अन्त में द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण सरकार को बलवान भारतीय नौ-सेना एवं वृहद् व्यापारिक जहाजों के निर्माण की तात्कालिक आवश्यकता के लिए मान्यता प्रदान करनी ही पड़ी।

बन्दरगाहें—यद्यपि भारत का दो हजार मील लम्बा तट है तथापि उसकी अच्छी बन्दरगाहें बहुत ही थोड़ी हैं। पश्चिमी तट की बन्दरगाहें वर्ष में ३ से ४ मास तक वर्षाऋतु के कारण यातायात के लिए बन्द हो जाती हैं। कच्छ और कैंबे की खाड़ियां और बम्बई की बन्दरगाह विशिष्ट हैं। मद्रास और विजगापटन ही केवल दो ऐसी बन्दरगाहें हैं, किन्तु सभी ऋतुओं में जहाजों को आश्रय देने के लिए सुरक्षित कही जा सकती हैं। कलकत्ता समुद्र से काफी अन्तर पर है और इसके अतिरिक्त हुगली के रेतीले टोलों के कारण उसमें अनेक बाधाएं हैं, जिन्हें निरन्तर खोदते रहना होता है।

बन्दरगाहों की कमी को पूरा करने के लिए विशेषकर कराची की क्षति के बाद, भारत सरकार कुछ नई बन्दरगाहें बनाने का यत्न कर रही है। तदनुसार सरकार ने कांदला, ओखा और मंगलोर को चुना है। विजगापटम एक मुख्य बन्दर-गाह है, जिसका भविष्य उज्ज्वल है। यह मद्रास और कलकत्ता के मध्य में स्थित है और यहां से मध्यप्रान्त के उत्पादनों का निर्यात होता है। इन दिनों यह स्थान जहाजों के निर्माण का केन्द्र बन गया है।

जहाज-निर्माण—१९३९ में भारत के पास केवल ३० जहाज थे, जो स्पष्ट रूप में डेढ़ लाख टन के लगभग के थे। भारत के आकार, तट की लम्बाई और सैनिक स्थिति की तुलना में यह अवस्था बहुत ही शोचनीय थी। सरकार ने इस दिशा में भारत की कमजोरी को जान लिया है और वह अवस्था को सुधारने के यत्नों में लगी हुई है। प्राईवेट (निजी) कम्पनियां अभी इस उद्देश्य के लिए पर्याप्त पूंजी पैदा नहीं कर सकतीं। फलस्वरूप, सरकार ने जहाज बनाने वाली तीन कार्पोरेशनों की स्थापना का निर्णय किया है। प्रत्येक की पूंजी दस करोड़ रुपया होगी और वह समुद्र पार के व्यापार में हिस्सा ले सकेंगी, और आवश्यकता होने पर ५१ प्रतिशत या इससे अधिक पूंजी को प्राप्त कर सकेंगी।

स. विदेशी व्यापार

४. ऐतिहासिक अवलोकन । ईसा की शताब्दी से कुछ हजार वर्ष पूर्व, भारत के व्यापारिक सम्बन्ध ईजिप्ट, रूम, अरेबिया, चीन और प्रशान्त द्वीपों के साथ थे। मुस्लिम काल में, विशेषत: मुगल राज्य में उत्तर-पश्चिमी काफिलों के मार्गों को काबुल और कंधार की राह से खब इस्तेमाल किया जाता था और सुदूरपूर्व और लाल समुद्र से आने वाले व्यापारियों के लिए मलाबार का तट संगम का स्थान

था। इन समयों में भी भारतीय व्यापार का पहले जैसा ही रूप रहा, और आयात मुख्यतः ऐश्वर्यशाली वस्तुओं की ही होती, "क्योंकि जनता अपनी गरीबी के कारण उन्हें खरीद नहीं सकती थी।"[1] ईस्ट इंडिया कम्पनी के आरम्भिक काल में कम्पनी ने भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन दिया और उसने भारत के रेशमी और सुन्दर वस्त्रों को इंग्लैंड भेजा किन्तु जैसे-जैसे १८ वीं शताब्दी बढ़ती गई, तैसे-तैसे भारतीय शिल्प पर इंग्लैंड में या तो भारी करों द्वारा प्रतिबन्ध लगने लगे अथवा उन पर पूर्णतः ही रोक लगा दी गई। ज्यों-ज्यों औद्योगिक क्रांति लम्बे लम्बे डग भरने लगी, त्यों-त्यों भारत कच्चा माल देने वाला और निर्माताओं को मंडी का रूप धारण करने लगा। १८६९ में स्वेज नहर का खुलना भारत के विदेशी व्यापार के इतिहास में सर्वोच्च घटना है। इसके द्वारा भारत और इंग्लैंड की दूरी में ५ हजार मील से भी अधिक की कमी हो गई, और पहले जितना समय लगता था, उससे आधा समय लगने लगा। इंग्लैंड तथा अन्य देशों के साथ व्यापार को भारत में रेलें जारी करने और मुख्य बन्दरगाहों को तटवर्ती नगरों से मिला देने से भी अतिरिक्त परिपुष्टि मिली।

इसी बीच भारत एक देश बन चुका था, बाहर और भीतर शान्ति थी। उसी काल में इंग्लैंड ने अपना औद्योगीकरण कर लिया था, और वह स्वतन्त्र व्यापार के आधार पर कार्य कर रहा था। भारत को उसका अनुसरण करना था। इन सब कारणों से भारत का विदेशी व्यापार बढ़ गया और फलरूप आश्चर्यजनक विस्तार हुआ।

प्रथम युद्ध काल में भारत की आयात और निर्यात, दोनों में ही भारी अन्तर हुआ, जो निम्न तालिका में दिखाया गया है:—

तालिका १

रुपयों की संख्या करोड़ों में (१९१३-१४ की कीमतों के आधार पर गणना किया गया)[2]

	आयात	निर्यात	योग
१९१३-१४	१८३	२४४	४४७
१९१८-१९	६३	१६०	२२३

पता चलता है कि निर्यात की अपेक्षा आयात बहुत ही नीचे आ गई और कुल योग में यह गिरावट लगभग ५० प्रतिशत ही हुई।

व्यापार की न्यूनता के प्रमुख कारण यह थे :—

(क) शत्रु-देशों के साथ व्यापार पर कड़ी पाबन्दियां थीं।

(ख) लड़ाके देशों में विशाल क्षेत्रों के विनाश ने उनकी क्रयशक्ति को न्यून कर दिया था।

---

१. मोरलैंड—"फ्रॉम अकबर टु औरंगजेब"।

२. पी. सी. जैन की इंडस्ट्रियल प्रोब्लैम्ज् आव् इंडिया, पृ० १२७ से ली गई तालिका।

(ग) कुछ देशों में मुद्रास्फीति का प्रभाव उनके व्यापार पर भी हुआ था।

(घ) जहाजों में माल रखने के स्थानों का अभाव, किरायों में वृद्धि और वीमों की राशियों ने व्यापार को भारी धक्का पहुंचाया।

युद्ध समाप्त होते ही व्यापार में एकाएक उन्नति हुई। भारतीय वस्तुओं की बहुत मांग थी। किन्तु भारत में रेल-यातायात की कठिनाइयों और रुपये की विनिमय दर ऊंची होने के कारण, हमारे निर्यात और भी अधिक होते। सदा की भांति इस उन्नत दशा के अनन्तर मंदी आई, जबकि हमारा व्यापारिक-सन्तुलन १९२० से १९२२ तक विपरीत हो गया। १९२१-२२ के बाद भारतीय व्यापार धीरे-धीरे सम्भलने लगा और यह क्रम सामान्य अवस्था प्राप्त होने तक जारी रहा।

भारत अब भी निर्मित वस्तुओं की आयात करता था, किन्तु आयात-पत्र में उसके योग की महत्ता पहले की अपेक्षा कम थी। इसका मुख्य कारण तो स्वदेशी आन्दोलन और सुरक्षा के फलस्वरूप प्रगतिशील औद्योगीकरण था, हालाँकि उसका रूप अचल था।

१९२९ में न्यूयार्क में वाल स्ट्रीट के व्यापार-भंग (Crash) ने, "जो उसके इतिहास में महानतम है," कीमतों की गिरावट का श्रीगणेश किया और जिसका अन्त विश्वभर में एक अनहोनी मंदी के रूप में हुआ। मंदी के इस तात्कालिक कारण की पृष्ठ-भूमि में अन्य गम्भीर कारण भी थे। इस मंदी ने सर्वत्र ही राष्ट्रीय भावना की लहर को वेग प्रदान किया, जिसके फलस्वरूप आयात-निर्यात-कर सम्बन्धी प्रतिरोधों का जन्म हुआ, कोटा (नियत अंश) निश्चित हुए और दोतरफा संधियां (Bilateral treaties) की गई, जिसके कारण विश्व व्यापार में अधिक न्यूनता हुई। एक शिलिंग ६ पैंस की दर से रुपये की उस समय की ऊंची कीमत ने, जबकि दूसरे देश अपनी मुद्रा के मूल्य को कम कर रहे थे, भारतीय निर्यात को निरुत्साहित किया। कच्चे माल और कृषि उत्पादनों की अपेक्षा निर्माण की हुई वस्तुओं की कीमतें अधिक गिर गईं, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत के निर्यात की अपेक्षा उसकी आयात अधिक सिकुड़ गई। १९३३-३४ में प्रकाश की झलक दिखाई दी, जिससे पता चला था कि भारतीय निर्यात ने अपना रुख मोड़ा है और वह सही दिशा की ओर अग्रसर हो गया है।

तीव्र आर्थिक राष्ट्रीयता, उच्च यातायात कर-विषयक प्रतिरोधों और दोतरफा संधियों के बावजूद भी १९३४ के उपरान्त क्रमशः पुनः सुधार होने जा रहा था। मुख्यतः इसके निम्न कारण थे : (१) अमरीका में रीकवरी प्लान (पुनः सुधार योजना) की स्वीकृति (२) रवड़ सरीखे कच्चे सामान के उत्पादन पर अवरोध और नियन्त्रण, (३) विश्वभर में युद्ध के भावी खतरे के लिए शस्त्रीकरण पर व्यय। कैनेडा में, १९३२ में ब्रिटिश साम्राज्य के देशों ने, जो ओटावा संधि (Ottawa Pact) की थी, उससे भारत के व्यापार को सहायता मिली। १९३४ में इंडो-जैपीनीज व्यापार समझौता हुआ और जापान के साथ हमारे व्यापारिक सम्बन्धों में उन्नति हुई। धीरे-धीरे कच्चे माल की कीमतों में उन्नति हुई, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत के निर्यात की कीमतों में वृद्धि हुई। १९३६-३७ तक व्यापार में भी उन्नति होती रही, किन्तु १९३७-३८ में पुनः एक धक्का-सा लगा, जो "अल्प कालीन विराम" (Recession) के नाम से ख्यात है और वह १९३८-३९ तक ही रहा जबकि शस्त्रीकरण की दौड़ जारी थी और उसके परिणामस्वरूप विश्व भर में अत्यधिक व्ययों के कारण कीमतों में वृद्धि हुई और व्यापार में उन्नति। तत्पश्चात् युद्ध की आशंकाओं के बादल अधिक गहरे

हुए और उनके कारण व्यापारिक कार्यवाही में अवरोध उत्पन्न हुआ। इस काल में जापान चीन के साथ लड़ने में व्यस्त था और उसकी भारतीय कपास की मांग कम हो गई थी, फलतः गये वर्ष की अपेक्षा १९३७-३८ में भारतीय निर्यात में न्यूनता आ गई। किसानों की क्रय-शक्ति में ह्रास होने से उनकी आयात की वस्तुओं की मांग में भी कमी हो गई।

५. द्वितीय विश्व युद्ध काल में व्यापार। १९३९ में युद्ध की घोषणा से, भारतीय व्यापार का चित्र ही बदल गया। कीमतों में वृद्धि होने लगी, क्योंकि भारतीय वस्तुओं की मांग बढ़ गई थी। भारतीय निर्यात १९३९-४० में बढ़ गया,और यद्यपि युद्ध के कारण भारत से कई मंडियां छिन गई थीं, तथापि १९४१-४२ में उसका कुल निर्यात उन्नत हो गया था। यहां यह बता दिया जाय कि इन वर्षों के व्यापारिक अंकों में अनेक न्यूनताएं थीं।

तालिका २

भारत का विदेशी व्यापार, जिसमें पुनर्निर्यात भी सम्मिलित हैं—
(रुपये करोड़ों में)

वर्ष	आयात	निर्यात	योग
१९४०–४१	१५७	१८७	३४४
१९४१–४२	१७३	२३७	४१०
१९४२–४३	११०	१८७	२८७
१९४३–४४	११८	१९९	३१७
१९४४–४५	२०४	२१०	४१४

इन त्रुटियों के होने पर भी जैसे-तैसे व्यापार के ऊपरिलिखित आंकड़े हमें निम्न निर्णय पर पहुंचाते हैं :—

(१) भारतीय व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाये गये, जो १९४२–४३ में कड़े हो गए, जबकि भारत का कुल व्यापार न्यूनतम था। (Trade Controllers) व्यापार नियन्त्रक नियत किये गए और कोई भी निजी व्यापार पूर्व-स्वीकृति प्राप्त किये बिना नहीं हो सकता था। प्राथमिकता का तरीका बनाया गया और व्यापारियों को बहुत छान-बीन के बाद लाइसेंस (आज्ञा-पत्र) दिये जाते थे। तटस्थ देशों की उन फर्मों के नामों को "काली सूची" में दर्ज कर दिया गया था, जिनके द्वारा शत्रु-देशों को खबरें पहुंच जाने का भय था और उनके साथ व्यवहार करने पर भी रोक लगा दी गई थी।

(२) **ज्यों-ज्यों युद्ध म प्रगति होती गई, भारत के हाथ से अनेक अच्छी मंडियाँ निकलती गईं**—युद्ध के प्रथम वर्ष में फ्रांस और इटली जैसी महाद्वीपीय मंडियां या तो ह्रास अथवा शत्रु अधिकार के कारण इससे छिन गईं। १९४१ में जब जापान मित्र-राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध में शामिल हुआ, तो उसकी भारत स्थित सम्पत्ति को जब्त कर लिया गया। आगामी वर्ष में जबकि बर्मा में युद्ध हो रहा था, हमारे लिए सुदूर पूर्व की मंडियां भी

बन्द हो गई। इन क्षतियों के वावजूद भी भारत को उतनी हानि नहीं हुई, क्योंकि उसे मध्यपूर्व में नई मंडियां मिल गई। और उसने मित्र-राष्ट्रों के लिए अपने निर्यात का विस्तार कर लिया।

(३) १९४२–४३ में अल्पकालिक विराम (Recession) का तीसरा कारण था **जहाजों में अत्यधिक स्थानाभाव**। व्यापारिक सूचियों की कठोरतापूर्वक जांच होती थी और सब अनावश्यक वस्तुओं को काट दिया जाता था। जहाजों में उपलब्ध स्थान को अधिकतर सिपाहियों और युद्ध सामग्री की यातायात के उपयोग में लाया जाता था। उच्चतम किराए और बीमे की दरें भी समुद्री व्यापार के लिए बाधा रूप हुई।

(४) चूंकि युद्ध लंबा हो गया था इस कारण इंगलैण्ड और अमेरिका के स्टाक चुक गये और उनकी पूर्ति नहीं हो सकती थी। उस काल में यही दो देश थे, जो भारत को निर्माण की हुई वस्तुएं दे सकते थे। इससे आयात की गिरावट को सहायता मिली।

(५) **युद्ध-काल में भारत के निर्यात ने आयात की अपेक्षा, वृहद् उछाल का दिग्दर्शन कराया**—विदेशी व्यापार के विरुद्ध जो विपरीत अंश कार्य कर रहे थे, उनसे निर्यात की अपेक्षा आयात में अधिक संकुचन पैदा हुआ। युद्ध के अन्तिम वर्ष में आयात में वृद्धि का कारण जहाजों में उपलब्ध स्थानों का आधिक्य था। शत्रु पन-डुब्बियों की कार्यवाही में होने वाली कमी व्यापारिक-लाभों में चित्रित हो रही थी।

६. **युद्धकालीन वर्षों में निर्यात को विस्तृत करने के यत्न**। युद्धकाल में भारत के हाथों से अनेक मंडियां निकल गयीं। उसकी कपास, तिलहन, खालें, जो बहुधा जापान, फ्रांस और जर्मनी को भेजे जाते थे, बहुत बड़ी संख्या में बिना बिके पड़े थे। सरकार ने बाजार में आधिक्य को रोकने के लिए नकदी फसल की जगह खाद्यान्नों को पैदा करने के लिए भर-सक कोशिश की। वस्तुस्थिति यह थी कि बर्मा के चावलों की आयात के स्थान पर जो खाई उत्पन्न हो गयी थी, उसे पूरा करना था। इसके अतिरिक्त, भारतीय खाद्य सामग्री की लंका, ईरान और मध्यपूर्व की मित्र-राष्ट्र सेनाओं को भोजन देने के लिए आवश्यकता थी। इस प्रकार एक ओर, खाद्य अन्नों की कीमतों में न्यूनता होने का खतरा थोड़ा था, और दूसरी ओर घाटे के प्रान्तों में भारी अकाल पड़ा हुआ था। फलस्वरूप सरकार खाद्य की स्थिति को उन्नत करने के लिए प्रत्येक उपाय को उपयोग में लाई।

सरकार ने व्यापारिक फसलों की खेती करने को भी निरुत्साहित करने की चेष्टा की। उसने मित्र-राष्ट्रों की ओर से वस्त्रों को खरीद लिया और मध्य-पूर्व में वस्त्र का निर्यात भी किया। इस प्रकार मिलों में कपास की खपत में वृद्धि के लिए प्रोत्साहन दिया गया। इन सब के अतिरिक्त, हमारे उत्पादों के लिए नई मंडियां खोजने की चेष्टाएं की गयीं। १९४० में, भारत सरकार के आर्थिक परामर्श दाता डा. टी. ई. ग्रेगोरी और सर डेविडमीक का एक शिष्ट-मंडल अमरीका भेजा गया। उन्होंने १९४१ में सूचना दी कि अमरीका कपास, तिलहन तथा अन्य कच्चे मालों के लिए भारत की खोई हुई महाद्वीपीय मंडियों के अभाव की पूर्ति नहीं कर सकता। यह स्वाभाविक ही था, क्योंकि अमरीका औद्योगिक देश होने के साथ ही कृषि देश भी है। उसे भारतीय कपास की आवश्यकता नहीं थी और वह आवश्यकतानुसार सब प्रकार के तिलहन की आयात अर्जेन्टाईना से करता था। जो भी हो, उसे भारतीय अभ्रक, रबड़ और काले रंग के खनिज पदार्थों की आवश्यकता थी। रिपोर्ट में यह भी कहा गया था कि धातुओं की चित्रकारी की हुई वस्तुओं, कसीदाकारी की वस्तुओं, गलीचों और दरियों के लिए अमरीका में मंडी मिल सकती है। काश्मीर और बनारसी माल की वहां मांग है।

सौभाग्य से, भारत को मध्यपूर्व में लाभदायक मंडियां मिल गयीं। टर्की, ईरान, ईराक, अरेबिया और ईजिप्ट की मंडियों को पाकर उसे संतोष हुआ। इन्हें न केवल भारत की चाय और कच्चा माल ही चाहिए था प्रत्युत उसका बना कपड़ा भी उन्हें दरकार था, कैनेडा और आस्ट्रेलिया ने भी उसकी कुछ चीजों की खपत की। १९४० में (Export Advisory Council) निर्यात परामर्शदातृ समिति इस उद्देश्य से नियत की गयी कि वह भारत से निर्यात के उपायों को प्रोत्साहन देने के लिए प्रस्ताव करे। विदेशों के साथ व्यापारिक श्रृंखला जोडने के लिए अफगानिस्तान, कैनेडा, अर्जन्टाईना, आस्ट्रेलिया, ईजिप्ट केनिया, नेटाल, लन्दन और न्यूयार्क में ट्रेड कमिश्नर नियत किये गये। इसके फलस्वरूप विदेशों में भारतीय निर्यात भीषण क्षति से सुरक्षित रहा।

७. **युद्धोत्तर वर्षों में व्यापार**। निम्न तालिका युद्धोत्तर वर्षों में भारत के व्यापार के दृष्टिकोण को उपस्थित करती है :—

(**रुपये करोड़ों में**)

वर्ष	वायु और समुद्र द्वारा			पाकिस्तान, ईरान और अफगानिस्तानके साथ भूमि द्वारा		
	निर्यात+पुनर्निर्यात	आयात	शेष	निर्यात	आयात	शेष
१९३८	१६९	१५७	+१२			
१९४८[1]	४२६	४९६	—७०	३०	९७	—६७
१९४९[1]	४३९	६३०	—१९१	३६	४१	—५
१९५०	५४३	५०५	+३८	१६	३८	—२२
१९५१	४१०	३५८	—५२	८	२६	—१८

१. यह विदित हुआ है कि भारत के विदेशी व्यापार ने, जैसे-जैसे महान युद्ध पृष्ट-भूमि में होता गया, मूल्य और विस्तार, दोनों ही दृष्टियों से उच्चतर स्तर को प्राप्त किया।

२. भारत सरकार द्वारा नियन्त्रण लगाने अथवा उन्हें क्षीण करने से विदेशी व्यापार पर प्रभाव हुआ।

३. देश के व्यापारिक शेष (Balance of trade) में घाटा बढ़ रहा था, विशेषकर अमरीका सरीखे दुर्लभ मुद्रा वाले देशों के साथ। यह खाद्य सामग्री, कपास सरीखे औद्योगिक कच्चे माल और रद्दी हुई मशीनों की जगह नई लाने के लिए भारी भरकम सामान और जल-विद्युत यन्त्रों तथा अनेक बहुमुखी धन्धों की आयात के कारण हुआ।

४. निर्यात पर नियन्त्रण धीरे-धीरे कम हुए, किन्तु परिमाणात्मक सीमाएं सदा जारी रहीं। विदेशी क्षेत्र की घोषणा कर देने से पाकिस्तान द्वारा नियंत्रण अनिवार्य थे। डालर तथा अन्य दुर्लभ मुद्राओं की प्राप्ति-कठिनाइयों के कारण तरल करैंसी के देशों की अपेक्षा उक्त प्रकार के देशों में निर्यात के लिए अधिक उदारता से लाइसेंस दिये गए।

१. मासिक अंक-गणना के सार से संग्रहीत। सरकारी कोष की निर्यात और आयात इसमें शामिल नहीं। इस खाते में १९४८ और १९४९ के वर्षों में क्रमशः १४४ लाख रु० और ५६४ लाख रु० का संतुलन-घाटा था।

५. सितम्बर १९४९ में भारतीय मुद्रा में अन्य स्टर्लिंग देशों की भांति ३०·५ प्रतिशत मूल्य की कमी की गयी ताकि दुर्लभ मुद्रा के देशों के साथ निर्यात को प्रोत्साहन मिल सके और आयात में निरुत्साह। समष्टि रूप से इसका उद्देश्य व्यापारिक घाटे को न्यून करना था। इस उपाय और आयात पर कड़े नियन्त्रण से नवम्बर १९४९ से और आगे की ओर व्यापारिक घाटा अतिरिक्त लाभों के रूप में बदल गया।

८. **भारतीय व्यापार के विचित्र रूप (१) युद्ध-पूर्व के वर्षों में**—भारत के युद्ध-पूर्व वर्षों में विदेशी व्यापार के निम्न मुख्य रूप थे:—

(अ) प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व आयात और निर्यात दोनों में ही इंग्लैंड की विशिष्ट स्थिति थी। १९१४ से पूर्व भारत की कुल आयात में से ६३% वह देता था। यह अंक क्रमश: उस समय तक घटता गया जब कि १९३८-३९ में वह ३०% पर आ पहुंचा, किन्तु इतने पर भी वह अभी पर्याप्त बड़ा था। भारत की आयात में इंग्लैंड की विशिष्टता इस कारण थी कि संसार में यह सब से पहला देश था, जिसने अपना औद्योगीकरण किया था। इसके अतिरिक्त एक शताब्दी से अधिक काल तक वह भारत पर शासन भी करता रहा था। इस प्रकार वह भारत में अपना माल बेचने की प्रमुख स्थिति में था।

१९०९-१४ तक भारतीय निर्यात में इंग्लैंड का आयात की तरह बहुत बड़ा भाग नहीं था, कुल योग में से केवल २५% था। यह प्रतिशत १९३८-३९ में उन्नत होकर ३४ हो गया। इंग्लैंड ने भारतीय रेलों, कारखानों और बाग-बगीचों में रुपये की बड़ी-बड़ी राशियां लगायीं। इन से वह बड़े-बड़े लाभांश प्राप्त करता। इस से बढ़कर, अंग्रेजी जहाजों, बैंकों और बीमा कम्पनियों ने "अदृष्ट सेवाएं" कीं। इन तथा अन्य सेवाओं के लिए भारत को एक बड़ी भारी कीमत देनी होती थी। यह था एक कारण, जिसने भारत के निर्यात में इंग्लैड का भाग स्थिर बनाये रखा।

जब अन्य देशों ने अपना औद्योगीकरण कर लिया, तो उन्होंने भारत के साथ सीधे रूप में व्यापारिक संबंध जोड़ने शुरू कर दिए। फलस्वरूप, भारत के व्यापार में ब्रिटेन का भाग कम होना शुरू हो गया और जापान, जर्मनी और अमेरिका ने उसका आंशिक स्थान ले लिया।

(ब) निर्माण की हुई वस्तुओं में कपड़ा, चमड़े की वस्तुएं, शीशे का सामान, घड़ियां और क्लाक, खिलौने, मोटरकारें, साईकिलें, सिलाई की मशीनें, स्टेशनरी और ऐसी ही अनेक वस्तुओं की आयात की गई थी। जैसे-जैसे समय बीतता गया, भारत ने इन में से कुछेक वस्तुओं के निर्माण के लिए कारखाने स्थापित किये। फलस्वरूप, उन वस्तुओं की आयात में न्यूनता हुई, किन्तु दूसरी ओर उनके कच्चे माल की आयात में वृद्धि हुई।

भारत के आयात व्यापार की बनावट (आयातों का प्रतिशत)

	१९२०-२१	१९३८-३९	१९३९-४०
१. खाद्य, पेय और तंबाकू	११	१६	२२
२. कच्चा माल	५	२२	२२
३. निर्मित वस्तुए	८४	६२	५६

यह पता चला है कि १९२०-२१ तक में भी, निर्मित वस्तुओं का इतना आधिक्य था कि हमारी कुल आयात का वह ८४% था। उस समय तक भारतीय तटकर विषयक नीति का मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश हितों की सहायता करना था। प्रथम विश्व-युद्ध के समय, यह अनुभव किया गया कि इस नीति का रूप बदलने की आवश्यकता है। तदनुसार १९२१ में तटकर सम्बन्धी कमीशन (Fiscal Commissian) नियत की गयी।

इसके परिणामस्वरूप कुछेक उद्योगों को सुरक्षा मिली। नाममात्र होने पर भी, इस से इस्पात और खांड के उद्योगों को उन्नति करने में सहायता मिली। यह प्रगति भारत के विशाल साधनों के मुकाबिले में कोई महत्व नहीं रखती थी, और ऐसा होने पर भी यह वास्तविकता की अपेक्षा दिखावा अधिक था। क्योंकि आयात-निर्यात कर की दीवारों के पीछे विदेशी हितों ने भारत में अपने-आप को स्थापित कर लिया था। उदाहरण के लिए, दियासलाई की आयात गिर गयी थी, किन्तु इस गिरावट का कारण भारत में स्वीडन कारखाने की स्थापना था। इसी प्रकार साबुन की आयात में गिरावट का कादण लिवर ब्रदर्स का भारत में आ जाना था। अन्य क्षेत्रों में, अर्थात् वस्त्र-व्यवसाय, इस्पात और खांड में भारतीय साहस ने उन्नति की थी। नीचे दी गई तालिका से यह प्रकट होता है कि किस प्रकार युद्ध-अन्तर्काल में कुछ निर्मित वस्तुओं की आयात में प्रगतिशील न्यूनता हुई।

कुछ निर्मित वस्तुओं की आयात रुपयें लाखों में

	१९२०-२१	१९३२-३३	१९३८-३९
सूती वस्त्र	८३,७८	१३,३७	१४,१५
लोहा और इस्पात	३१,२९	५,५०	६,६६
खांड	१८,५०	४,२३	२४
दियासलाई	१,६७	१	—
सीमेंट	१,३९	२९	५

(स) इन वर्षों में भारत के व्यापार का एक अन्य विचित्र रूप अपने निर्यात में कच्ची जिंसों की अधिकता का था। प्रथम विश्व-युद्ध से पहले भारत के ७०% निर्यात में खाद्य सामग्री और कच्चे माल का समावेश था। युद्ध-काल में, निर्मित वस्तुओं के निर्यात में कुछ वृद्धि हुई, किन्तु अनन्तरकाल में यह स्थिर नहीं रह सकी। उदाहरणार्थ, १९२०-२१ में, खाद्य-सामग्री और कच्चे माल की निर्यात ६४% थी, दूसरी ओर निर्मित वस्तुओं का कुल योग ३४% था, और १९३९-४० में भी लगभग वही प्रतिशत था। इससे स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि भारत अपने कच्चे माल का यथेष्ट उपयोग नहीं कर सकता था और १९३९ तक उसके निर्यात का विस्तार कच्चा माल ही था।

(द) और आगे, यह देखा जाता है कि जहां भारत की आयात में अनेक प्रकार की वस्तुओं का समावेश था तहां, उसके निर्यात की संख्या बहुत थोड़ी थी। उसके निर्यात की मुख्य वस्तुएं थीं : कच्चा पटसन, कपास, चाय, तिलहन, खालें और पटसन तथा सूती कपड़ा; दूसरी ओर आयात में सब प्रकार की अनगिनत निर्मित वस्तुओं का समावेश था।

(ई) इन वर्षों में भारत के विदेशी व्यापार के उल्लेखनीय रूपों में उसके व्यापार का अनुकूल संतुलन एक था। इसके कारण सरकार के लिए सुदृढ़ विनिमय दर को स्थिर रखने में सुगमता हुई और वह सब विदेशी जिम्मेदारियों को पूरा करने में समर्थ रही। केवल कुछेक विशिष्ट वर्षों में ही भारत का प्रतिकूल संतुलन रहा था। सामान्यतः, आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक थी। १९३१ में शुरू होने वाले मन्दी के वर्षों में यह संतुलन धीरे-धीरे कम अनुकूल होने लगे, और भारत को विदेशी माल के निर्यात के घाटे की पूर्ति करने के लिए सोने का निर्यात करना पड़ा।

भारत को प्रतिवर्ष ३० से ५० करोड़ रुपये के बीच "घरेलू व्ययों" (Home Charges) को भी पूरा करना पड़ता था। १९३१ में और उससे आगे भी व्यापारिक संतुलन इतना अनुकूल नहीं था कि जिससे भारत समुद्र-पार की अपनी जिम्मेदारियों को

पूरा कर सकता, फलतः सोने का निष्कासन शुरू हुआ और १९३९ तक जारी रहा, जबकि पुनः अनुकूलता उत्पन्न हो गयी। इन वर्षों में भारत ने ३६२ करोड़ रुपये की लागत का सोना निर्यात किया।

२. युद्ध के वर्ष (१९३९-४५)। युद्ध की घोषणा के बाद दुनिया भर में व्यापार में महान् उन्नति हुई। प्रत्येक देश ने उन वस्तुओं की आयात करनी चाही, जिनका वहां अभाव था और उसका विचार था कि यदि उसे लड़ना पड़ा तो वह उनका उपयोग कर लेगा। फलतः, भारतीय कच्चे माल की मांग बढ़ गयी। जो भी हो, जब महाद्वीपीय देशों पर जर्मनी का अधिकार हो गया तो भारत की अनेक मंडियां जाती रहीं, जिसके फलरूप उसके विदेशी व्यापार में एक गहरी सिकुड़न हो गयी। जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा ने अवस्थाओं को और भी जटिल कर दिया। धीरे-धीरे जैसे-जैसे मित्रराष्ट्रों की सेनाएं विजयी होती गयीं, भारत की चाय, कपास और पटसन निर्मित वस्तुओं की निर्यात में उन्नति होती गयी।

(१) **व्यापार की रचना** (Composition of Trade)—हम देखते हैं कि द्वितीय विश्व-युद्ध के दिनों में भारत के निर्यात में प्रत्यक्ष परिवर्तन हुआ। (क) अब भी जूट निर्मित वस्तुओं को ही गौरव का स्थान प्राप्त था, जिसकी निर्यात, १९४२-४३ में ३६ करोड़ रुपये, १९४३-४४ में ४९ करोड़ रुपये और १९४४-५४ में ६० करोड़ रुपये की थी। (ख) सूती वस्त्र के निर्यात में भी तीव्र गति से उन्नति हुई थी, जो युद्ध-पूर्व-काल में ६ करोड़ से उन्नत हो कर १९४२-४३ में ४६ करोड़ रु. हो गयी थी, और ३८ करोड़ रु. १९४४-४५ में थी। इस एकाएक वृद्धि का कारण जापान का धुरी-शक्तियों (Axis Powers) से सम्मिलन था। इससे भारत को मध्यपूर्व और अफरीका में जापान की फूली फली मंडियों को अधिकृत करने का अवसर मिल गया। (स) यूरोप और अमरीका में चाय की भी बहुत मांग थी और १९४४-४५ में चाय की निर्यात ३८ करोड़ रुपये बढ़ गयी, (घ) युद्ध-पूर्व वर्षों में फ्रांस और इंग्लैंड आदि देशों को भारत मुख्यतः मूँगफली देता था, जिसकी औसत निर्यात ९ लाख टन से अधिक प्रति वर्ष होती थी। युद्ध-काल में भारत ने स्वतः ही अपने तेल-उद्योग को उन्नत किया और इस प्रकार इस दिशा में विदेशी निर्भरता से अधिकांशतः अपने को मुक्त कर लिया। (ङ) १९४३-४४ और १९४४-४५ में भारत के निर्यात की कुल राशि क्रमशः २१० करोड़ रुपये और २२७ करोड़ रु. थी, जिसमें से निर्यात वस्तुओं की राशि १०६ करोड़ रुपये और ११६ करोड़ रु. थी। भारत के निर्यात और आयात में कच्चा माल, खाद्य सामग्री, और निर्मित वस्तुएं विस्तारपूर्वक प्रकट करती हैं कि युद्ध-काल के वर्षों में भारत के व्यापार में कैसा आदर्श परिवर्तन हुआ था। आगामी तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है।

(२) **व्यापार की दिशा** (Diredtion of trade) इन वर्षों में, भारत ने अधिकांशतः अपना व्यापार साम्राज्य देशों में फैलाया। उसने आस्ट्रेलिया, कैनेडा, ईजिप्ट, ईराक और मध्य-पूर्व के स्टर्लिंग क्षेत्र देशों के साथ निकटतम सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। भारत ने इन सब देशों के साथ व्यापार का अनुकूल संतुलन बना लिया था, केवल बहरीन्स और ईरान देश ही ऐसे थे जिन्होंने १९४३-४४ और १९४४-४५ में क्रमशः ३१ करोड़ रुपये और ५३ करोड़ रुपये की कीमत के खनिज तेल (पैट्रोल आदि) दिये थे और बदले में बहुत कम कीमत की वस्तुओं की आयात की थी।

एक अन्य प्रमुख आकर्षक पहलू यह है कि भारत ने अमरीका के साथ बहुत बड़ा व्यापार बना लिया है। १०४४-४५ में इंग्लैंड के साथ १०२ करोड़ रुपये की तुलना में यह ९५ करोड़ रुपये तक आ गया था।

ब्रिटिश भारत का समुद्री व्यापार (रुपये करोड़ों में)

		१९४०-४१	१९४१-४२	१९४२-४३	१९४३-४४	१९४४-४५
आयात	खाद्यसामग्री	२४	२८	८	७	१९
	कच्चा माल	४२	५०	५२	६४	११७
	निर्मित वस्तुएं	७०	९४	४९	४५	६५
	मिश्रित	२	२	१	२	२
	योग	१३८	१७४	११०	११८	२०३
निर्यात	खाद्यसामग्री (चाय सहित)	४२	६०	४९	४८	५०
	कच्चा माल	६८	७३	४५	५४	५८
	निर्मित• वस्तुएं	८६	११५	९८	१०६	११६
	मिश्रित	२	४	३	२	३
	योग	१९८	२५२	१९५	२१०	२२७

(३) **व्यापारिक संतुलन** (Balance of trade)—भारतीय आयात सापेक्षित रूप में निम्न स्तर पर रहे (१९४३ से ४४ तक)। इसका प्रमुख कारण यह था कि विदेशी आवश्यकता की वस्तुओं को दे सकने के आयोग्य थे। जो भी हो, भारतीय निर्यातों ने जहाजों में स्थानाभाव होने पर भी अच्छा उत्कर्ष किया। इस प्रकार संतुलन भारत के पक्ष में अधिक हुआ।

व्यापारिक संतुलन (रु० करीड़ों में)

वर्ष	संतुलन	वर्ष	संतुलन
१९३८-३९	+१७·५	१९४२-४३	+८४
१९४०-४१	+४२	१९४३-४४	+९२
१९४१-४२	+८०	१९४४-४५	+४२

३. युद्धोत्तर के वर्ष। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विषय में युद्ध-अन्तर्काल में जो विपरीत दृष्टिकोण ग्रहण किया गया था, अब उसकी आवश्यकता नहीं है। व्यापारिक योजना बनाना एक अनिवार्यता हो गई है। आज भारत को बड़े परिमाण पर मशीनों और यंत्रों की आयात के लिए विदेशी वित्त की आवश्यकता है। उसे व्यापार के अनुकूल संतुलन की भी आवश्यकता है, ताकि वह उन्नति के उद्देश्य से अपनी आयात के लिए चुकाने योग्य हो सके। जिस समय हम युद्धोत्तर वर्षों में व्यापार के अंकों को देखते हैं, तो हमें विचित्र व्यापारिक आलेखन दृष्टिगत होते हैं। वह निम्न प्रकार हैं —

(१) भारत के विभाजन ने भारत की व्यापारिक राशि में वृद्धि की है। निर्यात और आयात दोनों की कीमतों में वृद्धि प्रकट होती है। इसका मुख्य कारण दुनियां में जहाजी अवस्थाओं का पुनः सुधरना और भारी कृषि मशीनों, जल-विद्युत यंत्रों, औद्योगिक यंत्रों और कपास, जूट और खाद्यअन्नों की महती आवश्यकता है। इस प्रकार, १९४८, १९४९ और १९५० में व्यापार के कुल योग की राशि क्रमशः ९२३ करोड़ रुपये, १०७० करोड़ रुपए और १०४८ करोड़ रुपये थी। १९५१ में व्यापार का कुल योग १६००·७ करोड़ रु० हो गया।

(२) भारत के व्यापार का संतुलन, विशेषकर डालर और दुलभ मुद्रा देशों के साथ प्रतिकूल हो गया।

व्यापार का संतुलन (रु० करोड़ों में)

	योग		स्टर्लिंग देश		स्टर्लिंग-हीन देश	
	१९४८	१९४९	१९४८	१९४९	१९४८	१९४९
निर्यात	४२८	४२५	१२२	२३८	२०६	१८५
आयात	४७०	६२२	२३०	२८९	२४०	३३२·५
शेष	–४२	–१९७	–८	–५१	–३४	–१४५·५

इस प्रकार, भारत के व्यापार की मुख्य समस्या दुर्लभ मुद्रा क्षेत्रों में निर्यात में वृद्धि करना था। १९४८ में उसकी अमरीका को निर्यात ७८ करोड़ रुपये थी और आयात १०८ करोड़ रुपये। इस प्रकार ३० करोड़ रुपये का घाटा था। १९४९ में यह घाटा बढ़ कर ३३ करोड़ रुपये हो गया, क्योंकि अमरीका से आयात १०० करोड़ रुपये थी और निर्यात ६७ करोड़ रुपये। फलरूप, भिन्न देशों के लिए निर्दिष्ट कोटे नियत करने पड़े और डालर देशों को सरल ढंग से लाइसैंस देकर उनके निर्यात को विस्तार दिया गया। मि० श्रीराम की अध्यक्षता में (Export Advisory Council) निर्यात परामर्शदातृ समिति ने १९४९ के आरम्भ में प्रस्ताव किया था कि हमें अपने सौंदर्य और ऐतिहासिक स्थलों में विशेष सुख-सुविधाओं द्वारा यात्रियों के आने-जाने को प्रोत्साहन प्रदान करके और उस देश में चाय के निर्यात को प्रोत्साहन देकर डालर लाभ करना चाहिए। चूंकि व्यापार का संतुलन अब भी गिरता जा रहा था, इस लिए सितम्बर १९४९ में, डालर को दृष्टि में रखते हुए, स्टर्लिंग के मूल्य में कमी की गयी और उसके साथ ही रुपये में भी। उसी के साथ ही डालर देशों से आयात पर और भी कठोर नियंत्रण लगाये गए। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत का व्यापार संतुलन नवम्बर १९४९ से उन्नत होना शुरू हुआ और १९५० के व्यापारिक आंकड़ों में अनुकूल संतुलन दीख पड़ा। परन्तु १९५१-५२ में संतुलन पुनः प्रतिकूल हो गया और लगभग १४४·८१ करोड़ रु० का घाटा हुआ! इसका मुख्य कारण यह था कि इस वर्ष भारी परिमाण में खाद्य, कपास, और मशीनरी का आयात किया गया।

(२) कच्चे मालों की आयात में वृद्धि हो रही है, विशेष कर ईजिप्ट और पूर्वीय अफरीका से कच्ची कपास की। आयात की हुई कपास मुख्यतः लम्बे अथवा मध्यम तार की है। जब पाकिस्तान भारत का भाग था तब भारत को इतनी कच्ची कपास विदेशों से मंगाने की आवश्यकता नहीं थी। जब से विभाजन हो गया है, अवस्थाएं बदल गयी हैं और हमें बहुत-सी कपास तथा अन्य कच्चे माल मंगाने पड़ते हैं।

(३) अब हमें बहुत बड़े परिमाण में कच्चे पटसन की भी आयात करनी होती है। अगस्त १९४७ में कच्चे पटसन के कुल क्षेत्र में से ७३ प्रतिशत पाकिस्तान को गया और भारत के हिस्से २७ प्रतिशत रह गया। इसके फलस्वरूप, भारत को पाकि-

स्तान से कच्चे पटसन की लगभग ५० लाख गांठों की आयात करनी पड़ती है। इस कच्चे पटसन की भारतीय मिलों में वस्तुएं बनाई जाती हैं और उनका निर्यात किया जाता है। पाकिस्तान से कपास और जूट के आयात की कठिनाइयों के कारण, सरकार ने कपास और जूट की पैदावार को बढ़ाने का फैसला किया।

(४) भारत बड़ी भयंकर स्थिति में है, क्योंकि उसे खाद्यान्नों की वृहद् आयात करनी पड़ती है। १९४८ में, ११० करोड़ रु० की कीमत के तीस लाख टन खाद्य अन्नों को लगभग दुनिया भर के निम्न देशों से आयात करनी पड़ी थी : अर्जन्टाइना, अमरीका, कैनेडा, इटली, टर्की, रूस, आस्ट्रेलिया, स्याम और बर्मा। १९४९ में १५० करोड़ रुपये की कीमत के ३७ लाख टन की आयात की गई। १९५० के लिए लक्ष्य १५ लाख टनों का था किन्तु उसे २१ लाख टन तक बढ़ाना पड़ा। १९५१ में जिस खाई को पूरा करना था, वह अपेक्षाकृत बड़ी थी और आयात ५५ लाख टन नियत की गई है; १९५२ तो और भी अधिक कठिन समझा जाता है। प्रति एकड़ में अधिक उत्पादन के लिए गम्भीरतापूर्वक यत्न किये जा रहे हैं और उसके साथ ही बड़े-बड़े ट्रैक्टरों से, जिनकी आई० बी० आर० डी० (अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्वास विभाग) से लिये ऋण द्वारा आयात की गई है, नयी भूमि को खेतीबाड़ी के लिए तैयार किया जा रहा है।

(५) भारत में औद्योगीकरण धीरे-धीरे बल पकड़ रहा है और अनेक प्रकार की तथा पर्याप्त परिमाण में निर्मित वस्तुओं का निर्यात हो रहा है। इस दिशा में रुपए के मूल्य में न्यूनता का होना और सरकारी सहायता की तत्परता सहायक हुई है। निम्न तालिका से इस प्रवृत्ति का स्पष्टीकरण हो जाता है :—

भारतीय वस्तुओं का निर्यात (रु० करोड़ों में)

	खाद्य सामग्री	कच्चे माल	निर्मित वस्तुएं	मिश्रित
१९४५	५३	५७	१०४	५
१९४९	११४	९३	२१६	२
१९५०	१२२	१०५	२९३	२

(६) अन्त में, युद्ध-पूर्व के वर्षों के साथ तुलना करते हुए, भारत के व्यापार में पर्याप्त परिवर्तन दीख पड़ता है। अब भी इंग्लैंड हमारे निर्यात और आयात में महत्वपूर्ण स्थिति रखता है, किन्तु अमरीका उसे पकड़ने जा रहा है। आस्ट्रेलिया, पाकिस्तान, कैनेडा, बर्मा और ईजिप्ट का भी भारत के व्यापार मान-चित्र में महत्वपूर्ण स्थान है। मध्यपूर्व देशों के साथ भी व्यापारिक बंधनों की बहुत बड़ी आशाएं हैं। इन देशों के साथ भारत ने अभी हाल ही नये सम्बन्ध बनाये भी हैं। सुदूर-पूर्व के देशों के साथ भारतीय व्यापारिक सम्बन्धों का भविष्य भी उज्ज्वल दीख पड़ता है।

यह उल्लेखनीय है कि साम्राज्य-इतर देशों के साथ हमारा कुल आयात और निर्यात धीरे-धीरे बढ़ रहा है। निम्न तालिका से यह स्पष्ट है :—

साम्राज्य-इतर देशों के साथ व्यापार (रु० करोड़ों में)

निर्यात

वर्ष	कामन्वैल्थ	विदेश	स्टर्लिंग	स्टर्लिंग-हीन
१९३८	७५	८७	८४	८८
१९४६	१३४	१४४	१३६	१४२

१९४९	२३१	१९५	२३८	१८८
१९५०	२७३	२५०	२९३	२३०

आयात

वर्ष	कामन्वैल्थ	विदेश	स्टर्लिंग	स्टर्लिंग-हीन
१९३८	६५	८८	८६	६७
१९४६	१४८	११७	१४२	१२३
१९४९	२८८	३४२	२९३	३३७
१९५०	२३२	२६९	२३१	२७०

९. अन्य देशों के साथ भारत के व्यापार की दिशा। व्यापार की दिशा से तात्पर्य उन देशों से है, जिनके साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध हैं और उनसे वह सामान खरीदता या उन्हें बेचता है। जहां तक भारत के व्यापार का सम्बन्ध है, हम सुगमता के साथ दुनिया को कामन्वैल्थ देशों और विदेशों में बांट सकते हैं। यह देखा गया है कि कामनवैल्थ देशों को भारत का निर्यात क्रमशः उन्नत हो रहा है। द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति पर कामन्वैल्थ देशों और विदेशों के बीच ऐसी प्रवृत्ति देखी गई, जो समान रूप में विभाजित थी।

कामन्वैल्थ देशों से १९०९-१४ तक हमारी आयात ७० प्रतिशत तक बढ़ी हुई थी। तब से लेकर वह भी गिरती ही आ रही है, जब कि १९५०-५१ में वह केवल ४३ प्रतिशत रह गई और ५७ प्रतिशत अन्य विदेशों से खरीदने के लिए रह गया। इस प्रकार इस समय भारत अपनी बहुमूल्य वस्तुओं की आवश्यकता की पूर्ति के लिए अधिकांशतः इंग्लैंड की अपेक्षा अमरीका, जेकोस्लोवाकिया और बैल्जियम पर और खाद्य-अन्नों के लिए बर्मा, अर्जेन्टाईना, स्याम, कैनेडा, आस्ट्रेलिया और पाकिस्तान पर निर्भर रहा है।

कुछ अलग-अलग देशों के साथ व्यापार का अध्ययन भी मनोरंजक है।

१ भारत और इंग्लैंड। भारत के व्यापार के चित्र में इंग्लैंड सदा ही प्रमुख देश के रूप में रहा है। भारत के निर्यात की सूची में उसका नाम सदा सबसे ऊपर रहा है। युद्धोत्तर के वर्षों में भी उसी का नाम सबसे ऊपर है।

आयात की दिशा में इंग्लैंड पिछड़ता जा रहा है। १९१४ से पूर्व ६३ प्रतिशत से द्वितीय विश्व-युद्ध में वह २५ प्रतिशत रह गई। युद्धोत्तर वर्षों में उसने ३० प्रतिशत के लगभग पहुँच कर अपनी स्थिति को संभाला। इसका स्पष्ट कारण यह था कि पूर्व निश्चयानुसार जितने स्टर्लिंग की भारत को स्वीकृति थी, उसमें से सम्पत्ति और उपयोगिता के रूप में उसका इंग्लैंड में जमा संतुलन था। निम्न तालिका से भारत के व्यापार में इंग्लैंड की स्थिति स्पष्ट हो जाती है :—

भारत के व्यापार में इंग्लैंड का भाग

अवधि	आयात प्रतिशत	निर्यात प्रतिशत
१९०९-१० के १९१३-१४ (औसत)	६२·८	२५·१
१९३८-३९	३०·५	३४·३
१९४५-४६	२५·३	२८·२
१९४९-५०	२६·६	२५·७
१९५०-५१	२१·७	२२·०

यद्यपि भारत के विदेशी व्यापार में ब्रिटेन के भाग में प्रतिशत की दृष्टि से गिरावट है, किन्तु सम्पूर्ण राशि गिरावट को प्रकट नहीं करती। इंग्लैंड से भारत में आयात १९५०-५१ के सिवा निरन्तर प्रगति प्रकट करती है और इस अपवाद का कारण आयात पर नियंत्रण था। अब यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इंग्लैंड हमारी वस्तुओं के मुख्य खरीददार और मुख्य पूर्तिकर्त्ता के रूप में अपनी स्थिति को फिर से सही कर रहा है। मशीनें, मिलों की वस्तुएँ और मशीनों के कल-पुर्जे भारत में इंग्लैंड की निर्यात के अंश हैं। वह भारत को गाड़ियां, रसायन, औषधियां और रंग भी देता है। बदले में भारत पटसन की वस्तुएं, चाय, खालें, गोंद और तिलहन भेजता है।

इंग्लैंड के साथ भारत का व्यापारिक संतुलन प्रायः अनुकूल रहा है किन्तु १९५० में केवल एक करोड़ के आधिक्य के विरुद्ध १९५० के वर्ष में भारत के पक्ष में ५२ करोड़ रु० को असाधारण वृद्धि हुई।

(२) **भारत और अमरीका।** गत विश्व-युद्ध से पहले अमरीका भारत की मंडी में गहराई से पैठ नहीं सका था। उसने १९३८-३९ में भारत की आवश्यकताओं में से ६ प्रतिशत से अधिक की पूर्ति नहीं की थी। युद्ध-काल के वर्षों में भारत के निर्यात का केवल लगभग १० प्रतिशत गिनते हुए, अमरीका ने भारत के आयात के चिटठे में अपनी स्थिति को बहुत उन्नत कर लिया है। नीचे की तालिका से अमरीका में भारत के व्यापार की वर्तमान स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

व्यापार का रूप	१९४९-५०		१९५०-५१	
	रु० करोड़ों में	कुल व्यापार का प्रतिशत	रु० करोड़ों में	कुल का प्रतिशत
निर्यात	८१·५	१७	११७·७	१७
आयात	८८	१५·७	११६	२०·५

अभी भी इंग्लैंड के साथ निकट व्यापारिक सम्बन्ध हैं, किन्तु युद्धोत्तर वर्षों में अमरीका द्वितीय स्थान पर निकट होने जा रहा है अमरीका की मन्डियों में कच्चे पटसन, पटसन का कपड़ा, भेड़ और बकरी की खाल, लाख, काजू और चंदन की लकड़ी की खपत है। वह नारियल की जटाओं के टाट, नारियल की छाल आदि की आवश्यकताएं भी भारत से ही पूर्ण करता है। भारतीय चाय, रेंडी के बीजों और मसालों की अमरीका की मंडी में खपत है। जूट और जूट की निर्मित वस्तुओं की अमरीका को भारतीय निर्यात की सबसे महत्वपूर्ण अकेली मद है, और वह कुल निर्यात का ५० प्रतिशत है। अमरीका बकरी और मेमनों की खालों के लिए भारत का प्रमुख ग्राहक है और युद्ध से पूर्व वह ३५ से ४० प्रतिशत ले रहा था। १९५० में अमरीका ने ७ करोड़ रुपये की चाय खरीदी थी, जो चाय के भारतीय निर्यात का १० प्रतिशत है। उसी वर्ष ६ करोड़ रु० को खाजा-मेवों

की अमरीका को निर्यात की गई थी। अब अमरीका मशीनी कल-पुर्जों, खनिज मशीनों और टाईप राईटरों का प्रधान पूर्तिकर्त्ता बन गया है। वह गैस के इंजिनों, ट्रैक्टरों और तेल निकालने तथा शोधक मशीनों को भी भेज रहा है। भारत को एक अन्य बहुमूल्य अमरीकी निर्यात की मद में मोटरकारें, ट्रक, बसें, तोपों के ढांचे और मशीनों के पुर्जे भी सम्मिलित हैं। १९५० में, अमरीका से औषधियों, रसायनों और दवाइयों की ५ करोड़ रु० की आयात हुई थो। अमरीकी साबुन-तेल की वस्तुएं भी भारत में लोकप्रिय हैं। भारत की सिगरेट बनाने की तम्बाकू की ९० प्रतिशत आवश्यकता की पूर्ति अमरीका करता है। १९५० में इस जिन्स की आयात की कीमत २·३ करोड़ रुपए थी। युद्ध-काल में एक अन्य उल्लेखनीय वृद्धि खाद्य सामग्रियों, विशेषकर सूखे दूध और जमी हुई शराबों में हुई।

अमरीका के साथ भारत के व्यापार का संतुलन सदा ही अनुकूल रहा है। युद्ध के उपरान्त, यह अनुकूल संतुलन प्रतिकूल में बदल गया। भारत की अनेक समस्याओं में एक यह है कि अमरीका के साथ व्यापार के इस घाटे को कैसे पूरा किया जाय। भारत को इस घाटे की पूर्ति के लिए अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निधि (International Monetary Fund) में से ९२ मिलियन डालर लेने पड़े थे। भारत ने कठोर करैंसी क्षेत्रों में अपना व्यापार फैलाने का प्रयत्न किया। यह क्षेत्र मशीनों, मशीनी कल-पुर्जों और यंत्रों सम्बन्धी भारत की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की स्थिति में है। इसी कारण से, उसने सितम्बर १९४८ में अन्य स्टर्लिंग देशों के साथ अपने रुपये के मूल्य में कमी की थी और इस प्रकार १९५० में भारत अमरीका के साथ व्यापार की अपनी खाई को पूरा करने में सफल हुआ था। १९५१ के पहले ६ मासों में कुल व्यापार का संतुलन केवल एक करोड़ रुपये द्वारा भारत के अनुकूल था।

१९५०–५१ में अमरीका के साथ व्यापार (रु० करोड़ों में)

आयात		निर्यात	
जिन्सें	कीमत	जिन्सें	कीमत
कच्ची कपास	४०·६	चाय	८
धातुएं और कच्ची धातु	६·५	मसाले	१४·४
मशीनें	१४·७	खाजा मेवे	७
मोटर-गाड़ियां	७·७	अभ्रक	७
रसायन आदि	६·४	काले धातु	३·४
खनिज तेल	५·३	लाख (चपड़ा)	४·८
तम्बाकू, कच्चा	२·४	खालें, कच्ची और पक्की	८·२
खाद	४·१	जूट के पदार्थ	३०·०
मिश्रिति	२८·१	मिश्रित	३०·६
योग	११५·८	योग	११३·४

(५) **भारत और मध्यपूर्व ।** भारत और मध्यपूर्व के देशों में सदियों से व्यापार हो रहा है किन्तु गत युद्ध में यह अधिक महत्वपूर्ण हो गया, क्योंकि इन देशों को योरोप और जापान से अपनी सामान्य पूर्ति भी नहीं हो सक रही थी और उन्हें भारत की ओर ताकना पड़ा। भारत अपेक्षाकृत अच्छा व्यापार करता, किन्तु यातायात के अपर्याप्त साधनों के कारण वह न कर सका। यह देश कृषि-प्रधान हैं—खेतीबाड़ी, भेड़ों और घोड़ों का पालन उनका मुख्य व्यवसाय है। तेल-स्रोतों की विशाल प्रगति के कारण विश्व-व्यापार में उनका महत्व हो गया है। भारत इस क्षेत्र में से कच्ची कपास और खनिज तेल (पैट्रोल) की आयात करता है और बदले में सूती और पटसन की वस्तुओं, इस्पात, चाय और मसालों की निर्यात करता है किन्तु द्विमुखी मान्यताओं और ऊपरी कमियों के कारण वह उनकी पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता था।

ईजिप्ट, टर्की और सूडान हमारी पटसन निर्मित वस्तुओं के प्रधान खरीदार हैं। गत युद्ध-काल में और उसके उपरान्त मध्यपूर्व में सूता कपड़े की भारतीय निर्यात विशेष महत्व बनाए रही है। १९३८-३९ में लगभग ३१ लाख रुपये से यह निर्यात बढ़कर १९४२-४३ में १० करोड़ रुपये से अधिक की हो गई। तब से लेकर सूती कपड़े, सूत और गुंडी की निर्यात बढ़ी जा रही है। निःसंदेह, ये देश इंग्लैंड या कैनेडा जितनी चाय नहीं खरीदते, किन्तु यह मंडा उपेक्षा करने योग्य नहीं, क्योंकि वर्षभर में ३ करोड़ रु० की चाय की इनमें खपत है। इस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। भारतीय तम्बाकू को अधिक लोक-प्रिय बनाया जा सकता है, बशर्ते कि उचित ढंग से इसे पैक (बांधना) किया जाय और इस के दर्जे बनाये जायँ। हमारे निर्यात की कीमत की अपेक्षा ईजिप्ट, सूडान और केनिया से हमारी आयात की कीमत कहीं अधिक है। उदाहरण के लिए, १९४९ में हमने ७१ करोड़ रु० की वस्तुओं की आयात की और बदले में इन अफ्रीकी देशों को केवल ३२ करोड़ रु० की वस्तुओं की निर्यात कर सकें।

युद्ध से पूर्व भारत मुख्यतः अपने खनिज तेलों को बर्मा (४८ प्रतिशत) बहरीन (११ प्रतिशत), जावा (१३ प्रतिशत) और अमरीका (२ प्रतिशत) से खरीदता था। जब इंडोज और बर्मा पर जापान का अधिकार हो गया, तो भारत को खनिज तेलों के लिए ईरान और बहरीन पर निर्भर रहना पड़ा। इन सब देशों के साथ भारत के व्यापार का संतुलन, विशेषकर ईजिप्ट से, जहाँ वह कच्ची कपास और चावल की आयात करता है, और ईरान, जहां से वह तेल लेता है, प्रतिकूल है।

(६) **भारत और पाकिस्तान।** विभाजन के बाद का वर्ष महान उत्पात का था। विशालरूप में साम्प्रदायिक अशान्ति फैल गई और जनसंख्या का समष्टि रूप में निष्कासन हुआ। फलरूप व्यापार शान्तिपूर्वक न हो सका और उस काल का अनुमान नहीं किया जा सकता। मई १९४८ में भारत और पाकिस्तान के बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ, जिसमें दोनों के बीच विनिमय के लिए बहुत-सी जिन्सों का उल्लेख किया गया था। दोनों रुपयों की कीमत समान रखी जानी थी और विनिमय पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं होने थे। भारत ने निम्न जिन्सों की आयात और निर्यात की :—

(रुपये करोड़ों में)

निर्यात (आय)		आयात (भुगतान)	
सूती कपड़ा और सूत	१७·५	कच्ची जूट	८०·२
जूट निर्मित वस्तुएं	६·८	कच्ची कपास	१७·३
कोयला	६·५	अन्य (खालें, कपास का बीज, सुपारी, सोमेंट, नमक और फल)	१९·६
अलसी का तेल	६·८		
तम्बाकू	४·९		
कृत्रिम रेशम	४·८		
अन्य (रसायन, ओषधियां, इस्पात आदि)	३५·८	सेवाएं	·३
सेवाएँ (पानी और बिजली)	·५		
योग	८३·६		
घाटा	३३·८		
योग	११७·४	योग	११७·४

ऊपर की तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में भारत को ३४ करोड़ रु० का घाटा था। कोयला और अलसी का तेल, दो ऐसी जिन्सें थीं, जिनकी पाकिस्तान ने स्वीकृति सीमा के अनुसार आयात की थी। दूसरी ओर, पाकिस्तान ने आयात-निर्यात सम्बन्धी इतने भारी कर लगा दिए थे कि भारत को भी बदले में वैसे ही कर लगाने पर बाध्य होना पड़ा। पाकिस्तान ने भारतीय वस्त्र पर आयात कर लगाया और उपरान्त उसका बहिष्कार कर दिया। इसके साथ ही भारत ने पाकिस्तान को ऐसी वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया, जिनको निर्यात वह डालर देशों को कर सकता था। भारत से पाकिस्तान को पूंजी-परिचलन द्वारा चालू हिसाब में घाटा बढ़ा, क्योंकि व्यापारी बैंकों को पाकिस्तान के नये बैंक की शर्तों को पूरा करने के लिए पाकिस्तान को १४ करोड़ रु० के लगभग भेजना पड़ा था।

दोनों देशों के बीच व्यापारिक समझौता जून १९४९ में पुनः नया किया गया, जिसके द्वारा भारत को व्यापार को अपेक्षाकृत छोटी राशि और थोड़ा घाटा प्राप्त हुआ। दोनों देशों के बीच कठिनाइयां उत्पन्न हुईं और समझौता पूर्ण न हुआ। उसके बाद, सितम्बर १९४९ में भारतीय रुपये का अवमूल्यन हुआ। पाकिस्तान ने अपने रुपये के मूल्य में परिवर्तन न करने का निर्णय किया। इससे भारतीय रुपए के मुकाबले में सब पाकिस्तानी वस्तुओं की कीमत बढ़ी और दूसरी ओर पाकिस्तानी रुपये के मुकाबले में भारतीय वस्तुएं सस्ती हो गईं। भारत को लाचार होकर पाकिस्तान को निर्यात की वस्तुओं पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा और साथ ही पाकिस्तान की वस्तुओं को खरीदने के लिए इन्कार करना पड़ा। इस काल में भारत को ३५·४ करोड़ रुपये का भुगतान करना पड़ा, जबकि उसकी आय केवल २६·२ करोड़ रु० थी।

किन्तु नेहरू-लियाकत समझौते के फलरूप, दोनों देशों के बीच थोड़ी अवधि का व्यापारिक समझौता आ। समझौते के अनुसार व्यापार भारतीय रुपये में होना था, और उसके लिए पाकिस्तान को जुदा हिसाब रखना था। समझौते में शर्त थी

कि भारत को कच्चे जूट की आठ लाख गांठें मिलेंगी और बदले में भारत सरकार ने जूट निर्मित वस्तुओं, इस्पात की वस्तुएं, सूती वस्त्र और सरसों का तेल आदि पाकिस्तान को देना था।

(७) **भारत और सुदूर-पूर्व के देश**। इन देशों के साथ भारत के सदा ही व्यवहार रहे हैं। इस व्यापार का कुल योग सराहना-योग्य रहा है, किन्तु जापान, बर्मा और लंका को छोड़कर व्यक्तिगत देशों के साथ अधिक नहीं हुआ।

अन्य देशों को छोड़ कर केवल लंका के साथ ही हमारा व्यापारिक संतुलन अनुकूल है, जो विचारणीय है। बर्मा के साथ भारत का व्यापार हमेशा ही प्रतिकूल रहा है। हम बर्मा से चावल, खनिज तेल और टीक की लकड़ी की आयात करते हैं और बदले में कपड़ा, खांड, कागज, बोरियां और तेलों के सामान की निर्मित वस्तुओं का निर्यात करते हैं।

भारत और इंडोनेशिया का युगों से पारस्परिक सम्बन्ध है। युद्ध-पूर्व के वर्षों में भारत गन्ने, खनिज तेल, पैराफीन, मोम, टीक की लकड़ी, कुनीन, मसालों और टीन की बहुत बड़ी मात्रा में आयात करता था। भारत मुख्यतः जूट की वस्तुओं, सूती कपड़ों, वनस्पति तेलों और बीजों, कोयला और आंवले की निर्यात करता था। बाद में खांड एकदम बन्द कर दी गयी। हमारे निर्यात १ करोड़ रुपये के थे और आयात २ करोड़ रुपयों की थी। युद्ध-काल में यह व्यापार बन्द हो गया था किन्तु अब पुनः चालू हो गया है। इस व्यापार का तरीका तो पहले ही जैसा है, किन्तु एक अन्तर है, और वह यह कि जो व्यापार का संतुलन भारत के प्रतिकूल हमेशा रहता था, वह अब अनुकूल हो गया है। भारत निर्मित वस्तुओं को निर्यात कर सकता है, जब कि इंडोनेशिया चावल, मक्का, नारियल का तेल, खोपा, मसाले और टीक की लकड़ी के अतिरिक्त लोहे से इतर धातुओं को दे सकता है।

हम जापान से भोक्ता-वस्तुओं की अनेक किस्मों की आयात किया करते थे और विनिमय में उसे देते थे; कच्ची कपास, कच्चा लोहा, काली धातु, अभ्रक, रेंडी के बीज, और अन्य औद्योगिक कच्चे माल। युद्धोत्तर वर्षों में जापान का आर्थिक जीवन और व्यापार मित्र-राष्ट्रों की सर्वोच्च सत्ता (Supreme Commander of Allied Powers) के अधीन हो गया था। उसके निर्यात और आयात पर नियंत्रण है। १९४८ में मि. डब्ल्यू. आर. ईटन की अध्यक्षता में जापानी व्यापार प्रतिनिधि मंडल भारत आया था। उपरान्त, जापान और भारत सहित कामन्वैल के ५ देशों के बीच स्टर्लिंग-क्षेत्र समझौता हुआ था। भारत ने २६·५ मिलियन पौंड की कीमत की मशीनें, कपास और ऊन, साइकलें, सिलाई की मशीनें, बिजली के सामान, गड़ारियों और तकुओं की आयात करने का जिम्मा लिया था और उसके बदले मुख्य जिन्सें देनी की थीं।

१०. भारत-पाकिस्तान व्यापार। विभाजन-काल से पाकिस्तान के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध किसी भी काल में सुखदायी नहीं रहे। सितम्बर, १९४९ में, व्यापारिक सम्बन्ध तभी स्थगित हो गए थे, जब पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का मूल्य न घटाने का निर्णय किया था, जबकि अन्य स्टर्लिंग देशों ने वैसा किया था। दोनों सरकारों ने १९५० में सीमित व्यापार के लिए अल्पकालिक समझौता किया था। निर्यात और आयात की जिन्सों का संतुलन सुरक्षित किया गया। इस व्यापारिक समझौते का तत्व पाकिस्तान द्वारा जूट की आठ लाख गांठें बेचना था और

भारतीय जिन्सों की निश्चित मात्रा को खरीदना था अर्थात् जूट निर्मित वस्तुएं, (२० हजार टन), सूती कपड़े (४५ हजार गांठें), सरसों का तेल (७ हजार टन) आदि। यह समझौता भली प्रकार सफल नहीं रहा। तीन मास की निश्चित अवधि में वस्तुओं का चालन नहीं हुआ। सितम्बर १९५० में यह समझौता समाप्त हो गया।

इसी बीच पाकिस्तान, जुलाई १९५० में, अन्तर्राष्ट्रीय वित्तनिधि के सदस्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया। भारत और पाकिस्तान के बीच विनिमय दर को भारतीय १४४ रु. और पाकिस्तानी १०० रु. की थी। कोरिया-युद्ध की घोषणा के कारण और विश्व के प्रधान उत्पादक देशों, योरोप और अमरीका द्वारा (जिन में पाकिस्तान भी शामिल था) संचित राशियों के फलरूप विक्रय-बाजार की प्रबलता थी। दूसरी ओर भारत कच्चे जूट और कपास की भारी कमी के कारण परेशान था। सो उसे पाकिस्तान की कीमत के मान को स्वीकार करना पड़ा और जून १९५२ तक के लिए एक समझौता किया गया। दोनों सरकारों ने दोनों देशों के बीच आदान-प्रदान के निपटारे को इस आधार पर स्वीकार किया कि चालू आदान-प्रदान से दोनों केन्द्रीय बैंकों द्वारा रुपये संतुलनों का जो संग्रह हो, वह किसी बाधा के बिना स्टर्लिंग में हो जाय। इस समझौते के अनुसार भारत को कच्चे जूट की ३५ लाख गांठों का कोटा और ७·७ लाख टन खाद्य-अन्न मिला। बदले में भारत ने कोयला (२·१ मिलियन टन), सूत (१५ हजार गांठें) और जूट की निर्मित वस्तुएं (६२ हजार टन) बेचनी मंजूर कीं। कई जिन्सों की आयात और निर्यात के खुले लाईसेंस कर दिये गए। निम्न तालिका दोनों देशों की निश्चित कालान्तर्गत व्यापारिक स्थिति की प्रगति को प्रकट करती है :—

भारत-पाकिस्तानी व्यापार (रु० करोड़ों में)

	आयात			निर्यात				
	योग	कच्ची जूट	कपास	योग	वस्त्र	बनास्पति तेल	कोयला	तंबाकू
१९४८-४९[1] अप्रैल से मार्च	८५	७१	·२	३०	५	३·४	·८	४
१९४९[1] अप्रैल से दिसम्बर	२९	१९	·८	२७	२·७	४·६	३·४	५
१९५०[2] जनवरी से दिसम्बर	३३	१८	·३	३१	७·४	२·८	·०५	६

यह तालिका प्रकट करती है कि १९५० में भारत का पाकिस्तान के साथ व्यापार लगभग संतुलित था, जबकि पूर्वत: यह घाटे पर आधारित था। इसका मुख्य कारण नियंत्रण थे और फलस्वरूप व्यापार के कुल योग में संकोचन था।

११. निर्यात और आयात का विश्लेषण (अ) निर्यात। अब हम भारत से निर्यात होने वाली कुछ आवश्यक जिन्सों के लक्ष्य के बारे में विचार करेंगे।

1. Statistical Abstract of India.
2. Currency and Finance Report, 1950-51.

(१) **जूट, कच्ची और निर्मित**—विभाजन अनन्तर वर्षों में जूट की वस्तुओं की बहुत मांग थी, किन्तु उनका उत्पादन कम था। इसलिए निर्यात पर कठोर नियंत्रण कर दिया गया। बदले में खाद्य और डालर प्राप्त करने के उद्देश्य से लक्षित कोटे नियत किये गए। इस प्रकार दुर्लभ मुद्रा देशों को निर्यात में वृद्धि हुई, किन्तु १९४८-४९ के दो वर्षों में अमरीका को होने वाले निर्यात में कमी हुई, जबकि इंग्लैंड और आस्ट्रेलिया के निर्यातों में वृद्धि हुई। भारत की कच्ची जूट की निर्यात पाकिस्तान से प्राप्ति की कठिनाइयों के कारण गिर गई।

१९५०-५१ में सन के टाट और बोरियों की भिन्न देशों को भारत की निम्न निर्यात थी :—

१९५०-५१ में जूट निर्मित वस्तुओं की निर्यात (रु० लाखों में)

देश	सन का टाट	सन की बोरियां	योग
इंग्लैंड	४,४१	१,५६	५,९७
आस्ट्रेलिया	१,८१	११,७०	१३,५१
बर्मा	—	२,२१	२,२१
पूर्वी अफ्रीका	—	१,५३	१,५३
ईजिप्ट	७०	२,७९	३,४९
अर्जेन्टाईना	९,०१	—	९,०१
अमरीका	३०,०९	१६	३०,२५
योग	५२,२५	५२,९२	१०५,१७

(२) **कपास, कच्ची और रद्दी**—१९३८ में भारत ने २४ करोड़ रुपये की कच्ची कपास निर्यात की। विभाजन उपरान्त के वर्षों में, भारत के लिए कपास के निर्यात को बनाये रहना कठिन हो गया, क्योंकि लम्बी तार वाली कपास के क्षेत्र पाकिस्तान के हिस्से में चले गये थे। इसलिए, भारत को ईजिप्ट, सूडान, केनिया और पाकिस्तान से कच्ची कपास बड़े परिमाण में आयात करनी पड़ी। १९४९ में तार वाली कपास की आयात ७७ करोड़ रुपये की हुई और १९५० में ७२ करोड़ रुपये की। अब भारत केवल छोटे तार की कपास का निर्यात करता है। इस दिशा में उसके इंग्लैंड, जापान, इटली आदि ग्राहक हैं। १९४९ और १९५० के प्रत्येक वर्ष में उसकी निर्यात १८ करोड़ रुपये की थी।

(३) **कपास निर्मित वस्तुएं**—भारत ने युद्ध-काल में अधिकांशतः सूती निर्मित वस्तुओं का निर्यात आरम्भ किया, जबकि जापान मैदान में नहीं था। इस प्रकार, १९४२-४३ में भारत ने ४७ करोड़ रुपये का सूती कपड़ा बेचा। विभाजन उपरान्त के वर्षों में भीतरी खपत की कीमत पर भी इन निर्यातों को प्रोत्साहन देने के विशेष यत्न किए गये हैं। निर्यात के कोटे नियत किये गए और लाइसेंसों की स्वीकृति दी गई। निम्न तालिका कच्ची कपास और निर्मित वस्तुओं के निर्यात का स्पष्टीकरण करती है :—

कच्ची कपास और वस्तुओं के निर्यात

	१९३८		१९४९		१९५०	
	टन ०००	कीमत रु. करोड़ों में	टन ०००	कीमत रु. करोड़ों में	टन ०००	कीमत रु. करोड़ों में
कच्ची कपास	४,५६	७·६	४८	४९	३६	११७
	मिलियन गज		मिलियन गज		मिलियन गज	
कपास की निर्मित वस्तुएं	१९२	२४	४६८	१८	११·१६	१८

हमारे सबसे बड़े ग्राहक मध्यपूर्व के देश, पूर्वी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और लंका हैं।

निर्यात (रु० लाखों में)

	१९४३–४४	१९४५–४६	१९४८	१९४९
कच्ची कपास	७४९	१५,१०	२३,३०	१५,८३
कपास की निर्मित वस्तुएं	४२,६२	३२,८०	३६,९०	४९,३६

(४) **चाय**—चाय हमारी सबसे बड़ी कमाई की वस्तु है और युद्ध और युद्धोत्तर वर्षों में इसका निर्यात स्थिर बना हुआ है। विदेशी विनिमय की कमाई में जूट से यह दूसरे दर्जे पर है। भारत काली चाय पैदा करता है। उसका प्रधान प्रतिद्वन्द्वी लंका है। चीन और जापान की हरी चाय अधिकांशतः बाहर कर दी गई है, क्योंकि वह लोग, जो निरन्तर एक वर्ष तक काली चाय पीते हैं, हरी चाय पीने योग्य नहीं रहते। इसलिए, यह आशा की जाती है कि भारतीय चाय की निर्यात अपने अस्तित्व को बनाये रहेगी।

इंग्लैंड हमारा सबसे बड़ा ग्राहक है, जो हमारे जहाजी माल के कुल योग का ⅔ खपा लेता है। अमरीका उसके बाद आता है। कैनेडा को चाय के निर्यात में भी वृद्धि हुई है। आस्ट्रेलिया एक दूसरा अच्छा ग्राहक है, जो वर्ष में २ करोड़ रुपये की खरीद करता है। दुर्लभ मुद्रा के देशों को निर्यात में वृद्धि हुई है। भारत ने १९४९ में ४९२ मिलियन पौंड (७९ करोड़ रु०) के विपरीत १९५० में ३७६ मिलियन पौंड (७० करोड़ रु० की) चाय का निर्यात किया।

(५) **तिलहन और वनास्पति तेल**—भारत में उत्पन्न होने वाले तिलहनों में मूंगफली सबसे महत्वपूर्ण है। युद्ध-काल के वर्षों में भारत ने वनास्पति उद्योग की स्थापना की और साथ ही साबुन, वार्निश और रंगों के उद्योग का भी विस्तार किया। फलतः, घरेलू खपत के कारण तिलहनों की निर्यात में कमी हो गई। दूसरी ओर, वनास्पति तेलों के निर्यात में भारी वृद्धि हो गई है। बीजों के निर्यात में कमी का एक अन्य कारण यह है कि मूंगफली और खली की भारी खपत होने लगी है। तेलों और तिलहनों के निर्यात की स्थिति निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है:—

भारत का समुद्र-संवाहित व्यापार (रु० लाखों में) पुर्नानिर्यात को छोड़ कर

देश	१९३८			१९४९			१९५०		
	आयात	निर्यात	संतुलन +	आयात	निर्यात	संतुलन +	आयात	निर्यात	संतुलन +
कामन्वैल्थ से कुलयोग	२५,१६	७४,६४	+९.४८	२८४,५२	२३०.७६	—५३,७६	२,३२	२,७३	+४१
इंग्लैंड	४८,१२	५५,२०	+७,०८	१७३,२८	१११,९६	—६१,३२	१,०७	१,१९	+८
आस्ट्रेलिया	२,०४	३,००	+९६	२२,२०	२४,४८	+२,२८	४१	२८	—१३
पाकिस्तान	—	—	—	२३,०४	१९,९२	—३,१२	४	१४	+१०
कैनेडा	७२	२,०४	+१,३२	१३,८०	९,१२	+४,६६	११	१३	+२
विदेशों से कुलयोग	८८,३२	८७,००	—१,३२	३३७,०८	१९४,४०	—१४२,६८	२,६९	२,५०	—१९
अनरीका	११,४०	१३,४४	+२,०४	९९,८४	६८,५२	—३१,५२	१,००	९९	—१
ईजिप्ट	२,६४	१,६९	—९५	४३,९२	६,३०	—३७,६२	२७	७	—२०
ईरान	३,३६	७२	—२६४	३०,६०	५,०४	—२५,५६	३७	५	—३२
बर्मा	२२,६८	१०,०८	—१२,६०	१६,२०	९,३६	—६,८४	१२	२३	+११
कुलयोग	१५३,४८	१६१,६४	+८,१६	६२१,६०	४२५,१६	—१९६,४४	५,०१	५,२३	+२२

बीजों और तेलों का निर्यात (रु० करोड़ों में)

	१९३८	१९४९	१९५०
तिलहन	१५	९	१८
तेल	१	८	१३

(६) **तम्बाकू**—भारत में तम्बाकू पर्याप्त मात्रा में है। दुनियाभर में तम्बाकू पीने की वृद्धि हो रही है। सरकार और दक्षिण भारत की इंडियन सैंट्रल टुबैको कमेटी द्वारा आशातीत अन्वेषण कार्य हो रहा है और हमारे निर्यात बढ़ रहे हैं। इंग्लैंड हमेशा ही भारतीय तम्बाकू के लिए सबसे बढ़िया बाजार रहा है। डालर कमी के कारण अब भी इंग्लैंड बड़ी मात्रा में खरीद रहा है। कुल निर्यात नीचे लिखे अनुसार है:—

तम्बाकू का निर्यात (रु० करोड़ों में)

	१९३८	१९४९	१९५०
तम्बाकू	२·६	१०	१६

(७) **खालें, कच्ची और पक्की**—युद्ध-पूर्व वर्षों में भारत बहुत बड़ी संख्या में कच्ची खालों का निर्यात करता था। युद्धकाल में समुद्रपार भेजने के लिए महान् जहाजी कठिनाइयां थीं। फलतः, धीरे-धीरे भारत में खालें पकानें (Tanning) के उद्योग की स्थापना हुई। युद्ध के बाद सरकार ने पुनः उनकी निर्यात का निर्णय किया, किन्तु भारत के विभाजन ने उपलब्ध संख्या में न्यूनता उत्पन्न कर दी। फलस्वरूप दुर्लभ मुद्रा देशों के अतिरिक्त कच्ची खालों के निर्यात पर रोक लगा दी गई। पकी हुई खालों का, तिस पर भी, स्वतन्त्रतापूर्वक निर्यात होता रहा। भारतीय खालों की बहुत मांग है। इस दिशा में इंग्लैंड, अमरीका, जर्मनी और फ्रांस हमारे बढ़िया ग्राहक हैं। कुल निर्यात निम्न प्रकार है:—

खालों का निर्यात (रु० करोड़ों में)

	१९३८	१९४९	१९५०
कच्ची खालें और चाय	४	६·३	९
साफ की हुई खालें	५	१५	२३

(ब) **आयात।** आइये, अब हम भारत की आयात-वस्तुओं पर विचार करें। पृ० ३१३ की तालिका भिन्न वर्षों में हमारी आयात की कुछ चुनी हुई मदों की कीमतें प्रकट करती हैं।

भारत में निजी व्यापारिक वस्तुओं की आयात का व्यापार १९४९ में ६३० करोड़ रुपये के उच्च-स्तर तक पहुंच गया था, किन्तु १९५१ के पहले ९ महीनों ने तो इस स्तर को भी मात कर दिया और सितम्बर १९५१ के अन्त तक वह स्तर ५६२ करोड़ रुपये तक जा पहुंचा। १९५० की आयात ५०५ करोड़ रुपये की थीं, यह निम्न स्तर, प्रधानतः १९४९ की आखिरी तिमाही में भारतीय करेंसी में न्यूनता करने और आयात व्यापार पर कठोर नियंत्रण के कारण था। आयात में उच्च प्रवृत्ति का कारण खाद्य और बहुमूल्य वस्तुओं की अनिवार्य आवश्यकता थी। यह जान पड़ता है कि १९४५ में ९० करोड़ रु० की तेल की आयात में कमी होकर १९५० में ५९ करोड़ रुपये की रह गई, किन्तु अभी तक यह मद बहुत बड़ी है। इस मद में न्यूनता होने की अभी संभावना नहीं, क्योंकि भारत में सड़कों और हवाई आवागमन की वृद्धि हो जाने से हवाई जहाजों और मोटरों के तेल की खपत में वृद्धि होकर रहेगी। १९५० में आयात की अन्य महत्वपूर्ण मदें ६६ करोड़ रुपये के खाद्य

अन्नों, ७२ करोड़ रुपये की कच्ची कपास, ८६ करोड़ रुपये की मशीनें, रसायन और औषधियां १५ करोड़ रुपये, मोटर कारें २१ करोड़ रुपये, लोह-इतर निर्मित वस्तुएं २६ करोड़ रुपये ओर रंग ओर रोगन ११ करोड़ रुपये। कपास और ऊनी तार तथा निर्मित वस्तुओं की आयात १९३८ में १७ करोड़ से गिर कर ४ करोड़ रुपये तक आ गई।

कुछ चुनी हुई वस्तुओं की आयात (रु० लाखों में)

समूह	वस्तु	१९३८	१९४५	१९४९	१९५०
समूह १ : खाद्य, पेय और तम्बाकू	१. अनाज, दालें ओर आटा	१०,८३	९,५५	१०६,०८	६६,३९
	२. रसद	२,५५	१,४६	९,२७	५,७७
	३. मद्य	१,७४	१,३४	१,६६	१,००
	४. तम्बाकू	१,०४	३,६७	२,१८	२,५७
	५. मसाले	२,३७	१,४९	४,१३	४,८८
समूह २ : कच्ची वस्तुएं और मुख्यत: अनिर्मित वस्तुएं	१. कच्ची कपास	११,०७	२४,४९	७६,७७	७१,७६
	२. तेल (खनिज)	१६,२८	९०,२९	५८,०१	५८,९२
	३. ऊन	७२	२,१५	३,८०	४,३२
	४. धातुहीन वस्तुएं	१,८९	६,५९	२,९०	२,८२
	५. ऊन ओर लकड़ी	२,६९	४	३,४७	१,८७
समूह ३ : मुख्यत: निर्मित वस्तुएं	१. मशीनें	१९,८१	१९,७४	१०७,५७	८६,०२
	२. गाड़ियां	६,७६	७,७४	२९,२९	२०,५८
	३. सूती तार और कपड़ा	१४,६१	१,४८	२५,१६	२,२१
	४. रसायन और औषधियां	५,७३	९,५४	२१,२४	१५,६०
	५. लौह-इतर धातुएं	४,२०	५,४१	२०,१९	२६,०५
	६. कैंची-छुरी आदि ओर औजार	५,८३	५,२३	१९,४९	११,९७
	७. बिजली की वस्तुएं	३,३३	४,२३	१५,०७	८,६९
	८. कागज	३,९१	५,०३	१४,५८	७,८३
	९. लोहा और इस्पात की वस्तुएं	६,४५	६,३९	१३,९२	१६,३५
	१०. रंग और रोगन	३,८२	१०,१७	१२,४२	१०,५९
	११. ऊनी तार और निर्मित वस्तुएँ	२,२६	८७	७,३९	१,५२

(अ) थल द्वारा पाकिस्तान से आयात सम्मिलित नहीं हैं। उन्हें भारत-पाकिस्तान व्यापार शीर्षक में अलग दर्शाया गया है। (ब) १९४५ तक के संयुक्त भारत के आंकड़े हैं और बाद के केवल भारतीय जनतन्त्र के।

जलाने और मशीनों में डालने का तेल अधिकांशतः ईरान से आता है। भारत जीवों के तेल का अधिक आयात नहीं करता। वनास्पति तेलों के लिए हमारा स्रोत लंका है, जहां से एक करोड़ के लगभग के यह तेल आते हैं। इंग्लैंड और अमरीका से मुख्यतः हमें सब प्रकार की मशीनें, कपड़े सम्बन्धी, बिजली सम्बन्धी और धातु सम्बन्धी प्राप्त होती हैं। वस्तुतः, निर्मित वस्तुओं की हमारी अधिकांश आवश्यकताएं इन्हीं दो देशों से पूरा होती हैं।

भारत अमरीका, अर्जन्टाईना, कैनाडा, आस्ट्रेलिया, पाकिस्तान, टर्की, ईजिप्ट, रूस और बर्मा से खाद्य अन्नों की आयात कर रहा है। यहां तक कि हमारी महती आवश्यकता को पूरा करने के लिए इटली भी अपना अंश देता है।

विदेशों से कच्ची कपास की आयात १९३८ में ११ करोड़ से बढ़ कर १९५० में ७२ करोड़ रुपये की हो गई थी। यह उन इलाकों के कारण हुआ कि जिन्होंने कपास के तार में विशिष्टता प्राप्त कर ली थी, और वह इलाके पाकिस्तान को चले गए। इसलिए भारत को पाकिस्तान, ईजिप्ट, केनिया, टांगानियाका और सूडान से कपास की आयात करनी पड़ी।

आस्ट्रेलिया, कैनेडा, स्विट्जरलैंड, बैल्जियम, इटली और जापान ने भी भारत की निर्मित वस्तुओं की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपना-अपना भाग पूर्ण किया।

१२. व्यापार का संतुलन । भारत क व्यापार का संतुलन प्रायः सदैव अनुकूल होता था। १९३१ से आरम्भ होकर, मंदी के वर्षों में, धीरे-धीरे अनुकूल संतुलन कम होता गया। इसके बाद उस कमी को पूरा करने के लिए उसने सोने का निर्यात आरम्भ कर दिया। इन वर्षों में अनुकूल संतुलन के लिए अत्यावश्तक कारण यह था कि भारत को "घरेलू व्ययों" (Home Charges) की मद को पूरा करना होता था, जो ३२ से ४० करोड़ रुपये वार्षिक में चलती-फिरती थीं—और यह भुगतान की एक बड़ी राशि थी। यदि भारत किसी वर्ष में निजी खाता की वस्तुओं के व्यापार में उतने अतिरिक्त का उपार्जन नहीं कर सकता था, तो उसे अंतर को पूरा करने के लिए सोने की निर्यात करनी होती थी।

१९३१-३२ से १९३९-४० तक भारत को अपने निर्यात की कीमत में हुई गिरावट को पूरा करने के लिए ३६२ करोड़ रुपये तक का सोना निर्यात करना पड़ा था।

घरेलू व्यय (Home Charges)—आखिर यह व्यय है क्या कि जिन्होंने भूतकाल में भारतीय सरकार की आर्थिक और विनिमय नीति को आच्छादित कर रखा था? इंग्लैंड ने भारत से प्रति वर्ष भुगतान लेने होते थे। इन भुगतानों के लिए भारत को अनुकूल संतुलन चाहिए था। इन भुगतानों की अक्सर 'सम्पत्ति के निकलने की मोरी' के रूप में आलोचना की जाती थी; यह एक प्रकार की भेंट थी, जो राजनीतिक प्रभुत्व के कारण भारत इंग्लैण्ड को देता था।

रेलों और कृषि योजनाओं को धन देने के लिए इंग्लैण्ड में लिये ऋणों का व्याज—जब यह ऋण खड़े किये गए थे, तब भारत में पर्याप्त पूंजी नहीं थी। दूसरे भारत की अपेक्षा लंडन में बहुत कम ब्याज था। सभी देश, जिन्हें बड़ी-बड़ी योजनाओं के लिए पूंजी की दरकार थी, उन दिनों रुपयों के कर्जे के लिए लंडन गये। कुछ अर्थ-शास्त्रियों ने सरकार पर ऋण लिये धन के दुरुपयोग का आरोप लगाया

है। किन्तु व्यक्तिशः रूप में लोगों ने भी कठोर श्रम द्वारा उपार्जित धन को खर्च करने में भूलें की हैं। सम्भव था, कि यदि ऋणों का उचित प्रबन्ध हो पाता, तो भारत रेल की सड़कें या नहरें कुछ अधिक मील की बना लेता। किन्तु, केवल यही तो एक दोष है, जो सरकार को मढ़ा जाता है। इन व्ययों को किसी भी रूप में 'मोरी' (drain) नहीं कहा जा सकता।

(ब) राजस्व के विरुद्ध सरकारी स्टोरों पर व्यय—एक अर्से से, यथासम्भव सरकारी सामान की भारत से खरीद होती थी, किन्तु इससे पूर्व इंग्लैण्ड में इस मद पर काफी बड़ी रकम खर्च करनी होती थी।

(स) छुट्टी और विश्राम के भत्ते, सब प्रकार की पेंशनें और सुविधाएं और लंडन में भारत के हाई कमिश्नर को बनाये रहने तथा इंडिया आफिस का व्यय—भारत में काम करने वाले ब्रिटिश असैनिक अफसरों को पेंशनें और सुविधाएं दी जाती थीं, भारतीयकरण का प्रश्न, बेशक प्रमुख था, किन्तु अब भी योरोपियनों की एक पर्याप्त संख्या थी, जिन्हें भुगतान करना होता था।

(द) फौजी और जहाजी व्यय—भारत में ब्रिटिश फौज की यह कह कर आलोचना की जाती थी कि भारत की रक्षा के लिए यह बहुत बड़ी है। यदि इसे शाही उद्देश्यों के लिए रखा जाता है, तो इंग्लैण्ड को भी इसका एक अंश देना चाहिए। १९३४ में ब्रिटिश सरकार ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया और भारत में फौज रखने के लिए दो करोड़ रुपये वार्षिक देना शुरू कर दिया। १९३८ तक भारत ब्रिटिश राजकोष (British Exchequer) को जहाजी रक्षा के लिए एक लाख पौंड वार्षिक देता रहा, जब यह अंश देना किया गया था, तो शर्त यह थी कि भारत के ६ सशस्त्र रक्षक जहाज़ रहेंगे।

आलोचना का दूसरा आधार यह था कि भारतीय सिपाही की अपेक्षा ब्रिटिश सिपाही महंगा है। इस बार के युद्ध में भारतीय फौजों के कार्यों ने यह साबित कर दिया है कि भारतीय सिपाही लड़ाके के रूप में दुनिया में किसी से पीछे नहीं।

जो भी हो, यह बधाई की बात है कि इस युद्ध के दौरान में ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में महान् खरीददारियों के कारण हमारा स्टर्लिंग सम्बन्धी सारा ऋण चुक गया है। भारत ऋणी देश की जगह साहूकार देश बन गया।

स्टर्लिंग सम्पत्ति के एक अंश के साथ, जो भारत का जमा था, इस देश में नौकरी करने वाले ब्रिटिशों की पैन्शनों और प्राविडैंट फंडों को पूंजी का रूप दे दिया गया। रेल की एनूटीज़ (Annuities) को भी पूंजी का रूप दे दिया गया और १४ करोड़ रुपये ब्याज रूप में बट्टे डाले गये।

घरेलू व्ययों में सम्मिलित चार ऊपरलिखित मदों के अतिरिक्त, भारत को कुछ अन्य भुगतान भी करने पड़ते थे। उदाहरण के लिए, (१) भारत में निजी विदेशी पूंजी की एक बहुत बड़ी रकम लगी हुई थी, उसका ब्याज और लाभ भी देश से बाहर चला जाता था। आयात पर हमारे निर्यात का आधिक्य अधिकांशतः इस मद में गिना गया था, (२) इसके अतिरिक्त, विदेशी जहाजी कम्पनियों, बैंकरों और कमीशन एजेंटों की सेवाओं के बदले भी भुगतान करना था। इन्हें छोड़, भारत में काम करने वाली विदेशी बीमा कम्पनियों के प्रीमियमों (चंदों) की बहुत बड़ी रकम थी।

ऊपरलिखित युक्तियों को दृष्टि में रखते हुए यह विचार कि 'घरेलू-व्यय' "सम्पत्ति की मोरी" अथवा एक अधीन देश की ओर से मालिक को "भेंट" थी, सर्वथा अर्थ-हीन है। इसके साथ ही, यह भी मानना पड़ेगा कि शिकायत के लिए भी उचित आधार थे।

१३. विभाजन के बाद प्रतिकूल संतुलन। कारण—द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व और विशेषकर युद्ध के दिनों में, भारत के निरन्तर अनुकूल संतुलन थे। इसलिए यह आश्चर्य की बात है कि एकाएक, युद्ध के बाद, उसके भुगतानों का संतुलन प्रतिकूल हो गया। आइये, इसके कारणों पर विचार करें।

(१) युद्ध-काल में भारत आयात की अपेक्षा वस्तुओं का निर्यात अधिक करता था। उसे अन्तर स्टर्लिंग सम्पत्ति के रूप में चुकाया जाता था, जिसका परिचलन मुद्राविस्तार में हो गया, अर्थात् वस्तुओं के मुकाबिले में रुपयों का परिचलन अधिक था। भारत बिक्री की दृष्टि से अच्छा देश बन गया और खरीद की दृष्टि से बुरा।

(२) भारत खाद्य-अन्नों की वृहद् आयात करने वाला बन गया। यह अनेक कारणों से हुआ। बर्मा जो चावलों की ही निर्यात करने वाला था, अब भारत का अंग नहीं रह गया। भारत की जनसंख्या ४० लाख प्रति वर्ष के हिसाब से बढ़ रही है। भारत के खाद्य अन्नो के जो आधिक्य के क्षेत्र थे, वह पश्चिमी पंजाब और सिंध, अब पाकिस्तान के भाग हो गए थे। इसके परिणामस्वरूप भारत को डालर क्षेत्रों से खाद्यअन्नों की भारी संख्या में आयात करनी पड़ी और इन क्षेत्रों के साथ उसके व्यापार का संतुलन पहले से ही प्रतिकूल है।

(३) भारत और पाकिस्तान रूप में हमारे देश का विभाजन भी हमारे प्रतिकूल संतुलनों के लिए उत्तरदायी है। हम जूट, कपास, खालों आदि कच्चे मालों का बड़े परिमाण में निर्यात नहीं कर सकते, जैसा कि पहले हम किया करते थे। वस्तुतः, इनमें से कुछेक की हमें विदेशों से आयात करनी पड़ती है, ताकि हमारी मिलें (कारखाने) चल सकें। इस प्रकार १९४९ में हमने न केवल स्टर्लिंग सम्पत्ति द्वारा मुक्त हुई समस्त राशि को खर्च कर डाला, प्रत्युत मशीनरी, औद्योगिक कच्चे मालों और भोक्ता वस्तुओं पर और ज्यादा खर्च कर डाला। सितम्बर १९४९ में रुपये की कीमत घटाने के बाद, भारत-पाकिस्तान का व्यापार एकदम रुक गया। पाकिस्तान ने भारतीय वस्तुओं पर कर लगा दिये और उसके कपड़े का बहिष्कार कर दिया। उसने कच्ची जूट देने तक से इंकार कर दिया, जिसके लिए भारत भुगतान कर चुका था। चूंकि पाकिस्तान ने रुपये की कीमत घटाई नहीं थी, इसलिए भारत के लिए उसकी वस्तुएँ खरीदना बहुत महंगा था। इन्हीं कारणों से भारत से पाकिस्तान को निर्यात पर कर तथा अन्य प्रतिबन्ध लगाये गये। पाकिस्तान के साथ भारत के अपने व्यापार के सन्तुलन में भारी घाटा था। और यही दशा शेष दुनिया के साथ भी थी।

(४) भारत में धन-राशि की अधिक आय के कारण, आयात वस्तुओं और उसके साथ ही देश में उत्पादित वस्तुओं की अधिक माँग थी। इस प्रकार, निर्यात योग्य आधिक्य लघुतर हो गया था और पहले जिन वस्तुओं की भारी संख्या में निर्यात होती थी, वह लघुतर संख्या में निर्यात होने लगीं। तिलहन, कच्चा लोहा, कच्ची कपास आदि इसी श्रेणी में थे।

(५) वस्तुओं के मुकाबिले म भारत में धन का अधिक परिचलन होने के कारण, उत्पाद-मूल्य अपेक्षाकृत ऊंचा था। फलस्वरूप, यदि मजूरी इतनी अधिक न हो गई होती, तो उस दशा की अपेक्षा निर्यात का परिमाण पर्याप्त रूप में न्यून हो गया होता।

जो उपचार किए गए—इस तथ्य ने, कि भारत के व्यापार का सन्तुलन न केवल दुर्लभ मुद्रा क्षेत्रों के साथ प्रतिकूल था, प्रत्युत स्टर्लिंग देशों के साथ भी था, भीषण परिस्थिति के लिए लोगों की आँखें खोल दीं। सरलतापूर्वक इसका उपचार यह बताया गया कि "कम आयात—अधिक निर्यात।" "अधिक निर्यात" का अर्थ "अधिक उत्पाद" है जो अधिक मशीनों के बिना नहीं हो सकता और भारत उनका उत्पाद नहीं कर सकता। फलस्वरूप, "कम आयात" की तजवीज शंकित होकर ग्राह्य हो सकती थी। अधिकाँश स्थितियों में विदेशों में हमारा व्यय अनिवार्य है और उसका निपटारा केवल उत्पाद और अपने लोगों के श्रम से पूरा किया जा सकता था। फलतः, हमें अपने व्यापार के लिए अल्पकालिक और दीर्घ-कालिक, दोनों ही योजनाओं की आवश्यकता है। भारत सरकार ने जिन विधियों को अपनाया, आइये, उन पर विचार करें।

(१) **निर्यात सम्बन्धी यत्न**। भारत सरकार निर्यात में वृद्धि के लिए चिन्तित थी। तदनुसार उसने, १९४९ में गोरवाला निर्यात प्रोत्साहन समिति (Gorwala Export Promotion Committee) की स्थापना की और निम्न रूप में उसका सिफारिशों को कार्यान्वित किया:—

(क) जूट तथा अन्य वस्तुओं के सट्टे को रोक दिया कि जिनकी प्रवृत्ति जुए में गतिशील होती थी।

(ख) निर्यात नियन्त्रणों में, विशेषकर निर्मित वस्तुओंसे सम्बन्धित, उदारता कर दी गई और लाइसैंसों का तरीका सरल कर दिया गया। कोटे की समाप्ति तक नियत कोटे के भीतर स्वतन्त्रतापूर्वक वस्तुओं का निर्यात होता था।

(ग) निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के निर्माण के लिए नियंत्रित कच्चा माल पैकिंग का सामान और यातायात की सुविधाएँ दी गई थीं।

(घ) इस बात का विश्वास दिलाने के प्रबन्ध किये गए थे कि भारतीय वस्तुओं में कोई शिकायत नहीं, और यदि कोई हुई तो, उस पर तत्काल कार्यवाही की जायगी।

(ङ.) यदि आवश्यता हुई तो, सरकार निर्यात-करों का संशोधन करेगी और निर्यात होने वाली वस्तुओं पर प्रान्तीय बिक्री टैक्स भी नहीं लगाये जायँगे।

सरकार ने निर्यात नियन्त्रण नीति के विषय में राय देने के लिए निर्यात परामर्शदातृ कौन्सिल की स्थापना की थी। प्रत्येक ६ मास बाद निर्यात नीति का सिंहावलोकन किया जाता है और प्रचलित अवस्थाओं के अनुसार वस्तुओं के निर्यात पर रोक लगाई जाती है या प्रोत्साहन दिया जाता है। घरेलू खपत के लिए आवश्यक कच्चे मालों को निर्यात पर कच्ची ऊन की तरह रोक लगा दी गई थी।

(२) **आयात नियन्त्रण नीति**—डालर सुरक्षित रखने के लिए डालर और दुर्लभ मुद्रा क्षेत्रों से आयात पर रोक लगा दी गई थी। स्टर्लिंग देशों के साथ घाटा होने के कारण, स्टर्लिंग देशों की आयात पर भी वैसी ही रोक लगा दी गई थी, प्रत्येक ६ मास बाद विदेशी विनिमय के प्रसाधनों की स्थिति का अवलोकन किया जाता था

और आगामी अर्ध-वर्ष का कार्यक्रम इस ढंग से बनाया जाता था कि उपलब्ध विदेशी प्रसाधनों पर अतिरिक्त व्यय न हों। साथ ही सरकार ने आयात-व्यापार नियन्त्रण पर अमल करने के विषय में परामर्श देने के लिए आयात-परामर्शदातृ समिति नियत की थी। इस प्रकार की वस्तुओं का प्रबन्ध करने के लिए उन्हें अनेक वर्गों में विभाजित कर दिया गया था, उनमें से कुछेक को सुलभ मुद्रा देशों से (Open Genral License) ओ० जी० एल० (खुले लाइसेंस) में रखा गया था; अन्यों के लिए डालर क्षेत्रों से उदारतापूर्वक लाइसेंस दिए जाते थे; कुछ ऐसी भी अन्य वस्तुएँ थीं, जिनके लिए लाइसेंस नहीं मिलता था और अन्त में ऐसी वस्तुएँ थीं, जिनके लिए आर्थिक सीमाएँ नियत कर दी गई थीं; जिनके अन्दर-अन्दर उन वस्तुओं को दुर्लभ या सुलभ मुद्रा देशों अथवा दोनों से ही आयात की जा सकती थी। ऐसी सूचियाँ बनाते समय बहुमूल्य वस्तुओं, कच्चे पदार्थों और आवश्यक भोक्ता वस्तुओं को "प्राथमिकता" दी गई थी।

(३) **अधिक उत्पाद**—जैसे कि ऊपर व्याख्या की गई है, भुगतानों के संतुलन में घाटे केवल विदेशी व्यापार को नियमित करने द्वारा पूरे नहीं हो सकते, क्योंकि यह तो केवल अस्थायी रूप से रोग को दबाना मात्र है, वास्तविक इलाज तो देश के उत्पाद की वृद्धि करना है। सरकार ने इस सिद्धान्त की शक्ति को महसूस किया और उत्पाद को विस्तार देने के लिए यत्न आरम्भ किये। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कई एक बहु-मुखी कौशलों की योजना बनाई गई। खाद्य की खाई को पूर्ण करने के अतिरिक्त बेकार पड़ी जमीन को ट्रैक्टर मशीनों की सहायता से खेती योग्य बनाने के लिए निरंतर यत्न हो रहे हैं ताकि भारत को कपास और जूट के लिए पाकिस्तान की निर्भरता से मुक्ति दिलाई जा सके।

(४) **मुद्रा-अवमूल्यन**—सितम्बर १९४९ में सरकार ने महसूस किया कि उसकी निर्यात में वृद्धि की कोशिशें असफल हो रही हैं और डालर तथा स्टर्लिंग, दोनों प्रकार के बाहरी देशों के साथ व्यापार में घाटा बढ़ रहा है। अन्य स्टर्लिंग देश भी उसी स्थिति में थे और ब्रिटिश साम्राज्य का डालर-कोष रिक्त था। इस स्थिति को ठीक करने के लिए इंग्लैण्ड ने अपनी मुद्रा की ३०·५ प्रतिशत कीमत घटा दी और स्टर्लिंग देशों ने उसका अनुसरण किया। उस समय से जो व्यापारिक संतुलन की स्थिति थी, वह निम्न तालिका से स्पष्ट है :—

कुल व्यापार का प्रत्यक्ष संतुलन (रु० लाखों में)[1]

१९३८-३९	+२५,६५	अप्रैल	१९५१	—३,२४
१९४९-५०	—७५,२९	मई	"	+१५,८३
१९५०-५१	+३६,०२	जून	"	—७,१६
		जुलाई	"	—९,०१
		अगस्त	"	—६,८२
		सितम्बर	"	—६,८२

रुपए का मूल्य घटाने का भारत के विदेशी व्यापार पर आशातीत प्रभाव हुआ। इसका सम्पूर्ण फल तो केवल वर्षों के अनन्तर ही जाना जा सकता है, किन्तु तात्कालिक प्रभाव निम्नलिखित है:—

1. Reserve Bank of India Bulletin for Dec, 1951.

(क) आयात पर—डालर तथा अन्य दुर्लभ मुद्रा क्षेत्रों ने अपनी मुद्रा की कीमत नहीं घटाई, जबकि स्टर्लिंग क्षेत्रीय-देशों ने, पाकिस्तान को छोड़कर, अपनी मुद्रा का मूल्य घटाया था। इन क्षेत्रों की आयात पर रुपये के बिलमुकाबिल ४४ प्रतिशत तक की अधिक लागत हुई। हमें इन देशों की आयात की सूची में से उन वस्तुओं को निकाल देना पड़ा कि जो अनावश्यक थीं। जो भी हो, हम मशीनों और तत्सम्बन्धी सामान को तो काट नहीं सकते थे, और उनके लिए हमें अधिक देना पड़ा।

भारत की निर्यात पर मुद्रा अवमूल्यन का प्रभाव निम्न तालिका द्वारा अध्ययन किया जा सकता है।

दुर्लभ तथा सुलभ मुद्रा देशों को भारतीय वस्तुओं की निर्यात (रु० करोड़ों में)

निर्माता	दुर्लभ मुद्रा वाले क्षेत्र		सुलभ मुद्रा वाले क्षेत्र	
	रुपये की कीमत घटाने से पहले अक्तूबर ४८ से सितम्बर ४९ तक	रुपए की कीमत घटाने के बाद अक्तूबर ४९ से सितम्बर ५० तक	रुपये की कीमत घटाने से पहले अक्तूबर ४८ से सितम्बर ४९ तक	रुपये की कीमत घटाने के बाद अक्तूबर ४९ से सितम्बर ५० तक
जूट	५६	६४	७५	५८
कच्ची जूट	३	१	१५	७
कच्ची रुई और खुदरा	३·५	११	११	११
सूती कपड़ा	—	—	३१	८२
खालें और कच्चा चमड़ा	१·५	९	४	३
खालें और चमड़ा	·४	२·६	१२	२०
मसाले	३	११	७	९
लाख	३	४	४	५
चाय	७	१३	६२	५७
कच्ची काली धातु	२	५·५	·१	१·५
तेल और तेल के बीज	—	—	११	१५
अभ्रक	३	७	१	२
तम्बाकू	—	—	९	१५
मिश्रित	१५	१७	७८	७८
योग	९६	१३९	२९८	३६३

(२) **निर्यात पर**—भारतीय वस्तुएं डालर की तुलना में सस्ती हो गईं। अमरीकी उसी मूल्य से उन्हें अधिक संख्या में खरीद सकते थे। किन्तु क्या प्रत्येक जिन्स पर उपलब्ध डालरों की संख्या में विरोधी संतुलन की अपेक्षा बढ़ी हुई बिक्री कमी कर सकेगी ? स्पष्ट ही है कि यदि मांग लोचदार है और डालर की कीमत में अपेक्षाकृत गिरावट से वृद्धि अधिक है, तो हमें लाभ होता है। यदि मांग लोचदार नहीं और बढ़ी हुई मांग डालर की गिरी हुई कीमत के समान नहीं, तो हमें हानि होती है। पहली दशा में निर्यात-कर हमारे डालर-उपार्जन की वृद्धि के लिए हुआ। ऐसा कर जूट की वस्तुओं पर लगाया गया था।

सुलभ मुद्रा देशों को जाने वाली हमारी निर्यात पर रुपये की कीमत घटाने के प्रभाव का उसी रूप में अध्ययन करते हुए हम निर्णय कर सकते हैं कि उनकी प्रवृत्ति वृद्धि की होगी, क्योंकि इन देशों को डालर क्षेत्रों से वस्तुएं खरीदना महंगा पड़ेगा और उसकी जगह वह भारत अथवा अन्य सुलभ क्षेत्र के देशों की ओर रुख करेंगे बशर्ते कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति वहां से कर सकें। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्टर्लिंग देशों को हमारी सूती कपड़े और अन्य वस्तुओं की निर्यात असाधारण रूप में बढ़ गई है।

यदि हम निम्न तालिका को देखें, तो हम वैसा ही निर्णय कर सकेंगे :—

भारत के भुगतानों का संतुलन (रु० करोड़ों में)
(पाकिस्तान को छोड़ कर)

	१९४९						१९५०					
	पहले ६ मास			दूसरे ६ मास			पहले ६ मास			दूसरे ६ मास		
	प्रा.	भु.	सं.	प्रा.	भ.	सं.	प्र.	भु.	सं.	प्रा.	भु.	सं.
स्टर्लिंग क्षेत्र	+ १५७	२२५	−९८	१५६	१७६	+ २०	१८६	१६१	+ २५	२१८	१८४	+ ३४
दुर्लभ करैसी क्षेत्र	+ ६२	१२१	−५९	७७	७१	+ ६	८८	९७	−९	९८	६०	+ ३८
अन्य क्षेत्र	+ ४१	९९	−६८	४१	६३	−१२	३८	४७	−९	५०	६८	−१८

यह निष्कर्ष निकालना उचित न होगा कि पहले ६ मासों में भारत के भुगतानों के संतुलन में वृद्धि पूर्णतः रुपए कीमत घटाने के कारण हुई। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बहुत सहायक थी। कोरिया में युद्ध छिड़ने का मुख्य प्रभाव था। राशि-संग्रह के आधिक्य के कारण भारतीय वस्तुओं की मांग और उनकी कीमतों में वृद्धि हुई। उन्हीं कारणों से हमें हमारी आवश्यकता की सब औद्योगिक कच्ची वस्तुओं और बहुमूल्य वस्तुओं को प्राप्त करने में कठिनाई हुई। आयातों पर और भिन्न देशों को निर्यात के लिए लाइसैंसों पर सरकारी नियंत्रणों ने इस प्रवृति को सहायता दी और व्यापार का रुख ऐसी दिशाओं में कर दिया कि जिनसे भारत को अधिकाधिक लाभ की आशा हो सकती थी।

व्यापार का राष्ट्रीयकरण—व्यापार में राज्य का हस्तक्षेप कोई नयी बात नहीं। संकटकाल में अनेक देश ऐसा करते रहे हैं। भारत भी रूस, पाकिस्तान और अर्जेन्टाइना देशों के साथ वस्तु विनिमय का व्यापार करता रहा है। सरकार भी विदेशी व्यापार में, मुख्यतः भारतीय निर्यात करने वालों के विक्षिप्त उपायों के कारण, किंचित हस्तक्षेप की आवश्यकता को अनुभव कर रही है। सरकार निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के वर्गीकरण, चिह्नित करने और उनकी अवस्था को उन्नत करने की आवश्यकता का अनु-

भव कर रही है। फलस्वरूप, उसने राज्य व्यापार पर सिफारिशें करने के लिए देशमुख कमेटी की स्थापना की। कमेटी ने १९५० में अर्ध-सरकारी कार्पोरेशन के निर्माण की तजवीज़ की, जिसकी प्रारम्भिक पूंजी दो करोड़ रु० की हो और वह खाद्य, कोयला इस्पात, कपास, कृषि और सूती औद्योगिक उत्पादों सम्बन्धी भारत के विदेशी व्यापार का नियंत्रण करे। विश्वास किया जाता है कि कमेटी ने भारत के बैंकिंग, जहाजी और बीमा व्यवसाय का प्रगतिशील राष्ट्रीयकरण तथा ग्राम सहकारिता समिति की स्थापना की तजवीज़ की थी। तिस पर भी, देश भर में यह आम विचार है कि अभी विदेशी व्यापार का सारा राष्ट्रीयकरण उचित नहीं और सरकार व्यापार के केवल उन्हीं भागों पर नियंत्रण करें कि जिन्हें वह सफलतापूर्वक हथिया सकती है।

१४. भारत का "अन्तरेन्दरी" व्यापार। आन्तरिक और विदेशी व्यापार की दो किस्मों के अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार का भी व्यापार है। भारत पश्चिम और पूर्व के बीच व्यापार के लिए अत्यधिक सुविधाजनक स्थिति में है। चीन और ईस्ट इंडीज और लंका से योरोप को जाने वाली वस्तुओं को ठहराव के लिए सुविधाजनक स्थान मिलता है। उसी प्रकार, योरोप से आनेवाली वस्तुओं का भारतीय बंदरगाहों से विभाजन होता है।

तिब्बत, नेपाल और अफगानिस्तान सरीखे देश भी हैं, जिनका निजी समुद्री किनारा नहीं। उनके निर्यात और आयात भी भारत के मार्ग से होते हैं। तिब्बत से ऊन और खालें लाहौल और कुल्लू की राह भारत में आते हैं और विदेशों में भेजे जाते हैं। बदले में कपड़ा, खांड, चाय, मसाले, आदि विदेशी वस्तुएं भारत की राह से जाती हैं।

भारतीय पुनर्निर्यात १९२३-२४ तक बढ़ती रही और उसके बाद १९३३-३४ तक गिरती रही। धीरे-धीरे अब वह पुनः उन्नत हो गयी है। निम्न तालिका यह स्पष्ट करती है :—

पुनर्निर्यात (रु० करोड़ों में)

वर्ष	रु०	वर्ष	रु०
१९२०	१८	१९४५	२४
१९३१	३	१९४६	२३
१९३८	७	१९४९	१३
		१९५०	२०

भारत के "अन्तर्बन्दरी" व्यापार का भविष्य कुछ उज्ज्वल नहीं दिखाई देता, क्योंकि प्रत्येक देश दूसरे के साथ सीधे सम्बन्ध बनाना चाहता है। केवल वही देश, जो भारत की सीमाओं से उस पार हैं, और जिसके पास समुद्र-तट नहीं है, भारत को अपने निर्यात और आयात के लिए उपयोग में लायेंगे। हाल ही में, द्विमुखी आधार पर भारत और अफगानिस्तान के बीच एक व्यापार संधि हुई थी। इसके फलस्वरूप हमारी विशिष्ट वस्तुओं का अफगानिस्तान की वस्तुओं के साथ आदान-प्रदान होने लगा है।

अफगानिस्तान के साथ भारत के व्यापार का संक्षिप्त अध्ययन भी मनोरंजक होगा। अफगानिस्तान का सामुद्रिक सीमांत नहीं है। यद्यपि भारत इस समय उसका प्राकृतिक पड़ोसी नहीं है, तथापि उसके भारत के साथ राजनीतिक सम्बन्ध पाकिस्तान की अपेक्षा अच्छे हैं। फलस्वरूप दोनों देशों के बीच पर्याप्त व्यापारिक सम्बन्ध हैं।

कुल औसत व्यापार,	प्रतिवर्ष,	१९०० से १९०५	रु० १, ३० लाख
"	"	१९३७-३८	रु० ५, ८७ लाख
"	"	१९४९	रु० २, २९ लाख
"	"	१९५०	रु० ३, ७५ लाख

युद्ध-काल में अफगानिस्तान के भारतीय निर्यातों में वृद्धि हुई। भारत अफगानिस्तान को कपास, चाय, चमड़े की वस्तुएं, वैज्ञानिक प्रसाधन, रबड़ की वस्तुएं, खांड, रेशम की निर्मित वस्तुएं और पशु भेजता है और बदले में मुख्यतः फल, बादाम, वनास्पातियां खालें और फरें, मसाले और ऊन खरीदता है। अब अफगानिस्तान के साथ भारत के व्यापार में वृद्धि होने का उतना क्षेत्र नहीं रह गया, क्योंकि दोनों के बीच पाकिस्तान आ गया है।

१५. भारत के विदेशी व्यापार का आदर्श। भविष्य में भारत के व्यापार का आदर्श उसके औद्योगीकरण की निष्ठा और चरित्र पर निर्भर होगा। यह देखा गया है कि १९४९ में भारत के भुगतान का संतुलन प्रतिकूल था। इसे सुधारने के लिए, सितम्बर १९४९ में स्टर्लिंग के मूल्य में न्यूनता करने का अनुसरण करते हुए भारत ने अपने रुपये की कीमत घटाई। धीरे-धीरे प्रतिकूल संतुलन कम हुआ और अन्त में अनुकूल रूप में परिवर्तित हो गया। इस प्रकार १९५० में, निर्यातों में तो वृद्धि हुई और आयातों में न्यूनता। यह परिवर्तन, तिसपर भी, सम्पूर्णतः रुपये की कीमत को घटाने के कारण नहीं है। इसका कारण अधिक रूप में आयातों पर प्रतिबंध और निर्यातों को विशिष्ट प्रोत्साहन देना है। दीर्घ-कालिक भुगतानों के संतुलन समन्वय के लिए हमें भीतरी और बाहरी लागत एवं कीमत के पारस्परिक सम्बन्ध की अव्यवस्था को ठीक करना होगा। भीतरी कीमतों के ढांचे में मुद्रा स्फीति को भी ठीक करना होगा।

यह उल्लेखनीय है कि देश के विभाजन ने हमारे भीतरी व्यापार के बड़े अंश को अन्तर्राष्ट्रीय रूप में परिवर्तित कर दिया है। फलस्वरूप, जूट और कपास, जो पहले भारत की निर्यात के अंग थे, अब उसकी आयात की मदें हैं।

अल्पकालिक नीति—भारत की अल्पकालिक वैदेशिक व्यापार-नीति का लक्ष्य व्यापार संतुलन प्राप्त करना और आवश्यक आयातों के लिए पर्याप्त वैदेशिक विनिमय का उपार्जन करना है। यह करने के लिए हमें कृषि और औद्योगिक प्रसाधनों का योग्यतापूर्वक उपयोग करना है, घिसी-पिटी मशीनों को बदलना है, निर्माण की नई दिशाओं में पूंजी लगाना है और साथ ही चालू खपत के स्तर को स्थिर रखना है। भुगतान के संतुलन की समस्या पर मांग और पूर्ति की दोनों दिशाओं से आक्रमण करना है। इस मतलब के लिए राजकर कमीशन (Fiscal Commission) ने जिन उपायों की तजवीज़ की थी, वह इस प्रकार है :–

१. मुद्रा-सम्बन्धी और बजट सम्बन्धी, जिन्हें 'मुद्रा-स्फीति-विरोधी' कहा जाता है, उपायों को आन्तरिक आर्थिक दृढ़ता के लिए प्राप्त करना;

२. विनिमय दर का सही-सही रूप, अर्थात् मुद्रा की कीमत घटाना,

३. उत्पादन के ढांचे का सही रूप करना और

४. द्विमुखी व्यापार के प्रबन्ध।

यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि मुद्रा-स्फीति विरोधी उपाय अन्तर्राष्ट्रीय हिसाब में असमानता को सुधारने के लिए अनिवार्य हैं। जब तक आर्थिक नियंत्रण न हों, केवल रुपये की कीमत को घटाना ही प्रभावकारी नहीं होगा। रुपये की कीमत घटाना अनिवार्यतः रक्षात्मक उपाय है। दीर्घकालीन योजना में खपत और उत्साह के ढांचे में उन्नत निर्यातों के लिए परिवर्तन की आवश्यकता है। द्विमुखी समझौते स्वतः असमानता को सही नहीं कर सकते, किन्तु उनके द्वारा देशों के बीच व्यापारिक संबंध और सदभावना स्थापित होती है।

दीर्घ-कालिक वैदेशिक व्यापार नीति के ध्येयों को नीचे लिखे अनुसार प्रकट किया जा सकता है :—

१. अल्पकालिक दशा में कृषि और उद्योग, दोनों ही क्षेत्रों में देशों ने जिस स्थिति का उपार्जन किया है, उसे ठोस बनाना।

२. व्यापारिक आयात के उस आदर्श को उन्नत करना, जिसके द्वारा भारत अपनी कृषि और उन छोटे और बड़े दर्जे के उद्योगों को उन्नत करने के लिए साधन उपलब्ध कर सके कि जिन्हें उन्नत करने की उसको इच्छा हो।

३. व्यापारिक निर्यात के उस आदर्श को उन्नत करना, (विस्तार में, संगठित रूप में और दिशा रूप में) जो भारत को इस योग्य बना सके कि (क) वह अपने अनिवार्य आयातों का भुगतान कर सके, (ख) उन निर्यातों में विशिष्टता उत्पन्न करने के लिए कि जिनमें उसे तुलनात्मक लाभ हो, और (ग) उसके व्यापारिक निर्यात को उन बाजारों के लिए निर्दिष्ट करना, जिनमें वह प्रतिद्वंद्वी के विरुद्ध अपनी स्थिरता को बनाये रह सकता है।

यह नीति हमारी औद्योगिक उन्नति की अनुरूपता में अनेक सु-स्पष्ट दर्जों में से होकर निकलेगी। वह दर्जे इस प्रकार हैं :—

(**क**) १. **पहला दर्जा**, जिनमें बहुमूल्य वस्तुओं की आयात भारत की धरती, खानों, जल-शक्ति और कृषि आदि को उन्नत करने के लिए होगी।

२. अनिवार्य तृतीय उद्योग जैसा कि संवाद संवाहन;

३. अनिवार्य मौलिक उद्योग और ;

४. अनिवार्य भोक्ता वस्तुओं के उद्योग।

(**ख**) **दूसरा दर्जा** तब हो जाएगा, जब बहुमूल्य वस्तुओं की आयात घट जाएगी और देश में वस्तुएं उत्पन्न होने लगेंगी और राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी। अब भोक्ता वस्तुओं का अधिक उत्पादन होगा बशर्ते कि नियंत्रण कार्यक्रम स्वीकार कर लिया जाता है।

(**ग**) **तीसरा दर्जा** दूसरी श्रेणी के उद्योगों में वृद्धि प्राप्त करेगा। आयात गिरेंगी। भारतीय वस्तुओं के लिए नये बाजारों की खोज होगी और विशिष्ट वस्तुओं की आयात होगी।

व्यापारिक नीति में प्रगतियां—हाल ही के वर्षों में भारतीय व्यापार नीति की रूपरेखा बनी है। इसका प्रथम कारण भुगतानों के संतुलन में घाटे को कम करना था। और दूसरा देश में मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्तियों में दिशा-परिवर्तन करना था।

यह केवल निर्यातों में विस्तार और आयातों में न्यूनता करने से हुआ है। १९४९ में, रुपये की कीमत घटाने से पहले भी हमारी आयात में से अनावश्यक वस्तुओं को निकाल दिया गया था और केवल बहुमूल्य वस्तुओं, औद्योगिक कच्चे पदार्थों और अत्यधिक भोक्ता वस्तुओं की ही देश में आयात की स्वीकृति दी गयी थी। रुपये की कीमत घटाने और सरकारी यत्नों के फलस्वरूप निर्यात का उच्चस्तर तक विस्तार और आयातों में निम्न स्तर हुआ। इसीलिए १९५० में वैदेशिक विनिमय की स्थिति में प्रगति दिखाई दी। कोरिया-युद्ध के फलरूप अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति और राशि-संग्रह ने भी इस दिशा में सहायता की। १९५० में स्थिति में उन्नति होने के फलस्वरूप १९५१ में आयातों को मुक्त कर दिया गया। उससे हमारे व्यापार को धक्का लगा और १९५१ में ८७ करोड़ रुपये का घाटा हो गया। इस कारण, अब यह आवश्यक है कि आयातों पर नियंत्रण की दिशा में पुनः पग उठाया

और अन्य उसकी आयात करते थे, किन्तु उनमें से हर एक को विस्तृत उद्योगों की स्थापना के लिए दीर्घ अथवा अल्पकाल तक सुरक्षा करों के आश्रय की आवश्यकता थी। भारत में भी सुरक्षा के पक्ष में साझी भावना विद्यमान है। मुख्य युक्तियां नीचे दी जाती हैं।

(१) **उद्योगों की शैशव दशा सम्बन्धी युक्ति**—उद्योग की प्रगति के लिए सम्बन्धित भिन्न तत्वों को उन्नत रूप देने में समय की आवश्यकता होती है, अर्थात मजदूरों को शिक्षित करने के लिए, पूंजी संग्रहित करने के लिए और साहसी कार्यकर्त्ताओं को अनुभव देने के लिए, और आवश्यक निपुणता प्राप्त करने के लिए। उस काल में, जबकि उद्योग इन अनिवार्यताओं को प्राप्त करने में लगा हो, उसे आश्रय मिलना ही चाहिए अन्यथा विदेशी प्रतिद्वंद्विता उसे उड़ा देगी। एक बच्चे को चलना सिखाने के लिए सहारे की आवश्यकता होती है। वयस्क आदमी के साथ उसकी कुश्ती की आशा कर सकने से पहले उसे बड़ा होना ही चाहिए। इस युक्ति के बल को मार्शल और पीगो सरीखे अर्थशास्त्रियों ने स्वीकार किया है। कुछ भारतीय उद्योग, जिनका भविष्य उज्ज्वल है, निःसंदेह, अभी शिशु-अवस्था में हैं। विदेशी प्रतिद्वंद्विता से उनकी रक्षा करना नितांत आवश्यक है, अन्यथा उनके उन्नत होने की बहुत ही कम सम्भावना है। स्व० लाला हरिकृष्णलाल ने राजकर कमीशन के समक्ष ऐसे उद्योगों के विषय में चर्चा करते हुए कहा था, "शिशु का पालन करो, बच्चे की रक्षा करो और वयस्क को स्वतंत्र कर दो।" यह ह सूत्र, जिसके औचित्य के बारे में आपत्ति नहीं की जा सकती।

(२) **उद्योग की विभिन्नता**—एक देश के नागरिकों की चहुँमुखी उन्नति के लिए, **अनेक** प्रकार की नौकरियों की आवश्यकता है, क्योंकि एक आदमी जिस व्यवसाय को करता है, उसकी, उसके व्यक्तित्व की प्रगति पर गहरी छाप होती है। कोई भी राष्ट्र केवल दुकानदारों और क्लर्कों का राष्ट्र नहीं चाहता। नौकरी के विषय में जितना मूल्य गुण का है, उतना ही उसकी संख्या का। इसलिए कुछ उद्योगों को उन्नत करना आवश्यक है, चाहे भले ही उनकी उन्नति के लिए सब परिस्थितियां अनुकूल न हों। केवल सुरक्षा ही ऐसे उद्योगों की प्रगति कर सकती है। अभी तक हमने केवल थोड़े-से उद्योग-उन्नत किये हैं। उद्योग विभिन्नता की प्राप्ति के लिए दूसरों की उन्नति की सुरक्षा आवश्यक होगी। विशिष्टता उस जैसी है कि जैसे एक समान सभी अंडों को एक टोकरी में रखना होता है।

(३) **रक्षा के लिए**—एडम स्मिथ का कहना है, "ऐश्वर्य की अपेक्षा रक्षा बेहतर है।" आवश्यक जिन्सों के लिए विदेशों पर निर्भर रहना युद्ध-काल में खतरनाक सिद्ध होता है। द्वितीय विश्व-युद्ध से कुछ वर्ष पहले इटली और जर्मनी ऐसी आवश्यक वस्तुओं के सतत निर्माण की चेष्टा में लगे हुए थे, जिनकी पहले वह आयात करते थे, क्योंकि उन्हें मालूम था कि युद्ध के कारण पूर्ति रुक जाएगी। यह युक्ति 'महत्वपूर्ण' अथवा आधारमूलक उद्योगों या खाद्यों के लिए विशिष्ट बल रखती थी। गत युद्ध में, यदि भारत के उद्योग पहले से ही उन्नत हो चुके होते, तो भारत उसमें वह भाग ले सकता था, जो वह लेने योग्य नहीं हुआ। यह युक्ति और भी बलवती हो जाती है, क्योंकि भारत अब स्वतंत्र है। उसने उन दोनों दलों में से किसी एक के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा, कि जिसमें दुनिया बंट गयी है। इसलिए, यदि वह दुनिया में शांति-स्थापना के कार्य को करना चाहता है, तो उसे अपने रक्षात्मक उद्योगों को उन्नत करना चाहिए।

(४) **आत्म निर्भरता के लिए**—यदि एक देश आर्थिक रूप में स्वाधीन बनने का इच्छुक है, तो उसे भिन्न प्रकार के उद्योगों को रक्षात्मक करों की सहायता से उन्नत करना

होगा। किन्तु पृथकत्व न तो सम्भव है, न ही हितकर। दुनिया में साधनों के समर्थनों की वर्तमान प्रगति को दृष्टि में रख कर आत्म-निर्भरता को प्राप्त करना असम्भव है। यदि इस दिशा में यत्न किया गया तो देश के आर्थिक प्रसाधनों की दिशा अल्प-लाभ वाले स्रोतों में बदल जायगी। तिस पर भी, यदि परिस्थितियों वश ऐसी नीति का आश्रय लेना ही पड़े, तो भारत सरीखा देश इस उद्योग को समझता हुआ अपने सीमित अंतर में इंग्लैण्ड और जापान की अपेक्षा, जिन्हें कच्चे माल की आयात करनी पड़ती थी, तीव्रगति से बढ़ सकता है।

(५) **मूल उद्योगों के लिए**—आधारमूलक अथवा मूल-उद्योगों की प्रगति के लिए रक्षा-क्रम लागू करना आवश्यक है। उनकी प्रगति की ओर सबसे पहले ध्यान दिया जाना चाहिए। उन्हें स्थापित करने के लिए कोई भी प्रयत्न बाकी नहीं रहने देना चाहिए, चाहे भले ही कच्चे माल की आयात करनी पड़े। जैसा कि है, भारत में ऐसा संकट उत्पन्न नहीं होगा, क्योंकि यहां लगभग सभी कच्चे मालों की बहुतायत है। मूल-उद्योगों की प्रगति पर ही देश में अन्य उद्योगों की स्थापना निर्भर है। उनके बिना हमें मशीनों और साज-सामान के लिए विदेशियों पर निर्भर रहना होगा। उनके बिना आवश्यकता के समय, उद्योग का सारा ढांचा ताश के पत्तों से बने मकान की तरह धराशायी हो जाएगा। ऐसे मूल-उद्योगों में रसायन, बिजली के यंत्र, मशीनें और सब प्रकार के इंजन शामिल हैं।

(६) **राशिपातन (माल के सस्ता बेचने के) विरुद्ध** (Anti-dumping)—यदि एक अन्य देश हमारे बाजारों में घरेलू उद्योगों की वस्तुओं को क्षेत्र से निकाल बाहर करने के लिए अपनी वस्तुएं झोंक देता है, तो केवल आत्म-रक्षा में संरक्षण आवश्यक है। यह सम्भव है कि उस समय विदेश का ध्येय कीमत को कम करके हमारे बाजार पर अधिकार कर लेने का हो, और अंतरकाल में, जब हमारा घरेलू उद्योग नष्ट हो जाए, तो कीमतें चढ़ा कर अपनी हानि पूरी कर लेने का हो। कोई भी राष्ट्र ऐसा करने की स्वीकृति नहीं देगा, क्योंकि इससे बेकारी फैलेगी और देश की आर्थिक स्थिति बिगड़ेगी।

(७) **सरकारी सहायता प्राप्त वस्तुओं के विरुद्ध**—घरेलू निर्मित वस्तुओं की प्रतिद्वंद्विता के विरुद्ध रक्षा होनी चाहिए, जो विदेशों में सरकारी-सहायता द्वारा आश्रित हों। इन प्रकार की सरकारी सहायता उन्हें अनुचित लाभ प्रदान करती है और सरकार को रक्षा-कर द्वारा उन पर शासन रखना ही चाहिए। भारतीय खांड के उद्योग की योरोप में सरकारी सहायता प्राप्त खांड-उद्योग ने हत्या की थी। अनंतर काल के संरक्षण से भारत इस उद्योग को पुनः स्थापित कर सका।

(८) **अवमूल्यन वाले देशों से वस्तुओं के आने के विरुद्ध**—१९३०–३१ में येन (जापानी मुद्रा) के अवमूल्यन ने हमारे वस्त्र उद्योग के प्राप्त-संरक्षण को किसी सीमा तक उदासीन बना दिया था और तब संरक्षण की विधि में वृद्धि करनी पड़ी थी। एक देश, जो अवमूल्यन-मुद्रा वाला हो, वह अधिक वस्तुओं की निर्यात करने योग्य होता है। क्रेता देश को निर्यात करने वाले देश की (जिसकी मुद्रा का अवमूल्यन हो चुका है) मुद्रा की प्रति इकाई के बदले अपनी मुद्रा कम देनी होती है और स्वभावतः ही वह अधिक क्रय की वृत्ति रखेगा। ऐसी दशा में यह आवश्यक हो जाता है कि इस काल्पनिक और अनुचित लाभ को रद्द कर दिया जाए।

(९) **सरकारी आय के लिए**—कभी-कभी रक्षा-करों का इस आधार पर समर्थन किया जाता है कि वह राज्यकोष के लिए अतिरिक्त आय के कारण बनेंगे। किसी सीमा तक यह सत्य भी है। रक्षा का सहज उपाय कुछ सरकारी आय अवश्य प्रदान करता है। तिस पर भी, सरकारी आय और संरक्षण के बीच परम्परागत विरोध है। यदि एक उद्योग

को सक्रिय संरक्षण दिया गया हो, तो विदेशी वस्तुओं की बिक्री का अवसर ही नहीं होगा। उनकी आयात नहीं की जाएगी और सरकारी आय नहीं होगी। १९३५ में आयात की खांड के कर में भारी कमी हो गई थी और सरकार की हानि पूरा करने के लिए भारत में निर्मित होने वाली खांड पर उत्पाद-कर लगाना पड़ा था। इसलिए, यदि एक देश अधिक सरकारी आय का इच्छुक है, तो वह भारी संरक्षण करों द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता। वह राजस्व केवल तभी प्राप्त कर सकता है, यदि भारी संख्या में विदेशी वस्तुओं को आने की स्वीकृति हो, और उनपर सामान्य कर लगे हों। उसके अर्थ यह होंगे कि घरेलू वस्तुओं के साथ विदेशी प्रतिद्वंद्विता खूब होगी। या तो आप संरक्षण दे सकते हैं या राजस्व ले सकते हैं। इसके अलावा, राजस्व करों द्वारा संरक्षण की नीति स्थिर भी नहीं, क्योंकि घरेलू उद्योग के लिए इसका अर्थ अनिश्चित होगा। इसलिए यदि संरक्षण दिया जाना हो तो प्रवेश के लिए कोई बोझल धारणाएं नहीं होनी चाहिएं।

(१०) **रोजगार में वृद्धि के लिए**—एक अन्य आधार, जिसपर संरक्षण की मांग की जाती है, यह है, कि दीर्घकाल में औद्योगिक प्रगति देश में रोजगार के वृहद्रूप को जन्म देगी। कोरे सिद्धान्त के रूप में यह युक्ति आधारहीन है। चूंकि निर्यात आयात का भुगतान करते हैं, इसलिए यदि वह देश आयात कम करेगा, तो वह निर्यात भी कम करने योग्य होगा। इस प्रकार उसके आयात उद्योगों का फैलाव निर्यात-उद्योगों के संकुचन द्वारा प्रतिरोधी-संतुलन वाला हो जाएगा, और संभवतः रोजगार का विस्तार हो ही न सके। किन्तु जहां तक भारत का प्रश्न है, यह युक्ति कुछ विचारणीय है, क्योंकि हमारे निर्यात-उद्योग भारत के आकार के अनुसार मेल नहीं खाते। हमारे कच्चे सामान दूसरों को बांट देने योग्य नहीं है। यदि संरक्षण द्वारा हम अपने बाजारों में से विदेशी वस्तुओं को खदेड़ दे सकते हैं,तो हमारे उद्योगों के लिए बहुत बड़ा क्षेत्र खुल जाएगा और उस दशा में रोजगार का क्षेत्र भी बढ़ जाएगा। वर्तमानमें हमारी आर्थिक स्थिति असंतुलित है। कृषि और उद्योग के बीच उचित संतुलन उत्पन्न करनाही हमारी परमावश्यकता है। इस उद्देश्य के लिए प्रभावशाली संरक्षण बहुत ही उपर्युक्त सिद्ध होगा।

(११) **भारत में इसकी लोकप्रियता के लिए**—भारतीय भावना संरक्षण के लिए बहुत प्रबल रही है, और है। अमरीका, जर्मनी और जापान में संरक्षण द्वारा जो उल्लेखनीय औद्योगिक प्रगति हुई है, और हाल ही में इस नीति से इंग्लैण्ड में जो चहुंमुखी सम्पन्नता हुई है; और स्वतन्त्र व्यापार की नीति के कारण भारतीय उद्योग का जो विनाश हुआ है, उसके कारण सभी शिक्षित भारतीय, भारतीय उद्योगों के संरक्षणों के प्रबल पक्षपाती बन गए हैं। यह प्रबल इच्छा यहां तक बढ़ी हुई है कि वह सब कभी-कभी तो इस संरक्षण को देश की समस्त औद्योगिक बुराइयों के लिए एकमात्र औषधि मानते हैं। इसलिए, यदि सचेष्ट संरक्षण की नीति का अनुसरण किया जाता है, तो उसे प्रबल लोक-प्रियता का समर्थन प्राप्त होगा।

४. संरक्षण के भय। किन्तु संरक्षण बिना दर्द की औषधि नहीं है। इसके लिए अनेक यातनाएं सहनी होंगी और त्याग करने होंगे। **पहली बात तो यह कि संरक्षणकरों के लगाने से संरक्षण-प्राप्त वस्तुओं की कीमतें चढ़ जायंगी।** एक किसान, जिसके पास बेचने के लिए अतिरिक्त नहीं है, और एक मजदूर, जिसकी मजूरी बढ़ी हुई कीमतों को पाटने में पिछड़ जायगी, दोनों को, कुछ त्याग करना पड़ेगा। तिस पर भी, मुख्यतः मध्यमश्रेणी के ही लोग हैं, जिन्हें इस चोट को सहना होगा और इसमें सन्देह नहीं कि यह श्रेणी इस विश्वास पर यह सहन करने को तैयार है कि एक दिन तो भारत शक्तिशाली औद्योगिक राष्ट्र होगा ही।

दूसरी बात यह कि, जहां एक ओर जनता की हानि होती है, तहां निर्माता लाभ उठाते हैं। संरक्षण सम्पत्ति-विभाजन में असमानता भी पैदा कर देते हैं। इसमें उन लोगों की सम्पति में श्रीवृद्धि होती है, जो पहले ही धनी हैं, और सामान्य आदमी को त्याग करना पड़ता है। टैरिफ बोर्ड (आयात-निर्यात कर समिति) और भारत सरकार ने भोक्ता के हितों को भी क्रमशः ध्यान में रखा है। जो भी हो, हम यह नहीं मान सकते कि संरक्षण का बोझा केवल जन-साधारण को ही उठाना पड़ता है। दियासलाई और नमक को छोड़कर, संरक्षण-प्राप्त उद्योगों द्वारा जो वस्तुएं उत्पन्न की जायंगी, जैसे लोहा और इस्पात की वस्तुएं, खांड, बढ़िया सूती कपड़ा, सीमेंट, कागज आदि, वस्तुएं तो गरीब जनता के उपयोग की नहीं, । इनसे सम्बन्धित बोझा तो अधिकांशतः मध्यम श्रेणी को ही सहना होगा और वह इस बात की चिंता भी नहीं करते, क्योंकि वह यह समझते हैं कि देश का हित किस बात में है !

तीसरी यह कि, संरक्षण-रहित उद्योगों का वर्ग शिकार होगा, क्योंकि उन्हें कुछ वस्तुओं की कीमतें अधिक देनी पड़ेंगी और अधिक मजदूरी देनी होगी, जबकि बदले में उन्हें कोई लाभ नहीं होगा। मिलों के उद्योग को संरक्षण प्राप्त होने से सूती खड्डियों (हैंडलूमों) के उद्योग को हानि सहन करनी पड़ी। यही एक कारण है कि जब लोहे और इस्पात के उद्योग को संरक्षण दिया गया था तो इससे सम्बन्धित कुछ उद्योगों के लिए संरक्षण का आनुक्रमिक उपाय भी किया गया था।

चौथी यह कि, संरक्षण द्वारा निजी स्वार्थों की उत्पत्ति का भय होगा। जिन उद्योगों को संरक्षण मिल जायगा, वह उसे छोड़ना नहीं चाहेंगे। इस प्रकार, संभव है, "शिशु-अवस्था" वाले "शिशु-दशा" में ही रह जाँय और यह मानने से इंकार करें कि वह बड़े हो गए हैं। किन्तु यह खतरा इस आधार पर संरक्षण उठा लेने से नष्ट किया जा सकता है कि उद्योग उससे लाभ उठाने के अयोग्य रहा है। इसके अतिरिक्त, राजनीतिक दलबन्दी का पक्षपात और भ्रष्टाचार नष्ट होने चाहियें और ऐसी बातों से ऊपर रहकर कार्य होना चाहिए। तिस पर, जबतक सरकार के पास **कर लगाने की शक्ति** है, ऐसे निजी स्वार्थों को हमेशा सीधा किया जा सकता है। और क्या ऐसे निजी स्वार्थ उन देशों में नहीं हैं कि जिसमें संरक्षण नहीं है ? तो फिर संदिग्ध हानि के लिए वास्तविक अच्छाई को करने में क्यों संकोच करना चाहिए ?

पांचवीं यह कि, राजनीतिक भ्रष्टाचार का भय है। अमरीका में शक्तिशाली कार्पोरेशनों ने बड़ी-बड़ी रकमें विधान सभाओं के सदस्यों को चुनने अथवा सदस्यों को प्रभावित करने के लिए अलग रख छोड़ी हैं। इसलिए, एक बार संरक्षण स्वीकार हो गया, तो संभव है, उसे हटाना आसान न हो किन्तु फिस्कल कमीशन ने भारत में ऐसे किसी भय की आशंका नहीं देखी, क्योंकि भारतीय विधान सभाएं अनेक ऐसे तत्वों की बनी हुई हैं, जो ऐसी बुराई को फैलने नहीं देंगी।

छटी यह कि, संरक्षण को न्यास (ट्रस्ट) की "जननी" माना गया है। जर्मनी और अमरीका का यह अनुभव है कि एक बार विदेशी प्रतिद्वंद्विता को समाप्त कर दिया जाय तो घरेलू निर्माता एकाधिकार के लाभों को प्राप्त करने के लिए संघ का निर्माण कर लेते हैं। यद्यपि, आल इंडिया शूगर (खांड) सिंडीकेट और एसोशिएटेड सीमेंट कम्पनी, दो ही ऐसे संघ स्थापित हुए हैं. तथापि संघ-चलन को यहां विशेष सफलता नहीं मिल सकती।

सातवीं यह कि, कहा जाता है कि यदि प्रभावशाली संरक्षण प्रदान किया गया तो सरकार की आय गिरने लगेगी। यह युक्ति ठीक नहीं, क्योंकि सरकार अपनी हानियों

की पूर्ति उत्पाद-करों और आय-करों में वृद्धि द्वारा कर सकती है। इस के अतिरिक्त देश में रोजगार की बढ़ी हुई प्रवृत्ति भी आनुपातिक लघु हानि को पूरा कर देगी।

इसलिए, सार यह कि हम देखते हैं कि भारत में संरक्षण की नीति केवल उचित ही नहीं, प्रत्युत आवश्यक है। इसकी हानियों को बढ़ाकर दिखाया गया है और लाभों को कम। इसके यह अर्थ नहीं कि हम हर किसी उद्योग पर बिना यह देखे हुए कि वर्तमान में यह है क्या, और भविष्य में इससे क्या लाभ होंगे, अंधाधुंध संरक्षण की नीति लागू करने लग जायं।

५. परिस्थितियों-वश विवेकपूर्ण संरक्षण। १९१४-१८ के युद्ध में सरकार ने यह महसूस किया कि जब तक उद्योग सम्बन्धी उन्नति नहीं होगी, तब तक भारत ब्रिटिश साम्राज्य के लिए सहायक की अपेक्षा भय का कारण बना रहेगा। फलतः, उसने कुछ उद्योगों की स्थापना का निश्चय किया। तदनुसार १९१६ में एक औद्योगिक कमीशन (Industrial Commission) की स्थापना की गई। उसने सिफारिश की कि भारतीय उद्योगों को उन्नत करने में सरकार को महत्वपूर्ण भाग लेना चाहिए, ताकि देश 'आदमियों और सामान की दृष्टि," से आत्म-निर्भर बन सके।

६. राज-कर सम्बन्धी स्वायत्त परिपाटी (The Fiscal Autonomy Convention) चूंकि पार्लियामेंट भारत को कानून द्वारा राज-कर सम्बन्धी पूर्ण स्वायत्त मानने को तैयार न थी, इसलिए इन शब्दों में एक समझौते को सिफारिश की गई: "राज-कर सम्बन्धी भारत का कुछ भी अधिकार हो, किंतु यह तो स्पष्ट ही है कि उसे ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, कैनैडा और दक्षिणी अफ्रीका की भांति ही अपने हितों पर विचार करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इसलिए, समिति की राय है कि जब भारत सरकार और उसकी विधान सभा सहमत हैं तो राज-सचिव (Secretary of State), जहां तक सम्भव हो, इस विषय में हस्तक्षेप न करे और उसका हस्तक्षेप, जब भी कभी हो, साम्राज्य अथवा साम्राज्यान्तर्गत किसी भी राज-कर सम्बन्धी प्रबन्ध के उन अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों की रक्षा के लिए सीमित होना चाहिए, जिनकी भागीदार सम्राट् की सरकार है।"

यह विख्यात राज-कर सम्बन्धी स्वायत परिपाटी है, जिससे आशा की गई थी कि वह भारत को राज-कर विषयक अपनी नीति के सम्बन्ध में कार्यवाही करने की स्वतन्त्रता प्रदान करेगी। यहां यह उल्लेखनीय है कि एक रूढ़ि, जो एक रीति है, परम्परा है अथवा चलन है, वह सामान्यतः स्वीकार कर ली जाती है, भले ही उसका कानूनी आधार न हो। यदि यह स्वीकार कर ली जाती है, तो इस की वही शक्ति और मान होता है, जो कानून का।

राज-सचिव ने इस सिद्धान्त को मान लिया और भारत तथा इंग्लैण्ड के बीच व्यापारिक सम्बन्धों का वह आधार बन गया। इस रूढ़ि के अनुसार १९२१ में जब लंका-शायर के स्वार्थों के दल ने राज-सचिव से भारत सरकार द्वारा लगाये वस्त्र-करों के विषय में भेंट की थी, तो उन्होंने हस्तक्षेप करने से इंकार कर दिया था।

७. राज-कर (फिस्कल) कमीशन (१९२१-२३)। इसी बीच फरवरी १९२० में, शाही लैजिस्लेटिव कौंसिल में एक प्रस्ताव उपस्थित किया गया, जिसमें सिफारिश की गई थी कि कौंसिल में से एक कमेटी नियत की जाय, जो शाही रियायतों (Imperial Preferences) की नीति का आश्रय लेने के विषय में सूचना प्रदान

करे। इस कमेटी ने प्रस्ताव किया कि सम्पूर्ण भारत की आयात-निर्यात-कर सम्बन्धी नीति के निरीक्षण के लिए एक कमीशन नियत की जाय।

इसलिए, १९२१ में भारतीय राज-कर सम्बन्धी कमीशन (इंडियन फिस्कल कमीशन) "सब सम्बन्धित हितों का निरीक्षण करने के लिए; भारत सरकार की आयात-निर्यात-कर नीति, जिसमें शाही रियायतों के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करने का प्रश्न भी सम्मिलित था," नियत की गई। कमीशन ने अपनी जांच में विवेकपूर्ण संरक्षण (Discriminating Protection) की सिफारिश की थी।

विवेक-पूर्ण संरक्षण की सिफारिश की गई। इस नीति के अनुसार, प्रत्येक और किसी भी उद्योग को विवेकरहित संरक्षण नहीं दिया जाना था। प्रत्युत, संरक्षण की मांग करने वाले उद्योग का भली प्रकार परीक्षण किया जाता था और कतिपय शर्तों को पूरा करने पर ही संरक्षण की स्वीकृति दी जाती थी, ताकि उनके लिए होने वाले त्याग की मात्रा को कम किया जा सके। इस सम्बन्ध में कमीशन ने जो शर्तें उपस्थित की थीं वह (ट्रिपल फार्मूला) "त्रिगुणीसूत्र" नाम से विख्यात है।

८. त्रिगुणी सूत्र (Triple Formula) **मुख्य शर्तें**—त्रिगुणी-सूत्र में वह शर्तें सम्मिलित थीं, जो संरक्षण की स्वीकृति प्राप्त करने से पूर्व एक उद्योग को पूर्ण करनी होती थीं। निम्न मुख्य शर्तें थीं :—

(१) संरक्षण प्राप्त करने वाले उद्योग को आवश्यक प्राकृतिक सुविधाओं से सम्पन्न होना चाहिए, जैसे; कच्चे माल की पर्याप्त मात्रा, सस्ती बिजली, पर्याप्त श्रम और विस्तृत घरेलू बाजार, जिसके अभाव में वह देश के लिए स्थायी बोझा बन जायगा।

(२) यह उद्योग ऐसा होना चाहिए, जिसके या तो संरक्षण के बिना नितान्त उन्नत होने की सम्भावना न थी अथवा देश के हितों के लिए जो शीघ्र पनप नहीं सकता था।

(३) यह उद्योग ऐसा होना चाहिए, जो अंत में संरक्षण के बिना विश्व प्रतिद्वंद्विता का सामना करने योग्य हो।

सहायक शर्तें—इस ऊपर लिखे के अतिरिक्त, कमीशन ने कुछ और शर्तें भी उपस्थित कीं, जो कम महत्व की थीं : (क) वही एक उद्योग, जो उत्तरोत्तर लाभों के साथ बृहद परिमाण में उत्पादन कर सके, संरक्षण के लिए अधिक उपयुक्त समझा जाना था। (ख) उसी एक उद्योग के लिए, जिससे समयान्तर यह आशा की जाती थी कि वह देश की सम्पूर्ण आवश्यकताओं को पूरा कर सकेगा, प्राथमिकता की सिफारिश की जाती थी। (ग) एक वह उद्योग, जो राष्ट्रीय रक्षा और मूल उद्योगों के लिए अनिवार्य हो, चाहे भले ही वह ऊपर की शर्तों को न भी पूरा करता हो, उसके संरक्षण के लिए सिफारिश की जाती थी। (घ) सस्ती वस्तुओं की राशि के विरुद्ध, अथवा, यदि वस्तुएं उन देशों से आई हों, जिन्होंने मुद्रा अवमूल्यन या अव-मोलन कर रखा हो और इस प्रकार भारतीय निर्माताओं के ऊपर वह अनुचित लाभ उठाते हों, संरक्षण के विशेष उपायों की सिफारिश की जाती थी। (ङ) इसी प्रकार की कार्यवाहियों की सरकारी-सहायता-प्राप्त आयातों के विरुद्ध सिफारिश की जाती थी।

सिफारिशों की विश्लेषण—कमीशन के सदस्यों की बहुसंख्या की इच्छा थी

कि भारत की औद्योगिक उन्नति ब्रिटिश-स्वार्थों की कीमत पर नहीं होनी चाहिए। उन्होंने स्पष्टतया कहा था: "हम यह नहीं भूलते कि इंग्लैंड साम्राज्य का हृदय है, और उसी के बल पर साम्राज्य की शक्ति और संगठन का आधार है···। यदि इंग्लैंड अपने निर्यात-व्यापार को स्थिर नहीं रख पाता, तो साम्राज्य का हृदय क्षीण हो जायगा, और यह एक तथ्य है, जिसके प्रति साम्राज्य का कोई भी अंग विमुख नहीं हो सकता।" यही एक कारण था, जिसके आधार पर भारतीय-उद्योग की संरक्षण की अधिकांश शर्तें इतनी रुकावट पैदा करने वाली थीं, और जो इस प्रकार शर्तों द्वारा अत्यधिक उलझी हुई थीं।

इसके साथ ही, कमीशन की अल्पसंख्या भी "विवेक रहित संरक्षण" नहीं चाहती थी, किन्तु वह इतना अवश्य चाहते थे कि भारत के प्रति "शिशु-देश" का-सा व्यवहार होना चाहिए, और वास्तव में जो औद्योगिक दृष्टिकोण से था भी। उन्होंने अल्पकाल में स्वीकृति देने तथा उदार संरक्षण की सिफारिश की थी।

नये अथवा पुराने उद्योगों को संरक्षण की स्वीकृति मिलनी चाहिए या नहीं इस सम्बन्ध में कोई कड़े नियम नहीं बन सकते थे। स्थापित उद्योगों के विषय में, एक सामान्य आंकड़ों के अनुसार चलना होता था। निश्चयपूर्वक, उन उद्योगों की तुलना में, जो अपेक्षाकृत अल्प आयु हैं, ऐसे उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने में कम खतरा है। किन्तु अल्प-आयु के उद्योगों के विषय में अन्य देशों से आंकड़े लिये जा सकते हैं। पुराने उद्योग की नई शाखा में फिर भी, कल्पनापूर्ण तत्व हो सकते हैं। कुछ अनिश्चित तत्व शेष रहेंगे हो, चाहे उद्योग नया हो या पुराना। सामान्यत:, संरक्षण की नीति का उद्देश्य नये उद्योगों की सहायता करना है, किन्तु कभी-कभी पुराने उद्योग को कठिन स्थिति से मुक्ति दिलाना भी सम्भव है, और केवल संरक्षण ही उसका उपाय है। नये उद्योगों को आयात-करों की बजाय सरकारी सहायता से भी सुविधा दी जा सकती है। किन्तु उद्योग को संरक्षण प्रदान करने के लिए आयु का अंकन ही कसौटी नहीं है। कसौटी तो उन शर्तों को पूर्ण करना है, जो फिस्कल कमीशन ने उपस्थित की है।

जहाँ तक संरक्षण के उपायों का सम्बन्ध है, अनेक बातों पर विचार करना चाहिए। इतना ऊंचा दर नहीं होना चाहिए, जो भोक्ता के लिए आवश्यक बोझ के रूप में हो अथवा उद्योग को इस इस स्थिति में नहीं छोड़ देना चाहिए कि वह किसी प्रकार की उन्नति ही न करे अथवा देश की आर्थिक स्थिति को ही प्रभावित न करे। उचित विक्रय कीमत तक पहुँचने की खातिर, जिसे संरक्षण उद्योग के उत्पाद को विक्रय के लिए सम्भव बनाये, औसत फर्म के उत्पादन व्यय को लेना होगा, न कि उन फर्मों को, जो या तो शिखिर पर हैं अथवा निम्न स्तर पर, क्योंकि लक्ष्य, अयोग्य फर्मों को ऊपर उठाने का नहीं, प्रत्युत योग्य फर्मों को युक्तिसंगत सहायता देने का है।

९. भारतीय आयात-निर्यात-कर बोर्ड (इंडियन टैरिफ बोर्ड)। फिस्कल कमीशन ने एक भारतीय आयात-निर्यात-कर बोर्ड की स्थापना की सिफारिश की है, जो संरक्षण के लिए आवेदन करने वाले उद्योगों के अधिकारों की जांच करेगा और यदि बोर्ड उचित समझेगा, तो सरकार को उनकी सिफारिश करेगा। यह बोर्ड समय-समय पर उद्योग के लिए संरक्षण के प्रश्न पर विचार करने को निश्चित उद्देश्य के लिए विशेषज्ञों द्वारा नियोजित होते रहना था। अक्सर यह बोर्ड एक प्रधान और दो सदस्यों का होना था। यह उद्योग के स्थान पर जाकर उद्योग की स्थि की विस्तृत जांच करता था। समिति को मुख्यतः यह विचार करना होता था कि संरक्षण की स्वीकृति के

लिए दी गई शर्तें उद्योग ने पूरी की थी या नहीं। सब बातों की जांच करने के बाद. यह सरकार को संरक्षणकी अवधि और उपाय की सिफारिश करता था। संरक्षण की समाप्ति पर टैरिफ बोर्ड को पुन: उस मामले की देख-रेख करने को कहा जाता था। **संक्षेप में, संरक्षरण का सिद्धान्त लागू करना इसी समिति पर निर्भर करता था।** पहला टैरिफ बोर्ड, १९२४ में लोहे और इस्पात के उद्योग के सम्बन्ध में बना था और और अंतिम १९३९ में रेशम उद्योग के लिए नियत किया गया था।

१०. विवेकपूर्ण संरक्षण। अनेक प्रमुख उद्योगों को संरक्षण दिये गये। हम उन पर क्रमश: विचार करेंगे :

(१) **लोहा और इस्पात**—१९१४ के युद्ध की समाप्ति के बाद, इस उद्योग को विदेशों से कड़ी प्रतिद्वंद्विता का सामना करना पड़ा और उसे भारी हानि सहन करनी पड़ी। १९२४ में इसका मामला टैरिफ बोर्ड के सामने पेश किया गया। जांच करने पर उसे मालूम हुआ कि कुछ ही वर्षों में भारत को अपनी घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य देशों जैसी कम कीमत पर पर्याप्त लोहा और इस्पात के उत्पादन योग्य बनाया जा सकता है। इस्पात की आयात की कीमत और भारत में उसकी उचित विक्रय की कीमत के अंतर को फिलहाल पाटने के लिए टैरिफ बोर्ड ने ३० रुपये से लकर ४५ रु० तक प्रति टन के हिसाब से ३ वर्ष के लिए कर लगाने की सिफारिश की। समय-समय पर उद्योग की स्थिति के विषय में जांच-पड़ताल की जाती थी। १९३३ में संरक्षण की अवधि सात वर्ष के लिए अर्थात्, १९४१ तक, और बढ़ा दी गई। उस समय टाटा कम्पनी ने विश्वास दिलाया था कि तब वह संरक्षण वापिस लेने जैसी "सब घटनाओं का मुकाबला" करने की स्थिति में होंगे। १९४७ की अंतिम जांच के समय, उद्योग ने संरक्षण जारी रखने पर बल नहीं दिया और वह हटा लिया गया। इस प्रकार इस उद्योग ने २३ वर्ष तक संरक्षण का उपयोग किया।

इस संरक्षण के फलस्वरूप, चाहे यह अवरोधक था, भारत के लोहे और इस्पात के उद्योग ने तीव्रगति से उन्नति की है और संरक्षण-प्रदान का सत्य उपयोग किया है। आज यही उद्योग उत्पाद कर की एक वृहद् राशि देता है, जो राजकोष की बड़ी खाई को पाटने वाली है। इस प्रकार इसने १९३९-४० में ३७२ लाख रुपये से कम नहीं दिया होगा। भोक्ता पर उत्पाद के प्रगतिशील मूल्यों के कारण किसी प्रकार का अतिरिक्त बोझा नहीं पड़ा और दूसरी ओर टाटा कम्पनी के मजदूरों को अपने स्तर के अनुसार जीवन-सम्बन्धी सब सुख-सुविधाएँ प्राप्त हैं।

१९४८ में, इंजिनियरिंग उद्योग ने २,१३,००० व्यक्तियों को रोजगार दिया था। इसकी प्रगति निम्न आंकड़ों से परखी जा सकती है :—

तालिका · १

भारत में पूर्ण इस्पात का उत्पाद
वार्षिक औसत हजार टनों में

१९३९	८४२	१९४७	८९३	१९४८	९२९
१९४५	१००२	१९४८	८५६	१९४९	९९२

यह आंकड़े प्रकट करते हैं कि विभाजन के बाद इस्पात का उत्पाद नीचे गया है। मिलें अपनी क्षमता के अनुसार काम नहीं कर सकीं। कोयले की कमी, श्रम सम्बन्धी कष्ट और यातायात की कठिनाइयां बाधक थीं। इसके अतिरिक्त निपुण कारीगरों की भी कमी थी।

(२) **सूती वस्त्र उद्योग**—भारत में वस्त्र-उद्योग बहुत पुराना है और उसे किसी भी दशा में "शिशु-उद्योग" नहीं कहा जा सकता। किन्तु अत्यधिक पूंजीकरण, सूत के तार में चीन के व्यापार की क्षति, मजदूरी का ऊंचा दाम, ईंधन के ऊंचे दाम सरीखे कारणों से बीसवीं सदी के मध्य में बम्बई के उद्योग भारी कठिनाई में पड़ गए थे। १९२६ में यह मामला टैरिफ बोर्ड के समक्ष पेश हुआ, जिसने निम्न आधार पर सिफारिश की:—

(क) १९२३ से जापानी येन (जापानी मुद्रा) अपने २७ पैंस की विनिमय कीमत से बुरी तरह गिर रहा था। वस्तुतः, १९३५ में वह १४ पैंस तक नीचे चला गया। इस गिरावट ने भारत को जापानी वस्त्र के निर्यात में भारी सहायता दी।

(ख) जापानी मिलें डबल शिफ्ट (रात-दिन) के तरीके पर काम करती थीं। यद्यपि जापान में कपड़े के मजदूरों को जो मजदूरी मिलती थी, वह भारत से कुछ ही अधिक थी, तथापि उनकी प्रति मजदूर की उत्पत्ति कहीं अधिक थी।

(ग) यह उद्योग भारत का सबसे बड़ा राष्ट्रीय उद्योग था। इसमें ४२ करोड़ रु० की पूंजी लगी हुई थी, और १९२६ में साढ़े चार लाख मजदूरों को रोजगार मिला हुआ था। इसलिए इस उद्योग को संरक्षण की आवश्यकता थी।

(घ) जापान ने अपने उद्योग का यंत्रीकरण कर लिया था, जबकि भारतीय उद्योग को विश्व की मन्दी ने बुरी तरह कुचल दिया था।

तदनुसार, टैरिफ बोर्ड ने वस्त्र-उद्योग को पहले से कहीं अधिक संरक्षण प्रदान करने की सिफारिश की। उदाहरण के लिए, दोहरे कते और सादे सूत के तार पर मूल्य के अनुसार ६$\frac{१}{४}$% अथवा १$\frac{१}{२}$ आना प्रति पौंड (दोनों में जो अधिक हो) कर लगाया गया। और असली अंग्रेजी माल पर मूल्य के अनुसार २५% और अंग्रेजी इतर माल पर ३१$\frac{१}{४}$% कर नियत किया गया। बाद में जापान द्वारा विनिमय में अवमूल्यन पर ब्रिटिश इतर कपड़े पर मूल्य के अनुसार २५% कर बढ़ा दिया गया। ब्रिटिश-वस्तुओं पर न्यून-करों के कारण अंग्रेजों को निश्चित लाभ होना था। फलस्वरूप, उन्होंने जापान की कीमत पर भारतीय बाजार का आंशिक लाभ उठाया।

इस संरक्षण के कारण, यद्यपि यह द्विमुखी और सस्तेपन के लिए नितान्त विरोधी कार्यवाही थी और किसी प्रगतिपूर्ण उद्देश्य के लिए नहीं थी, तथापि भारतीय वस्त्र-उद्योग को इससे भारी लाभ हुआ, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है :—

तालिका २[1]

दोहरा और सादा सूत मिलियन पौंडों में			कपड़ा गजों में	
वर्ष	भारत	आयात	भारत	आयात
१९२६-२७	८०७	४९	२,२५८	१,७८८
१९३८-३९	१,३०३	३६	४,२६९	६४७

निम्न तालिका हाल ही के वर्षों में कुल उत्पाद और उसके निर्यात और आयात को प्रकट करती है। निर्यात तीव्र गति से बढ़ रही है और आयात में धीरे-धीरे न्यूनता हो रही है।

1. Statistical Abstract of India.

तालिका ३

निर्मित वस्तुओं का उत्पाद और निर्यात[2]

वर्ष	सूत (मिलियन पौंडों में)	कपड़ा (मिलियन गजों में)	निर्यात कपड़ा (मिलियन गजों में)	आयात कपड़ा (मिलियन गजों में)
१९३९	१,२६३	४,११६	१९२[3]	६४९[3]
१९४९	१,३३०	३,८०५	४६८	९१
१९५०	१,१५७	३,६१४	१,११६	७

(३) **खांड उद्योग**—गन्ना भारतीय पौधा है और यह भारत से दुनिया भर में फैल गया है और इतने पर भी विदेशी सफेद चीनी ने भारत में दृढ़तापूर्वक अपने पाँव जमा लिये थे और १९३१-३२ में ५॥ लाख टन खांड आयात की गयी थी। टैरिफ बोर्ड यह मान गया था कि इस उद्योग ने 'त्रिगुणी-सूत्र' की सब शर्तों को पूरा किया है और उसने सवा सात रुपये प्रति हंडरवेट का संरक्षण प्रदान किया। आर्थिक-संकट के कारण सितम्बर १९३१ में इस दर में २५% के आधिक्य की वृद्धि कर दी गई और इस प्रकार आयात कर में यह वृद्धि ९ रु. १ आ. प्रति हंडरवेट की हो गयी।

संरक्षण की स्वीकृति से खांड उद्योग में भारी क्रान्ति हो गयी ओर कुछ ही समय में यही नहीं कि भारत खांड-विषयक अपनी सब आवश्यकताओं को पूरा करने योग्य बन गया, प्रत्युत उसके पास निर्यात के लिए भी अतिरिक्त वच गया। सरकार से अधिक उत्पाद को रोकने और अयोग्य कारखानों को उखाड़ देने के लिए उत्पाद कर लगा दिया, और उसके साथ ही संरक्षण कर में भी उतनी ही वृद्धि कर दी गयी। इस प्रकार १९३४ में संरक्षण कर के ७ रु. १२ आने प्रति हंडरवेट करके साथ ही १ रु० ५ आने का उत्पाद-कर लगा कर कुल-आयात कर ९ रु. १ आना कर दिया गया। यह फरवरी १९३७ तक रहा, जबकि संरक्षण-कर में न्यूनता करके ७ रु. १२ आने प्रति हंडरवेट कर दिया गया और उसके साथ ही २ रु प्रति हडरवेट का राजस्व कर लगाया गया। ९ रु० ४ आने का कुल आय कर अप्रैल १९३९ तक रहा, जबकि संरक्षण कर में अधिक न्यूनता करके ६ रु. १२ आने कर दिया गया, जिसके अर्थ यह थे कि कुल आयात कर ८ रु. १२ आने प्रति हंडरवेट हो गया। संरक्षण की यह कार्यवाही अप्रैल १९४९ से मार्च १९५० तक पुनः चालू की गयी, और उपरान्त संरक्षण कर हटा दिया गया।

संरक्षण के फलरूप इस उद्योग ने उल्लेखनीय उन्नति की है। वस्तुतः ऐसी गतिशील उन्नति के बहुत थोड़े उदाहरण मिलते हैं। और यह प्रगति मन्दी के वर्षों में भी जारी रही, जबकि भारतीय उद्योग में खांड ही केवल एक चमकता सितारा था। यह गणना की गई है कि १९३५-३६ में गन्ने, गुड़, खांड के उत्पाद में लगे हुए १३१ लाख मजदूरों में से कम-से-कम २५ लाख नये थे और उनमें अन्य २५ लाख ऐसे थे, जिन्हें संरक्षण के कारण रोजगार मिला था। इस उद्योग ने जो उन्नति की है, वह इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि १९३२ और १९३९ के बीच ३२ से बढ़ कर कारखानों की संख्या १३९ हो गयी है, खांड का उत्पाद ४·७ लाख टन से बढ़ कर ७·७ लाख टन हो गया है, जब कि आयात, ५·३ लाख टन से गिर कर केवल ३२ हजार टन रह गई है।

---

2. Ibid—Figures after 1949 and for India without Pakistan.
3. Figures for 1938.

कुछ वर्षों में खांड का उत्पाद इस प्रकार हुआ :—

खांड का उत्पाद (हजार टनों में)

१९३८	९,९४	१९५०	१०,३७
१९४९	१०,४४	१९५१	१२,०० के लगभग

इसकी अनेक त्रुटियों के बावजूद भोक्ता पर इस का भारी बोझा नहीं पड़ा और यह उद्योग फूला-फला है।

(४) **कागज़ और गूद्दे का उद्योग**—१९१४-१८ की लड़ाई ने इस उद्योग को विदेशी प्रतिद्वंद्विता से किंचित मुक्ति दी थी। किन्तु युद्ध को समाप्ति के बाद योरोप के देशों से पुनः भयंकर प्रतिद्वंद्विता आरम्भ हो गयी। इसलिए, १९२४ में उद्योग ने संरक्षण के लिए आवेदन किया। यह पता लगा है कि सबाई-घास (Sabai-Grass) बहुत महंगी है, और इस विदेशी प्रतिद्वंद्विता का मुकाबला होना मुश्किल है। जो भी हो, बांस का गूद्दा पर्याप्त भी है और सस्ता भी है और बांस के बने कागज़ का भविष्य भी उज्ज्वल है, खासकर इसलिए कि योरोप में गूद्देदार लकड़ी की भारी कमी होती जा रही है। तदनुसार, लिखने और छापने के कागज में एक आना पांड की दर से संरक्षण प्रदान किया गया। पैकिंग के कागज को संरक्षण नहीं दिया गया था, क्योंकि यह सिद्ध नहीं किया जा सकता था, कि भारत में इसके उत्पाद को स्वाभाविक सुविधाएं हैं। इसी प्रकार, न्यूजप्रिंट को भी छोड़ दिया गया था। उपरान्त (१९३५ में) लकड़ी के गूद्दे के बने कागज की आयात पर ४५ रु. प्रतिटन का कर लगा दिया गया, ताकि भारत में बांस के गूद्दे का प्रयोग करने का उत्साह बढ़े। १९३९ में संरक्षण की अवधि तीन वर्ष और बढ़ा दो गयी, किन्तु आयात किये गूद्दे (Pulp) का कर मूल्य के अनुसार २५ रु. कम कर दिया गया। संरक्षण इस आधार पर जारी रखा गया था कि इस से प्रगति हुई है और इसे वापिस लेना नयी मिलों के लिए घातक होगा। १९४७ में यह प्रश्न पुनः बोर्ड के सामने रखा गया और संरक्षण हटा लिया गया।

संरक्षण के अधीन इस उद्योग ने पर्याप्त उन्नति की है। १९२५ में ९ मिलों की संख्या से बढ़ कर १९४८ में १६ हो गयी और उसी काल में २० हजार टन की निकासी की अपेक्षा निकासी एक लाख टन हो गयी। मिलों की निर्धारित शक्ति १ लाख ३६ हजार टन की है, और लिखने और छपने के कागज के लिए इस उत्पाद शक्ति को देश की मांग के अनुसार पर्याप्त समझा जाता है।

(५) **दियासलाई उद्योग**—१९२२ तक भारत पूर्णतया विदेशी दियासलाई पर आश्रित था, जबकि प्रति गुर्स पर १·८ रु. का भारी राजस्व-कर (मूल्य के अनुसार १०० प्रतिशत से भी अधिक) दियासलाई की आयात पर लगाया गया। इस कर के आश्रय की पृष्ठ-भूमि में कुछेक छोटे-छोटे कारखानों का जन्म हुआ था।

जापान और स्वीडन के बीच भारतीय बाजार के लिए संघर्ष हो रहा था। इस संघर्ष में स्वीडिश मैच कम्पनी सफल रही और इसने भारतीय तट-कर की दीवार को फांद कर वैस्टर्न इंडिया मैच कम्पनी के नाम से (विमको—Vimco) १९२४ और १९२६ के बीच भारत में अपनी फैक्ट्री आरम्भ कर दी। १९२६ में यह मामला टैरिफ बोर्ड के सामने उपस्थित किया गया और उसने १ रु. ८ आने प्रति गुर्स के राजस्व-कर को संरक्षण-कर में बदल देने की सिफ़ारिश की, और सरकार ने मंजूरी दे दी। दुर्भाग्य से इस संरक्षण-कर की सहायता से स्वीडिश ट्रस्ट ने भारतीय बाजार पर अपना अधिकार जमा लिया। यह ट्रस्ट दुनिया की दियासलाई सम्बन्धी आवश्यकता का ७०

प्रतिशत पूर्ण करता था। इस ट्रस्ट का विश्व भर में प्रसार था। इसने यहां तक कि जर्मन दियासलाई उद्योग पर भी एक सहायक कम्पनी के सहारे अधिकार कर लिया था। कम्पनी अपने भारतीय प्रतिद्वंद्वियों को खदेड़ देने के लिए अपना माल बेचने वालों को बट्टे देती थी, कमीशन देती थी, और इनाम देती थी। इस प्रकार छोटे-छोटे कारखाने या तो समाप्त हो चुके थे अथवा उनकी पूंजी को क्रय करके उन पर अधिकार कर लिया गया था। फलरूप, उसकी उत्पत्ति में विस्तृत वृद्धि हुई और भारतीय उत्पादन में ह्रास हुआ। इस स्पष्ट प्रमाण के बावजूद, टैरिफ बोर्ड ने स्वीडिश कम्पनी के यांत्रिक कृत्यों पर रोक लगाने की कोई सिफ़ारिश नहीं की थी। इस प्रकार, १९४८ में विमको के ५ कारखानों का उत्पादन १८ मिलियन गुर्स हो गया, जब कि भारतीय कम्पनियों द्वारा लगभग २०० कारखानों की उत्पत्ति ७·९ मिलियन गुर्स थी।

यह प्रस्ताव किया गया है कि स्वीडिश संघ का एकाधिकार भंग कर देना चाहिए और एक कमेटी नियत की जाय, जो भारतीय उद्योग कानून में ऐसे विकल्प की तजवीज करे, जो अनुचित व्यापार के तरीकों को कानून-विरुद्ध ठहराये और केवल पूंजी का ही भारतीय-करण न करके उस पर अधिकार भी कर ले।

इस उद्योग की वर्तमान दशा निम्न तालिका में चित्रित की गई है :—

तालिका ४

दियासलाई—उत्पत्ति और आयात

(मिलियन गुर्सों में)

वर्ष	भारतीय उत्पत्ति	आयात
१९३२-३३	१९	६,१४
१९३८-३९	२१	१,२६
१९४९	२६	०
१९५०	२६	०

(६) **नमक उद्योग**—सन् २० के वर्षों में भारत के पूर्वी प्रान्त नमक का उत्पाद नहीं कर सके थे। सरकार का मत था कि भारत में इतना नमक नहीं बनाया जा सकता, जो पूर्वी जिलों की आवश्यकता की पूर्ति कर सके। सरकार ने विधान-सभा में गरमागरम बहस के बाद यह प्रश्न टैरिफ बोर्ड को सौंपा था और उसे यह सूचना देने का आदेश किया था कि विदेशों से नमक की आयात करने वाले क्षेत्रों के लिए भारत में ही नमक के उत्पाद को प्रोत्साहन प्रदान करना उचित है या नहीं।

बोर्ड ने १९३० में रिपोर्ट दी कि भारतीय आवश्तकताओं की पूर्ति के लिए इस उद्योग की उन्नति की जा सकती है; उस समय, अदन, भारत का एक हिस्सा था। उसने भी बाजारी कीमतों को स्थिर रखने के लिए मार्केटिंग बोर्ड की स्थापना की सिफारिश की। तदनुसार १९३१ में, साल्ट सर्वे कमेटी (नमक पर्यवेक्षण समिति) की सिफारिशों के बाद, सरकार ने एक वर्ष के लिए सवा रुपया प्रतिमन के राजस्व-कर के साथ ही सब नमक-आयातों पर (अदन से आने वाले को छोड़ कर) ४।। आने प्रति मन का अतिरिक्त कर लगा दिया और उसे उत्पाद-कर के अनुरूप बना दिया। इस कर से इस उद्योग में तीव्रतापूर्वक प्रगति हुई। उपरान्त, यह कर और एक वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया। १९३२ में, भारत और अदन के बीच कीमतों पर भयंकर संघर्ष हुआ। फलतः १९३५ में आन्तरिक प्रतिद्वंद्विता को दूर करने और कीमतें स्थिर रखने के लिए एक साल्ट मार्केटिंग बोर्ड (नमक क्रय समिति) की स्थापना की गई।

तब से लेकर भारत में नमक निर्माण क्रमशः उन्नति कर रहा है। यह उद्योग इसलिए प्रगति कर रहा है, कि औद्योगिक उद्देश्यों के लिए अधिकाधिक नमक की खपत हो रही है। इस कारण, हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि नमक को संरक्षण की आवश्यकता नहीं। दूसरी ओर, वह रासायनिक उद्योग है, जो नमक का कच्चे माल की तरह इस्तेमाल कर रहा है, और जिसे उन्नति के लिए संरक्षण की दरकार है। भारत में नमक का उत्पाद निम्न तालिका में दर्शाया गया है :—

नमक उत्पाद (मिलियन पौंडों में)

१९३९	४६
१९४९	५६
१९५०	७१

(७) **छोटे-छोटे उद्योग**—कुछेक छोटे-छोटे उद्योग भी थे, जिन्होंने फिस्कल कमीशन की शर्तों को पूरा किया था और उन्हें संरक्षण प्रदान किया गया था अर्थात् मैगनेशियम क्लोराईड, प्लाईवुड, चाय के बक्सों और सोने की तारकशी के उद्योगों को। फलरूप इन उद्योगों ने भी उन्नति की।

मलाया और थाईलैंड से मद्रास के लिए टूटे चावलों की आयात पर १५ आने प्रतिमन का कर लगाया गया। यही नहीं कि मद्रास खाद्य-विषयक अपनी आत्म-निर्भरता को खो रहा था, बल्कि किसानों को भी भारी आघात सहना पड़ा था। गिरती हुई कीमतों के दिनों में विदेशी आयात पर २ रु० प्रति हंडरवेट की कस्टम ड्यूटी (आगम शुल्क) द्वारा गेहूं को भी सहायता दी गई थी।

११. जिन उद्योगों को संरक्षण नहीं दिया गया। हमने उन उद्योगों पर विचार किया है, जिन्हें संरक्षण दिया गया था। अब हम उन उद्योगों पर विचार करेंगे, जिनके लिए या तो टैरिफ बोर्ड ने सिफारिश नहीं की थी, अथवा जिन्हें सरकार ने इन्कार कर दिया था। वह थे :—(१) भारी रसायन; (२) तेल; (३) कोयला; (४) सीमेंट और (५) शीशा।

(१) **हैवी कैमिकल इंडस्ट्रीज (भारी रासायनिक उद्योग)**—इस उद्योग को अक्टूबर १९३१ से मार्च १९३३ तक १८ मास के लिए संरक्षण दिया गया था, किन्तु किन्हीं प्रत्यक्ष कारणों के बिना ही अनन्तर उसे वंचित कर दिया गया।

भारी रसायन दो प्रकार के होते हैं:—(क) तेजाब—गंधक, नमक और शोरा और इन के आधार पर बने मिश्रण, तथा (ख) सोडा, कास्टिक सोडा, सोडियम सल्फाईड, जिंक क्लोराईड, आदि। दूसरे वर्ग के रसायन अभी भारत में बनने आरम्भ नहीं हुए, किन्तु पहले वर्ग के रसायन प्रथम विश्व-युद्ध में बनने लगे थे। जो भी हो, उत्पाद के कारखाने छोटे थे और उत्पाद का मूल्य ऊँचा था। विदेशी प्रतिद्वन्द्विता और विनिमय की चढ़ी दरों के कारण इस उद्योग को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

इस पर यह प्रश्न टैरिफ बोर्ड को सौंपा गया, जिसने पता किया कि रसायन उद्योग के उत्पादों की भारत के अधिकांश उद्योगों के लिए अत्यावश्यकता है, अर्थात् वस्त्र उद्योग के लिए, कागज़ उद्योग, शीशे और चीनी मिट्टी के उद्योग, साबुन उद्योग, नकली रेशम के उद्योग, पेंट और वार्निश उद्योग तथा अन्यों के लिए। यही नहीं कि यह मूल उद्योग हैं, प्रत्युत रसायन उद्योग राष्ट्रीय रक्षा के लिए भी अत्याज्य हैं, क्योंकि गन्धक और शोरे के तेजाब बारूद के निर्माणार्थ मूलतः दरकार होते हैं। इनके अतिरिक्त, खादों के निर्माण के लिए, जैसे सुपरफासफेट्स और अमोनिया सल्फट की (नमक

और नौसादर) धान, गन्ने, रबड़ और चाय की पैदावार बढ़ाने के लिए रासायनिक उत्पादों की अत्यावश्यकता है।

बोर्ड ने सिफारिश की (क) वर्तमान मूल्य के अनुसार राजस्व-कर विशेष संरक्षण करों में बदले जाँय, (ख) १८ रु० प्रति टन की सरकारी सहायता सुपरफास-फेट्स पर, जिनका खाद के रूप में उपयोग होता है, दी जाय और (ग) रेलों के किराये-भाड़े में कमी की जाय।

सरकार ने इस समस्या को सहानुभूतिपूर्ण ढंग से नहीं देखा और अनुरोध किया कि संरक्षण नहीं दिया जा सकता। क्योंकि गन्धक का अभाव है, किन्तु विधान-सभा और जनता के भारी दबाव के बाद १८ मास के लिए संरक्षण दिया गया और अनन्तर, इस क्षीण आधार पर कि संघ-निर्माण असंभव जान पड़ता है और यह उद्योग अभी पूरी तरह उन्नत नहीं हुआ, संरक्षण को बन्द कर दिया गया।

(२) **तेल उद्योग**--१९२८ में, बर्मा शैल ग्रुप और स्टैंडर्ड आइल कम्पनी के बीच दरों के विषय में संघर्ष चल रहा था। उस समय बर्मा भारत का एक भाग था। और अटक आइल कम्पनी भी बर्मा-दल में शामिल थी। जो भी हो, भारत में मिट्टी का तेल स्टैंडर्ड आइल कम्पनी द्वारा दुनिया की साम्य-कीमतों से नीचे बिक रहा था।

जांच करने पर टैरिफ बोर्ड को पता लगा कि कीमतों का संघर्ष बर्मा शैल दल ने शुरू किया था और एशियाटिक पैट्रोलियम कम्पनी ने विश्वास दिलाया था कि उन्हें जो हानि होगी, उसकी पूर्ति कम्पनी कर देगी। उद्देश्य यह था, "अच्छी से अच्छी कीमत जो मिल सके, उसे वसूल न करना, बल्कि ऐसी कीमतों को चलाना, जो अपना उद्देश्य पूरा कर सकें, ताकि स्टैंडर्ड आइल कम्पनी बाध्य होकर समझौता करे।" इस प्रकार यह स्पष्ट था, "संरक्षण इसलिए मांगा गया था कि वह स्वतः कीमत-संघर्ष को धन दे सके और स्टैंडर्ड आइल कम्पनी की लड़ाई का बोझा मिट्टी के तेल की खपत करने वाले भारतीय भोक्ताओं पर सरक जाय।"[1] दर-संघर्ष भारतीय भोक्ताओं के लिए न तो वर्तमान में अहितकर था और न ही भविष्य में। फलतः बोर्ड और उसके साथ ही सरकार ने "स्थानीय" उद्योग को रक्षा देने से इंकार कर दिया।

(३) **कोयला उद्योग**--जूट, कपास, लोहा और इस्पात सरीखे अनेक महत्व-पूर्ण उद्योग कोयले पर आश्रित हैं। यह एक मौलिक उद्योग है। किन्तु रेलें कोयले की सब से अधिक खपत करने वाली हैं। जो भी हो, उनकी निजी कोयले की खानें हैं और वह कोयले के बाजार में तभी प्रवेश करती हैं, जब कीमतें बहुत नीची हों। इस प्रकार, कभी ही ऐसा होता है कि वह बाजार का लाभ उठा सकने की स्थिति में हों। १९२६ में, जब टैरिफ बोर्ड से कोयला उद्योग के संरक्षण के सम्बन्ध में कहा गया, तो यह उद्योग कठिन स्थिति में था। भारत में वैगनों की कमी और ऊँचे भाड़ों के कारण सरकारी सहायता-प्राप्त अफ्रीका के कोयले ने बम्बई और कराची से भारतीय कोयले को खदेड़ दिया था। इस प्रकार, भारतीय कोयले को भीषण विनाश का सामना करना पड़ा था।

टैरिफ बोर्ड ने निर्णय किया कि रक्षात्मक-कर की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उद्योग की भावी प्रगति संरक्षण पर आश्रित नहीं। उसकी युक्ति थी कि उद्योग की कठिनाई का कारण आवश्यकता से अधिक उन्नत होना है। टैरिफ बोर्ड की अल्प संख्या

---

1. Adarkar, p. 360.

न सिफारिश की थी कि दक्षिण अफ्रीका के कोयले पर डेढ़ रुपये का प्रतिरोधी कर लगाया जाय, किन्तु बहुसंख्या ने इस आधार पर इससे भी इन्कार कर दिया कि इस प्रकार के कर से बदले की भावना उत्पन्न होगी। सरकार बहुमत के साथ सहमत थी और उसने सहायता से इंकार कर दिया।

(४) **सीमेंट उद्योग**—१९२४ में, आन्तरिक और ब्रिटिश प्रतिद्वंद्विता से सीमेंट उद्योग विनाश के किनारे पहुँच गया था। बन्दर-स्थित नगरों में ब्रिटिश प्रतिद्वंद्विता तो और भी जोरों पर थी। यद्यपि ब्रिटिश सीमेंट भारतीय की अपेक्षा कोई बढ़िया तो था नहीं, तथापि भारतीय भोक्ताओं को ब्रिटिश-उत्पाद के लिए विशेष दिलचस्पी थी। इसके अतिरिक्त, उत्तरी फैक्ट्रियों से समुद्र-तट पर स्थित नगरों तक का रेल-भाड़ा भी भारतीय जिन्स के लिए एक बाधा थी। जांच करने पर देखा गया कि इन नगरों की खपत भारत को सीमेंट की कुल खपत से आधी से अधिक है।

टैरिफ बोर्ड ने उद्योग के भविष्य और उसकी संरक्षण की मांग पर विचार किया। वह इस परिणाम पर पहुँचा कि भारत सीमेंट उत्पाद को सभी स्वाभाविक सुविधाओं से सम्पन्न है। भारत में उपयुक्त गुणवाली मिट्टी और चूने का पत्थर पर्याप्त मात्रा में है। यहाँ खड़िया मिट्टी भी पैदा होती है जो एक अन्य कच्चा पदार्थ इसके लिए आवश्यक है। श्रम भी यहां बहुत है और इसके बनाने के ढंग में बहुत कारीगरी की भी आवश्यकता नहीं होती। किन्तु बोर्ड इस निश्चय पर पहुंचा कि संरक्षण-कर भारतीय सीमेंट उद्योग के लिए सहायक नहीं होंगे, क्योंकि "आन्तरिक विनाशकारी संघर्ष" विद्यमान है। उसने संकोच के साथ तटवर्ती या उसके आसपास के नगरों तक जाने वाले सीमेंट के लिए सरकारी सहायता की सिफारिश की और सीमेंट की आयात पर मूल्य के अनुसार तदनुरूप कीमत के कर की जगह ९ रु० प्रति टन के विशिष्ट कर की सिफारिश की। बोर्ड ने इस क्रम में यह शर्त भी रखी कि सरकार तब तक कोई सरकारी सहायता प्रदान न करे, जब तक उसे यह निश्चय न हो जाय कि ऐसी सहायता भारतीय सीमेंट की कीमतें नहीं गिरायेगी।

सरकार ने स्वभावतः इन शर्तों वाली तजवीजों को मानने से इंकार कर दिया। किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि १९२४ में जब टैरिफ बोर्ड ने जांच की थी, तो "सीमेंट उद्योग को किसी भी अन्य उद्योग की तरह संरक्षण का अधिकार था, क्योंकि उसने सभी अनिवार्य शर्तों को पूरा किया था।" संरक्षण अस्वीकार होने के तत्काल ही बाद तीन कम्पनियां दिवालिया हो गईं। यदि उद्योग ने अपने को पहले से इंडियन सीमेन्ट मैन्युफैक्चरिंग एसोसिएशन (१९२६) और अनन्तर एसोशिएटिड सीमेंट कम्पनीज लि० (१९३५) के रूप में संगठित न किया होता तो उसका विनाश हो गया होता। इसलिए, यह कहने में संकोच नहीं होता कि सरकार ने राष्ट्रीय महत्व के इस उद्योग को संरक्षण प्रदान करने से इंकार करके "कुछ-कुछ दायित्वहीनता" का परिचय दिया।

(५) **शीशे का उद्योग**। इस उद्योग का मामला १९३२ में टैरिफ बोर्ड के समक्ष गया। बोर्ड ने निर्णय किया कि सोडा एश के सिवा सब कच्चे पदार्थ भारत में उपलब्ध हैं। केवल एक ही कमी है कि सोडा एश पर्याप्त मात्रा में यहां उपलब्ध नहीं है। इसका अभाव इसलिए नहीं कि सोडा एश बनाने के लिए मूलभूत पदार्थ नहीं मिलता, बल्कि इसलिए कि उस समय यह उद्योग ही विद्यमान नहीं था। आज तो इंपीरियल कैमीकल इंडस्ट्रीज, टाटा कैमिकल्स और धरंगधरा कैमिकल्स सोडा एश तैयार कर रहे हैं।

टैरिफ बोर्ड ने इस उद्योग के लिए संरक्षण की सिफारिश इस आधार पर की थी कि भारत में सोडा एश बनाने के लिए उचित साधन मौजूद हैं। फलतः सरकार का इस आधार पर संरक्षण से इंकार करना कि सोडा एश विदेशों से आयात किया जाता है, सर्वथा अनुचित था।

१२. विवेकपूर्ण संरक्षण नीति के परिणाम। इस नीति के कारण मुख्य लाभ इस प्रकार हुए :—

(१) उन रक्षा-हीन उद्योगों की तुलना में रक्षा-प्राप्त उद्योगों ने मंदी के समय में बेहतर स्थिति बनाये रखी। वस्तुतः, सन् ३० की मंदी में संरक्षण-प्राप्त उद्योगों ने अपना विस्तार किया और अन्य उद्योग काफी संकुचित हुए।

(२) संरक्षण-प्राप्त उद्योगों ने १९२३ से पर्याप्त मात्रा में उन्नति की जैसे कि नीचे के आंकड़ों से यह प्रकट हो जाता है :—

उत्पाद का क्रम (१९२२ से ५२)

उद्योग	१९२२[1]	१९३२[1]	१९३९[1]	१९४९[1]	१९५२[2]
इस्पात के टुकड़े (००० टनों में)	१३१	५९१	१,०४२	१,३३०	१,४१४
सूती कपड़ा (मिलि० गज)	१,७१४	३,१७०	४,११६	३,८०५	३,६१४
दियासलाई (मिलि० गुर्स)	१६	१९	२२	२६	२६
कागज और गत्ता (००० टनों में)	२४	४०	६७	१०३	१०९
खाँड का गन्ना (००० टनों में)	२४	१५३	९३१	१,०१०	१,०३४

(३) संरक्षण द्वारा भारतीय आर्थिक स्थिति को भी जैसे-तैसे सहायता मिली। रासायनिक, तारें बनाने और कील बनानें जैसे अनेक नये उद्योगों का जन्म हुआ।

(४) नये उद्योगों की स्थापना और पुरानों के विस्तार के फलस्वरूप इस देश के लोगों को रोजगार मिलने की संख्या में भी महान् वृद्धि हुई। इस प्रकार, यह देखा जाता है कि १९३१ में कारखानों में रोजगार पर लगे लोगों का संख्या १४ लाख थी, १९३९ में वृद्धि होकर १८ लाख हुई और १९५० में २४ लाख से भी अधिक हो गई।

भारत में भोक्ता पर संरक्षण के बोझे के विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है। इसमें संदेह नहीं कि संरक्षण में ऊंची कीमतों के रूप में कुछ बोझा अवश्य निहित है। किन्तु यह बोझा संरक्षण की राशि और उस अवधि पर निर्भर करता है कि जिसके लिए वह स्वीकार किया जाता है। इस बोझे को नापने के लिए हमें संरक्षण करों की दरों और साथ ही राजस्व करों की दरों की तुलना करनी होगी बशर्ते कि संरक्षण न हो। हमें यह भी निश्चय करना होगा कि कितनी मात्रा में जिन्स की आयात हुई, कितनी मात्रा घर में उत्पाद को गयी, और संरक्षण के पूर्व और उपरान्त आन्तरिक बाजार में उसकी क्या कीमत थी। इन आंकड़ों से संरक्षण-प्राप्त उद्योगों द्वारा होने वाली शुद्ध अतिरिक्त आय के रूप में राष्ट्र के लाभों की गणना कर सकते हैं। इस शुद्ध आय में लाभ, अतिरिक्त मजूरियां, पूंजी का ब्याज और साथ ही सरकार को दिये जाने वाले टैक्स भी सम्मिलित हैं। ऊपर के तथ्यों को ध्यान में ले आने के बाद हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि "अपने सीमित क्षेत्र के भीतर विवेक-पूर्ण संरक्षण की नीति ने उचित रूप में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है और इन मुख्य उद्योगों को संरक्षण-प्रदान करने से समाज को जो सीधे और विकृत लाभ हुए हैं, उनका शेष भोक्ता के बोझे को नष्ट कर देता है।"

1. Fiscal Commission Report, 1951.
2. Monthly Abstract of Statistics.

१९४५ से संरक्षण-प्राप्त उद्योगों के नतीजे को सही-सही जान लेने का अभी समय नहीं हुआ। भारत में बहुमूल्य सामग्री को प्राप्त करने की कठिनाइयों और ऊंची मंजूरियों तथा मुद्रा-विस्तार की कीमतों के फलस्वरूप अन्य मंहगाइयों के कारण यह अनुमान किया जा सकता है कि अन्य अवस्थाओं की अपेक्षा यह बोझा अधिक है। जो भी हो, यह तो कहा जा सकता है कि यदि विगत काल में दुनिया की परिस्थितियां अधिक अनुकूल होतीं, तो भारत की आर्थिक दशा वर्तमान-जैसी त्रिशंकु रूप में न होती और उसके औद्योगिक स्थापन में वर्तमान-जैसी अनेक खाइयां दृष्टिगोचर न होतीं।

१३. क्या संरक्षण बोझ है ? प्रायः यह कहा जाता है कि संरक्षण बहुत मंहगा है और किसान उसके बोझे तले पिस रहा है। विश्लेषण करने पर पता लगता है कि संरक्षण-प्राप्त अधिकांश वस्तुएं ग्रामों में प्रवेश ही नहीं कर पातीं और शहरी क्षेत्रों के मध्यम तथा उच्च वर्ग में ही उनकी खपत हो जाती है। रेशम, बारीक वस्त्र, शराब, शीशे का सामान, चीनीके बर्तन, रंग-रोगन, घड़ियां और कटलरी आदि जैसी वस्तुएं आवश्यकताएँ नहीं हैं और ग्रामीण-घरों में उनका स्थान भी नहीं। न ही ग्रामवासी कागज, सफेद चीनी और इस्पात का अधिक उपयोग करते हैं। वस्त्रों पर लगाये गए कर कीमतों में कमी करने और विदेशी मुद्राओं में कीमतें घटाने के विरुद्ध सुरक्षा के लिए थे। सरकार ने केवल उस अनुचित लाभ को हटाया था कि जिसे भोक्ता निर्माता की कीमत पर ले रहा था। इसलिए, यह जनगण नहीं कि जो संरक्षण की कीमत देता है, प्रत्युत शिक्षित मध्यमवर्ग है, जो हमेशा से इसका समर्थन करता आया है।

इन सबको छोड़कर, इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि संरक्षण की नीति से, भले ही वह सम्पूर्ण न थी, हमें हानि की अपेक्षा लाभ अधिक हुआ है। बहुत बड़ी संख्या में लोगों को रोजगार मिला है। अनेक ऐसे साधनों का उपयोग किया गया है, जिनकी ओर कभी ध्यान तक नहीं गया था। खांड-उद्योग ने संरक्षण के लाभों का अभूतपूर्व प्रमाण दिया है। कागज के लिए बांस के गूद्दे का इसके बिना कभी भी उपयोग न हो पाता। वस्तुतः, देश की कुल खपत में वृद्धि और साथ ही उसमें राष्ट्रीय लाभांश से, चाहे वह थोड़ी ही हो, इन्कार नहीं किया जा सकता।

१४. विवेकपूर्ण संरक्षण की नीति की आलोचना। इस वस्तुस्थिति से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस नीति ने भारत को कुछ उद्योगों की उन्नति करने के योग्य बनाया है और कुछ को विनाश से बचाया है। लोहे, इस्पात, कपास, खांड और कागज के उद्योग इसके चिर-आभारी रहेंगे।

किन्तु इस विवेकपूर्ण नीति को कुछ भारतीय अर्थशास्त्रियों ने आड़े हाथों भी लिया है।[1] कुछ का कहना है कि यह सब विवेकपूर्ण ही था और संरक्षण नहीं था। श्री बी. पी. आदरकर के कथानुसार, "इसके द्वारा सरसरी सहायता की अपेक्षा कोई विशेष कृपा प्रदान नहीं की गई। भारतीय उद्योगों को ऐसी ईर्षापूर्ण और भेद-भाव पूर्ण सहायता मिली कि उनकी भावी प्रगति को उनके स्वाभाविक मार्ग पर छोड़ दिया गया।" विवेकपूर्ण संरक्षण की नीति ने भारतीय अर्थशास्त्रियों की आशा को पूर्ण नहीं किया और न ही उनमें विश्वास उत्पन्न किया। भारत में जो कुछ अल्प-काल में इसके द्वारा प्राप्त हुआ, उसकी तुलना, रूस और जापान में होने वाले इसके प्रभावों

I. Vide Vakil & Munshi—Industrial Policy with special reference to Tariffs : D. K. Malhotra—Review of Fiscal Policy, B. P. Adarkar—Indian Fiscal Policy.

के साथ नहीं की जा सकती। मुख्यतः, अब भी हमारा देश कृषि-प्रधान ही है, और औद्योगिक भारत का हमारा आदर्श अभी दूर है।

वास्तविकता यह है कि संरक्षण-स्वीकृति की जो शर्तें रखी गई थीं, वह बहुत ही कड़ी थीं। पहली दो शर्तें तो अतुलनीय दृष्टिगोचर होती थीं। यदि एक उद्योग को सभी स्वभाविक लाभ प्राप्त हों, तो उसे संरक्षण की आवश्यकता ही नहीं होगी। तीसरी शर्त तो केवल विवाद का ही विषय है और आयात तो अधिकांशतः व्यक्तिगत तत्त्व ही है। इससे आगे, उस उद्योग को क्यों संरक्षण नहीं दिया जाना चाहिए, जिसका यदि अपने देश में तो बाजार नहीं, किन्तु उसके निर्यात का बहुत-बड़ा बाज़ार हो। एक ऐसा उद्योग भी इसका अधिकारी हो सकता है, चाहे भले ही उसे कुछ कच्चे पदार्थों की आयात करनी पड़े। किन्तु ऐसे उद्योग इस योजना के अनुसार संरक्षण नहीं प्राप्त कर सकते। विदेशों में भी ऐसी शर्तों को पूरा कर सकने वाले अनेक उद्योग नहीं हैं और यदि उन्हें भी ऐसा ही करने को कहा जाता तो वह कदापि उन्नत न हो पाते। इसके अतिरिक्त, यह नीति केवल उन्हीं उद्योगों पर लागू हो सकती थी, जो पूर्व से ही विद्यमान हों। इसके द्वारा नये उद्योगों का निर्माण ही नहीं हो सकता था।

टैरिफ बोर्ड का विधान, संगठन, कृत्य और कार्यक्रम ऐसे नहीं थे, जिससे उद्योगों को प्रभावकारी और सामयिक सहायता मिल सकती। कार्यकारी वर्ग ने ही सदस्यों का चुनाव किया था और शर्तें भी उसी ने बनाई थीं। इसके अतिरिक्त उनकी इच्छा पुनः नियत होने की भी होती थी। वह लोग, जो अफ़सराना चमक-दमक में रहते हैं, उनसे स्वतन्त्र दृष्टिकोण की आशा नहीं की जा सकती। इसके साथ ही उनके हाथ सांकेतिक शर्तों द्वारा भी कसे हुए थे। प्रत्येक उद्योग के लिए नया बोर्ड बनाया जाता था। इस प्रकार सदस्यों में अनुभव की तारतम्यता का अभाव हो जाता था।

यह आपत्ति की गई है कि बोर्ड का दृष्टिकोण प्रायः अत्यधिक कानूनी होता था और चूंकि उनकी इच्छा दोनों स्तरों को समान रखने की होती थी, इसलिए वह भारतीय उद्योग की आवश्यकता के प्रति सहानुभूति दिखाने में असफल रहे थे। १९२७ में इस्पात के उद्योग को संरक्षण देने के मामले में और १९३० में वस्त्र-उद्योग को संरक्षण प्रदान करने के प्रश्न पर शाही रियायत (Imperial Preference) से सहज ही पता चलता है कि विदेशी स्वार्थ उनके निर्णयों को प्रभावित करते थे। इसके अलावा, कार्यक्रम बहुत ही दीर्घसूत्री था। टैरिफ बोर्ड अपनी सुख-सुविधा के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाता था और सदस्य अपनी सुविधानुसार रिपोर्ट तैयार करते थे और उसके बाद सरकार अपना समय लेती थी। कभी-कभी तो रिपोर्ट प्रकाशित होने में एक वर्ष लग जाता था। उपरान्त, सरकार अपने प्रस्तावों को रूप देने के लिए कुछ समय लेती थी और विधान सभा को भी कुछ समय की आवश्यकता होती ही थी। इस प्रकार की मंथर-गति वाली योजना से व्यावहारिक स्थिति का, जो जल्दी-जल्दी बदल जाती है, मुकाबला करने की आशा नहीं की जा सकती थी। संभव था कि उद्योग का अन्त ही हो रहा हो, किन्तु कोई भी सामयिक सहायता नहीं दी जा सकती थी। बहुत से मामलों पर यह बात घटती थी, 'कि नीरो मौजों में पड़ा था, जबकि रोम में आग लगी हुई थी।' अनेक मामलों में, टैरिफ बोर्ड की सिफारिशों को सरकार रद्द कर देती थी, यद्यपि उसे विज्ञ संस्था माना जाता था। समय-समय पर होने वाली जांचों से अनिश्चय की भावना बढ़ती थी। जब हमें यह स्मरण होता है कि सीमेंट, शीशे, कोयले, तेलों, ऊन और छापे की स्याही के उद्योगों को संरक्षण देने से इंकार किया गया

(२) जैसे और जब आवश्यकता हो, सरकार को ऐसे उपायों के विषय में परामर्श देना, जिनके द्वारा आंतरिक उत्पाद अत्यधिक किफायत के साथ प्राप्त किया जा सके।

(३) जैसे और जब सरकार द्वारा आवश्यकता होने पर, देश में उत्पन्न की गई जिन्स के उत्पाद मूल्य की जांच करना और उसकी थोक, खुदरा अथवा अन्य कीमतों के विषय में निश्चय करना, और उनके सम्बन्ध में सूचना देना।

(४) जैसे और जब आवश्यकता हो कीमतें घटाने के विरुद्ध भारत के उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के लिए सिफारिश करना।

(५) जैसे और जब आवश्यक हो, विभिन्न वस्तुओं के मूल्यानुसार करों और विशिष्ट करों और आयात-निर्यात करों और अन्य देशों को दी गई आयात-निर्यात-कर विषयक रियायतों के प्रभावों का अध्ययन करना।

(६) जैसे और जब आवश्यक हो, संघों, ट्रस्टों, एकाधिकार और व्यापार सम्बन्धी अन्य रुकावटों के विषय में सूचना देना, जो उत्पाद पर रोक लगाने या कीमतें चढ़ाने से संरक्षण-प्राप्त उद्योगों पर प्रभावित हो सकती हैं और ऐसे चलनों को रोकने के लिए उपायों और साधनों की तजवीज करना।

(७) संरक्षण-प्राप्त उद्योगों की प्रगति के विषय में, जैसे और जब आवश्यक हो, जांच द्वारा निरन्तर निगाह रखना, संरक्षण करों या अन्य स्वीकृत सहायता के साधनों के प्रभावों पर दृष्टि रखना, और सरकार को स्वीकृत सहायता या संरक्षण में सुधार की आवश्यकता या अनावश्यकता के सम्बन्ध में परामर्श देना; यह विश्वास करने के लिए कड़ी दृष्टि रखना कि संरक्षण की स्वीकृति की सम्बन्धित शर्तों का पूरा-पूरा पालन किया जा रहा है ओर रक्षित उद्योग योग्यतापूर्वक चलाये जा रहे हैं।

बोर्ड को अनेक उद्योगों की जांच के लिए कहा गया था, जैसे, प्लास्टिक की वस्तुओं, शीशे की वस्तुओं, स्लेटों ओर स्लेटी पैंसिलों, मैगनीशियम क्लोराईड, रेशम, नकली रेशम, सोने और चांदी की तारों का उद्योग और खांड का उद्योग। बोर्ड ने सूती वस्त्र और सूत, इस्पात और कागज की कीमतों की जांच की थी और संरक्षण हटाने की सिफारिश की थी। १९५० में इस उद्योग में अशान्ति फैली होने के कारण खांड उद्योग पर से संरक्षण हटा लेने की सिफारिश की गई थी। सरकार ने बोर्ड की सब सिफारिशों को स्वीकार कर लिया।

टैरिफ बोर्ड को सरकार ने जो नये कृत्य सौंपे थे, उनसे स्पष्ट था कि सरकार इस बात के लिए चिन्तित है कि भोक्ताओं के हितों की रक्षा की जाय। बोर्ड साईकिलों, कास्टिक सोडा, ब्लीचिंग पाऊडर और कैल्शियम क्लोराईड के विषय में पुनः विचार कर रहा है। अन्य उद्योगों का परीक्षण भी होने जा रहा है।

(ब) प्रस्तावित आयात-निर्यात कर निर्मातृ समिति का ढांचा और कृत्य (१९५०)—राज-कर (फिस्कल) कमीशन ने भावी टैरिफ (आयात-निर्यात-कर) अधिकारी वर्ग के विषय में निम्न सिफारिशें की हैं :—

(१) टैरिफ कमीशन का दर्जा—भावी टैरिफ अधिकारीवर्ग को टैरिफ कमीशन का नाम देना चाहिए। यह अन्य देशों की भांति स्थायी संस्था होनी चाहिए। इस अधिकारी-वर्ग को कानूनी रूप दे देना चाहिए।

(२) **संगठन**—सभापति सहित इसके ५ सदस्य होंने चाहिएं। किन्तु, आवश्यकता होने पर, कानून में सात सदस्यों तक वृद्धि करने का अधिकार होना चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर विशेष उद्देश्य के लिए परामर्शदाता मिलाने का भी अधिकार होना चहिए। जो भी हो, फिस्कल कमीशन ने निश्चित रूप से प्रकट किया है कि टैरिफ कमीशन में क्षेत्रीय हितों के प्रतिनिधित्व को स्थान नहीं होना चाहिए।

(३) **कृत्य**—कमीशन के कृत्यों के विषय में निम्न तजवीजें की गई हैं :—

(अ) संरक्षण और राजस्व आयात-निर्यात करों से सम्बन्धित जांच करना। इनमें यह भी सम्मिलित होंगे :—

(क) संरक्षण के आवेदन-पत्रों की जांच,

(ख) कथित कीमतें घटाने के मामलों की जांच,

(ग) संरक्षण या राजस्व-करों की भिन्नता की जांच;

(घ) व्यापार समझौतों के अधीन आयात-निर्यात कर सम्बन्धी रियायतों की जांच।

नम्बर (क) और (घ) की साधारणत: जांच भारत सरकार द्वारा की जायगी। अन्य दो मदों में कमीशन स्वत: अपनी इच्छा से जांच कर सकेगी।

(ब) देश की अर्थ-व्यवस्था पर संरक्षण के सामान्य प्रभावों और कीमतों से सम्बन्धित प्रश्नों की जांच करना। कमीशन इन जांचों को केवल सरकार के आदेश पर करेगी।

(स) **संरक्षण-प्राप्त उद्योगों का परीक्षण**—इस शीर्षक के अधीन निम्न बातों की भी जांच होगी : संरक्षण-प्राप्त जिन्सों के मूल्य उत्पत्ति, गुण और उद्योगों के विस्तार की संभावना पर प्रभाव, संरक्षण-प्राप्त उद्योगों के व्यापार पर लगाई गई रोक से सम्बन्धित प्रगति की जांच करना; संरक्षण-प्राप्त उद्योगों पर लादी गई विशिष्ट जिम्मेदारियों की जांच करना। यह तजवीज की गई है कि कमीशन समय-समय पर सरकार को परीक्षण की सूचना दिया करे; संरक्षण प्राप्त उद्योगों के कार्य करने के तीन वर्ष बाद ऐसी सूचना देना बेहतर होगा।

(४) **अधिकार**—कमीशन अपने कृत्यों को योग्यतापूर्वक निभा सके, इस उद्देश्य से गवाहों को बुलाने और गवाहियां ले सकने के लिए उसे विशेष अधिकार दिये गए हैं।

(५) **कर्मचारीवर्ग**—कमीशन के कृत्यों को पूर्ण करने के लिए स्थायी कर्मचारीवर्ग रखने की तजवीज की गई है। उस वर्ग में आर्थिक अनुसंधान, हिसाब-किताब और प्रबन्ध के लिए कुशल व्यक्ति रहेंगे। कमीशन का मन्त्री सारे संगठन का केन्द्र होगा। यह भी तजबीज की गई है कि कमीशन की जांच सामान्यत: सार्वजनिक हुआ करेगी।

निष्कर्ष—इससे भी आगे, यह तजवीज है कि जांच समाप्त होते ही टैरिफ कमीशन अपनी रिपोर्ट भारत सरकार को सौंप दे और सरकार कमीशन की सिफारिशों के अनुसार सामान्यत: दो मास के भीतर अपना निर्णय करे। इस प्रकार, तात्कालिक निर्णय के महत्व को मान्यता दी गई है। यह भी तजवीज की गई है कि संरक्षण के अलावा, भारत में उद्योगों की प्रगति के लिए राजकर-रहित सहायता भी दी जानी चाहिए और सम्बन्धित अधिकारियों को दी गई सहायता के उपायों पर एक वक्तव्य टैरिफ कमीशन को देना आवश्यक होगा।

१७. भारत में भावी फिस्कल नीति। संरक्षण की नयी कल्पना—भविष्य में

अपने उद्योगों को उन्नत करने के सम्बन्ध में संरक्षण की नीति का आश्रय लेने के विषय में कोई भी मत-भेद नहीं है। जो भी हो, १९४९-५० की फिस्कल कमीशन ने किन्हीं सिद्धान्तों का निर्माण किया है, जिनके अनुसार उद्योगों को संरक्षण दिया जाना चाहिए। यह सिद्धान्त १९२१ की फिस्कल कमीशन के विवेकपूर्ण संरक्षण के नियमों से भिन्न हैं। इन सिद्धान्तों को भारत के नये विधान के अनुसार तैयार किया गया है, जिसका आदेश है कि देश में किसी भी रूप में बेकारी न रहे, सब स्वाभाविक साधनों का उपयोग किया जाय और उत्पाद के स्तर में प्रगतिशील वृद्धि होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त, कृषि उद्योगों, वस्त्र उद्योगों और सहकारिता के आधार पर छोटे स्तर के उद्योगों को उन्नत करने के लिए विशेष उपाय करने चाहिएं। उनके साथ ही परिष्कृत आर्थिक-दशा के साथ विस्तृत औद्योगीकरण भी होना चाहिए। तदनुसार, फिस्कल कमीशन ने निम्न सिफारिशें की हैं :—

(१) **कि रक्षा तथा अन्य सेना-उपयोगी उद्योगों** का राष्ट्रीयता के नाते किसी भी कीमत पर संरक्षण होना चाहिए;

(२) **कि आधारमूलक उद्योगों के सम्बन्ध में,** टैरिफ बोर्ड संरक्षण के ढंग तथा अन्य शर्तों का निर्णय करेगा और साथ ही उन लगाई हुई शर्तों का समय-समय पर परीक्षण करता रहेगा, और

(३) **कि अन्य उद्योगों के सम्बन्ध में,** संरक्षण के लिए जो सिद्धान्त लागू किया जायगा, वह इस प्रकार होगा :—

> "जिन आर्थिक लाभों से उद्योग संपन्न हो अथवा जो उसे उपलब्ध हो अथवा जो उसके उत्पाद की असली या सम्भावित कीमत हो, उसे दृष्टि में रखते हुए, और जिसके विषय में यह सम्भावना हो कि वह संरक्षण अथवा सहायता के बिना भी उचित समय के भीतर पर्याप्त प्रगति करने के योग्य हो जायगा और/अथवा यह एक ऐसा उद्योग है, जिसे राष्ट्रीय हित की दृष्टि से संरक्षण अथवा सहायता की स्वीकृति होनी चाहिए, और इस बात को दृष्टि में रखते हुए कि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष लाभों और ऐसे संरक्षण या सहायता का संभावित मूल्य समाज के लिए अत्यधिक न हो।"

फिस्कल कमीशन ने निम्न सिफारिशें और भी की हैं :

(**अ**) यदि उद्योग आन्तरिक बाजार, श्रम-पूर्ति आदि सरीखे आर्थिक हितों से सम्पन्न हो, तो संरक्षण प्रदान करने के लिए कच्चे पदार्थों की स्थानीय उपलब्धि की शर्त नहीं होनी चाहिए।

(**ब**) सामान्यतः, एक उद्योग से, जो संरक्षण चाहता है, सम्पूर्ण घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति की आशा नहीं करनी चाहिए।

(स) एक उद्योग को संरक्षण देने के लिए एक ठोस निर्यात बाजार को दृष्टि में रखना चाहिए।

(द) जो उद्योग संरक्षण-प्राप्त उद्योगों के उत्पादों का प्रयोग कर रहे होंगे, उन्हें बदले में संरक्षण की आवश्यकता होगी। यह इस बात पर निर्भर करेगा कि किस ढंग के कच्चे पदार्थ वह प्रयोग में लाता है, किस ढंग का अतिरिक्त बोझा भोक्ता पर पड़ता है, और निर्मित जिन्सों की मांग का ढंग कैसा है, आदि।

(ई) नये उद्योगों के विषय में संरक्षण के विश्वास के लिए और भी विशेष

आवश्यकता है, क्योंकि एक तो प्रारम्भिक पूंजी के व्यय की मात्रा बढ़ी होती है, और दूसरे विशिष्ट जानकरों की भी आवश्यकता होती है ।

(फ) राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से कृषि उत्पादों को संरक्षण दिया जा सकता है; किन्तु ऐसे संरक्षण की स्वीकृति देते समय जिन्सों की संख्या यथासंभव न्यून होनी चाहिए; और संरक्षण भी अल्प-काल के लिए होना चाहिए; एक समय में ५ वर्ष से अधिक का नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त संरक्षण की योजना के साथ कृषि-उन्नति का कार्यक्रम अवश्य होना चाहिए और ऐसी संरक्षण-प्राप्त जिन्सों के विषय में सरकार को वार्षिक विवरण दिया जाना चाहिए।

(ज) संरक्षण-प्राप्त उद्योगों पर उत्पाद-कर लगाना उचित नहीं, और बजट सम्बन्धी अत्यावश्यकताओं के अवसर पर ही ऐसे करों को चालू करना चाहिए।

देश के उद्योगों को सहायता प्रदान करने के कतिपय अन्य उपाय भी हैं। फिस्कल कमीशन की राय है कि संरक्षित आयात-निर्यात-करों की राजस्व आय में से प्रतिवर्ष डिवैलपमैंट फंड (प्रगतिकारी कोष) के रूप में एक अंश अलग कर देना चाहिए। इस प्रकार के कोष में से जरूरतमन्द उद्योगों को सहायता दी जा सकती है। इस प्रकार की सहायता किन्हीं मामलों में आयात-निर्यात-कर संरक्षण की अपेक्षा अधिक अच्छी होगी:

१. जहां घरेलू उत्पाद घरेलू माँग के केवल एक छोटे अंश को पूरा करता हो;

२. जहां जिन्सें अनिवार्यतः कच्चे पदार्थ हैं; और

३. जहां किन्हीं जिन्सों के निर्माण के लिए संरक्षण की आवश्यकता हो, किन्तु अन्यों से जिन्हें संरक्षण की आवश्यकता नहीं, स्तर अथवा ढंग का भेद करना कठिन है।

कमीशन सिफारिश करती है कि सामान्य मामलों में संख्या सम्बन्धी अवरोधों का कभी-कभी ही प्रयोग होना चाहिए। असाधारण आयातों के विपरीत इस प्रकार के प्रतिबन्ध केवल अस्थायी ही होने चाहिएं। उसका कहना है कि एक उद्योग की प्रगति के किस दर्जे पर आयात-निर्यातकर सम्बन्धी योजना का अंश उपयुक्त होगा, इसका निर्णय करना कठिन है। किन्हीं मामलों में इस प्रकार के अंश उपयोगी जान पड़ते हैं, क्योंकि उनसे भोक्ता को जिन्सों की पूर्ति के लिए उपलब्धि का विश्वास बना रहता है। संरक्षण के परिमाण के सम्बन्ध में, यह तजवीज की गई है कि टैरिफ अधिकारी समान और स्थायी नियमों की रचना करें। सामान्य सिद्धान्त के रूप में उचित दीर्घ-काल के लिए उद्योगों को संरक्षण का विश्वास होना चाहिए ताकि वह पूंजी को आकर्षित कर सकें और प्रगति के लिए उचित कार्यक्रम बनाया जा सके और उसे क्रियात्मक रूप दिया जा सके। कमीशन ने यह भी तजवीज की है कि सरकार की स्टोरक्रय की नीति ऐसी होनी चाहिए कि विदेशी वस्तुओं के मुकाबले में घरेलू दस्तकारियों को उचित रूप में प्राथमिकता दी जाय।

भोक्ताओं के हितों की रक्षा के लिए कमीशन संरक्षण-प्राप्त उद्योगों पर कतिपय जिम्मेदारियाँ लागू करती है। इन जिम्मेदारियों में मुख्यतः कीमत सम्बन्धी नीति, उत्पाद नीति, उत्पाद की किस्म, प्रगति, अनुसंधान और नौसिखियों को शिक्षित करने के लिए कुशल कारीगरों को तैनात करना और समाज-विरोधी कृत्यों से मुक्ति है। उसका विश्वास है कि इन जिम्मेदारियों को टैरिफ अधिकारियों को निर्दिष्ट सिद्धान्त के रूप में मानना चाहिए और विशिष्ट उद्योगों के संरक्षण की मांग की जांच करते समय उसे इन बातों को ध्यान में रखना चाहिए। उसकी राय है कि इन्हें क्रियात्मक रूप देने

का कार्यक्रम बना लिया जाना चाहिए औरअ धिकारी-वर्ग को समय-समय पर सरकार को सूचित करते रहना चाहिए कि संरक्षण-प्राप्त उद्योग किस ढंग से उन पर कार्य कर रहे हैं।

१८. व्यापारिक नीति—शाही रियायतें। (Imperial Preferences) भारत सरकार की व्यापारिक नीति मे कतिपय परिवर्तन हुए हैं। मुक्त व्यापार से यह विवेकपूर्ण संरक्षण तक पहुंची। जब यह नीति प्रचलित थी, तो शाही रियायतें इस पर आ कूदीं। शाही रियायतों के अर्थ हैं, "साम्राज्य के अनेक सदस्यों के बीच यथासंभव आयात-निर्यात-कर सम्बन्धी प्रतिबन्धों को न्यून कर के साम्राज्य-व्यापार का विस्तार करना।"[1] यह विचार दीर्घ-काल तक बना रहा। १९०३ में यह पहला अवसर था, कि जब शाही रियायत के प्रति भारत के दृष्टिकोण की सरकारी रूप में व्याख्या की गई। भारत के व्यापार की दिशा और स्थिति की गणना करते हुए सरकार इस निर्णय पर पहुंची कि आयात-निर्यात-कर सम्बन्धी सुविधाएं भारत के हित के विपरीत होंगी। भारत ऋणी देश था और इंग्लैण्ड के प्रति उसके वार्षिक दायित्वों का अनुपात साम्राज्य-इतर देशों के साथ उसके व्यापार में आयातों के ऊपर निर्यातों की अधिकता द्वारा प्राप्त किया जाता था। इस प्रकार विदेशियों द्वारा बदले की भावना का वास्तविक भय था। लार्ड कर्जन ने कहा था कि भारत के पास यत्किंचित् था, किन्तु इतना नहीं कि जो साम्राज्य को दे सके; अर्थात् भारत को बदले में बहुत ही कम लाभ होगा और उसकी हानि अधिक हो सकती थी।

भारतीय फिस्कल कमीशन ने १९२१ में इस प्रश्न पर विचार किया था और संकेत किया था कि कच्चे पदार्थों की निर्यात की अपेक्षा निर्मित वस्तुओं की आयात के लिए रियायत की नीति के लाभों की अधिक सम्भावना हो सकती है। कमीशन का कहना था कि यह उचित नहीं "कि उन हितों को परिपुष्ट करने के लिए, कि जो मुख्यतः भारतीय नहीं,[1] विवेकपूर्ण संरक्षण के सिर पर अतिरिक्त बोझे को सहन करने के लिए भारत से कहा जाय।"[2] जो भी हो, १९१४-१८ के युद्ध ने इस विचार को इतना बल दिया था कि साम्राज्य के सब साधनों को संग्रहित किया जाय और उन्हें एक सुदृढ़ आर्थिक इकाई में लाया जाय, किन्तु फिस्कल कमीशन ने, यह मानते हुए भी कि शाही रियायत भारत के लिए हानिकारक होगी, इसका समर्थन किया और टैरिफ़ बोर्ड तथा धारा-सभा की अनुमति के बाद इंग्लैण्ड को भेंट रूप में कुछ वस्तुओं पर रियायत प्रदान की। इस वस्तुस्थिति के होते हुए कि भारत सरकार के प्रतिनिधि इस रियायत के विरुद्ध थे, तो भी इसे चालू किया गया और ब्रिटिश इस्पात को १९२७ में रियायत दी गई और १९३० में वस्त्र-व्यापार को। इस प्रकार भारत ने १९२० से लेकर मातृ देश को रियायत दे रखी थी।

१९. ओटावा संधि १९३२। ब्रिटिश फिस्कल नीति में परिवर्तन होने के फल-रूप, १९३२ में भारत की फिस्कल नीति में परिवर्तन हुआ। इंग्लैण्ड ने ओटावा में स्वतंत्र व्यापार और शाही रियायतों को तिलांजलि दे दी। यह घोषणा की गई कि यदि भारत ब्रिटेन का अनुकरण नहीं करेगा, तो उसे हानि होगी। "भारत और इंग्लैण्ड के बीच ओटावा संधि से साम्राज्यान्तर्गत बाजारों में ऐसे हानियों के विरुद्ध निश्चित रक्षा के उपाय करना था।"[3] यदि भारत इसे स्वीकार न करता तो वह बहुत घाटे में रहता। भारत के निर्यात

I, Baldwin---OTTAWA Conference.
2. Fiscal Commission Report, p. 119.
3. B. K. Madan—India & Imperial Preferences, p. 119.

को ब्रिटिश बाजार की प्रतिद्वन्द्विता का सामना करना पड़ता और यदि वह ओटावा संधि को रद्द कर देता तो ब्रिटिश आयात-निर्यात-कर भारत के विपरीत हो जाते।

भारतीय धारा सभा ने तीन वर्ष के लिए संधि को मंजूर किया। फलस्वरूप, भारत मोटरों के किसी खास वर्ग पर ७½ प्रतिशत रियायत देता था और कुछ अन्य वस्तुओं पर १० प्रतिशत। इस प्रकार जहां, स्प्रिटों, सुगन्धों, बिजली के अंडों, आदि ब्रिटिश इतर वस्तुओं पर ५० प्रतिशत कर था, वहां ब्रिटिश कारों को ३० प्रतिशत और विदेशियों की बनी कारों को ३७।। प्रतिशत देना होता था। इससे भी और आगे, जब कि अन्य विदेशी वस्तुएं ३० प्रतिशत देती थीं, तब ब्रिटिश वस्तुएं २० प्रतिशत से ही छुटकारा पा लेती थीं। इसके बदले में ब्रिटेन ने अनेक जिन्सों पर भारत को १० प्रतिशत की रियायत दी ओर कुछ को कर के बिना ही प्रवेश की स्वीकृति दे दी।[1]

१९३६ में, असेम्बली ने इस संधि को समाप्त कर दिया, किन्तु उसी वर्ष फिर से उसे चालू कर दिया। इसके बाद यह १९३९ तक जारी रही, जब कि भारत-ब्रिटिश व्यापार-संधि (Indo-British Trade Agreement) ने इसकी जगह ले ली।

२०. ओटावा-संधि का भारत पर प्रभाव। इस विषय पर बहुत दिन विवाद चलता रहा कि ओटावा संधि से भारत को लाभ हुआ है या हानि। सरकार का कहना था कि इस संधि से भारत को बहुत लाभ हुआ है, किन्तु राष्ट्रीय दृष्टिकोण इसके सर्वथा विपरीत था।

रियायत-नीति का यह स्वाभाविक परिणाम था कि भारतीय निर्यात इंग्लैण्ड को, और इंग्लैण्ड की निर्यात भारत को—दोनों में वृद्धि होनी चाहिए। यह तो उसका केवल बाहरी दृष्टिकोण है। संधि के सही-सही प्रभावों को आंक लेना आसान नहीं, क्योंकि हम उसके अभाव की स्थिति को जानने की दशा में नहीं हैं। इसके अलावा, जिन वर्षों में यह चालू था, वह सामान्य वर्ष नहीं थे। सारी दुनिया की आर्थिक स्थिति गड़बड़ाई हुई थी। विश्वभर में आर्थिक मन्दी का दौर था। योरोप के सभी देशों में आर्थिक राष्ट्रीयता का उदय हो गया था। दुनिया भर में करैंसी के क्षेत्र बन चुके थे। ऐसी अवस्थाओं में जबकि विश्व भर की आर्थिक समता गड़बड़ाई हो, दो देशों के बीच में संधि जैसी छोटी-सी बात के प्रभावों का अध्ययन करना असम्भव है।

डा० मदान ने यह सिद्ध करने के लिए आंकड़े संग्रहित किये हैं कि संधि का "एक निश्चित ऊँचा मूल्य" था। सरकारी मत है कि भारत ने जितना दिया, उसकी अपेक्षा उसे अधिक लाभ हुआ। यह लाभ अधिकांशतः धोखे से पूर्ण थे। ब्रिटिश बाजार में रियायतों द्वारा जिन मुख्य जिन्सों ने लाभ प्राप्त किया था, वह थीं : चावल, चाय, तम्बाकू और जूट की निर्मित वस्तुएं। शेष रियायत की वस्तुओं से कोई खास लाभ नहीं हुआ था। दूसरी ओर, ब्रिटिश जिन्सों की कुल संख्या १६२ थी, जिन्हें रियायतें दी गई थीं और उन्हें भारतीय उद्योगों की कीमत पर लाभ हुआ था। जिन भारतीय वस्तुओं की इंग्लैंड को निर्यात होती थी, उनका किसी भी अंग्रेजी जिन्स के साथ मुकाबला नहीं था। इसके विपरीत, उन्होंने ब्रिटिश उद्योगों की सहायता की।

२१. मोदी-ली संधि (अथवा बांबे-लंकाशायर संधि) १९३३। सर विलियम क्लेयर-ली की अध्यक्षता में एक ब्रिटिश वस्त्र-उद्योग मिशन १९३३ में बम्बई पहुँचा।

---

१. जिन्सों के सामूहीकरण और व्यापार पर रियायतों के प्रभाव की जानकारी के लिए देखें, Madan op. cit., p. 51.

इस मिशन ने बांबे मिल ओनर्स एसोसिएशन के प्रधान मि० एच. पी. मोदी के साथ संधि वार्त्तालाप किया। इस संधि से इंग्लैण्ड को पर्याप्त लाभ हुए। और इस संधि द्वारा "साम्राज्य में तथा अन्य देशों में ब्रिटिश वस्तुओं सरीखे अनेक लाभ भारतीय वस्तुओं को भी प्राप्त हुए और साथ ही इंग्लैण्ड को मिलने वाले कोटे में भारत को भी हिस्सा मिला।"[1] इस संधि में यह भी वचन दिया गया कि लंकाशायर की मिलों में भारतीय कपास के उपयोग में वृद्धि की जायगी। अनन्तर यही संधि (Supplementary Indo-British Trade Agreement of 1935) भारत-ब्रिटिश व्यापार पूरक-संधि १९३५ में निहित कर दी गई थी।

२२. भारत-ब्रिटिश व्यापार पूरक-संधि १९३५। १९३५ में, भारत और इंग्लैण्ड के बीच एक पूरक-संधि हुई। उसमें १९३२ की संधि को विकृत करने के साथ ही भारत में अंग्रेजों को अधिक सुविधाओं की स्वीकृति दी गई। इसकी महत्वपूर्ण शर्तें निम्न थीं :—

(**अ**) भारत में बनी वस्तुओं की विक्रय-कीमतों को आयात की गई वस्तुओं की कीमतों के बराबर करने से अधिक किसी भी भारतीय उद्योग को संरक्षण नहीं दिया जाना चाहिए, और जहां कहीं सम्भव हो, ब्रिटिश वस्तुओं पर न्यून कर लगाने चाहिएं;

(**ब**) कि जब किसी भारतीय उद्योग को सम्पूर्ण संरक्षण दिया जाना हो, उस समय सम्बन्धित ब्रिटिश उद्योगों को टैरिफ़ बोर्ड के सामने अपने विषय में बहस का पूरा अवसर दिया जाना चाहिए;

(**स**) कि संरक्षण के दौरान में भी ब्रिटिश सरकार द्वारा आवेदन करने पर भारत सरकार को परिस्थिति का निरीक्षण करना चाहिए, और यदि आवश्यकता हो, तो संरक्षण की दरों में सुधार किया जाना चाहिए; और

(**द**) कि ब्रिटिश सरकार अंग्रेजी मिलों में भारतीय कपास के प्रयोग को लोकप्रिय बनाये और भारतीय खानों के लोहे की कर-रहित आयात जारी रखे, किन्तु यह तभी तक उसी दर पर हो, जब तक कि भारत में ब्रिटिश इस्पात को रियायतें रहें।

भारतीय विधान सभा ने इस संधि को अस्वीकार कर दिया, किन्तु वाइसराय ने इसे मंजूरी दे दी और १९३९ तक यह चालू रही। उपरांत एक नयी संधि हुई।

२३. भारत-ब्रिटिश व्यापार संधि, १९३९। पहली संधि की जगह लेने के लिए असेम्बली में बिल उपस्थित करने से पहले दोनों पक्षों में बहुत दिन तक विचार-विनिमय होता रहा। सभा ने इसे सम्पूर्णतया अस्वीकार कर दिया, किन्तु वाइसराय ने पुनः इसकी स्वीकृति दे दी। इस प्रकार उसने यह प्रमाणित कर दिया कि भारत को जो राज-कर सम्बन्धी स्वतंन्त्रता दी गई थी, वह केवल नाममात्र थी। उसकी मुख्य धाराएँ निम्न थीं :—

(१) भारत ने इंग्लैण्ड से आयात की २० वस्तुओं पर ७½ से १० प्रतिशत की रियायतें स्वीकार की थीं, अर्थात् १० प्रतिशत रसायनों, पेंटों, सिलाई की मशीनों आदि पर और ७½ प्रतिशत मोटरों और साइकलों पर।

1. Madan, op. cit., p. 126.

(२) इंग्लैंड जाने वाली भारतीय कपास की निर्यातों को इंग्लैंड से सूती वस्त्रों की आयात के सरकने वाले मान से जोड़ दिया गया।[1]

(३) भारत तथा अन्य साम्राज्य देशों के बीच रियायतों के आधार पर जातीय पक्षपातपूर्ण पारस्परिक समझोता किया गया।

(४) अपनी ओर से इंग्लैण्ड ने कुछ भारतीय वस्तुओं पर १० और २० प्रतिशत के बीच रियायतें दीं और कुछ वस्तुओं को बिना कर के प्रवेश की स्वीकृति दी, जबकि साम्राज्य-इतर वैसी ही बस्तुओं पर टैक्स लगाये जा रहे थे। इस प्रकार भारतीय खानों के लोहे को १९४१ तक बिना टैक्स के प्रवेश की आज्ञा थी। किन्तु इस शर्त के साथ कि यदि भारत अंग्रेजी इस्पात पर कर लगाएगा तो वह भी इस लोहे पर कर लगा सकते हैं।

संधि का परीक्षण—वाइसराय द्वारा संधि को मंजूरी देने पर बहुत नाराजगी फैली। भारतीय व्यापारियों ने भी इसे अस्वीकार कर दिया। ब्रिटिश भेद-भाव के विरुद्ध भारतीय जहाजों और बैंकिंग सम्बन्धी फर्मों के संरक्षण के लिए गैर-सरकारी सलाहकारों की सिफारिशों को ठुकरा दिया गया। यह विश्वास किया जाता है कि संधि के फलरूप जहां ब्रिटिश उद्योगों को ठोस लाभ हुए थे, तहां भारत को विपरीत दशा का सामना करना पड़ा था।[2]

इंग्लैण्ड से भारत को सूती वस्त्र की निर्यातों और भारत से इंग्लैण्ड को कपास की निर्यातों को सरकने वाले मान से जोड़ देने के प्रबन्धों के विषय में यही कहना चाहिए कि "सिर तो मैंने लिया, और पूंछ तुम्हारे हाथ से निकल गई," अर्थात् यह सौदा इंग्लैण्ड के ही पक्ष की जीत में था।[3] जिन भारतीय वस्तुओं का प्रवेश बिना कर के स्वीकार किया गया था, वह थीं, जूट, लाख, अभ्रक और हरड़ तथा आंवला। भारत का इनमें एकाधिकार था, और यह ऐसे कच्चे पदार्थ थे जिनकी इंग्लैण्ड को आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त, इंग्लैंड में जिन भारतीय वस्तुओं को रियायत मिली थी, उनमें से अधिकांश को साम्राज्यान्तर्गत देशों से कड़ी प्रतिद्वंद्विता का सामना करना पड़ा जबकि इंग्लैंड को भारत में एकाकी रियायत मिली हुई थी।[4]

जो भी हो, यह संधि १९३२ की ओटावा संधि की अपेक्षा स्पष्ट प्रगति थी। समष्टि रूप में, रियायतों के आदान-प्रदान का क्षेत्र और मान उचित व्यवहार के रूप में दिखलाई देता था। तिस पर भी, कपास का प्रश्न कुछ भिन्न था। नियत सरकने वाले मान-दंड में अधिक मोहरे इंग्लैंड के ही पक्ष में रखे गये थे। उसके साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि भारत रियायती क्षेत्र की परिधि से बाहर नहीं रह सकता था, क्योंकि बाहर रहने का अर्थ यह होता कि साम्राज्य के देशों में उसके निर्यात पर भारी कर लगते, "इस अनिश्चित दुनिया में केवल यही एक निश्चित बात थी।" इस तथ्य पर विचार करते हुए कि इंग्लैंड को भारी लाभ होगा, उसके लिए यह बेहतर होता कि वह भारत के उचित कष्टों को दूर करके उसकी सदिच्छा प्राप्त कर लेता।

भारत अब एक प्रजातन्त्र राज्य है। प्रेरणा की जाती है कि अब भारत को शाही रियायत की घृणित पद्धति को समाप्त कर देना चाहिए क्योंकि इस पद्धति में

1. For details of the scale see B. P. Adarkar, op. cit., p. 561.
2. Jather & Beri—Indian Econmics, Vol. II, p. 630.
3. B. P. Adarkar, op. cit., p. 561.
4. Madan, op. cit., p. 242.

ब्रिटेन के शाही प्रभुत्व की बू आती है, तदनुसार यह प्रश्न भारत सरकार के विचाराधीन है। आशा है कि शीघ्र ही इस प्रश्न पर कोई निश्चित निर्णय किया जायगा। जो भी हो, एक बात स्पष्ट है कि इस पद्धति की समाप्ति आकस्मिक नहीं हो सकती।

२४. युद्ध-पूर्व की द्विमुखी नीति (Bilateralism)। इंग्लैंड के साथ द्विमुखी सम्बन्धों के अतिरिक्त, भारत ने तीन अन्य व्यापार संधियाँ कीं—दो जापान के साथ, और एक बर्मा के साथ। **(१) १९३४ की भारत-जापान संधि**—जापान ने अपनी मुद्रा का मूल्य घटा दिया था। सस्ते कपड़े की उसकी निर्यातों ने भारतीय वस्त्र उद्योग को बड़ी चिन्ताजनक स्थिति में डाल दिया था। ब्रिटिश-इतर कपड़े की आयातों पर १९३२ में मूल्य के आधार पर ५० प्रतिशत कर लगाने के बावजूद भी स्थिति नहीं सुधरी। फलतः, सरकार ने जापान को ६ मास का अनिवार्य नोटिस दिया कि १९०४ में हुए जातीय-पक्ष के सम्बन्धों का अंत कर दे। इससे जापान ने भारतीय कपास का बहिष्कार किया और भारत सरकार का मूल्य के अनुसार विदेशी वस्त्र पर ७५ प्रतिशत कर लगाने योग्य बना दिया।

१९३३ में एक जापानी प्रतिनिधि मंडल भारत आया और १९३४ में दोनों के बीच एक नयी संधि हुई। इस संधि में एक पूर्व-प्रथा (Convention) और एक पूर्व-पत्र (Protocol) निहित थे। पूर्व-प्रथा द्वारा एक दूसरे के प्रति जातीय-पक्ष के व्यवहार को निश्चित किया गया था। इसके अतिरिक्त दोनों दलों ने आवश्यकता होने पर विशिष्ट कस्टम (आगम) करों को लगाने का अधिकार सुरक्षित रखा था, ताकि १ जनवरी, १९३४ के बाद अपनी मुद्रा के मूल्यों में परिवर्तन होने के प्रभावों को सही किया जा सके। पूर्व-पत्र का सम्बन्ध सरकने वाले कोटे के आधार पर जापानी वस्त्रों की आयातों के साथ भारत की कच्ची कपास की निर्यातों से जोड़ा गया था। उसके साथ ही मूल्य के अनुसार जापानी वस्त्र के कर को ७५ से ५० प्रतिशत कर दिया गया था।

इस संधि से दोनों के बीच जो कटुता हो गई थी, वह दूर हो गई और यह विश्वास किया जाता था कि इससे भारतीय कपास के उत्पादकों और साथ ही जापानी निर्माताओं को लाभ होगा। समय बीतने पर भारतीय मिल-मालिकों ने शिकायत की कि जापान ने संधि को भंग किया है, क्योंकि उसने कपड़ों के टुकड़ों की भारी संख्या निर्यात करनी शुरू कर दी थी, जो यही नहीं कि कोटा से बाहर थे, प्रत्युत उन पर आगम-कर भी कम था। इससे बढ़ कर जापान ने भारत को बने वस्त्रों और नकली रेशम की वस्तुओं को, जो कोटे में भी शामिल नहीं थीं, भेजकर अपनी निर्यातों में भी वृद्धि कर ली। इसके अलावा, एक गज से अधिक पने का कपड़ा भी भारत को निर्यात किया गया। तथ्य यह था कि जापान ने निश्चित कोटे की अपेक्षा अधिक माल बेचने के लिए सब प्रकार की बेईमानी के तरीके अपनाये। इसके अतिरिक्त चीनी के बर्तनों, साइकिलों, खिलौनों और छातों जैसी मिश्रित वस्तुओं को भी भारी संख्या में कम कीमत पर भारत में भेजा गया। इसका फल यह हुआ कि अपरिपक्व भारतीय उद्योगों को भारी क्षति हुई।

(२) नयी भारत-जापान संधि १९३७—१९३७ में जब पुरानी संधि समाप्त हुई और नयी बनने लगी, तो गैरसरकारी सलाहकारों ने इस बात पर जोर दिया कि कपड़ों के टुकड़ों, बनावटी रेशम की वस्तुओं और बनी हुई सूती पोशाकों को भी कोटे में शामिल कर लिया जाय। किन्तु, यद्यपि चर्चा को बहुत लम्बा किया गया तथापि पूर्व-पत्र को नया रूप देते समय पुरानी शर्तों को रखा गया।

मूल-कोटा घटा दिया गया किन्तु यह न्यूनता भारत से बर्मा पृथक् होने के कारण हुई थी, और यह बहुत भी नहीं थो, क्योंकि संधि के समय बर्मा का भाग बहुत बड़ा नियत किया गया था। भारतीय कपास के उत्पादकों के स्वार्थों की रक्षा की चिन्ता में, सरकार ने जापान की मांगों को रोकने के लिए सुरक्षित स्थिति का भी उपयोग नहीं किया था। वह कोटे में जापान की मिश्रित निर्यातों को भी शामिल न कर सकी, न ही कपड़े की अतिरिक्त निर्यातों के लिए संधि में रही त्रुटियों को दूर कर सकी। हां, इतना अवश्य हुआ कि टुकड़ों की आयात के लिए कपड़े की प्रतिशत का अनुपात नियत कर दिया गया।

नई संधि के अनुसार, जापान भारत को सब प्रकार का कपड़ा और कपड़े से अलावा अन्य वस्तुएं उतरोतर वृद्धि के साथ भारी संख्या में निर्यात करता रहा, जबकि दूसरी ओर उसका भारतीय कपास को बदले में लेना केवल नियत कोटे को जैसे-तैसे पूरा करना भर होता था। १९४० में संधि का परीक्षण होना था, किंतु बातचीत टूट गई और अंतिम रूप में कुछ निर्णय होने से पूर्व ही युद्ध आरम्भ हो गया।

(३) **भारत-बर्मा व्यापार संधि १९४१**—जब से बर्मा भारत से अलग हुआ है, तब से, १९३७ से १९४१ तक, जब संधि पर अन्तिम हस्ताक्षर हुए थे, दोनों देशों का व्यापार एक नियम द्वारा शासित होता था, जो समान दर्जे को बनाये रहता था। नई संधि द्वारा बर्मा को भारत में साम्राज्य की वस्तुओं के विरुद्ध १० प्रतिशत और साम्राज्य-इतर वस्तुओं के विरुद्ध १५ प्रतिशत की रियायत का सीमान्त दिया गया। बर्मा के किसान और खान में काम करने वाले को पर्याप्त लाभ हुआ, क्योंकि चावल गोंद, इमारती लकड़ी और कच्चे धातु भारत में बिना कर के आते थे। खांड और कपास के भारतीय निर्यातकर्ता को भी बर्मी बाजार की प्राप्त सुविधाओं से लाभ हुआ। यह स्मरण रहे कि हमारी निर्यातों की कुल राशि से बर्मा की आयात की राशि कहीं अधिक थी, फलत: बर्मा को कुल मिलाकर बहुत लाभ हुआ। किन्तु भारत को बर्मी चावलों और कच्चे पदार्थों की आवश्यकता थी।

२५. युद्धोत्तरकाल की द्विमुखी नीति। देश के विभाजन के बाद भारत, योरोप, एशिया तथा अन्य देशों के साथ भारी संख्या में द्विमुखी संधियाँ कर रहा है। इन संधियों का एक मुख्य कारण यह था कि भारत के भुगतानों के संतुलन में न्यूनता थी। अनेक अवस्थाओं में आयातों और निर्यातों का कुल मूल्य ही संधि का आधार होता था और कुछ दशाओं में जिन्सों की समानता ही आधार होती थी। बहुत थोड़े मामलों में उन देशों के साथ सीधे व्यापारिक सम्बन्ध बनाने का उद्देश्य था, जहां पूर्व-काल में केवल सम्बन्ध थे। केवल व्यापारिक समझौते ही नहीं, वस्तु-विनिमय व्यवहार भी किया गया। अनेक संधियों की अवधि बढ़ाई गई और उन्हें नया किया गया। १९५०-५१ में कुछ नयी संधियां भी हुई। अर्जन्टाईना, ईजिप्ट, और चीन के साथ खाद्य प्राप्त करने के लिए वस्तु-विनिमय का व्यवहार किया गया, क्योंकि गत कुछ वर्षों से भारत में खाद्यों की न्यूनता चली आ रही है। पाकिस्तान, स्वीडन, जापान और दक्षिणी जर्मनी आदि के साथ व्यापार-समझौते किये गए। नेपाल और अफ़-गानिस्तान के साथ व्यापार-संधियां की गईं।

२६. भारत और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन। १९३९-४५ के युद्ध से पहले राष्ट्रीय आर्थिक रीतियां पैदा हो गई थीं और संरक्षण-वाद की नीति ने व्यापारिक अवस्थाओं को चिन्ताजनक बना दिया था और सरकार स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार

में हस्तक्षेप करती थी। विश्व-व्यापार को सीमित होने से रोकने के लिए सब को मिल कर कार्य करना चाहिए, यही इस समय की सबसे बड़ी जरूरत है। देखा जाता है कि अधिकांश राष्ट्रों के भय, समस्याएँ और इच्छाएँ समान ही हैं। इस प्रकार की समस्याओं का निराकरण अन्तर्राष्ट्रीय विचार-विनिमय से हो सकता है। यह विचार इस दशा में काफी अर्से से चल रहा है। १९४१ में, यह एटलांटिक चार्टर में भी सन्निहित था। १९४२ में (Mutual Aid Agreements) पारस्परिक सहयोग समझौतों में भी इसका आभास मिला। इसी के फलरूप, १९४५ में, व्यापार-समझौता एक्ट (Trade Agreements Act) को पुनः नया किया गया और ऐंग्लो-अमरीकन फाइनैन्शियल एग्रीमैंट (भारत-अंगरेज-अमरीकी आर्थिक समझौता) १९४६ में हुआ। इसने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (International Trade Organisation) को जन्म दिया, जिसकी पहली बैठक १९४७ में जैनेवा में हुई और दूसरा अधिवेशन १९४८ में हवाना में हुआ। हस्ताक्षर-कर्त्ताओं में भारत भी एक था।

संक्षेप में, विभिन्न उपसमितियों ने (कुल संख्या ९) विभिन्न प्रश्नों पर निम्न फैसलें किये :—

१. परिमाणात्मक प्रतिबन्ध और विनिमय नियंत्रण—लेख्य में कहा गया है कि, "कर, टैक्स अथवा अन्य शुल्क के सिवा, कोई भी सदस्य-देश किसी जिन्स को किसी भी सदस्य-देश से आयात करने पर न तो रोक लगाएगा अथवा न ही प्रतिबन्ध स्थिर करेगा। इसके अतिरिक्त न ही कोई भी सदस्य-देश किसी भी सदस्य-देश के लिए निश्चित किसी जिन्स के निर्यात या क्रय के लिए निर्यात पर रोक या प्रतिबन्ध लगाएगा।" तिसपर भी निम्न को छूट दी गई है :—

(१) जिन जिन्सों की पूर्ति अल्प है, उनका समान वितरण करने के लिए अस्थायी प्रतिबन्ध लगाए जांयगे, युद्ध-काल की नियंत्रित कीमतों और युद्ध के अतिरिक्त अंशों को नियमतः समाप्त करने के लिए अस्थायी प्रतिबन्ध लगेंगे।

(२) खाद्य-सामग्री तथा अन्य अनिवार्य जिन्सों की न्यूनता से मुक्ति पाने के लिए अस्थायी रोक लगेंगी।

(३) अन्तर्शासन समझौतों के अधीन नियंत्रण लगेंगे।

(४) भुगतानों के संतुलन की रक्षा के लिए आयात नियन्त्रण होंगे। यहां सदस्य की आवश्यकता की परीक्षा है। (अ) मुद्रा सम्बन्धी कोषों में भीषण ह्रास के खतरे का पूर्व अनुमान, (ब) यदि एक सदस्य के पास मुद्रा-कोष बहुत कम हो, तो उचित वृद्धि प्राप्त करने के लिए यत्नशील होना।

कोई भी सदस्य अन्य सदस्य की शिकायत कर सकता है, जो उसके व्यापार को हानि पहुँचाने के लिए प्रतिबन्ध लगाता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन (आई. टी. ओ.) शिकायत पर विचार करेगा और समन्वय की सिफारिश करेगा, जिसका, यदि पालन न किया गया, तो सदस्य-देशों से दंडरूप में आयात-निर्यात-कर विषयक रियायतें वापिस ले ली जायंगी।

२. आयात-निर्यात-कर और रियायतें—आई. टी. ओ. के सदस्य यह मान चुके हैं कि वह आयात-निर्यात-कर में न्यूनता करने और रियायतों को हटाने की दिशा में परस्पर चर्चा करेंगे। सदस्यों से सामान्य नियम यह मांग करता है कि एक-दूसरे के साथ जातीय-पक्ष का व्यवहार करेंगे, इस प्रकार आयात-निर्यात-कर सम्बन्धी न्यूनताएं बहुमुखी

आकार पर होंगी। भारत जैसे देशों को ऐसे किसी उद्योग की जिन्स के लिए रियायत नहीं देनी होगी, जिसका वह संरक्षण चाहते हों।

३. रोजगार—लंडन लेख्य में कहा गया है कि प्रत्येक सदस्य "ऐसी कार्यवाही करेगा, जिससे वह पूर्ण एवं सम्पन्न रोजगार को स्थिर रख सके और प्राप्त कर सके और स्वत: अपने क्षेत्र में संगठन के उद्देश्यों के अनुरूप साधन द्वारा प्रभावकारी मांग के उच्च एवं स्थिर स्तर को बनाये रहेगा।"

४. आर्थिक प्रगति—लंडन घोषणा के अधीन युद्ध के कारण क्षीण हुए राष्ट्रों को व्यापार में नियंत्रणों की सहायता से पुनर्संस्थापन की मंजूरी दी गई है। जो देश आर्थिक रूप में पिछड़े हुए हैं—मुख्यत:, भारत और चीन—उन्हें विदेशी आदान-प्रदान द्वारा औद्योगीकरण की स्वीकृति दी गई है।

५. व्यापारिक आचरण पर प्रतिरोध—लेख्य का कहना है कि "प्रत्येक सदस्य इस विश्वास के लिए कार्यवाही करेगा कि उसके क्षेत्र के व्यवसायी ऐसे व्यवहार में नहीं पड़ेंगे जो प्रतिद्वंद्विता को दबायें, बाजारों की प्रगति को सीमित करें अथवा एकाधिकार नियंत्रण को थापें।"

६. जिन्स सम्बन्धी समझौता—जिन परिस्थितियों में सरकारें मुख्य जिन्सों की कीमतों या आयात, निर्यात, उत्पाद के विषय में समझौता करें, उनकी विस्तृत व्याख्या की गयी है। इस प्रकार के समझौतों की निश्चित अवधि है और समय-समय पर उनका परीक्षण होता रहेगा।

दो अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्य भी जोड़ दिये गए हैं, अर्थात् एक विश्व के स्वाभाविक साधनों को उन्नत करना और स्थिर रखना और अनावश्यक समाप्ति से उनकी रक्षा करना, और (२) ऐसी मुख्य जिन्स के उत्पाद को विस्तार देना कि जिस की पूर्ति इतनी अल्प हो कि भोक्ताओं के हितों का नाश होता हो।

यह व्यापारिक घोषणा-पत्र निश्चय ही महानतम सफलता है। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को नियमित प्रगति प्रदान करने की दीर्घकालीन योजना निहित है। यह इस बात को भी स्वीकार करती है कि भारत जैसे युद्ध के कारण उजड़े हुए क्षेत्रों के पुनर्निर्माण पर ही स्वस्थ व्यापार आश्रित है। केवल-मात्र एक ही अड़चन है कि कम्युनिस्ट (साम्यवादी) देशों ने साथ नहीं दिया।

इस घोषणा-पत्र के फलस्वरूप भारत का व्यापार, जो अपनी व्यापारिक नीतियों को रूप देने के लिए स्वतन्त्र है, प्रगतिशील रूप में उन्नति के पथ पर है। भारत ने सब देशों में पूर्व-पत्रों पर हस्ताक्षर करके जातीय-पक्ष व्यापार को प्राप्त कर लिया है और इस प्रकार वह मध्यपूर्व और आस्ट्रेलिया में अपने वस्त्र उत्पादन के साथ मुकाबला करने की स्थिति में हो गया है। इस प्रकार, घोषणा-पत्र वस्तुओं के विस्तृत उत्पाद के लिए सीधा जिम्मेदार है।

२७. फिस्कल कमीशन और हवाना घोषणा-पत्र। फिस्कल कमीशन ने हवाना घोषणा-पत्र की जांच की और उसे मालूम हुआ कि जब तक भुगतानों के वर्तमान संतुलन की कठिनाई जारी रहेंगी, तब तक घोषणा-पत्र भारत की व्यापारिक नीति को रूप देने की स्वतन्त्रता पर गम्भीर सीमाएँ लागू नहीं करेगा। दीर्घकाल में, यह भी सम्भव था कि भारत को ऐसी नीतियां बनाने के अधिकार से ही वंचित हो जाना पड़ता।

सब आवश्यक अंशों पर विचार करने के बाद, कमीशन ने सिफारिश की कि भारत को घोषणापत्र का अनुमोदन करना चाहिए, बशर्ते कि अमरीका और इंग्लैंड सरीखे मुख्य आर्थिक महत्त्व के देश भी इसका समर्थन करें और बशर्ते कि उस अवसर पर देश की आर्थिक स्थिति इस उपाय को न्यायोचित ठहराये। (क्योंकि अमरीका व ब्रिटेन ने इस घोषणापत्र का अनुमोदन करने की कोई रुचि प्रकट नहीं की, इसलिए भारत के लिए यह प्रश्न ही नहीं होता।) कमीशन ने आशा प्रकट की थी कि घोषणापत्र में पिछड़े देशों की आर्थिक प्रगति की शर्त को उदारतापूर्वक क्रियान्वित किया जायगा। कमीशन ने जनरल एग्रीमेंट आफ़ टैरिफ एंड ट्रेड के अधीन आयात-निर्यात कर सम्बन्धी स्वीकृति और भारत द्वारा प्राप्त रियायतों का विश्लेषण किया और उसकी राय थी कि कोई निश्चित मत नहीं बनाया जा सकता। तिस पर भी, उसका कहना था कि जब तक आई. टी. ओ. का भविष्य मालूम नहीं हो जाता, तब तक भारत का जनरल एग्रीमेंट से बाहर रहना लाभदायक नहीं होगा। कमीशन ने तजवीज़ की थी कि आयात-निर्यात-कर सम्बन्धी जो रियायतें दूसरे देशों से मिलती हैं, भारत को उन पर केन्द्रीभूत होना चाहिए :—

(अ) वह जिन्सें, जो विश्व बाजार में अन्य देशों की तत्सम जिन्सों से प्रतिद्वंद्विता के साथ पूर्ति करता है;

(ब) वह जिन्सें, जो विश्व बाजार में अन्य देशों से सम्भावित एवज़ में प्रतिद्वंद्विता के साथ पूर्ति करती हैं;

(स) कच्चे पदार्थों की अपेक्षा निर्मित पदार्थों पर।

द्वितीयतः, टैरिफ रियायतों की स्वीकृति के मामले में भारत को निम्न पर केंद्रीभूत करना चाहिए : (अ) पूंजीगत वस्तुओं पर; (ब) अन्य मशीनों और साधनों पर; (स) अनिवार्य कच्चे पदार्थों पर।

फिस्कल कमीशन ने यह भी तजवीज़ की थी कि (१) घरेलू और छोटे दर्जे के उद्योगों की विशिष्ट आवश्यकताओं को, जो अधिकांशतः विदेशी बाज़ार पर आश्रित हैं, विदेशों के साथ व्यापार चर्चा करते समय भारत को मद्दे नजर रखनी चाहिएं। भारतीय प्रतिनिधियों को उनके लिए विदेशी व्यापार में अधिकतम टैरिफ सम्बन्धी रियायतें लेनी चाहिएं और विदेशों से आयात की प्रतिद्वंद्विता के विरुद्ध उन्हें संरक्षण प्रदान करने चाहिएं।

(२) जनरल एग्रीमैंट की मदों में व्यापार की गति पर कड़ी निगाह रखनी चाहिए और व्यापारिक आय को अर्ध वार्षिक रूप में प्रकाशित किया जाय।

(३) नई बातचीत शुरू होने से पहले व्यापार, उद्योग तथा अन्य सम्बन्धित स्वार्थों के प्रतिनिधियों से रियायतों के विषय में, जिनकी भारत को आवश्यकता होगी अथवा अन्य देश जिनकी मांग करेंगे, सलाह ले लेनी चाहिए।

नयी प्रगतियां—जनरल एग्रीमैंट में जिन लोगों ने शामिल होना था, उनकी एक कान्फ्रैंस सितम्बर १९५० में तोरकी (Torquay, France) में हुई और अप्रैल १९५१ में वह समाप्त हुई। भारत ने अन्य सब देशों के साथ अन्तिम अधिनियम (Final Act) पर हस्ताक्षर किये। ६ और देश भी उसमें सम्मिलित हो गए। जनरल एग्रीमैंट वाले देशों का विश्व के व्यापार में ८५% का हिस्सा है। यह एक बड़ी सफलता है और सब देशों में सहयोग की भावना का प्रदर्शन है। भारत ने इस एग्रीमैंट के अधीन १९५४ तक दूसरे देशों को रियायतें जारी रखने की स्वीकृति दे रखी है।

छब्बीसवाँ अध्याय

मुद्राचलन और विनिमय

१८३५-१९२५

१. भूमिका। भारत की वर्तमान मुद्रा-स्थिति को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम गत एक सौ वर्ष के भारतीय मुद्रा-इतिहास को संक्षेप में देख जायं। इस काल में भारत को रजत-मान, सुवर्ण-विनिमय-मान, सुवर्ण-धातु-मान और स्टर्लिंग-विनिमय-मान (पौंड-पावना मान) का अनुभव हो चुका था। इस संपूर्ण काल में, भारतीय जनसाधारण की ओर से मुद्रा के रूप में सुवर्ण-मुद्रा के परिचालन के साथ पूर्ण-विस्तृत सुवर्ण-मान की गुप्त रूप में मांग रही है। कभी-कभी बड़े-बड़े सरकारी अफसर भी इसका समर्थन करते थे। अब भी इस आदर्श को सिद्ध करना शेष रहता है, किन्तु वर्तमान में इस की संभावनाएं हाल ही की अन्तर्राष्ट्रीय करेंसी की प्रगतियों के साथ निकटतम रूप में संयोजित हैं।

२. रजतमान की स्थापना (१८३५)। १८३५ के मुद्रा अधिनियम द्वारा भारत में रजत-मुद्रा (केवल चांदी) की स्थापना की गई। इस से पूर्व, अकबर के काल से उत्तरी भारत में चांदी के रुपये और सोने की मुहरों की मुद्रा का चलन था, और दक्षिण में सोना मुख्य मुद्रा था। इसके अतिरिक्त, ईस्ट इंडिया कम्पनी का प्रादुर्भाव होने तक, देश के विभिन्न भागों में अनेक प्रकार की विक्षिप्त मुद्राओं का चलन था।[1] और व्यापार के हित में उनकी इच्छा थी कि एक सांझो मुद्रा के तरीके को जारी किया जाय और उसी के फलरूप १८३५ का अधिनियम स्वीकार हुआ।

रजत-मान के अधीन कोई भी चांदी लेकर टकसाल में जा सकता था और बिना दाम के उसे १८० के तोल में रुपयों की मुद्रा में घड़ा सकता था। जो भी हो, सोना इस क्षेत्र में से पूर्णतया लोप नहीं हुआ। १८३५ के एक्ट ने आवश्यकता होने पर जनता को सुवर्ण-मुद्रा घड़ाने का भी अधिकार दिया; और १८४१ के घोषणा-पत्र ने सार्वजनिक खजानों को अधिकार दिया कि वह सुवर्ण-मुद्रा (सोने की मुहरों) को अंकित-मूल्य के अनुसार उदारता-पूर्वक प्राप्त कर सकते हैं, अर्थात् जनता के एक के बदले १५ की दर से। १८५२ में यह घोषणा-पत्र वापिस ले लिया गया, क्योंकि सोने की कीमत घट जाने से सरकारी खजानों में सुवर्ण-मुद्रा भारी परिमाण में जमा होने लगी थी। अधिकारी रजत-मुद्रा की नीति पर स्थिर रहे, बावजूद इस बात के कि १८९३ तक सुवर्ण-मुद्रा के पक्ष में तब तक आन्दोलन होता रहा।

३. रजत-मान की अंत। उसी काल में सुवर्ण में चांदी की कीमत गिर जाने से, १८७४ के बाद रजत-मान की कार्य-प्रणाली में कठिनाइयां उत्पन्न होने लगीं। चूंकि रुपया पूर्ण रजत-मुद्रा में उदारतापूर्वक टकसालों में घड़ा जाता था, इस कारण सुवर्ण के बदले में (अथवा पौंड-पावना) इसका मूल्य (विनिमय का दर) चांदी की सुवर्ण कीमत में गिरावट के साथ ही गिर गया। १८८० में अन्त होने वाले औसत पांच

---

१. अनुमान किया जाता है कि ९९४ तरह की सोने-चांदी की भिन्न तोल और रूप की मुद्राएं प्रचलित थीं।

वर्षों में चांदी की कीमत ५३ पेंस प्रति औंस से गिर कर १८९३ में ३९ पेंस प्रति औंस हो गई। और तदनुरूप, उसी काल में रुपयों का विनिमय दर २०.५ पेंस से १४.९ पेंस रह गया।

चांदी की सुवर्ण में कीमत गिरने का आंशिक कारण यह था कि एक तो उसकी पूर्ति अधिक थी और दूसरे उसकी मांग में संकुचन हो गया था। इस के अतिरिक्त, एक ओर आंशिक कारण यह भी था कि सोने का उत्पाद कम था और दूसरी ओर योरोपीय देशों ने चांदी की जगह सोने की मुद्रा को अपना लिया था।[1] और उसके कारण इस धातु की मांग बढ़ गयी थी।

चांदी की कीमत गिर जाने के भीषण परिणाम हुए। लोगों को इस में लाभ होता था कि वह चांदी सस्ती खरीदें और टकसालों में उस के रुपये घड़ा लें। द्रव्य की राशि के परिचालन में वृद्धि के कारण कीमतों में सामान्य वृद्धि हुई। आयात-व्यापार को भी क्षति हुई, क्योंकि पोंड पावने (स्टर्लिंग) में आयात का मूल्य चुकाने के लिए चांदी के रुपये अधिक परिमाण में दरकार होते थे। निर्यात सहित, सामान्यतः व्यापार पर भी प्रतिकूल प्रभाव हुआ, क्योंकि विनिमय के दर के विषय में अनिश्चितता हो गयी थी। इसके अलावा, भारत-स्थित योरोपीय अधिकारी इंग्लैंड में अपने पौंड-पावने के भुगतानों में हुई क्षति को पूरा करने के लिए रियायतें मांगते थे। किंतु सब से बड़ी समस्या, जो भुगतानों के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई, वह थी, 'घरेलू भुगतानों की (Home Charges)।' विनिमय-अस्थिरता के कारण 'घरेलू भुगतानों' का बजट बनाने में भारी अनिश्चितता का सामना करना पड़ा, क्योंकि रुपये के रूप में उसका बोझा भी काफी बढ़ गया था। उस समय के अर्थ-सदस्य ने जैसा कि कहा था कि विनिमय में एक पैनी गिर जाने का अर्थ बजट में तीन करोड़ रुपये का घाटा हो जाना है[2] और एक पैनी बढ़ने से आधिक्य हो जायगा।

कुछ-न-कुछ तो किया ही जाना था। सरकार ने लार्ड हैरशैल की अध्यक्षता में यह मामला एक कमेटी को पेश किया। कमेटी ने १८९३ में सूचना दी और सिफारिश की कि सोने और चांदी की निःशुल्क मुद्राएं घड़ने वाली टकसालें बन्द कर दी जायं। १८९३ के कायनेज एक्ट (मुद्रा टंकन कानून) द्वारा यह कर दिया गया, और रजत-मान का अंत हो गया। कमेटी ने यह भी सिफारिश की कि फिलहाल विनिमय का दर १ शलिंग ४ पेंस नियत किया जाय।

४. **सुवर्ण-मान की ओर**। लेकिन किस तरीके को रजत-मान की जगह दी जाती? हैरशैल कमेटी ने तजवीज की थी कि "रुपये की निःशुल्क मुद्रा बनाने की टकसालों का अन्त करने के साथ ही घोषणा होनी चाहिए कि, यद्यपि टकसालें जनता के लिए बन्द हैं, तथापि सरकार सोने के विनिमय में रुपये घड़ने के लिए उन टकसालों का प्रयोग करेगी, और उसका अनुपात १ शिलिंग ४ पैंस प्रति रुपये का होगा। और सरकारी खजाने सार्वजनिक दायित्वों के निमित्त उसी कीमत पर सोना वसूल करेंगे।"[3]

इसलिए, १८९३ के एक्ट VIII के साथ तीन घोषणा-पत्र (नं० २६६२-४,२९

1. Germany & the Latin Union (France, Switzerland, Belgium and Italy,)
2. Herschell Committee Report, para 5,
3. Herschell Committee Report, para 156.

जून १८९३) जारी किये गए, जिन के द्वारा इन सिफारिशों को क्रियात्मक रूप देने के प्रबन्ध किये गए ।

चूंकि रुपये की अधिकता थी, इसलिए १ शिलिंग ४ पैंस की कीमत तक पहुंचने में उसे समय लगा । २३ जनवरी, १८९५ को भारतीय विनिमय १ शि. ३१/३२ पैंस हुआऔर इसके बाद जनवरी १८९८ तक बढ़ता हुआ १ शि.४ पैंस के कानूनी अनुपात तक पहुंच गया ।

१८९८ में एक एक्ट पास हुआ, जिस के द्वारा करैंसी नोटों को जारी करने का अधिकार दिया गया । यह करैंसी नोट उस सोने के वदले में चालू होने थे, जो राज्य सचिव (Secretary of State) इंग्लैंड में वसूल करता और उसकी दर एक रुपये के वदले ७.५३३४४ ग्रेन विशुद्ध सोना था और साथ ही जहाज द्वारा सोना भेजने का किराया भी । यह सोना भारतीय कागज मुद्रा के संरक्षण के रूप में अंशतः बैंक आफ इंग्लैंड में रखा जाना था । राज्य सचिव ने (२१ जनवरी १८९८) घोषणा की कि वह १ शि. ४ १५/३२ पैंस प्रति रुपया की दर से तार द्वारा कलकत्ता, वम्बई और मदरास में परावर्त्तनों (transfers) को बेचने के लिए तैयार है ।

"१८९३-९८ के करैंसी-सुधारों का उद्देश्य यह था, (१) स्वर्ण कीमत में रुपये के मूल्य को और अधिक घटने से रोकना, (२) भारत के लोगों को सहज ही सोने के प्रयोग से परिचित कराना, और (३) रुपये-पौंड पावना के अनुपात को १ शि. ४ पैंस प्रति रुपये पर स्थिर करना । स्पष्टतः, ये दोनों उपाय अनुभव के लिए, और अस्थायी थे । अन्तिम ध्येय स्वर्ण मुद्रा और रुपयों के निश्चित अनुपात के अनुसार परिचालन द्वारा स्वर्ण-मान को जारी करना था, और रुपये को द्रव्य के प्रतीक के रूप में पूर्ण कानूनी दर्जे में न्यून कर देना था ।"[1]

इसलिए, जनवरी १८९८ में, जब कानून द्वारा नियत विनिमय की असली दर पहुंच गई, तो भारत सरकार ने राज्य सचिव को अन्तर्काल की समाप्ति के लिए कहा और सुवर्ण-मान लागू करने की योजना उपस्थित की । इस योजना का निरीक्षण करने के लिए सर हेनरी फाउलर की अध्यक्षता में, अप्रैल १८९८ में एक कमेटी नियत हुई ।

फाउलर कमेटी—कमेटी ने भारत सरकार की दी हुई तजवीज के अतिरिक्त अन्य प्रस्तावों पर भी विचार किया । इनमें एक प्रस्ताव चांदी के सिक्कों को बनाने के लिए टकसालों को पुनः जारी कर देने का था । यह इस आधार पर रद्द कर दी गयी कि इससे भारतीय मुद्रा की वही दशा हो जायगी जो १८७८-९३ के काल में थी । इसके बाद लैस्ली प्रोबीन और लिण्ड्से ने भी एक-एक योजना उपस्थित की थी । दूसरी योजना का ऐतिहासिक महत्व भी है, क्योंकि इस योजना में प्रस्तावित आधारों पर ही बाद में भारतीय मुद्रा की प्रगति हुई । इन दोनों योजनाओं का लक्ष्य सोने की बचत करना था । प्रोबीन की तजवीज सुवर्ण-धातु-मान (Gold Bullion Standard) की थी और लिण्ड्से की सुवर्ण-विनिमय-मान की । कमेटी ने दोनों को ही इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि इस के पक्ष में न तो कोई परम्परा है, और पुरातन मत भी इसके विरुद्ध है ।

कमेटी ने इन योजनाओं के स्थान पर स्वर्ण मुद्रा के साथ भारत में अन्तिम रूप से स्वर्णमान की स्थापना करने के पक्ष में मत दिया । इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए उसने निम्नलिखित प्रस्ताव किये, (१) ब्रिटिश स्वर्ण-मुद्रा तथा अर्द्ध स्वर्ण-मुद्रा को भारत में विधिग्राह्य (Legal Tender) तथा प्रचलित मुद्राएं बना दिया जाय, (२) भारतीय टकसालों को बिना किसी प्रतिबंध के सोने की सावरेनों को उसी प्रकार ढालने

1. H. L. Dey in Economic Problems of Modern India, Vol II. p. 219.

के लिए स्वतन्त्रता दी जाय, जिस प्रकार शाही टकसाल में आस्ट्रेलिया की तीन शाखाओं को स्वतन्त्रता दी गई है; (३) विनिमय दर को स्थायी रूप से एक शिलिंग ४ पैंस की दर पर स्थित कर दिया जाय; (४) रुपयों की मुद्रा ढालने पर कुछ प्रतिबंध लगाकर उसको असीमित विधिग्राह्य (Unlimited Legal Tender) बना दिया जाय, उसको देश के आंतरिक भाग में स्वर्ण के रूप में बदले जाने पर कानूनी प्रतिबंध लगा दिया जाय; (५) जब कभी विनिमय दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु (Gold Export Point) से नीचे जाने लगे तो रुपये के बदले में सुरक्षित कोष में से सोना स्वतन्त्रतापूर्वक दिया जाय; (६) रुपये के नये सिक्कों को ढालना तब तक के लिए बन्द कर दिया जाय, जब तक बाजार में पड़े हुए सोने का भाव उचित अनुपात में ऊपर न चढ़ जाय। अन्त में, (७) रुपये के सिक्के ढालने से होन वाले लाभ को एक पृथक् निधि में रखकर उस निधि का नाम स्वर्णमान सुरक्षा कोष (Gold Standard Reserve) रखा जाय।

५. स्वर्ण-विनिमय मान का विकास। सरकार ने इन सभी प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया और उनको कार्य रूप में परिणत करने के उपायों पर चलना आरम्भ कर दिया। सावरेन तथा अर्द्ध सावरेनों को भारत भर में विधिग्राह्य बनाकर, उनका भाव प्रति पौंड १५ रु० निश्चित कर दिया गया। भारत भर में सोने के सिक्के ढालने के लिए कार्यकारी पग उठाये गए, किंतु ब्रिटिश कोष द्वारा पारिभाषिक (Technical) कठिनाइयां उपस्थित करने के कारण इस योजना को छोड़ना पड़ा। सन् १९०० में स्वर्णमान सुरक्षा कोष की रुपये के सिक्के ढालने के लाभ से स्थापना की गयी। सन् १८९३ के बाद उसको छोड़कर सन् १९०० में ही उसको प्रथम बार अपनाया गया।

फाउलर कमेटी के प्रस्तावों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए मुद्राचलन (Currency) कार्यालयों को इस बात की आज्ञा दे दी गयी कि वह जनता को अधिकतम परिणाम में स्वर्ण मुद्रा दें। किन्तु उसका परिणाम सन्तोषजनक नहीं निकला, स्वर्ण-मुद्रा तथा करेंसी नोटों पर रुपये में बदलने के लिए बट्टा लगने लगा। "अकाल की स्थिति तथा बाजार में चलने वाले अनुकूल मुद्रा साधन के पर्याप्त मात्रा में न मिलने के कारण मुद्रा की तंगी बढ़ गई और इससे रुपये की कमी भी विशेष रूप से बढ़ गई।"[1]

इस प्रकार सरकार को सन् १९०० में अत्यन्त व्यापक परिमाण में रुपये के सिक्के ढालने की नीति पर फिर वापस आना पड़ा। इससे लंदन के चांदी बाजार को भी बल मिल गया। सन् १८९८ के अधिनियम को दो वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया। साथ ही इसमें यह भी व्यवस्था की गयी कि भारत में रुपये के सिक्के ढालने के लिए चांदी मोल लेने के लिए लंदन में कागजी चलअर्थ की तिजोरी में स्वर्ण के उपयोग करने का अधिकार दे दिया गया। इस प्रकार कागजी मुद्राचलन सुरक्षा निधि (Paper Currency Reserve) लंदन शाखा की स्थापना की गयी।

भारत में जो रुपये के सिक्के ढालने के लाभ से स्वर्ण सुरक्षा निधि बनाई गई थी, उसके सम्बन्ध में भारत सरकार का विचार उस स्वर्ण को भारत में ही विशेष तिजोरियों में बन्द करके रखने का था। किन्तु भारत सचिव ने निर्णय किया कि उसको लंदन भेजकर उसको स्टर्लिंग प्रतिभूतियों (Sterling Securities) में लगा दिया जाय। यह सम्मति प्रगट की गई कि लंदन में वह अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकेगा, जहां कि उसका अनिवार्य आवश्यकता के समय भी उपयोग किया जा सकेगा। इस प्रकार सिक्का

१. चम्बरलेन कमीशन की रिपोर्ट, पृष्ठ २५।

ढालने के लाभ को लंदन भेज दिया गया और वहां उसकी एक सुरक्षा निधि बनाकर उसका नाम स्वर्णमान सुरक्षा निधि रखा गया।

इस प्रकार लंदन में स्वर्णमान सुरक्षा निधि तथा कागजी मुद्राचलन सुरक्षा निधि (लंदन शाखा) की स्थापना की गयी।

सन् १९०६ में स्वर्णमान सुरक्षा निधि की एक भारतीय शाखा की स्थापना की गई। इसको रुपयों के सिक्कों में रखा जाना था। अल्पकालिक सूचना पर होने वाले रुपये की मांग को पूर्ण करने तथा विनिमय दर को एक शिलिंग ४ पैंस से अधिक न होने देने के लिए इसको भारत में बनाने की आवश्यकता हुई। रुपये के सिक्के ढालने से होने वाले लाभ को भारत में रुपयों के रूप में सुरक्षा निधि में डालकर उस कोष की स्थापना की गई। इसको लंदन में स्टर्लिंग में परिवर्तन करने से अच्छा समझा गया। इस समय सर्व-प्रथम सुरक्षा निधि की इन दोनों शाखाओं के लिए "स्वर्णमान सुरक्षा निधि" नाम का उपयोग किया गया। इनमें से एक भारत में रुपयों के रूप में थी और दूसरी लंदन में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में थी।

उच्चतर स्वर्ण अंक (Upper Specie point) **निश्चित किया गया।** इसी बीच में एक और बात हो गई। भारत से जहाज द्वारा (भारत में कागजी मुद्राचलन सुरक्षा निधि से लंदन की सुरक्षा निधि) लंदन को सोना भेजने के कार्य को अनावश्यक रूप से व्ययसाध्य कहा गया। यह अनुभव किया गया कि इस व्यय को भारत में रुपये के बदले में लंदन में सोना ले लेने की प्रणाली द्वारा बचाया जा सकता है। अतएव, सन् १९०४ में भारत सचिव ने घोषणा की कि वह उन हुंडियों को, जिन्हें कौंसिल ड्राफ्ट या कौंसिल बिल कहा जाता था, निसीम परिमाण में १ शिलिंग ४१/८ पैंस को दर पर बेचेंगे, लंदन से स्वर्ण निर्यात का बिंदु यही था। इस बीच भारत सचिव की इन हुंडियों की बिक्री से लंदन में चांदी मोल लेकर भारत को रुपये ढालने के लिए भेज दी जाती थी। तो भी कुछ सोना मिस्र तथा आस्ट्रेलिया से भारत आता रहा और उसको समय-समय पर जहाज द्वारा लंदन भेजा जाता था। इस व्यय को भी बचाने के लिए सन् १९०५ में यह निश्चय किया गया कि मिस्र या आस्ट्रेलिया से भारत स्वर्ण मुद्राओं के विरुद्ध इस माल को तार द्वारा परावर्त्तन कर लिया करे।

इस प्रकार रुपये-स्टर्लिंग विनिमय के उतार-चढ़ाव की उच्चतर सीमा १ शिलिंग ४१/८ पैंस निश्चत हो गई। जब तक भारत सचिव अपनी हुण्डियों (Council Bills) को उस मूल्य पर बेचने को सहमत रहते थे, विनिमय दर इस बिन्दु से ऊपर नहीं जा सकती थी, तो भी विनिमय दर भारत से स्वर्ण निर्यात बिन्दु से नीचे गिर गई, किन्तु सामान्य रूप से भारत का व्यापारिक संतुलन अनुकूल होने के कारण इस संयोग की सभावना को अत्यधिक कम समझा जाता था।

निम्नतर स्वर्ण अंक (Lower Specie Point) **निश्चित किया गया।** तो भी इस प्रकार का आकस्मिक संयोग १९०७ में उपस्थित हुआ। १९०७ की ग्रीष्म ऋतु में वर्षा कम होने, संसार भर में सामान्य आर्थिक तंगी के साथ-साथ १९०७ के पतझड़ में अमेरिकी आर्थिक संकट के कारण भारतीय विनिमय अत्यन्त निर्बल हो गया। उसका भाव गिरते-गिरते २३ नवम्बर को १ शिलिंग ३२३/३२ पैंस हो गया। विनिमय की इस स्थिति में तब तक सुधार नहीं हुआ, जब तक भारत सरकार तार-परावर्त्तनों द्वारा लंदन में स्टर्लिंग हुण्डियों को बेचने को तैयार न हो गई, जिनका मूल्य बाद में अन्तिम रूप से १ शिलिंग ३२९/३२ पैंस निश्चित हो गया। यह भारत से स्वर्ण निर्यात का अंक

(Gold Export Point) था। इन हुण्डियों की आवश्यकता को पूरी करने के लिए स्वर्णमान सुरक्षा निधि से ८० लाख पौंड से भी अधिक रकम निकाली गई। बाद में इन हुण्डियों को भारत सरकार की हुण्डियां (Reverse Council Bills) कहा गया।

सरकार पर परिस्थितिवश थोपे गये इन कार्यों के वास्तविक परिणामस्वरूप एक ऐसी प्रणाली का विकास हुआ, जिसको साधारण तया स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard) कहा जाता है। यह वह प्रणाली नहीं थी, जो भारत सरकार का मौलिक उद्देश्य था तथा जिसके संबंध में फाउलर कमेटी ने सुझाव दिया था, अर्थात् वह मुद्राचलन के साथ स्वर्णमान था।

६. मुख्य विशेषताएं। नई प्रणाली की मुख्य विशेषताएं यह थीं :—

(१) नोटों तथा रुपयों वाला आंतरिक चलअर्थ (Currency) यद्यपि एक सांकेतिक मुद्रा (Token Coin) था, किन्तु वह भी मूल्य का मान था, कुछ छोटे सहायक सिक्के भी थे, जो सीमित विधि ग्राह्य थे। परिमित संख्या में सावरेन (स्वर्ण-मुद्रा) भी बाजार में चल रहे थे।

(२) रुपये को केवल विदेशी उद्देश्यों के लिए ही एक रुपये के १६ पैंस की दर पर स्वर्ण में बदला जा सकता था।

(३) रुपये के स्टर्लिंग (स्वर्ण) मूल्य को भारत सचिव की हुण्डियों (Council Bills) की बिक्री द्वारा १ शिलिंग ४$\frac{१}{८}$ पेंस (उच्चतर स्वर्ण अंक) से लेकर भारत सरकार की हुण्डियों (Reverse Council Bills) की बिक्री द्वारा १ शिलिंग ३$\frac{२९}{३२}$ पैंस स्वर्ण-अंक तक नियमित किया गया था।

इस प्रणाली को चालू रखने के लिए दो सुरक्षा निधियों को रखना पड़ता था। इनमें एक भारत में मुख्य रूप में रुपयों में रखी जाती थी, तथा दूसरी लंदन में स्टर्लिंग में रखी जाती थी। भारतीय सुरक्षा निधि का निर्माण (क) कागजी चलअर्थ सुरक्षा निधि के भारतीय भाग, (ख) स्वर्णमान सुरक्षा निधि की चांदी शाखा, तथा (ग) सरकारी ख़जाने के बकाया धन से किया जाता था। लंदन की सुरक्षा निधि का निर्माण, (क) कागजी चलअर्थ की लंदन शाखा, (ख) स्वर्णमान सुरक्षा निधि तथा (ग) भारत सचिव के बकाया धन से किया जाता था। इन सुरक्षा निधियों का निर्माण पृथक्-पृथक् उद्देश्यों से किया जाता था, किन्तु व्यवहार में उनको आवश्यकता पड़ने पर विनिमय की सहायता के लिए उपलब्ध किया जा सकता था।

यह प्रणाली प्रथम महायुद्ध (१९१४–१८) में टूट जाने तक अत्यंत सुचारु रूप से चलती रही। इस बीच में उसको चैम्बरलेन कमीशन का समर्थन भी प्राप्त हो गया।

७. चैम्बरलेन कमीशन। अप्रैल १९१३ में आस्टिन चैम्बरलेन की अध्यक्षता में चैम्बरलेन कमीशन नियुक्त किया गया था। उसको भारतीय मुद्राचलन तथा विनिमय के यन्त्र की जांच करके उसके सुधार के लिए सुझाव देने का कार्य सौंपा गया था। इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट फरवरी १९१४ में दी। इसमें उसने सरकार द्वारा विनिमय को स्थिर करने के लिए अपनाए गए विभिन्न उपायों का समर्थन किया। उसकी यह निश्चित राय थी कि स्वर्ण विनिमय मान न केवल कार्य रूप में परिणत करने योग्य था वरन् वह भारतीय स्थिति के मुख्य रूप से अनुकूल था, क्योंकि इस देश में पूर्ण विकसित बैंकिंग प्रणाली का अभाव था तथा वह सस्ता भी था। भारतीय जनता की स्वर्ण एकत्रित करने की प्रवृत्ति के कारण उनकी फाउलर कमीशन की सम्मति के विरुद्ध यह राय

थी कि स्वर्ण-चल-अर्थ के साथ भारत में स्वर्णमान स्थापित करना एकदम अनुचित है। सिद्धान्त रूप में कमीशन इसके विरुद्ध नहीं थी कि भारत की टकसालों में स्वर्ण मुद्राओं तथा अर्द्ध-स्वर्ण मुद्राओं को ढाला जाय। किन्तु इसमें यह शर्त थी कि भारतीय जनता मौलिक रूप में उनकी मांग करे और सरकार उसका व्यय उठाने को सहमत हो। कमीशन ने इस प्रणाली में छोटे-मोटे परिवर्त्तनों का भी सुझाव दिया था। उनमें से एक था भारत सरकार की भारत सचिव पर हुण्डियों (Reverse Council Bills) को तुरन्त बेच देना तथा स्वर्णमान रक्षा निधि की चांदी-शाखा को बन्द कर देना। उन्होंने लंदन में स्वर्ण तथा स्टर्लिंग प्रतिभूतियों की पर्याप्त सुरक्षा-निधि के रखे जाने की आवश्यकता पर बल दिया, जिससे आंतरिक चलअर्थ को बाह्य चलअर्थ अथवा अंतर्राष्ट्रीय चलअर्थ में बदला जा सके। किन्तु इस कमीशन के प्रस्तावों पर सरकार पूर्णतया तथा ठीक-ठीक विचार भी नहीं कर पाई थी कि प्रथम विश्व-युद्ध आरम्भ हो गया। और भारत की चलअर्थ प्रणाली गड़बड़ में पड़ गई।

८. **स्वर्ण-विनिमय-मान का टूटना**। प्रथम महायुद्ध अगस्त १९१४ में आरम्भ हुआ उसने नोटों के बदले नकद रकम लेने तथा बैंकों से अपनी जमा पूंजी को निकालने के लिए बैंकों पर अत्यधिक दबाव डाला। विनिमय भी इस समय निर्बलता के चिह्न प्रगट कर रहा था, किन्तु सरकार ने नोटों के ब ले में पर्याप्त नकदी देकर तथा सेविंग्स बैंक खाते से जमा रकमों को निकालने की पर्याप्त सुविधाएं देकर जनता के हृदय में फिर विश्वास उत्पन्न कर लिया। विनिमय को पुष्ट करने के लिए भारत सरकार की नव्वे लाख पौंड की हुण्डियां (Reverse Council Bills) भारत सचिव के नाम बेची गईं।

तो भी वास्तविक संकट १९१६ में आरम्भ हुआ, जिससे अंततः स्वर्ण विनिमय-मान पूर्णतया टूट गया। इस प्रणाली की सफलता के लिए यह आवश्यक था कि सरकार विनिमय की स्थिरता को बनाये रखने में समर्थ होती। किन्तु सरकार ऐसा नहीं कर सकी, क्योंकि रुपये की एक तीव्र मांग ऐसे समय में आई जबकि चांदी का मूल्य अभूतपूर्व स्तर तक चढ़ रहा था।

रुपये के लिए अत्यधिक मांग के कारण यह थे :—(१) आयात की अपेक्षा अत्यधिक निर्यात करना। अनुकूल व्यापारिक संतुलन में वृद्धि के कारण यह थे—(क) जहाजों की कमी के कारण आयातों का कम होना तथा युद्ध की अन्य स्थितियां, और (ख) ब्रिटेन तथा उसके मित्र-राष्ट्रों द्वारा युद्ध-उद्दश्यों के लिए भारतीय सामग्री की अधिकाधिक मांग होते रहने के कारण निर्यातों का बढ़ जाना।

(२) युद्ध के पूर्वी क्षेत्रों में लगी हुई सेनाओं के लिए खर्च तथा माल की कीमत का भुगतान करने की आवश्यकता के कारण भारतीय चलअर्थ की मांग और भी अधिक बढ़ गई।

(३) इसके अतिरिक्त उपनिवेशों, अधीन देशों तथा अमेरिका की ओर से भारत में मोल लिये जाने वाले माल का मूल्य देने के लिए भी रुपये की आवश्यकता थी।

(४) युद्ध-कालीन प्रतिबन्धों के कारण चांदी का आयात नहीं किया जा सकता था, अतएव रुपये की मांग और भी अधिक बढ़ गई।

रुपये की इस बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए सरकार को अत्यन्त ऊंचे मूल्य पर चांदी मोल लेनी पड़ी। चांदी का मूल्य २७ पैंस प्रति औंस से बढ़कर १९१६ में ४३ पैंस हो गया। यह मूल्य अपनी कहानी आप ही कह रहा है क्योंकि इस मूल्य पर

रुपया सांकेतिक मुद्रा नहीं रह पाता (विनिमय मूल्य अमुद्रित रौप्य पिण्ड के मूल्य के बराबर हो जाता है)। १९२० में चांदी का मूल्य चढ़कर ८९ पैंस प्रति औंस हो गया।

चांदी के मूल्य में इतनी अधिक तेजी आने के कारण यह थे : (१) चांदी की पूर्ति में न्यूनता। (२) मुख्य रूप से चांदी की मुद्रा के लिए चांदी की मांग अधिक होने के कारण; (३) मार्च १९१९ में स्टर्लिंग डालर विनिमय का सम्बन्ध टूट जाने के कारण डालर की अपेक्षा स्टर्लिंग का मूल्य घट जाना।

चांदी के मूल्य की इस तेजी का प्रभाव भारतीय विनिमय पर अत्यंत भयंकर पड़ा। अगस्त १९१७ से रुपया सांकेतिक मुद्रा नहीं रहा। जनता को रुपये को गलाकर उसकी चांदी बेच लेने में अधिक लाभ था। अतएव सरकार के लिए चांदी को चढ़ते हुए नये भाव पर मोल लेना और बिना हानि उठाए उसको १ शिलिंग ४ पेंस की दर पर देते रहना संभव नहीं रहा। इसके अतिरिक्त जनता द्वारा रुपयों को गलाने की प्रवृत्ति बढ़ जाने के कारण नये-नये ढाले हुए रुपये बाजार से अदृश्य होते जाते थे।

२८ अगस्त १९१७ को भारत सचिव ने तार द्वारा परावर्त्तनों की दर को १ शिलिंग ४$\frac{१}{४}$ पेंस से बढ़ाकर १ शिलिंग ५ पेंस कर दिया। साथ ही यह भी घोषणा की गई कि चांदी के मूल्य में परिवर्त्तन के अनुसार रुपये के मूल्य में भी परिवर्त्तन किया जायगा। वास्तव में यह रजत-मान[1] को फिर लागू करने जैसा था।

इस प्रकार (Telegraphic Transfers) तार से परावर्त्तनों की दर में समय-समय पर परिवर्त्तन किया जाता रहा, यहां तक कि १२ दिसम्बर, १९१९ को वह २ शिलिंग ४ पेंस तक पहुंच गया। इस स्थिति का मुकाबला करने के लिए सरकार ने निम्न प्रकार के कुछ उपायों का अवलंबन किया :

(१) **विनिमय नियन्त्रण**—भारत सचिव ने अपनी हुण्डियों (Council Drafts) की बिक्री को २० दिसम्बर १९१६ को २० लाख रुपये से लेकर १२० लाख रुपयों के अंदर-अंदर परिमित कर दिया। यह रुपये के भुगतान की आवश्यकता को कम करने के लिए था।

(२) **चांदी की खरीद**—व्यक्तिगत हिसाब में चांदी के आयात को बंद कर दिया गया और सरकार ने अमरीका में सिक्का बनाने के लिए चांदी भारी मात्रा में खरीदी।

(३) **चांदी बचाने के लिए बरते गए कुछ उपाय**—सिक्कों के कार्यों के अतिरिक्त सोने तथा चांदी के प्रयोग को अन्य सब कामों के लिए कानून-विरुद्ध घोषित कर दिया गया। चांदी के सिक्कों तथा अमुद्रित चांदी की सिलों के निर्यात पर रोक लगा दी गई। अढ़ाई रुपये तथा एक रुपये के नोट चलाये गये, निकल की रेजगारी के सिक्के भी चलाए गए।

(४) **सरकार ने आयात किए हुए सारे सोने को मोल ले लिया**-और उसको कागजी चलअर्थ सुरक्षा-निधि में जमा करके उसके विरुद्ध नोट निकाले।

(५) **आर्थिक उपायों में**—जो चलअर्थ की कठिनाई को दूर करने के लिए अपनाए गए, यह थे—अतिरिक्त कर लगाया जाना, प्रधान खर्चों में कटौती तथा भारत में बड़े परिमाण पर ऋणों का लिया जाना।

---

1. Vakil and Muranjan—Currency and Prices in India, p. 112.

किन्तु इस प्रकारके अत्यन्त मूल्यवान उपायोंको अपनानेपर भी सरकार विनिमय की कृत्रिम स्तर पर रक्षा नहीं कर सकी और इस प्रकार स्वर्ण विनिमय-मान टूटगया।

९. स्मिथ कमेटी। युद्ध समाप्त होने पर मई १९१९ में सर बेबिंगटन स्मिथ की अध्यक्षता में एक चलअर्थ कमेटी का निर्माण किया गया। चांदी के मूल्य में अभी हाल में उतार-चढ़ावों को ध्यान में रखते हुए तथा चांदी के भाव की भावी गति पर विचार करते हुए इस कमेटी ने २ शिलिंग (स्वर्ण) का अनुपात रखने का प्रस्ताव किया। क्योंकि इस दर पर रुपया सांकेतिक मुद्रा बना रह सकता था। ऊंचा अनुपात रखने से अन्य लाभ होने की भी आशा थी, जो यह हो सकते थे: (१) इससे आयात की सामग्री तथा मशीनें सस्ती हो जाएंगी, फिर भी उससे हमारे निर्यात कम नहीं होंगे। क्योंकि सामग्री तथा खाद्य पदार्थों की सर्वव्यापी न्यूनता होने के कारण भारतीय उत्पादों की विश्व बाजार में भारी मांग थी; (२) इससे सरकारी आय वढ़ जाती, क्योंकि इसके फलस्वरूप भारत द्वारा घरेलू व्ययों (Home Charges) के रूप में ब्रिटेन में किये जाने वाले खर्च में लगभग १२ करोड़ की कमी हो जाती।

कमेटी ने इसके अतिरिक्त यह भी प्रस्ताव किया कि वम्बई में एक टकसाल खोली जाय, जहां जनता के लिए सावरन तथा अर्द्ध सावरन के सिक्के ढाले जाएं। उसने यह भी प्रस्ताव किया कि स्वर्ण-आयात-निर्यात पर सब प्रकार के प्रतिबन्धों को हटा दिया जाय, तथा व्यापारियों को व्यक्तिगत रूप में चांदी का आयात करने दिया जाय। उन्होंने यह भी प्रस्ताव किया कि स्वर्णमान सुरक्षा निधि में पर्याप्त स्वर्ण रखा जाना चाहिए और स्वर्ण रक्षा निधि के ५० प्रतिशत भाग को भारत में रखा जाना चाहिए। इस कमेटी के एकमात्र भारतीय सदस्य श्री डी. एम. दलाल ने अपने मतभेद पत्र में १ शिलिंग ४ पेंस की दर की ही सिफारिश की, तथा यह भी सुझाव दिया था कि चांदी के मूल्य चढ़ जाने पर कम चांदी डालकर दो रुपये के सिक्के ढालकर चलाए जाएँ। सरकार ने बहुमत के मुख्य-मुख्य सुझावों को स्वीकार कर लिया।

१०. **दो शिलिंग का अनुपात।** नया भाव २ फरवरी १९२० से उस समय अपनाया गया, जब भारत सचिव ने एक रुपये का मूल्य ११·३००१६ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण निर्यात किया। दो शिलिंग का भाव अधिक समय तक नहीं चला। उसने स्वर्ण का भाव प्रति तोला १५।।।=) निश्चित कर दिया। जबकि वास्तव में उस समय स्वर्ण का बाजार भाव २२।।) था। अतएव सरकार के लिए एक रुपये के दो शिलिंग (स्वर्ण) भाव से स्टर्लिंग देते रहना कालांतर में असंभव हो गया। १९१९ के बाद व्यापारिक संतुलन भारत के प्रतिकूल हो जाने के कारण स्टर्लिंग की मांग और भी अधिक बढ़ गई। इसके अतिरिक्त विनिमय में सट्टा चल रहा था, लोगों ने रुपये के बदले में इस आशा से स्टर्लिंग मोल लेना आरम्भ कर दिया था कि बाद में विनिमय की दर गिरने पर वह स्टर्लिंग रुपए बनाकर लाभ कमाएंगे। योरोपीय समुदाय ने भी नये अनुकूल भाव पर इंग्लैण्ड को रुपया भेजकर लाभ कमाया और इसी प्रकार विदेशी माल के आयातकर्त्ताओं ने अपने आयातों का तुरन्त भुगतान करके लाभ उठाया। इन सब कारणों से स्टर्लिंग की मांग अधिकाधिक बढ़ती गई।

स्टर्लिंग का भाव स्वर्ण की तुलना में पौंड से मंदा होने के कारण सरकार को रुपये के बदले में दो शिलिंग से भी अधिक देना पड़ता था। इस प्रकार जबकि सरकार स्टर्लिंग को एक रुपये के लगभग ३ शिलिंग भाव से बेंच रही थी तो उसका वास्तविक बाजार भाव बहुत कम था। स्टर्लिंग को रुपये की अपेक्षा उसकी विनिमय बाजार में अधिक मांग होने के ही कारण अधिक नहीं मांगा जाता था, वरन् इसलिए भी मांगा जा

रहा था कि मूल्य भारत की अपेक्षा इंग्लैण्ड में अधिक तेजी से गिर रहे थे। सरकार ने विनिमय दर को प्रथम २ शिलिंग स्वर्ण के भाव पर तथा बाद में २ शिलिंग स्टर्लिंग के भाव पर बनाए रहने का प्रयत्न किया। किन्तु अन्त में यह सभी प्रयत्न असफल सिद्ध हुए। २८, सितम्बर १९२० को सरकार ने लंदन में स्टर्लिंग की हुण्डियों का बेचना बंद कर दिया, किन्तु इस समय तक भारत सरकार की भारत सचिव के नाम से हुण्डियां (Reverse Council) ५ करोड़ ५२ लाख पौंड की बेची जा चुकी थीं। इनका भुगतान लंदन में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों और कागजी चलअर्थ सुरक्षा निधि के कोष की हुण्डियों (Treasury Bills) को बेचकर किया गया। इन प्रतिभूतियों को एक पौंड के १५ रुपए भाव पर मोल लिया गया था और इनको प्रति पौंड ७ रुपये से लेकर १० रुपये तक के भाव पर बेचना पड़ा और इस प्रकार सरकार को ५ करोड़ रुपये की कुल हानि हुई।

इसके फलस्वरूप विनिमय दर बराबर गिरती चली गई, यहां तक कि जुलाई १९२१ में वह गिरकर ११$\frac{९}{३२}$ पेंस स्वर्ण अथवा १ शिलिंग ३$\frac{१३}{३२}$ पेंस स्टर्लिंग हो गयी। इससे भारत के विदेशी व्यापार पर भी भयंकर प्रभाव पड़ा।[1] अब सरकार ने विनिमय दर को विश्व परिस्थितियों के अनुसार चलने देना स्वीकार कर लिया, जिससे भारतीय मूल्यों में कोई अनुचित बाधा न आए। जनवरी १९२३ में विनिमय दर फिर ऊंची चढ़ने लगी। इसका कारण अनुकूल व्यापारिक संतुलन था। यहां तक कि अक्तूबर १९२४ में वह १ शिलिंग ४ पेंस स्वर्ण अथवा १ शिलिंग ६ पेंस स्टर्लिंग के स्तर तक पहुंच गया। उस समय सरकार पर दबाव डाला गया कि वह विनिमय को उसी दर पर स्थिर कर दे किन्तु सरकार ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। सरकार ने अप्रैल १९२५ में मुद्रा-चलन की पूर्ति को सीमित करके विनिमय दर को १ शिलिंग ६ पेंस स्वर्ण तक चढ़ा दिया। इसके कुछ मास बाद समस्त परिस्थिति पर आलोचनात्मक विचार करने के लिए एक शाही कमीशन नियुक्त किया गया।

११. **सरकार की नीति की आलोचना की गई**। विनिमय को उच्च दर पर स्थिर करने और भारत को हानि पहुंचाकर भी फिर उसको उसी दर पर स्थिर रखने की सरकार की नीति की भारी आलोचना की गई। यह तर्क उपस्थित किया गया कि चांदी का मूल्य निश्चित रूप से अनिश्चित है और स्टर्लिंग-डालर दर की दशा भी ऐसी ही है। अतएव, सरकार को विनिमय दर निश्चित करने से पूर्व कुछ समय तक प्रतीक्षा करनी चाहिए थी। इस अनिश्चितता के समय में विनिमय दर को अपना स्तर आप खोजने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाना चाहिए था।

इस बात को पहले से देख लेना सुगम था कि युद्ध के पश्चात् आयातों में वृद्धि होना तथा निर्यातों में न्यूनता होना अनिवार्य था। यूरोपीय लोग, जिन्होंने बड़े-बड़े लाभ उठाए थे—अपने देश का द्रव्य भेजने की सुविधाएं मांगते थे। इस सबका यह अर्थ था कि स्टर्लिंग की मांग बढ़ने वाली थी।

इसलिए यदि अधिकारियों में थोड़ी भी बुद्धि होती तो उनको पूर्वतः दिखलाई दे जाता कि उनकी २ शिलिंग दर को भंग करने वाली शक्तियां अपना कार्य कर रही थीं। यदि विनिमय को अपना स्तर स्वयं खोजने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता तो वह उससे भी नीचे के अंक पर आकर टिकता और इसी दशा में वह निकट भविष्य के

---

1. G. D. Birla—Indian Currency in Retrospect (Kitabistan) P. 13.

प्रतिकूल व्यापारिक संतुलन को ठीक करने में भी सहायता देता। इसके विरुद्ध उच्च विनिमय दर पर उसको जबरदस्ती स्थिर रखने से उन शक्तियों के प्रभाव में अतिशयोक्ति उत्पन्न कर दी गई। सरकार की केवल २ शिलिंग दर चलाने के लिए ही आलोचना नहीं की गई, वरन् इसलिए भी की गई कि उसको यह स्पष्ट हो जाने पर भी कि ऐसा करना निराशाजनक कार्य होगा, सरकार उसको बनाये रखने के लिए आग्रहशील बनी रही।

सरकार उच्च विनिमय दर पर इस प्रकार क्यों चिपटी हुई थी? "उसकी (भारत कार्यालय) की इच्छा यह थी कि मुद्रा संकोच उपायों द्वारा विनिमय को आगे धकेला जाय, जिससे वह आयातों में सहायक सिद्ध हो सके।"[1] इस प्रकार उस समय सरकार की नीति का पथ प्रदर्शन ब्रिटिश स्वार्थों द्वारा किया जा रहा था। विचार यह था कि अंग्रेजी द्रव्य की अपेक्षा भारतीय रुपये का मूल्य बढ़ाकर भारत में ब्रिटिश आयातों को प्रोत्साहन दिया जाय। मिस्टर ऐंस्कफ (Mr. Ainscough) ने कहा है कि "उच्च विनिमय ब्रिटिश निर्माता को भारत में उसके प्रतिद्वंद्वी की अपेक्षा अधिक अनुकूल स्थिति में कर देता है। अतएव, सब मिलाकर उसका भौतिक लाभ सबसे अधिक तभी बनता दिखलाई देता है, जब इस प्रकार की परिस्थिति में विनिमय दर को यथा संभव ऊंची से ऊंची दर पर बांध दिया जाय।"[2] इसीलिए ब्रिटिश पत्रों द्वारा स्मिथ कमेटी की रिपोर्ट का इतनी अच्छी प्रकार से स्वागत किया गया था।

सरकार की नीति से भारत सरकार को तीन प्रकार की हानि पहुंची—(१) प्रथम महायुद्ध के समय (जैसा कि द्वितीय महायुद्ध में भी हुआ) भारतीय माल का भुगतान मित्र-राष्ट्रों ने माल द्वारा न किया वरन् स्टर्लिंग के उधार खाते के रूप में किया। सरकार ने २ शिलिंग दर को बनाये रखने के प्रयत्नों में लगभग २ करोड़ ४० लाख पौंड मूल्य के इस एकत्रित स्टर्लिंग को उड़ा दिया। (२) उच्च विनिमय से आयातों के बढ़ जाने के कारण भारतीय उद्योग-धंधों पर उसका विपरीत प्रभाव पड़ा। (३) सरकार के विनिमय दर को उसके स्वाभाविक स्तर तक गिरने देने के आकस्मिक निर्णय से अनेक ऐसे भारतीय आयातकर्त्ता नष्ट हो गये, जिन्होंने विदेशी माल का उच्च विनिमय दर पर आर्डर दिया था और जिनको अब रुपये के रूप में अपनी आशा से दुगने से अधिक राशि देनी पड़ रही थी। सरकारी नीति इंग्लैण्ड को भौतिक लाभ पहुंचा सकती थी, किन्तु भारतीय व्यापारियों को नहीं।

---

१. "अप्रैल १९२० में प्रचलित २ शिलिंग ४ पेंस की विनिमय दर ऐसी गिरी कि वह बारह मास के अंदर ही गिरकर १ शिलिंग ३ पेंस हो गई। विनिमय की यह स्थिति आयातकों के लिए अत्यंत संकटमय थी। उनमें से अनेकों ने माल भेजने के आर्डर उस समय दिये थे, जब विनिमय दर ऊंची थी, आर्डर भेजते समय उन्होंने विनिमय दर के भाव को निश्चित भी नहीं किया था। अतएव माल आया तो वह तत्कालीन नीची दर पर माल लेने को या तो सहमत नहीं थे अथवा समर्थ नहीं थे। वर्ष के अन्त में भारतीय बन्दरगाहें ऐसे आयात किये कपड़े की गांठों, मोटरकारों तथा अन्य वस्तुओं से भरी पड़ी थीं, जिनको माल मंगाने वालों ने बन्दरगाहों से नहीं उठाया था। गत वर्ष के विपरीत रुपया बाजार में से लगातार वापस आ रहा था। यह व्यापार के साधारणतया रुक जाने का चिह्न था। (Report of the Controller of Currency for 1920-21.)

2. Mr. Ainscough's Report on British Trade in India. etc. quoted by Brij Narain in Indian Economic Problems, Part I. p. 213.

सत्ताइसवाँ अध्याय

मुद्राचलन और विनिमय (गत अ० से आगे)

१९२६ से १९३९

१. स्वर्ण विनिमय मान की त्रुटियाँ। २५ अगस्त १९२५ को लेफ्टिनेंट कमांडर हिल्टन यंग की अध्यक्षता में एक शाही कमीशन की स्थापना करके उसको यह कार्य सौंपा गया कि वह भारतीय मुद्राचलन प्रणाली का अध्ययन करके उसके विषयमें रिपोर्ट दे। इस कमीशन से यह आशा की गई कि वह इस बात पर विचार करे कि भारतीय मुद्राचलन प्रणाली में भारतीयों के स्वार्थ की दृष्टि से कोई सुधार किया जा सकता है या नहीं।

कमीशन को भारत में प्रचलित स्वर्ण विनिमय मान में निम्नलिखित त्रुटियां मिलीं—

(१) "प्रणाली सरल नहीं है और रुपये की स्थिरता के आधार को अशिक्षित जनता तुरन्त नहीं समझ सकती, चलअर्थ में दो सांकेतिक मुद्राएं (रुपये के सिक्के तथा रुपये के नोट) बाजार में हैं। उनके साथ एक व्यर्थ की पूर्ण मूल्य की अनावश्यक स्वर्ण मुद्रा (सावरेन) को भी लगाया हुआ है, जो बाजार में बिल्कुल नहीं चलती। सांकेतिक चलअर्थ का एक रूप (जिसमें एक दूसरे में बदले जाने का असीमित दायित्व है) अत्यधिक बहुमूल्य है। यदि चांदी का मूल्य एक निश्चित स्तर से ऊपर चला जाय तो वह बाजार से अदृश्य भी हो सकता है।

(२) "साख तथा चलअर्थ की नीति पर नियन्त्रणके लिए दो-दो सुरक्षा निधियों का बोझा बनाया हुआ है, जिससे उत्तरदायित्व का विभाजन अत्यन्त प्राचीन तथा भयंकर रूप से किया जा रहा है।

(३) "इस प्रणाली से चलअर्थ का स्वयंचलित संकोच तथा विस्तार नहीं हो पाता। इस प्रकार की गतियां पूर्णतया मुद्राचलन अधिकारियों की इच्छा पर निर्भर होती हैं।

(४) "इस प्रणाली में लोच नहीं है। बेबिंगटन स्मिथ कमेटी की सिफारिश पर जिस लोच का प्रबंध[1] किया गया था, उसकी उपयोगिता पर भारतीय व्यापार में धन लगाने की प्रणालियों द्वारा प्रभाव होता है।"[2]

२. स्वर्ण धातु मान। (Gold Bullion Standard) कमीशन का कार्य त्रिमुखी था: (१) उसको भारत के लिए सर्वाधिक उपयुक्त एक चलअर्थ प्रणाली के सम्बन्ध में प्रस्ताव करना था, (२) उस अनुपात के सम्बन्ध में प्रस्ताव करना था, जिस पर रुपये को स्टर्लिंग के साथ स्थिर रूप से जोड़ा जाना था, और (३) एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना के लिए किये जाने वाले उपायों के सम्बन्ध में सुझाव देने थे।

---

१. देखो, अगला अध्याय।

२. हिल्टन यंग कमीशन की रिपोर्ट, १९२६, पैरा २१.

कमीशन ने प्रस्ताव किया कि भारत की चलअर्थ प्रणाली के लिए स्वर्ण-धातु मान प्रचलित किया जाय। विनिमय दर १ शिलिंग ६ पेंस रखी जाय, तथा केन्द्रीय बैंक का समस्त कार्य करने के लिए 'भारतीय रिजर्व बैंक' के नाम से एक केन्द्रीय बैंक खोला जाय। रिजर्व बैंक की योजना पर हम एक पृथक् अध्याय में विचार करेंगे। अन्य दोनों प्रस्तावों के सम्बन्ध में यहां विचार किया जाता है।

स्वर्ण-धातु मान के सम्बन्ध में अन्तिम प्रस्ताव उपस्थित करने से पूर्व कमीशन ने इस सम्बन्ध में अन्य संभावनाओं (१) स्वर्ण-विनिमय-मान को अपनाने तथा (२) स्वर्ण-चलअर्थ के साथ मुख्य स्वर्ण-मान को अपनाने के साथ सम्बन्ध में भी विचार किया। किन्तु इन सभी विकल्पों को अस्वीकार कर दिया गया।[1] उन्होंने स्वर्ण चलअर्थ के बिना स्वर्णमान अथवा स्वर्ण-धातु-मान का प्रस्ताव किया। इस विषय में कमीशन ने लिखा :

---

१. इन प्रणालियों को अस्वीकार करने के कारण ये थे:—

(क) **स्टर्लिंग विनिमय-मान**—भले ही इसमें स्वर्णमान सुरक्षानिधि तथा कागजी चलअर्थ सुरक्षा निधि को मिलाकर तथा चलअर्थ अधिकारियों पर विधि द्वारा निर्धारित (Statutory) उत्तरदायित्व इस प्रकार लगाकर कि वह रुपये को आवश्यकता पड़ने पर उच्चतर स्वर्ण-अंक पर तथा स्टर्लिंग को निम्नतर स्वर्ण-अंक पर यथेष्ट मात्रा में बेच सकें, इस मान को पूर्ण कर लिया जाय। कमीशन की सम्मति में इस प्रणाली में तब भी भयंकर त्रुटियां रह जातीं, जो ये हैं—रुपये के भाव पर चांदी की तेजी तथा मंदी का बराबर प्रभाव पड़ता रहता, रुपया स्वर्ण के साथ बंधा होने के कारण स्टर्लिंग का सेवक के समान अनुगमन करता रहता और उसका भाव स्टर्लिंग के भाव के गिरने के साथ गिर जाता, जिसके फलस्वरूप भारत में मूल्य बढ़ जाते। किसी एक देश के मुद्राचलन के अधीन भारत का रहना लाभकर नहीं हो सकता फिर भले ही वह चलअर्थ कितना ही दृढ़ क्यों न हो। (पैरा २५)

(ख) **स्वर्ण विनिमय-मान**—इससे स्वर्ण की तुलना में रुपया स्थिर हो जाएगा किन्तु इसमें तब भी कुछ इस प्रकार की त्रुटियां—चांदी के मूल्य में चढ़ने की वही शंका, सरलता का अभाव, गत अनुभव के कारण जनता के मन में अविश्वास, सांकेतिक चल-अर्थ के लिए अनजाना सहारा तथा परिवर्तनशीलता का अधिकार आदि लुके-छिपे रूप में बने ही रहेंगे। चलअर्थ की सम्पुष्टि निश्चित तथा सरल होनी चाहिए। (पैरे २९ से ३१ तक)

(ग) **स्वर्ण मुद्राचलन के साथ स्वर्णमान**—भारत द्वारा स्वर्ण का अधिक सोखन करने के परिणामस्वरूप संसार भर में स्वर्ण का मूल्य अत्यधिक गिर जायगा और साख में न्यूनता उत्पन्न होगी, जिसकी भारत पर विश्व-व्यापार प्रणाली में एक इकाई के रूप में प्रतिकूल प्रतिक्रिया होगी, इससे स्वर्ण की मांग के परिमाण तथा समय का अनुमान करने में अनिश्चितता उत्पन्न होगी, यदि चांदी का स्वर्ण-मूल्य गिरा तो उसके परिणामस्वरूप व्यापारिक मंदी आयगी और भारतीय जनता के चाँदी-संग्रह का मूल्य गिर जायगा; चांदी का मूल्य गिर जाने के फलस्वरूप चीन देश भी चांदी के स्थान में स्वर्ण को अपना सकता है, इससे स्थिति और भी बिगड़ जाएगी, चीन का व्यापार अस्त-व्यस्त हो जायगा, इससे यूरोप में द्रव्य सम्बन्धी पुनर्निर्माण की प्रगति में बाधा आयगी, विश्व-मूल्यों

"इस प्रकार का वास्तविक स्वर्णमान प्रचलित किया जा सकता है, जिसके अधीन चलअर्थ का आधार वास्तव में, और एक ढंग से प्रत्यक्ष रूप में दिखलाई देने वाला स्वर्ण हो किन्तु स्वर्ण को बाजार में चलाना भी न पड़े।............इस प्रस्ताव का सार ....यह है कि भारत में बाजार के चलन का साधारण माध्यम आजकल के समान करेंसी नोट और चांदी का रुपया ही बना रहे और चलअर्थ की स्थिरता को स्वर्ण की अपेक्षा इस प्रकार सुरक्षित कर दिया जाय कि चलअर्थ को सभी कार्यों के लिए स्वर्ण में प्रत्यक्ष रूप से बदला जा सके। किन्तु स्वर्ण सिक्के के रूप में बाजार में न चले। उसको न तो बाजार में आरम्भ में चलने दिया जाय, न उसके बाजार में कभी भी चलने की आवश्यकता है।" (पैरा ५४)

इस प्रकार इस प्रणाली की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं :

(१) चलअर्थ अधिकारी (बन चुकने के बाद प्रस्तावित रिजर्व बैंक और उससे पूर्व सरकार) को विधि द्वारा निर्धारित कर्तव्य के अधीन ४०० शुद्ध औंस (=१०६५ तोले) सोने की छड़ों का क्रय तथा विक्रय करना होगा। स्वर्ण की विक्री की शर्तें इस प्रकार निश्चित की जाएंगी कि साधारणतया चलअर्थ अधिकारी को द्रव्य सम्बन्धी उद्देश्यों के अतिरिक्त अन्य कार्यों के लिए स्वर्ण देने को नहीं कहा जायगा।

(२) सावरेन तथा अर्द्ध सारेवन को विधि ग्राह्य मुद्रा नहीं माना जाएगा, रुपया पूर्ण विधि ग्राह्य मुद्रा बना रहेगा।

(३) जनता को तीन या पांच साल के लिए सेविंग्स सर्टिफिकेट दिये जाएंगे, जिनका रुपया जनता अपनी इच्छानुसार रुपये अथवा स्वर्ण में दे सकेगी। ऐसा करने का उद्देश्य जनता के हृदय में नयी प्रणाली के प्रति विश्वास उत्पन्न करना था और संग्रहित धन को बाहर निकालना था।

(४) वर्तमान करेंसी नोट चलते रहेंगे और उनके बदले में रुपये मिल सकेंगे। यद्यपि कानूनी तौर पर नये नोटों के रुपये देना अनिवार्य नहीं है, तो भी यह सुविधा जारी रहने दी जायगी।

(५) एक रुपये का नोट निकाल कर उसे पूर्ण विधिग्राह्य मुद्रा बना दिया जाय। उसके बदले में रुपये के सिक्के नहीं दिये जायंगे।

(६) स्वर्णमान सुरक्षानिधि तथा कागज 'चलअर्थ' सुरक्षानिधि को मिला दिया जायगा।

इस प्रणाली से अनेक निम्नलिखित लाभ होने की आशा प्रकट की गई—

(क) मुद्राचलन को एक निश्चित दर पर स्वर्ण में परिवर्तित करने से इस प्रणाली से विनिमय में स्थिरता आ जायगी।

(ख) यह प्रणाली सरल तथा निश्चित थी और इस प्रकार यह जनता का विश्वास प्राप्त कर सकती थी।

में गड़बड़ी उत्पन्न होगी और भारत तथा शेष संसार को हानि पहुंचेगी। संयुक्त राष्ट्र अमरीका की तो परम्परा से चांदी में रुचि रहती है। अतएव वह इस नीति का समर्थन नहीं करेगा ओर उसकी सफलता के लिए अमरीका का समर्थन आवश्यक है। इस योजना में खर्चा भी बहुत बैठेगा। (पैरे ३५ से ५२ तक)

(ग) जब रुपये के सिक्कों तथा नोटों के बदले में स्वर्ण दिया जायगा तो चल-अर्थ स्वयं ही फैलेगा और जब स्वर्ण के बदले में रुपये तथा नोट दिये जायंगे तो चल-अर्थ का संकोचन होगा ।

(घ) सस्ता स्वर्ण सुरक्षा निधि में रहेगा और बाजार में नहीं आयगा ।

(ङ.) यह ऐसे भावी समय के लिए, जब पर्याप्त स्वर्ण एकत्रित हो जाय, स्वर्ण चलअर्थ चलाने के लिए मार्ग प्रशस्त करेगा ।

इसके विपरीत स्वर्ण-धातु-मान (Gold Bullion Standard) की निम्नलिखित कारणों से आलोचना की गई :—

(क) साधारण व्यक्ति के लिए स्वर्ण का आधार न तो देखने और न स्पर्श करने योग्य था, केवल बड़े-बड़े बैंकर तथा बुलियन के दलाल ही ४०० औंस (१,०६५ तोले) की सोने की छड़ों को मोल ले सकते थे ।

(ख) ये लोग भी चलअर्थ अधिकारियों से सोना लेना साधारणतया लाभकर[1] नहीं मानते थे, और न उनकी ऐसा करने की इच्छा थी ।

चलअर्थ अधिकारियों से सोना मोल लेना तभी लाभकर था, यदि उसकी विदेशों में भुगतान करने की आवश्यकता पड़ती । "जहां तक रुपया रखने वाले साधारण व्यक्ति का सम्बन्ध था, वह उनको सोने के रूप में नहीं बदल सकता था और उसको बाजार से ही आजकल के समान सोना मोल लेना पड़ता था ।"[2]

इस प्रकार यह कहा गया कि स्वर्ण विनिमय प्रणाली तथा कमीशन के अमुद्रित स्वर्ण मान में कोई विशेष अन्तर नहीं था । केवल निर्यात के लिए स्वर्ण का क्रय तथा विक्रय विधि द्वारा अनिवार्य बना दिया गया था । भारतीय जनपक्ष अब भी पहले के समान स्वर्ण चलअर्थ[3] के साथ पूर्ण विकसित स्वर्णमान के पक्ष में था ।

---

१. एक शिलिंग ६ पेंस (स्वर्ण) की दर पर सोने का मूल्य २१ रुपये ३ आने १० पाई बैठता था, और उसी दर पर चलअर्थ अधिकारी सोना बेचते थे । यदि विनिमय दर १ शिलिंग ६ ३/१६ (उच्चतर स्वर्ण-अंक) अथवा अधिक होती तो उसका प्रति तोला भाग रुपयों में २१ रुपये ३ आने १० पाई से कुछ कम बैठता । ऐसी स्थिति में जनता सोना बाजार से मोल लेती, जहां वह चलअर्थ अधिकारियों की अपेक्षा कुछ सस्ता मिलता । "जब विनिमय दर उच्चतर स्वर्ण बिन्दु से नीचे होती तो स्वर्ण का विक्रय मूल्य २१ रुपये ३ आने १० पाई न होकर कुछ अधिक होता । ऐसी स्थिति में रिजर्व बैंक बम्बई के कार्यालय में विज्ञप्ति मूल्य पर सोना बेचता और यह मूल्य इस प्रकार निश्चित किये जाते कि बैंक साधारण परिस्थितियों में द्रव्येतर उद्देश्यों के लिए सोना देने के कार्य से बच जाता ।" (Brij Narain —Indian Economic Life, Past and Present).

२. Brij Narain Indian Economic Life, p. 244.

३. भारतीय लोकमत द्वारा सदा ही भारत के लिए स्वर्ण-चलअर्थ-मान की आवश्यकता के लिए जोर देने के कारण इस प्रणाली के पक्ष में मुख्य-मुख्य बातों को यहां दिया जाता है —

(क) यह स्वयंचालित होगी । मूल्यों तथा विनिमय को परिस्थिति के अनुसार-

और डाक्टर कैनन (Dr. Cannan) तथा डाक्टर ग्रेगरी (Dr. Gregory) जैसे विद्वानों ने यंग कमीशन के सामने अपनी गवाही में इसका समर्थन किया था।

३. अनुपात का प्रश्न। तो भी सबसे बड़ा वादविवाद १८ पेंस के विरुद्ध १६ पेंस के सम्बन्ध में था। भारतीय अर्थशास्त्र के इतिहास में इसको 'अनुपातों का युद्ध' कहा जाता है।

हिल्टन यंग कमीशन ने १८ पेंस का प्रस्ताव किया था। उसने इसके कारण यह दिये थे: (क) इस दर पर भारत के मूल्य विश्वमूल्यों के साथ बहुत कुछ समान स्तर पर आ चुके थे और (ख) पगारों का भी बहुत-कुछ एकीकरण हो चुका था।

अतएव १६ पेंस पर पुनः वापिस जाने का अर्थ था मूल्यों को फिर ठीक करने के कठिन समय को आमन्त्रण देना। इससे सभी मूल्य १२$\frac{1}{2}$ प्रतिशत बढ़ जावेंगे और इसके परिणामस्वरूप इससे मध्यम श्रेणी वालों तथा उपभोक्ताओं पर आपत्ति आ जायगी तथा वास्तविक श्रमिकों की पगारें भी कम हो जांयगी। इससे भारत द्वारा ब्रिटेन में 'होम चार्जेज़' के नाम से किया जाने वाला व्यय भी अधिक हो जायगा।

(ग) इसका अनुबंधों पर प्रभाव नहीं पड़ेगा, क्योंकि उनमें से अधिकांश नये थे और ऐसे समय पर किये गये थे, जब विनिमय दर एक शिलिंग ६ पेंस था अथवा १६ पेंस के अनुपात का चलन बंद हो चुका था। इसमें सन्देह नहीं कि १ शिलिंग ४ पेंस अनुपात के समय भूमि का राजस्व प्रायः स्थानों में निश्चित हो चुका था, किन्तु उस समय के मूल्यों के पर्याप्त रूप में चढ़ जाने के कारण इस खर्च का बोझ भी साथ-ही साथ हल्का हो गया था।

इन युक्तियों की आलोचना में यह बात उल्लेखनीय है कि कमीशन ने यह स्वयं स्वीकार किया था कि उन्होंने पगारों तथा मूल्यों का समन्वय करने के लिए जिस अंकसामग्री के आधार पर परिणाम निकाले थे, वह विश्वसनीय नहीं थी और भारत जैसे देश में, जहां आर्थिक संघर्ष अधिक परिमाण में उपस्थित रहता है, मूल्यों के समन्वय के लिए एक वर्ष का समय बहुत कम है। कमीशन ने इस अनुपात के प्रभाव

स्वर्ण के स्वतन्त्रतापूर्वक आयात तथा निर्यात द्वारा संसार के साथ समानता पर रखा जायगा। (किन्तु यदि जनता न इस प्रकार आयात किये हुए स्वर्ण को एकत्रित करना आरम्भ किया तो ऐसा मामला नहीं हो सकेगा।)

(ख) इससे सोने को जोड़कर रखने की प्रकृति को निरुत्साहित किया जा सकेगा, (यंग कमीशन का ऐसा विचार नहीं था।)

(ग) इससे चलअर्थ की दृश्य तथा स्पृश्य सम्पुष्टि होने के कारण जनता में विश्वास उत्पन्न होगा।

(घ) जैसा कि १९०० से लेकर १९१४ तक आयात की हुई स्वर्ण-मुद्राओं की खपत से प्रकट है कि जनता बाजार में सोने का चलन पसन्द करती थी। भारत के विशेषज्ञों की सम्मति भी इसके अनुकूल थी।

(ङ) स्वर्ण चलअर्थ के बिना स्वर्णमान की ओर जाने के लिए स्वर्ण चल-अर्थ एक आवश्यक विश्रामस्थल है। (चैम्बरलैन कमीशन की रिपोर्ट के पैरा ५६ तथा यंग कमीशन की रिपोर्ट के पैरा ३४,५६ तथा ५७ को भी देखो।)

को 'होम चार्जेज' के ऊपर बढ़ा-चढ़ा कर बतलाते हुए यह भी स्वीकारकिया है कि यह निर्णायक नहीं है। इसके विरुद्ध उसने लम्बी अवधि वाले अनुबंधों, तथा कृषिजीवियों को होने वाली हानियों पर पड़ने वाले प्रभाव को कम करके बतलाया है। कम आय वाले शिक्षितों (२१ प्रतिशत) के ऊपर संभवतः अधिक ध्यान दिया गया है और शेष (७९ प्रतिशत) की समृद्धि की ओर उनसे भी कम ध्यान दिया गया है।

इसके विरुद्ध भारतीय लोकमत तथा विशेषज्ञों की सम्मति विशेष रूप से १ शिलिंग ६ पेंस के विरुद्ध तथा १ शिलिंग ४ पेंस के पक्ष में थी। कमीशन के भारतीय सदस्य सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने इस दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व किया था, उन्होंने इस बातको स्वीकार नहीं किया कि भारतीय मूल्य १ शिलिंग ६ पेंस की दर पर विश्व-मूल्योंके समान स्तर पर आ गए हैं और उस समय भी यह अनुपात विदेशी निर्यात को अप्रत्यक्ष रूप से १२$\frac{1}{2}$ प्रतिशत लाभ देते हुए भारतीय उद्योगधंधों पर भारी दबाव डाल रहा था। इसका अर्थ यह था कि भारत के ऋणग्रस्त लोगों पर, जिनमें अधिकतर संख्या कृषिजीवियों की है—१२$\frac{1}{2}$ प्रतिशत का अतिरिक्त भार डाला जाता। उन्होंने बतलाया कि १ शिलिंग ४ पेंस के अनुपात से 'होम चार्जेज' पर जो हानि होगी वह औद्योगिक तथा कृषि सम्बन्धी समृद्धि के कारण बढ़े हुए करों से कहीं अधिक परि-माण में पूरी हो जायगी। इसमें सन्देह नहीं कि मूल्य चढ़ने से श्रमिकों को कुछ हानि होगी किन्तु औद्योगिक समृद्धि के कारण उनको बराबर काम मिलते रहने से वह लाभ में रहेंगे। उन्होंने यह अन्तिम रूप से सिद्ध कर दिया था कि १ शिलिंग ४ पेंस के अनुपात पर फिर वापिस जाने से भारतीय कृषि और उद्योग-धन्धों को, और इसी कारण भारतीय जनता को व्यापक-रूप में लाभ होगा। अन्य देश भी जब युद्ध-पूर्व के अनुपात पर वापिस आ रहे थे, तो भारत क्यों न आय? सब कुछ मिला कर यह पता चलता था कि १ शिलिंग ४ पेंस के समर्थकों का पक्ष अधिक प्रबल था। यदि १९२७ में अनुपात १ शिलिंग ४ पेंस पर स्थिर कर दिया जाता तो भारत को अत्यधिक आर्थिक लाभ हुआ होता; यद्यपि कुछ वर्षों के बाद उनके पक्ष के तर्क बलहीन हो गए और १ शिलिंग ६ पेंस के अनुपात के विरोधी केवल मृतक घोड़े को पीटते रहे। किन्तु १९२७ में १ शिलिंग ६ पेंस का अनुपात निश्चित करने का निर्णय निश्चित रूप से अनुचित निर्णय था। उसके बाद के वर्षों में देश की आर्थिक दशा इस बात की साक्षी उपस्थित नहीं करती कि यह अनुपात किसी प्रकार देश को आर्थिक उन्नति अथवा स्थिरता प्रदान करता है। भारी मंदी के समय इसने भारत में मूल्य गिराने में और सहायता दी, पुनरुद्धार के मार्ग में बाधा उपस्थित की और मन्दी को अधिक समय तक बनाए रखा।

तो भी सरकार ने बहुमत के प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया और उनको कार्यरूप में परिणत करने के लिए आवश्यक कानून पास कर दिया।

४. **स्टर्लिंग विनिमय मान** (Sterling Exchange Standard)। स्वर्ण-धातु-मान (Gold Bullion Standard) युद्ध-पूर्व के स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard) की अपेक्षा अच्छा था। क्योंकि उसके अनुसार सरकार को कानूनी रूप में स्वर्ण मोल लेना तथा स्वर्ण या स्टर्लिंग बेचना पड़ता था। किन्तु उसमें प्राचीन प्रणाली की कुछ त्रुटियां थीं, जिनको यंग कमीशन ने भी बतलाया था। वह कमियां यह थीं—एक सांकेतिक चलअर्थ (नोट) का दूसरे चलअर्थ (रुपये के सिक्के) में बदला जाना, दो-दो सुरक्षा निधियों का रखना और चलअर्थ को

साख नियन्त्रण से पृथक् करना । अन्त की दोनों त्रुटियों को १९३५ में रिजर्व बैंक की स्थापना तक ठहरना पड़ा ।

तो भी, नई प्रणाली को अपनी सफलता दिखलाने के लिए अधिक अवसर नहीं मिला । २१ सितम्बर १९३१ को ग्रेट ब्रिटेन को अपने स्वर्णमान का परित्याग करने पर विवश होना पड़ा । उसको ऐसा करने के लिए इसलिए विवश होना पड़ा कि विदेशी कर्जदारों ने उससे अपना बकाया एकदम मांग लिया । इसकी भारतीय चल-अर्थ तथा विनिमय प्रणाली पर महत्वपूर्ण प्रतिक्रिया हुई । १९२७ के अधिनियम के अनुसार सरकार ने १९ सितम्बर १९३१ तक निम्नतर स्वर्ण-बिन्दु पर स्वर्ण तथा स्टर्लिंग मोल लिये थे । जब ब्रिटेन के स्वर्णमान परित्याग करने की घोषणा हुई तो भारत के गवर्नर-जनरल ने २१ सितम्बर को एक अध्यादेश (Ordinance) निकाल कर १९२७ के चलअर्थ अधिनियम की उस धारा ५ को स्थगित किया, जिसका सम्बन्ध सोने तथा स्टर्लिंग के क्रय तथा विक्रय से था । उसी दिन भारत मंत्री ने गोलमेज कांफ्रेंस की एक उपसमिति को लन्दन में बतलाया कि १ शिलिंग ६ पेंस स्टर्लिंग के भाव पर रुपये को स्थिर रखने का निर्णय कर लिया गया है । २४ सितम्बर को एक और अध्यादेश (स्वर्ण तथा चांदी बिक्री नियमन अध्यादेश) निकाला गया । इसके अनुसार २१ सितम्बर के अध्यादेश को रद्द करके १९२७ के मुद्रा अधिनियम को फिर ज्यों का त्यों कर दिया गया । किन्तु इसके अनुसार सरकार को यह अधिकार दे दिया गया कि वह स्वर्ण अथवा स्टर्लिंग केवल भौतिक आवश्यकता और उचित व्यक्तिगत अथवा गार्हस्थ्य उद्देश्यों के लिए ही बेचे । इम्पीरियल बैंक को पारिभाषित उद्देश्यों के लिए विनिमय का बंटवारा करने का अधिकार दिया गया, विक्रय-मूल्य पहले के समान १ शिलिंग ५$\frac{४९}{६४}$ पेंस स्टर्लिंग ही रखा गया । इस प्रकार भारतीय लोकमत के विरोधी होते हुए भी रुपये को स्टर्लिंग के साथ बांध कर रखा गया । रुपये के इस प्रकार बांधे जाने का एक परिणाम यह हुआ कि रुपये का मूल्य स्टर्लिंग तथा स्वर्ण चलअर्थ वाले देशों—अमरीका और फ्रांस—की मुद्रा के साथ-साथ स्वर्ण की तुलना में कम होने लगा । इसके परिणामस्वरूप स्वर्ण का रुपये के रूप में मूल्य चढ़ गया और इस देश से स्वर्ण का प्रवाह विदेशों को होने लगा ।[1] सरकार ने इस स्वर्ण-प्रवाह को बन्द करने का कोई यत्न नहीं किया ।

---

१. भारत से बाहर स्वर्ण-प्रवाह के कारणों के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों का एक मत नहीं है । इस विषय में अधिक प्रचलित सम्मति यह थी कि स्वर्ण प्रवाह का कारण उसका रुपये के रूप में मूल्य बढ़ जाना था, कि जब रुपये का (स्टर्लिंग के साथ-साथ) स्वर्ण की अपेक्षा मूल्य सितम्बर १९३१ के बाद कम हो गया । किन्तु केवल स्वर्ण का मूल्य रुपये के रूप में बढ़ जाने मात्र से ही स्वर्णप्रवाह देश के बाहर न होता, यदि इस मूल्य-वृद्धि को विनिमय बाजार में रुपये का मूल्य कम करके ठीक-ठीक संतुलित कर लिया जाता । अतएव कुछ लोगों की यह सम्मति थी कि रुपये का विदेशों में कम मूल्य होने के कारण ही स्वर्ण का भारत से निर्यात हो सका । इसका अर्थ यह है कि भारत में रुपये का मूल्य विनिमय में मन्दी की अपेक्षा कम गिरा । तो भी, डाक्टर डे (Dr. Dey) की सम्मति में यद्यपि यह व्याख्या संकुचित पारिभाषिक भाव के अनुसार ठीक होने पर भी समुचित नहीं थी, क्योंकि यदि मुख्य कारण रुपये का मूल्य कम होना था तो आगे

इस सम्बन्ध में सरकार की नीति की तीन कारणों से आलोचना की गई (१) रुपये को स्वर्ण के स्थान पर स्टर्लिंग के साथ बांधने के कारण, (२) फिर भी एक शिलिंग ६ पेंस के अनुपात पर चिपके रहने के कारण, तथा (३) स्वर्ण-निर्यात को रोकने का कोई प्रयत्न न करने के कारण। इन तीनों के सम्बन्ध में आगे विस्तार से विचार किया जाता है।

५. स्टर्लिंग के साथ सम्बन्ध (Link with Sterling) रुपये को स्टर्लिंग के साथ बांध देने की विभिन्न कारणों से आलोचना की गयी। प्रथम, यह कि इस प्रकार रुपये को स्टर्लिंग के उतार-चढ़ाव में भाग लेने के लिए विवश किया गया, क्योंकि स्टर्लिंग इंग्लैंड की स्थिति को प्रकट करता था, न कि भारत की। द्वितीय, यद्यपि रुपये का स्वर्ण की तुलना में भाव गिरने से भारत के स्वर्णमान वाले देशों के साथ व्यापार को प्रोत्साहन मिलेगा, किन्तु उन देशों से भारत को आयात कम हो जायेंगे, और इंग्लैंड भारतीय बाजार में एक प्रकार की साम्राज्य-सम्बन्धी सुविधा का आनन्द उठाता रहेगा। तीसरे, यह कि स्टर्लिंग के साथ सम्बन्ध के कारण भारत को फिर स्वर्णमान[1] पर वापिस आना पड़ेगा, जबकि ब्रिटेन भारत की आर्थिक दशा पर

के वर्षों में स्वर्ण का निर्यात बढ़ जाना चाहिए था, न कि घटना, क्योंकि अगले वर्षों में भारत में रुपये का मूल्य स्टर्लिंग की तुलना में और भी कम हो गया। डाक्टर डे ने स्वर्ण के निर्यात की निम्नलिखित शब्दों में व्याख्या की है, "उस समय किसानों तथा जमींदारों में तीव्र आर्थिक संकट हुआ था, क्योंकि कृषि पदार्थों का मूल्य भयंकर रूप से गिरने के कारण उनके संचित स्वर्ण भण्डार अत्यधिक मात्रा में समाप्त हो रहे थे, किन्तु (क) गांव वालों के स्वर्ण के विश्व-मूल्य से अपरिचित होने के कारण (ख) सोने-चांदी के व्यापारियों द्वारा देश के अनेक केन्द्रों में अत्यधिक प्रचार किये जाने के कारण वह अपने स्वर्ण भण्डार को शीघ्रतापूर्वक निकाल रहे थे, और (ग) संकटकालीन बिक्री, स्वर्ण का वह आन्तरिक मूल्य, जिस पर सोने के व्यापारी सोना खरीदते थे—विश्व-मूल्य की तुलना में कम था। उसके परिणामस्वरूप सोने के व्यापारियों द्वारा स्वर्ण निर्यात उनके लिए अत्यधिक लाभकर हुआ। इसके विरुद्ध, जब मूल्यों के चढ़ने तथा निर्यात बढ़ने के कारण आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार हुआ तो संकट कम हो गया, स्वर्ण का संचित भण्डारों में से निकाला जाना कम हो गया, स्वर्ण के आन्तरिक तथा बाह्य मूल्यों में विषमता उत्तरोत्तर कम होती गई और स्वर्ण का निर्यात कम होना आरम्भ हो गया, यद्यपि स्टर्लिंग तथा सोने की तुलना में रुपये का मूल्य बराबर गिरता रहा और इस गिरावट में वृद्धि होती ही रही।"..... उन्होंने आगे लिखा है कि "यदि स्वर्ण और उपभोग्य वस्तुओं के भारतीय मूल्यों में उचित परिमाण में मुद्रा-प्रसार (Inflation) द्वारा तेजी लाई जा सकती तो रुपये के आन्तरिक मूल्य की तेजी को रोका जा सकता था," और उसके स्वर्ण तथा पौंड स्टर्लिंग की तुलना में सस्तेपन को बहुत-कुछ दूर किया जा सकता था और स्वर्ण के निर्यात को अधिक से अधिक कम किया जा सकता था।"

—Dey. op. cit. pp. 237-38.

१. इस विषय में रिजर्व बैंक अधिनियम का आमुख (Preamble) स्थिति को स्पष्ट कर देता है। उसमें कहा गया है कि स्टर्लिंग विनिमय मान

लेशमात्र भी ध्यान दिये बिना स्टर्लिंग को स्वर्णमान से पीछे हटा लेगा। अन्त में, यह कि रुपये का मूल्य स्वर्ण की तुलना में बढ़ने से भारत से स्वर्ण बराबर बाहर जायगा, जैसा कि वास्तव में हुआ भी।

इसके विपरीत सरकार ने स्टर्लिंग के साथ सम्बन्ध के विषय में निम्न शब्दों में अपनी नीति का समर्थन किया :—

(१) स्थिरता के दृष्टिकोण से रुपये के भाव को इधर उधर भटकने देने की अपेक्षा स्टर्लिंग के साथ बाँधना कहीं अच्छा था। (२) भारत पर उस समय तीन करोड़ बीस लाख पौंड की देनदारी थी। और १९३२ में उसको डेढ़ करोड़ पौंड का ऋण और भी चुकाना था। यदि रुपये को स्टर्लिंग के साथ न बांधा जाता तो इन देन-दारियों को चुकाने के लिए धन जुटाने की कठिनाई को पार करना असम्भव था। (३) ऋणी राष्ट्र होने के कारण भारत रुपये को अकेला छोड़ देने के खतरे को नहीं उठा सकता था। (४) भारत के विदेशी व्यापार का एक बहुत बड़ा भाग इंग्लैंड या स्टर्लिंग देशों के साथ था। (५) स्वर्ण की तुलना में रुपये का भाव गिरने से भारत के निर्यात स्वर्णमान वाले देशों के साथ अधिक बढ़ेंगे।

यदि रुपये को स्टर्लिंग के साथ न बांधा जाता तो सरकार के पास केवल दो विकल्प और थे। वह यह थे (क) स्वर्णमान को अपनाना (ख) एक स्वतन्त्रमान को बनाये रखना। भारत अपने स्वतन्त्र मान की अधिक समय तक रक्षा नहीं कर सकता था, कवल अत्यधिक स्वर्ण भंडार वाला अमरीका जैसा देश ही ऐसा कर सकता था। कुछ वर्षों में ही स्वर्णमान वाले देशों (उदाहरणार्थ, फ्रांस) के समान भारत को स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ता।

ऐसे समय जबकि लोग स्वर्ण के लिए पागलों की तरह भागे फिर रहे थे, रुपये को स्वर्ण में परिवर्तित करना सुगम नहीं हो सकता था। मुद्रासंकुचन से अपकर्ष को और भी अधिक बल मिलता, इसके अतिरिक्त जब तक स्टर्लिंग का मूल्य स्वर्ण की अपेक्षा कम होता रहता, स्वर्ण की तुलना में रुपये का स्थिर अनुपात भी स्टर्लिंग की तुलना में घटता-बढ़ता रहता। स्टर्लिंग-देशों के साथ हमारे व्यापार पर भी उसका एक विघ्न-कारी प्रभाव पड़ता। इसके विपरीत विदेशों की भारी देनदारियों के साथ भारत के ऋणी राष्ट्र होने के कारण, उसके विदेशी व्यापार पर विदेशों में अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध होने के कारण और उसके पास एक केंद्रीय बैंक का अभाव होने के कारण, और उसके पास एक केन्द्रीय बैंक का अभाव होने के कारण, इसमें भारी संदेह है कि भारत स्वतन्त्र मुद्रामान का प्रबन्ध करने में सफल हो सकता। स्वतन्त्र और बन्धनमुक्त रुपये का अर्थ था अस्थायी विनिमय, और इसमें सरकार को अपनी स्टर्लिंग देनदारियों को चुकाने में भारी खतरे और असुविधा का सामना करना पड़ता, अतएव चलअर्थ की संकटपूर्ण परिस्थितियों में, जबकि भारत के व्यापार का बड़ा भारी भाग स्टर्लिंग क्षेत्र के साथ होता था, रुपये को स्टर्लिंग के साथ बांध देना एक छोटी बुराई को स्वीकार करना था। तो भी, बाद में परि- स्थिति बिल्कुल बदल गई और जैसा कि हम देखेंगे कि १९४७ में स्वर्ण के साथ सम्बन्ध को छोड़ दिया गया।

केवल एक अस्थायी प्रतिबंध है, संसार में मुद्रासम्बन्धी दशा के साधारण स्तर पर आ जाने के बाद रिजर्व बैंक भारत के लिए एक स्थायी मुद्रा सम्बन्धी मान निर्धारित करने के लिए योजना उपस्थित करेगा।

६. **स्वर्ण निर्यात**। सितम्बर १९३१ में ब्रिटेन के स्वर्णमान का परित्याग करने से लेकर जनवरी १९४० तक भारत ने ३५१·४ करोड़ रुपये के स्वर्ण का निर्यात किया। भारत ने १९१०–११ से १९३०–३१ तक कुल ४५७·८६ करोड़ रुपये के स्वर्ण का आयात किया था। इस प्रकार अपने १५ वर्ष में आयात किये स्वर्ण के ⅘ भाग स्वर्ण का भारत ने लगभग आठ वर्ष में निर्यात कर दिया।

स्टर्लिंग का मूल्य स्वर्ण की अपेक्षा घटते जाने के कारण और रुपये के स्टर्लिंग के साथ बंधा होने के कारण स्वर्ण का मूल्य साथ-ही-साथ चढ़ता रहा। स्वर्ण का मूल्य असाधारण रूप से बढ़ जाने के कारण लोगों को स्वर्ण बेचने का प्रलोभन हुआ। जिनको रुपये की तंगी थी, उन्होंने अत्यधिक स्वतन्त्रता से सोना बेचा। सोना रखने वालों के द्वारा सोना बेचने का यही कारण था। किंतु उसका निर्यात किया ही क्यों गया ? इसका कारण स्टर्लिंग तथा रुपये की कीमतों का अन्तर था। स्टर्लिंग का मूल्य रुपये से ऊंचा था।

जब स्वर्ण का निर्यात आरम्भ हुआ तो भारतीय लोकमत ने सरकार पर दबाव डाला कि वह इस मूल्यवान धातु का निर्यात बन्द कर दे। सरकार ने इस विषय में कुछ नहीं किया और अपनी अकर्मण्यता के समर्थन में निम्न कारण उपस्थित किये :

(१) स्वर्ण निर्यात एक देश के व्यापार का साधारण कार्य है, इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है।

(२) स्वर्ण निर्यात से सरकार की साख बढ़ गई है। उससे वह अनुकूल मूल्य पर स्टर्लिंग मोल लेकर विनिमय को स्थायी बना सकी है। इससे अपने डेढ़ करोड़ पौंड के स्टर्लिंग ऋण का भुगतान करना उसके लिए सम्भव हुआ है और वह सोने का मूल्य चुकाने के लिए नवीन चलअर्थ के निर्माण द्वारा भारत में स्टर्लिंग के चलन को कम कर सकी है।

(३) स्वर्ण के मूल्य की रक्षा करते हुए, स्वर्ण के निर्यात से भारत की सार्वजनिक सुरक्षा निधियां बलवान बन गई हैं क्योंकि इन निधियों का बाजार-मूल्य पांच करोड़ रुपये बढ़ गया।

(४) स्वर्ण की बिक्री से कृषिजीवी लोगों ने स्वर्ण के सौदों में भारी लाभ कमाया, जिससे वह कठिन समयों में अपने सुरक्षित धन का उपयोग कर सके।

(५) स्वर्ण के निर्यात से भारत विदेशी माल को अधिक परिमाण में मोल ले सका, जिससे उसका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ गया। इस प्रकार उसके सम्भावित ग्राहकों की क्रयशक्ति बढ़ गई।

इसके विपरीत सरकार के आलोचकों का कहना था कि (१) स्वर्ण के निर्यात का अर्थ है, भारत के स्वर्ण साधनों की बरबादी, देशी बैंकिंग प्रणाली का टूटना और पीढ़ियों[1] की संचित बचत का देश के बाहर चले जाना; (२) उसने इस तथ्य को छिपाया कि रुपये का १ शिलिंग ६ पेंस दर पर अधिक मूल्य लगाया गया; (३) स्वर्ण निकल जाने से भारत का अपने स्वर्णमान के उद्देश्य को प्राप्त करना असम्भव हो गया। इस हानि को पूर्ण करना कठिन होगा; (४) लगभग सभी देश अपने स्वर्ण-साधनों को संभाले हुए बैठे थे, किन्तु भारत अपना स्वर्ण-संचय तेजी से खो रहा था। (५) अन्त में निर्यात स्वर्ण 'संकट स्वर्ण' था और लोग केवल अपनी पूंजी पर निर्वाह कर रहे थे। यह प्रणाली अधिक समय तक नहीं चल सकती थी।

1 Jathar and Beri : Indian Economics, Vol. II, p. 372.

यह प्रस्ताव किया गया कि सरकार या तो इस स्वर्ण को स्वयं मोल ले ले अथवा वह रिजर्व बैंक द्वारा उसको मोल लेकर उसकी स्वर्ण सुरक्षा निधियों को बलशाली बना ले। कुछ लोगों ने प्रस्ताव किया कि स्वर्ण के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय। कुछ लोगों ने उस पर भारी कर लगाने का प्रस्ताव किया। स्वर्ण निर्यात पर कर लगाने के प्रस्ताव के सम्बन्ध में अर्थ सदस्य ने १९३६ में केन्द्रीय विधानसभा में बतलाया कि यह बोझा अन्तिम रूप से स्वर्ण के विक्रेता किसान के कन्धों पर पड़ जावेगा, क्योंकि मूल्य घट जावेंगे। सरकार की ओर से रिजर्व बैंक द्वारा असीमित मात्रा में सोना मोल लेने के सम्बन्ध में यह बतलाया गया कि उसके फलस्वरूप सोने का सट्टा आरम्भ हो जावेगा, क्योंकि उसको मोल लेने के भाव डालर-स्टर्लिंग के झूलते हुए अंतर्राष्ट्रीय भाव को दृष्टि में रखते हुए तय करने होंगे। डाक्टर डे ने लिखा कि "यह सत्य है कि अमरीका तथा ब्रिटेन दोनों ने मन्दी के समय बड़ी भारी कीमत पर सोना मोल लेकर उसके भारी भण्डार एकत्रित कर कर लिये थे, किन्तु मुद्रा सम्बन्धी ताजी स्थितियों के सभी विद्यार्थी इस बात को जानते हैं कि अब इन दोनों देशों के लिए यह तय करना एक गम्भीर समस्या हो गयी है कि इस ऊंचे मूल्य के स्वर्ण भण्डार का क्या किया जाय।[1]" तो भी, ब्रिटेन को अपने स्वर्ण-साधनों का उपयोग द्वितीय महायुद्ध का खर्च चलाने में करना पड़ा। यदि उस समय रिजर्व बैंक उस स्वर्ण को मोल लेने का खतरा उठा लेता तो उसको अब बड़ा भारी लाभ होता, क्योंकि अब स्वर्ण का मूल्य बहुत अधिक[2] चढ़ गया था। इस कारण से तथा पिछले पैरे में दिये हुए अन्य कारणों से हम डाक्टर डे के इस कथन से सहमत नहीं हो सकते कि "भारत सरकार सोने के सम्बन्ध में जिस नीति पर चली वह वर्तमान परिस्थितियों में सबसे अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण थी।"[3]

७. अवमूल्यन। जब से १९२७ के चलअर्थ अधिनियम के अधीन सरकार ने १ शिलिंग ६ पेंस के अनुपात को लागू किया, भारतीय लोकमत सरकार पर इसके सम्बन्ध में पुनर्विचार[4] करने की बराबर मांग करता रहा। वास्तव में पुनर्विचार का मामला बहुत दृढ़ था। यहां तक कि द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो जानेपर परिस्थिति बदल गई। रुपये के मूल्य कम करने के लिये, जो मामला १९२९ से लेकर १९३९ तक समय-समय पर बराबर उठाया गया, उसे संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है :—

1. Economic Problems of Modern India, op. cit., p.240.
२. अगस्त १९३१ में सोने का मूल्य २१।।।-)। प्रति तोला था, दिसम्बर १९३१ में वह २९=) हो गया, मार्च १९३५ में ३६।।।-)।, सितम्बर १९३७ में लगभग ३७), दिसम्बर १९४० में वह ४२) प्रति तोला तक पहुंच गया, नवम्बर १९४४ में भाव ६८) तोला हो गया, नवम्बर १९४५ में ८२) तथा मई १९४६ में सोने का भाव १०८) प्रति तोला हो गया।
3. Dey, op. cit., p. 241.
४. जब १९२९ के पतझड़ के बाद मन्दी दिखलाई देने लगी तो विनिमय दर के पुनर्विचार के सम्बन्ध में आन्दोलन बढ़ गया, विशेषकर उस समय जब यह पता लगा कि सरकार को १ शिलिंग ६ पेंस की दर की रक्षा करना कठिन हो रहा है, क्योंकि हमारी निर्यात आधिक्य में भारी न्यूनता

(१) १ शिलिंग ६ पेंस की दर पर रुपये का मूल्य अत्यधिक था और सरकार ने इस दर को मुद्रा संकोचन के निम्नलिखित कठिन उपायों द्वारा बनाये रखा—(क) चलअर्थ के संकोचन द्वारा (१९२६-२७ और १९३०-३१ के बीच चलअर्थ का १,०२१ करोड़ रुपये की मात्रा में संकोचन किया गया); (ख) १९३३ के अधिनियम के अनुसार इम्पीरियल बैंक के लिए संकटकालीन चलअर्थ उधार देने की दर को बढ़ा कर; (ग) स्टर्लिंग की बिक्री द्वारा तथा रिजर्व बैंक (निकास विभाग) के स्टर्लिंग साधनों को खाली करके। इस मुद्रा-संकोच की नीति का परिणाम भारतीय कृषि तथा उद्योग-धन्धों पर १९२९ के मन्दी के वर्षों से लगा कर आगे तक विनाशकारी रहा।

हो गयी थी। जब पुरानी दर पर रुपये को स्टर्लिंग के साथ १९३१ में फिर बांधा गया तो फिर यह कहा गया कि पुनर्विचार के पक्ष में मामला प्रबल है। जिस समय प्रस्तावित रिजर्व बैंक को विनिमय देनदारी के मामले पर रिजर्व बैंक की लन्दन कमेटी द्वारा वाद-विवाद किया जा रहा था, तो इस मामले पर फिर जोर दिया गया। १९३४ में, संयुक्त सिलैक्ट कमेटी द्वारा विचार करते समय तथा फिर विधान सभा के सम्मुख रिजर्व बैंक विधेयक (Bill) आने पर—इस मामले पर फिर बल दिया गया। अनुपात वाली धाराएं (४० और ४१), जिन्हें अधिनियम के अन्दर स्थान दिया गया था, लन्दन कमेटी के सुझाव को कार्य रूप में परिणत करती थीं। उनमें कहा गया कि वर्तमान विनिमय दर की रक्षा की जाए, किन्तु जब अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति स्पष्ट और इतनी स्थिर हो जाय कि अधिक स्थायी नीति का निर्माण करना सम्भव हो सके तो मुद्रा-सम्बन्धी मान के समस्त प्रश्न पर भारतीय स्थिति की अनुकूलता को ध्यान में रखते हुए पुनर्विचार किया जाय। किन्तु इस सम्बन्ध में भारतीय लोकमत संतुष्ट नहीं हुआ। अगस्त १९३५ में श्री मनु सूबेदार (प्रधान इण्डियन मर्चेंट्स चैम्बर तथा ब्यूरो, बम्बई) ने तत्कालीन अर्थ-सदस्य सर जेम्स ग्रिग (Sir James Grigg) का स्वागत करते हुए यह सुझाव दिया था कि किसानों को राहत पहुंचाने की दृष्टि से अनुपात पर फिर विचार किया जाय। इसके उत्तर में अर्थ-सदस्य ने कहा था कि वह "वर्तमान अनुपात में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं करेंगे।" उन्होंने यह भी कहा कि इस परिवर्तन से कृषक को सहायता मिलना तो दूर, उल्टे उसकी स्थिति और भी बुरी हो सकती है।
जब १९३६ में फ्रैंक तथा स्वर्ण चलअर्थ वाली अन्य मुद्राओं का मूल्य घटाया गया तो यह वाद-विवाद फिर उठा। सरकार से अनुरोध किया गया गया कि वह रुपये के मूल्य को कम कर दे, क्योंकि ऐसा करने से मूल उत्पादनों का मूल्य बढ़ जायगा, निर्यात व्यापार फिर बढ़ जायगा तथा स्वर्ण का निर्यात कम हो जायगा। किन्तु सरकारी प्रवक्ताओं ने तर्क दिया कि रुपये का मूल्य इस समय घटाने से ब्रिटेन, अमरीका और फ्रांस द्वारा १९३६ में हस्ताक्षर किये हुए समझौते का भंग करना होगा। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी कहा कि स्टर्लिंग के साथ बंध जाने के कारण रुपये का मूल्य स्वर्ण की तुलना में पहले से ही लगभग ४० प्रतिशत कम हो गया था। इसके अतिरिक्त मूल्य कम करने से प्रतिद्वंद्वी देश बदले में जवाबी कार्यवाही भी कर सकते हैं।

(२) १ शिलिंग ६ पेंस की दर पर रुपये का मूल्य अधिक लगाया गया था। यह विभिन्न प्रकार के चिह्नों तथा अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त एवं व्यवहार द्वारा स्वीकृत कसौटी द्वारा स्वीकार कर लिया गया कि मूल्य अधिक लगाया गया है। उदाहरणार्थ, (क) बने हुए मूल्य, (ख) औद्योगिक गतिहीनता, (ग) व्यापार की प्रतिकूल शर्तें, तथा (घ) निर्यात आधिक्य का शीघ्र लोप हो जाना।

(क) १९२८ से १९३३ तक भारतीय मूल्य ४० प्रतिशत तक अत्यधिक परिमाण में गिरे, जबकि ब्रिटेन के मूल्य ३६·४ प्रतिशत गिरे। १९३६ में इंग्लैंड के मूल्य १६·३ प्रतिशत चढ़ गए और भारतीय मूल्य केवल ५·७ प्रतिशत ही पूरे किये जा सके। इस प्रकार इस बीच भारतीय मूल्य गिरे अधिक और बढ़े कम।

(ख) कुछ उद्योगधन्धों के समस्त लाभों के अंकों से औद्योगिक गतिहीनता का पता चलता है। यह लाभ १९२८ से १०·९ करोड़ रुपयों से घटकर १९३१ में २·६ करोड़ रुपये हो गया। बहुत धीरे-धीरे ऊपर उठता हुआ १९३५ में केवल ५ करोड़ रुपये हुआ।

(ग) इस काल में व्यापार की वस्तुविनियम (Barter) शर्तें भी भारत के प्रतिकूल रहीं। यह इस तथ्य से प्रकट है कि उसके निर्यात के मूल्य उसके आयात के मूल्यों की अपेक्षा कहीं अधिक गिर गये थे। १९२७-२८ और १९३३-३४ के बीच जब कि निर्यात मूल्यों का सूचनांक (Index Number) ४६·४ प्रतिशत गिरा, आयात मूल्यों का सूचनांक कुल ३४·८ प्रतिशत तक ही गिरा।

(घ) व्यापारिक निर्यात आधिक्य में भारी कमी हुई। मन्दी के वर्षों में व्यक्तिगत व्यापारिक माल (सरकारी स्टोरों के अतिरिक्त) का वास्तविक निर्यात निम्नलिखित था :—

वर्ष	रु. (करोड़ों में)		वर्ष	रु. (करोड़ों में)
१९३०-३१	६१·०	—	१९३५-३६	२९·८
१९३१-३२	३४·०	—	१९३६-३७	७१·१
१९३२-३३	३·५	—	१९३७-३८	१७·४
१९३३-३४	३४·४	—	१९३८-३९	१६·८
१९३४-३५	२३·४	—	१९३९-४०	४७·८

(३) अन्य देशों, विशेष कर कृषिजीवी देशों में सरकार ने अपने-अपने चलअर्थ

१९३८ के जून में विनिमय के निर्बल हो जाने पर मूल्य कम करने का आन्दोलन फिर उठा। इस प्रश्न को कांग्रेस कार्यसमिति ने अपने हाथ में लिया। सरकार ने ६ जून १९३८ को एक विज्ञप्ति निकाल कर घोषणा की कि वह वर्तमान अनुपात से असन्तुष्ट है। सितम्बर १९३८ में केंद्रीय विधान सभा के कुछ गैर-सरकारी सदस्यों ने इस बात का एक असफल प्रयत्न किया कि अनुपात के प्रश्न पर रिपोर्ट करने के लिए एक समिति नियुक्त की जाय। उसके बाद के कुछ मासों में व्यापारिक सन्तुलन तथा विनिमय की दशा कुछ सम्भल गई और १६ दिसम्बर १९३८ को सरकार ने एक और प्रेस विज्ञप्ति निकाल कर अपने इस निश्चय को दोहराया कि १ शिलिंग ६ पेंस का विनिमय पहले के समान ही बना रहेगा। तात्पर्य यह कि, विनिमय १९३९ में युद्ध आरम्भ होने तक स्थिर रहा, और युद्ध आरम्भ होने पर सारी स्थिति ही पूर्णतया बदल गई।

उच्च अनुपात ने निश्चित रूप से अपकर्ष को तीव्र कर दिया और उसके कारण भारत के मूल्य विश्व-मूल्यों तक किसी प्रकार भी नहीं पहुंच सके। निर्धन भारतीय कृषक के लाभ के लिए मूल्यों को अधिक करने के लिए द्रव्य अवमूल्यन करने का निश्चित प्रबल पक्ष था। अवमूल्यन से हमारे निर्यातों को भारी सहायता मिल जाती और उससे हम अपनी तुलनात्मक स्थिति को सुदृढ़ बना सकते थे।

इस बात पर बल दिया गया है कि आयात माल का मूल्य बढ़ जाने से कृषकों तथा उपभोक्ताओं को हानि पहुंचती। किंतु कृषक के उपभोग में आयातित माल की मात्रा बहुत कम होती है। यद्यपि उपभोक्ताओं को कुछ हानि पहुंचती, किन्तु उनको उत्पादक के रूप में अत्यधिक लाभ होता, क्योंकि रुपये का मूल्य घट जाने से उत्पादन बढ़ जाता और काम के लिए अवसर अधिक बढ़ जाते।

कोया जी के शब्दों में, "एक अच्छी तरह पसन्द किये हुए अनुपात की उत्तमता का सबसे बड़ा प्रमाण होता है उसकी अनुरूपता के साथ-साथ निश्चित तथा परिमित मूल्य स्तर तथा आयात एवं निर्यात की स्वस्थ तथा साधारण परिस्थिति।" १ शिलिंग ६ पेंस का अनुपात इस परीक्षा में पूरा नहीं उतरा। कम मूल्यों ने उच्च अनुपात के साथ मिलकर मूल्य-लागत समानता को गड़बड़ में डाल दिया, उत्पादन को हानि पहुंचाई और बेकारी को बढ़ाया। उसने वितरण पर प्रतिकूल प्रभाव डाला, ऋणी तथा धनी जमींदार तथा काश्तकार और मालिक तथा मजदूर आदि के सम्बन्धों में कटुता उत्पन्न की। यह सत्य है कि मूल्य ह्रास से केवल अस्थायी लाभ होता है, किन्तु जब एक देश अपकर्ष के कष्ट में से गुजरता है, तो उसे पुनरुद्धार के मार्ग पर चलाने के लिए अस्थायी उत्तेजक औषधि की आवश्यकता पड़ती ही है।[1]

इस प्रकार मूल्य ह्रास के पक्ष में मामला प्रबल था। किन्तु सरकार ने विनिमय में किसी प्रकार का परिवर्तन करने से इन्कार कर दिया। इसके पश्चात् महायुद्ध आरम्भ हो गया और तब सारा दृष्टिकोण ही बदल गया।

८. रिजर्व बैंक चलअर्थ अधिकारी के रूप में। इस मध्यकाल में १ अप्रैल १९३५ से चलअर्थ के नियंत्रण का कार्य सरकार के हाथ से नये केन्द्रीय बैंक—भारत के रिजर्व बैंक के हाथ में चला गया। उसको कागजी चलअर्थ सुरक्षा निधि तथा स्वर्ण-मान सुरक्षा निधियां भी सौंप दी गयीं। इससे हिल्टन मंग कमीशन द्वारा बतलाई हुई भारतीय चलअर्थ प्रणाली की दो त्रुटियां[२] दूर हो गयीं। वह थीं दो-दो सुरक्षा

में बी. एन. गांगुली के लेख को पृ० २७३ से ३२४ तक Whither Rupee पढ़ें। को भी पढ़ें।

1. Malhotra, D. K., History of Problems of Indian Currency and Exchange. 1947. pp. 108-109.

२. तो भी कुछ अव्यवस्थाएं अब भी स्थिर हैं। रुपये का सिक्का (जिसे चांदी पर छापा हुआ नोट कहा जाता है) अभी तक विधिग्राह्य मुद्रा बना हुआ है और रिजर्व बैंक को नोट के बदले में रुपये तथा रुपये के बदले में नोट मांगते ही देने पड़ते हैं। सिक्कों के निकास के लिए किसी सुरक्षा निधि के सहारे की आवश्यकता नहीं है और उनके निकाले जाने की कोई सीमा नहीं है। नोट जारी करने का एकाधिकार भी सरकार के ही पास है। रिजर्व बैंक तो उनका जारी करने का एक साधनमात्र है।

निधियों का खजाना तथा चलअर्थ एवं साख के नियन्त्रण के लिए उत्तरदायित्व का विभाजन। हमारी कागजी चलअर्थ प्रणाली के विकास के विषय में अगले अध्याय में विचार किया जायगा और बैंकिंग के सम्बन्ध में साख प्रणाली का अध्ययन एक और भी बाद के अध्याय में किया जायगा। यहां स्टर्लिंग विनिमय मान को स्थिर रखने के विषय में—जब तक वह जारी रहा—रिजर्व बैंक के कार्य के सम्बन्ध में कुछ कहा जाता है।

इस बात की व्यवस्था की गयी थी कि रिजर्व बैंक स्टर्लिंग का निश्चित दर पर क्रय-विक्रय करके १ शिलिंग ६ पेंस दर को बनाए रखेगा। रिजर्व बैंक अधिनियम की धारा ४० में यह व्यवस्था की गयी थी कि बैंक अपने बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मदरास, अथवा रंगून के कार्यालयों में मांग आने पर किसी भी व्यक्ति को स्टर्लिंग बेच देगा और क्रय मूल्य को विधिग्राह्य चलअर्थ के रूप में लन्दन में तुरन्त भुगतान करने के लिए एक रुपये के १ शिलिंग ५$\frac{४९}{६४}$ पेंस की दर चुकाएगा। इस व्यवस्था का उद्देश्य यह था कि रुपये का भाव १ शिलिंग ५$\frac{४९}{६४}$ पेंस की दर से गिरने न पाए, (इस दर को १ शिलिंग ६ पेंस में से इस रकम को लन्दन में मोल लेने की लागत को काट कर बनाया गया था)। धारा ४१ के अनुसार बैंक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास तथा रंगून कार्यालयों में स्टर्लिंग बेचने की प्रार्थना करने वाले किसी व्यक्ति से भी स्टर्लिंग मोल लेकर उसे एक रुपये के अधिक से अधिक १ शिलिंग ६$\frac{३}{१६}$ पेंस दर लन्दन में तुरन्त भेज देने के लिए मोल ले ले। (इस दर को १ शिलिंग ६ पेंस में लन्दन से बम्बई की रकम भेजने का खर्च जोड़ कर निकाल लिया गया था)। यह दोनों विन्दु[1] स्वर्णमान के अधीन निम्नतर धातु-बिन्दु तथा उच्चतर धातु-बिन्दु से मिलते-जुलते हैं।

इस प्रकार रिजर्व बैंक अधिनियम ने वर्तमान अनुमान को वैध रूप दे दिया। इस अधिनियम के आमुख (Preamble) में रिजर्व बैंक विधान के सम्बन्ध में 'लंदन कमेटी की सिफारिशों को सम्मिलित किया गया है कि भारत के लिए अधिकतम

१. यह बात स्मरण रखने योग्य है कि युद्ध पूर्व काल में विनिमय दर को स्थायी बनाने के लिए भारत मंत्री लंदन में कौंसिल बिल (Council Bill) नामक अपनी हुण्डियां उच्चतर धातु-बिन्दु पर बेचा करता था ओर भारत सरकार रिवर्स कौंसिल बिल निम्नतर धातु-बिन्दु पर बेचा करती थी। इस प्रणाली में १९२३–२४ में सुधार किया गया। इस वर्ष यद्यपि इन हुण्डियों की साप्ताहिक बिक्री पहले के समान होती रही और बिचवैयों (उच्चतर दर की नियमित बिक्री के बीच में बेची हुई हुण्डियों) की बिक्री को रोक दिया गया और उसके स्थान में भारत में उन बैंकों तथा आर्थिक कोठियों से स्टर्लिंग को मोल लिया जाने लगा, जो उसे बेचना चाहते थे। १९२४–२५ में इस प्रणाली का और भी विस्तार कर दिया गया और भारत में स्टर्लिंग का क्रय ब्रिटेन को रुपया भेजने की प्रधान प्रणाली बन गया। अब कौंसिल बिलों की बिक्री उनके लिए एक स्थायी तथा लगातार मांग होने पर ही की जाती थी। १९२५-२६ में एक भी कौंसिल बिल' (भारत मंत्री की हुण्डी) की बिक्री नहीं हुई और उसके बाद इस प्रणाली को बन्द कर दिया गया। यंग कमीशन की सिफारिश पर स्टर्लिंग को स्पर्धात्मक टेंडरों द्वारा मोल लेने की प्रणाली को १ अप्रैल १९३५ से रोक दिया गया। यह कार्य रिजर्व बैंक के हाथ में सौंप दिया गया।

उपयुक्त मुद्रा-मान के प्रश्न पर उस समय विचार किया जाय कि जब मुद्रा के सम्बन्ध में अंतर्राष्ट्रीय स्थिति इतनी अधिक स्पष्ट हो जाय कि स्थायी प्रबन्ध करना सम्भव हो सके। ऐसा संयोग उपस्थित होने पर उक्त अधिनियम की धारा ५५ में बैंक पर यह कर्त्तव्य डाला गया था कि वह भारतीय मुद्रा प्रणाली के लिए उचित स्थायी आधार के सम्बन्ध में अपनी सम्मति सपरिषद् गवर्नर-जनरल को लिख भेजे और भारत के भावी आर्थिक मान के सम्बन्ध में कार्य करे। इस प्रकार के नये उपायों को अपनाने की तारीख द्वितीय महायुद्ध के कारण स्थगित कर दी गयी।

भारतीय कागजी चलअर्थ

९. १९२५ तक कागजी चलअर्थ। १९वीं शताब्दि के आरम्भ तक भारत में नोट व्यवहारतः अज्ञात थे। १८०६ में बंगाल बैंक की स्थापना की गयी और उसे नोट निकालने का विशेषाधिकार दिया गया। यह विशेषाधिकार १८४० में बैंक आव् बम्बई को तथा १८४३ में बैंक आव् मद्रास को भी दिया गया। यद्यपि ये बैंक व्यक्तिगत संस्थाएं थीं, किन्तु इनकी पूंजी में सरकार का भाग था और उसके प्रतिनिधि उनके प्रबन्ध में भी भाग लेते थे। प्रत्येक बैंक की नोट निकालने की अधिकतम सीमा निश्चित कर दी गयी थी और उनको ३३⅓% (बाद में उसे घटाकर २५% कर दिया गया) सुरक्षा निधि रखनी पड़ती थी। यह नोट विधि ग्राह्य नहीं थे और केवल प्रैसीडेंसी नगरों में ही प्रसिद्ध थे।

१८६१ में सरकार ने प्रैसीडेंसी बैंकों से नोट निकालने का अधिकार वापिस ले लिया। अब देश को कई क्षेत्रों में विभक्त कर दिया गया। एक क्षेत्र में निकाले हुए नोट उसी क्षेत्र में विधिग्राह्य थे। इन नोटों को उसी चलअर्थ सिद्धान्तों पर निकाला जाता था जो इंगलैण्ड में पास किये हुए १८४४ के बैंक चार्टर एक्ट (Bank Charter Act) में दिये हुए थे। कागजी चलअर्थ सुरक्षा निधि का आधाररहित भाग (Fiduciary Portion) चार करोड़ रुपया निश्चित किया गया था। इसके अतिरिक्त इसी मूल्य की एक धातु सुरक्षा-निधि भी रखनी पड़ती थी।

उपरोक्त प्रबन्ध नोट निकालने की सुरक्षा की दृष्टि से बहुत अच्छा था, किन्तु यह न तो सुविधाजनक था और न इससे नोट निकालने में लोच आती थी। यह असुविधा उस प्रतिबन्धित क्षेत्र से उत्पन्न हुई, जिसके अन्दर नोट विधिग्राह्य तथा परिवर्त्तनीय थे, परन्तु एक मूल्य के बाद दूसरे मूल्य के नोट का प्रचलन सार्वजनिक बनाकर इस दोष को दूर कर दिया गया।

नोट निकालने की प्रणाली में लचीलापन नहीं था, क्योंकि एक निश्चित सीमा से आगे शतप्रतिशत धातु सुरक्षा निधि आवश्यक थी। आधाररहित सीमा को समय-समय पर बढ़ा कर कुछ लोच उत्पन्न की गयी, यहां तक कि १९१४ में वह १४ करोड़ रुपये और १९२० में १२० करोड़ रुपये हो गयी। १८९३ में रुपये को एक सांकेतिक मुद्रा बनाकर भी कुछ लोच उत्पन्न की गयी, जिससे रुपयों के रूप में सुरक्षा-निधि में कम चांदी की आवश्यकता पड़े।

आरम्भ में कागजी चलअर्थ सुरक्षा निधि के धातु भाग में चांदी के सिक्के तथा स्वर्ण-धातु-पिंड (Bullion) रखा जाता था। और आधाररहित भाग के रूप में भारत सरकार की प्रतिभूतियां (Securities) रखी जाती थीं। बाद के विधान (Legislation) द्वारा सोने के सिक्के, स्वर्ण धातु अथवा

रौप्य पिंड तथा स्टर्लिंग प्रतिभूतियों को भी भारत की कागजी चलअर्थ सुरक्षा-निधि में रखे जाने की अनुमति दी गयी ।

चलअर्थ प्रणाली की मुख्य त्रुटियां यह थीं :—(१) यह स्वयंचलित नहीं थी, क्योंकि आधाररहित भाग को प्रत्येक बार नये नियम द्वारा ही बढ़ाया जा सकता था । (२) सुरक्षा निधि का धातु भाग अनुचित रीति से बड़ा था । (३) सुरक्षा निधि के एक भाग को भारत में न रखकर लन्दन में रखा जाता था । (४) चलअर्थ और बैंकिंग में तलाक सम्बन्ध था जबकि आजकल के समय में सम्पूर्णता का नियम बरता जाता है । (५) एक केन्द्रीय बैंक के अभाव में सरकार को अपने खजाने को "सुरक्षित खजानों" में ताला बंद करके रखना पड़ता था । उसके परिणाम स्वरूप अधिक रोजगार चलने वाली ऋतु में बाजार में आर्थिक तंगी हो जाती थी । (६) सबसे बड़ी कमी यह थी कि इस चल-अर्थ प्रणाली में लोच नहीं थी । अन्य देशों में बैंकों की जमा रकमें और व्यापारिक हुण्डियों के विरुद्ध जारी किये गये चैक तथा नोट चलअर्थ प्रणाली में लोच उत्पन्न करते थे, केन्द्रीय बैंकों में रखी हुई सरकारी रकमें भी व्यापार में लगायी जातीं थीं, किन्तु भारत में अभी बैंकिंग अपेक्षाकृत कम विकसित था । यहां संगठित हुंडी बाजार का व्यावहारिक रूप में अभाव था और केन्द्रीय बैंक का अभी जन्म नहीं हुआ था ।

चैम्बरलेन कमीशन ने अधिक लोच उत्पन्न करने की दृष्टि से यह प्रस्ताव किया था कि आधाररहित भाग को निम्न रूप में नियत किया जाना चाहिए :

सुरक्षित खजानों में रखे हुए नोटों के अतिरिक्त बाजार के कुल चलन का एक-तिहाई भाग अर्थात् बाजार के कुल चलन में से सुरक्षित खजानों के नोटों की रकम को कम करके ।

कमीशन ने यह भी प्रस्ताव किया कि नोटों के उपयोग को प्रोत्साहित किया जाय और उनके बदले नकद रुपया देने की सुविधा का अधिक विस्तार कर दिया जाय । कमीशन का विचार था कि नोटों को लोचदार तथा प्रचलित बना दिया जाय ।

युद्ध (१९१४–१८) ने भारत की कागजी चलअर्थ प्रणाली पर भारी दबाव डाला । नोटों को भुनाने के लिए भीड़ बढ़ गई और युद्ध के प्रथम आठ मास में दस करोड़ रुपये के नोट वापिस बैंकों में लौट आये । आधाररहित भाग को १९१४ में १४ करोड़ रुपये से बढ़ाकर १९१८ में १२० करोड़ रुपये कर दिया गया । एक रुपये तथा २।। रुपये के नए नोट चलाये गये । नोट के बदले नकदी देने की विशेष सुविधा को बन्द कर दिया गया ।

युद्ध के अन्त में बैबिंगटन स्मिथ कमेटी ने भारतीय चलअर्थ प्रणाली की जांच की । लोच उत्पन्न करने तथा पर्याप्त धातु सुरक्षा निधि बैंक में रखने के उद्देश्य से कमीशन ने प्रस्ताव किया कि सुरक्षा निधि का धातु भाग बाजार के समस्त चलन का कम से कम ४०% अवश्य होना चाहिए और सामान्य आधार रहित भाग की निकासी के अतिरिक्त निर्यात हुण्डियों के विरुद्ध प्रैसीडेंसी बैंकों को ऋण के रूप में पांच करोड़ रुपये तक का अतिरिक्त चलअर्थ दे देने का प्रबन्ध किया जाना चाहिए । उसने नोटों के बदले नकदी रुपया देने पर युद्ध-काल में लगाये गये प्रतिबन्ध को हटाने का प्रस्ताव किया । सरकार ने इस प्रस्तावों को कार्य रूप में परिणित करने के लिए कानून पास कर दिया ।

१०. हिल्टन यंग कमीशन । १९२६ के हिल्टन यंग कमीशन ने रिजर्व बैंक की स्थापना का प्रस्ताव किया कि जिसको नोट निकालने का समस्त अधिकार दे दिया जाना चाहिए। नोटों के बदले में चांदी के रुपये देने के उत्तरदायित्व को वापिस लेने का सुझाव दिया गया। यह भी सुझाव दिया गया कि कागजी चलअर्थ सुरक्षा निधि तथा स्वर्णमान सुरक्षा निधि को मिलाकर एक कर दिया जाय और नोट निकालने की आनुपातिक सुरक्षा निधि के सिद्धान्त को जारी किया जाय।

रिजर्व बैंक की स्थापना में देरी हुई और उसकी १९३५ में स्थापना की जा सकी। १९२७ में एक कागजी चलअर्थ अधिनियम पास किया गया, जिसके अनुसार कागजी चलअर्थ सुरक्षा निधि में स्टर्लिग प्रतिभूतियों का एक सावरेन के १३~) । भाव पर पुनर्मूल्यन किया गया और कोई अन्य परिवर्तन नहीं किया गया।

११. रिजर्व बैंक निर्गम (निकास) अधिकारी के रूप में। १९३४ में पास किये गए रिजर्व बैंक अधिनियम द्वारा नोट निकालने का एकाधिकार भारत के रिजर्व बैंक को दे दिया गया, जिसका कार्य १ अप्रैल १९३५ को आरम्भ हुआ। बैंक को नोट निकालने का कार्य उसके निकास विभाग को सौंपा गया।

स्वर्णमान सुरक्षा निधि तथा कागजी चलअर्थ सुरक्षा निधि को मिला दिया गया और स्वर्ण का समस्त भण्डार बदलकर बैंक को सौंप दिया गया, जिसको बैंक ने अपने निकास विभाग (Issue Department) में रखा।

निकास विभाग की संपत्ति में स्वर्ण मुद्राएं, स्वर्ण धातु पिण्ड, स्टर्लिंग प्रतिभूतियां, रुपये के सिक्के तथा रुपये की प्रतिभूतियां थीं। समस्त सम्पत्ति में कम से कम ४० प्रतिशत स्वर्ण-मुद्रा, स्वर्ण धातु पिण्ड (Gold Bullion) अथवा स्टर्लिंग प्रतिभूतियां रखी जाती थीं। इसमें शर्त यह थी कि स्वर्ण मुद्रा तथा स्वर्ण धातु पिण्ड का मूल्य में समस्त योगफल ४०करोड़ रुपये से कम न हो, लेकिन सरकार की पूर्व अनुमति से बैंक स्वर्ण-मुद्रा, स्वर्ण धातु पिण्ड अथवा स्टर्लिग प्रतिभूतियों को समस्त सम्पत्ति के ४० प्रतिशत से कम परिमाण में भी सीमित समय के लिए रख सकता है। किन्तु इस कमी पर उसको एक विशिष्ट कर देना होगा। व्यवहारतः, बैंक निकास विभाग की अपनी समस्त देनदारियों के विरुद्ध स्वर्ण तथा स्टर्लिंग प्रतिभूतियों का कहीं अधिक उच्च प्रतिशत अनुपात रखता है।

१२. चलअर्थ का विस्तार तथा संकोचन। रिजर्व बैंक अधिनियम के अनुसार विकास विभाग को सम्पत्ति को, जैसा कि हम देख चुके हैं—निम्नलिखित रूपों में रखा जाता था——

(१) रुपये के सिक्के, रुपये के नोटों सहित।

(२) स्वर्ण के सिक्के तथा स्वर्ण धातु पिण्ड।

(३) रुपये की प्रतिभूतियां, कोष अधिपत्रों (Treasury Bills) सहित; और

(४) स्टर्लिग प्रतिभूगियां।

सम्पत्ति के इनमें से किसी रूप को भी बढ़ाकर और उसी परिमाण में निकास विभाग से नोट निकालकर चलअर्थ का विस्तार किया जाता है। चलअर्थ के संकोचन के लिए इसी प्रकार, बाजार के चलन में से नोटों को हटाकर उसी परिमाण में सम्पत्ति के किसी रूप को भी कम कर दिया जाता है। "साधारणतया विस्तार की दशा में बैंक

निकास-विभाग की सम्पत्ति को बढ़ाने के लिए रुपये अथवा स्टर्लिंग प्रतिभूतियों को अथवा दोनों को बैंकिंग विभाग से निकास विभाग में हस्तांतरित करता है। अथवा, वह उस विशेष उद्देश्य के लिए कोष-अधिपत्रों (Treasury Bills) का निर्माण कर देता है। संकोचन करने की दशा में वह रुपये अथवा स्टर्लिंग की प्रतिभूतिया अथवा दोनों को निकास विभाग से बैंकिंग विभाग में बदल देता है। अथवा वह निकास विभाग में रखे हुए तदुद्देशीय कोषपत्रों को रद्द कर देता है।"

युद्ध के समय नोटों के चलन का अत्यधिक विस्तार हुआ था। इन नोटों को उन स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के विरुद्ध निकाला जाता था जो युद्ध की परिस्थितिवश एकत्रित हो जाया करती थीं। सितम्बर १९३९ में युद्ध आरंभ होने पर कुल १८२ करोड़ रुपये के नोट चलन में थे। यह संख्या ३ अगस्त १९४५ को बढ़कर १,१३३ करोड़ रुपये हो गई, अर्थात् इस बीच ९५१ करोड़ रुपये के नोट बढ़ गए। इसी बीच स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में ९७५ करोड़ भी रुपये की वृद्धि हुई।

भारतीय चलअर्थ प्रणाली पर द्वितीय महायुद्ध के प्रभाव के सम्बन्ध में अगले अध्याय में विचार किया जायगा।

अठाईसवाँ अध्याय

द्वितीय महायुद्ध में भारतीय चलअर्थ तथा विनिमय

१. प्रतावना । सितम्बर १९३९ में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो जाने पर चलअर्थ की पुरानी समस्यायें पृष्ठभूमि में जा पड़ीं तथा नयी-नयी समस्यायें उत्पन्न हो गयीं । युद्ध की अत्यधिक विशिष्ट चलअर्थ-समस्याओं का सम्बन्ध विनिमय नियंत्रण, चलअर्थ के परिमाण में अत्यधिक वृद्धि और उसके फलस्वरूप होने वाली मूल्यवृद्धि, युद्ध के खर्चे तथा स्टर्लिंग के एकत्रित होने से था ।

२. चलअर्थ पर प्रभाव । चलअर्थ पर युद्ध के मुख्य प्रभाव ये पड़े—(१) नोटों को भुनाने के लिए जनता का बैंकों पर दौड़ना, और उस के परिणामस्वरूप (२) रुपये का राशन जारी किया जाना, (३) एक रुपये तथा दो रुपये के नोटों का निकाला जाना, (४) नई अठन्नियों के सिक्के का चलाया जाना, (५) कम चांदी वाले रुपये के नये सिक्कों का चलाया जाना, (६) पुराने प्रामाणिक रुपयों का बाजार से हटाया जाना, और (७) बाजार में चलने वाले चलअर्थ का अत्यधिक विस्तार । नोटों को भुनाने की मांग, जो जून १९४० से पूर्व कम थी, पहले प्रति सप्ताह एक करोड़ रुपयों से बढ़कर बाद में प्रतिसप्ताह चार करोड़ रुपये तक जा पहुंची थी । रिजर्व बैंक के निकास विभाग में युद्ध के आरम्भ में रुपयों का जो भंडार ७५,४९ करोड़ रुपयों का था, वह ५ जुलाई १९४० को घटकर ३२ करोड़ रुपये का ही रह गया । अतएव, यह घोषणा की गई कि अपनी व्यक्तिगत अथवा व्यावसायिक आवश्यकताओं से अधिक सिक्के प्राप्त करना अपराध है । रुपये के सिक्कों तथा रेजगारी की भी भारी कमी रही । लेकिन रिजर्व बैंक ने इन कठिनाइयों को किसी प्रकार पार कर लिया और इस विषय में जनता की उचित आवश्यकता को पूर्ण करने का प्रबन्ध कर लिया गया ।

रुपयों की कमी को पूर्ण करने के लिए सरकार ने २४ जून १९४० को एक रुपये के नोट निकाले । इन नोटों के बदले में रुपये के सिक्के देना वर्जित था । फरवरी १९४३ में दो रुपये के नोट भी निकाले गये ।

१४० में चवन्नियों तथा अठन्नियों की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए नयी अठन्नियां चलाई गयीं । उनके संग्रह को रोकने तथा चांदी की बचत करने के उद्देश्य से इन सिक्कों में ११/१२ शुद्ध चांदी को घटाकर १/२ शुद्ध चांदी रखी गई । इसी वर्ष रुपये के नये सिक्के भी चलाए गए । इनमें ९० ग्रेन शुद्ध चांदी तथा ९० ग्रेन खोट थी । इनके किनारे एक सुरक्षित नमूने पर बनाए गए थे, जिससे नकली रुपयों का बनाया जाना रोका जा सके । ३१ मार्च १९४१ के बाद रानी विक्टोरिया के रुपयों तथा अठन्नियों की विधि-ग्राह्यता को वापिस ले लिया गया । ३१ मार्च १९४२ के बाद बादशाह एडवर्ड सप्तम के रुपयों तथा अठन्नियों का चलन बन्द कर दिया गया और ३१ मई १९४३ के बाद बादशाह जार्ज पंचम तथा बादशाह जार्ज षष्ठ के प्रामाणिक रुपयों तथा अठन्नियों का चलन बन्द कर दिया गया । इसी प्रकार क्रमशः ११/१२ शुद्ध चांदी के सिक्कों के स्थान पर पर १/२ शुद्ध चांदी की चवन्नियों को चलाया गया ।

किन्तु युद्ध का सबसे अधिक विशिष्ट प्रभाव था बाजार में चलने वाले चलअर्थ का अत्यधिक विस्तार तथा उसके आनुषंगिक प्रभाव । इस विषय में तथा युद्धकालीन अन्य विस्तृत बातों के सम्बन्ध में पृथक् विचार किया जायगा ।

३. **विनिमय नियंत्रण** । एक पिछले अध्याय में यह बतलाया जा चुका है कि द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ के पूर्व की दशाब्दी में सरकार को १ शिलिंग ६ पेंस की दर पर रुपये-स्टर्लिंग का सम्बन्ध बनाए रखना कठिन हो रहा था । उसको बनाए रखने के लिए कुछ तो चलअर्थ का संकोचन करना पड़ा था और कुछ १९३१ के बाद स्वर्ण निर्यात द्वारा उसे सहायता मिली थी । इस कठिनाई का मुख्य कारण था कृषि-पदार्थों की भयंकर मन्दी के समय हमारे निर्यात आधिक्य का भयंकर रूप से गिर जाना । युद्ध आरम्भ होने पर यह स्थिति एकदम बदल गई । अब ब्रिटिश सरकार की ओर से भारत से युद्ध सामग्री मोल ली जाने के कारण हमारे निर्यात अत्यधिक बढ़ गए, जिससे हमारे निर्यातों से हमें बंचत होने लगी, और इसके परिणामस्वरूप रिजर्व बैंक बहुत बड़े परिमाण में स्टर्लिंग मोल लेने योग्य हो गया । अतएव, १ शिलिंग ६ पेंस के विधि-निर्धारित भाव पर स्टर्लिंग-रुपये के सम्बन्ध को बनाए रखना कठिन नहीं रहा ।

किन्तु रुपया, जहां स्टर्लिंग की तुलना में दृढ़ बना रहा, वहां उसका भाव डालर, येन तथा यूरोप के अन्य चलअर्थों की तुलना में कम हो गया । क्योंकि इस समय स्टर्लिंग का मूल्य भी इन चलअर्थों की अपेक्षा गिर रहा था । स्टर्लिंग डालर के साथ ४·२ डालर के भाव पर बंधा हुआ था । अतएव रुपये डालर की विनिमय दर १०० डालर के ३३२ रुपये स्थिर हो गई ।

ग्रेट ब्रिटेन का अनुसरण करते हुए भारत सरकार ने भी विनिमय का नियंत्रण किया । १९३९ के भारत रक्षा अध्यादेश (Defence of India Ordinance) के भाग, १४ के अनुसार गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह (१) विदेशी विनिमय की खरीद पर प्रतिबन्ध लगा सके (२) विदेशी विनिमय को अनिवार्य रूप से प्राप्त कर सके, (३) प्रतिभूतियों के क्रय तथा विक्रय पर प्रतिबन्ध लगा सके, और (४) विदेशी प्रतिभूतियों (Securities) को प्राप्त कर सके । इसके अनुसार सरकार ने आज्ञा दी कि विदेशी विनिमय के सभी सौदे केवल ऐसे अधिकृत व्यापारियों के द्वारा ही किये जावें, जिन पर रिजर्व बैंक का अपने नवनिर्मित विनिमय-नियंत्रण-विभाग द्वारा नियंत्रण स्थापित हो ।

विनिमय-नियंत्रण-उद्देश्य के लिए ब्रिटिश राष्ट्रमंडल को एक अकेली चलअर्थ इकाई मान लिया गया और उसे स्टर्लिंग-क्षेत्र कहा गया । इस क्षेत्र के अंदर-अंदर धन के स्वतंत्रतापूर्वक परिवर्त्तन पर कोई नियंत्रण नहीं लगाया गया । स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर चलअर्थों के क्रय तथा विक्रय पर कठोर नियंत्रण लगाया गया ।

स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर धन भेजने की स्वीकृति तब तक किसी प्रकार भी नहीं दी जाती थी जब तक धन भेजने वाला एक छपे हुए प्रार्थनापत्र पर यह न बतलाए कि वह किस उद्देश्य से देश के बाहर धन भेजना चाहता है । धन भेजने की आवश्यकता इन कार्यों के लिए पड़ सकती थी । (१) आयातों का मूल्य चुकाने के लिए—इसकी अनुमति दे दी जाती थी, किन्तु प्रार्थी को आयात कर की रसीद यह प्रमाणित करने के लिए उपस्थित करनी पड़ती थी कि माल का आयात भारत में हो चुका है; (२) छोटे-छोटे व्यक्तिगत मनीआर्डर; (३) यात्राव्यय—इनकी एक निश्चित सीमा तक ही अनुमति दी जाती थी; (४) अन्य व्यापारिक उद्देश्य (किराया, लाभ, सौदे का प्राप्य अंश अथवा

रॉयलिटी)—इन कार्यों के लिए प्रार्थियों को अधिकृत लेखा-परीक्षकों (Chartered Accountants) से प्रमाणपत्र अथवा उनके वास्तविक भुगतान होने की अन्य समुचित साक्षी देना पड़ती थी; (५) पूंजी का स्थानान्तरीकरण—इसकी स्वीकृति किसी एक विशेष मामले में दी जाती थी और इस मामले को भारत के रिजर्व बैंक को सौंपना पड़ता था। इन नियमों का उद्देश्य इस बात का निश्चित पता लगाना था कि विदेशी विनिमय को केवल व्यापार में धन लगाने अथवा किसी अन्य स्वीकृत उद्देश्यों के लिए ही बेचा गया था। इनका उद्देश्य था देश से बाहर पूंजी के जाने को रोकना और विनिमय में सट्टे जैसे कार्यों को रोककर असंभव बना देना।

आयात नियंत्रण—आरम्भ में विदेशी विनिमय की बिक्री में बैंकों को अत्यधिक स्वतन्त्रता दी गई। किन्तु ज्यों-ज्यों युद्ध चलता रहा उसकी सुविधाओं को कम किया जाता रहा। बाद में रिजर्व बैंक को पूर्व-सूचना दिये बिना लाइसेंस प्राप्त आयातों का भुगतान करने तथा कुछ व्यक्तिगत हुण्डियों के लिए ही वे विनिमय बेच सकते थे। आयातों पर कठोर नियंत्रण लगा दिया गया। स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर से लाइसेंस के बिना सभी प्रकार की आयातों को बंद कर दिया गया।

निर्यात नियंत्रण—विनिमय-नियंत्रण में प्रगति के साथ-साथ यह आवश्यक समझा गया कि भारत से स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर के देशों को जाने वाली निर्यातों पर भी नियंत्रण लगाया जाय। अतएव, रिजर्व बैंक ने एक निर्यात नियंत्रण की योजना बनाई। निर्यात-नियंत्रण योजना का उद्देश्य प्रथम तो यह निश्चय करना था कि निर्यातों की बिक्रीसे प्राप्त होने वाला विदेशी विनिमय भारत में ही वापिस आ जावे और विदेशों में ही न रुक जावे। दूसरे, यह कि निर्यातों में कुछ इस प्रकार विशेष रूप से बतलाए हुए ढंग से धन लगाया जाय कि उसका अधिकतम विनिमय मूल्य प्राप्त हो सके।

भारतीयों (तथा राष्ट्र मण्डल देशों के अन्य नागरिकों) को प्राप्त होने योग्य जो धन निर्यात से संयुक्त राज्य अमरीका में मिलना हो, वह ब्रिटिश सरकार को दे दिया जाय और उसका 'साम्राज्य डालर निधि' नाम से एक फंड बना दिया जाय और उसका उपयोग युद्ध-उद्देश्यों में किया जाय।

स्वर्ण धातु प्रतिभूतियों तथा विदेशी चलअर्थ का नियंत्रण—साधारण वस्तुओं के अतिरिक्त स्वर्ण धातु प्रतिभूतियों (Bullion Securities) तथा करैंसी नोटों के आयात-निर्यात पर भी नियंत्रण लगाया गया। स्वर्ण का निर्यात एक लाइसेंस लेकर ही किया जा सकता था। आयात भी लाइसेंस द्वारा ही किया जा सकता था। किन्तु स्वर्ण के आयात में किसी महत्वपूर्ण चलअर्थ, विशेषकर डालर, का व्यय न होता हो तो उसका आयात किया जा सकता था।

जहां तक प्रतिभूतियों का सम्बन्ध है, उनको भारत में निकास न करने वाले किसी व्यक्ति से भी प्राप्त नहीं किया जा सकता था, न रिजर्व बैंक की अनुमति के बिना उनका निर्यात किया जा सकता था। विदेशी प्रतिभूतियों के निर्यात के लिए लाइसेंस लेना पड़ता था। किन्तु वह तभी मिलता था जब विदेशी विनिमय से मिलने वाले चलअर्थ को भारतीय बैंक के विदेशी प्रतिनिधि को दे दिया जाता था।

भारत के बाहर जवाहिरात तथा नकदी ले जाने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। कुछ विशेष न्यूनतम रकम को बिना लाइसेंस भारत के बाहर ले जाया जा सकता था। पर उसके ऊपर की रकम ले जाने के लिए रिजर्व बैंक के विनिमय-नियंत्रण-विभाग से लाइसेंस लेना पड़ता था।

शत्रु द्वारा अधिकृत देशों से करेंसी नोटों का आयात नहीं किया जा सकता था। ऐसा करने का उद्देश्य था आक्रान्ता देशों में हस्तगत किये नोटों के बड़े-बड़े भंडारों की शत्रु द्वारा बिक्री को रोकना। तो भी इस बात की व्यवस्था कर दी गई थी कि शत्रु द्वारा अधिकृत क्षेत्र से आने वाले प्रामाणिक निष्क्रमणार्थियों के अधिकार में मिलने वाले नोटों को भुना दिया जाय।

४. साम्राज्य डालर-निधि। १९३९ में यूनाइटेड किंगडम ने स्टर्लिंग क्षेत्र के सदस्यों की विदेशी विनिमय सुरक्षा निधियों के नियंत्रण का कार्य अपने हाथ में ले लिया। स्टर्लिंग क्षेत्र के जिस किसी भी देश के पास व्यापारिक संतुलन से अधिक जो कुछ भी था, वह स्टर्लिंग के रूप में यूनाइटेड किंगडम को दिया गया। इस प्रकार भारत का अत्यधिक स्टर्लिंग-शेष ब्रिटेन में जमा हो गया। किन्तु इसके अतिरिक्त किसी **भी** स्टर्लिंग देश का, जो कुछ भी अधिक संतुलन किसी स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर के देश के साथ था, उसको भी स्टर्लिंग पर अधिकार करके समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार स्टर्लिंग क्षेत्र द्वारा उपार्जित सभी डालर 'साम्राज्य डालर निधि' नामक एक सर्व संयुक्त निधि में जमाकर दिये जाते थे और उपार्जित देश को स्टर्लिंग के रूप में उसीके अनुरूप साख मिल जाती थी। इस समय समस्त स्टर्लिंग क्षेत्र व्यवहारतः एक आर्थिक इकाई बन गया तथा विनिमय नियंत्रण के मामले में उसमें सब कहीं एक से नियम तथा नियंत्रण लागू होते थे। उपार्जित सभी डालर एक संयुक्त हिसाब में डाले जाते थे और कोई सदस्य, जिसे अपनी खरीद के लिए डालरों की आवश्यकता होती थी, बैंक आव् इंग्लैंड से इस डालर निधि में से डालर निकाल सकता था।

१९३९ से १९४६ तक भारत साम्राज्य डालर निधि में बराबर डालर देता रहा। इस बीच उसने कुल ४०५ करोड़ रुपये के डालर अर्जित किये और २४० करोड़ रुपए के डालर इसी बीच खर्च किये। अन्य दुर्लभ चलअर्थों पर किये हुए ५१ करोड़ रुपये के खर्चे को काट कर भारत ने 'साम्राज्य डालर निधि' में ११४ करोड़ रुपये अपनी विशुद्ध बचत के डालर जमा किये।

किन्तु भारत का लोकमत यह नहीं चाहता था कि भारत इस डालर निधि में बराबर ऐसी स्थिति में भी देता रहे, जबकि स्वयं इस देश में ही विकास कार्यों के लिए पूंजीगत माल मोल लेने के लिए धन की बुरी तरह से आवश्यकता थी। भारत की इस आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए १९४४ तथा १९४५ में दो करोड़ डालर दिये गए। किन्तु आवश्यक माल के अनुपलब्ध होने के कारण भारत डालरों के इस अनुदान से लाभ न उठा सका। किन्तु भारत सिद्धान्त रूप में इस प्रकार थोड़े-थोड़े करके डालर दिये जाने के विरुद्ध था और अपनी डालर आय के ऊपर बिना प्रतिबन्ध के अपना नियंत्रण स्थापित करना चाहता था। १९४७ में भारत को विश्वास दिलाया गया कि वह अपने डालर-साधनों का उपयोग करने के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र है। उसके स्टर्लिंग शेष के पर्याप्त मात्रा में छोड़े जाने से भी स्थिति कुछ-कुछ सुगम बनी। १९४८ में डालर लेने पर फिर कुछ पाबन्दी लगाई गई, किन्तु उसे १९४९ में फिर उठा लिया गया। अवमूल्यन (Devaluation) के समय भारत शेष स्टर्लिंग क्षेत्र सहित इस बात पर स्वयं ही सहमत हो गया कि वह १९४८ की अपेक्षा १९४९–५० में अपने डालर के क्रय में २५ प्रतिशत की कमी कर देगा।

५. चलअर्थ की युद्धकालीन खपत। "भारतीय चलअर्थ के क्षेत्र में युद्ध-कालीन विभिन्न विस्तृत कार्यों में चलअर्थ के अत्यधिक प्रसार ने अपने प्रदर्शनात्मक रूप में—उसके विस्तृत फैलाव तथा सामान्य मनुष्य के दैनिक जीवन पर उसके सीधे प्रभाव ने—सभी

बातों को पछाड़ दिया।"[१] १ सितम्बर १९३९ को भारत के बाजार में कुल १८२·१३ करोड़ रुपये के करेंसी नोट (रिजर्व बैंक द्वारा निकाले हुए) चल[२] रहे थे। १९ अक्तूबर १९४५ को यह रकम १,१५९·८५ करोड़ रुपये हो गई। इसका अर्थ यह है कि इसमें ९७७·७२ करोड़ रुपये अथवा ५३·६ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

सितम्बर १९३९ से अगस्त १९४५ तक रुपये के सिक्कों की कुल खपत १४२·१६ करोड़ रुपये की हुई और रेजगारी की खपत ६७·५९ करोड़ रुपये की हुई।

बैंकों की अमानतों में भी वृद्धि हुई थी। यह वृद्धि परिगणित बैंकों में (उन्हीं के अंक मिलते हैं) युद्ध के आरम्भ से ३१ मार्च १९४५ तक ४६८ करोड़ रुपये हुई।

इस प्रकार संपूर्ण-युद्ध-काल में परिचलन में १,१९८·६४ करोड़ रुपये की कुल वृद्धि हुई। इस वृद्धि में से ८२·५ प्रतिशत वृद्धि नोट निकालने के कारण तथा ११·९ प्रतिशत रुपये की मुद्राओं में तथा ५·६ प्रतिशत वृद्धि रेजगारी में हुई।

किन्तु तो भी चलअर्थ के चलन की तीव्रगति मंद कम हो रही थी और उसका कारण था युद्ध के भय से उत्पन्न हुई अतिसंग्रह की प्रवृत्ति का बढ़ जाना। जनता, बैंक तथा व्यापारिक फर्में सभी अत्यन्त तरल स्थिति को बनाए रखना चाहते थे, किन्तु चलअर्थ की चलनगति में यह गिरावट चलअर्थ के विस्तार के प्रभावों को रोकने के लिए अत्यधिक मंद थी।

६. मूल्यों में वृद्धि। चलअर्थ के इस विस्तार के साथ-साथ साधारण मूल्य-स्तर में भी अत्यधिक वृद्धि हुई, जैसा कि नीचे दी हुई तालिका से प्रगट है :

भारत में थोक मूल्यों के सूचनांक (Index Numbers)

(१९ अगस्त १९३९ को समाप्त होने वाला सप्ताह = १००)

वर्ष	कृषि पदार्थ	कच्ची सामग्री	निर्मित माल	साधारण-सूचनांक
१९३९–४०	१२७	११९	१३१	१२६
१९४५–४६	२७३	२१०	२४०	२४५

मूल्य वृद्धि तथा चलअर्थ के विस्तार में निकट सम्बन्ध था। निम्नलिखित त्रैमासिक सूचनांक[३] इस निकट सम्बन्ध को प्रगट करते हैं :—

(जुलाई १९२९ = १००)

	१९४०	१९४२	१९४३	१९४४	१९४५	१९४६
कुल नोट चलन में	१३२	२०४	३५६	५०५	६१३	७०५
थोक-मूल्य	१२५	१५४	२५८	२९९	३०१	२९५
तात्कालिक अमानतें	१०५	१६७	२७३	३९०	४५५	५८२

७. स्टर्लिंग सम्पत्ति का एकत्रित हो जाना। गत अध्याय में यह देखा जा चुका है कि रिजर्व बैंक को अपने चलाए हुए नोटों में वृद्धि करने से पूर्व बैंक की निकास विभाग

---

1. Malhotra D. K., History and Problems of Indian Currency and Exchange, 1947, p. 122.

२. सक्रिय परिचलन = कुल जारी किये हुए नोटों में से बैंकिंग विभाग में रखे हुए नोटों को निकाल कर।

३. इस तालिका में दिये हुए सभी अंक प्रत्येक वर्ष के प्रथम तीन मास के हैं।

की संपत्ति को बढ़ाना पड़ता था। वास्तव में, जैसा कि निकास विभाग की विभिन्न मदों की सम्पत्ति के परिवर्त्तनों को बतलाने वाले निम्नलिखित अंकों से प्रगट है, सम्पत्ति में इस प्रकार की वृद्धि वस्तुतः हुई :

१-९-१९३९ से ३१-८-१९४५ तक के अंकों के ऊपर कमी (–) या वृद्धि (+)
करोड़ रुपयों में

१. स्वर्ण सिक्के और स्वर्ण-धातु	कुछ नहीं
२. स्टर्लिंग प्रतिभूतियां	+९७४·८
३. रुपये के सिक्के	–५८·४
४. रुपये की प्रतिभूतियां	+२०·५
५. कुल सम्पत्ति	+९३६·९
कुल जारी किये नोट	+९३६·९

यह स्पष्ट है कि चलअर्थ का अधिकांश प्रसार स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के विरुद्ध हुआ। यह प्रतिभूतियां लंदन में स्टर्लिंग के रूप में पूंजी लगाये जाने का प्रतिनिधित्व करती थीं। दूसरे शब्दों में यह रकम भारत द्वारा इंग्लैंड को उधार दी गई थी।

भारत को यह स्टर्लिंग साधन किस प्रकार मिले और वह लंदन में इस रूप में क्यों रखे गए ? इसको समझने के लिए यह आवश्यक है कि भारत सरकार द्वारा भारत में ब्रिटिश सरकार की ओर से मोल लिये हुए माल का भुगतान करने की प्रणाली को समझ लिया जाय।

८. युद्ध के वित्त की यंत्र-रचना। कुछ रकम भारत सरकार द्वारा भारत की ओर से युद्ध उद्देश्य के लिए खर्ची जाती थी। इस रकम को सरकार के नियमित बजट में रक्षा-व्यय में दिखलाया जाता था। इस रकम का प्रबंध कुछ तो कर लगाकर किया गया ओर कुछ विभिन्न प्रकार के ऋण लेकर किया गया। इसके अतिरिक्त, भारत सरकार ब्रिटिश सरकार तथा अन्य मित्रराष्ट्रों की ओर से विभिन्नप्रकार की युद्ध-सामग्री को मोल लेने के लिए प्रति वर्ष बड़ी भारी मात्रा में खर्च करती थी। इस माल के लिए ब्रिटिश-सरकार लंदन में स्टर्लिंग के रूप में भुगतान किया करती थी। इस स्टर्लिंग में से कुछ से घरेलू व्ययों (Home Charges) का खर्च चुकाया जाता था, कुछ से भारत का स्टर्लिंग ऋण चुकाया जाता था और शेष ब्रिटिश सरकार को उधार दे दिया जाता था। ब्रिटिश सरकार की स्टर्लिंग प्रतिभूतियां भारत के रिजर्व बैंक की सम्पत्ति के रूप में लंदन में रखी जाती थीं। उन्हें प्रथम रूप में बैंकिंग विभाग की सम्पत्ति में दिखलाया जाता था। किन्तु रुपये के रूप में धन की आवश्यकता पड़ने पर उनको निकास विभाग में बदल दियाजाता था। इस सम्पत्ति के अनुसार रिजर्व-बैंक-अधिनियम की व्यवस्था द्वारा भारत में नोट निकाले जाते थे। भारत सरकार इन नोटों का उपयोग उस युद्ध-सामग्री को मोल लेने में करती थी जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इस प्रकार भारत में चलअर्थ का विस्तार हो गया।

किन्तु स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में लगाए हुए सारे स्टर्लिंग रिजर्व बैंक के अधिकार में इस प्रकार नहीं आये। भारत के रिजर्व बैंक ने उसके एक भाग को उनसे मोल लिया था, जिन्होंने भारत से माल का आयात किया था और जो भारतीय निर्यातकों को उस माल का भुगतान रुपयों में करना चाहते थे। नीचे स्टर्लिंग के विभिन्न साधनों का विस्तृत वर्णन देकर यह भी बतलाया जाता है कि स्टर्लिंग की राशि का उपयोग किस प्रकार किया जाता था :

प्राप्त किये स्टर्लिंग	करोड़ रुपये में
१. रिजर्व बैंक की स्टर्लिंग सम्पत्ति, अगस्त १९३९ में	६४
२. सितम्बर १९३९ से मार्च १९४६ तक बैंक द्वारा मोल लिये हुए स्टर्लिंग	८१३
३. ब्रिटिश सरकार द्वारा चुकाए हुए स्टर्लिंग	१,६३२
४. स्टर्लिंग के अन्य जमाखाते	४५
सम्पूर्ण प्राप्ति	२,५५४

उपयोग में लिये हुए स्टर्लिंग	करोड़ रुपये में
१. मार्च १९४५ तक ऋण चुकाने में लगाए हुए स्टर्लिंग	४११
२. सरकार के स्टर्लिंग वायदे	३१४
३. जनता को बेचे हुए स्टर्लिंग	७५
४. मार्च १९४५ के अंत तक रिजर्व बैंक के पास बकाया स्टर्लिंग	१,७२४
योगफल	२,५५४

९. रुपये की प्रतिभूतियां। (Rupee Securities) चलअर्थ के प्रसार का कारण केवल स्टर्लिंग प्रतिभूतियों की वृद्धि ही नहीं था, वरन् जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं, रुपये की प्रतिभूतियों की वृद्धि भी थी। पहले रिजर्व बैंक अधिनियम के अनुसार इन प्रतिभूतियों को ५० करोड़ रुपये के मूल्य से अधिक मात्रा में नहीं रखा जा सकता था। किन्तु फरवरी १९४१ के एक अध्यादेश द्वारा इस सीमा के प्रतिबन्ध को हटा दिया गया। इससे सरकार को रिजर्व बैंक से अपने कोष अधिपत्रों (Treasury Bills) के विरुद्ध उधार लेने का अधिकार मिल गया। रुपये की इन प्रतिभूतियों में से कुछ उन स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के बदले में थीं, जो ऋण चुकाने से पूर्व ब्रिटिश उधार देने वालों के पास थीं। जहां तक स्टर्लिंग ऋण के जनता द्वारा ऋण लेकर देश के अन्दर ही चुकाए जाने का सम्बन्ध है, चलअर्थ का कोई विस्तार नहीं हुआ।[1]

१०. मुद्रा-स्फीति[2]। युद्ध के समय नोटों की संख्या अत्यधिक बढ़ जाने के कारण देश में मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो गई। मूल्यस्तर का पेच ऊपर ही ऊपर घूमता गया। चलअर्थ में वृद्धि मूल्यों को बढ़ाने का कारण भी है, और परिणाम भी है, एक बार स्फीति की प्रक्रिया आरम्भ होने पर वह स्वयं ही बढ़ती जाती है। जितना ही अधिक चलअर्थ बाजार में आएगा मूल्य बढ़ते चले जाएंगे। मूल्य बढ़ते जाने से उतने ही परि-

१. किसी देश को स्टर्लिंग ऋण चुकाये जाने के सम्बन्ध में भारत के सार्वजनिक ऋण वाले अध्याय में उपयुक्त धारा को देखो। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारत में स्टर्लिंग साधनों के एकत्रित हो जाने से उसका स्टर्लिंगऋण, जो १९३८-३९ में ४६९ करोड़ था, घटकर १९४५–४६ के अन्त में कुल ३७·४ करोड़ ही रह गया। इस परिमाण में अंगरेज बैंकरों का ऋण चुका दिया गया। इस ऋण में से कुछ को जनता को रुपये की प्रतिभूतियां देकर देश के अंदर ऋण लेकर भारतीय बैंकरों के नाम बदल दिया गया। कुछ रिजर्व बैंक ने ले लिये। इसीलिए बैंक के पास रुपये की प्रतिभूतियों की संख्या बढ़ गई।

२. स्फीति की समस्या पर मूल्यों के अध्याय में अधिक पूर्णता से विचार किया गया है।

माण में माल मोल लेने के लिए अधिक चलअर्थ की आवश्यकता पड़ती है तथा चलअर्थ मूल्यों को और ऊपर को चढ़ाता है और इस प्रकार स्फीति का पेचदार कार्य अस्तित्व में आता है। आरम्भिक धक्का साधारणतः आता ही है और भारत में वह चलअर्थ के विस्तार द्वारा आया।

आरम्भ में, सरकारी पक्ष में भारत ने मुद्रा-स्फीति के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया। किन्तु भारतीय अर्थशास्त्रियों ने इस दृष्टिकोण का मुकाबला करने के लिए चेतावनी दी। उस समय प्रोफेसर वकील ने लिखा था कि "लन्दन में प्राप्त किये हुए स्टर्लिंग के विरुद्ध भारत में नोट निकालने का यह कार्य उसी प्रकार का है, जैसे आवश्यकता वाली सरकार द्वारा कागजी मुद्रा छापकर कृत्रिम क्रय-शक्ति का निर्माण करना, जैसा कि कई देशों ने गत युद्ध में किया भी था।[1] यह मुद्रा-स्फीति थी, क्योंकि मुद्रा-स्फीति उस स्थिति के अतिरिक्त और कुछ नहीं जबकि साथ ही साथ उत्पादन में वृद्धि हुए बिना चलअर्थ का परिमाण बढ़ता जाता है।"[2] भारत में यही हुआ। आजकल की दृष्टि से स्टर्लिंग प्रतिभूतियों का लंदन में रखा जाना पूर्णतया असंगत था।

यूनाइटेड किंगडम तथा अमरीका ने मुद्रा-स्फीति से बचने का पूर्ण प्रयत्न किया। जुलाई १९३९ की तुलना में १९४६ के अंत तक, जबकि भारत में मूल्य १८० प्रतिशत बढ़े, ब्रिटेन में वह केवल ७३ प्रतिशत और अमरीका में केवल ४३ प्रतिशत ही बढ़े।

नोटों तथा थोक मूल्यों के सूचनांकों की निम्नलिखित तालिका से प्रकट है कि ब्रिटेन तथा अमरीका की अपेक्षा भारत में मूल्य कितने अधिक बढ़े[3] :

(जुलाई १९३९ = १००)

वर्ष	भारत		ब्रिटेन		अमरीका	
	नोट	मूल्य	नोट	मूल्य	नोट	मूल्य
१९४० की प्रथम तिमाही	१३२	१२५	१०४	३०१	१०८	१०५
१९४१ की प्रथम तिमाही	१३६	१२०	११८	१५२	१३३	१०८
१९४२ की प्रथम तिमाही	२०४	१५४	१४७	१६१	१८७	१२८
१९४३ की प्रथम तिमाही	३५६	२३८	१८०	१६५	२७७	१३६
१९४४ की प्रथम तिमाही	५०५	२९८	२१२	१६७	३८२	१३८
१९४५ की प्रथम तिमाही	६१३	३०१	२४०	१७०	४९१	१३९
१९४६ की प्रथम तिमाही	७०५	२९५	२६०	१७५	५३१	---

११. भारतीय चलअर्थ प्रणाली की विचित्रताएं। भारतीय चलअर्थ प्रणाली की हमने संक्षिप्त रूप में जांच कर ली है, और इस जांच से इस प्रणाली की कुछ विचित्रताओं का पता लगा है।

(१) हमारे यहां मुद्रा का कोई मान (Standard) नहीं है और उसमें कोई बाह्य नमूना अथवा नाप नहीं है जिससे मूल्य के परिवर्तनों अथवा राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में प्रगति का स्पष्ट रूपसे वर्णन किया जा सके।" रुपया प्रामाणिक सिक्का नहीं है। इसको पौण्ड स्टर्लिंग की भिन्न के रूप में अर्थ-व्यवस्था में प्रकट किया जाता है। उसकी स्थिरता की एकमात्र गारंटी रिजर्व बैंक का रुपये-स्टर्लिंग दरको बनाए रखने का उत्तरदायित्व है। किंतु पौण्ड-स्टर्लिंग का मूल्य भी उतार-चढ़ाव का विषय है। इसलिए विनिमय की

1. C.N. Vakil--Financial Burden of the War on India, p. 72.
2. Ibid, p. 58.
3. See Reserve Bank Report, op. cit. (1945-46). p. 5.

स्थिरता भारतीय चलअर्थ प्रणाली की स्थिरता की वास्तव में कोई गारंटी नहीं है। तो भी संसार की अधिकांश चलअर्थ प्रणालियों के विषय में यह सत्य ह, किन्तु अन्य देशों में पिछले स्तर अथवा मान पर लौट जाने की मनोवृत्ति है, भले ही वह कितना ही असम्भव क्यों न दिखलाई दे। किन्तु हम इस प्रकार के किसी उद्देश्य के लिए काम नहीं कर रहे हैं। रुपये को उसका गत शताब्दि का स्थान फिर वापिस दिलाने के लिए उसे स्टर्लिंग की अधीनता से मुक्त करना होगा। अब हमारे देश के लिए एक साहूकार-देश होने के कारण उस उद्देश्य को प्राप्त करना कठिन नहीं है। हमारा अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाने से यह छुटकारा न्यूनाधिक मात्रा में हो भी चुका है।

(२) चांदी के मूल्य में असाधारण वृद्धि होनेके कारण उससे रुपये अथवा रेजगारी बनाकर लाभ प्राप्त करने की कोई संभावना नहीं है।

(३) रुपये में गत वर्षों में लगातार खोट मिलाये जाने के कारण वह बहुत-कुछ कागजी चलअर्थ के जैसा बन गया है। यद्यपि भावनात्मक कारणों से रुपये के सिक्के संभवतः चलते ही रहेंगे। देश में बैंकिंग प्रवृत्ति का विकास होने पर कुछ समय में धातु चलअर्थ का स्थान नोट ले सकते हैं और ऐसी दशा में धातु मुद्रा के उपयोग और भारी परिमाण में धातु-निधि रखने के खर्चे से बचा जा सकेगा।

(४) ऐसा कोई स्थिर मान नहीं है, जिसकी तुलना में करेंसी नोटों को प्रकट किया जा सके। इसके अतिरिक्त दो भारी कठिनाइयां हैं: (क) यद्यपि नोट असीमित रूप में विधिग्राह्य हैं, किन्तु उनको चांदी या सोने में नहीं बदला जा सकता, केवल विधि-ग्राह्य रूप में बदला जा सकता है, (ख) दूसरी कठिनाई है "स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में बदले जानेके लिए करेंसी नोटों की स्टर्लिंग की अधीनता।" पौण्ड-स्टर्लिंग में उतारचढ़ाव की संभावना एक निर्बलता है। जिस मात्रा में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों को असली रूप नहीं दिया जा सकता, उसी मात्रा में उनके आधार वाले नोटों को भी नहीं बदला जा सकता।

(५) व्यापार में परिवर्तन होने अथवा बढ़ती हुई अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं की पूर्ति के फलस्वरूप भारतीय चलअर्थ प्रणाली स्वयंचलित, संकोचन या विस्तार होने योग्य नहीं है। रुपया एक बार बाजार में जाने पर कभी-कभी वापिस तब लौटता है, जब उस की आवश्यकता निकल जाती है। उनको संग्रह करके रखा जाता है। फिर जब नये रुपयों की आवश्यकता पड़ती है तो उनको टकसाल से ही लाया जाता है। इससे देश के साधनों पर भारी बोझ पड़ता है और इस उद्देश्यके लिए जो भारी मात्रा में चांदी मोल लेनी पड़ती है, वह देशके व्यापारिक संतुलन को बिगाड़ देती है। नोटोंके निकालने में भी लोच नहीं है, क्योंकि उनके लिए सुरक्षा निधि रखनी पड़ती है। "जब तक सुरक्षा निधि की व्यवस्था आजके समान कड़ी बनी रहेगी और उस पर स्टर्लिंग प्रतिभूतियों का प्रभुत्व रहेगा, और जब तक देश की अर्थव्यवस्था के सक्रिय रूप के साथ, विशेषकर घरेलू तथा विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में निकट सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जाता, कागजी मुद्रा देश की अर्थ-नीति में, तब तक पूर्ण-सेवा करने योग्य नहीं बन सकेगी।"

(६) चलन में आने वाली सभी प्रकार की मुद्रा के समग्र मूल्य और संपूर्ण राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के बीच सहयोग नहीं है। हमारे देश में 'अमानत चलअर्थ' बहुत कम है, जिसका प्रत्येक आधुनिक व्यापारिक देश अधिकाधिक विकास करता है।.... बाजार में चलने वाली मुद्रा के समस्त परिमाण.....और देशकी आर्थिक आवश्यकता.... उसकी उत्पादन योग्य क्षमता अथवा वितरण की आवश्यकताओंके बीच कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है।

उन्तीसवाँ अध्याय

चलअर्थ तथा विनिमय की मुख्य समस्याएं

१. भारत के चलअर्थ की मुख्य समस्याओं का सम्बन्ध मान (Standard) की समस्या, अनुपात (Ratio) की समस्या, स्टर्लिंग शेष की समस्या और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्बन्धी सहयोग की समस्या से है। इनमें से प्रत्येक समस्या पर नीचे एक-एक करके विचार किया जायगा।

२. मान की समस्या। इस विषय में भारत को निम्नलिखित में से किसी एक का चयन करना है—

१. स्टर्लिंग विनिमय मान को बनाए रखना।
२. डालर विनिमय मान को अपना लेना।
३. स्वर्ण मान को चलाना।
४. रुपये को किसी कानूनी सम्बन्ध से स्वतंत्र रखना।

स्टर्लिंग के सम्बन्ध को पसन्द करने वालों का कहना है कि स्टर्लिंग भारत के निर्यातों का भुगतान करने के लिए अन्तिम साधन के रूप में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह हो सकता है कि अंतर्राष्ट्रीय चलअर्थ सहयोग की योजना चलते रहने पर भी स्टर्लिंग क्षेत्र संसार के एक बड़े भाग में बना रहे और ऐसी दशा में स्टर्लिंग का सम्बन्ध इस क्षेत्र के साथ भारत को व्यापारिक सुविधा दिलाने का साधन होगा।

दूसरी ओर स्टर्लिंग मान के विरोधियों का विरोध अधिकतर इस कारण है कि "उनको भय है कि ब्रिटेन के आर्थिक सम्बन्ध स्टर्लिंग शेष का पूर्ण तथा स्वतन्त्र उपयोग किये जाने में बाधक होंगे। अर्थात् उनको भय है कि स्टर्लिंग बहुपक्षीय विनिमयों के लिए सुरक्षित आधार नहीं होगा। उनको यह भी भय है कि युद्धोत्तर काल में मुद्रा-स्फीति के कारण स्टर्लिंग का मूल्य वस्तुओं की अपेक्षा घट जायगा।"[1]

यह भी कहा जाता है कि स्टर्लिंग से भूतकाल में जो लाभ होते थे, वह अब नहीं होते, न ही अब उन कारणों का अस्तित्व है, जिनके कारण इंग्लैंड स्टर्लिंग-सम्बन्ध पर बल दिया करता था। हमारा स्टर्लिंग ऋण व्यावहारिक रूप से समाप्त हो चुका है। भारत की कुछ ब्रिटिश सम्पत्ति भी भारतीयों के हाथ से हस्तान्तरित कर दी गई है। भारत की ओर से ब्रिटेन में 'घरेलू व्ययों' के नाम से किये जाने वाले खर्चे समाप्त हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त, ब्रिटेन आज एक ऋणग्रस्त राज्य है और विनिमय की स्थिरता के लिए अपना बकाया रखने के लिए सर्वोत्तम स्थान नहीं है। इंग्लैंड अपनी ओर से स्टर्लिंग को स्वतन्त्र रखना चाहता है और ब्रिटेन तथा अमरीका के तुलनात्मक मूल्यों तथा लागत पर ध्यान देने से इस बात की संभावना दिखलाई देती है कि डालर की तुलना में स्टर्लिंग-मूल्य घटेगा। इस प्रकार स्टर्लिंग-सम्बन्ध रुपये को ब्रिटेन की चलअर्थ नीति की दया पर छोड़ देगा और ऐसा करते समय वह भारत की आवश्यकता पर लेशमात्र भी ध्यान नहीं देगा। उदाहरणार्थ, जब इंग्लैंड को १९४९ में स्टर्लिंग का मूल्य घटाना पड़ा तो भारत को भी उसका अनुकरण करना पड़ा।

---

1. Gregory---Indian Currency (Kitabistan) p. 10.

तो भी, अंतिम रूप में स्टर्लिंग सम्बन्ध से होने वाला लाभ स्टर्लिंग क्षत्र के विस्तार और उस क्षेत्र के साथ हमारे व्यापार पर निर्भर है।

हमारे अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोप में सम्मिलित हो जाने के कारण हमारे चलअर्थ के संबंध में एक नया विकास हुआ है। उसके साथ ही साथ हमारा स्टर्लिग के साथ सम्बन्ध निर्बल तथा महत्वहीन हो गया है। अब हमको अपने मान को स्टर्लिंग विनिमय मान कहना उचित नहीं है। स्टर्लिंग सम्बन्ध से हमको अतीत काल में लाभ नहीं हुआ। इसने हमको स्वतन्त्र चलअर्थ नीति अपनाने से रोका। देश में मुद्रा-स्फीति भी इसी के कारण हुई। किन्तु अपनी स्वतंत्रता की घोपणा कर देने पर भी ब्रिटेन के साथ हमारे व्यापारिक तथा राजनीतिक सम्बन्ध अब भी अत्यन्त घनिष्ठ हैं तथा व्यापक हैं। अतएव, इस बात का विचार करते हुए रुपये का व्यावहारिक रूप में किसी भी प्रकार कुछ समय तक स्टर्लिंग के साथ घनिष्ट सम्बन्ध बना रहेगा।

३. डालर मान। कुछ लोगों का प्रस्ताव है कि भारत में डालर मान रखा जाय। उसके पक्ष में अनेक युक्तियां दी जा सकती हैं। प्रथम यह कि डालर का अत्यधिक सम्मान है। अमरीका युद्ध के बाद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अकेली आर्थिक इकाई के रूप में बन गया है। किन्तु डालर-मान अपनाने के लिए हमको डालर सुरक्षा कोप बनाना होगा। यह या तो ऋण लेकर किया जा सकता है अथवा अमरीका में अपनी निर्यात की बचत के भारी परिमाण को रखकर किया जा सकता है। एक तीसरा उपाय है ब्रिटेन को इस बात के लिए तैयार करना कि वह हमारे स्टर्लिंग शेष के कुछ भाग को डालरों में बदल दे। यह संभव नहीं है कि भारत अमरीका के साथ ऋण लेने की बातचीत को सफल बना सके। क्योंकि अमरीका से ऋण मांगने वालों की संख्या बहुत बड़ी है और उनमें ब्रिटेन तथा पश्चिमी योरोप के देश भी हैं। अपने निर्यात की बचत से डालर को सुरक्षित निधि बनाना भी कठिन है। साधारण समय में हम अमरीका को बहुत कम दे सकते हैं। जहां तक स्टर्लिंग-शेष को डालरों में बदल देने का प्रश्न है, यदि इस प्रकार का सौदा बड़े परिमाण में किया गया तो "संभवतः इसको पूंजी का सौदा समझा जायगा, अतएव इस पर ब्रिटेन द्वारा नियंत्रण लगाया जा सकेगा।"[1] यदि किसी प्रकार एक सुरक्षा निधि बना भी ली गई तो डालर के साथ रुपये को बांधने से हमारे आर्थिक जीवन में भारी अस्थिरता आ जायगी, क्योंकि अमरीका के आर्थिक कार्यकलाप अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र में झूलते रहते हैं। मूल उत्पादनों के निर्यातक के रूप में, जिनके मूल्य में प्रायः भारी उतार-चढ़ाव होता रहता है, भारत के आर्थिक जीवन में पहले से ही अस्थिरता है। डालर के साथ सम्बन्ध हो जाने से यह अस्थिरता और भी बढ़ेगी, क्योंकि इसमें दोनों देशों के "मूल्य तथा लागत की रचनाओं" (मूल्यों तथा लागतों के सापेक्ष सम्बन्धों) में सम्बन्ध बना रहेगा।

४. स्वर्ण मान। स्वर्ण मान के पक्ष में मामला भूतकाल की अपेक्षा आज इतना प्रबल नहीं है। निःसंदेह, अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक कोष[२] में सोना महत्त्वपूर्ण कार्य करेगा। यह संभावना नहीं है कि अनेक देश स्वर्ण-मान को अपना लेंगे। यदि रुपयों का स्वर्ण के साथ सम्बन्ध कर दिया गया तो जिन देशों का चलअर्थ सोने का होगा अर्थात् स्टर्लिंग होगा, उनके साथ उतार-चढ़ाव के सम्बन्ध स्थापित हो जायंगे। इसके अतिरिक्त, भारत के पास असीमित परिमाण में स्वर्ण बेचकर अपने निश्चय के औचित्य को प्रगट करनेके लिए—जो कि स्वर्ण-मान में आवश्यक है—स्वर्ण का पर्याप्त भंडार भी नहीं होगा।

---

1. Gregory---Indian Currency. p.11.
२. आगामी अनुच्छेद को देखो।

५. स्वतन्त्र रुपया। अंतिम प्रस्ताव है कि रुपये को किसी भी विशेष सम्बन्ध से स्वतंत्र रखा जाय। इसका अभिप्राय है कि रुपये को बाजार की शक्तियों के बीच में अपना मूल्य खोजने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय। इस नीति के अनेक लाभ बतलाए जाते हैं। इसके पक्ष में सबसे प्रबल युक्ति यह है कि उससे भारत अपनी विनिमय दर में परिवर्तन करके बाह्य संसार में होने वाले मूल्य परिवर्तनों के प्रभावों को तटस्थ बना सकता है। इससे हमारे घर के मूल्य तथा लागतों में कोई बाधा नहीं आएगी। उदाहरणार्थ, भारी मंदी के दिनों में यदि हम स्टर्लिंग के साथ बंधे न होकर अपनी विनिमय दर में परिवर्तन करने के लिए स्वतंत्र होते तो भारत रुपये के बाह्य मूल्य को कम करके इस देश में मूल्यों के अत्यधिक गिरने को रोक सकता था।

स्वतंत्र विनिमय से तभी लाभ होता है जब उसको कुछ गिने-चुने देशों ने ही अपनाया हो। अन्यथा यह खतरा बना रहता है कि देश अपने-अपने विनिमय का मूल्य घटाने में एक दूसरे के साथ प्रतिस्पर्द्धा किया करते हैं, जैसा कि भारी मंदी के समय यही अनुभव करने में आया था। इस प्रकार की नीति अपनाने का फल व्यापारिक बाधाओं को तेज करना होता है, जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार रुक जाता है। अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक कोष (I.M.F.) के नियमों द्वारा चलअर्थ की दर में भारी परिवर्तन नहीं किये जा सकते और भारत उक्त कोष का सदस्य होने के नाते उन नियमों का पालन करने के लिए बाध्य है।

तो भी, किसी एक कानूनी सम्बन्ध के न होने का यह अर्थ नहीं है कि रुपये को बाजार की अनियंत्रित शक्तियों के ऊपर छोड़ दिया जाय। यह हो सकता है कि रुपये का कानून के अनुसार सोने अथवा किसी अन्य चलअर्थ के साथ बन्धन न हो, किन्तु इस प्रकार के बन्धन को तथ्य के अनुसार रखा जा सकता है। उदाहरणार्थ, भारत स्वर्ण का असामित परिमाण बेचने के किसी कानूनी उत्तरदायित्व को उठाये बिना भी स्वर्ण के साथ सम्बन्ध रख सकता है। इस प्रकार की स्थिरता व्यवहार में नियमित स्वर्ण-मान के समान ही प्रभावशाली हो सकती है। इस प्रणाली में विनिमय के परिवर्तनों को स्वीकार करना पड़ता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इस प्रकार के परिवर्तन वास्तव में बारंबार आते रहेंगे। उसी प्रकार का तथ्यानुसार सम्बन्ध स्टर्लिंग अथवा डालर के साथ उसको अपने ऊपर कानूनी तौर से अनिवार्य न बनाते हुए भी रखा जा सकता है। आजकल हमारी स्टर्लिंग के साथ तथ्यानुसार (de fecto) सम्बन्ध बना हुआ है।

६. अनुपात की समस्या। भारत में अनुपात की समस्या के सम्बन्ध में सदा ही एक विवाद बना रहा है, किन्तु १९३९ से यह विवाद लगभग दब-सा गया है। अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक कोष (I.M.F.) के एक सदस्य के रूप में हमने अपना आरंभिक अनुपात १ शिलिंग ६ पेंस रखा हुआ है। क्या यह ठीक निर्णय है?

ठीक अनुपात का प्रमाण यह है कि लागत तथा मूल्यों के बीच अनुरूपता हो। "विनिमय की दर विभिन्न देशोंके बीच में किसी एक समय रहने वाले मूल्यों के स्तर, भुगतानों के संतुलन, आर्थिक विकास की प्रवृत्ति आदि के सम्बन्ध का सूचनांक है।" सभी प्रासंगिक बातों पर विचार करते हुए यह दिखलाई देता है कि १ शिलिंग ६ पेंस इस प्रकार के सम्बन्धों का ठीक-ठीक सूचक है। यह भारत में वर्तमान आर्थिक दशाओं की समरूपता के बाहर नहीं जान पड़ता।

भारत मे मूल्य बहुत ऊंचे हैं और हम मूल्यों को और अधिक ऊपर चढ़ाए बिना इस उच्च अनुपात को नीचा नहीं कर सकते। इसी प्रकार हमें उच्च अनुपात को बनाए

रखना चाहिये क्योंकि उससे आयात सस्ते हो जाते हैं और हम पूंजीगत माल तथा आवश्यक उपभोक्ता माल का आयात करना चाहते हैं। कुछ समय के लिए हम अपने निर्यातों की अपेक्षा आयात अधिक करना चाहते हैं।

आर्थिक प्रणाली में समन्वयहीनता को ठीक करने के लिए, अथवा अनुकूल व्यापारिक स्थिति बनाने के लिए, अथवा विदेशों से अपने व्यापार की रक्षा करने के लिए अनुपात में एक परिवर्तन आवश्यक होता है। वर्तमान में ऐसा कोई गलत समन्वय नहीं किया गया कि जिसको हमें ठीक करना हो, और अन्य दो उद्देश्यों के लिए स्वतंत्र तथा एकाकी कार्य की अपेक्षा मुद्रा सम्बन्धी सहयोग आवश्यक है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य के रूप में हम ऐसा कोई भी एकपक्षीय कार्य नहीं कर सकते। इसलिये सब मिलाकर १ शिलिंग ६ पेंस पर टिके रहने का निर्णय बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय है। यदि किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता हुई तो कोष के नियमों के अनुसार १० से २० प्रतिशत की भिन्नता को ठीक कर लेने की उसम अनुमति दी गयी है। जब संसार भर में आर्थिक दशा तथा मूल्य स्तर प्रायः ठीक हो जायगें तो समस्त स्थिति पर फिर से विचार किया जायगा।

सितम्बर १९४९ में स्टर्लिंग के अवमूल्यन के अवसर पर यह प्रस्ताव किया गया था कि रुपये का मूल्य स्टर्लिंग की तुलना में घटाया जाय अर्थात् उसके विनिमय मूल्य को १ शिलिंग ६ पेंस से घटाकर १ शिलिंग ४ पेंस कर दिया जाय। हमारे भूतपूर्व व्यापार मंत्री श्री सी० एच० भाबा ने कहा था कि रुपये का स्टर्लिंग की तुलना में मूल्य कम करने का यह अत्यधिक उपयुक्त समय है, किन्तु हम इस प्रस्ताव के निश्चयात्मक रूप से विरोधी हैं। इसमें संदेह नहीं कि भारत का व्यापारिक संतुलन अनुकूल नहीं है और अवमूल्यन के कारण निर्यात बढ़ने से यह प्रतिकूलता कुछ कम हो सकती है, किन्तु अवमूल्यन से स्थायी लाभ नहीं हुआ करता। हमारी आवश्यकता है देश का शीघ्रतापूर्वक आर्थिक विकास—और वह भी औद्योगिक तथा कृषि सम्बन्धी दोनों ही प्रकार का होना चाहिए; जिससे हम अपनी आवश्यकता का समस्त अन्न उत्पन्न कर सकें और औद्योगिक माल का इतना अधिक उत्पादन कर सकें कि उससे न केवल हमारे घर का काम चल जाय, वरन् हम उसका विदेशों में भी निर्यात कर सकें। यह सब-कुछ अवमूल्यन की जादू की छड़ी को घुमा देने से नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो इस चालाकी से कभी का लाभ निकाल लिया गया होता।

आजकल हम विदेशों से बड़ी भारी मात्रा में खाद्यान्नों को मोल ले रहे हैं। हमको पूंजीगत माल भी मोल लेना पड़ता है। विनिमय दर को अल्प कर देने से हमें यह सब माल अधिक महंगा लेना पड़ेगा। अतएव वर्तमान स्थिति में यह उच्च अनुपात ही हमारे लिए ठीक है।

इसके अतिरिक्त अनुपात नीचा होने का अर्थ होगा मूल्यों का और चढ़ जाना। हमारे देश में पहले से ही मुद्रास्फीति का दोष उपस्थित है। अनुपात को नीचा करके इस मुद्रास्फीति को और बढ़ाना उचित नहीं है।

ऐसी परिस्थितियों में हम रुपये के वर्तमान अनुपात पर ही जमे रहना पसंद करेंगे।

७. स्टर्लिंग राशि। स्टर्लिंग संचय ने युद्धकाल में अत्यधिक ध्यान आकर्षित किया। किन्तु कागजी चलअर्थ सुरक्षा निधि के भाग के रूप में भारत का कुछ स्टर्लिंग लंदन में सदा ही बना रहता था। युद्ध से ठीक पूर्व इस प्रकार की स्टर्लिंग राशि लंदन में ४ करोड़ **८० लाख पौण्ड (अथवा ६४ करोड़ रुपये) की थी। तो भी, युद्धकाल में लंदन में स्टर्लिंग**

का जमा हो जाना एक कौतुक की बात थी। १९४५-४६ में यह स्टर्लिंग राशि १,७३३ करोड़ रुपये जैसी उच्च संस्था तक पहुंच गई।

इस प्रकार स्टर्लिंग एकत्रित होने का प्रधान साधन था ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत सरकार को उस स्टर्लिंग की वापिसी, जो ब्रिटिश सरकार तथा उसके मित्र-राष्ट्रों की ओर से स्टोर तथा अन्य सामग्री क्रय करने तथा कुछ अन्य खर्चों में भारत को करने होते थे। रिजर्व बैंक अधिनियम की एक धारा के अनुसार बैंक को असीमित मात्रा में स्टर्लिंग मोल लेने का उत्तरदायित्व सहन करना पड़ता था। इस प्रकार के माल का मूल्य चुकाने में उस धारा का उपयोग किया गया। वास्तव में इस धारा को बनाते समय उसका इस प्रकार के उद्देश्य के लिए उपयोग करने की कोई कल्पना नहीं थी। ब्रिटिश सरकार, जो भुगतान स्टर्लिंग के रूप में करती थी, उनको भारत सरकार रुपये के बदले में रिजर्व बैंक को दे देती थी। अब वह रिजर्व बैंक की संपत्ति है और उनको बैंक आव् इंग्लैंड के पास विनियोजित अथवा जमा कर दिया गया है। उनको देनदारियों के विरुद्ध सम्पत्ति के रूप में रिजर्व बैंक ने कुछ निकास-विभाग में और कुछ बैंकिंग विभाग में रखा हुआ है।

किन्तु स्टर्लिंग के अन्य साधन भी थे---(क) भारतीयों की डालर तथा अन्य गैर-स्टर्लिंग सम्पत्तियों को अनिवार्य रूप से कब्जा करके उन्हें 'साम्राज्य डालर कोष' में जमा कर दिया गया था। (ख) सामान्य व्यापारिक संतुलन द्वारा कमाए हुए वार्षिक डालर तथा भारत में अमरीकन सेनाओं के खर्चे के परिणामस्वरूप मिलनेवाले डालर; इन्हें भी ले लिया गया और साम्राज्य डालर कोष में जमा कर दिया गया। (ग) भारत के विदेशी हिसाब का वार्षिक संतुलन; (घ) ब्रिटिश सरकार द्वारा सीधे मोल लिये हुए खाद्य तथा अन्य सामग्री का मूल्य, और (न) ब्रिटेन द्वारा रक्षा-व्यय योजना[1] के अधीन किया हुआ खर्च।

स्टर्लिंग राशि वह ऋण है जो ब्रिटेन ने अपने खर्च के लिये भारत से लिया है। इस में से अधिकांश 'जबर्दस्ती लादा हुआ ऋण' था और यह युद्ध के खर्चे की मुद्रास्फीति प्रणाली तथा भारत में डालर साधनों पर अनिवार्य रूप से कब्जा करने के कारण बन गया था। ब्रिटिश लोकमत इसको ऋण मानने में संकोच करता रहा है। भारत का दृष्टिकोण यह है कि यह स्टर्लिंग भारतीय जनता द्वारा कष्टपूर्वक एकत्रित की हुई बचत है, और उसको भारत के आर्थिक जीवन का पुनर्निर्माण करने की दृष्टि से पाई-पाई चुकता करना चाहिए।

ब्रिटिश लोकमत खुले आम स्टर्लिंग ऋण से इंकार नहीं करता, किन्तु संभवतः इसमें पर्याप्त कमी कराने का मार्ग साफ करने के उद्देश्य से समाचार-पत्रों में आंदोलन किया गया था। अमरीका भी इस स्टर्लिंग राशि में कुछ कमी कराने के पक्ष में था। यह युक्ति दी गई कि युद्ध व्यय के विभाजन से भारत सस्ता ही छूट गया, अन्यथा ऐसी बात कभी देखने में नहीं आई कि एक निर्धन देश रात भर के अंदर-अंदर एक ऋणदाता साहूकारा-देश बन जाय। यह भी कहा गया कि भारत द्वारा दिये हुए माल का मूल्य भी मुद्रास्फीति की दृष्टि से ही लगाया गया था। वैसे भारत ने मित्र-राष्ट्रों के साथ-साथ एक साझे शत्रु को पराजित करने में त्याग किया और उसका मूल्य लेने का दावा नहीं कर सकता था।

किन्तु तथ्य यह है कि भारत ने युद्ध का अपना भाग पूर्णतया उठाया, जो उसकी आय तथा साधनों के अनुपात से कहीं अधिक था। यह सिद्ध कर दिया गया कि माल नियंत्रित मूल्यों पर दिया गया था, जो बहुत ही कम थे। भारत को बलि का बकरा नहीं बनाया जा

१. विभिन्न साधनों द्वारा प्राप्त किये स्टर्लिंग की रकम और उसके उपयोग के लिए अध्याय ३० की धारा ८ देखें।

सकता और उससे 'गधे के बोझ को' उठवाया नहीं जा सकता था। स्टर्लिंग सम्पत्ति के एकत्रित हो जाने का अभिप्राय था——समस्त भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर भारी बोझ। आन्तरिक उपभोग को स्थगित करके और कारखानों तथा मशीनों के पुर्जों को बिना बदले हुए उनसे शक्ति से अधिक काम लेकर तथा विकास योजनाओं को स्थगित करके इस बोझ को सहन किया गया था। भारतीय जनता को विजय प्राप्त करने के लिये अपनी जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं का भी बलिदान करना पड़ा। इस प्रकार स्टर्लिंग सम्पत्ति हमारे बलिदानों और कष्टों, हमारे रक्त तथा आंसू का प्रतीक है और हमको अपनी युद्ध-जर्जरित अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिये उसके पूर्णतया बेबाकी कराने का अधिकार है। ब्रिटिश सरकार के लिये यह श्रेय की बात है कि जब जून १९४८ में इस स्टर्लिंग राशि के तय करने की समझौता-वार्ता हुई तो उसने उसमें कमी करने का कोई प्रस्ताव नहीं किया और तब तत्कालीन अर्थमंत्री षण्मुखम चेट्टी यह घोषणा कर सके कि कम करने के भूत को अंतिम रूप से पछाड़ दिया गया है।

८. स्टर्लिंग सम्पत्ति का निपटारा। यह सिद्ध कर दिया गया कि हमारी स्टर्लिंग संपत्ति युद्धकालीन लाभ का रिणाम नहीं थी। वह हमारे ऊपर बलात् लादे गए त्याग का परिणाम था। भारतीत जनता के मूल बलिदानों तथा महान् कष्टों पर इसकी रचना की गई। अतएव उसको साधारण ऋण के समान चुकाया जाना चाहिए।

किन्तु हमको अपने ऋणी की दशा का भी ध्यान रखना है। ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति अत्यन्त भयंकर है। उसके समुद्र पार के पूंजी विनियोजन (Investments) सब समाप्त हो गए। उसकी जहाजी स्थिति भी बहुत कुछ ठप्प हो गई। उसको अपनी युद्ध-जर्जरित अर्थ-व्यवस्था का पुर्ननिर्माण करना है। विदेशी ऋण को माल तथा सेवा देकर ही समाप्त किया जा सकता है। अतएव ब्रिटेन अपने बकाया को अधिक निर्यात करके ही चुका सकता है और स्पष्ट रूप से इस प्रकार चुकाने में उसको समय लगेगा।

स्टर्लिंग बकाया को निम्नलिखित उपायों से चुकाया जा सकता है :

(१) ब्रिटेन से माल का आयात करके। किन्तु ब्रिटेन से ऐसे उपभोक्ता माल का आयात करना भारत के हित में नहीं है जो भारतीय उद्योग धन्धों के साथ प्रतियोगिता कर सके। हमको स्टर्लिंग साधनों का उपयोग मौलिक रूप से ऐसे पूंजीगत-माल को मोल लेने में करना चाहिए, जिसकी हमारी विकास योजनाओं में आवश्यकता हो।

(२) ब्रिटेन हमारी तात्कालिक आवश्यकता के माल की मांग को पूरा नहीं कर सकता। इसलिए हमारी स्टर्लिंग साम्पत्ति के एक भाग को अन्य देशों के चलअर्थों (विशेषकर डालर) में परिवर्तित कर लेना चाहिए, जिससे भारत सस्ते से सस्ते बाजारों से माल ले सके।

(३) भारत में ब्रिटिश व्यापारिक फर्मों पर उचित मूल्य देकर कब्जा कर लिया जाय।

(४) स्टर्लिंग बकाया का उपयोग निम्नलिखित कार्यों में भी किया जा सकता है : (क) भारत में सेवा करके निवृत्त होने वाले अंग्रेजों की पेंशनें देने में, (ख) ब्रिटेन की वायु-तथा नाविक कम्पनियों के हिस्सों को प्राप्त करने में (ग) रक्षा की सामग्री, उदाहरणार्थ—विमान, जहाज आदि को मोल लेने में, (घ) ब्रिटेन में तीनों सैनिक सेवाओं, यांत्रिक संस्थाओं तथा विश्वविद्यालय की उच्च-शिक्षा सम्बन्धी विभिन्न संस्थाओं में भारतीयों को शिक्षा की सुविधाएं प्राप्त कराके।

९. **स्टर्लिंग समझौते**। पहले १९४७ के आरंभ में भारत तथा ब्रिटेन में स्टर्लिंग बकाया को तय करने के सम्बन्ध में एक समझौता-वार्ता हुई, किन्तु उसका कोई परिमाण नहीं निकला। अगस्त १९४७ में एक अन्तर्कालीन समझौता हो गया। यह भारत की छ:मास की आवश्यकता के लिये विदेशी विनिमय के सम्बन्ध में था। जनवरी १९४८ में इस समझौते को फिर छ: मास के लिये नया किया गया। १९४८ की प्रथम छमाही के लिये एक करोड़ पौण्ड (१३ करोड़ रुपये) के स्टर्लिंग भाग को विदेशी विनिमय में बदले जाने के लिये दिया गया। ६-६ मास के इन दो समझौतों से ८ करोड़ ३० लाख पौण्ड स्टर्लिंग मुक्त किया गया; किन्तु इसमें से केवल तीस लाख पौण्ड का ही उपयोग किया जा सका।

छ:-छ: मास के लिये स्टर्लिंग मुक्त कराने की व्यवस्था असंतोषजनक प्रमाणित हुई, क्योंकि उससे हमारी विदेशी विनिमय स्थिति में अनिश्चितता उत्पन्न होती थी और वह संतुलित आयात नीति में भी भारी बाधा पहुंचाती थी। यह आवश्यक था कि योजना-बद्ध आर्थिक विकास के लिये उचित समय में प्रबंध किया जाता। तदनुसार जून, १९४८ के समझौते द्वारा ब्रिटेन ने ३० जून, १९५१ को समाप्त होने वाले तीन वर्षों में आठ करोड़ पौण्ड (१०७ करोड़ रुपये) मुक्त करना स्वीकार किया। यह राशि १ जुलाई १९४८ को बैंक आव् इंग्लैंड ने हमारे खाते संख्या १ में पड़े बिना खर्चे बकाया में मिला कर सोलह करोड़ पौण्ड (२१३ करोड़ रुपये) हो जाती थी, और उसे हमारी इच्छा पर छोड़ दिया गया। जून १९४८ के समझौते के समय भारत के स्टर्लिंग बकाया की रकम लगभग १ अरब १६ करोड़ पौण्ड (१,५४७ करोड़ रुपये) थे। खाते संख्या १ में पहले ही आठ करोड़ पौण्ड होने के कारण १९४९ में उसमें और कोई रकम बदल कर नहीं डाली गई। किन्तु १९५० तथा १९५१ के प्रत्येक वर्ष में चार-चार करोड़ रुपये डाले जाने थे। इस समय तक भारत का ८ करोड़ तीस लाख पौण्ड स्टर्लिंग बकाया मुक्त हो चुका था। उसके अतिरिक्त भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I. M. F.) से १९४८ में अपनी चालू डालर कमी को पूरा करने के लिये एक करोड़ १० लाख पौण्ड उधार लिया था।

विश्व की अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करने वाली अनेक अनिश्चित बातों को साधारणतया तथा ब्रिटेन की स्थिति को विशेष रूप से दृष्टि में रखते हुए, बहुपक्षीय रूपान्तरण (Multilateral Convertibility) सम्बन्धी प्रबन्ध केवल एक वर्ष के लिए किया गया था और यह स्वीकार कर लिया गया था कि बहुपक्षीय रूपान्तरण को प्रथम वर्ष में डेढ़ करोड़ पौण्ड (२० करोड़ रुपये) तक सीमित कर दिया जाय। किन्तु इसका हमारी भारी आवश्यकता से कोई सम्बन्ध नहीं था। भारत सरकार ने ब्रिटेन से उसके उन सभी स्टोरों तथा कारखानों को ले लिया, जो उसने युद्ध के अन्त में भारत में छोड़ दिये थे। यह तय किय गया कि भारत उनका मूल्य १० करोड़ पौण्ड (१३३ करोड़ रुपये) दे।

भारत सरकार ने ब्रिटेन से भारत की नौकरी से अवकाश प्राप्त करने वाले ब्रिटिश अफसरों को दी जाने वाली पैंशनों की देनदारी को चुकाने के लिए आर्थिक रूप से आगे को कम होने वाले वार्षिक भत्ते के कागज मोल ले लिये। इन वार्षिक किश्तों का मूल्य केन्द्रीय पैंशनों के लिए १४७½ लाख पौण्ड (१९७ करोड़ रुपया) और भारत की राज्यों की पैंशनों के लिए २ करोड़ ५ लाख पौण्ड (२७ करोड़ रुपया) तय किया गया।

उपरोक्त मदों को मुजरा देने के बाद भारत का ब्रिटेन के ऊपर कुल पौंड-पावना लगभग ८० करोड़ पौण्ड (१,०६७ करोड़ रुपये) निकला। इसमें से लगभग २० करोड़ पौण्ड (२६७ करोड़ रुपये) सामान्य चलअर्थ सुरक्षा कोष समझा जा सकता है। इस

प्रकार भारत के उपयोग के लिए कुल बकाया लगभग ६० करोड़ पौण्ड (८०० करोड़ रुपये) उपलब्ध था। इस रुकी हुई बकाया रकम पर ·७५ प्रतिशत ब्याज भारत को मिलना था।

भारत इस बकाया रकम को पर्याप्त मात्रा में निकाल रहा है। १९४८–४९ के प्रथम दस मास में रिजर्व बैंक की स्टर्लिंग सम्पत्ति लगभग ५५६ करोड़ रुपये कम हो गई : (क) स्टर्लिंग की वार्षिक देनदारियों तथा रक्षा स्टोरों का भुगतान करने के लिये २८४ करोड़ रुपये; (ख) सभी मदों के सम्बन्ध में पाकिस्तान को देने के लिये १७७ करोड़ रुपये और (ग) चालू और पूंजी खाते में विपरीत संतुलन का भुगतान करने के लिये यह रकमें निकाली गईं।

१९४९ में एक नया समझौता किया गया, जो १९४८ के समझौते की अपेक्षा भारत के अधिक अनुकूल था। जुलाई १९४९ के इस समझौते की मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं :

(१) १९४८–४९ के जिस वर्ष के लिए १९४८ के समझौते में कोई रकम मुक्त करना स्वीकार नहीं किया गया था, आठ करोड़ १० लाख पौण्ड मुक्त करना स्वीकार किया गया।

(२) जून १९५० तथा १९५१ को समाप्त होने वाले १२ मास के समय के लिये वार्षिक मुक्त की जाने वाली रकम चार करोड़ पौण्ड को बढ़ाकर ५ करोड़ पौण्ड कर दिया गया।

(३) पूर्वोक्त समझौते में अनिर्दिष्ट कुछ और ऐसी रकम को भी मुक्त करना स्वीकार किया गया जो खुले साधारण लाइसेंस ११, (Open General Licence O. G. L. XI) के रद्द होने से पूर्व की देनदारियों को चुकाने के लिये पर्याप्त हो। इस लाइसेंस के अधीन अचानक ही बहुत बड़े परिमाण में आयात किये जा चुके थे। यह भारत तथा ब्रिटेन दोनों के ही हित में समझा गया कि इन आयातों को एकदम बन्द न किया जाए, अतएव, ब्रिटेन ने भारत के पक्ष में उतनी रकम को और भी मुक्त करना स्वीकार कर लिया, जो उसको इस मद में चुकानी थी।

(४) जहां तक १९४८ के समझौते द्वारा बहुपक्षीय रूपांतरण का सम्बन्ध था, भारत जुलाई १९४८ से लेकर जून १९४९ तक केन्द्रीय सुरक्षा निधि से 'दुर्लभ' चलअर्थ में डेढ़ करोड़ पौण्ड (६ करोड़ डालर) से अधिक नहीं निकाल सकता था। किन्तु १९४९ के समझौते के अनुसार भारत को केन्द्रीय सुरक्षा निधि से १४ करोड़ डालर से लेकर १५ करोड़ डालर तक निकालने का अधिकार मिल गया।

इस संबंध में नया समझौता दिसम्बर १९५० में किया गया था। उसमें इस बात की व्यवस्था की गई थी कि जुलाई १९५१ से आरंभ हुए छः वर्षों में से प्रत्येक में हमारे स्टर्लिंग बकाया में से साढ़े तीन लाख पौण्ड मुक्त किया जाया करेगा। यह भी तय किया गया कि यदि किसी रकम को किसी एक वर्ष में नहीं निकाला गया तो उसको आगे ले जाकर अगले समय में मुक्त होने वाली राशि में जोड़ दिया जा सकेगा। यदि भारत सरकार ने बाद के वर्षों में मुक्त होने वाली स्टर्लिंग राशि में से प्रति वर्ष ५० लाख पौण्ड से अधिक रकम मुक्त करने की आवश्यकता को अनुभव किया तो पारस्परिक परामर्श के बाद ऐसा किया जा सकेगा।

यह अत्यन्त खेद की बात है कि हमको युद्धोत्तरकालीन वर्षों में भी अपनी पूंजी पर निर्वाह करना पड़ रहा है। हमने स्टर्लिंग बकाया के रूप में अपनी युद्धकालीन बचत को

केवल खाद्यान्नों तथा अन्य उपभोग्य माल को मोल लेने में व्यय किया है। अच्छा हो कि यदि छः वर्ष के मुक्त बकाया को विभिन्न आर्थिक उन्नति की योजनाओं के द्वारा राष्ट्र की उत्पादक शक्ति का निर्माण करने में खर्च किया जाय।

१०. **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष**। (International Monetary Fund) १९४३ में ब्रिटेन, अमरीका तथा कैनाडा द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा योजनाएं बनाई गई। इन योजनाओं को मिला कर १९४४ की ग्रीष्म ऋतु में ब्रैटन वुड्स कांफ्रेंस (Brettan-woods Conference) में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा योजना बनाई गई। इसके परिणाम-स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना की गई।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की मुख्य विशेषताएं नीचे दी जाती हैं:

(१) सदस्य राष्ट्रों के चन्दे में से ८८ लाख डालर का मुद्राकोष बनाया गया है।

(२) प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को अपने-अपने निश्चित भाग के अनुसार अपना चंदा उसको देना चाहिऐ। अपने निर्दिष्टांश का २५ प्रतिशत भाग अथवा स्वर्ण भंडार का १० प्रतिशत, जो भी कम हो—सोने के रूप में देना चाहिए। शेष को स्थानीय चलअर्थ के रूप में चुकाया जा सकता है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के साधन स्वर्ण अथवा स्थानीय चलअर्थों के रूप में रखे जाते हैं। स्थानीय चलअर्थ सदस्य-राष्ट्रों के केन्द्रीय बैंकों में रखे जाते हैं।

(४) इस कोष का उद्देश्य है राष्ट्रीय चलअर्थों के बहुपक्षीय रूपांतरण द्वारा विनिमय की स्थिरता बढ़ाना, विनिमय के प्रतियोगात्मक अवमूल्यन को बचाना और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सुविधा उत्पन्न करना। सभी प्रकार के विनिमय प्रतिबंध तथा नियंत्रण, चलअर्थ के विभेदात्मक प्रबंध और चलअर्थ के अपवर्त्य कार्य (Multiple Practices), जिनकी कोष सम्पुष्टि न करे, अंतिम रूप से हटा दिये जायंगे। तो भी, परिवर्तन-काल में कुछ प्रतिबंधों की अनुमति दे दी गई।

कोष ने १९४९-५० की अपनी वार्षिक रिपोर्ट में अमरीका जैसे बचत वाले देशों से प्रार्थना की थी कि वह तटकरों (Tariffs) को कम करें और व्यापारिक विशेषों तथा आयातों को सीमित करने के अन्य उपायों को बंद कर दें। उसमें कहा गया था कि यह बचत वाले देशों के ही हित में है कि वह घाटे वाले देशों को अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के प्रबल तथा संतुलित आदर्श की पुनः स्थापना में सहायता दें।

(५) कोष का मुख्य कार्य यह है कि वह सदस्य-राष्ट्रों के चलअर्थों का एक-दूसरे के लिए क्रय तथा विक्रय करता है। तो भी, उसमें शर्त यह है कि किसी सदस्य-राष्ट्र के चलअर्थ का भंडार कोष में उसके निश्चित भाग से २०० प्रतिशत से अधिक न बढ़ने पाए।

(६) ऋणी राष्ट्रों को कोष से उधार भी मिल सकता है। वह उनके भाग के ७५ प्रतिशत के अतिरिक्त २५ प्रतिशत तक मिल सकता है। किन्तु वह उस देश के निश्चित भाग के २०० प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए। कोष चाहे तो इन शर्तों में ढील भी दे सकता है। इस प्रकार एक ऋणग्रस्त राष्ट्र इस कोष की सदस्यता से अपने स्वर्ण का निर्यात करके उसके परिणामस्वरूप होने वाले मुद्रा प्रसार से (जैसा कि स्वर्णमान में होता रहा है) बच सकता है।

(७) जिन ऋणदाता राष्ट्रों की निर्यात बचत अपने निश्चित भाग से ७५ प्रति-शत बढ़ जाती है, वह अपने चलअर्थों को दुर्लभ घोषित करेंगे। इस प्रकार के चलअर्थों का उनके इच्छुक राष्ट्रों में राशन किया जायगा। तो भी, अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष स्वर्ण को उधार अथवा मोल लेकर दुर्लभ चलअर्थों की पूर्ति को बढ़ा सकता है। यदि यह चलअर्थ

तब भी पर्याप्त मात्रा में न मिलें तो ऋणग्रस्त राष्ट्रों को अपने आयातों पर नियंत्रण लगाना चाहिए ।

(८) सदस्य-राष्ट्रों को अपने-अपने चलअर्थों की स्वर्ण के साथ समानता निश्चित कर देनी चाहिए । इन समानताओं में एक सर्वग्राही एक-सा परिवर्तन उन सदस्य-राष्ट्रों की सहमति से किया जा सकता है, जो अपने समस्त निश्चित भाग के १० प्रतिशत से अधिक व्यक्तिगत रूप से दें । अमरीका तथा ब्रिटेन इसी प्रकार के राष्ट्र हैं ।

(९) इसके अतिरिक्त सदस्य-राष्ट्र अपने चलअर्थों के विनिमय मूल्य में १० प्रतिशत तक परिवर्तन कर सकते हैं । कोष की सम्मति से १० प्रतिशत परिवर्तन और भी किया जा सकता है । इसके आगे परिवर्तन केवल मौलिक असमानता को दूर करने के लिये कोष की सहमति से ही किया जा सकता है ।

(१०) सदस्य-राष्ट्रों को कोष से लाभ उठाने सेरोकने तथा उनके स्वर्ण भंडार बनाने के लिये कोष को यह अधिकार है कि वह अपना स्वर्ण भंडार बढ़ाने वाले सदस्य से वर्ष के अन्त में यह कहे कि वह उस प्रकार के बढ़ाए हुए भंडार के आधे भाग से स्वयं अपने ही चलअर्थ को मोल ले लें ।

(११) कोष सदस्य-राष्ट्रों के भुगतान संतुलन में समानता वापिस लाने के लिये अभी आन्तरिक अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं कर सकता ।

(१२) सदस्य केवल एक पत्र द्वारा सूचना देकर कोष से पृथक् हो सकते हैं ।

(१३) कोष का प्रबन्ध बारह डाइरेक्टरों का एक कार्यकारी बोर्ड करता है । उसमें भारत, चीन, अमरीका, ब्रिटेन तथा फ्रांस में से प्रत्येक का एक-एक स्थायी स्थान है, दो स्थान लेटिन अमरीका के जनतन्त्रों को दिये जाते हैं, जब कि शेष पांच को मिर्वाचन द्वारा पूरा किया जाता है ।

कोष की यह मुख्य विशेषताएं हैं । यह ब्रिटेन तथा अमरीका की पिछली योजनाओं में एक समझौता है । यह देशों को कार्य करने की बड़ा भारी स्वतन्त्रता देता है और उनकी आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं करता । वास्तव में यह विनिमय को स्थिर करने वाले कोष की एक प्रणाली है, जिसका विकास व्यक्तिगत देशों ने अपकर्ष के वर्षों में किया । यद्यपि सोना अब अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों को तय करने में उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि वह स्वर्णमान में होता था, तब भी वह धातु अभी तक महत्वपूर्ण कार्य करती है । इस योजना से उसका कुछ थोड़े से देशों में एकत्रित हो जाना रुक जाता है, जैसा कि युद्ध के वर्षों में हुआ था ।

११. भारत और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष। आदर्श रूप में भारत को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा की किसी भी योजना को तब तक स्वीकार नहीं करना चाहिए, जब तक कुछ शर्तें पूरी न हो जांय । उन शर्तों को तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के अधीन उनको जिस परिमाण में पूरा किया जा सकता है, नीचे दिया जाता है—

(क) भारत को स्टर्लिंग के साथ अपना सम्बन्ध बदलने तथा अपनी आवश्यकता के अनुसार अपने विनिमय की दर बदलने की स्वतन्त्रता हो । कोष भारत के ऊपर स्टर्लिंग के चिपके रहने की कोई शर्त नहीं लादता । भारत स्वर्ण के साथ अपने समानता सम्बन्ध को निश्चित कर सकता है । कोष विनिमय दरों में परिवर्तन के लिये सहानुभूतिपूर्ण विचार की अनुमति देता है ।

(ख) युद्ध के बाद उसके स्टर्लिंग ऋण के व्यावहारिक रूप में अदृश्य हो जाने के कारण तथा उसके 'होम चार्जेज' में भावी कमी के कारण भारत को अनुकूल व्यापारिक

संतुलन की इतनी आवश्यकता नहीं होगी, जितनी भूतकाल में होती थीं। कोष को भारत को अपने आयात बढ़ाने की अपेक्षा निर्यात घटा कर अपने अन्तर्राष्ट्रीय हिसाब का संतुलन ठीक करने के लिये स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए। कोष के अपने सदस्यों की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था में हस्तक्षेप न करने के कारण इस विषय में भी स्वशासन की रक्षा की गई है।

(ग) भारत को अपने निज के औद्योगिक विकास के लिये अपनी आर्थिक नीति का उपयोग करने में स्वतन्त्र छोड़ दिया जाना चाहिए। इस विषय में भी कोष सदस्यों के स्वशासनाधिकार को स्वीकार करता है।

(घ) ब्रिटेन से बहुपक्षीय प्रणाली पर अपनी स्टर्लिंग सम्पत्ति को वापिस दिलाने में भारत को फंड का लाभ मिलना चाहिए। भारत के दृष्टिकोण से इस योजना में यह सब से निर्बल बात है। उसमें युद्धकालीन बकाया ऋणों का कोई उल्लेख नहीं था। इस प्रकार के मामलों का सम्बन्ध पक्षों की द्विपक्षीय वार्ता के लिये छोड़ दिया गया था। यह वार्तालाप भी पूर्णतया संतोषजनक रहा है।

(ङ) भारत को कोष के प्रबन्ध में स्थायी स्थान दिया जाना चाहिए। अब उसको वह स्थान मिल गया है। यद्यपि मूल योजना में इस बात की व्यवस्था नहीं थी। क्योंकि रूस कोष से बाहर रहा है इसलिये भारत को स्थाई स्थान मिल गया है।

ब्रैटनवुड्स कांफ्रेंस ने पुनर्निर्माण और विकास के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के लिये भी प्रस्ताव किया था। किसी देश को बैंक का एक पक्ष बनने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा फंड का सदस्य बनना होगा।

इस कोष में भारत का निश्चित भाग (Quota) ४० करोड़ डालर है। और एक वर्ष में (मार्च १९४८ से मार्च १९४९ तक) उसने कम से कम ९ करोड़ २० लाख डालर उधार लिये। यह अल्पकालीन सहायता है और इसका उपयोग चालू उद्देश्यों के लिए किया जाता है, मुख्य रूप से भुगतान के चालू बकाया की कमी को पूरा करने के लिए।

मार्च १९४९ में फंड के चालक क्रिया के निर्देशक (Director of Operation) श्री एच. एच. पार्सन्स् (Mr. H.H. Parsons) का एक प्रतिनिधि मंडल भारत आया था। वह इस संभावना की जांच करने आया था कि क्या भारत को डालर मोल लेने के अधिकार की स्वीकृति दी जाय। यह स्वीकार कर लिया गया कि भारत के मुद्रा लेने के वृहद कार्य असाधारण परिस्थितियों के परिणाम थे कि जो खाद्यान्नों की भारी आयात करने के कारण आवश्यक हो गये थे।

१२. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा संगठन में भाग लेने के लाभ। भारत को इन अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में क्यों भाग लेना चाहिए, इसके एक से अधिक कारण हैं।

भारत को अपने विकास के लिये पूंजी की बड़ी भारी मात्रा की आवश्यकता है। इसको वह अन्तर्राष्ट्रीय बैंक द्वारा दी हुई सुविधा से ही प्राप्त कर सकता है। साथ ही बैंक भारत को उसकी स्टर्लिंग संपत्ति की वापिसी में भी सहायता दे सकता है। भारत इस स्टर्लिंग सम्पत्ति को ऋण प्राप्त करने के लिये प्रतिभूतियों के रूप में दे सकता है। डाक्टर राव के शब्दों में "अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का संगठन भारत को उसके उस स्टर्लिंग बकाया के कम से कम एक भाग को वापिस दिलाने में अत्यधिक उपयोगी हो सकता है, जो युद्ध के ठीक बाद में दिवालिया जैसे हो गये थे, और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष में युद्धकालीन बकाया के सम्मिलित न किये जाने से भारत को जो असुविधा हुई थी, उसको उस मात्रा में

दूर किया जा सकता था ।"[1] यह तभी संभव होगा, "यदि ब्रिटेन के साथ यह प्रबन्ध कर लिया जाय कि भारत जो ऋण अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से प्राप्त करेगा, कोष द्वारा उस ऋण परिशोध की रकम को ब्रिटेन चुका देगा ।" इस प्रकार भारत अपनी आवश्यकता के अनुसार पूंजी तत्काल प्राप्त कर सकता है और इंग्लैंड का भी उस स्टर्लिंग बकाया को चुकाने का पर्याप्त समय मिल जायगा, क्योंकि कोष द्वारा ऋण-परिशोध का समय कम से कम बीस वर्ष का होगा ।"[2] भारत को प्रबन्धकारी बोर्ड में पहले ही स्थान मिल चुका है और यदि रूस कोष में आने का निर्णय भी करे तो भी भारत को उसमें बने रहना चाहिए।

भारत को अपनी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता को भी बनाये रहना चाहिए; प्रथम तो इस कारण कि वह कोष का सदस्य बने बिना बैंक का सदस्य नहीं बन सकता, दूसरे इसलिये कि उपभोक्ताओं की मांग के बढ़ते जाने तथा औद्योगिक उन्नति के लिये, पूंजीगत माल के आयात की आवश्यकता के कारण भारत का व्यापारिक संतुलन अभी कुछ समय तक उसके प्रतिकूल ही बना रहने की संभावना है । कोष की सदस्यता उसको भुगतान का संतुलन बनाये रखने में सहायता देगी । तीसरे, अन्य देशों द्वारा इन योजनाओं में सम्मिलित हो जाने के कारण भारत अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अकेला रह जाना पसन्द नहीं करता । उसको जहाजरानी तथा अन्तर्राष्ट्रीय निर्णयों को रूप देने में भाग लेना चाहिए और यदि वह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के उद्देश्य वाली योजनाओं से बाहर रहता है, तो वह ऐसा नहीं कर सकता । अतएव उसने इन योजनाओं में भाग लेकर अच्छा किया है ।

१३. अवमूल्यन (Devaluation) । युद्धोतर वर्षों में स्टर्लिंग क्षेत्र और विशेष कर ब्रिटेन की भुगतान की संतुलन की स्थिति डालर के सामने अत्यन्त शीघ्रता से घटती जा रही थी । यह समस्या एकदम नई नहीं है । सन् १९३१ के बाद से स्टर्लिंग क्षेत्र को डालर देशों के साथ व्यापारिक संतुलन बनाये रखना कठिन हो रहा था । यहां तक कि १९३८ में कुल घाटा १३ करोड़ पौंड का था, किंतु युद्धोत्तरकालीन वर्षों में डालर के साथ उसके सम्बन्ध में अत्यन्त भयानक घाटा होने लगा ।

डालरों के अभाव तथा उनके निरन्तर बढ़ते जाने के अनेक कारण थे । स्टर्लिंग क्षेत्र अमरीका से आने वाले माल पर अधिकाधिक निर्भर होता जारहा था, ब्रिटिश उत्पादनों की अधिक लागत उनके निर्यात के मार्ग में बाधा थी । स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर के बेलजियम तथा स्वीटजरलैंड जैसे देशों का डालर ऋण बराबर बढ़ता जाता था । अमरीका के व्यापारिक कार्यों तथा माल के मूल्यों के बढ़ते जाने के कारण ब्रिटिश उपनिवेशों से आने वाले कच्चे माल का आयात घटकर आधा ही रह गया । इसके अतिरिक्त युद्धकाल में अमरीकी उद्योगधंधों ने पुराने संसार के देशों को बहुत पीछे छोड़ कर अत्यधिक ऊंची कारीगरी सन्बन्धी योग्यता प्राप्त कर ली थी । इसके विपरीत स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों में मुद्राप्रसार और कहीं-कहीं तो भयंकर मुद्रा-प्रसार था । इसका परिणाम यह हुआ कि ग्रेट ब्रिटन सहित उन सभी देशों के चलअर्थ का डालर की अपेक्षा इतना अधिक मूल्य घट गया कि उनकी क्रयशक्ति पर उसका प्रभाव पड़ने लगा । युद्धोत्तर डालर समस्या की मौलिक व्याख्या यही है कि युद्ध ने डालर-क्षेत्र की अपेक्षा शेष संसार के अन्दर उत्पादन के संतुलन को नष्ट कर दिया । इसका परिणाम यह हुआ कि बिना डालर वाले देशों में डालर-वस्तुओं की मांग अत्यधिक बढ़ गयी, जबकि डालर-देशों में डालर-इतर वस्तुओं की मांग कम हो गई ।

---

1. Dr. V. K. R. V. Rao—Indian and International Currency Plans, p, 98.

2. Ibid. p, 96

युद्ध से पूर्व ब्रिटेन भुगतान-संतुलन के घाटे को कुछ तो अपन जहाजरानी, बैंकिंग, बीमे आदि समुद्रपार के विनियोजनों (Investments) की अपनी अदृश्य आय से और कुछ अपने उपनिवेशों की डालर-आय से पूरा किया करता था। किंतु युद्धकालीन विनाश तथा युद्ध का खर्चा जुटाने के लिये समुद्रपार के विनियोजनों की विक्री से यह साधन समाप्त हो गये। ग्रेट ब्रिटेन ने इस कमी को उधार द्वारा पूरा करने का यत्न किया। किंतु उसका अमरीका से लिया हुआ उधार १९४८ में ही समाप्त हो गया। कैनाडा से लिये हुए उधार में से जुलाई १९४९ में केवल ५ करोड़ पौंड ही बच पाये। फिर उसने दक्षिणी अफ्रीका से ८ करोड़ पौंड का सोना उधार लिया। मार्शल सहायता के भुगतान तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ली हुई रकमें भी उसी घाटे को पूरा करने में लग गई। स्पष्ट रूप से ब्रिटेन अपनी पहुंच की अन्तिम सीमा तक आ चुका था। स्थिति वास्तव में अत्यन्त भयंकर थी और इसे ऐसे चलते रहने नहीं दिया जा सकता था। ब्रिटिश लोकसभा में बोलते हुए सर स्टाफोर्ड क्रिप्स् ने कहा था कि "हमने अपने उत्पादन को वढ़ाया किंतु पर्याप्त शीघ्रतापूर्वक नहीं। समय इतना कम है और हमारे साधन इतने कम पड़ गये हैं कि डालर की दर में परिवर्तन ही एकमात्र मार्ग है, जिससे हम अपने मूल्यों को पर्याप्त शीघ्रता से नीचे ला सकते हैं।"

१८ दिसम्वर १९४९ को घोषणा की गई कि पौंड स्टर्लिंग का मूल्य ३०·५ प्रतिशत कम किया जाता है और वह भविष्य में ४·०३ की अपेक्षा २·८० डालर के वराबर होगा। पाकिस्तान के अतिरिक्त राष्ट्रमंडल के सभी सदस्यों ने इसका अनुकरण किया। कैनाडा तक ने अपने डालर का मूल्य १० प्रतिशत घटा दिया।

भारतीय रुपये का मूल्य भी पौण्ड स्टर्लिंग जितने अनुपात में घटा दिया गया। रुपये का स्टर्लिंग मूल्य अब भी १ शिलिंग ६ पैंस बना रहा किंतु अमरीकन चलअर्थ की तुलना में उसका मूल्य ३२ सैंट से गिरकर २१ सैंट रह गया। भारतीय संसद् में भारतीय रुपये के अवमूल्यन की घोषणा करते हुए तत्कालीन अर्थ-मन्त्री डा. जान मथाई ने यह स्वीकार किया था कि वह केवल एक रक्षात्मक कार्य है। उन्होंने कहा था, "मैं अनुभव करता हूं कि इस मामले में मैं आवश्यक रूप से केवल तर्कसम्मत विचारों के अनुसार ही काम नहीं कर रहा, वरन् जैसा कि कहना चाहिए, घटना की अनिवार्यता से काम कर रहा हूँ।......... स्टर्लिंग का मूल्य घट जाने के कारण.......हमारे पास और कोई चारा नहीं था।" हमारे चलअर्थ का मूल्य स्टर्लिंग क्षेत्र के चलअर्थों के सम्बन्ध में महंगा होकर कहीं हमारा भारतीय माल उनको और भी महंगा न मिले, इसी संभावना को टालने के लिये हमें रुपये का मूल्य घटाना पड़ा। स्वतन्त्र रूप से भारत में आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि हम ब्रिटेन के समान अपनी मुद्रा का मूल्य घटाने के लिये विवश होते। किंतु स्टर्लिंग क्षेत्र का सदस्य होने के नाते भारत को इस क्षेत्र के अन्य सदस्यों का साथ देना पड़ा। भारत के लगभग तीन-चौथाई निर्यात स्टर्लिंग देशों को जाते हैं। यदि भारत रुपये का मूल्य कम न करता तो उन देशों के लिये भारतीय माल का मूल्य तीस प्रतिशत बढ़ जाता। इससे हमारे निर्यात केवल कम ही न हो पाते वरन् कुछ दिशाओं में तो एकदम बन्द हो जाते। भारतीय उद्योग-धंधों की प्रतियोगात्मक शक्ति भयंकर रूप से कम हो जाती।। भारत की आर्थिक स्थिति इस समय कुछ ऐसी थी कि कोई और मार्ग अपनाकर खतरे में पड़ना हमारे लिये बुद्धिमत्तापूर्ण काम न होता। इसलिये भारत के सामने इस समय डालर की तुलना में अपने चलअर्थ का मूल्य कम करने के अतिरिक्त दूसरा विकल्प नहीं रह गया था।

अवमूल्यन के परिणाम—विदेशी विनिमय सिद्धान्तों के कार्य से यह परिणाम

निकलता है कि रुपये का डालर की अपेक्षा मूल्य कम किये जाने के निम्नलिखित परिणाम निकलने चाहिएं :

१. भारत और ब्रिटेन के ऐसे चतुर सटोरिये, जिन्होंने मूल्य-ह्रास से पूर्व अपने कोष डालर-क्षेत्र में बदल दिये, एक रात में ही अपने कोषों को ३० प्रतिशत बढ़ाने में सफल हो गये। उसके विपरीत सभी व्यापारी, विद्यार्थी तथा दूसरे लोग, जिनको उसने रुपये तथा स्टर्लिंग के साधनों से डालरों में ऋण चुकाना था, उसी मात्रा में घाटे में आ गये। तो भी यह परिणाम क्षणिक तथा छोटे ही हैं।

२. दूसरा छोटा प्रभाव स्टर्लिंग राशि के मूल्य में ३० प्रतिशत उस हानि का पड़ा, जहां तक उसका उपयोग डालर के क्षेत्र में माल मोल लेने में किया गया था।

३. अब हम यह देखेंगे कि अवमूल्यन से हमारे भुगतानों के संतुलन पर क्या प्रभाव पड़ा है।[1] अवमूल्यन के परिणामस्वरूप भारत के निर्यात बढ़ गये और आयातों में कमी हो गई। निर्यात इसलिए बढ़ गये क्योंकि उतने ही डालरों का अमरीकी लोग भारत में अधिक माल मोल ले सकते थे क्योंकि रुपया डालर की तुलना में सस्ता हो गया था। इसके विपरीत डालर क्षेत्र से आयतें कम हो गईं क्योंकि अमरीका में माल के लिए पहले जितने मूल्य देने पड़ते थे, अब उसके लिए अधिक रुपये देने पड़ते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि अब हमारा भुगतान संतुलन पर्याप्त मात्रा में अनुकूल हो गया; जब कि १९४९ में हमारे भुगतान संतुलन में २०० करोड़ रु० का घाटा था, १९५० में यह घाटा ७० करोड़ रुपये की बचत में परिवर्तित हो गया। इस उन्नति के कारण ही भारत को जुलाई १९४९ से जून १९५० तक के लिये युद्धोत्तरकाल में प्रथम बार ऐसा अवसर मिला कि उसने अपने स्टर्लिंग बकाया में से कुछ नहीं निकला।

हमारे सूती वस्त्रों के निर्यात को अवमूल्यन से एक विशेष लाभ हुआ, क्योंकि मूल्य ह्रास के बाद उनका निर्यात विशेष रूप से बढ़ गया। संभवतः, उन्होंने विदेशी बाजारों में से दूसरे वस्त्रों को निकाल कर उन पर कब्जा कर लिया; क्योंकि अवमूल्यन ने विदेशों के उन अन्य वस्त्रों को आकर्षणहीन बना दिया था। वस्त्र निर्यात की आय ऐसी बढ़ी कि अवमूल्यन से ठीक पहले के ९ मास की २·५ करोड़ रुपये की आय बढ़कर अवमूल्यन के ठीक बाद के छः मास में ७·७ करोड़ रुपये हो गयी। इसको अवमूल्यन का स्थायी लाभ माना गया।

४. अवमूल्यन के कारण हमको पाकिस्तान से रुई और जूट जैसा कच्चा माल मिलना कठिन हो गया और डालर क्षेत्रों से आने वाला माल ओर यंत्र महंगे हो गये। इस मात्रा में अवमूल्यन ने औद्योगिक उत्पादन पर विपरीत प्रभाव डाला।

५. यद्यपि अवमूल्यन ने हमारे भुगतान के संतुलन में प्रतिकूलता को ठीक करके अपने औचित्य को पूर्णतया सिद्ध कर दिया तो भी हमारे मुद्रा-प्रसार की प्रवृत्ति को ठीक करना अभी तक भी संभव नहीं हो सका। इसमें संदेह नहीं कि अवमूल्यन के ठीक बाद सरकार अनाजों, सूत, कपड़े, लोहे के डले तथा इस्पात जैसो आवश्यक वस्तुओं के मूल्य कम करने में सफल हो गई। सामान्य मूल्य सूचनांक ३८१·३ में ३० प्रतिशत की कमी हो गई, किंतु जून १९५० में यह लाभ समाप्त हो गया और मूल्य-सूचनांक बढ़ कर ३९५·५ हो गया। थोक मूल्यों का सूचनांक भी स्थिरता से बढ़ता जा रहा था। फसलें नष्ट हो जाने

१. इस बात की विस्तृत परीक्षा के लिए रिजर्व बैंक बुलेटिन में श्री सी. डी. देशमुख द्वारा अगस्त, १९५० अंक के पृष्ठ ५१२ पर छपे हुए India's Balance of Payments, January 1949—June 1950 शीर्षक लेख को पढ़ें।

तथा बाढ़ों के कारण खाद्य की स्थिति खराब हो गयी और कुछ राज्यों में अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गयी। इसके फलस्वरूप खाद्य मूल्य अधिकाधिक ऊपर चढ़ते गये। जहां तक दो कच्चे मालों, रुई तथा पटसन का संबन्ध है, पाकिस्तान द्वारा मूल्य न घटाये जाने के कारण वह भी दुर्लभ हो गये। आयातों के ऊपर कड़ा नियंत्रण होने के कारण भी पदार्थों की कमी हो गयी। कोरिया-युद्ध तथा वर्तमान युद्ध विभीषिका बढ़ जाने के कारण सभी देश आवश्यक वस्तुओं और सामग्री को जमा करने लगे।

भारत में विदेशों से आयातों की आशा के बिना वस्तुओं की मांग बढ़ने से बढ़ते हुए मूल्य भयानक स्तर तक पहुंच गये। अक्तूबर १९५० के प्रथम सप्ताह में मूल्य सूचनांक अत्यधिक ऊंचा होकर ४१३·५ तक जा पहुचा। इस प्रकार सरकार के लिये मूल्य-रेखा की रक्षा करना वास्तव में कठिन हो गया। किंतु यह बात स्वीकार करने योग्य है कि केवल अवमूल्यन को इस स्थिति के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता।

तथ्य यह है कि किसी देश की बुराइयों की अवमूल्यन बढ़िया औषधि नहीं है। वह अधिक से अधिक अस्थायी उत्तेजना दे सकता है। यह एक कृत्रिम उपाय है, जिससे विदेशों में कुछ माल सस्ता बेचा जा सकता है, वास्तविक उपाय है उत्पादन, कम लागतपर अधिक उत्पादन तथा उपभोग में कमी करना। अवमूल्यन ने स्टर्लिंग क्षेत्र की प्रतियोगात्मक शक्ति को निश्चय ही कुछ अच्छी बना दिया। अवमूल्यन से पूर्व स्टर्लिंग की स्थिति निर्बल थी और डालर की बलवान थी; किंतु अवमूल्यन के बाद स्टर्लिंग बलवान बन गया तथा डालर कुछ क्षीण हो गया। डालर क्षेत्र ने १९४९ के १५३२० लाख डालर घाटे के विरुद्ध १९५० में ८८५० लाख डालर का लाभ दिखलाया। जिस डालर की खाई को १९५२ के मध्य तक पार किये जाने की आशा थी, उसे उससे बहुत समय पूर्व ही पार कर लिया गया। ब्रिटिश राजकोष-मंत्री ह्यू गेट्स्कल ने घोषणा की कि १ जनवरी १९५१ से ब्रिटेन को मार्शल सहायता नहीं दी जायगी। मार्शल सहायता को निश्चित समय से एक वर्ष सात मास पूर्व ही रोक दिया गया। यह कम सफलता नहीं है।

१४. पाकिस्तान द्वारा अवमूल्यन न करना। जब कि भारत ने स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य सभी सदस्यों के समान चलअर्थ का मूल्य घटा दिया, पाकिस्तान ने अपनी लकीर पर जमे रहना पसन्द किया और अवमूल्यन न करने का निर्णय किया। इसके विरुद्ध अत्यधिक प्रतिरोध किये जाने पर भी भारत का यह विश्वास है कि इस मामले में पाकिस्तान ने आर्थिक मामले के अतिरिक्त अन्य विचारों से काम लिया।

पाकिस्तान ने अपने कार्य का अनेक आर्थिक कारणों से औचित्य सिद्ध करने का यत्न किया, उन युक्तियों पर सरसरी दृष्टि से विचार करनेपर ही उनका थोथापन सिद्ध हो जायगा। नीचे पाकिस्तान की मुख्य युक्तियों को उनकी आलोचना सहित दिया जाता है।

(क) यह युक्ति दी जाती है कि पाकिस्तान का व्यापार-संतुलन उसके अनुकूल है और उसको किसी मौलिक विषमता को ठीक करने की आवश्यकता नहीं थी। किंतु पाकिस्तान का अनुकूल संतुलन अनिश्चित और अस्थायी है, वह केवल एक अस्थायी परिस्थिति है। पाकिस्तान का केवल भारत के साथ ही अनुकूल संतुलन है, किंतु शेष स्टर्लिंग क्षेत्र के साथ उसका अत्यधिक प्रतिकूल संतुलन है। भारत के साथ अनुकूल व्यापार-संतुलन की आय से ही वह शेष संसार से की हुई बिक्री का भुगतान किया करता है, किंतु भारत के साथ अनुकूल सम्बन्ध का आधार दोनों देशों के रुपये की समानता है। यदि एक बार यह समानता टूट जाय तो सारी परिस्थिति बदल जायगी। पाकिस्तान का अनुकूल संतुलन मौलिक रूप से भारत द्वारा पाकिस्तान से मोल लिये हुए पटसन तथा रुई पर निर्भर

है, किंतु भारतीय उद्योगपतियों के निजी लाभ तथा आत्म-रक्षण की भावना ने उनको विवश कर दिया कि वह इन वस्तुओं को पाकिस्तानी मूल्य पर न खरीदें। इसके अतिरिक्त आजकल भारत में रुई तथा पटसन में आत्मनिर्भर होने का भारी प्रयत्न किया जा रहा है। यदि भारत पाकिस्तान से माल मोल न ले तो उसका अनुकूल संतुलन हवा में रह जाय।

(ख) पाकिस्तान का यह भी तर्क है कि उसके आन्तरिक मूल्य-स्तर उसके चलअर्थ का अवमूल्यन करने की अनुमति नहीं देते। किंतु, जैसा डाक्टर जान मथाई ने भारतीय संसद् में बतलाया था कि "दोनों देशों के मूल्यों के स्तरों में अन्तर्राष्ट्रीय आंकड़ों के प्रकाशनों के आधार पर ऐसा अन्तर नहीं था कि जिस से दोनों देशों के चलअर्थ में सम्बन्धित मूल्यों में भारी असमानता को उचित समझा जाय।"

(ग) एक और युक्ति यह है कि अवमूल्यन न करने से पाकिस्तान को स्टर्लिंग क्षेत्र से पूंजीगत माल सस्ता मिल जायगा और उसको डालर-क्षेत्र से महंगा माल मोल लेना नहीं पड़ेगा। किंतु यह एक बहाना मात्र है। पाकिस्तान का इस समय पूंजीगत माल खरीदने का कोई बड़ा कार्यक्रम नहीं है, यद्यपि उसका बन्दूकों तथा युद्ध-सामग्री मोल लेने का अधिक भारी कार्यक्रम है। १९४८-४९ तथा १९४९-५० के ८५ करोड़ रुपये के पूंजीगत बजट में से उसने औद्योगिक सामान के लिए ५॥ करोड़ रुपये की एक बहुत छोटी रकम रखी हुई है।

(घ) पाकिस्तान का संभवत: यह विचार अधिक प्रबल था कि भारत की रुई, पटसन तथा खाद्यान्नों के लिये लोचरहित मांग है, अतएव भारत को उन्हें किसी भी मूल्य पर मोल लेना ही पड़ेगा। उसकी यह आशा मिथ्या है। भारत के उद्योगपतियों ने उसको कृतार्थ करने से इंकार कर दिया है। पाकिस्तान में इन वस्तुओं के उत्पादकों पर भारी विपत्ति आ गई है।

(ङ) पाकिस्तान के सामने एक और प्रलोभन यह था कि उसका भारत के प्रति ऋण कलम के एक झटके में ही कम हो जायगा। यदि पाकिस्तानी रुपये का भाव भारतीय रुपये से बढ़ गया। किंतु भारत के ऋण का मूल्य उसी सीमा तक प्रभावित होगा कि जहां तक भारत में मूल्य स्तर स्थायी रूप से बढ़ेंगे। यदि ऐसा न हुआ तो पाकिस्तान को उसी परिमाण में माल देना होगा। पाकिस्तान का अपने को यह सोच कर धोखा खाने के लिए स्वागत है कि वह पाकिस्तानी रुपयों की संख्या कम दे रहा है। भारत के लिये पाकिस्तानी रुपयों की संख्या मूल्यवान् नहीं है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों की पूर्ति माल भेजकर की जाती है, न कि चलअर्थ भेजकर।

(च) अवमूल्यन न करने में पाकिस्तान का एक उद्देश्य यह था कि मुद्राप्रसार का रोकना, जिससे आंतरिक मूल्य उचित स्तर तक गिर जायं। किन्तु स्वस्थ मुद्रा संकोचन के बजाय पाकिस्तान आज मुद्रासंकोचन के बवंडर में फंस गया है। उसके कृषि पदार्थों का मूल्य अत्यधिक गिर रहा है। वहां की जनता की क्रय-शक्ति, जो कि प्रायः कृषिजीवी है, अत्यधिक कम हो गयी है। अतएव, अवमूल्यन न करने से पाकिस्तान की स्थिति को लाभ नहीं पहुंचा। जनवरी १९५२ में पाकिस्तान में खाद्य पदार्थों के भाव भी अत्यधिक बढ़ गए थे और लाहौर में गेहूं का भाव २० रु० प्रति मन हो गया था।

इस प्रकार क्रियात्मक रूप में विचारने तथा अर्थशास्त्रीय विचार के अनुसार पाकिस्तान द्वारा अपने चलअर्थ का अवमूल्यन न करने के कार्य का समर्थन नहीं किया जा सकता। अन्त में इस परिणाम पर पहुंचना ही पड़ता है कि अवमूल्यन न करने से पाकिस्तान ने मनोवैज्ञानिक, भावनात्मक अथवा राजनीतिक विचारों को ही ध्यान में रखा। पाकिस्तान के सौभाग्यवश संसार का घटना-चक्र इस प्रकार घूमा कि उसको अपनी विनिमय दर को बनाये रखने में सहायता मिल गयी। कोरिया-युद्ध तथा अन्य देशों में स्टाक जमा करने की

प्रवृत्ति से पाकिस्तानी रुपये को बल मिला और भारत को सभी व्यावहारिक उद्देश्यों के लिये पाकिस्तान की विनिमय दर को स्वीकार करने के लिये विवश होना पड़ा।

१५. पुनर्मूल्यन (Revaluation)। हम यह देख चुके हैं कि जब पौंड का मूल्य डालर की अपेक्षा घटाया गया तो भारत को उसका अनुकरण करना पड़ा और रुपये को भी डालर की तुलना में घटाना पड़ा। इसका कारण यह नहीं था कि रुपये में कोई कमी थी, किन्तु वह स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशों के पग-में-पग मिला कर चलना चाहता था। अकेले रहने की नीति स्टर्लिंग क्षेत्र के व्यापार के विषय में असुविधाजनक रहती।

हम यह भी देख चुके हैं कि अवमूल्यन से हमने अपने प्रतिकूल संतुलन को ठीक कर लिया और रुपये में से सभी प्रकार की निर्बलता दूर हो गयी। कोरियायुद्ध तथा मुख्य राष्ट्रों की संग्रह-वृत्ति तथा पुनः शस्त्रीकरण के कार्यक्रमों ने हमारे निर्यातों को बढ़ा दिया। यहां तक कि भारत में कुछ लोग यह भी सोचने लगे कि निर्यात अपनी रक्षा स्वयं कर सकते हैं तथा जो अवमूल्यन विवश होकर किया गया था, उसे समाप्त कर दिया जाय। अब पुनर्मूल्यन के लिये आन्दोलन किया जाने लगा कि रुपये के मूल्य को डालर के साथ फिर तय किया जाय। यह आन्दोलन पाकिस्तान के उदाहरण से बलशाली बना जिसने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करने से इंकार कर दिया था। पुनर्मूल्यन के इस आंदोलन को अत्यन्त सम्मानित अर्थ-शास्त्री तथा भूतपूर्व अर्थ मन्त्री डा. जान मथाई तथा 'ईस्टर्न इकोनोमिस्ट' (Eastern Economist) नामक पत्र का समर्थन प्राप्त था।[1]

पुनर्मूल्यन के पक्ष को निम्नलिखित प्रकार से रखा जा सकता है :

१. पुनर्मूल्यन का प्रभाव मुद्राप्रसार विरोधी होगा, इससे मूल्य घट जायंगे, जिससे उच्च मूल्यों के दबाव में कराहने वाली जनता को कुछ सांस लेने का अवसर मिलेगा।

२. पटसन, वस्त्र, चाय, काली मिर्च आदि के भारतीय निर्यातों का विश्व के बाजार में प्रबल स्थान है, अतएव उनको अवमूल्यन के रूप में कृत्रिम उत्तेजना की आवश्यकता नहीं है।

३. अतएव भारत को अपने आयातों के सम्बन्ध में अपने स्वार्थ पर ध्यान देना अधिक बुद्धिमतापूर्ण कार्य होगा। कुछ समय तक खाद्यान्नों, औद्योगिक कच्चे माल, मशीनों आदि के सम्बन्ध में हमारा आयात-व्यय अत्यधिक होता रहेगा।। पुनर्मूल्यन से भारत को खाद्य पदार्थों को मोल लेने में, जिनमें लगभग बीस करोड़ रुपया लग जाता है--भारी बचत होगी। इससे हमको पाकिस्तान से रुई तथा पटसन तथा अमरीका से पूंजीगत माल सस्ते मूल्य पर मिलेंगे।

४. पुनर्मूल्यन से आयातों को अधिक उदार बनाना तथा उपभोक्ता माल की कमी को दूर करना संभव हो सकेगा। जनता इस पग का अत्यधिक स्वागत करेगी।

तो भी पुनर्मूल्यन के विरुद्ध निम्नलिखित युक्तियां दी जा सकती हैं :

१. हमारे उद्योग-धंधों के उत्पादकों को बाहर से आने वाले सस्ते माल से हानि उठानी पड़ेगी। जापानी उद्योगधंधों के दुबारा उठ जाने पर यह खतरा वास्तविक रूप धारण कर लेगा।

२. यदि भारत ने अपने चलअर्थ का पुनर्मूल्यन कर के अकेले-अकेले ही पग उठा

---

१. 'ईस्टर्न इकोनोमिस्ट' के अप्रैल, मई, जून, अक्तूबर तथा नवम्बर १९५१ के **अंकों में एक लेखमाला निकली थी।**

लिया तो उससे अमरीका तथा अन्य डालर क्षेत्रों को जाने वाले हमारे निर्यातों तथा शेष स्टर्लिंग से आने वाले हमारे आयातों में बाधा आएगी।

३. अमरीका में स्टाक संग्रह करने की वृत्ति कुछ मन्दी पड़ गयी है और हम यह आशा नहीं कर सकते कि हमारे निर्यातों के लिये सदा ही विस्तृत बाजार खुले रहेंगे।

४. स्टर्लिंग क्षेत्र को जाने वाले हमारे निर्यातों पर भी इससे प्रभाव पड़ेगा क्योंकि हमारे चलअर्थ का पुनर्मूल्यन हो जाने पर वह महंगे हो जायंगे, और हमारे निर्यातों का लगभग तीन चतुर्थांश स्टर्लिंग क्षेत्रों को जाता है।

५. हमारे निर्यात बिल्कुल भेद्य हैं। जूट के माल में हमारे बाजार पहले से ही निकलते जा रहे हैं। हमारे वस्त्रों को भी प्रतियोगिता करनी पड़ रही है। कुछ समय बाद जापान तथा लंकाशायर के साथ हमारी यह प्रतियोगिता तीव्र हो जायगी। हमारा चाय उद्योग भी इंडोनेशिया की चाय के मुकाबले लड़खड़ाने लगा है तथा दक्षिण पूर्वी एशिया में काली मिर्च की खेती अत्यधिक अच्छी होने से हमारा काली मिर्च का बाजार भी तंग हो जायगा। द्विपक्षीय समझौतों के अधीन हमारे वायदों ने भी हमारी सौदा करने की शक्ति को कम कर दिया है। अतएव, पुनर्मूल्यन से हमारे निर्यातों का परिमाण निश्चय से घटेगा, जिस के फलस्वरूप हमारे विदेशी विनिमय की संख्या में कमी होगी। ऐसी दशा में हम अपने लिये अधिक आवश्यकता की वस्तुओं को किस प्रकार मोल ले सकेंगे?

पुनर्मूल्यन के वाद-विवाद को श्री सी. डी. देशमुख ने भारतीय संसद में १० अप्रैल १९५० को एक अधिक उपयुक्त वक्तव्य देकर समाप्त कर दिया। उन्होंने बतलाया कि रिजर्व बैंक के विशेषज्ञों की सम्मति के अनुसार १५ प्रतिशत पुनर्मूल्यन से लगभग ५० करोड़ रुपये के भुगतान संतुलन का घाटा होगा और ३० प्रतिशत पुनर्मूल्यन से लगभग १३५ करोड़ रुपये का घाटा होगा। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि पुनर्मूल्यन से हम घाटे में रहेंगे, लाभ में नहीं। यह प्रश्न सस्ता माल प्राप्त करने का बिल्कुल नहीं है। यह प्रश्न है वस्तुओं को प्राप्त कर सकने की योग्यता तथा यह कि वस्तुओं को किस से मोल लिया जाय। उन्होंने कहा—"अधिक आयात करने का निश्चय करने से पूर्व, जिसके लिए विशेष रूप से रुपये का पुनर्मूलयन किये जाने पर बल दिया जा रहा है—यह निश्चय कर लेना महत्वपूर्ण है कि इसके लिये हमारे पास पर्याप्त विदेशी विनिमय भी है या नहीं; यह एक ऐसी महती आवश्यकता है कि जिसे पुनर्मूल्यन से किसी भी प्रकार प्राप्त नहीं किया जा सकता।" इसके अतिरिक्त पुनर्मूल्यन से आयात तथा निर्यात के करों में भी भारी हानि होगी। अतएव वर्तमान परिस्थिति में पुनर्मूल्यन करने में भारत का हित नहीं है। तो भी, अर्थमंत्री ने यह आश्वासन दिया है कि "इस प्रकार की समस्या को आवश्यकता पड़ने पर भविष्य के लिये उठा कर नहीं रखा जायगा, वरन् हम समय-समय पर स्थिति पर पुनर्विचार करने के निर्णय करते रहेंगे, यही ढंग वास्तव में ठीक दिखाई देता है।"

१६. १९५२ का डालर-संकट। १९४९ में पौंड-स्टर्लिंग का अवमूल्यन एक ऐसा छल था जिसने ब्रिटेन को कठिन स्थिति में से निकाल लिया। डालर की खाई को संभावित समय से कहीं पूर्व पाट दिया गया। किंतु अवमूल्यन केवल अस्थायी औषधि सिद्ध हुई। ब्रिटेन की अर्थ-व्यवस्था उचित स्तर तक पुनः ठीक नहीं हो सकी। स्टाक संग्रह की मनोवृत्ति के कुछ मन्द पड़ जाने तथा कुछ और कारणों से डालरों का संकट दिखलाई देने लगा और यह स्टर्लिंग क्षेत्र, और विशेषकर ब्रिटेन के लिये एक समस्या बन गया। ३० सितम्बर १९५१ में ३२६,९० लाख डालरों की ब्रिटिश सुरक्षा निधि घटकर ३१ दिसम्बर १९५१ में २३३,५० लाख डालर की रह गई। यदि डालरों का बहिर्गमन इसी गति से अगले तीन

मास और चलता तो ग्रेट ब्रिटेन की फिर वैसी दशा हो जाती, जैसी उसकी सितम्बर १९४९ में पौंड का अवमूल्यन करते समय हुई थी। यह संकट १९४९ के संकट से अधिक विकट था, क्योंकि अब चलअर्थ की कमी केवल डालर के सम्बन्ध में ही नहीं थी, ब्रिटेन में तो उस समय लगभग सभी महत्वपूर्ण चलअर्थों की कमी थी। परिस्थिति वास्तव में अत्यन्त गम्भीर था।

इसके क्या कारण थे ? संकट मौलिक रूप में ब्रिटेन का उत्पन्न किया हुआ था। उसकी आयात हुंडी में धीरे-धीरे तेजी आती जाती थी। अमरीका से सहायता न मिलने तथा ईरान का तेल हाथ से निकल जाने के कारण ब्रिटेन की आर्थिक कठिनाइयां बढ़ गईं। स्टाक-संग्रह में स्वर्ण-भंडार का वड़ा भाग समाप्त हो गया। कुछ लाख डालर उसके डालर ऋण के भुगतान में खर्च हो गये। स्टर्लिंग क्षेत्र के कुछ और देश भी न्यूनाधिक मात्रा में बुरी स्थिति के लिये उत्तरदायी थे। डालरों की कमी के कारण ये थे—आयातों की आय में कमी, डालरों का अधिक मात्रा में भुगतान तथा योरोपीय देशों से अधिक मात्रा में माल मोल लिया जाना। संक्षेप में, इस संकट का कारण यह था कि स्टर्लिंग क्षेत्र का व्यय अपनी आय से अधिक था।

इसका उपाय क्या था ? जनवरी १९५२ में राष्ट्रमंडल के अर्थमन्त्रियों का सम्मेलन इन कठिनाइयों का कार्यकारी हल खोजने के लिये लन्दन में बुलाया गया। राष्ट्रमंडल के सभी देशों के प्रतिनिधि इस बात पर सहमत हो गये कि वह इसको तुरन्त ठीक करने वाले कार्य की आवश्यकता को अपनी-अपनी सरकारों के सामने आवश्यक विषय के रूप में रखेंगे, जिनके फलस्वरूप समस्त स्टर्लिंग क्षेत्र १९५२ के उत्तरार्द्ध में शेष संसार के साथ लाभ में रहेगा। उन्होंने इस प्रकार के उपायों का प्रस्ताव किया था—आयातों में कमी, उत्पादन तथा निर्यात आय में वृद्धि, सार्वजनिक व्यय में बचत, मुद्रा स्फीति का मुकाबला करने के लिये देश के अन्दर माल मोल लेने में कमी तथा पूंजीगत व्यय में कमी करना। व्यापक सिद्धांत यह है कि प्रत्येक देश को अपने साधनों के अन्दर-अन्दर ही कार्य करना चाहिए।

जहां तक भारत का सम्बन्ध है वह किसी प्रकार की निश्चित सहायता करने की स्थिति में नहीं है। उसके आयात पहले से कांट-छांट कर मौलिक आवश्यकताओं भर के लिये न्यूनतम कर दिये गये थे। भारत जैसा एक अविकसित देश अपने उपभोग-मान अथवा विकास योजनाओं में कटोती नहीं कर सकता, क्योंकि उनमें कटौती करने की कोई भी गुंजाइश नहीं है। जब भारत खाद्य तथा औद्योगिक कच्चे माल में आत्म-निर्भरता प्राप्त कर लेगा तो उस स्थिति में वह डालर के सम्बन्ध में स्टर्लिंग क्षेत्र को उसकी स्थिति सुधारने में सहायता दे सकेगा।

तीसवाँ अध्याय

बैंकिंग प्रणाली

१. **प्रस्तावना** । भारतीय बैंकिंग की समस्याओं का अध्ययन करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बैंकिंग संस्थाएं समाज की बचत को अत्यन्त उपयोगी कार्यों के लिये एकत्रित करके अत्यन्त उपयोगी काम कर रही हैं। उद्योग-धन्धों या कृषि की उन्नति के लिये उपयुक्त बैंकिंग सुविधाओं का उपलब्ध होना आवश्यक शर्त है। उद्योग-धन्धों, कृषि अथवा सरकार के लिये पूंजी की साधारण आवश्यकता के तीन भाग किये जा सकते हैं--(१) अल्पकालीन, (२) मध्यकालीन तथा (३) दीर्घकालीन। एक स्वस्थ बैंकिंग रचना को तीनों ही प्रकार की आर्थिक आवश्यकताएं पूर्ण करने योग्य होना चाहिए। तो भी, आजकल की स्थिति में दीर्घकालीन ऋण की सुविधाएं अत्यन्त अपर्याप्त हैं। कृषि के विषय में तो बिल्कुल ऐसी ही बात है। इसी प्रकार बचत को एकत्रित करने तथा बैंकिंग सुविधाएं देने में भी कमियां हैं।

अन्य मामलों के समान बैंकिंग में भी आंकड़ों की भारी कमी है। देसी बैंकर और साहूकार कोई आंकड़े नहीं प्रकाशित करते। बिना सारिणी सूची के बैंकों (Non-scheduled Banks) के लेखे (Returns) विस्तृत रूप में प्राप्य नहीं हैं। मुद्रा और बैंकिंग के क्षेत्र में यह त्रुटियां विशेष रूप से इसलिये निन्दनीय हैं कि मूल्य स्तरों, मुद्रा-प्रसार और रोजगार देने की नीतियों में उनका बड़ा महत्व होता है।

२. **भारतीय बैंकिंग प्रणाली के अंग** । भारतीय द्रव्य बाजार तथा बैंकिंग प्रणाली निम्नलिखित इकाइयों से बनी हुई है--

(क) देशी बैंकर
(ख) सहकारिता बैंक
(ग) भूमि बंधक बैंक
(घ) डाकखाने का सेविंग्स बैंक
(ङ) इम्पीरियल बैंक सहित सम्मिलित स्टाक बैंक
(च) विदेशी विनिमय बैंक
(छ) बीमा कम्पनियां
(ज) भारत का रिजर्व बैंक तथा
(झ) शेयरों तथा सोने चांदी की बिक्री की मंडियां (Stock and Bullion Exchanges)

कभी-कभी डाकखाने के सेविंग्स बैंक और बीमा कम्पनियों को भारतीय द्रव्य बाजार की रचना में सम्मिलित नहीं किया जाता क्योंकि उनको एक विशेष प्रकार का बैंकिंग व्यवसाय करने वाला समझा जाता है, किन्तु किसी भी संस्था को, जो जनता से रुपया एकत्रित करके उसे दूसरे को उधार देती है, बैंकों में सम्मिलित किया जाना चाहिए। यदि एक गांव का साहूकार, जिसका एक मात्र व्यवसाय अपने पारिवारिक धन को उधार देना है--बैंकिंग व्यवसाय का भाग है, तो व्यक्तियों से लाखों रुपया एकत्रित करके उस रुपये को प्रतिभूतियों (Securities) में विनियोजित करने वाली बीमा कम्पनी निश्चय ही उसका एक अंग है।

३. देशी बैंकरों का बैंकिंग प्रणाली में स्थान। प्राचीन देसी बैंकिंग प्रणाली के उत्तराधिकारी अपने प्राचीन कार्य को देश के विभिन्न भागों में विभिन्न नामों से कर रहे हैं। मद्रास में उन्हें चेट्टी, पंजाब और उत्तर प्रदेश में साहूकार, महाजन और खत्री, बम्बई में सराफ और मारवाड़ तथा बंगाल में सेठ और बनिया कहा जाता है।

भारत की कम से कम ८७.२ प्रतिशत जनता ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है। प्रत्येक तीन व्यक्तियों में से दो सीधे तौर से कृषि के अधीन हैं, कि जो इस प्रकार आज भी जनता का मुख्य व्यवसाय है, भले ही नागरिक क्षेत्रों तथा उद्योग-धंधों का पिछले दिनों कितना ही विस्तार हो गया है। अतएव गांवों में ऋणों का दिया जाना अन्य सभी प्रकार के ऋणों से अधिक महत्वपूर्ण है। अनेक नगर तथा सभी छः लाख छोटे बड़े गांव किसी भी प्रकार की बैंकिंग सुविधा से वंचित हैं। उनको अपनी आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये या तो सहयोग समितियों अथवा साहूकार पर निर्भर रहना पड़ता है। १९४९-५० में कृषि सम्बन्धी उधार देने वाली समितियों की संख्या केवल १,१६,५३४ थी। उनकी सदस्य संख्या ४८लाख थी, जो कि समस्त कृषि जनसंख्या का कुल ७ प्रतिशत थी।[1] "सहयोग समितियों से तीव्र प्रतियोगिता होते रहने तथा गत मंदी की भारी हानि और कठिनाइयों के होते हुए भी उधार देने वाले साहूकार तथा देसी बैंकर[2] अबी भी भारत की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था[3] के मेरुदण्ड बने हुए हैं।" भारत में साहूकारों तथा देसी बैंकरों की संख्या १९३१ में कम से कम, ३,२९,००० थी। युद्धपूर्व काल[4] में गांवों का ऋण १,२०० करोड़ रुपये का होने का अनुमान किया गया था। विभाजनोत्तर काल में साहूकारों की प्रतिद्वन्द्वी संस्थाओं—कृषि ऋण समितियों (Agricultural Crebit Societies) की कार्यकारी पूंजी में पर्याप्त वृद्धि हुई।१९४९-५० में उनकी कार्यकारीपूंजी ३५ करोड़ २२ लाखरुपया थी। किन्तु जब गांवों की सारी आवश्यकताओं,विस्तृत कृषि तथा भारत में सहकारिता ऋण समितियों के विषय में विकास का हिसाब लगाया जाता है तो यहां समुद्र में एक बूंद जैसी दिखलाई देती है और तब पता चलता है कि अधिकांश क्षेत्र साहूकार के लिये अब भी बचा हुआ है।[5]

४. गांव के साहूकार का कार्य। गांव के साहूकार का मुख्य कार्य जरूरतमंद को रुपया उधार देना है। उसके पास रुपया बहुत कम जमा रहता है, जो कुछ होता है, वह उसका अपना निजी है। क्योंकि उसके पास जमा करने कोई नहीं आता। कभी-कभी

---

१. यह अनुमान लगाया गया है कि ४८ लाख सदस्यों के १ करोड़ ७२ लाख कुटुम्बी होंगे। तिसपर भी; यदि सभी समितियों के सदस्यों की कुल संख्या निकाली जाय तो उसका प्रतिशत अनुपात १६ होगा।

२. डाक्टर एल. सी जैन साहूकार तथा देसी बैंकर में विभेद करते हैं। साहूकार केवल रुपया उधार देता है, जबकि देसी बैंकर के पास रुपया जमा भी किया जाता है और वह अपनी हुंडियां निकालता है—Monetary Problems of India, p. 55.

3. Muranjan—Modern Banking in India.

४. डाक्टरआर. मुकर्जी १९३५ के मत में। भारत के रिजर्व बैंक के १९३९ के अनुमान के अनुसार गांवों का कुल ऋण १,८०० करोड़ रुपया था।

5. Reserve Bank of India—Review of the Co-operative Movement in India, 1948-50.

अस्थायी रूप से सुरक्षा के लिए उसके पास अवश्य ही जमा कर दिया जाता है, किंतु ऐसा कभी कभी ही होता है। वह या तो जेवर की जमानत अथवा अगली फसल पर चुकाने की जमानत पर रुपया उधार देता है। उसका मुख्य कार्य उपयोग के लिए ऋण देना है। कभी-कभी वह गांव में किराने की दूकान भी खोल लेता है और अपने असामी की फसल को मोल लेता है जिसको या तो वह अपने उपयोग में लाता है अथवा पास की मंडी में बेच देता है। ब्याज की दर असामी के विश्वस्त होने के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है। असुरक्षित ऋणों में ब्याज की दर सदा ही ऊंची होती है। अकाल तथा अभाव के दिनों में, पुत्र-जन्म पर अथवा कन्या का विवाह होने पर जमींदार उसकी शरण लेता है। वास्तव में किसान के सम्मान का वह असली संरक्षक है।[१] कीमतें चढ़ जाने, सुगमता से उधार मिल जाने तथा साहूकारे पर सजा दिलाने वाला कानून बन जाने पर भी साहूकार के किसान के ऊपर से अधिकार को अभी तक हिलाया नहीं जा सका। बम्बई के थाना जिले में यह पता लगा कि वहां ब्याज की अधिकतम दर ५८ प्रतिशत थी। दारंग (आसाम) की जांच से भी यही पता चला। वहां ३० से लेकर ५० प्रतिशत तक ब्याज लिया जाता था और अधिकांश ऋण अनुत्पादक कार्यों के लिए लिया जाता था।

उनके ब्याज की दर ऊंची होती है, किन्तु उनका खतरा भी बड़ा होता है। साधारण किसान अपने पास आवश्यकता के समय खर्चने को रुपया तैयार रखने के लिये या तो अत्यधिक निर्धन अथवा अदूरदर्शी होता है। अतएव जरूरतमंद को पूंजी देने वाली किसी संस्था का होना आवश्यक है। अतएव साहूकारों को न तो पूर्णतया समाप्त किया जा सकता है और न समाप्त करना ही चाहिए। किन्तु उनके आपत्तिजनक कार्यों को कठोरता से रोका जाना चाहिए और उनके व्यापार को नियमित बनाना चाहिए। उनको निश्चित प्रणाली पर हिसाब रखने के लिये विवश किया जाना चाहिए। उनको व्यापारिक बैंकों द्वारा रुपया दिलवाना चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर रिजर्व बैंक[२] द्वारा भी दिया जाना चाहिए।

५. वर्तमान में ग्रामीण बैंकिंग का महत्व। यह इस ग्रंथ में अन्यत्र बतलाया जा चुका है कि आजकल सब से अधिक महत्वपूर्ण समस्या भारत को खाद्य, रुई तथा पटसन में आत्मनिर्भर बनाना है। इस सम्बन्ध में अपनाए हुए अन्य उपायों में कृषि की उन्नति के लिये धन देने की पर्याप्त सुविधाओं की व्यवस्था भी है। किसी भी प्रणाली की सरकार में कोई आर्थिक कार्य उधार बिना सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता। अन्य कार्यों की अपेक्षा कृषि के विषय में यह अधिक सत्य है। भूमि सुधारों तथा साहूकारों के नियंत्रण के लिये पिछले दिनों बनाए हुए नियमों से उधार मिलने की स्थिति में और खराबी हो गई। अतएव, आज इस बात की पहले से अधिक आवश्यकता है कि नई संस्थाएं खोलकर किसानों को साधारण बैंकिंग सुविधाएं पहुंचाई जांय।

ग्रामीण बैंकिंग को एक और दृष्टिकोण से भी पिछले वर्षों में महत्व प्राप्त हुआ है। खाद्यान्नों तथा अन्य वस्तुओं के भाव अत्यधिक चढ़ जाने के कारण "यह संभावना है कि राष्ट्रीय आय का एक बड़ा भाग ग्रामीण क्षेत्रों से प्राप्त होगा।" देहाती आय तथा उसके वितरण के सम्बन्ध में विश्वस्त अंकों के अभाव में देहाती क्षेत्रों में बचत के परिमाण के संबंध में हिसाब लगाना निश्चय से असंभव है। किन्तु यह अनुमान लगाना अनुचित

---

१. पंजाबी कहावत, 'साह बिना पत नहीं गुरु बिना गत नहीं।'

2. Muranjan—op cit., p. 180.

और उस अन्तर को अपने लाभ के लिये रखता है। वह व्यापारी को भी धन देता है और इस प्रकार हुंडी को सकार कर बाजार तथा बैंक के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। बाद में आवश्यकता होने पर वह हुण्डी पर बैंक से दुबारा धन ले लेता है। वह सोना, चांदी, जेवर माल या व्यक्तिगत जमानत पर ऋण दे देता है। जो लोग बैंक जाते झिझकते हैं वह उनको ऊंची दर के ब्याज पर ऋण देता है। जैसा कि सर जॉर्ज शुस्टर (Sir George Shuster) ने कहा था, "भारत के समस्त बैंकिंग तथा ऋण संस्थान में देसी बैंकर जो कार्य कर रहे हैं, उनके विषय में अनुमान से अधिक कहना असंभव है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि देसी बैंकर लोग इस व्यवसाय में ९० प्रतिशत या इससे भी अधिक भाग लेते हैं।"

७. देसी बैंकर और रिजर्व बैंक। अतएव यह आवश्यक है कि इन बैंकरों को आधुनिक बाजार के सम्पर्क में लाया जाय, जिससे कि वह जनता को उचित दर पर उधार तथा बैंकिंग सुविधाएं दे सकें।

सर जे. बी. टेलर ने (Sir J. B. Taylor), जो किसी समय रिजर्व बैंक के गवर्नर थे -- देसी बैंकरों का रिजर्व बैंक के साथ सीधे सम्बन्ध बनाने की एक योजना बनाई थी और प्रस्ताव किया था कि कुछ विशेष शर्तें लगाकर उनको बैंक की परिगणित सूची में सम्मिलित कर लिया जाय। वह देसी बैंकरों के पास सम्मति के लिये भेज दी गई। बम्बई के सराफ संघ तथा अन्य व्यापारिक संगठनों द्वारा उनको अत्यन्त कठोर बतलाया गया, और तदनुसार उनमें परिवर्तन करके उनको निम्नलिखित रूप दिया गया :--

(क) जो देसी बैंकर दो लाख पूंजी से कार्य करते हों और उस पूँजी को पांच लाख तक बढ़ाने को तैयार हों, उनको रिजर्व-बैंक के रजिस्टर में दर्ज कर लिया जाय।

(ख) वह एक निश्चित समय के अन्दर बैंकिंग के अतिरिक्त अन्य सभी कामों को करना बंद कर दें और केवल बैंकिंग-कार्य ही किया करें।

(ग) वह नियमित रूप से हिसाब रखा करें और उनको समय पर जंचवा (Audit) लिया करें। उनको यह भी व्यवस्था करनी चाहिये कि रिजर्व-बैंक जब चाहे उनके हिसाब की जांच कर उन पर उचित नियम द्वारा नियंत्रण कर सके।

(घ) वह अपने आय-व्यय के लेखे को प्रकाशित किया करें और समय-समय पर अपना वक्तव्य रिजर्व बैंक को भेजा करें।

(ङ.) इसके बदले में रिजर्व बैंक उनको निम्नलिखित सुविधाएं देगा---रिजर्व बैंक उनके कागजों को सीधे लेकर उन पर दुबारा बट्टा ले लेगा, उनको सरकारी कागज के विरुद्ध उधार लेने का अधिकार होगा और एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजने की वैसी ही सुविधाएं मिलेंगी, जैसी परिगणित सूची के बैंकों (Scheduled Banks) को दी जाती हैं।

जो देसी बैंकर उपरोक्त योजना के अनुसार रिजर्व बैंक से सम्बन्ध न जोड़ सकें, वह परस्पर मिल कर एक परिमित क्षेत्र में बट्टा कम्पनियां (Discount Companies) बना लें और इस प्रकार रिजर्व बैंक से सम्बन्ध स्थापित कर लें।

देसी बैंकरों से इनके जो उत्तर मिले, वह प्राय: अनुकूल नहीं थे। वह अनुभव करते थे कि रिजर्व बैंक द्वारा उनकी हुण्डियां सकारने की सुविधा उतनी बड़ी सुविधा नहीं थी कि उसके लिए वह अपने वंश में परम्परा से चले आने वाले बैंकिंग के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय को छोड़ दें। बम्बई सराफा संघ सोने, चांदी और आभूषणों के व्यापार को छोड़ने को तैयार नहीं था। वह निश्चित हिसाब-

लेखें को ही प्रकाशित करने को तैयार नहीं थे, क्योंकि उनके विचार में इससे उनको लाभ की अपेक्षा अधिक हानि पहुंचती थी ।

बैंक के प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिये जाने के कारण इस विषय में आगे कोई प्रगति नहीं की जा सकी। अब रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो जाने से इस विषय में अधिक प्रगति की जा सकती है । यह आवश्यक है कि बैंकर लोग एक ढंग अपना लें। बैंकिंग के अतिरिक्त अन्य कार्यों को करना छोड़ दें तथा बैंकिंग द्वारा निश्चित प्रणाली पर काम करें । इससे न केवल उनको ही लाभ होगा, वरन् इससे भारत में बैंकिंग-कार्य में भी उन्नति होगी । १९५१ में कुछ देसी बैंकरों ने रिजर्व बैंक के उक्त प्रस्ताव का लाभ उठाया। अतएव उनको एक स्थान से दूसरे स्थान पर रुपया भेजने को सुविधा उसी प्रकार से दी गई जिस प्रकार ९५ परिगणित सूची के बैंकों को रियायती दर पर दी जाती है ।

८. **दीर्घकालीन ऋण और भूमि-रहन बैंक ।** गांवों में अल्पकालीन तथा मध्य-कालीन ऋण सहकारिता समितियां तथा देसी बैंकर देते हैं। दीर्घकालीन ऋण की समस्या कृषि के सम्बन्ध में अत्यन्त कठिन है। भूमि रहन बैंकों का काम है, (क) जमींदारों को उधार देना, उनको बनिये के चंगुल से छुड़ाना और उनको उनके पैरों पर फिर खड़ा करना, (ख) अधिक जमीन मोल लेना और (ग) उनको उनकी भूमि में ऐसे-ऐसे व्ययसाध्य सुधार करने योग्य बनाना जिन्हें करना उनकी शक्ति में न हो। इनके विषय में हम सहकारिता के वर्णन में विस्तार से विचार कर चुके हैं।

९. **डाकखाने का सेविंग्स बैंक।** इनकी स्थापना १८८२ में निर्धन व्यक्ति में बचत की आदत बढ़ाने के लिये की गई थी। संयुक्त भारत में इन सेविंग्स् बैंकों के प्रधान तथा शाखा कार्यालयों को संख्या २७००० थी। भारत में कुल गांवों की संख्या साढे छः लाख है। इसका यह अर्थ है कि २४ गांवों के पीछे ऐसा एक-एक बैंक है। उनकी सफलता कम नहीं है, किन्तु सब मिला कर वह सफलता कुछ भी नहीं है। १९५०-५१ के अन्त में केवल भारतीय संघ के अन्दर ही बैंकों पर बकाया ९४ करोड़ रुपये का था। इस संख्या में विभाजन का बकाया सम्मिलित नहीं है ।

मार्च १९४९ के अन्त में भारतीय जनतंत्र में कुल डाकखानों की संख्या २६,७६० थी। उनमें से ९४६५ सेविंग्स्-बैंक का कार्य कर रहे थे । किसी डाकखाने को सेविंग्स्-बैंक विभाग खोलने की अनुमति यह विश्वास होने पर ही दी जाती है, कि उसमें कम-से-कम २० खाते खुल सकेंगे। इन ९,४६५ सेविंग्स् बैंकों में से ६,४०१ ग्रामीण-क्षेत्रों में थे। यह २००० या अधिक जनसंख्या वाले गावों की कुल ४० प्रतिशत जनसंख्या की ही सेवा कर सकते थे। डाकखाने के सेविंग्स बैंक की गांवों में वर्तमान स्थिति का पता नीचे की तालिका से लगता है—

ग्रामीण डाकखानों के सेविंग्स् बैंक

	१९४३	१९४९	वृद्धि
१. सेविंग्स् बैंक का काम करने वाले डाकखानों की संख्या	५,५१२	६,४०१	८८९
२. खातों की संख्या (लाखों में)	७	१२	५
३. बकाया रकम (लाख रुपयों में)	१७,७१	६३,१४	४५,१४
४. प्रति खाता औसत बकाया	२४५	५२८	२८३

केन्द्रीय बैंकिंग रिपोर्ट में कहा गया था कि "देश के अत्यधिक आन्तरिक भाग में रहने वाले व्यक्ति के पास वह अभी तक नहीं पहुंचा पाया है। यहां तक पहुंचना

चाहिये। छोटी-छोटी बचत की रकमों तथा छोटे-छोटे आदमियों को अभी एकत्रित किया जाना है।"

यह प्रस्ताव किया गया है कि यदि (क) जमा रकम पर लगाई हुई सीमा को बढ़ा कर कुछ अन्य सुविधाएं दी जावें और (ख) यदि भारतीय भाषा में चेकों द्वारा इन खातों से रुपया निकाला जा सके तो इन सेविंग्स बैंक खातों में सुधार किया जा सकता है।

सेविंग्स बैंक पर युद्ध का प्रभाव—द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने पर लोगों ने डाकखानों के अपने खातों से धड़ाधड़ रुपया निकालना आरम्भ किया और पोस्टल कैश सर्टिफिकेटों को भी भुनाना आरम्भ किया, क्योंकि उनमें घबराहट फैल रही थी। किन्तु १९४३ तक स्थिति ठीक हो गई और जनता में विश्वास जम गया। अब इन बैंकों में अधिक रकमें जमा होने लगीं।

१९४१ में पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक खाते की एक नयी योजना चलाई गई। उसे भारतीय पोस्ट आफिस प्रतिरक्षा (Defence) सेविंग्स बैंक खाता नाम दिया गया। उसमें प्रधान आकर्षण उसका २॥ प्रतिशत ब्याज आयकर रहित था, अर्थात् इसमें डाकखाने के साधारण खाते से एक प्रतिशत ब्याज अधिक दिया जाता था। १९४७ में इस खाते में कुल ११ करोड़ रुपये जमा थे। किन्तु उस समय यह रकम कम होने लगी, क्योंकि युद्ध समाप्त हो गया और रकमों को इच्छानुसार निकाला जा सकता था। कुछ समय बाद नए बारह वर्षीय नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट चलाये गये। उनका समय पूर्ण होने पर इन पर ३॥ प्रतिशत ब्याज आयकर रहित दिया जाता था। १९४३ से डाकखाने के सेविंग्स बैंक में जमा रकमों पर भी ब्याज को १॥ प्रतिशत से बढ़ा कर दो कर दिया गया। किन्तु यह ब्याज उसी रकम पर दिया जाता था जो पूरे वर्ष भर २०० से कम न हो। बिना ब्याज के ऐसी किश्तों वाले बांड (Premium Bond) भी निकाले गये, जिनकी बिक्री पर जनता को छमाही इनाम दिया जाता था। वह सममात्रा (at par) में १९४८ में चुका दिये गए।

छोटे-छोटे सेविंग्स फंड तथा पोस्टल सेविंग्स बैंकों के खातों में १९५०–५१ के अंत में कुल बकाया ९४·३ करोड़ रुपया था। इसमें विभाजन से पूर्व के बकाया का भारत का भाग नहीं कि जो १९४८-४९[१] में ४३ करोड़ रुपये था।

१०. भारत में संयुक्त पूंजी बैंकिंग। (१) प्रारम्भिक इतिहास—बम्बई और कलकत्ता के एजेंसी हाउसों ने भारत में १८वीं शताब्दी में आधुनिक बैंकिंग चलाया। जो भी हो, उनके बैंकिंग-कार्य उनके मुख्य व्यवसाय के अधीन थे। वास्तव में उन्होंने अपने व्यापारिक कार्यों को बढ़ाने के लिए ही बैंकिंग कार्यों को आरम्भ किया था। उसके बाद जो संयुक्त पूंजी बैंक बने, उनका उत्तरदायित्व असीमित था। उनका प्रबन्ध यूरोपियन लोग किया करते थे। वह देश में नोट चलाने का महत्वपूर्ण कार्य किया करते थे। १८२९-३० के व्यापारिक संकट ने सट्टा करने वाले एजेंसी हाउस को समाप्त कर दिया। १८३० से १८८० तक बैंकिंग प्रवृत्ति में अत्यन्त धीमी प्रगति रही। इस बीच अनेक संयुक्तपूँजी बैंकों ने अपना काम आरम्भ किया, किन्तु बाद में उनको अपना सारा काम-काज समेट कर बैठ जाना पड़ा। सीमित उत्तरदायित्व के सिद्धांत को १८६० के आसपास स्वीकार किया गया।

---

१. विस्तृत अध्ययन के लिए Currency and Finance पर १९५०–५१ के Statements की रिपोर्ट को पृष्ठ ६८ से ७० तक पढ़ें।

(२) **प्रेसीडेंसी बैंकों का आरम्भ**—बंगाल, बम्बई और मद्रास के तीनों प्रेसीडेंसी बैंक भी—जिनको भारत के बैंकिंग का महत्वपूर्ण कार्य करना था, इस संकट-काल में ही खुले। १८६२ से पूर्व उनका नियंत्रण सरकार के हाथ में था और इसीलिए उनके कार्यों पर पाबंदी लगी हुई थी। १८६२ में उनका नोट निकालने का कार्य छीन लिया गया, किन्तु सरकार के एजेंट के रूप म वह अब भी कार्य करते रहे। कुछ दिनों बाद उनके ऊपर से प्रतिबन्धों को ढीला कर दिया गया, जिसके फलस्वरूप १८६८ में बम्बई बैंक फेल हो गया। इसी वर्ष बम्बई बैंक नाम से एक दूसरा बैंक भी खोला गया। सन् १८७६ में एक अधिनियम पास करके उसके अनुसार पुराने नियन्त्रणों को फिर लगा दिया गया। सरकार अब भी उनमें अपना रुपया सीमित मात्रा में रखा करती थी। इस प्रकार राज्य-बैंक न होते हुए भी उनकी इस प्रकार की स्थिति १९२१ तक बनी रही, जब उन तीनों को मिला कर इम्पीरियल बैंक आव् इंडिया बना दिया गया।

(३) १८८० तक आर्थिक परिस्थिति स्थिर थी तथा मूल्य गिर रहे थे। अत-एव उन दिनों बैंकिंग में कोई उन्नति नहीं हुई। १८८० के बाद बैंकों ने कुछ उन्नति की, किन्तु अगली दशाब्दी में उनको पर्याप्त लाभ हुआ। अवध कमर्शल बैंक प्रथम भारतीय संयुक्त पूंजी बैंक था। उसको १८८१ में आरम्भ किया गया था। उसके बाद पंजाब नेशनल बैंक (१८९४) तथा पीपुल्स बैंक आव् इंडिया (१९०१) बने।

१९०५ के स्वदेशी आन्दोलन से भारतीय बैंकिंग को अच्छा बल मिला। मूल्यों में स्थिरता से तेजी आने तथा १८९८ के बाद बाजार में चलअर्थ में अत्यधिक वृद्धि होने के कारण भी उनकी उन्नति हुई। उस समय पर्याप्त बैंक खुल रहे थे। भारत में तो नये बैंकों की बाढ़ जैसी आ गई थी। उनमें से कुछ का फेल होना आवश्यक था। कुछ अन्य, जसे कि बैंक आव् इंडिया, बैंक आव् बड़ौदा, पंजाब और सिंध बैंक ने अपने को ठोस और विश्वसनीय सिद्ध कर दिया। उन्होंने १९१३ तक शीघ्रतापूर्वक उन्नति की, कि जब भारतीय बैंकों पर फिर संकट आया। उस समय उनमें से एक सबसे बड़ा—पीपुल्स बैंक आव इंडिया फेल हो गया। उसके फेल होने के लपेट में कई अन्य बैंक भी आगए। उस समय एक के बाद दूसरा करते हुए अनेक बैंक भंवर में फंस गए और नष्ट हो गए। यहां तक कि लगभग ५०[१] बैंक फेल हुए।

प्रथम महायुद्ध के समय भी बैंकों की एक हल्की-सी बाढ़ आई। उस समय भी भारत ने नये-नये बैंकों को खुलते देखा। युद्ध आगे बढ़ते जाने पर उनमें से कई-एक फेल हो गए। किन्तु युद्ध के बाद की भयंकर मंदी में तो अनेक बैंक फेल हो गए। इनमें शिमले का अलाँयस बैंक अत्यन्त महत्वपूर्ण था। यह बैंक बहुत पुराना था और इसकी चुकता पूंजी ८८ लाख रुपये की थी। उसके यहां १६ करोड़ रुपये से अधिक रकम जमा थी। बैंक के फेल होने का कारण मुख्य रूप से लंदन के बोल्टन ब्रदर्स द्वारा, जो बैंक के एजेंट थे, फजूल खर्च करना था। यह विनाश ऐसा भयंकर था कि सरकार ने इम्पी-रियल बैंक को आज्ञा दी कि वह अलांयस बैंक के सभी ग्राहकों को उनके द्वारा जमा की हुई रकम का ५० प्रतिशत भाग चुका दे। सरकार ने माली सौदों की हानि के लिये इम्पीरियल बैंक की गारंटी की व्यवस्था की।

---

१. मुरंजन op. cit. Jather and Beri इनकी संख्या ५५ बतलाते हैं। देखो Indian Economics, Vol. II. p. 434. जबकि माथुर उनकी संख्या १०० बतलाते हैं।

१९२९ की विश्वव्यापी मंदी के समय भी भारत में अनेक बैंक फेल हो गए। १९३१ से लेकर १९३६ तक कम-से-कम २३८ बैंकों ने अपना कारोबार बंद कर दिया किंतु उनमें से अधिकांश अत्यधिक छोटे-छोटे थे। उनमें से केवल ५ की पूंजी एक लाख और उससे अधिक थी।

१९३८ में बैंकों पर एक और संकट आया। सौभाग्यवश वह दक्षिणी भारत तक ही सीमित रहा। किन्तु उसमें वहां का एक सब से बड़ा—ट्रावन्कोर नेशनल एण्ड किलन बैंक भी था। यह बैंक रिजर्व बैंक के खुलने के तीन वर्ष बाद फेल हुआ। उसके फेल होने के समय रिजर्व बैंक ने उसके मामले में ठीक-ठीक जांच किये बिना सहायता करने में आनाकानी की, किन्तु उस समय तक अत्यधिक विलम्ब हो चुका था। इस बैंक के फेल होने से इस बात की जांच करने की भारी आवश्यकता प्रतीत हुई कि भारतीय बैंक अपने पास सामान्यतः किस प्रकार की सम्पत्ति रखा करें और उसमें से कितनी सम्पत्ति रिजर्व बैंक के पास जमा किया करें।

सन् १९०० से लेकर १९३८ तक का बैंकों का उपरोक्त इतिहास यह प्रगट करता है कि भारतीय बैंक एक भारी संकट को पार कर गए, एक महायुद्ध में भी जीवित बने रहे, और एक इतिहास-प्रसिद्ध विश्वव्यापी मंदी के समय भी जीवित रह गए। उसके बाद वह द्वितीय विश्व-युद्ध में फंस गए। भविष्य के लिये शिक्षा लेने की दृष्टि से उन दिनों फेल होने वाले बैंकों के कारणों पर विचार करना लाभप्रद होगा।

११. बैंकों के असफल होने के कारण। बैंक अन्य संयुक्त पूंजी संस्थाओं के समान नहीं होते। उनके असफल होने से उनके भागीदार (शेयर होल्डर) ही नष्ट नहीं होते, वरन् बैंकों में रुपया जमा करने वाले भी मर मिटते हैं। अतएव उनके फेल होने के कारणों पर विचार करना आवश्यक है, जिससे इस प्रकार की गलतियों से भविष्य में बचा जा सके। वह कारण ये हैं—

(क) **कम पूंजी तथा क्षीण स्थिति**—उपरोक्त फेल होने वाले सभी बैंकों में लगभग दो तिहाई बैंक ऐसे फेल हुए जिनकी आयु १० वर्ष से कम थी। दिवालिया बैंकों में से अधिकांश की चुकता पूंजी एक लाख रुपये से कम थी। वह इतने छोटे थे कि उनमें से कुछ के नाम तक का पता चलना कठिन है।

(ख) **प्रशिक्षित मैनेजरों की कमी**—जब तक उनका मैनेजर योग्य तथा बैंकिंग-शिक्षा-प्राप्त न हो, बैंकों का फेल होना अनिवार्य है।

(ग) चुकता पूंजी, अधिकृत पूंजी तथा स्वीकृत पूंजी में भारी अन्तर था। सरकार ने बैंकिंग-कार्य में इस प्रकार की विभिन्नता दूर करने के लिये अभी-अभी कानून बनाया है।

(घ) पूंजी लगाने वालों को फांसने के लि वड़े-बड़े नामों का उपयोग किया जाता था। जाली हिसाब रखे जाते थे। रजिस्टर झूठे रखे जाते थे। डाइरेक्टरों तथा उनके मित्रों को बिना जमानत अथवा अपर्याप्त जमानत पर उधार दे दिये जाते थे।

(ङ) सट्टे तथा अधिक लाभांश देने अथवा शीघ्र देने की इच्छा से भी अनेक बैंक फेल होगए। इंडियन स्पेसी बैंक चांदी का सट्टा करके फेल हुआ था।

(च) व्यापारिक बैंकों के पास अल्पकालीन रकमें जमा की जाती हैं। वह औद्योगिक फर्मों में अपनी सम्पत्ति की देखभाल नहीं कर सकते। बैंक का मुख्य कार्य विश्वास पर चलता है। उनको जार की पत्नी के समान संदिग्ध नहीं होना चाहिये। यदि उनके पास तरल सम्पत्ति न होगी तो उनका फेल होना अनिवार्य है। पीपुल्स बैंक

औद्योगिक फर्मों को बड़ी रकमें दे देने के कारण दो बार फेल हुआ। इसी कारण से टाटा इण्डस्ट्रियल बैंक को सेंट्रल बैंक आव् इंडिया में मिल जाना पड़ा।

(छ) दुर्भाग्य दिवालियेपन का अकेला कारण कभी नहीं होता, उसको सदा भूल, अयोग्यता तथा बेईमानी से सहायता मिलती है। अलायंस बैंक आव् शिमला को अपने लन्दन के एजेंटों के मूर्खतापूर्ण विस्तार के कारण बन्द होना पड़ा।

(ज) देनदारियों में तरल सम्पत्ति का अनुपात पर्याप्त ऊंचा होना चाहिए। भारत में तो उसे और भी ऊंचा होना चाहिए, क्योंकि यहां कि जनता अज्ञानी तथा अशिक्षित है और इंग्लैंड की अपेक्षा बाजार की अफवाहों से शीघ्र घबरा जाती है। देनदारियों में नकदी के कम अनुपात के कारण ही लार्ड कीनीज ने (Lord Keynes) भारतीय बैंकों पर १९१० में संकट आने की भविष्यवाणी की थी।

बैंकों के फेल होने के कारणों का विश्लेषण करते हुए यह पता चलता है कि एक महत्वपूर्ण कारण उनका अधकचरापन तथा उनकी अनुभवहीनता भी था। दुर्भाग्यवश हमने इंग्लैंड में फेल होने वाले बैंकों से कोई पाठ नहीं सीखा। यह कहा जाता है कि ब्रिटिश बैंक संसार भर के बैंकों से सबसे ठोस होते हैं किन्तु यह ठोसपन सैंकड़ों बैंकों को फेल करके प्राप्त किया गया है।

दूसरा बड़ा कारण इकाई बैंकिंग की प्रथा की पद्धति का प्रचलन है। आज पहले के समान, देश में सैंकड़ों छोटे-छोटे बैंक हैं, जो इतने छोटे हैं कि उनको रिजर्व बैंक की दूसरी सारिणी सूची में भी सम्मिलित नहीं किया जा सकता। उनमें से अनेक अपने साप्ताहिक हिसाब को भी प्रकाशित नहीं करते। दिसम्बर १९५० में उनकी समस्त देनदारी की अपेक्षा उनकी नकदी का अनुपात ७% था और अक्तूबर १९५१ में केवल ६% था। यह अनुपात वास्तव में बहुत कम है। इन्हीं वर्षों के लिये जमा रकमों के विरुद्ध इनका नकदी का अनुपात क्रमशः ९.६% तथा ८% है जबकि सारिणी सूची के बैंकों का अनुपात १३ प्रतिशत था।

भारत म एक और विचित्र बात यह है कि बड़े-बड़े व्यापारी, जिनके अनेक कारखाने होते हैं---अपने उस वर्ग के लिये बैंक खड़ा कर लेना लाभप्रद समझते है। उसका संचालन वह स्वयं करते हैं, ओरिएंटल बैंक आफ कामर्स, यूनाईटेड कमर्शियल बैंक और हिन्दुस्तान कमर्शियल बैंक इसके उदाहरण हैं। इस मनोवृति पर विचार करने की आवश्यकता है।

पूंजी को मूर्खतापूर्वक खर्च देना भी बैंकों के फेल होने का एक कारण है। इस मूर्खता का कारण यह है कि पूंजी लगाने के लिये अवसरों का अभाव है, भारत में विकसित हुंडी बाजार भी नहीं है।

सरकार की बैंकों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप न करने की नीति भी अनेक बैंकों के फेल होने का कारण थी। भारतीय बैंकिंग में विभिन्न विजातीय तत्वों को एक करके उनमें सहयोग कराने वाले साधन का अभाव था। केवल १९४९ में जाकर बैंकिंग विधि बनायी गयी।

तो भी, यह बात स्वीकार करने की है कि 'न तो सन् तीस के बाद की विश्वव्यापी मन्दी और न देश-विभाजन का प्रवाह ही भारत में संयुक्त पूंजी बैंकिंग के विकास में भारी बाधा पहुंचा सके।' फिर भी वह इन आपत्तियों से अछूते तो नहीं रहे। यहां तक कि अधिक उन्नत देशों के बैंकों को भी बड़ी-बड़ी भारी हानियां उठानी पड़ीं।

१२. संयुक्त पूंजी बैंकों का व्यवसाय। भारत में संयुक्त पूंजी बैंकों का व्यवसाय साधारणतः निम्नलिखित होता है।

(क) सभी प्रकार की ध्रुव खातों, चालू तथा सेविंग्स बैंक खाते की अमानतें जमा करना।

(ख) आन्तरिक हुंडियों पर बट्टा लेना, स्टाक तथा शेयरों, अचल सम्पत्ति तथा वस्तुओं के विरुद्ध ऋण देना, वह स्वीकृत ग्राहकों को सीमित मात्रा में अस्थायी रूप से जमा से अधिक धन भी दे देते हैं।

(ग) बैंक के ड्राफ्ट तथा ऋण-पत्रों (Letters of Credit) द्वारा अपने ग्राहकों की ओर से एक स्थान से दूसरे स्थान पर रुपया भेजना।

(घ) कमीशन के आधार पर अपने ग्राहकों की ओर से शेयरों का क्रय-विक्रय करना।

(ङ) दस्तावेजों तथा आभूषणों को सुरक्षित तिजोरियों में रखना।

वह विदेशी व्यापार को बिल्कुल छोड़ते हुए देश के आन्तरिक व्यवसाय के लिये धन देते हैं। विदेशी विनिमय बैंकों की पूंजी तथा सुरक्षा निधि बहुत बड़ी होती है और संयुक्त पूंजी बैंक उस काम को नहीं कर सकते। विदेशी विनिमय व्यवसाय में लाभ की दर बहुत कम होती है और उनमें से अधिकांश को बहुत बड़ी पूंजी की आवश्यकता पड़ती है।

गांव वालों के अशिक्षित होने के कारण तथा उनके पर्याप्त तरल जमानत देने में असमर्थ होने से संयुक्त पूंजी बैंक कृषि-पदार्थों के व्यवसाय में भी बहुत कम भाग लेते हैं। वैसे संयुक्त पूंजी बैंक कृषि-हुंडियों को ले सकते हैं। किन्तु देश में कृषि-पदार्थों के गोदामों की कमी के कारण वह इस व्यवसाय में पड़ना पसन्द नहीं करते।

उनकी सम्पत्ति तथा देनदारियां—संयुक्त पूंजी बैंकों के दायित्व में उनकी पूंजी, सुरक्षा निधि तथा जमा की हुई रकमें होती हैं। किसी बैंक की पूंजी और सुरक्षा निधि से ही जनता को उसमें विश्वास होता है। वह उसकी प्रथम रक्षा-पंक्ति का काम देते हैं। भारत में सारिणी सूची के बैंकों से नकदी तथा जमा होने वाली रकमों में अनुपात साधारणतया १२ से १५ तक होता है। अनुपात चालू आर्थिक दशा तथा उस रकम पर निर्भर करता है, जिसे जमा किया जाता है।

संयुक्त पूंजी बैंकों की सम्पत्ति में (१) नकदी, (२) सकारी हुई हुण्डियां (३) सरकारी तथा अन्य प्रतिभूतियां. (४) ऋण तथा ग्राहकों को दिये हुए अगाऊ धन और (५) अचल सम्पत्ति होती है।

कोई बैंक अपनी देनदारी की अपेक्षा अपने हाथ में कितनी नकदी रखे, यह अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है, क्योंकि रोकड़ खाली हो जाने से बैंक दिवालिया हो जाता है। जनता की अचानक तथा भारी मांग आ जाने के विरुद्ध सकारी हुई हुंडियां तथा सरकारी प्रतिभूतियाँ द्वितीय रक्षापंक्ति का काम देती हैं। क्योंकि हुंडियों पर रिजर्व बैंक से फिर धन लिया जा सकता है और सरकारी प्रतिभूतियों के विरुद्ध उधार लिया जा सकता है। प्रतिभूतियों को सुगमता से बेचा भी जा सकता है और इस प्रकार भी उनसे धन मिल सकता है। भारतीय बैंकों को अधिक तरल साधनों की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि उन पर बाजारू चर्चा का प्रभाव शीघ्र पड़ता है। ब्रिटिश तथा अमरीकन बैंक नकदी का कम अनुपात अपने पास रखते हैं। वह भारत के १५ प्रतिशत की तुलना में

कुल १० प्रतिशत ही अपने पास रखते हैं। भारतीय बैंकों ने अपने छोटे से जीवन में अनेक संकटों का मुकाबला करके उनसे शिक्षा ली है। अतएव, यह अन्य देशों के बैंकों की अपेक्षा अधिक सुरक्षित धन अपने हाथ में रखते हैं।

सारिणी सूची के बैंक--नीचे दी हुई तालिका से भारतीय संयुक्त पूंजी बैंकों[1] की आरम्भिक काल से अब तक की स्थिति का पता चलता है। युद्ध के दिनों में वह अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्वक अधिक नकद रकम अपने पास रखा करते थे। युद्धोत्तर-काल के साधनों के अंकों में उन्नति देखने में आती है। इसका कारण उन पर रिजर्व बैंक का पहले की अपेक्षा अधिक कठोर निरीक्षण तथा नियन्त्रण है। इन बैंकों के पास नकदी के अतिरिक्त सरकारी प्रतिभूतियों की भारी मात्रा होने के कारण उनकी सुरक्षानिधियां पर्याप्त जान पड़ती हैं। किन्तु तो भी, यदि उनकी रोकड़ की स्थिति का इम्पीरियल बैंक की रोकड़ की स्थिति से तुलना की जाय तो उनकी स्थिति उससे निर्बल ठहरती है।

तालिका १

संयुक्त पूंजी बैंक, श्रेणी अ (पांच लाख से अधिक पूँजी वाले)

(रुपये लाखों में)

वर्ष	रिपोर्ट करने वाले बैंकों की संख्या क	पूंजी तथा सुरक्षा निधि ख	जमा रकमें चालूखाते तथा स्थिर खाते ग	नकद रोकड़ घ	देनदारी की अपेक्षा नकद रोकड़ का अनुपात अर्थात् घ की अपेक्षा ग
१९१३	१८	३,६४	२२,५९	४,०९	१८
१९२३	२६	९,३७	४४,४३	७,३०	१७
१९३३	३४	१२,३३	७१,६८	१०,९२	१६

सारिणी सूची के बैंकों की व्यापक रूप में स्थिति

(रुपये लाखों में)

वर्ष (दिसंबर का अंतिम शुक्रवार)	रिपोर्ट करने वाले बैंकों की संख्या १	अमानतें			समस्त देन-दारियां ५	रोकड़ हाथ में तथा रिज़र्व बैंक के पास ६	कालम ६ की अपेक्षा कालम ४ का प्रतिशत अनुपात
		तात्कालिक २	सावधि ३	योग ४			
१९३९	५९	१४०	१०६	२४६	——	२४५	१०·०
१९४८	९४	५८८	२५२	८४०	१,०००	१००	११·९
१९४९	९०	५५१	२५२	८०३	९३५	११७	१४·६
१९५०	९१	५६८	२७८	८४६	९९४	१०३	१२·२
१९५१ अक्तूबर	९१	५६२	२८४	८४६	१,००६	१२२	१३·२

१. इन सब बैंकों की पूंजी कम से कम पांच लाख रुपया है।

बाजार में चलन वाले नोटों के मूल्य को ध्यान में रखते हुए गत चार वर्षों की अमानतों का लाभ समान स्थिरता लिये हुए दिखाई देता है।

बिना सारिणी सूची के बैंक—इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे संयुक्त पूंजी बैंकों की भी बड़ी भारी संख्या है, जो रिजर्व बैंक की सारिणी सूची में नहीं हैं। १९३८ में उनकी संख्या १,४२१ थी। उनमें से अक्तूबर १९५० के ३४८ के विरुद्ध अक्तूबर १९५१ में कुल ३१८ ने रिजर्व बैंक को अपना हिसाब भेजा। उनको उन्नति का पता नीचे की तालिका से लगता है।

इन बैंकों की देनदारियों की अपेक्षा नकद रोकड़ का अनुपात बहुत कम, केवल ८% है। दो वर्ष से भारतीय द्रव्य-बाजार तंग बना हुआ है, अतएव रुपया उधार देने का प्रलोभन भी बढ़ा है। इन बैंकों के साधन कम हैं और यह साधारणतया कम-से-कम आवश्यक रोकड़ रखते हैं। इनकी समस्त देनदारियों का परिमाण भी घटा है। वह १९४६ के अन्त में ७८ करोड़ रुपये से घटकर अक्तूबर १९५१ में ४७ करोड़ रुपये हो गया है। इन बैंकों की अमानतों में जो भारी कमी आ गई है। उसका कारण देश के

बिना सारिणी सची के बैंकों की व्यापक स्थिति

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष (दिसंबर का अंतिम शुक्रवार)	रिपोर्ट करने वाले बैंकों की संख्या १	अमानतें			समस्त देन-दारियां ५	रोकड़ हाथ में तथा रिजर्व बैंक के पास ६	कालम ६ की अपेक्षा कालम ४का प्रतिशत अनुपात
		तात्कालिक २	सावधि ३	योग ४			
१९३९	६६९	५	११	१६	—	१·१	६·९
१९४८	४१९	१८	२७	४५	५९	४	८·६
१९४९	३५८	१५	२५	४०	५३	४	९·०
१९५०	३३९	१३	२४	३७	५८	४	९·६
१९५१ अक्तूबर	३१८	१२	२३	३५	४७	३	८·०

कुछ भागों में फैलने वाले दंगों तथा पश्चिमी बंगाल में नाथ बैंक का फेल होना है। किन्तु सारिणी सूची के बैंकों के विपरीत इन बैंकों की सावधि देनदारियाँ तात्कालिक देनदारियों से बढ़ी हुई हैं। इनमें से ६१ बैंकों को रिजर्व बैंक ने अन्यत्र रुपया भेजने की रियायती दर दी हुई थी। फरवरी १९४५ से यह निर्णय किया गया कि बिना सारिणी सूची के जो बैंक रिजर्व बैंक में अपना हिसाब खोलना चाहें, वह यदि रिजर्व बैंक में कम से कम १०,००० रुपये बकाया रख सकें तो बैंक उनको हिसाब खोलने की अनुमति दे सकता है।

१३. युद्ध-काल में संयुक्त पूंजी बैंकिंग—भारतीय बैंकों ने युद्ध के संक्षोभ को अच्छी तरह से झेल लिया। युद्ध-घोषणा के आरम्भ में कुछ सप्ताहों तक उनके ऊपर अच्छी-खासी भीड़ रही। १९४० में फ्रांस का पतन होने पर भी यह भीड़ बढ़ चली थी। किन्तु बैंकों ने भीड़ को सन्तुष्ट करके जनता का विश्वास सम्पादन कर लिया। जापान

द्वारा बर्मा पर अधिकार किय जाने पर बैंकों का भीड़ पर फिर दबाव आया। क्योंकि इससे युद्ध भारत की सीमा पर आ गया था। किन्तु भारतीय बैंकों की स्थिति उससे भी नहीं गिरी। जापान को बराबर सफलता मिल जाने से भीड़ ने बैंकों से एकदम रुपया निकलना आरम्भ किया। इससे कुछ दक्षिण के सारिणी सूची के बैंकों को रिजर्व बैंक से सहायता मांगनी पड़ी। किन्तु यह अस्थायी घबराहट थी, बैंक ने उनमें से सभी बैंकों की सहायता की और उससे जनता का विश्वास फिर बैंकों में बढ़ गया।

(क) युद्ध-काल में सारिणी-सूची के बैंकों की कुल अमानतों में भारी वृद्धि हुई। वह १९३९ में २४० करोड़ रुपयों से बढ़ कर १९४५ में ९५३ करोड़ रुपये की हो गयीं। यह इतनी बड़ी वृद्धि चलअर्थ के भारी विस्तार से हुई। इन छै वर्षों में बाजार में चलने वाले नोटों की संख्या, जो दो सितम्बर १९३९ को १८२ करोड़ रुपये थी, बढ़ कर जुलाई १९४६ में १,२२१ करोड़ रुपये हो गई।

(ख) युद्ध-काल में सारिणी सूची के बैंकों की तात्कालिक देनदारियों में भारी वृद्धि हुई। वह १९३९-४० में १४० करोड़ रुपये से बढ़कर १९४५-४६ में ७०४ करोड़ रुपये हो गई। इससे पता चलता है कि उन दिनों मुद्रा का प्रसार कितना अधिक था और फिर भी वह उसी परिमाण में गतिशील नहीं थी। इसके विपरीत सावधि देन-दारियां उसी प्रकार स्थिरतापूर्वक नहीं बढ़ीं। इसका कारण युद्ध के आरम्भिक वर्षों में 'मित्रराष्ट्रों' की गिरती हुई स्थिति थी। बाद में मित्रराष्ट्रों की विजय से जनता के हृदय में बैंकों पर फिर विश्वास बढ़ा और सावधि (Time Deposits) अमानतें १९४५-४६ में २५९ करोड़ रुपये तक बढ़ गईं। तो भी तात्कालिक देनदारियां इतने परिमाण में नहीं बढ़ीं।

(ग) युद्धकाल में अपनी पूंजी को मांगते ही चुकाने के कारण बैंकों को अपने पास बड़ी भारी नकदी रखनी पड़ती थी। सरकार के कोष-पत्रों (Treasury Bills) में उनको सीमित गुँजायश मिलती थी। क्योंकि उनसे अधिक प्रतिदान नहीं मिलता था। अतएव वह कानूनी आवश्यकता से भी अधिक सुरक्षित भंडार रिजर्व बैंक के पास रखा करते थे, अर्थात् यह भंडार १९४४ में ५४ करोड़ रुपये का था।

(घ) युद्ध के कारण बैंकों के ऋण और अगाऊ धन में तथा १९४२-४३ तक बट्टा ली हुई हुंडियों में भारी कमी हुई। ऐसा होने का कारण सरकार द्वारा युद्ध के ठेकों का खर्चा सीधे देना तथा उनके ऊपर स्वयं ही नकद भुगतान करना था। औद्योगिक संस्थानों की बढ़ी हुई आय ने बैंकों से आर्थिक सहायता की उनकी मांग को कम कर दिया। विदेशी आयातों—पूंजीगत माल तथा उपभोक्ता-सामग्री के कम हो जाने के कारण व्यापारिक हुंडियां कम बनने लगीं। अगले पृष्ठ पर दिये कोष्ठक से बैंकों के अगाऊ धन, ऋणों तथा बट्टा की हुई हुंडियों तथा उनके कोष-पत्रों में १९४२-४३ तक रुपया लगाने का पता चलता है। तो भी बाद में एक उलटी प्रणाली चल पड़ी और सारिणी सूची के बैंकों के अगाऊ धन में तथा बट्टा ली हुई हुंडियों में वृद्धि हो गयी, और रुपया लगाने के लिए बाजार से रुपये की मांग बढ़ने लगी। इससे व्यापारिक स्थिति में सुधार का पता चलता है।

तालिका २

सारिणी सूची बैंकों द्वारा युद्ध-वर्षों[1] के अगाऊ धन तथा बट्टा ली हुई हुंडियां

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	बैंकों की संख्या	अगाऊ धन (क)	बट्टा ली हुई हुंडियां 'ख'	रिजर्व बैंक के पास फालतू बकाया	समस्त देनदारियों के लिए कालम 'क' व 'ख' का प्रतिशत अनुपात
१९३९	५८	११७	५	७	५१
१९४०	६०	१३२	४	२०	५२
१९४१	६४	११९	५	२६	४१
१९४२	६०	९७	३	३७	२७
१९४३	६५	१३७	४	३७	२६
१९४४	७८	२०६	१०	५४	२९
१९४५	८७	२६९	१५	५१	३३
१९४६	९३	३७३	२०	४२	—

युद्ध के वर्षों में प्राइवेट बैंकों द्वारा कोष-पत्रों का पूंजी विनियोजन भी बढ़ गया, जिससे कि वह १९३९-४० में ५५ करोड़ रुपये से बढ़ कर १९४२-४३ में २६५ रुपये के हो गये। बाद में वह गिर कर १९४५-४६ में ८३ करोड़ रुपये के हो गए। उन दिनों पूंजी-विनियोजन के अन्य साधन कम थे। देनदारियों की अपेक्षा अगाऊ धन का प्रतिशत अनुपात भी युद्ध के अन्तिम वर्षों तक स्थिरता से गिरता रहा। युद्ध के बाद यह अगाऊ धन की रकमें बढ़ने लगीं और रिजर्व बैंक के यहां जमा फालतू रकमें तथा पूंजी विनियोजन की कोषपत्रों में रकमें घटने लगीं।

(ङ.) १९४३ में भारत बैंक तथा जयपुर बैंक जैसे कुछ बड़े-बड़े व्यापारिक बैंक बड़ी पूंजी से खोले गए। नवस्थापित बड़े-बड़े बैंकों के अतिरिक्त कुछ बिना सारिणी सूची के बैंक पूंजी बढ़ा कर अथवा सुरक्षा कोष बढ़ा कर अथवा दोनों द्वारा सारिणी सूची में शामिल हो गए। उत्तरी भारत, विशेष रूप से पंजाब ने देश में उपस्थित भारी मुद्रा का लाभ उठा कर कुछ साहसपूर्ण काम कर डाले। युद्ध के आरम्भ में रिजर्व बैंक को रिपोर्ट देने वाले सारिणी सूची के बैंकों की संख्या ५५ थी, जो १९४६ में बढ़ कर ९१ हो गई।

(च) सुगमता से धन मिलने की शर्त के साथ ब्याज की दर कम रखी गयी। बैंक दर तथा इम्पीरियल बैंक की हुंडी की दर बराबर तीन प्रतिशत बनी रही। युद्ध के वर्षों में संयुक्त पूंजी बैंकों ने तात्कालिक देनदारियों पर $\frac{३}{४}$ प्रतिशत से अधिक ब्याज तथा सावधि देनदारियों पर १$\frac{१}{२}$ प्रतिशत से लगा कर १$\frac{३}{४}$ प्रतिशत से अधिक ब्याज नहीं दिया।

1· Reserve Bank of India Annual Report to end of 1949.

१४. युद्धोत्तर वर्षों में बैंकिंग। युद्ध समाप्त हो जाने पर भी मुद्रा-स्फीति की स्थिति बनी ही रही। बैंकों के साधन अत्यधिक बढ़ गये। उनके पूंजी विनियोजन, अगाऊ धन तथा शाखाएं सभी में असाधारण गति देखने में आई। प्रथम बार भारत के विभाजन के साथ अवनति देखने में आई। १९४८ में उसके परिणाम विशेष रूप से देखने में आये। इस समय देश में बैंकिंग संस्थापन पर भारी बोझ पड़ा। पंजाब और बंगाल के बैंकों के कार्य पर भारी प्रभाव पड़ा और उनमें से कुछ निर्बल हो गये। पाकिस्तान में भारी सम्पत्ति रह गयी। उनमें से कुछ को भुगतान देना तक बन्द करना पड़ गया। बाद में उन्होंने अपना प्रबन्ध करने की योजना अपनाई। उनकी रचना ठोस थी और सब मिला कर उन्होंने विभाजन के दबाव को अच्छी तरह सहन किया। किन्तु खाई को पाटने के लिए, जोकि निर्बलता का एक साधन था—अन्त में बहुत समय से विचाराधीन कानून को पास कर हो दिया गया।

बैंकों के ऊपर दबाव का एक सीधा परिणाम यह हुआ कि १९४९ में उनकी धरोहरों में भारी कमी हो गई। साथ ही उस समय अगाऊ धन के लिए भी भारी मांग थी। इस प्रकार द्रव्य-बाजार में धन की भारी कमी हो गयी। इस तरह की कठिनाइयों के कारणों का संक्षिप्त रूप में निम्नलिखित प्रकार से वर्णन किया जा सकता है:—

१. भारतीय व्यापार तथा उद्योगधंधों ने विस्तार के लिये अपनी पिछली वचत से काम लेना आरम्भ कर दिया। इन्होंने बैंकों से अपनी अमानतें निकाल लीं।

२. युद्ध के कारण आय का विभाजन धनी वर्गों के हाथ से निकल कर समाज के कम सम्पन्न उन लोगों के हाथ में आ गया, जो अपनी बचत को बैंकों में नहीं रखते।

३. पाकिस्तान से आने वाले शरणार्थी बहुत बुरी दशा में थे और उनको अपने जीवन-निर्वाह के लिए अपनी बचत को बैंकों से निकालना पड़ा। कुछ प्रमुख राज्यों की सरकारों ने भी भारत में विलीन होने के बाद अपनी लगाई हुई पूंजी को बेच डाला।

४. आयातों का मूल्य चुकाने तथा रुई ओर पटसन जैसी कच्ची सामग्री मोल लेने के लिए बैंकों द्वारा दिये जाने वाले अगाऊ धन में कुछ वृद्धि हुई यह उनके १९४९ और १९५० की अमानतों के ५०% से अधिक थी। मई १९५१ में यह ऋण अमानतों का ६३ प्रतिशत हो गया।

५. विभाजन के बाद बैंकों पर दूसरी चोट पश्चिमी बंगाल में हुई। इसके कारण १९५० में तीन सारिणी सूची के बैंकों—नाथ बैंक, बैंक आफ हिंदुस्तान तथा पायोनीयर बैंक ने भुगतान देना बंद कर दिया। इससे जनता के मन में अरक्षा की भावना उत्पन्न हो गई। लोग दूसरे बैंकों से भी अपनी अमानतें निकालने लगे। इन बैंकों के फेल होने के कारण बड़ा भारी संकट उत्पन्न हो गया। रिजर्व बैंक ने समय पर पश्चिमी बंगाल तथा अन्य स्थानों के बैंकों की सहायता की।

उपरोक्त भारी परिवर्तनों के होने पर भी भारतीय बैंकों ने युद्ध तथा युद्धोत्तर-परिस्थिति तथा विभाजन के कारण पड़ने वाले दबाव का मुकाबला अच्छी तरह से किया। विस्तार का युग अब मंदा हो चला है। अब भारतीय बैंक अपने साधनों को ठोस बनाने की ओर ध्यान दे रहे हैं।

१५. भारत में बैंकिंग कानून। (१) गत शताब्दी में भारत में बैंकिंग के सम्बन्ध में कानून बनने का कोई गम्भीर प्रयत्न नहीं किया गया। भारत सरकार ने इंग्लैंड के

समान अन्य आर्थिक मामलों की भांति बैंकिंग में हस्तक्षेप न करने की नीति का अनुसरण किया ।

(२) **भारतीय कम्पनी अधिनियम १९१३**—इस अधिनियम में कुछ ऐसी बातों का समावेश किया गया, जिनसे बैंकिंग कम्पनियों को अन्य कम्पनियों से पृथक पहचाना जा सकता था। दो-दो महायुद्धों में कई-कई बैंकों के फेल होने से भी सरकार ने बैंकिंग कानून बनाने की आवश्यकता को अनुभव नहीं किया ।

(३) केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी ने बैंकिंग कानून बनाने के विषय में सुझाव दिया था । किंतु सरकार ने १९३६ में १९१३ के इंडियन कम्पनी एक्ट में संशोधन कर देना भर पर्याप्त समझा। संशोधन अधिनियम में एक पूरा भाग (दस क) केवल बैंकिंग के विषय में था। उसमें बैंकिंग के सम्बन्ध में निम्नलिखित व्याख्याएं थीं :—

(क) उसने बैंकिंग कम्पनी की परिभाषा करते हुए लिखा कि "जिसका प्रधान व्यवसाय चालू खाते या अन्य खाते में धरोहरें स्वीकार करना हो ; जिसको चेक, ड्राफ्ट या आर्डर से निकाला जा सके।" यह परिभाषा स्पष्ट नहीं थी क्योंकि बैंकिंग कम्पनी को विभिन्न प्रकार का आकस्मिक व्यवसाय करने की अनुमति भी थी ।

(ख) कोई बैंक खोलने से पूर्व कम से कम ५०,००० रुपये की पूँजी बैंक का काम चलाने के लिये कामचलाऊ पूंजी के रूप में शेयरों से एकत्रित करना आवश्यक था।

(ग) मैनेजिंग एजेंटों को भविष्य में बनने वाली बैंकिंग कम्पनियों का प्रबन्ध करने से रोक दिया गया ।

(घ) एक सुरक्षा कोष रखना प्रत्येक बैंक के लिए अनिवार्य कर दिया गया। यह आवश्यक कर दिया गया कि लाभ का कम से कम २० प्रतिशत भाग प्रति वर्ष तबतक सुरक्षित कोष में डाला जाय, जबतक उसका परिमाण चुकता पूँजी के बराबर न हो जाय।

(ङ) यह आवश्यक कर दिया कि एक बैंकिंग कम्पनी अपनी सावधि देनदारियों के विरुद्ध डेढ़ प्रतिशत तथा तात्कालिक देनदारियों के विरुद्ध ५ प्रतिशत रकम नकद अपने पास रखे और अपने मासिक लेखे का वितरण कम्पनियों के रजिस्ट्रार को भेजा करे।

(च) बैंकिंग कम्पनी को पूरक कम्पनी बनाने अथवा उसमें शेयर लेने का तबतक अधिकार नहीं होता जब तक कि वह कम्पनी ट्रस्टों का काम करने और जमींदारियों का प्रबन्ध करने के लिए अपने-आप ही न बन गई हो।

(छ) ऋण चुकाने की बढ़ी हुई अवधि (Moratorium) के लिये प्रबन्ध किया गया था, अर्थात् यदि कोई बैंकिंग कम्पनी अस्थायी रूप से कठिनाई में पड़ जाय तो उसको दिवालियेपन से बचाने के लिये उसके भुगतान को अस्थायी रूप से रोक देने की व्यवस्था की गई ।

१९३६ के अधिनियम से बैंकों के काम में पर्याप्त त्रुटियों का पता चला। बैंकिंग-कार्य का नियमन करने के लिए पृथक् बैंकिंग अधिनियम की आवश्यकता थी। रिजर्व बैंक के तत्कालीन गवर्नर सर जेम्स टेलर ने १९३९ में उस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए कानून बनाने का प्रस्ताव किया था। किंतु १९३९ के युद्ध के कारण यह विषय उस समय स्थगित कर दिया गया। उस समय भारतीय सम्मिलित स्टाक बैंक अपने ऊपर पड़ने वाले जोर को सहन करने योग्य थे। यूरोप बाजार के हाथ से निकल जाने के कारण १९४२ तक भारत के बैंकों को भारी कठिनाइयों का मुकाबला करना पड़ा । बाद में युद्ध का वेग बढ़ने लगा। जापान के विरुद्ध भारत को मित्रराष्ट्रों के युद्ध का अड्डा बना देने के कारण व्यवसाय

बढ़ने लगा। इस समय मित्र-राष्ट्रों के लिए अधिक सामग्री मोल ली जाने लगी। मुद्रा-स्फीति के परिणामस्वरूप आरम्भ में बैंकों के ऋणों (Advances) में वृद्धि हुई। बाद में उन की धरोहरों में तेजी से वृद्धि हुई। किंतु जैसा कि नीचे की तालिका से प्रकट है, उस समय सबसे अधिक वृद्धि सारिणी सूची के बैंकों की कार्यकारी पूँजी में हुई ––

तालिका चार

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	सारिणी सूची के बैंकों की संख्या	शाखाओं की संख्या	सावधि देनदारियां	तात्कालिक देनदारियां	रिजर्व बैंक में जमा तथा रोकड़ हाथ में	अगाऊ धन तथा बट्टा ली हुई हुंडियां	बाजार में चलने वाले नोट
१९३८–३९	५३•	१,१२८	१०८	१३०	२३	१२१	१८९[1]
१९४५–४६	९१	३,११५	२६०	६५५	१२५	३०१	१२१९
१९४७–४८	१०१	३,४९०	३४४	७०७	१४१	४४४	१३०४[2]
१९४८–४९	९४	२,९६३	३०४	६७५	११७	४४५	१२३२
१९४९–५०	९४	३,००८	२७३	५९८	१०३	४४२	११२९
१९५०–५१	९३	२,९०४	२७८	५९९	९६	४५९	११६३

युद्ध के दिनों और युद्ध के बाद बैंकिंग विकास ने एक प्रभावशाली चित्र उपस्थित किया। किंतु तो भी, उसमें कुछ अवांछित बातें थीं हीं। उनमें से कुछ को भारतीय कंपनी एक्ट में उचित संशोधन करके रोक दिया गया। वह बातें थीं––अधिकृत पूंजी तथा चुकता पूंजी के बीच अनुपात का भारी अन्तर, अनुपात विरुद्ध मताधिकार के साथ विभिन्न प्रकार के शेयरों का बेचा जाना और मैनेजिंग एजेंटों की नियुक्ति के अवैध बना दिये जाने के बाद भी मैनेजिंग डाइरेक्टरों की नियुक्ति में अनुचित शर्तें। किंतु अमानतदारों के स्वत्व की रक्षा के लिए विस्तृत कानून की अब भी भारी आवश्यकता थी। १९४५ में रिजर्व बैंक के गवर्नर ने बैंकों की कुछ ऐसी बुराइयों के विरुद्ध चेतावनी दी जो उनमें मुद्रा-स्फीति की स्थिति के कारण आ गई थीं। वह बुराइयां ये हैं ––

(क) धरोहरों को आकर्षित करने के लिए अंधाधुंध शाखाएं खोलना।

(ख) बैंक का काम न करने वाली कम्पनियों के शेयर मोल लेकर उनके ऊपर-अधिकार करना।

(ग) आय-व्यय के लेखे के तैयार करने में चालाकी से इस प्रकार काम लेना कि बैंक की आर्थिक स्थिति के विषय में लोग धोखे में रहें।

(घ) शेयरों, सरकारी प्रतिभूतियों अथवा सम्पत्ति का सट्टा करना।

(ड.) सुरक्षानिधियों को अधिक बलवान बनाने की अपेक्षा उनको बांटना।

इन बुराइयों को दूर करने के लिए ही कानून बनाने की आवश्यकता थी।

---

१. बर्मा के लिये १०,७४ लाख रुपयों सहित।

२. १९४९-५० की Finance and Currency Report. इसमें पाकिस्तान के अंक १९४७-४८ तक ही शामिल हैं।

(४) १९४५ के बैंकिंग कम्पनी विधेयक को १९४८ तक भी पास नहीं किया जा सका। इस बीच सरकार ने एक अध्यादेश (Ordinance) निकाल कर रिजर्व बैंक को बैंकों की इन बुराइयों को दूर करने का अधिकार दे दिया। इस प्रकार १९४६ के अध्यादेश द्वारा रिजर्व बैंक को किसी भी बैंक का हिसाब देखने का अधिकार मिल गया। इस अध्यादेश द्वारा सरकार को किसी भी ऐसे बैंक के विरुद्ध कार्य करने का अधिकार मिल गया, जिसका कार्य उसके अमानतदारों के स्वत्वों के विरुद्ध चलाया जा रहा हो। इससे बैंक को सारिणी सूची से हटाया जा सकता था अथवा उसको नई अमानतें लेने से रोका जा सकता था। १९४६ में बैंकिग का नियमन करने के लिए दो और कानून पास किये गये। बियरर प्रोमिसरी नोट (Bearer Promissory Notes Act) (निकालने की मनाही) एक्ट के द्वारा बैंकों को ऐसे प्रोमिसरी नोट निकालने से रोका गया जो एक हाथ से दूसरे हाथ में बराबर जाते रहते थे। दूसरा कानून बैंकिंग कम्पनी (शाखा नियंत्रण) एक्ट रिजर्व बैंक की अनुमति के बिना बैंकों को नई शाखा खोलने अथवा पुरानी शाखाओं के स्थान बदलने से रोकता था।

(५) भारत सरकार ने विभाजन की कठिनाइयों में बैंकों को सहायता करने के लिये सितंबर १९४७ में एक अध्यादेश जारी किया। इसके द्वारा रिजर्व बैंक को अधिकार दिया गया कि वह किसी भी जमानत पर– जिसे वह पर्याप्त समझे– बैंकों को पेशगी रुपया उधार दे सके।

विभाजन के बाद यह देखने में आया कि पंजाब के कुछ बैंक अपने अमानतदारों के दावों को चुकाना कठिन समझ रहे थे। क्योंकि उनकी अधिकांश सम्पत्तियां पश्चिमी पंजाब में थीं, जब कि उनकी देनदारियों को भारत को बदल दिया गया था। इस प्रकार के बैंकों को सहायता देने के लिये १९४७ में एक और अध्यादेश निकाला गया। इसके द्वारा सरकार को तीन महीने तक के लिये ऋण चुकाने की अवधि देने का अधिकार दिया गया। इस बीच वह कुल अमानत का १० प्रतिशत अथवा २५०), जो भी कम हो, एक मास में चुका सकते थे। यह अध्यादेश १९४८ में अपने-आप समाप्त हो गया।

(६) **बैंकिंग-कम्पनी अधिनियम १९४९**——१९४६ के पुराने बैंकिंग विधेयक को वापिस ले लिया गया और २२ मार्च १९४८ को एक नया विधेयक उपस्थित किया गया। इसी विधेयक को पास करके १६ मार्च १९४९ से लागू किया गया। इस प्रकार प्रस्तावों की एक ऐसी लम्बी श्रृंखला को, जो १९३९ में आरंभ हुई तथा जिसमें १९४६ और १९४९ के बीच अनेक अध्यादेश निकालने पड़े, एक अधिनियम में स्थान देकर एक व्यापक कानून बना दिया गया। इस अधिनियम की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं——

१. इसमें बैंकिंग की परिभाषा करते हुए बतलाया गया कि "जनता से द्रव्य को अमानत का उधार देने अथवा पूंजी लगाने के उद्देश्य से स्वीकार करना, जिसे मांगते ही अथवा अन्य प्रकार से चुकाया जाना हो और जिसमें से रुपया चेक, ड्राफ्ट, आदेश या अन्य प्रकार से निकाला जाय।" कोई कम्पनी इस प्रकार का काम तबतक नहीं कर सकती थी जब तक वह अपने नाम के साथ 'बैंक', 'बैंकर अथवा बैंकिंग' शब्दों का उपयोग न करे। प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को रिजर्व बैंक से एक लैसंस लेना होगा, जो लैसंस देने से पूर्व इस बात का पता लगा लेगा कि प्रार्थी बैंक की दशा ठोस है अथवा नहीं और यह कि उसका कोई काम उसके अमानतदारों के विरुद्ध तो नहीं है। यदि प्रार्थी विदेशी बैंकिंग कम्पनी हो तो रिजर्व बैंक को यह देखना था कि उसके निर्माण या उसके देश का कानून भारतीय बैंकिंग कम्पनियों के विरुद्ध कहीं विभेदात्मक व्यवहार तो नहीं करता।

२. यह अधिनियम सभी प्रान्तों तथा सम्मिलित होने वाले राज्यों की सभी बंकिग कम्पनियों पर लागू होगा, किन्तु सहकारी बैंकों पर लागू नहीं होगा।

३. अधिनियम में न्यूनतम पूंजी तथा सुरक्षा निधि की शर्तों को निश्चित किया गया। वह उसके भौगोलिक रूप से लागू होने के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की है। उदाहरणार्थ, यदि इस अधिनियम को एक से अधिक राज्यों पर लागू किया जाय तो न्यूनतम आवश्यक पूंजी ५ लाख रुपया होगी किन्तु यदि उसको बम्बई अथवा कलकत्ता में लागू किया जाय तो पूंजी १० लाख होगी, इत्यादि।

भारत के बाहर बनी हुई बैंकिंग कम्पनियों के लिये यह आवश्यक था कि उनकी चुकता पूंजी तथा सुरक्षानिधि १५ लाख रुपया हो और यदि उनका व्यवसाय बम्बई अथवा, और कलकत्ते में भी चले तो यह रकम २० लाख रुपया हो।

४. स्वीकृत पूंजी अधिकृत पूंजी की ५० प्रतिशत से कम न होगी और चुकता पूंजी भी स्वीकृत पूंजी (Subscribed Capital) की ५० प्रतिशत से कम न होगी।

५. प्रत्येक सारिणी सूची के बैंक को रिजर्व बैंक के पास सावधि देनदारियों के २ प्रतिशत तथा तात्कालिक देनदारियों के ५ प्रतिशत की पुरानी दर से अपनी सुरक्षा निधि रखनी होगी।

६. बिना सारणी सूची के बैंकों को भी इसी अनुपात में सुरक्षा निधि अपने पास और, अथवा रिजर्व बैंक के पास रखनी होगी और उनको मास के प्रत्येक शुक्रवार को अपना हिसाब देना होगा।

७. प्रत्येक विदेशी बैंकिंग-कम्पनी को इस अधिनियम से दो वर्ष के अंदर भारत में नकदी, सोने अथवा बिना घाटे की स्वीकृत प्रतिभूतियों के रूप में उसकी सावधि तथा तात्कालिक देनदारियों के कम से कम २० प्रतिशत भाग को बाजार-भाव से भारत में रखना होगा। (इसमें उसका रिजर्व बैंक के पास सुरक्षित भंडार भी सम्मिलित है)।

८. बैंक के डाइरेक्टर ऐसे व्यक्ति नहीं हो सकते जो अन्य संस्थाओं के डाइरेक्टर भी हों।

९. डाइरेक्टरों अथवा उनकी फर्मों को बिना जमानत के ऋण देना मना कर दिया गया। इस प्रकार के ऋणों का मासिक हिसाब रिजर्व बैंक को देते रहने की व्यवस्था की गई। रिजर्व बैंक को बैंक के सभी ऋणों के संबंध में नीति निश्चित करने का अधिकार है।

१०. जब तक किसी बंकिग कम्पनी के सभी पूंजीगत खर्चे साफ न कर दिये जायं, वह कोई लाभ नहीं दे सकती। लाभ का कम से कम २० प्रतिशत तबतक सुरक्षा-निधि में रखा जायगा, जबतक यह निधि चुकता-पूंजी के बराबर न हो जावे।

११. कोई बैंकिंग कम्पनी रिजर्व बैंक की पूर्व अनुमति के बिना न तो नई शाखा खोल सकती है और न पुरानी शाखा के स्थान को ही बदल सकती है।

१२. कोई बैंकिंग कम्पनी व्यापार नहीं कर सकती।

१३. बैंकों को अपने ही शेयरों पर उधार देने अथवा बिना जमानत के डाइरेक्टरों को उधार देने अथवा किसी ऐसी फर्म को उधार देने का अधिकार नहीं है, जिसमें उसके किसी डाइरेक्टर की किसी प्रकार से विशेष रुचि हो।

१४. कोई बैंकिंग कम्पनी केवल बैंकिंग व्यवसाय के आकस्मिक उद्देश्यों के अतिरिक्त कोई पूरक कम्पनी नहीं बना सकेगी।

१५. रिजर्व बैंक को अत्यन्त विस्तृत अधिकार दिये गए हैं। वह पूर्ण संयुक्त पूँजी बैंकिंग प्रणाली का नियंत्रण करता है, वह उधार देने की नीति को प्रभावित कर सकता है, सौदों को रोक सकता है, वह सामयिक तथा तद्देशीय हिसाब के अंकों को भंग कर उनको प्रकाशित कर सकता है। वह किसी भी बैंक का निरीक्षण कर सकता है और अनिवार्य आवश्यकता के समय इस अधिनियम को ३० दिन के लिए स्थगित कर सकता है।

१६. रिजर्व बैंक का कर्त्तव्य है कि वह देश में बैंकिंग की गति तथा विकास के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार को वार्षिक रिपोर्ट दे और उसमें उसके सुधार के लिए अपने सुझाव भी दे।

१७. बैंकिंग कम्पनियों को बंद करने अथवा उनको दिवालिया बनाने के सम्बन्ध में एक भारी भरकम व्यवस्था की गई है। रिजर्व बैंक को बैंकिंग कम्पनियों के आपस में मिल जाने के सम्बन्ध में भी अधिकार दिये गए हैं।

(७) **बैंकिंग कम्पनीज (संशोधन) अधिनियम १९५०**—मार्च १९५० में बैंकिंग कम्पनी अधिनियम में फिर संशोधन उन गलतियों को ठीक करने के लिए किया गया, जो उसको लागू करते समय अनुभव में आई थीं। बैंकों को आपस में तभी मिलाया जा सकता है यदि बैंक के भागीदारों का एक आवश्यक बहुमत उसके पक्ष में हो और उसको उस समय रिजर्व बैंक ने स्वीकार कर लिया हो।

(८) **रिजर्व बैंक आफ इण्डिया (संशोधन) अधिनियम १९५१**—इस अधिनियम को संसद ने अंतिम रूप में २७ अप्रैल १९५१ को पास किया था। इस संशोधित अधिनियम की मुख्य बातें ये थीं—(१) १९३४ के रिजर्व बैंक अधिनियम को जम्मू तथा कश्मीर के राज्य के अतिरिक्त समस्त भारत पर लागू किया गया। (२) बैंक की साधारण देख-रेख तथा बैंक व्यवसाय के निर्देशन तथा बैंक में निहित सभी अधिकारों के उपयोग के काम-गवर्नर की अनुपस्थिति में वह डिप्टी गवर्नर करेगा, जिसे गवर्नर इसी उद्देश्य के लिये मनोनीत करे। (३) बैंक जिन व्यापारिक पत्रों पर धारा १७ के अनुसार दुबारा बट्टा ले सकता है, उसमें ऐसी हुण्डियां (बिलों) को भी सम्मिलित कर लिया गया, जिन पर किसी राज्य के सहकारी बैंक के हस्ताक्षर हों। (४) ऋतु सम्बन्धी कृषि कार्यों अथवा फसलों की बिक्री के खर्चे के लिए जारी की गई हुण्डी के सकारे जाने के लिए बैंक द्वारा दुबारा बट्टा लेने की अवधि को ९ मास से बढ़ा कर १५ मास कर दिया गया (५) बैंक का बैंकिंग विभाग, जो सरकारी प्रतिभूतियों को अपने पास रखता था, उसके परिमाण तथा रखने की अवधि के सम्बन्ध में प्रतिबंधों को हटा दिया गया। (६) बैंक को अधिकार दिया गया कि वह सरकार द्वारा स्वीकृत किसी विदेशी सरकार अथवा व्यक्ति के एजेंट का काम कर सके। (७) बैंक को अधिकार दिया गया कि वह 'ख' भाग के राज्यों के साथ समझौता करके उनके द्रव्य संबंधी और ऋण प्रबंध को अपने हाथ में ले सके। (८) सारिणी सूची के बैंक, जो कानून के अनुसार साप्ताहिक हिसाब बैंक को देते हैं, उसमें उनकी पूंजी लगाने के अंकों को भी सम्मिलित किया गया। यह हिसाब उस तारीख के दो दिन के बजाय ५ दिन बाद भी दिया जा सकेगा, जिसके संबंध में वह दिया जाना हो। यदि किसी बैंक का कार्यालय ऐसे स्थान पर हो, जहां पहुंचना कठिन हो, तो बैंक ऐसे स्थान के हिसाब को ५ दिन बाद अर्थात् १० दिन बाद ले सकता है। (९) बैंक को अधिकार है कि वह किसी बैंक को अपने पास नियमित बकाया रखने की अनिवार्यता अथवा धारा ४२ के अनुसार हिसाब भेजनेकी व्यवस्था से उतने समय तक और उतने परिमाण में मुक्त कर सके, जैसा वह उचित समझे। (१०) बैंक को यह अधिकार दिया गया कि

वह सारिणी सूची के बैंकों जैसा साप्ताहिक विवरण सभी राज्य-सहकारी-बैंकों से मांग सके। (११) रिजर्व बैंक का प्रतिनिधित्व करने का इम्पीरियल बैंक का अधिकार भाग 'क' तथा भाग 'ख' के राज्यों के लिये ही सीमित कर दिया गया।

१६. रिजर्व बैंक का बैंकों के ऊपर नियंत्रण। इस प्रकार रिजर्व बैंक को बैंकिंग का नियमन करने का वैधानिक अधिकार दे दिया गया। नये अधिनियम द्वारा उसको बैंकिंग प्रणाली के ऐसे प्रचलित दोषों को दूर करने का अधिकार दिया गया, जैसे अनेक छोटे-छोटे बैंकों की संख्या का अस्तित्व, उनकी भारत के प्रधान-प्रधान नगरों में भीड़ तथा बड़ा लाभ कमाने के लिये उनके द्वारा पूंजी विनियोग में उठाए जाने वाले खतरे।

इस प्रकार रिजर्व बैंक के ऊपर डाले गए कर्त्तव्यों का निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है :

(क) बैंकों की देखभाल और उनका निरीक्षण। बैंक इस महत्वपूर्ण काम को पहले से ही कर रहा था, किन्तु अब उसको अपनी इच्छा से भी बैंकों का निरीक्षण करने का अधिकार मिल गया है। रिजर्व बैंक सभी बैंकों के वार्षिक निरीक्षण के लिये एक संगठन बना रहा है और इस उद्देश्य के लिये योग्य कर्मचारियों की भर्ती कर रहा है। इसका उद्देश्य यह है कि बैंकों को आरंभ में ही उनकी त्रुटियां बतला दी जायं, जिससे वह ठोस बैंकिंग परम्परा स्थापित कर सकें।

(ख) बैंकों को लैसंस देना तथा उनकी शाखाओं पर नियंत्रण। रिजर्व बैंक किसी वर्तमान बैंकिंग कम्पनी को तभी लैसंस देता है जब उसको यह विश्वास हो जाता है कि वह अपने अमानतदारों के दावे वाजिब होने पर उनका पूरा भुगतान कर सकता है और बैंक का संचालन उसके अमानतदारों के स्वत्वों के विपरीत तो नहीं किया जा रहा। इसके अतिरिक्त कोई बैंकिंग कम्पनी रिजर्व बैंक की लिखित अनुमति के बिना किसी नये स्थान में बैंकिंग-कार्य नहीं कर सकती। यह अनुमति रिजर्व बैंक आर्थिक स्थिति के विषय में, प्रबंध, बकिंग कम्पनी की आर्थिक रचना तथा प्रस्तावित कार्यालय की उपार्जन की संभावना के सम्बन्ध में संतुष्ट होने पर ही देता है।

(ग) यह भी व्यवस्था की गयी है कि जबतक रिजर्व बैंक यह प्रमाणित न करे कि वह अमानतदारों के स्वत्व के विपरीत नहीं है, कोई अदालत प्रबन्ध की योजना पर अपनी स्वीकृति नहीं देगी। रिजर्व बैंक को अधिकार है कि वह आपस में मिलने की योजनाओं को स्वीकार या अस्वीकार कर सके।

(घ) बैंकिंग कम्पनियों का दिवाला—रिजर्व बैंक को किसी बैंक की प्रार्थना पर उसका सरकारी दिवालिया अफसर (Official Liquidator) नियुक्त किया जा सकता है।

(ङ) निश्चित हिसाब का लेना तथा उसकी जाँच—बैंकिंग कम्पनियों की, जो निश्चित विवरण रिजर्व बैंक को भेजती हैं, यह देखने के लिये जांच की जाती है कि रिजर्व बैंक द्वारा जारी की गई आज्ञाओं का पालन किया जा रहा है अथवा नहीं।

(च) बैंकों को परामर्श देना और आवश्यकता के समय उनकी सहायता करना—इस विषय में पिछले दिनों रिजर्व बैंक ने अत्यन्त उपयोगी काम किया है। यह भय था कि रुपये का मूल्य घट जाने से सट्टा बढ़ जायगा, अतएव रिजर्व बैंक ने सभी बैंकों को परामर्श दिया कि वह सटोरिया कार्यों के लिये कोई ऋण न दें।

बैंकों के कार्य का अध्ययन करते समय रिजर्व बैंक को कई अनुचित कार्य भी मिले। उदाहरणार्थ, अचल सम्पति के विरुद्ध दिए हुए ऋणों की भारी-भारी रकमें, डाइरेक्टरों अथवा उनके मित्रों को अपर्याप्त जमानत पर दिया हुआ ऋण, अंधाधुंध शाखाएं खोलना, बैंकों में एक दूसरे के धन को एक दूसरे के यहां फंसा देना और बैंक के धन का दुरुपयोग करके कुछ औद्योगिक कार्यों का नियंत्रण प्राप्त करने के प्रयत्न। किसी-किसी मामले में बैंक की सच्ची आर्थिक दशा को छिपाने के लिए नकली हिसाब के अंक दिखलाए गए। ऐसे सब मामलों को रिजर्व बैंक ने उक्त बैंकों के प्रबंधकों को बतलाया और उनको उन त्रुटियों को दूर करने की आज्ञा दी।

१७. बैंकिंग को ठोस बनाने के लिये कुछ प्रस्ताव। देश में बैंकिंग व्यवसाय को ठोस बनाने के लिये रिजर्व बैंक के अनेक प्रस्तावों में से कुछ को नीचे दिया जाता है—

(१) **प्रबन्ध**—कुछ डाइरेक्टरों में बैंक के अफसरों के ऊपर ठीक-ठीक तथा आवश्यक निरीक्षण करने का ज्ञान और योग्यता नहीं होती। कभी-कभी आन्तरिक हिसाब-परीक्षा तथा निरीक्षण की प्रणाली दोषपूर्ण होती है। बुरे तथा संदिग्ध ऋणों अथवा पूंजी में ह्रास तथा कुछ वसूल न होने योग्य अन्य सम्पत्तियों के लिये हिसाब में व्यवस्था किये बिना लाभांश की घोषणा कर दी जाती है। इन त्रुटियों को दूर किये बिना बैंक ठीक-ठीक काम नहीं कर सकेंगे।

(२) **पूँजी विनियोजन नीति**—कुछ बैंक सरकारी प्रतिभूतियों में पर्याप्त धन नहीं लगाते। कुछ अन्य बैंक बारबार उधार लेते हैं और इस प्रकार तरलता के अनुपात को कम करते हैं। कुछ अभी तक ऐसी कम्पनियों के शेयर रखे हुए हैं, जिनमें उनके डाइरेक्टरों का स्वत्व है अथवा जो तुरंत न बिक सकें। यह बड़ी भारी त्रुटि है और इसके बारे में विचार करना चाहिए।

(३) **उधार देने की नीति**—कुछ बैंक अपने साधनों के अनुपात के बिल्कुल विपरीत धन उधार देते हैं। उनके पास प्रायः उधार लेने वाले की ऋण लेने की योग्यता की जाँच करने के साधन नहीं होते और उनमें अनेक बहुमुखी खतरों की विभिन्नता के सिद्धान्त की उपेक्षा करते हैं।

(४) **शाखा नीति**—कुछ बैंकों में अपनी शाखाओं के निरीक्षण की प्रणाली संतोष-जनक नहीं है। वह ऋण के हिसाब के नियमित कागज नहीं मंगवाते अथवा उनकी प्रधान कार्यालय में ठीक-ठीक जांच नहीं की जाती।

जब तक ऊपर बतलाई हुई त्रुटियों को ठीक नहीं किया जायगा, भारतीय बैंकों पर कठिनाई का समय फिर आवेगा। इस प्रकार की वर्तमान त्रुटियों को ठीक करके ठोस, बैंकिंग की हमें परम्परा बना लेनी चाहिए।

१८. विनिमय बैंक—उनकी स्थिति। १९५० में, भारत में १५ विनियम बैंक थे और बंदरगाह के नगरों तथा दिल्ली में उनकी ६३ शाखाएं थीं। इन बैंकों का निर्माण भारत के बाहर किया जाता है। इसी कारण भारतीय कम्पनी अधिनियम उन पर लागू नहीं होता था किन्तु जैसा कि हमने ऊपर देखा है, नये बैंकिंग कानून ने रिजर्व बैंक को उनके कार्यों पर नियंत्रण करने का अधिकार भी दे दिया। निम्नलिखित तालिका से भारत में उनकी वृद्धि तथा स्थिति का पता लगता है—

तालिका ५[1]

वर्ष	संख्या	पूंजी तथा सुरक्षानिधि (दस लाख पोण्ड में)	भारत मे अमानतें (करोड़ रुपयों में)	भारत में रोकड़ बकाया (करोड़ रुपयों में)	भारत मे रोकड़ की अपेक्षा देनदारियों का प्रतिशत अनुपात	दिये हुए ऋण तथा बट्टा ली हुई हुण्डियां
१९२०	१५	९०	७५	२५	३३	—
१९४०	२०	१२८	८५	१७	२०	२८
१९४५	१५	१५३	१७९	१८	१०	४६
१९४८	१५	१५६	१६०	१७	११	११४

इस तालिका से यह भी पता चलता है कि इन बैंकों में व्यक्तिगत अमानतों में पर्याप्त वृद्धि हुई, जबकि उसी गति से भारत में उसकी नकद रोकड़ में वृद्धि नहीं हुई।

इनमें से दो बैंक कुक एण्ड सन[2] तथा अमरीकन एक्सप्रेस कम्पनी का सम्बन्ध केवल यात्रियों से है। शेष में से तीन का भारत में पर्याप्त भाग है। शेष उन बड़े-बड़े भारी बैंकों की एजेंसियां मात्र हैं, जिनके व्यापार का बड़ा भाग भारत के बाहर है। पांच बड़े-बड़े विनिमय बैंकों के नाम ये हैं—लायड्स् बैंक; चार्टर्ड बैंक आफ इंडिया, आस्ट्रेलिया एण्ड चाईना; नेशनल बैंक आफ इंडिया; मर्केन्टाइल बैंक आफ इंडिया तथा नेशनल सिटी बैंक आफ न्यूयार्क।

उनके कार्य— (क) वह भारत के विदेशी व्यापार में धन देते हैं। यह एक लाभकारी व्यवसाय है। १९५०-५१ में भारत का समस्त व्यापार १, १६८ करोड़ रुपये का था। विशेषज्ञों ने यह हिसाब लगाया है कि व्यापार के १५ प्रतिशत में ही भारतीय बैंक धन लगाते हैं। उनका भाग माल को बन्दरगाह तक पहुंचाने भर का है, जहां से विदेशों में धन लगाने का प्रबंध विनिमय बैंक करते हैं।

(ख) विनिमय बैंकों की पर्याप्त शाखाएं देश भर में फैली हुई हैं। वह विभाजन से पूर्व, १९४० में भारत में १९१ थीं और १९५० में ६३ थीं। इनमें से अधिकांश शाखाएं बड़े-बड़े नगरों में हैं। उदाहरणार्थ, कलकत्ते में २०, बम्बई में १५, दिल्ली में १० और मद्रास में १० हैं। वे भारत में धरोहर स्वीकार करते हैं और भारत के आन्तरिक व्यापार में भी बहुत बड़े परिमाण में धन लगाते हैं।

विनिमय बैंक भारतीय निर्यात की उन हुंडियों (Indian Export Bills) को मोल लेते हैं, जो प्रायः तीन मास बाद सकारी जाती हैं। यह हुण्डियां सदा लगभग स्वीकृत पत्र की हुण्डिया (Documents on Acceptance) होती हैं। वह तुरंत ही लंदन को भेज दी जाती हैं और वहां के निम्न बाजार भाव से वहां उनपर बट्टा लिया जाता है। उनके धन को वापिस भारत को भेजने के लिये बैंक विभिन्न विधियों का आश्रय लेते हैं। उदाहरणार्थ, (१) लंदन में रिजर्व बैंक के हाथ स्टर्लिंग बेचना, (२) लंदन में रुपये की प्रतिभूतियां मोल लेना और उनको भारत में बेचना, (३) भारत में

१. रिजर्व बैंक द्वारा १९४८ में प्रकाशित अंकों में से लिया गया।

२. भारत में इसका व्यापार मेसर्स ग्रिण्डले एण्ड कम्पनी में मिला दिया गया है।

रुपये लेकर इंग्लैंड में यात्रियों तथा विद्यार्थियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना और (४) भारत में बिक्री के लिये सोना-चांदी को आयात करना।

यूरोप से भारत को किये जाने वाले निर्यात व्यापार के अधिकांश व्यापार के लिये धन का प्रबन्ध उन भुगतान-पत्रों की हुण्डियों (Documents on Payments—D. P. Bills) द्वारा किया जाता है; जिन्हें साठदिनी हुण्डी कहा जाता है। उन पर लंदन में बट्टा लेकर फिर उनको विनिमय बैंकों द्वारा वसूली के लिये भारत भेजा जाता है। स्वीकृत-पत्रों की हुण्डियों (D. A. Bills) की विशेषता यह है कि यदि विदेशी आयातकर्ता बैंक के द्वारा उसको एक बार स्वीकार कर लिये जाने पर वह माल का कब्जा ले सकता है, जबकि हुण्डी का भुगतान वह हुण्डी की म्यिाद पूरी होने पर ही करता है। स्पष्ट रूप से यह एक बड़ी भारी सुविधा है। भुगतान-पत्र की हुण्डियां (D. P. Bills) भारतीय आयातक को माल का तत्काल कब्जा करने का अधिकार नहीं देतीं। अतएव वह विनिमय बैंक के पक्ष में एक धरोहर नामा (Trust Receipt) लिख कर देता है।

विनिमय बैंकों के विरुद्ध शिकायतें—भारतीय बैंक विनिमय बैंकों के विरुद्ध बहुत समय से शिकायत करते रहे हैं। उनकी शिकायतें ये हैं–(क) विनिमय बैंक देश के आन्तरिक व्यापार में और विशेषकर बन्दगाहों को माल ले जाने में भारी प्रतियोगिता करते रहे हैं। उनके साधन बड़े हैं और इसीलिए वह सस्ती दर पर अमानतों को आकर्षित कर सकते हैं। (ख) यह कहा जाता है कि वह भारत के विदेशी व्यापार में अपने देशवासियों को अधिक सुविधाएं देते हैं और इस प्रकार भारत में एकत्र किये हुए धन का उपयोग भारतीय स्वत्वों के विरुद्ध करते हैं। (ग) वह भारतीय निर्यातकों को विवश करते हैं कि वह अपने माल का बीमा विदेशी कम्पनियों में ही कराएं। इससे भारतीय बीमा कम्पनियों द्वारा किये जाने वाले इस प्रकार के व्यवसाय में वह वाधा उपस्थित करते हैं। (घ) उन बैंकों में भारतीयों को विश्वास योग्य पदों पर नहीं रखा जाता। यहां उनको सबसे बड़ा पद रोकड़िया का दिया जाता है। (ड.) यह कहा जाता है कि यह भारतीय पूंजी को विदेशी औद्योगिक तथा स्वर्ण-प्रतिभूतियों में लगाने का उपाय करते हैं। (च) उनके कर्मचारी कुछ भारतीय बैंकों को नीचा दिखाते हैं।

सारांश यह है कि यह बैंक भारत के विदेशी व्यापार का संचालन करते हैं और कुछ उसके आन्तरिक व्यापार में भी भाग लेते हैं। यद्यपि वह भारत में अमानतों को एकत्रित करते रहे, किन्तु १९४९ तक वह भारतीय कानूनों के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। उनका-नियंत्रण विदेशी डाइरेक्टर करते थे और वह भारतीय मामलों के विषय में कोई सूचना प्रकाशित नहीं करते थे। १९४९ का बैंकिंग-कानून बनने का बाद उनकी भारत-स्थित रक्षा-निधि पर रिजर्व बैंक का अधिकार हो गया। अतएव इस विषय में स्थिति कुछ सुधर गई।

केन्द्रीय बैंकिंग की रिपोर्ट में यह प्रस्ताव किया गया है कि इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया को विदेशी विनिमय का कार्य करना चाहिए। किन्तु ऐसा करने से पूर्व उसको अपने स्थानीय बोर्डों में भारतीय डाइरेक्टरों की संख्या ७५ प्रतिशत कर देनी चाहिए। उसको अभारतीय कर्मचारियों की भर्ती भी बंद कर देनी चाहिए।

इस योजना के विकल्प के रूप में यह प्रस्ताव किया गया है कि तीन करोड़ रुपये की पूंजी से एक अखिल भारतीय विनिमय बैंक की स्थापना की जाय। अच्छा हो कि उसके अधिकांश शेयर भारतीय संयुक्त पूंजी बैंक ले लें। इससे इस बात का निराकरण हो

जायगा कि उक्त बैंक भारत के घरेलू व्यापार में प्रतियोगिता करेगा। यह बैंक सरकार द्वारा विदेशों में रुपया भेजने के काम को भी ले सकता है।

इस बीच में भारतीय व्यापारिक बैंक सहकारी आधार पर बड़े-बड़े विदेशी केन्द्रों में अपनी एजेंसियां खोल सकते हैं।

१९४९ का भारतीय कम्पनी बैंकिंग अधिनियम पास होने से विनिमय बैंकों की स्थिति पहले जैसी हस्तक्षेप न करने योग्य नहीं रही। आज रिजर्व बैंक उन बैंकों को यह आज्ञा दे सकता है कि वह अन्य बैंकों के साथ-साथ ही चलें।

१९. भारत का इम्पीरियल बैंक। भारतीय कल्पना के लिए राज्य-बैंक का सदा ही भारी आकर्षण रहा है। आरंभ में[१] इस प्रकार के बैंक के लिये अनेक प्रकार के प्रस्ताव किए गए। किन्तु उनमें से किसी के अनुसार भी आचरण नहीं किया गया। १९१३-१४ के संकट के कारण एक राज्य-बैंक की आवश्यकता और भी अधिक प्रतीत होने लगी। इस विषय में प्रथम गंभीर प्रयत्न १९२१ में तब किया गया, जब तीनों प्रेसीडेंसी बैंकों को उनकी ५९ शाखाओं सहित मिला कर इनको इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया नाम देकर एक कर दिया गया। वह व्यक्तिगत फर्म ही बना रहा। किंतु उससे सरकारी काम भी लिये जाने का निर्णय किया गया। अतएव उसके कार्यों पर कानूनी प्रतिबंध लगा कर इसके प्रबन्ध को एक सीमा के अन्दर-अन्दर सरकार के नियंत्रण में रखा गया। अपने विशाल-साधनों के कारण भारतीय-बैंकिंग में उसको नेता का स्थान मिल गया।

इम्पीरियल बैंक का प्रबन्ध एक केन्द्रीय बोर्ड तथा तीन स्थानीय बोर्डों के हाथ में था। सरकार को केन्द्रीय बोर्ड में दो सदस्य नियुक्त करने का अधिकार था। वह अपने स्वत्वों की देखभाल करने के लिये 'चलअर्थ के नियंत्रक' (Controller of Currency) को मनोनीत करती थी। सरकार बैंक को अपनी बकाया रकमों की रक्षा करने तथा आर्थिक नीति के संबंध में भी निर्देश दे सकती थी।

बैंक ने सरकार के सभी बैंकिंग-कार्य को अपने हाथ में ले लिया। जैसे, अमानतों को स्वीकार करना तथा बकाया रकमों को अपने पास रखना। उसने सार्वजनिक ऋण का प्रबंध किया। वह अन्य स्थलों को रुपया भेजता था तथा ऋण देने के ढंग तथा साधन उत्पन्न करता था। वह बैंकरों के बैंक का काम भी करता था; क्योंकि अधिकांश व्यापारिक बैंक अपनी बकाया रोकड़ उसके पास ही रखा करते थे। वह देश में पारस्परिक परिशोध भवन (Clearing House) का काम भी करता था और इस प्रकार बैंकों के पारस्परिक दावों को तय किया करता था। बैंक द्वारा सरकारी काम करने के कारण उसके कार्यों का सावधानी से नियंत्रण किया जाता था। इस प्रकार इम्पीरियल बैंक ६ मास से अधिक के लिये ऋण नहीं दे सकता था। वह स्थायी सम्पत्ति पर या अपने शेयरों पर ही ऋण नहीं दे सकता था। वह अपने ग्राहकों की यथार्थ आवश्यकताओं के अतिरिक्त विनिमय-व्यवसाय नहीं कर सकता था। वह व्यक्तिगत जमानत पर तब तक ऋण नहीं दे सकता था, जब तक दो स्वतन्त्र व्यक्ति अथवा फर्म उस ऋण की जमानत न ले लें।

बैंक के विरुद्ध इस प्रकार की शिकायतें बार-बार की गईं कि वह अन्य बैंकों के साथ अनुचित प्रतियोगिता करता है। उसके पास जो सरकारी खजाना बिना सूद के बड़े भारी परिमाण में रहता था, उससे वह बहुत कम ब्याज पर जनता को रुपया उधार दे सकताथा।

---

१. देखो, Muranjan, op. cit.

किन्तु इस प्रकार के आरोप सत्य नहीं थे । क्योंकि बैंक अपनी सम्पत्ति के अत्यधिक तरल होने के कारण अत्यन्त कम दर पर भारी-भारी अमानतें आकर्षित कर सकता था ।

यह भी कहा गया कि बैंक यूरोपियन फर्मों के साथ भारतीय फर्मों के विरुद्ध पक्षपात-पूर्ण विभेदात्मक व्यवहार करता था । उसके व्यवसाय का अधिकांश, जिसका परिमाण बराबर बढ़ता जाता था, भारतीयों[1] के साथ ही होता था । १९२५ में उसकी अमानतों का कम से कम ६७ प्रतिशत भारतीयों से आया था । उसके द्वारा दिये गए ऋणों का भी ६८ प्रतिशत भारतीयों को हो दिया गया था । इसमें संदेह नहीं कि उसका भारतीयकरण उतनी शीघ्रता से नहीं किया गया, जैसी कि मांग की जाती थी । उसका प्रबंध तो बराबर यूरोपियनों के हाथ में ही बना रहा है ।

इम्पीरियल बैंक के विरुद्ध सबसे भीषण आरोप यह था कि वह विभिन्न स्थानों तथा ऋतुओं में द्रव्य की दर में उतार-चढ़ाव को कम नहीं कर सकता था । किन्तु उसका कारण इम्पीरियल बैंक और सरकार में बैंकिंग तथा चलअर्थ के कार्यों का बँट जाना था ।

इम्पीरियल बैंक का राज्य-बैंक-रूप होने के कारण उसका व्यापारिक-बैंक का रूप भी नहीं बना रह सकता था । वह अपने व्यापारिक कार्यों में भारी लाभ उठाता था । एक वास्तविक केन्द्रीय बैंक इस प्रकार का कार्य करना कभी पसंद न करता । न वह साधारण संयुक्त पूंजी बैंकों के साथ प्रतियोगिता में उतरता । यदि राज्य बैंक कहलाने वाला बैंक इस प्रकार के कार्य करता है तो देश में बैंकिंग-कार्य को सुचारु रूप से नहीं चलाया जा सकता ।

यह बात उसके पक्ष में कही जा सकती है कि उसने देश भर में बैंकिंग सुविधाएं बढ़ाने में सहायता दी । उसने ऐसे-ऐसे स्थानों में ७५ शाखाएं खोलीं जहां पहले किसी भी बैंक की कोई शाखा नहीं थी । उसने कुछ बैंकों की बड़ी प्रसन्नता से कठिनाई में सहायता की । उदाहरणार्थ, शिमले का एलाएंस बैंक, बंगाल नेशनल और इलाहाबाद बैंक । जहां-कहीं उसकी शाखा होती थी, वह पारस्परिक परिशोध भवन (Clearing House) का काम भी करती थी और इस प्रकार विभिन्न बैंकों के पारस्परिक हिसाब को सुलझाने में सहायता देती थी ।

१९३४ का इम्पीरियल बैंक संशोधन अधिनियम तथा उसके बाद की स्थिति—१९३५में रिजर्व बैंक की स्थापना हो जाने पर इम्पीरियल बैंक की अर्द्ध-सरकारी बैंक होने की स्थिति समाप्त हो गई । अब बैंक के कामों पर लगाई हुई पुरानी पाबंदियों को दूर कर दिया गया । तो भी उसको एक उभय सम्मत कमीशन के आधार पर भारत के रिजर्व बैंक का एजेंट बना दिया गया, जिससे उसकी कई लाख रुपया प्रति वर्ष की आय बढ़ गई । इस प्रकार अब उसके साधन बहुत ही बढ़ गये हैं और वह अन्य बैंकों को पुनःबट्टा लेने की सुविधा देता है । वह द्रव्य-बाजार का नेता है और अपने उस रूप में उसने अपनी अमानतों की अपेक्षा नकद रोकड़ के उच्च अनुपात को बनाए रखा है । उसकी उच्च स्थिति होने का यह भी एक मुख्य कारण है । इन्हीं सब कारणों से जनता की ओर से उसका राष्ट्रीयकरण किये जाने की भारी मांग उपस्थित की जाती रही है ।

इम्पीरियल बैंक के असामान्य विशेषाधिकार की आलोचना—वर्तमान प्रणाली में इम्पीरियल बैंक को असामान्य विशेषाधिकार दिये जाने की देश में भारी आलोचना की जाती रही है । यह आलोचना आंशिक रूप में राजनीतिक है । एक तो इस कारण कि बैंक

1. Muranjan p. 92.

का संचालन अंग्रेजों के हाथ में था। दूसरे इस कारण की अतीत काल में यह भारतीय बैंकों के साथ प्रतियोगिता करने के कारण कुछ अप्रिय बन चुका है । एक तर्क यह दिया जाता है कि सिद्धान्त रूपसे यह अनुचित है कि किसी एक व्यापारिक-बैंक को सरकारी रोकड़ तथा चलअर्थ की तिजोरियों का सब काम दे दिया जावे । क्योंकि उससे उसको शक्तिशाली एकाधिकार मिल जाता है और फिर उसको जनता तथा अन्य बैंकों के स्वार्थों की उपेक्षा करने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है । या तो इस एकाधिकार पर कठोरता से नियंत्रण लगाया जाना चाहिए अथवा बैंक को उन विभिन्न प्रकार की विशेष सुविधाओं तथा लाभों को उससे छीन लेना चाहिए, जो उसको रिजर्व बैंक की स्थापना हो जाने के बाद भी मिलते रहे हैं ।

इम्पीरियल बैंक के विरुद्ध एक और आलोचना यह की जाती है कि उसका वर्तमान संगठन नोकरशाही है और उसके प्रबन्धकों (Executive) को डाइरेक्टरों के निर्वाचन का नियंत्रण करने की क्षमता है । यह भी नर्क दिया जाता है कि अपने गत तीस वर्ष के जीवन में बैंक ने भारतीयों को अपने बहुत कम ऊंचे पद दिये हैं ।

ग्रामीण बैंकिंग जांच कमेटी ने आलोचना के इन सभी तर्कों पर पूर्ण विचार करने के उपरांत यह सुझाव दिये हैं:—

(१) इम्पीरियल बैंक अधिनियम में से शेयर होल्डरों की ओर से मताधिकार के उपयोग के लिये किसी को भी प्रतिनिधि (Proxy) बनाने का दस्तावेज तैयार करने की शक्ति को हटा दिया जाय ।

(२) बैंक द्वारा प्राप्त विशेष सुविधाओं के न्याय न होने के कारण या तो उसके बैंकिंग एकाधिकार को कठोरता से नियंत्रित कर दिया जाय, अथवा बैंक से उन विशेष सुविधाओं को छीन लिया जाय ।

(३) उसके पदाधिकारियों का शीघ्रता से भारतीयकरण किया जाय । इस बात का आश्वासन दिया गया है कि भारतीयकरण के इस कार्य को १९५५ तक पूर्ण कर दिया जायगा ।

(४) अन्य बैंकों के साथ आज अयोग्य प्रतियोगिता न होने के कारण इम्पीरियल बैंक को उसके व्यापारिक कार्य करने दिये जायं और उसके ऊपर लगाये हुए वर्तमान प्रतिबंधों को ही पर्याप्त समझा जाय ।

(५) किन्तु इस बात का यत्न किया जाय कि सभी बैंक खजानों के द्वारा सस्ती दर पर धन एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा करें, जिससे इम्पीरियल बैंक को राष्ट्रीय चलअर्थ का संरक्षक होने की विशेष सुविधा न मिले ।

२०. क्या इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय ? यह बैंक भारत भर में रिजर्व बैंक के एजेंट (प्रतिनिधि) का काम करता है । यह एक बड़ी संस्था है और इसकी शाखाओं की संख्या भी बड़ी (भारत में ३६७ तथा विदेशों में ८४) है । इस बात को तथा उसके विरुद्ध अनेक शिकायतों को तथा इस तथ्य को ध्यान में रखते हुएकि रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है, सरकार ने १९४८ में इस प्रश्न पर विचार किया था कि क्या इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय ? उस समय उसने इस बात को सिद्धान्त रूपमें स्वीकार कर लिया था कि उसका भविष्य में राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय । किन्तु विदेशों में उसकी अनेक शाखाएं होने के कारण अनेक राजनीतिक समस्याएं उत्पन्न हो गई । अतएव वर्तमान समय में उसके राष्ट्रीयकरण को स्थगित कर दिया गया । सरकार ने उसके भागीदारों को आश्वासन दिया कि यदि कभी इम्पीरियल

बैंक का राष्ट्रीयकरण किया गया तो उनको उसी प्रकार हर्जाना दिया जायगा,जिस प्रकार रिजर्व बैंक के भागीदारों को दिया गया था। सरकार ने यह भी आश्वासन दिया कि अन्य व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण करने की उसकी कोई इच्छा नहीं है।

यह खेद की बात होगी कि राष्ट्रीयकरण के बाद बैंक के सभी व्यापारिक-कार्यों को बंद कर दिया जायगा। यह खेद विशेषकर ऐसी दशा में और भी बढ़ जाता है जबकि वह व्यापारिक पत्रों, पुनः बट्टा लेने और अपनी विदेशी शाखाओं के द्वारा विदेशी विनिमय जैसे उपयोगी काम अनेक दिशाओं में कर रहा है। हमारी सम्मति में इस संस्था को भारत के मुद्रा संबंधी स्वत्वों की सेवा करने के लिए जीवित रहने देना चाहिए। सबसे अच्छा उपाय तो यह होगा कि उसका इस प्रकार संगठन किया जाय कि वह केंद्रीय बैंकिंग के साथ व्यापारिक बैंकिंग के दो पृथक्-पृथक् विभाग बना देवे।

२१. भारत के रिजर्व बैंक का जन्म। प्रथम महायुद्ध के बाद कुछ अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों ने यह निश्चित सम्मति प्रकट की कि ऐसा केन्द्रीय बैंक—जो सरकारी नियंत्रण से मुक्त हो—आर्थिक विश्रृङ्खलता को रोकने तथा ठोस राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करने में सहायता दे सकता है। यह अनुमान किया गया कि भारतीय मुद्रा-प्रणाली ठोस नहीं है,क्योंकि उसका चलअर्थ और साख दो विभिन्न ऐसे अधिकारियों के हाथ में थे, जिनकी नीतियां प्रायः एक दूसरे से पृथक् होती थीं, जबकि चलअर्थ तथा बैंकों की सुरक्षा-निधियों को पृथक्-पृथक् रखा जाता था। इन त्रुटियों का उपाय करने तथा देश के बिखरे हुए बैंकिंग साधनों को एक उद्देश्य के लिये एकत्रित करने वाली केवल एक केंद्रीय बैंकिंग एजेंसी ही हो सकती थी। देश में यह वाद-विवाद बहुत समय से चला आता था कि भारत में सरकार का अपना बैंक हो अथवा वह व्यक्तिगत भागीदारों का बैंक हो। मुख्य बात यह कि नई संस्था राजनीतिक प्रतिबंधों तथा पूंजीवादी-यंत्रों से स्वतन्त्र हो। वह साख अथवा चलअर्थ का योग्यतापूर्वक नियन्त्रण कर सके। बड़े-बड़े लाभांश देना उसका मुख्य उद्देश्य न हो अन्यथा वह बैंकिंग-संसार के विश्वास का संपादन नहीं कर सकेगी। सन् १९२७ तथा १९२८ के दो व्यर्थ प्रयत्नों के बाद,केन्द्रीय बैंकिंग जांच कमेटी की प्रबल सिफारिशों द्वारा केन्द्रीय बैंक की स्थापना का मामला फिर मुख्य रूप से उठाया गया। अतएव, १९३४ में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया अधिनियम द्वारा एक भागीदारों के बैंक की स्थापना की गई।

भारत के रिजर्व बैंक का संविधान—रिजर्व बैंक को एक भागीदारों के बैंक के रूप में आरंभ किया गया। उसकी पूंजी आरंभ में पांच करोड़ रुपये की थी, जिसे सौ-सौ रुपये के ऐसे शेयरों में विभक्त किया गया था,जो सभी पूर्ण चुकता (Fully Paid-up) रखे गए थे। यह सारी पूंजी कुछ व्यक्तियों की थी। केवल २,२०,००० रुपये केन्द्रीय सरकार ने अपनी ओर से दिये थे।

इन अंशों को पांच वृत्तों (Circles) में बांटा गया था—कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, मद्रास और रंगून। बाद में सन् १९४० के अधिनियम में यह व्यवस्था की गई कि एक व्यक्ति अपने अकेले नाम में अथवा अन्य व्यक्तियों के साथ संयुक्त नाम में २०,००० रुपये के शेयरों से अधिक के नहीं रख सकता। पांच शेयरों के रखने पर एक मत देने का अधिकार दिया गया और एक भागीदार को दस से अधिक मत नहीं दिये जा सकते थे।

प्रबन्ध—बैंक के मामलों के साधारण निर्देशन तथा व्यवसाय के काम को एक केन्द्रीय बोर्ड को दिया गया, जिसके निम्नलिखित १६ सदस्य थे :—

(क) एक गवर्नर तथा दो डिप्टी गवर्नर, जिन्हें केन्द्रीय सरकार बोर्ड की सिफारिश पर नियुक्त करती थी, (ख) चार डाइरेक्टर सरकार द्वारा मनोनीत, (ग) भागीदारों द्वारा चुने हुए डाइरेक्टर इस प्रकार कि बम्बई, कलकत्ता तथा दिल्ली के भागीदारों द्वारा अपने-अपने यहां के दो-दो डाइरेक्टर तथा मद्रास ओर रंगून के भागीदारों द्वारा अपने-अपने यहां के लिये एक-एक डाइरेक्टर ओर (घ) सरकार द्वारा मनोनीत एक सरकारी अफसर।

इन पांचों क्षेत्रों के लिए एक-एक स्थानीय बोर्ड भी बनाने की व्यवस्था की गई थी। समें (क) पांच-पांच सदस्य भागीदारों द्वारा अपने अन्दर से चुने जाते थे तथा (ख) तीन-तीन सदस्य केंद्रीय बोर्ड द्वारा भागीदारों में से मनोनीत किये जाते थे। मनोनीत करने का उद्देश्य कृषि तथा सहकारी स्वत्वों जैसे उन व्यक्तियों के प्रतिनिधियों को लेना था, जिनको चुनाव से प्रतिनिधित्व नहीं मिल सका था।

राष्ट्रीयकरण के बाद परिवर्तन--बैंक का सितम्बर १९४८ में राष्ट्रीयकरण किया गया। इसलिये अब वह भागीदारों का बैंक नहीं है। सरकार ने भागीदारों को हर्जाना देकर उनके अंशों को मोल ले लिया। केन्द्रीय तथा स्थानीय बोर्डों के संविधान में भी संशोधन किया गया। अब सभी डाइरेक्टरों को सरकार मनोनीत करती है। वह स्थानीय बोर्डों तथा देश के विभिन्न प्रकार के स्वत्वों का प्रतिनिधित्व करते हैं। स्थानीय बोर्डों के डाइरेक्टरों को भी मनोनीत किया जाता है।

रिजर्व बैंक के साधारण कार्य---बैंक को निम्नलिखित कार्य करने का अधिकार है--

(१) केन्द्रीय सरकार और राज्य-सरकारों, बैंकों, स्थानीय संस्थाओं और किसी अन्य व्यक्ति से अमानत के रूप में बिना सूद धन स्वीकार करके अपने पास जमा रखना।

(२) निम्नलिखित हुण्डियों को समय-समय पर प्रकाशित होने वाली प्रामाणिक दर पर मोल लेना, बेचना और उन पर पुनः बट्टा लेना--

(क) विनिमय हुण्डियां (Bills of Exchange) तथा वचन-पत्र (Promissory Notes) जो भारत में जारी किये गये हों और जिनका भारत में ही भुगतान किया जाना हो और जो सच्चे सौदों पर बनाये गए हों, जिनके ऊपर दो या अधिक अच्छे हस्ताक्षर हों, जिनमें से एक सारिणी सूची के बैंक का हो और जो बिक्री अथवा पुनः बट्टा लिये जाने के दिन से ९० दिन के अन्दर-अन्दर भुनाई जाय।

(ख) ऐसी हुण्डियां आदि, जो भारत में कृषि-कार्यों अथवा फसलों को बेचने के लिये जारी की गई हों ओर जिनका भुगतान भारत में ही बिक्री अथवा पुनः बट्टा लिये जाने के दिन से ९ मास के अन्दर-अन्दर किया जाना हो, और

(ग) ऐसी हुण्डियां, जो केन्द्रीय और राज्य-सरकारों की प्रतिभूतियों (Securities) को रखने अथवा उनका व्यापार करने के लिये जारी की गई हों अथवा निकाली गई हों और जिनका भुगतान ९० दिन के अन्दर-अन्दर किया जाना हो।

(३) सारिणी-सूची के बैंकों से स्टर्लिंग तथा विनिमय हुण्डियां मोल लेना अथवा उसके हाथ बेचना किन्तु वह स्टर्लिंग एक लाख रुपये से कम मूल्य का न हो और विनिमय हुण्डियां (Bills of Exchange) ब्रिटेन के किसी भी स्थान में अथवा नाम पर निकाले गएहों और उनका भुगतान ९० दिन के अन्दर-अन्दर किया जाना हो तथा ब्रिटेन के बैंकों में बकाया रकम रखना।

(४) राज्यों, स्थानीय अधिकारियों, सारिणी सूची के बैंकों तथा राज्य-सहकारी बैंकों को उधार तथा पेशगी रकमें इस प्रकार देना कि उनका भुगतान मांगते ही अथवा ९० दिन के अन्दर-अन्दर कर दिया जाय। यह रकमें ट्रस्टी प्रतिभूतियों (Trustee Securities), सोने या चांदी, ग्रहण करने योग्य हुंडियों अथवा विनिमय और सारिणी-सूची के बैंकों तथा प्रान्तीय कोआपरेटिव बैंकों के ऐसे वचन-पत्रों (Promissory Notes) के विरुद्ध दी जा सकती हैं, जिनका समर्थन ऐसे माल के कागज़ करते हों, जिसे व्यापारिक कार्यों अथवा फसलों को बेचने के लिये बैंक को दी जाने की प्रतिज्ञा की गई हो।

(५) केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारों को ऐसी पेशगी रकम देने के लिये मार्ग तथा साधन निकालना, जिसका भुगतान ९० दिन के अन्दर किया जाना हो।

(६) स्वयं अपने कार्यालयों अथवा एजेंसियों पर दर्शनी हुण्डी (Demand Draft) निकालना।

(७) ब्रिटेन की ऐसी सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करना, जिनका भुगतान मोल लेने की तारीख से १० वर्ष के अन्दर-अन्दर किया जाना हो।

(८) केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारों की ऐसी प्रतिभूतियों का क्रय तथा विक्रय करना जो निश्चित सीमा के भीतर किसी भी समय भुनाई जा सकें।

(९) भारत के किसी सारिणी-सूची के बैंक अथवा किसी अन्य देश के किसी केन्द्रीय बैंक से अधिक से अधिक ३० दिन के लिये उधार लेना।

(१०) अन्य देशों के केन्द्रीय बैंकों में हिसाब खोलना अथवा उनके साथ एजेंसी के समझौते करना, उनके एजेंट के रूप में कार्य करना और उनके शेयरों में पूंजी लगाना।

(११) किसी भी देश के एक केन्द्रीय बैंक द्वारा किये जाने वाले अन्य सब कार्यों को करना। इन कार्यों के संबंध में नीचे विचार किया जाता है—

बैंक के केन्द्रीय बैंकिंग-कार्य

(**क**) **नोट निकालना—प्रथम तो** १९३५ से भारत में नोट निकालने का एकाधिकार है। नोट निकालने के लिये रिजर्व बैंक निकास विभाग (Issue Department) नाम से एक पृथक् विभाग बनाए रहता है, इस विभाग की सम्पत्ति को बैंकिंग विभाग की सम्पत्ति से पृथक् रखा जाता है। निकास विभाग की सम्पत्ति में स्वर्ण मुद्राएं, अमुद्रित स्वर्ण पिण्ड, स्टर्लिंग प्रतिभूतियां, रुपये के सिक्के तथा रुपये की प्रतिभूतियां होती हैं। इनमें से कम से कम ४० प्रतिशत मात्रा में स्वर्ण मुद्राएं और अमुद्रित स्वर्ण पिंड (Bullion) अथवा स्टर्लिंग प्रतिभूतियां होनी चाहिएं। किन्तु इसमें यह शर्त है कि बैंक में किसी समय भी ४० करोड़ रुपये से कम मूल्य का सोना न हो और उस सोने के मूल्य का हिसाब एक रुपये के ८·४७५१२ ग्रेन शुद्ध सोने से लगाया गया हो, जो एक तोले का २१ रुपये ३ आना ८ पाई के हिसाब से बैठता है। सम्पत्ति के इस रूप में यदि कोई कमी हो तो उसकी स्वीकृति सरकार से लेनी पड़ती है और उस पर बैंक को कम से कम ६ प्रतिशत जुर्माना देना होता है।

सम्पत्ति के शेष ६० प्रतिशत भाग को रुपये की मुद्राओं, सरकार की रुपये की प्रतिभूतियों तथा विनिमय की ऐसी निश्चित हुण्डियों में रखा जा सकता है, जिनका भुगतान भारत में किया जाना हो। किन्तु इसमें यह शर्त है कि रुपये की प्रतिभूतियां समस्त सम्पत्ति के एक चतुर्थांश अथवा ५० करोड़ रुपये से—इनमें जो भी बड़ा हो—न बढ़ने पावें। १९४१ में निकाले हुए एक अध्यादेश (Ordinance) द्वारा रुपये की प्रतिभूतियों

के निकास विभाग में परिमाण को सीमित करने की शर्त को हटा दिया गया।

(ख) **बैंकिंग का नियमन--दूसरे स्थान** में रिजर्व बैंक के लिये यह आवश्यक है कि वह बैंकिंग प्रणाली का नियमन करे। प्रत्येक संयुक्त पूंजी बैंक को, जिसकी चुकता पूंजी तथा सुरक्षा कोष का परिमाण मिल कर कम से कम ५ लाख रुपये हो, रिजर्व बैंक की सारिणी सूची २ में शामिल किया जा सकता है। उसको रिजर्व बैंक के पास अपनी तात्कालिक देनदारियों के ५ प्रतिशत तथा सावधि देनदारियों के २ प्रतिशत के बराबर रकम रिजर्व बैंक में रखनी पड़ती है (जिस पर कोई व्याज नहीं दिया जाता)। साथ ही उसको निश्चित रूप में साप्ताहिक हिसाब भी देना पड़ता है। मार्च १९५१ में सारिणी सूची २ में ९६ बैंक थे।

सारिणी सूची के बैंक स्वीकृत प्रतिभूतियों के विरुद्ध आर्थिक सहायता प्राप्त कर सकते हैं। वह विनिमय पत्रों (Bills of Exchange) तथा उन वचन-पत्रों (Promissory Notes) पर पुनः बट्टा ले सकते हैं, (१) जो भारत में जारी किये गए हों तथा जिनका भुगतान भारत में ही किया जाना हो (२) जिनके ऊपर दो या अधिक **विश्वस्त** (Good) हस्ताक्षर हों, जिनमें एक हस्ताक्षर सारिणी सूची के बैंक के हों, और (३) जिनका भुगतान पुनः बट्टा लेने की तारीख से रियायती दिन (Days of Grace) सहित ९० दिन के अंदर-अंदर किया जाना हो। विशेष प्रकार की सरकारी प्रतिभूतियों का व्यापार करने के उद्देश्य से निकाली हुई हुण्डियों पर भी--यदि उनका भुगतान ९० दिन के अन्दर किया जाना हो तो पुनः बट्टा लिया जा सकता है। कृषि संबंधी ठोस हुण्डियों के भुगतान के समय के सम्बन्ध में रियायती दिन अपवाद रखा है और उनका भुगतान ९ मास तक (बाद में इसे बढ़ा कर १५ मास कर दिया गया) किया जा सकता है।

रिजर्व बैंक सदस्य-बैंकों की साख-नीति पर भी नियन्त्रण रखता है और उनके द्वारा वह द्रव्य-बाजार के अन्य अंगों पर भी नियंत्रण रखता है। अपनी बैंक-दर को घटा या बढ़ा कर और खुले बाजारमें सरकारी प्रतिभूतियोंके क्रय-विक्रय द्वारा इस प्रकार के नियंत्रण को बनाए रखता है। इस ढंग के कार्य को खुले बाजार के कार्य (Open-Market Operations) कहा जाता है। बैंक-दर नीची होने से रिजर्व बैंक के साथ पुनः बट्टा कार्य करने में वृद्धि होती है। इस प्रकार संयुक्त पूँजी बैंकों के पास नकदी बढ़ जाती है और बैंक-दर ऊंची होने से रिजर्व बैंक के साथ पुनः बट्टा करने में अनुत्साह होता है और इस प्रकार संयुक्त पूंजी बैंकों के पास रुपया घट जाता है। इसी प्रकार बैंक द्वारा खुले बाजार में प्रतिभूतियां मोल लेने से द्रव्य-बाजार में नकदी बढ़ जाती है और उनकी बिक्री से उल्टा प्रभाव पड़ता है।

(ग) **विनिमय दर को बनाये रखना--तीसरे स्थान में,** रिजर्व बैंक को रुपये के बाह्य मूल्य को एक रुपये के १ शिलिंग ६ पेंस स्टर्लिंग भाव को भी बनाए रखना पड़ता है। ऐसा करने के लिए बैंक को किसी भी व्यक्ति को, जो रुपये में मूल्य चुकाए, कम से कम १०,००० पौंड का स्टर्लिंग--लंदन में तुरंत देने के लिए एक रुपये के १ शिलिंग $५\frac{४९}{६४}$ पेंस की दर पर बेचना, अथवा एक रुपये की अधिक से अधिक १ शिलिंग $६\frac{३}{१६}$ पैंस दर पर मोल लेना पड़ता है।

(घ) **सरकारी कार्य--चौथे स्थान में,** रिजर्व बैंक केन्द्रीय सरकार तथा राज्य-सरकारों के लिये सभी प्रकार का बैंकिंग-कार्य करता है। उसमें रकम को लेकर अपने पास बिना ब्याज रखना भी सम्मिलित है। उसको उनके विनिमय तथा एक स्थान से

दूसरे स्थान पर धन भेजने के कार्य करने पड़ते हैं और सार्वजनिक ऋण का प्रबंध करना पड़ता है ।

बैंक के कार्यों में उसके द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को धन भेजने की सुविधा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सुविधा है । बैंक इम्पीरियल बैंक की सभी शाखाओं में तथा सरकारी खजानों के पास धन रखता है । इन सुविधाओं के लिए १३०० खजाने खुले हुए हैं इन सुविधाओं को १९४० में और बढ़ा कर इनका मान निश्चित कर दिया गया । नई योजना के अनुसार एक स्थान से दूसरे स्थान को धन भेजने की रियायती दर को ६१ बिना सारिणी सूची के बैंकों तथा सात उन देसी बैंकरों पर भी लागू कर दिया गया, जो बैंक की स्वीकृति में हैं । तार द्वारा रकम भेजने की दशा में तार का खर्च इसके अतिरिक्त[1] लिया जाता है ।

(ङ) **पारस्परिक परिशोध भवन** (Clearing Houses) **पांचवें स्थान में**–बैंक पारस्परिक परिशोध भवन का कार्य भी करता है और एक बैंक से दूसरे बैंक को रकम की गतिशीलता में बचत करदेता है । पारस्परिक परिशोध भवनों में निम्नलिखित पांच सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं–बंबई, कलकत्ता, दिल्ली, मद्रास और कानपुर । इनके अतिरिक्त २० और भी हैं । वह स्वतन्त्र संस्थाएं हैं और अभी तक बैंक ने उनके कार्य में हस्तक्षेप करना आवश्यक नहीं समझा । सन् १९५०-५१ में भारत में कुल ६,५७८ करोड़ रुपये के चेकों का पारस्परिक भुगतान किया गया, जब कि १९४९-५० में वह संख्या ६१,९८ करोड़ रुपये तथा १९३८-३९ में १,९२१ करोड़ रुपये थी ।

(च) **कृषि-साख विभाग, छठे स्थान पर**–रिजर्व बैंक का एक कृषि साख-विभाग भी है । उसमें विशेषज्ञ कर्मचारी होते हैं । उसके कार्य निम्नलिखित हैं (क) कृषि-साख सम्बन्धी सभी प्रश्नों का अध्ययन करना और सभी बैंकों को आवश्यकता पड़ने पर परामर्श देने के लिये उपलब्ध होना, और (ख) कृषि-साख के सम्बन्ध में बैंक के कार्यों में राज्य कोआपरेटिव बैंक तथा व्यापारिक बैंकों को समान रूप में सहयोग देना । इस प्रकार उसका कार्य मुख्य रूप से एक परामर्शदाता के रूप में है और वह सीधे सहायता नहीं कर सकता ।

सहकारी आन्दोलन, भूमि रेहन बैंकों, ऋण कानूनों, धन-उधार देने को नियमित करने, गोदामों के कानूनों, बाजार में बेचने तथा अन्य सम्बन्धित मामलों की समस्याओं का यह विभाग बराबर अध्ययन करता रहा । अब इस विभाग की सेवाओं का उपयोग पहले से अधिक किया जा रहा है । इस विभाग ने सहकारी आन्दोलन श्रीलंका, सस्कतचेवन आदि अनेक देशों तथा भारत के आसाम एवं बम्बई जैसे कुछ चुने हुए प्रदेशों के सम्बन्ध में अनेक पुस्तिकाएं प्रकाशित कर चुका है ।

इस विभाग ने सहकारी आन्दोलन में भाग लेने वालों के मन में इस भावना को दूर करने का यत्न किया है कि कोआपरेटिव बैंको को रुपया देने के मामले में रिजर्व बैंक अनुकूल नहीं है । इसके परिणामस्वरूप अब रिजर्व बैंक के पास सहायता के लिए अधिक बार प्रार्थनाएं की जाने लगी हैं । रिजर्व बैंक अधिनियम की धारा १७ (२) (घ) तथा (४) (ग) के अनुसार कोआपरेटिव बैंकों को बैंक दर से भी १॥ प्रतिशत रियायती दर पर रुपया दिया जाता है । अब यही सुविधा धारा १७ (४) (क) के अनुसार दिये जाने वाले ऋणों के लिए भी बढ़ा दी गई है, किन्तु इसमें यह शर्त है कि उधार लिये हुए धन का उपयोग कठोरता से ऋतु सम्बन्धी कृषि कार्यों और फसलों के बेचने में ही किया जाय।

---

१. चालू बरसों में भारत में स्थानान्तरित रकमों की कुल संख्या के लिए १९५०-५१ की Currency and Finance Report का Statement ३२ देखो ।

इस प्रकार के ऋणों की अवधि को २ मास से बढ़ा कर १५ मास कर दिया गया । सन् १९४५ में रिजर्व बैंक ने ६, १६ लाख रुपये के ऋण राज्य-कोआपरेटिव बैंकों को दिये, जब कि सारिणी-सूची के बैंकों को उसने ३,५६१ लाख रुपयों का उधार दिया था । सारिणी सूची के बैंक ३ प्रतिशत ब्याज देते हैं जब कि कोआपरेटिव बैंक एक करोड़ रुपये के ऋण पर २ प्रतिशत और अगले एक करोड़ रुपये के ऋण पर केवल १½ प्रतिशत ब्याज देते हैं । इसमें विचार यह है कि कोआपरेटिव बैंकों को कृषि हुंडियों के विरुद्ध उधार लेने को प्रोत्साहित किया जाय तथा वह कम ब्याज का लाभ किसानों को दें ।

(छ) **सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध—सातवें स्थान में**, रिजर्व बैंक को सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध तथा राज्य सरकारों की ओर से ऋण लेने तथा उनको चुकाने का प्रबन्ध भी करना पड़ता है । भारत के ऊपर १९३८-३९ में कुल १,२०६ करोड़ रुपये ऋण था । उसका सार्वजनिक ऋण पूरे का पूरा लगभग आन्तरिक ही है । ३१ मार्च १९५१ को भारत का समस्त सार्वजनिक ऋण २०,८९ करोड़ रुपये का था, अर्थात् ऋण में १९३९ के ९५० करोड़ रुपये की अपेक्षा उस वर्ष कुल २ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई । उसमें अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (I.M.F.) तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (I.B.R.D.) का बिना ब्याज का २१३ करोड़ रुपये का ऋण तथा ७ करोड़ रुपये का पुराना ऋण भी सम्मिलित है । ब्याज दिये जाने वाले ऋण में २१ करोड़ रुपये का ब्रिटिश-युद्ध-ऋण (जो अब स्थगित हो चुका है), ११ करोड़ रुपये की रेलवे की वार्षिक किश्तें (जिसके लिए ब्रिटिश सरकार के पास उतनी ही रकम जमा कर दी गई है, जिसने उस रकम के वर्जित होते ही आवश्यक स्टर्लिंग देने का वचन दिया है), १ करोड़ रुपये का स्टर्लिंग ऋण, २४ करोड़ रुपये का डालर ऋण तथा १,८११ करोड़ रुपये का रुपया ऋण सम्मिलित है । १९५०-५१ के अन्त में भारत सरकार को कुल २,५६२ करोड़ रुपये का ब्याज वाला ऋण देना था, अर्थात् उस ऋण में वर्ष के अन्त में ८९करोड़ रुपये की वृद्धि हुई । उनमें प्राविडेंट फंड, (Provident Fund), डाकखाने का सेविंग्स बैंक, नेशनल सेविंग्स सर्टिफिकेट, रेलवे की अवमूल्यन निधि (Depreciation Fund) तथा सुरक्षा निधि आदि हैं । इस ऋण के विरुद्ध सरकार के पास ब्याज देने वाली सम्पत्ति है, जिसमें पूंजी को उत्पादक कार्यों में लगाया गया है । ३१ मार्च १९५१ को यह सम्पत्ति १,६८१ करोड़ रुपये की अथवा समस्त ब्याज वाले ऋण का ६५·६ प्रतिशत थी । उसका एक भाग नकद, बकाया के रूप में भी था । शेष ऋण या तो बिना जमानत के था अथवा खजाने के हिसाब में भारत सरकार की प्रतिभूतियों के रूप में 'सुरक्षित' था ।

(ज) **अंकों का एकत्रीकरण**—अंत में, आर्थिक-सूचना तथा अंकों को एकत्रित करने तथा उनका प्रकाशन करने के लिए रिजर्व बैंक एजेंसी के रूप में काम करता है । वह अपने निकास तथा बैंकिंग विभागों का साप्ताहिक हिसाब सरकार को देता है । इसके अतिरिक्त यह भारत के बैंकों के सम्बन्ध में मासिक अंकों की तालिकाएं तथा चलअर्थ एवं अर्थ-व्यवस्था पर वार्षिक रिपोर्ट प्रकाशित करता है । १९४९ के नये अधिनियम के अनुसार यह भारत में बैंकिंग की उन्नति तथा उसकी गति के विषय में भारत सरकार को एक वार्षिक रिपोर्ट दिया करता है ।

२२. बैंक-दर । रिजर्व बैंक समय-समय पर उस प्रामाणिक दर (Standard Rate) की घोषणा करता है, जिस पर वह विनिमयपत्रों (Bills of Exchange) तथा अन्य समुचित व्यापारिक-पत्रों पर पुनः बट्टा लेता है । जब से बैंक खुला है यह दर ३ प्रतिशत रही है । युद्ध भी इसमें परिवर्तन नहीं करा सका । क्योंकि सुगमता से द्रव्य प्राप्त होने की दशाएं देश में बनी रहीं । द्रव्य-बाजार का नियंत्रण करने के लिए बैंक-दर

अत्यन्त महत्वपूर्ण ङेंकली है। अन्य बैंक अपने उधार देने और पुनः बट्टा लेने की दरों का उसी के आधार पर निश्चय करते हैं। यदि उनको आवश्यकता के समय रुपया उधार लेना हो तो उनको इसी दर पर उधार मिलता है। नवम्बर १९५१ में इस दर को बढ़ा कर साढ़े तीन प्रतिशत कर दिया गया, जिससे देश में साख के विस्तार को रोका जा सके। यह कार्य मूल्यों को घटाने के लिये मुद्रा-स्फीति विरोधी उपाय के रूप में किया गया था और इस उपाय से उस उद्देश्य के प्राप्त करने में सफलता मिली है।

२३. इम्पीरियल बैंक के साथ सम्बन्ध। रिजर्व बैंक ने इम्पीरियल बैंक के साथ एक इकरारनामा लिख कर उसे १५ वर्ष के लिए ब्रिटिश भारत के उन सब स्थानों में अपना एकमात्र प्रतिनिधि नियत किया, जहां रिजर्व बैंक के खुलने से पूर्व इम्पीरियल बैंक की शाखाएं थीं। उस इकरारनामे को १५ वर्ष के बाद दोनों पक्ष पांच-पांच वर्ष का एक-दूसरे को नोटिस देकर चाहे जब समाप्त कर सकते हैं। यह इकरारनामा चलते रहने की एक शर्त यह थी कि इम्पीरियल बैंक की आर्थिक स्थिति ठोस बनी रहे और उसकी वर्तमान सभी शाखाओं की संख्या भी बनी रहे। उसके बदले में उसको प्रथम पांच वर्षों में ९ लाख रुपया वार्षिक, उसके बाद के ५ वर्षों में ६ लाख रुपया वार्षिक और उसके भी बाद के पांच वर्षों में ४ लाख रुपया वार्षिक देने का वचन दिया गया। इसके अतिरिक्त इम्पीरियल बैंक को समस्त सोदों में प्रथम २५० करोड रुपयों पर $\frac{१}{१६}$ प्रतिशत, तथा शेष रकम पर $\frac{१}{३२}$ प्रतिशत १० वर्ष तक दिये जाने का वचन दिया गया। दस वर्ष के बाद इस दर पर पुनर्विचार करने का निश्चय किया गया।

२४. रिजर्व बैंक के कार्य का मूल्यांकन। रिजर्व बैंक की स्थापना १९३५ में की जाने के बाद उसकी नीति का निर्देशन ठीक दिशा में किया जाता रहा है। अतएव उसको अब तक सफलताएं भी कम नहीं मिलीं। जैसा कि निम्नलिखित पुनर्निरीक्षण से प्रगट है—

(क) बैंक-दर जो रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व ७ और ९ के बीच में बनी रहती थी, १९३५ में रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद घट कर ३ प्रतिशत हो गई, और वैसी ही बाद में बनी रही। केवल नवम्बर १९५१ में उसे मुद्रा-प्रसार को रोकने के लिए साढ़े तीन प्रतिशत किया गया।

(ख) द्रव्य की दर में ऋतु-सम्बन्धी उतार-चढ़ाव को रोक दिया गया और स्थान सम्बन्धी विभिन्नताएं दूर कर दी गई। ऊपरी इलाके में से फसलें हटाने के लिए ऋतु संबन्धी मांगों के मुख्य दबाव का ठीक ठीक मुकाबला कर लिया गया। बैंकों में आपस के रुपया लेने की दर (Call Money Rate) $\frac{१}{४}$ से $\frac{१}{२}$ प्रतिशत तक रही।

(ग) रिजर्व बैंक ने मुद्रा के स्थानान्तरीकरण की अत्यन्त ऐसी सस्ती सुविधायें उत्पन्न कीं, जिनका जनता, सारिणि सूची के बैंकों, सरकार तथा कोआपरेटिव सोसाइटियों ने खूब उपयोग किया।

(घ) बैंक को सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध करने में बड़ी भारी सफलता मिली है। १९३९ से लेकर १९५२ के बीच में उसने ४६९ करोड़ रुपये के समस्त ऋण में से ४३५ करोड़ रुपये के स्टर्लिंग ऋण को चुका दिया। उसने रेलवे को दी जाने वाली वार्षिक किश्तनामे की स्थापना की और इंग्लैण्ड में स्टर्लिंग की पेंशनों तथा स्वदेश जाने की छुट्टी के अनुदानों (Furlough Allowances) के चुकाये जाने का ठीक प्रबन्ध कर दिया। इसके अतिरिक्त उसने सस्ती दर पर केन्द्रीय सरकार तथा राज्य-सरकारों के लिए ऋण लिये। उसने कोषपत्रों के द्वारा खर्च करने के साधन भी उपस्थित किये।

(ङ) बैंक ने अनेक कठिन परिस्थितियों में भी रुपये के विनिमय मूल्य को १ शिलिंग ६ पेंस दर पर बनाए रखा। उसने भारत में ग्रामीण साख के विकसित करने में मूल्यवान काम किया। वह कोआपरेटिव ऋण के संबंध में सरकार को विशेषज्ञों का परामर्श देने के लिए एक विशेष विभाग बनाये रहता है।

(च) बैंकरों के बैंक के रूप में वह एक ऐसे उत्तम कानून को बनवाने में सफल हुआ है, जिससे उसको सारिणी सूची के, बिना सारिणी सूची के तथा देश में विदेशी बैंकों के कार्यों का नियंत्रण तथा उनको नियमित करने के व्यापक अधिकार मिल गये हैं। उसने युद्धव्यय की ऋण लेने, स्टर्लिंग ऋण की वापिसी तथा विनिमय नियंत्रण के प्रबन्ध जैसी बहुमुखी समस्याओं को सफलतापूर्वक सुलझाया।

(छ) बैंक ने अत्यधिक परिमाण में अनुसंधान-कार्य किया है। उसके पास अर्थ-शास्त्रियों तथा अनेक विशेषज्ञों का अत्यन्त योग्य-कर्मचारीमण्डल है, जिसका कार्य देश के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। उसने भुगतान-संतुलन के विभाग (Balance of Payment Division) का पृथक् संगठन किया है। उसके प्रस्ताव पर राष्ट्रीय आय के अंकों को—जो आर्थिक प्रगति के महत्त्वपूर्ण उद्घोषक होते हैं—सरकार तैयार कर रही है।

वह मासिक बुलेटिन भी प्रकाशित करता है, जिसमें देश की आर्थिक दशा के संबंध में विभिन्न प्रकार के तथ्यों तथा सामयिक समस्याओं पर बहुमूल्य लेख प्रकाशित किये जाते हैं।

(ज) उद्योग-धन्धों को दीर्घकालीन ऋण देने के लिए एजेंसी के रूप में इंडस्ट्रियल फाइनेंस कार्पोरेशन का संगठन करने में उसने महत्वपूर्ण भाग लिया है।

(झ) सन् १९४८ और १९४९ के समय द्रव्य-बाजार में तंगी के दिनों में बैंक ने बड़ी भारी रकमें उधार दी थीं। अकेले १९४८ में ही उसने २५ बैंकों को—जिसमें पांच राज्य-कोआपरेटिव बैंक भी थे—४२ करोड़ रुपये के ३७१ ऋण दिये। इस प्रकार ३२ करोड़ रुपये साधारण उद्देश्यों के लिए, ६ करोड़ रुपये कृषि का खर्च चलाने तथा फसलें बेचने के लिए तथा ३ करोड़ रुपये अमानतों को भारी मात्रा में बैंकों से निकाले जाने के लिए धन दिया।

बैंक कहां असफल रहा—भारत जैसे कृषि-प्रधान देश का केन्द्रीय बैंक तभी वास्तविक उपयोगी हो सकता है, जब वह पूर्णतया कृषि द्रव्य को संगठित करे। इसमें संदेह नहीं कि भारत के रिजर्व बैंक का कृषि-विभाग निश्चय ही काम कर रहा है किन्तु उसके कार्यों में अभी बहुत त्रुटियां हैं। आस्ट्रेलियन कामन्वेल्थ बैंक तथा न्यूजीलैंड के रिजर्व बैंक के उस देश के मौलिक उद्योगधन्धों के साथ सम्बन्ध अध्ययन करने योग्य हैं और उससे प्रोत्साहित करने योग्य शिक्षा ली जा सकती है।

युद्धकाल में असीमित परिमाण में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों का चलअर्थ के विस्तार के लिए उपयोग करने को रिजर्व बैंक के संविधान का दुरुपयोग किया गया था।

रिजर्व बैंक अभी तक देशी बैंकरों के साथ इस प्रकार का संबंध स्थापित नहीं कर सका है, कि उसका वास्तविक परिणाम निकले। न वह इस सम्बन्ध में संकट ही को टाल सका है, यद्यपि इस सम्बन्ध में बहुत कुछ किया जा चुका है। न वह एक हुण्डी बाजार ही अभी तक बना सका है, जिससे बैंक अपने फालतू रुपये को लगा कर लाभ प्राप्त कर सकें। न वह भारत के संयुक्त पूंजी बैंकों को विदेशी विनिमय व्यवसाय में उनका उचित

भाग दिलवा सका है। भारत को स्वतन्त्र हो जाने के कारण एक विनिमय बैंक के खोलने को प्राथमिकता देना चाहिए।

रिजर्व बैंक भारत की चलअर्थ इकाई के आंतरिक मूल्य को स्थिर रखने में सफल नहीं हो सका है। एक केन्द्रीय बैंक का यह एक महत्वपूर्ण कार्य है। बैंक के इस दिशा में असफल होने का कारण यह है कि भारतीय द्रव्य-बाजार स्वयं एक अंग नहीं है। इसके अतिरिक्त, भारत अभी पिछले दिनों तक स्वतन्त्र देश नहीं था और इस बैंक की नीति का संचालन ब्रिटिश स्वार्थों के हित में किया जाता था। इस प्रकार जबकि ब्रिटेन ने अपने यहां मुद्रास्फीति तथा ऊंचे मूल्यों का मुकाबला कर लिया, भारत के सिर पर अभी तक भी मुद्रास्फीति तथा स्टर्लिंग-सम्पत्ति का भार बना हुआ है। बैंक लाचार था और १९५२ के आरम्भ तक मूल्य नहीं घटा सका।

यह त्रुटियां होते हुए भी रिजर्व बैंक ने आर्थिक स्थिति तथा बैंक संबंधी सुधारों में एक नये युग का निर्माण किया है और भारत के संयुक्त पूंजी बैंकों को इस प्रकार से सहायता दी है कि वह सफलतापूर्वक इतिहास के दो तूफानों—द्वितीय महायुद्ध तथा विभाजनोत्तर काल को—सफलतापूर्वक पार कर गए। यह भी कहा जा सकता है कि उसके पास सेवा के साधन अधिक हैं और उससे भविष्य में, और अधिक विशेषतया आजकल के ऐसे समय में जब उसका राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है—अधिक सफलता की आशा की जा सकती है।

२५. रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण। १९४८ के रिजर्व बैंक (सार्वजनिक स्वामित्व के लिए परिवर्तन) अधिनियम के द्वारा रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण करके उसका स्वामित्व राज्य को दे दिया गया। इस अधिनियम के अनुसार—

(१) इस बैंक के उन सब हिस्सों पर—जिन पर जनता का स्वामित्व था, १ जनवरी १९४९ से केन्द्रीय सरकार द्वारा अधिकार कर लिया गया। मार्च १९४७ से लेकर फरवरी १९४८ के बीच में रिजर्व बैंक के सौ रुपये के एक शेयर का मूल्य ११८ रुपये १० आने था। सरकार ने इन शेयरों पर अधिकार करते समय उनके मालिकों को यह बाजार मूल्य हर्जाने के रूप में देने की घोषणा की।

(२) केन्द्रीय तथा स्थानीय बोर्डों के संविधान में इस प्रकार का संशोधन किया गया कि उनके सभी डाइरेक्टर सरकार द्वारा मनोनीत किये जाया करें।

(३) रिजर्व बैंक के अधिनियम १९३४ में इस प्रकार का संशोधन किया गया कि जिससे रिजर्व बैंक अपने निकास तथा बैंकिंग विभाग में न केवल पहले के समान स्टर्लिंग प्रतिभूतियों को रख सके, वरन् विदेशी चलअर्थ तथा ऐसे विदेशों की अन्य प्रतिभूतियों को भी रख सके जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष (I.M.F.) के सदस्य हों। भारत के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष का सदस्य होने तथा उसके कारण रिजर्व बैंक पर सभी विदेशी चलअर्थों का निश्चित दरों पर क्रय-विक्रय का उत्तरदायित्व पड़ने के कारण रिजर्व बैंक के विधान में यह संशोधन करना आवश्यक हो गया।

राष्ट्रीयकरण का इस कारण विरोध किया गया है कि इससे सरकार ने बैंक-नीति का निर्देशन करने के सर्वस्व अधिकार अपने हाथ में ले लिये हैं, जिसका परिणाम यह होगा कि उस पर किसी एक ऐसे राजनीतिक दल का प्रभुत्व होगा, जिसके हाथ में भारत की केन्द्रीय सरकार की बागडोर होगी। इसके विपरीत यह दावा किया जाता है कि बैंक के राष्ट्रीय संस्था बने बिना उन बड़ी-बड़ी योजनाओं को कार्यरूप में परिणत नहीं किया

जा सकता, जिनको सरकार ने जारी किया है। इनके अतिरिक्त, कनाडा, आस्ट्रेलिया, ब्रिटेन तथा फ्रांस जैसे प्रमुख देशों ने अपने-अपने केन्द्रीय बैंकों को सरकार के अधिकार में ले लिया था। यह बहुत आवश्यक है कि सरकार द्वारा अपनाई हुई आर्थिक-नीति तथा देश के केन्द्रीय बैंक की मुद्रा सम्बन्धी नीति में कोई संघर्ष न हो। यदि रिजर्व बेंक का स्वामित्व व्यक्तिगत हाथों में रहता तो यह खतरा–कम से कम होने पर भी–सदा ही बना रहता। अब यह खतरा एकदम दूर हो गया है। जबतक रिजर्व बैंक भागीदारों का बैंक रहता उसको उससे अधिक अधिकार कभी न दिया जाता, जो उसको १९४९ के बैंकिंग कम्पनी अधिनियम के अनुसार अधिक से अधिक दिये जा सकते थे। इस प्रकार के अधिकार उसको दिये जाने से उसके राष्ट्रीयकरण किये जाने का औचित्य प्रमाणित होता है।

२६. भारत में औद्योगिक बक। गत एक अध्याय में हम उद्योगधन्धों में धन लगाने के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं। यह बहुत समय से अनुभव किया जा रहा है कि भारत के उद्योगधंधों को मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन आर्थिक-सहायता नहीं मिल सकती। इंगलैण्ड में पूंजी लगाने वाले ट्रस्टों (Investment Trusts) तथा निकासगृहों (Issue Houses) द्वारा धन देने की प्रणाली खूब प्रचलित है। जर्मनी और जापान अपने-अपने उद्योग-धन्धों की बैंकों की सिंडीकेट (जिसे जर्मनी में कनसार्टियम (Consortium) कहा जाता है।) द्वारा धन से सहायता करते हैं। भारत में औद्योगिक बैंकिंग को आजमाया गया, किंतु उसको यहां सफलता नहीं मिली। इसका मुख्य कारण यह था कि हमारे बैंकों ने अपनी पूंजी के अधिकांश को औद्योगिक कार्यों में खर्च कर दिया। यहां तक कि उन्होंने अपनी अल्पकालीन अमानतों को भी लगा दिया। यह प्रणाली असफल प्रमाणित हुई। अतएव भारतीय उद्योगधंधों को दीर्घकालीन ऋण देने की आवश्यकता बनी ही रह गई। इस आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए जुलाई १९४८ में एक इंडस्ट्रियल फाइनेंस कारपोरेशन की स्थापना की गई। यह कारपोरेशन पुनर्निवास अथवा मशीनी औजार तथा औषधियां बनाने जैसे मौलिक उद्योग-धंधों को बढ़ाने में सहायता देता रहा है। ३१ मार्च १९५१ को इस कारपोरेशनके ऋण तथा पेशगी धन गत वर्ष के ३,१५ लाख रुपये की अपेक्षा ५२१ लाख रुपये थे। उनको मुख्यतया बड़े-बड़े उद्योगधंधों को दिया गया था। कारपोरेशन ने एक नये कारखानों को बढ़ाने में सहायता नहीं दी। उसने केवल वर्तमान उद्योगधंधों को ही सहायता दी। कुछ राज्य-सरकारों ने भी इंडस्ट्रियल फाइनेंस कारपोरेशनों की स्थापना की, जबकि कुछ अन्य सरकारें ऐसा करने का प्रबन्ध कर रही हैं। उदाहरणार्थ, मद्रास में मार्च १९४९ में इंडस्ट्रियल फाइनेंस कारपोरेशन की स्थापना की गई। उसकी दो करोड़ रुपये की समस्त पूंजी में से राज्य सरकार ने १·०२ करोड़ रुपये दिये। साथ ही उसने ३ वर्ष तक ३ प्रतिशत प्रति वर्ष कर-योग्य न्यूनतम लाभांश तथा शेयर-मूल्य की गारंटी भी दी।

२७. पूंजी-विनिमय (Stock Exchange)**।** पूंजी विनिमय की अत्यंत उपयोगी संस्थाएं होती हैं। वह ऐसे उद्योग-धंधों में पूंजी लगाने को प्रोत्साहित करती हैं, जो पहले से ही काम करते हैं। भारत में बम्बई तथा कलकत्ते में दो सुसंगठित स्टाक एक्सचेंज हैं। उनके अतिरिक्त मद्रास, कानपुर, तथा दिल्ली के स्टाक एक्सचेंज इतने प्रसिद्ध नहीं हैं। मुद्रा-स्फीति तथा उसके कारण बढ़ाने वाले उच्च मूल्यों के कारण सरकार ने अनेक वस्तुओं के भावी कार्यों पर रोक लगा दी है। यह बात ध्यान रखने की है कि स्टाक एक्सचेंज का व्यवसाय एक उपयोगी उद्देश्य की पूर्ति करता है। वह व्यक्तियों को अपनी पूंजी उद्योग-धंधों में लगाने को प्रोत्साहित करते हैं। भारत में जो पूंजी व्यावहारिक रूप में बाहर आने में लजाती है उसको तभी काम में लाया जा सकेगा, जब भारत में

अनेक सुसंगठित स्टाक एक्सचेंज होंगे। पिछले दिनों बने हुए नये कानून से बीमा कम्पनियों, बैंकों तथा अन्य संस्थाओं को कुछ निश्चित प्रतिभूतियों में पूंजी लगाने का अवसर मिलता है। स्टाक एक्सचेंजों के पक्ष में एक अन्य तर्क भी है कि वह सरकार को ऋण एकत्रित करने में उदारतापूर्वक सहायता देते हैं।

२८. बचत, पूंजी विनिमय योजना तथा अतिसंग्रह। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद भारत ने अपनी अर्थव्यवस्था की योजना बनाने का निश्चय किया। उत्पादन बढ़ाने के लिए बड़े भारी प्रयत्न किये जा रहे हैं। मशीनरी, साजसामग्री तथा यांत्रिक ज्ञान को मोल लेने के लिए विदेशों से पूंजी उधार ली जा रही है। अतएव यह आवश्यक है कि देश में बचत के सभी साधनों की—चाहे वह कितनी भी कोमल क्यों न हो—टटोल की जाय। इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए कि हमारी कृषि में इतनी अधिक व्यक्तिगत बचत होती है कि बचत को संतोषजनक रूप में संगठित कर उसको एक स्थान पर एकत्रित करना सुगम नहीं है। साथ ही यह आवश्यक है कि हमको अपनी बचत और अपनी संग्रह की हुई सम्पत्ति का अन्दाजा हो तथा उसको एकत्रित करने के उपायों का भी ज्ञान हो। यह अनुमान है कि ग्रामीण क्षेत्रों में करोड़ों रुपये की मात्रा में विशाल संग्रह हैं, किन्तु उसको राज्य के हाथ में लाने के साधन उत्पन्न करने होंगे।

देश में बचत समस्त उत्पादन तथा समस्त उपभोग के अन्तर पर निर्भर करती है। दुर्भाग्यवश भारत में बचत करने की शक्ति कम है। अधिकांश जमींदार अलाभकारी खेतों को जोतते हैं और उनके लिए उसमें से बचा कर खर्च करना कठिन है। तो भी भारत के गांव में जो कुछ बचत की जाती है, उसके आभूषण बनवा लिये जाते हैं। क्योंकि न तो उनकी बचत को आकर्षित करने वाले उनके पास कोई बैंक हैं और न गांव वालों को बैंकों पर उतना विश्वास ही है।

भारत की जनसंख्या के संसार भर का पंचमांश होने के कारण तथा साढ़े चार शताब्दियों में भारत द्वारा संसार भर के स्वर्ण उत्पादन[1] का सप्तमांश खपा लेने के कारण भारत पर यह आरोप लगाया जाता है कि वहां कीमती धातुओं को दबा कर रखा जाता है। निस्संदेह भारत कलात्मक उद्देश्य के लिए मूल्यवान् धातुओं की खपत करता है। किन्तु ऐसा ही यूरोप तथा अमरीका भी करते हैं, जिन्होंने समस्त स्वर्ण उत्पादन के कम से कम ३० प्रतिशत की उसी बीच में खपत की, जिस बीच भारत ने कुल १४ प्रतिशत की खपत की जैसा कि उपरोक्त विद्वान का कथन है।

जिन दिनों भारत में जान और माल की रक्षा का कोई ठिकाना नहीं था, अतिसंग्रह आवश्यक था। दहेज जैसी सामाजिक-प्रथाओं ने भी उसको प्रोत्साहित किया। आजकल परिस्थिति के बराबर बदलते जाने से नागरिक क्षेत्रों की दशा में बहुत सुधार हो चुका है। किन्तु यह कोई सन्तोष की बात नहीं है, क्योंकि आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में संग्रह की वृत्ति बहुत प्रचलित है। बचत करने तथा उपयोगी कार्यों में धन लगाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित कर संग्रह-वृत्ति को अनुत्साहित किया जाना चाहिए। निम्नलिखित कार्य इस विषय में सहायक हो सकते हैं:—

(१) केन्द्रीय बैंकिंग कमेटी को इस बात का विश्वास हो गया था कि भारत में संग्रह वृत्ति अधिक नहीं है। तो भी, उन्होंने बैंकों में अमानतें बढ़ाने की आवश्यकता पर बल

---

१. भारतीय चलअर्थ तथा अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में शाही कमीशन के सामने १९२६ में मिस्टर जॉसेफ किचेन की दी हुई गवाही से उद्धृत।

दिया था। बैंकों की नई शाखाएं नगरों में न खोल कर ऐसे स्थानों में खोली जानी चाहिएं जहां बैंकिंग सुविधाएं न हों।

(२) डाकखानों को छोटे आदमियों को अधिक सुविधाएं देनी चाहिएं। उसको अपनी थोड़ी सी बचत[१] को जमा करने का लालच देने के लिए ब्याज अधिक देना चाहिए।

यदि भारतीय भाषाओं में लिखे हुए चेकों द्वारा रुपया निकालने की सुविधा दी जा सकती तो इससे डाकखाने के सेविंग्स बैंक कार्य में अधिक सुविधा उत्पन्न होने के साथ-साथ जनता में साक्षरता का प्रचार भी अधिक होता।

(३) गांव में महिलाओं की सहयोग समितियां बनाने के लिए अधिक आन्दोलन किये जाने की आवश्यकता है। इससे एक ऐसे क्षेत्र में कार्य किया जा सकेगा, जिसमें अभी तक कुछ भी नहीं किया जा सका। भारतीय महिलाएं स्वभाव से ही मितव्ययी होती हैं। यदि उनमें पूंजी लगाने की आदत को बढ़ाया जा सका तो भारत में संग्रह-वृत्ति को बहुत-कुछ रोका जा सकेगा।

(४) बचत न करने की प्रवृत्ति का सबसे अच्छा उपाय शिक्षा है। शिक्षा की वर्तमान प्रणाली में आमूलचूल परिवर्तन किये जाने की आवश्यकता है। मैट्रिकुलेशन कक्षाओं में आरम्भिक अर्थशास्त्र की शिक्षा देने से भी इसमें सहायता मिलेगी।

२९. क्या भारत में बैंकिंग सुविधाएं पर्याप्त हैं? जैसा कि पहले देखा जा चुका है, भारत में अनेक प्रकार की बैंकिंग संस्थाएं हैं। एक प्रकार से यह विभिन्नता स्वाभाविक है। भारत एक उपमहाद्वीप है और उसके विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार की परिस्थितियां हैं। केवल एक प्रकार की संस्था ही सभी मनुष्यों की आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकती। इस प्रकार हमारे पास बड़े-बड़े संगठित बैंक, छोटे-छोटे बैंक, देसी बैंकर और छोटे-छोटे महाजन हैं। निम्नलिखित तालिका में भारत में १९५० में सारिणी सूची के बैंकों तथा अन्य बैंकों के कार्यालयों की संख्या को दिया गया है—

शैली 'क'

इम्पीरियल बैंक	३६७
विनिमय बैंक	६२
सारिणी सूची के अन्य बैंक	२,४८४
बिना सारिणी सूची के बैंक	१,७८१
सहकारिता बैंक	५८३
सारिणी सूची तथा बिना सारिणी सूची के कुल बैंक	५,२७७

शैली 'ख'

सेविंग्स बैंक का काम करने वाले डाकखानों की संख्या ९,४६५
गांवों में सेविंग्स बैंक का काम करने वाले डाकखानों की संख्या ६,४०१

'क' शैली के बैंकों के १,५३४ स्थानों में ५,२७७ कार्यालय थे। इनमें से ५००० जनसंख्या वाले स्थानों पर २३७ कार्यालय थे और ऐसे स्थानों की संख्या १७१ थी। पांच सहस्र से कम जनसंख्या वाले स्थानों पर इम्पीरियल बैंक की कुल १७ शाखाएं हैं। अन्य

१. अभी पिछले दिनों ब्याज की दर डेढ़ प्रतिशत से बढ़ा कर $1\frac{3}{4}$ प्रतिशत कर देने से यह किया जा चुका है।

सारिणी सूची के बैंक ऐसे स्थानों पर ६६ हैं। बिना सारिणी सूची के बैंक ऐसे स्थानों पर १२१ हैं तथा सहकारिता बैंक ऐसे स्थानों पर ३३ स्थानों पर हैं, विनिमय बैंकों का कोई कार्यालय ऐसे स्थानों पर नहीं है। 'ख' शैली के विषय में विचार करने पर हम देखते हैं कि १९४९ में डाकखानों की कुल संख्या २६,७६० थी। उनमें से कुल ९,४६५ सेविंग्स बैंक का काम कर रहे थे, किन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में उनमें से कुल ६४०१ ही थे। इन डाकखानों के क्षेत्र में दो सहस्र या अधिक जनसंख्या वाले गांवों के कुल ४० प्रतिशत गांव आते थे।

क्या देश में बैंकिंग सुविधाएं पर्याप्त हैं? इस प्रश्न का उत्तर देना सुगम नहीं है। क्योंकि इसका उत्तर देने में हमको केवल बैंकों और उनके कार्यालयों की संख्या का ही ध्यान नहीं रखना पड़ता, वरन् उनके ठोसपन, कार्य करनेकी परिस्थितियों तथा उनके द्वारा दी जाने वाली सुविधाओं का भी विचार रखना पड़ता है। निम्नलिखित तालिका से कुछ महत्वपूर्ण देशों की बैंकिंग परिस्थितियों का पता चलता है —

बैंकिंग कार्यालय, क्षेत्रफल तथा जनसंख्या—१९४९[1] के तुलनात्मक अंक

देश	क्षेत्रफल वर्गमीलों में (सहस्रों में)	जनसंख्या (दस लाखों में)	बैंकिंग कार्यालयों की संख्या	प्रति दस लाख जनसंख्या पर बैंकिंग कार्यालयों की संख्या	प्रत्येक बैंकिंग कार्यालय द्वारा सेवित औसत क्षेत्रफल (वर्गमीलों में)
ब्रिटेन	८१	५०	११,४६१	२२९	८
अमरीका	३,६७४	१४७	१८,९७५	१२९	१९४
कैनाडा	३,६९०	१३	३,३२३	२५६	१,११०
आस्ट्रेलिया	२,९७५	८	३३,५९०	४५०	८२७
भारत	१,२२१	३४२	५,२७७	१५·५	२३१

इस तालिका से पता चलता है कि कुछ अन्य देशों की तुलना में भारत में व्यापारिक बैंकिंग का विकास पर्याप्त नहीं है। किंतु ग्रामीण बैंकिंग जांच कमेटी की रिपोर्ट में इस बात पर ठीक ही बल दिया गया है कि बैंकिंग कार्यालयों के संबंध में केवल क्षेत्रफल और जनसंख्या की तुलना से ही यथार्थ स्थिति का पता नहीं चलता। क्योंकि बैंकिंग सुविधाओं का विकास किसी देश के आर्थिक विकास, उसकी कृषि, उसके उद्योग-धंधों और व्यापार की दशा और उसकी राष्ट्रीय आय तथा उसके विभाजन पर निर्भर है। भारत आर्थिक रूप से पिछड़ा देश है और उसका राष्ट्रीय लाभांश कम है। अतएव भारत के निवासियों की प्रति व्यक्ति आय बहुत कम है। उदाहरणार्थ, १९४६-४७ में भारत में प्रति व्यक्ति आय २२८ रुपया थी, जबकि उस वर्ष (१९३९ के वर्ष को मौलिक वर्ष मानते हुए उसका मूल्य सूचनांक संख्या १०० मान कर) मूल्य सूचनांक ३०० था। १९४८-४९ में ३७६ मूल्य सूचनांक के साथ प्रति व्यक्ति आय २५५ रुपये थी, यहां अधिक लोगों

१. इनके अतिरिक्त अन्य देशों की सूचना के लिए बैंकिंग-जांच-कमेटी की १९५० की रिपोर्ट देखो। भारत के लिए Monthly Abstract of Statistics देखो।

पत्रों (Promissory Notes) का क्रय-विक्रय करना तथा उन पर पुनः बट्टा लेना, जो भारत में जारी किये गये हों, और जिनका भारत में भी भुगतान किया जाता हो, और जो सच्चे व्यापारिक सौदों के कारण बनाए गए हों, जिनके ऊपर दो या अधिक विश्वस्त (Good) हस्ताक्षर हों, और जिनमें एक सारिणी सूची के बैंक का हो और जो बिक्री अथवा पुनः बट्टा लेने के तीन दिन से ९० दिन के अंदर-अंदर रियायती दिनों सहित भुनाई जावें।" इस प्रकार एक आवश्यक शर्त यह रखी गई कि ग्रहण करने योग्य विनिमय-हुण्डियों तथा वचन-पत्रों के भुनाने की अवधि ९० दिन से अधिक न हो। तात्कालिक दर्शनी हुंडियों (Demand Promissory Notes) की कोई मियाद न होने के कारण वह ग्रहण करने योग्य नहीं थीं। बैंक के द्वारा दो हुई सुरक्षा प्राप्त अथवा बिना सुरक्षा प्राप्त रकमों का अधिकांश भाग अब भी उन उधार रकमों, ऋणों अथवा जमा से अधिक निकाली हुई रकमों (Overdrafts) के रूप में है, जिनको उनके अंगों द्वारा तात्कालिक वचनपत्रों के विरुद्ध स्वीकार किया गया था। निम्नलिखित तालिका में उन पेशगी रकमों तथा (Bills) बट्टा ली हुई हुण्डियों के योगफल को दिया गया है, जो चार वर्षों की प्रत्येक छमाही के अंत में सारिणी-सूची के बैंकों के रिजर्व बैंक में थे—

तारीख १	पेशगी रकमें २	बट्टा ली हुई हुण्डियां ३	३ की अपेक्षा २ का प्रतिशत अनुपात ४
२७-९-१९४६	३९२	२०	५
२७-६-१९४७	४१४	१५	४
३५-६-१९४८	४३६	१६	४
३१-१२-१९४८	४२३	१९	४
२४-६-१९४९	४४५	१५	३
३०-१२-१९४९	३९५	१५	४

भारत में हुण्डियों की ख्याति में कमी का कारण यह है कि यहां नकद उधार लेने तथा जमा से अधिक निकालने (Overdrafts) में खर्चा कम पड़ता है और सुविधा अधिक है। भारत में विनिमय की सावधि हुण्डियां (Time Bills of Exchange) तथा वचन-पत्रों का प्रचलन कम है। इसलिए भारत के रिजर्व बैंक को इस प्रकार की रकमें देने के अवसर बहुत कम आते हैं।

इसके विपरीत रिजर्व बैंक ने सारिणी सूची के बैंकों तथा सहकारिता बैंकों को ट्रस्टी प्रतिभूतियों (Trustee Securities) के विरुद्ध बहुत बड़ी रकमें उधार दी हैं। रिजर्व बैंक को ऐसे वचन पत्रों के विरुद्ध अगाऊ धन (Advances) देने का अधिकार है, जिनको ऐसे माल के स्वामित्वाधिकार के कागजों का समर्थन प्राप्त होता है, जिनको बैंक को इन बैंकों द्वारा दिये हुए उधार के लिए जमानत के तौर पर देने के लिए प्रतिज्ञा की होती है। किंतु वह स्वयं माल के विरुद्ध रकम नहीं दे सकता। कानूनी तौर से सारिणी सूची के बैंक ऐसे माल के प्रति स्वामित्वाधिकार का कागज (Document of Title) किसी प्रकार का भी नहीं बना सकते, किंतु जब गोदामों की स्थापना हो जावेगी तो सारिणी सूची के बैंक इस व्यवस्था से लाभ उठा सकेंगे। कुछ राज्यों ने पहले ही गोदामों के कानून पास कर दिये हैं, जबकि अन्य राज्यों में इस मामले पर गंभीरता से विचार किया जा रहा है।

३१. पुनर्निर्माण तथा विकास का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक। इस बैंक का प्रयोजन युद्ध ध्वस्त राष्ट्रों की अर्थ-व्यवस्थाओं का पुनरुद्धार तथा पिछड़े हुए क्षेत्र का विकास है। वह इन दोनों उद्देश्यों के लिए अपने सदस्य राष्ट्रों को दीर्घकालीन ऋण देता है। इस प्रकार वह एक युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था से शांतिकालीन युद्ध-व्यवस्था के बीच माल-परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न करने में सहायता देगा। साथ ही वह "सदस्य राष्ट्रों के इलाकों में श्रमिकों की दशाओं तथा उनके जीवन-मान तथा उत्पाद को बढ़ाने में" भी सहायता देगा। वह शत्रु द्वारा विध्वस्त अर्थ-व्यवस्थाओं को पुनर्निर्माण के लिए लिये जाने वाले ऋणों को प्राथमिकता देगा। किंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि पिछड़े हुए क्षेत्र की विकास योजनाओं पर उचित रूप से विचार नहीं किया जायगा। इसके अतिरिक्त उधार-पट्टा हिसाब (Lend Lease Account) तथा विपरीत उधार-पट्टा हिसाब (Reverse Lend Lease Account) तथा हिसाब संतुलन के भुगतान में समानता को बनाए रखने की समस्याओं के लिए भी दीर्घकालीन अंतर्राष्ट्रीय ऋणों की आवश्यकता ह। इन उद्देश्यों के लिए तथा स्थायी बहुद्देशीय आधार पर विश्व-व्यापारिक संबंधों को फिर स्थापित करने के उतने ही महत्वपूर्ण उद्देश्य के बिना अंतर्राष्ट्रीय बैंक का निर्माण अत्यन्त आवश्यक था।

यह तय किया गया कि उसके वर्तमान सदस्य बैंक को ७६७ करोड़ डालर[1] एकत्रित करके दें। इसमें से १९४६ में कुल १० प्रति रकम मांगी गई। प्रत्येक राष्ट्र से यह अनुरोध किया गया कि वह अपनी आरंभिक मांग का ३ प्रतिशत अपने राष्ट्रीय चल-अर्थ में चुकावे और शेष रकम अमरीकन डालर अथवा स्वर्ण में चुकावे। भारत का अपना कुल भाग (Quota) ४० करोड़ डालर तय किया गया। कुछ अन्य देशों का निश्चित भाग यह था——अमरीका २४३·५ करोड़ डालर, ब्रिटेन का १०० करोड़ डालर, चीन के ६० करोड़ डालर, फ्रांस के ४५ करोड़ डालर इत्यादि। भारत को आरंभ में ४ करोड़ डालर देश को कहा गया। इसमें से उसे ८० लाख डालर स्वर्ण अथवा अमरीकन चलअर्थ में १२० लाख डालर स्वर्ण में तथा दो करोड़ डालर रुपये में चुकाने थे। यह विचार किया गया कि यदि भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष (I. M. F.) तथा अंतर्राष्ट्रीय बैंक का आरंभ में ही सदस्य बन जावे तो उससे उसे लाभ ही रहेगा। अतएव दिसंबर १९४५ में भारतीय विधान सभा विसर्जित हो चुकने के कारण सरकार ने बैंक में भाग लेने के लिए एक अध्यादेश निकाला।

बैंक को पारस्परिक सहायता का साधन बनना है। उसके पास डालर-ऋण के ऊपर ऋण परिशोध तथा ब्याज चुकाने के लिए पर्याप्त नकद धन तथा सुरक्षानिधि अनेक वर्षों तक के लिए है। आवश्यकता के समय वह अपने सदस्यों से उस पूंजी की मांग कर सकता है, जिसको मौलिक रूप से नहीं मांगा गया है। अकेले अमरीका का ही इस प्रकार का भाग १५० करोड़ डालर अतिरिक्त बैठता है। बैंक व्यक्तिगत पूंजी लगाने वालों के हाथ वचत-पत्र (Bonds) बेच कर और भी अधिक धन प्राप्त कर सकता है।

बैंक अपने समस्त साधनों से सदस्य राष्ट्रों को उनके——कच्चे माल, यातायात सुविधाओं, इंजन-शक्ति, कारखानों, बेकार मनुष्य-शक्ति, वर्तमान यांत्रिक तथा प्रबंध संबंधी हस्त-कौशल जैसे उपलब्ध साधनों का उपयोग करने में इस प्रकार सहायता देगा कि

---

१. ३१ मार्च १९५१ को उसके सदस्यों की कुल संख्या ४९ थी। उसकी स्वीकृत पूंजी ८४५·१ करोड़ डालर तक बढ़ा दी गई।

वह युद्धपूर्व काल के अथवा उससे भी अधिक स्तर को प्राप्त कर सके। उसके विकास के ऋण मुख्य रूप से एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमरीका जैसे भूमण्डल के अल्प विकसित क्षेत्रों के लिए तथा ऐसे स्थानों में उत्पादक सुविधाओं का निर्माण करने के लिए, जहां उनका अस्तित्व ही नहीं है अथवा वर्तमान सुविधाओं के विस्तार के लिए हैं। वह सदस्य-राष्ट्र के 'अच्छे जोखम' के आधार पर व्यवसायिक उद्योग के रूप में ऋण देता है। इस प्रकार उसके विकास-कार्यों के लिए पूंजी चाहने वाले विभिन्न देशों को लंबी अवधि के ऋण दिये हैं। उदाहरणार्थ, उसने मैक्सिको को विद्युतशक्ति के विकास के लिए ३४१ लाख डालर का ऋण दिया। उसका प्रथम तथा सबसे बड़ा ऋण २५ करोड़ डालर का फ्रांस को दिया गया था। उससे अगला २५ करोड़ ३० लाख डालर का ऋण नीदरलैंड डेन्मार्क, लक्सेम्बर्ग तथा चाइले को दिया गया था १९५२ में बैंक ने कुल १५२४ लाख डलर के ऋण दिये इनमें के केवल १७० लाख डालर एशिया ता मध्यपूर्व के देशों को दिया गया। यह ऋण १५ वर्ष से लगाकर २० वर्ष तक के लिए दिये गये। उनको ब्याज दर २½ प्रतिशत से लेकर ४½ प्रतिशत तक विभिन्न प्रकार की थी। साथ ही उन पर एक प्रतिशत कमीशन भी लिया जाता था, जिसे बैंक का विशेष सुरक्षा निधि में जोड दिया जाता था।

ऋण देने से पूर्व बैंक न केवल व्यक्तिगत विशेष योजना की वरन् स्वयं उस देश की आर्थिक तथा मुद्रा संबंधी दशा की भी गहरी जांच करता है। यह कागजी साक्षी से ही संतुष्ट नहीं होता, वरन् उक्त समस्या का सीधे अध्ययन करने के लिए प्रतिनिधि-मण्डल भेजता है। बैंक तबतक उधार देने को तैयार नहीं होता, जबतक उसको यह विश्वास न हो जावे कि (क) उधार लेने वाले देश की अर्थ व्यवस्था सामूहिक रूप से ठोस तरीके से चलाई जा रही है और उसकी नीति तथा कार्य दोनों ही इस विश्वास के लिए दृढ़ आधार प्रदान करते हैं कि यदि देश इस समय कुछ कठिनाइयों में है तो वहां शीघ्र ही संतोष-जनक परिस्थिति उत्पन्न हो जावेगी; (ख) अर्थ-व्यवस्था के पुनर्निर्माण अथवा विकास के लिए सामूहिक योजना पर विचार किया जा रहा है और उसको इस प्रकार चलाया जा रहा है कि उसकी अर्थ-व्यवस्था का मौलिक ठोसपन बढ़ जावेगा; (ग) बैंक से जिस योजना अथवा योजनाओं के बड़े कार्यक्रमों के लिए उधार मांगा गया है, उसको यांत्रिक रूप से अत्यंत सावधानी से तैयार किया गया है, और वह आर्थिक रूप से तथा मितव्ययिता की दृष्टि से उचित हैं।

अतएव, यह मौलिक-रूप में महत्वपूर्ण है कि एक उन्नति करने वाला देश अपने बजट की रचना पर पगारों तथा मूल्यों के बीच स्वस्थ तथा स्थायी सम्बन्धों के अस्तित्व पर; अपने माल, यातायात तथा शक्ति के उपलब्ध साधनों के प्रभावपूर्ण उपयोग पर; उसकी सीमाओं के अंदर माल के प्रवाह तथा उनको पार करने वाले आयातों तथा निर्यातों के परिणाम तथा रूप पर; उसके भुगतान के संतुलन के विकास पर तथा उसकी अर्थ-व्यवस्था के स्वास्थ्य के प्रदर्शक राष्ट्रीय-जीवन के सभी विभिन्न रूपों पर बराबर आलोचनात्मक दृष्टि रखता है।

बैंक के उपप्रधान मि० होर भारत में १९४९ में आये थे। उन्होंने भारत सरकार को विश्वास दिलाया था कि बैंक इतना अयथार्थवादी नहीं है कि वह पूर्णता की आशा करे, किंतु उसने एक यथार्थवादी के रूप में तथ्यों पर ध्यान देने की आशा की और उसने उन कार्यों को ठीक करने के लिए दृढ़ता से आगे बढ़नेके लिए, जो उसकी अर्थव्यवस्था के स्वस्थ विकास में बाधक थे---बुद्धिमत्तापूर्ण नीति को निश्चित किया। उसने प्रस्ताव किया कि किसी योजना के लिए तबतक वचन न दिया जावे, जबतक (१) वह

ठोस विकास से साधारण नमूने के रूप में सिद्ध न हो जावे ; (२) वह आवश्यक सिद्ध हो जावे; (३) वह उन्नतिशील सिद्ध हो; (४) यह सिद्ध हो जावे कि उसका कार्य ऐसी निश्चित अवधि में हो जावेगा, जिसमें किसी अन्य अपवाद की अपेक्षा परिणाम आवश्यक तथा अधिक संतोषजनक होंगे । (५) उसका प्रतियोगिता करने वाले तथा सहायक अन्य योजनाओं से सम्बन्ध हो; और (६) योग्य परामर्शदाताओं, ठेकेदारों तथा इंजीनियरों से काम लेने के लाभ के विषय में हिसाब लगाकर उसके मूल्य को लगा लिया गया है । भारत के हाथ में इस समय जो विकास-योजनाएं हैं, उनकी जांच अंतर्राष्ट्रीय बैंक द्वारा भेजे हुए मिशन ने की थी और उसने १९४९ और १९५० में नदी-घाटी योजनाओं के भावी विकास के लिए एक करोड़ ८५ लाख डालर ऋण देना स्वीकार किया था । बैंक ने भारतीय योजनाओं के कार्य का मूल्य १९५१ में लगा कर उसे संतोष-जनक बतलाया था ।

अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष तथा अंतर्राष्ट्रीय बैंक दो स्वतंत्र संस्थाएं हैं । मुद्राकोष भुगतान के संतुलन में अस्थायी असमानता को दूर करने के लिए अल्प अवधि के ऋण देता है । इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय बैंक या तो विशेष योजनाओं के लिए अथवा अपने एक सदस्य-राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था का पुनर्निर्माण तथा विकास करने के लिए साधारणतया दीर्घकालीन आधार पर ऋण देता है ।

बैंक द्वारा किसी विशेष देश को दिये जाने वाले ऋण का परिमाण बैंक में उसकी शेयर-पूंजी से सम्बन्धित नहीं किया जाता । १९४८-४९ से आगे बैंक ने युद्ध-जर्जर-अर्थ-व्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण की अपेक्षा जिस उद्देश्य की पूर्ति में वह पहले बराबर लगा रहता था—पिछड़े हुए क्षेत्रों के विकास की ओर अधिक ध्यान देना आरंभ किया । अभी-अभी बैंक ने अपनी ऋण-नीति में परिवर्तन किया है । छोटी तथा मध्य आकार वाली औद्योगिक इकाइयों की दीर्घकालीन आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए बैंक ने इसी उद्देश्य के लिए विशेष रूप से बनाई हुई संस्थाओं को ऋण दिया, जैसे इथिओपिया और टर्की में, अथवा बैंकों के संघ को, जैसे मैक्सिको में, जिन्होंने ऋण को बांट दिया । यह इकाइयां प्रतिभूतियों के बाजार में जाने के लिए अत्यंत छोटी थीं, किंतु जिनकी पूंजी की आव-श्यकताएं इतनी बड़ी थीं कि उसके मालिक उनको पूरा करने में असमर्थ थे । बैंक ने जो अगस्त १९५० में साधारण उन्नति संबंधी उद्देश्यों के लिए आस्ट्रेलिया को १०करोड़ डालर का ऋण दिया था, वह भी एक नई बात थी ।

इस प्रकार प्राप्त अनुभव के आधार पर बैंक संसार भर में अपनी उपयोगिता में वृद्धि कर रहा है ।

इकतीसवाँ अध्याय

भारतीय मूल्य

१. **मूल्यों का ऐतिहासिक पुनर्निरीक्षण (क) १८५७ के प्रथम स्वतन्त्रता युद्ध से पूर्व का समय**—भारत में सड़कों तथा रेलों के निर्माण से पूर्व मूल्यों का नियंत्रण प्रथाओं द्वारा किया जाता था। एक वर्ष से दूसरे वर्ष में तथा एक स्थान से दूसरे स्थान में भारी विभिन्नताएं थीं। उन दिनों वस्तुओं का एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना कठिन तथा व्ययसाध्य था। अतएव स्थानीय उत्पादन की दशाएं ही मूल्यों का नियंत्रण करती थीं। प्राय: ऐसा होता था कि एक जिले में अन्न अत्यधिक होता था और उसके पास के ही दूसरे जिले में दुर्भिक्ष पड़ जाता था।

(ख) **१८६० से १८९९ तक के मूल्य**—रेलों तथा सड़कों के बन जाने पर भारतीय ग्रामों का शेष प्रदेश से कटे रहना क्रमश: कम होने लगा। तो भी, बहुत समय तक देहाती क्षेत्रों में वही प्रथाएं तथा स्थितियां बनी रहीं, जबकि प्रतियोगिता तथा ठेके बड़े-बड़े नगरों में शासन करते रहे। भारत संसार के साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा सम्पर्क में आया। अस्तु, विश्व-घटनाओं ने भारतीय मूल्यों पर प्रभाव डालना आरंभ किया और जो मूल्य सूचनांक १८७३ में १०० था, वह १८९३ में बढ़ कर १०५ हो गया।

(ग) **१८९३-१९१३—मूल्यों में शीघ्र होने वाली तेजी—दत्त मूल्य अन्वेषण समिति** (१९१०)—गत दशाब्दी में धीरे-धीरे चढ़ने वाले मूल्य १८९३ में कुछ तेजी से बढ़ने लगे। इससे पूर्व खाद्यान्नों के मूल्य दुर्भिक्ष के समय ही चढ़ते थे। किंतु अच्छी वर्षा होने पर गिर जाते थे। अब वह बिना गिरे हुए बराबर चढ़ते ही जाते थे और देश में "बिना अकाल के ही अकाल जैसे मूल्य बने रहते थे।" मिस्टर गोखले ने सरकार का ध्यान इस असाधारण परिस्थिति की ओर आकर्षित किया था। उन्होंने मूल्य चढ़ने का कारण रुपये के सिक्के का अधिक ढालना बतलाया था। इस प्रकार की आकस्मिक मुद्रास्फीति के फलस्वरूप मूल्यों का चढ़ना अनिवार्य था। अतएव सरकार ने मिस्टर के. एल. दत्त को मूल्यों के इस असाधारण चढ़ने के कारणों की जांच करने के लिए नियुक्त किया। उन्होंने अपनी रिपोर्ट १९१४ में दी और यह अनुमान लगाया कि मूल्यों में तेजी आने का कारण कुछ तो (क) विश्व भर की साधारण स्थिति थी तथा कुछ (ख) भारत के लिए विशेष कारण थे।

मिस्टर दत्त ने भारत में चढ़ने वाले मूल्यों की कुछ अन्य देशों के मूल्यों से तुलना करके यह बतलाया कि भारत के मूल्य अन्य देशों से अधिक थे।

विश्व-मूल्यों में तेजी के कारण ये थे—(१) कृषि पदार्थों की बढ़ी हुई मांग की तुलना में उन वस्तुओं की पूर्ति में कमी। (२) स्वर्ण तथा चलअर्थ का देश में पहले से अधिक परिमाण में उपलब्ध होना, (३) बैंकिंग तथा उधार लेने की सुविधाओं का विकास और इसीलिए बाजार के चलन में मुद्रा का बढ़ जाना और (४) रूस-जापन तथा बोअर-युद्ध जैसे युद्धों के कारण माल का विशाल परिमाण में विनाश।

किंतु मिस्टर दत्त की सम्मति में भारत में मूल्य चढ़ने के कुछ विशेष कारण थे। जो ये थे—(१) कुसमय वर्षा के कारण खाद्यान्नों के उत्पादन में कमी, खाद्य फसलों के बदले खाद्येतर फसलों का बोया जाना तथा घटिया भूमि में खेती करना।

(२) जनसंख्या के बढ़ जाने तथा वस्तुओं के मान के बढ़ जाने के कारण मुख्य वस्तुओं की मांग बढ़ जाना।

(३) रेलों तथा जहाजों के यातायात साधनों का विकास तथा माल के किरायों में कमी।

(४) तथा बैंकिंग एवं साख का विस्तार।

सरकार इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं थी कि मूल्य चढ़ने के कारण अन्तर्देशीय थे। उनका कहना था कि उन वर्षों में नहरों से सिंचाई किये जाने वाले प्रदेश का क्षेत्रफल लगभग दोगुना हो गया था। अतएव,खाद्य-वस्तुओं की फसलों में कमी नहीं हो सकती थी। उनका कहना था कि भारत में मूल्य बढ़ने का कारण विश्व स्थिति तथा खाद्य में वृद्धि थे।

तथ्य यह था कि १८९३ में रुपयों को सांकेतिक बना दिया गया था और उसका गलाना बंद हो गया था। इसके अतिरिक्त सरकार भी बराबर रुपये ढाल रही थी। सन् १९०० से लेकर १९०८ तक १०० करोड़ रुपये बाजार में और आ गए। मूल्य-वृद्धि का मुख्य कारण यह था--मुद्रा का परिमाण-सिद्धांत (Quantity Theory of Money) अपने रूप को प्रमाणित कर रहा था।

(घ) प्रथम महायुद्ध (१९२४-१९१९)--मूल्यों में भारी तेजी--युद्ध के वर्षों में अभूतपूर्व तेजी आई, इसके कारण निम्नलिखित हैं--

(१) **चलअर्थ में वृद्धि**--१९१४ में भारत में चलने वाले नोटों की संख्या २३७ करोड़ थी। यह संख्या १९१६ में २६५ करोड़ तथा १९१९ में ३६२ करोड़ हो गई। सरकार का नोटों के निकालने पर एकाधिकार होने के कारण वह "क्रयशक्ति के कृत्रिम निर्माण"[1] से अपनी युद्ध की आवश्यकताओं का खर्चा पूरा कर रही थी। इस समय चल-अर्थ के अतिरिक्त साख का भी विस्तार हुआ। क्योंकि बैंक अपने ग्राहकों को युद्ध-ऋण के प्रमाण-पत्रों तथा कोष-पत्रों (Treasury Bills) के विरुद्ध ऋण देते थे।

(२) **आयातों में कमी**--पक्के माल का आयात युद्धपूर्व-काल के स्तर पर नहीं किया जा सकता था। युद्ध के द्वारा किये हुए तथा शस्त्रों का उत्पादन बढ़ जाने से श्रमिकों की कमी के कारण आयातों का देश में आना असंभव हो गया।

(३) समुद्र के ऊपर अणु-रक्षा बढ़ जाने के कारण बीमे की किश्तों के साथ-साथ माल किराये की दर भी बढ़ गयी, जिसके परिणामस्वरूप मूल्य चढ़ गया।

(४) सरकार द्वारा आयातों तथा निर्यातों पर प्रतिबंध लगा देने से भी वस्तुओं की भारी कमी हो गई, जिससे तेजी आई।

(ङ) १९२० से लेकर १९२९ तक के मूल्य--मूल्यों के गिरने की प्रवृति--विश्व मूल्यों की तेजी अब अनिवार्य रूप से नीचे को और आने लगी। इस समय देश ने मुद्रा-संकोच (Deflation) की नीति को अपनाया, जिससे मूल्य और भी कम हुए। भारत, ब्रिटेन, अमरीका तथा अन्य देशों के मूल्य एक दूसरे के साथ-साथ क्रमशः गिरने लगे।

(च) १९२९ से लेकर १९३९ तक के मूल्य---१९२९-३३ की भारी मन्दी--- १९२९ में वॉल स्ट्रीट न्यूयार्क में शेयरों तथा प्रतिभूतियों के दाम गिरे, जिससे मूल्यों में और भी गिरावट आई। व्यापार में मंदी और मूल्यों में गिरावट के कारणों पर पहले ही

1. Jather and Beri : Indian Economics, Vol, II, p. 395.

वादविवाद[1] किया जा चुका है। भारत इस समय कठिन स्थिति में था। रुपया पौंड के साथ एक शिलिंग ६ पैंस की दर पर बंधा हुआ था। यदि अनुपात १ शिलिंग ४ पैंस का होता तो भारत को मूल्यों तथा निर्यातों में १२½ प्रतिशत का लाभ होता। प्रबल लोकमत होते हुएभी सरकार १ शिलिंग६ पैंस से ही चिपटो रही। देश में राजनीतिक गड़बड़ियों के कारण भो मूल्यों में स्थिरता न आ सकी। कृषि-प्रधान देश होने के कारण भारत को अधिक हानि हुई। क्योंकि पक्के माल की अपेक्षा कृषि पदार्थों के मूल्य अधिक गिरे। १९३१ में तो मूल्य १९२३ के स्तर की अपेक्षा भी नीचे आ गए। यहां तक कि १९३४ में वह सबसे नीचे थे, जबकि वह १९२३ के १०० की अपेक्षा ८७ थे। ब्रिटेन तथा अमरीका जैसे निर्माता-देशों में मूल्य इतने अधिक नहीं गिरे। वहां वह १०३ से अधिक नीचे नहीं आए।

मूल्यों के गिरने का प्रभाव—मूल्यों में धीरे-धीरे गिरावट आने से बड़ी-बड़ी हानियां होती हैं। उनके कारण सामाजिक अन्याय होता है, ठेके गड़बड़ा जाते हैं और संकट पैदा हो जाता है। मूल्य गिरने से भारतीय किसानों की दशा अत्यन्त विषम हो गई। भारतीय जनता में उनकी बड़ी भारी संख्या है। यदि वह दुःखी हैं तो समस्त देश दुःखी है। मंदी के समय उसकी आय घट गई, किंतु भूमि-कर तथा सिंचाई-कर वही बने रहे। ठेके का आधार होने के कारण भूमि का लगान नहीं घटा। पहले लिये हुए उधार का ब्याज भी नहीं बदल सकता था। अतएव वह अपने उत्तरदायित्वों को पूर्ण नहीं कर सकता था और उसकी दशा स्थिरता से और भी विषम हो गई।

व्यापारी लाभ पर माल नहीं बेच सकता था। ग्राहक कम हो जाने से उसकी दुकान में एक ही माल बहुत दिनों तक पड़ा रहता था। इसका प्रभाव निर्माता पर पड़ता था। अतएव कारखानों में माल के अम्बार लग गए और उनको लाभ पर साफ नहीं किया जा सकता था।

केवल स्थायी नौकरी वाले कर्मचारी ही लाभ में थे, किंतु वह समस्त जनसंख्या का बहुत थोड़ा अनुपात था।

चुंगी-कर तथा उत्पाद-कर, आय-कर तथा रेलवे की आय सभी में कमी हुई, जिससे सरकार भी अत्यंत कठिन स्थिति में पड़ गई। कर सभी क्षेत्रों में बढ़ा दिये गये तथा वेतनों में भी कटौती की गई। निर्यात घट गया तथा भारत द्वारा ब्रिटेन में किये जाने वाले व्ययों (Home Charges) को नहीं चुकाया जा सका। देश से स्वर्ण का निर्यात होने से विदेशी विनिमय को कुछ सहायता मिली और उसने सरकार की विदेशों में साख की रक्षा की।

१९३४ के बाद मूल्यों में कुछ उन्नति देखने में आई। किंतु १९३७-३८ के समय मूल्य फिर कम हुए। उस समय मंदी का समय फिर लौट पड़ा। केवल द्वितीय महायुद्ध के समय ही भारत तथा शेष संसार में १९३९ में मूल्य अंतिम रूप में चढ़ने आरंभ हुए।

२. द्वितीय महायुद्ध के समय मूल्य। युद्ध-घोषणा के ठीक बाद पूँजीगत-वस्तुओं तथा निर्मित माल दोनों के ही मूल्य चढ़ गए। इसका मुख्य कारण सट्टा था। क्योंकि माल की अब भी कोई कमी नहीं थी। कुछ समय पश्चात् स्थिति शांत हो गई और बढ़े हुए मूल्य गिरने लगे। इस प्रकार युद्ध आरंभ होने के पंद्रह मास बाद दिसम्बर १९४० में मूल्य दिसम्बर १९३९ की अपेक्षा भी कम थे।

१९४१ में मूल्य एक बार फिर चढ़ने लगे। इसका कारण था ब्रिटेन का भारत

---

१. भारत के व्यापार वाला अध्याय देखो।

के बाजार में मोल लेने वाले ग्राहक के रूप में प्रवेश। उसके भारत में माल लेने से एक ओर तो भारत के चलअर्थ में वृद्धि हुई ओर दूसरी ओर उपलब्ध माल के परिमाण में कमी आ गई और इसके परिणाम स्वरूप मूल्य चढ़ गए।

दिसम्बर १९४१ में जापान धुरी-शक्तियों (Axis Powers) की ओर से युद्ध में आ कूदा। इससे युद्ध भारत के अधिक समीप आ गया। इसके परिणामस्वरूप १९४२ में वस्तुओं में मूल्य अत्यधिक बढ़ गये। १९४२ में वस्तुओं के मूल्य अत्यधिक ऊंचे थे। किंतु अभी स्थिति अशुभ से अशुभतर होती थी। और १९४३ में मूल्य आकाश में चढ़ने लगे, जिससे निर्धनों को अकथनीय कष्ट होने लगे।

आरंभ में भारत सरकार ने मूल्यों को रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया। वास्तव में उसने ऐसा करना उचित नहीं समझा। उसका विचार था कि मंदी के दिनों में मूल्य घट जाने से उत्पादकों को भारी हानि हुई थी, अतएव अभी उनको कुछ लाभ उठाने दिया जावे। बाद में १९४३ में जब मूल्य अत्यधिक चढ़ गए और देश में मुद्रा-प्रसार हो गया तो सरकार ने मूल्यों को रोकने का प्रयत्न करना आरंभ किया। इस समय तक भारत को बर्मा से खाद्यान्न मिलने बंद हो गये थे, खाद्य-स्थिति बहुत विषम हो गई थी और बंगाल में अकाल मुंह बाए खड़ा था "जो कि इतने भारी परिमाण में मनुष्यों के कष्ट तथा मृत्यु से अत्यधिक परिचित इस युग में भी एक बड़ी भारी विपत्ति माना जाता रहेगा। सन् १९४३ में वह एक शत्रु के रूप में फिर प्रकट हुआ—जिसके लिए प्रायः यह समझा जाता था कि वह अंतिम रूप में गायब हो चुका है। वह पूर्ण शक्ति से प्रकट हुआ और उसके शिकार सहस्रों की संख्या में भारत के सबसे बड़े नगर कलकत्ते की गलियों में पड़े हुए थे।"[1] इस अकाल के साथ ही मलेरिया, चेचक तथा हैजे की महामारियां भी फैलीं और उनमें से लाखों व्यक्ति मर गए। किंतु "समाज के एक वर्ग को ही भूखे मर जाने का कष्ट पहुंचा—वह था ग्रामीण क्षेत्रों का निर्धन वर्ग;"[२] क्योंकि वह अन्न मोल लेने योग्य नहीं था।

निम्नलिखित तालिका से युद्ध के वर्षों में मूल्य चढ़ने का पता चलता है—

तालिका एक

थोक मूल्यों के मूल्य सूचनांक

(आधार—२९ अगस्त १९३९ को समाप्त होने वाला सप्ताह = १००)

वर्ष	कृषि पदार्थ	कच्चा माल	मौलिक पदार्थ	पक्का माल या तैयार किया हुआ माल	साधारण मूल्य सूचनांक
१९३९–४०	१२७·५	११८·८	१२४·२	१३१·५	१२५·६
१९४०–४१	१०८·६	१२०·५	११३·४	११९·८	११४·८
१९४१–४२	१२४·२	१४६·९	१३२·५	१५४·५	१३७·०
१९४२–४३	१६६·२	१६५·९	१६६·०	१९०·४	१७१·०
१९४३–४४	२६८·४	१८५·०	२३२·५	२५१·७	२३६·५
१९४४–४५	२६५·४	२०६·०	२४०·५	२५८·३	२४४·२
१९४५–४६	२७२·८	२१०·१	२४६·४	२४०·०	२४५·०

1. Woodhead—Famine Inquiry Commission Report on Bengal, Vol. 1.

२. आधार : Report on Currency and Finance, 1951.

सरकार ने वस्तुओं के चढ़ते हुए मूल्यों को रोकने का प्रयत्न किया। उन्होंने माल के वितरण को नियमित करने तथा क्रयशक्ति जनता के हाथ में से साफ करने का यत्न किया। अंत में १९४३ के अंतिम महीनों में मूल्यों के चढ़ते हुए प्रवाह को कुछ समय के लिए रोक दिया गया। किंतु बाद में मूल्य बराबर तबतक चढ़ते रहे कि मूल्य सूचनाँक (General Index Number) १९४४-४५ में २४५ तक जा पहुंचा।

३. **द्वितीय युद्धकाल में मूल्य चढ़ने के कारण।** मूल्यों में उतार-चढ़ाव कई कारणों के एक साथ मिल जाने से हुआ करते हैं। उसके लिए किसी एक कारण को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। उनमें से अत्यंत महत्वपूर्ण कारण य है—

(**क**) **मुद्रा-स्फीति**—एक नये लेखक ने मुद्रा-स्फीति की परिभाषा करते हुए लिखा है "देश के चलअर्थ अथवा विधिग्राह्य मुद्रा, विशेषकर कागजी मुद्रा के—जिसको विशुद्ध रूप से सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर निकाला जाता है और जिसे साधारणतया बजट के वर्तमान घाटे को पूरा करने के लिए बनाया जाता है—चलन में अत्यधिक तेजी करना।" ऐसी स्थिति में व्यवसाय या व्यापार की आवश्यकता के बिना नये नोट निकाले जाते हैं। युद्ध के वर्षों में यही स्थिति थी। ब्रिटिश सरकार ने जो या तो अपनी अथवा अपने मित्रराष्ट्रों की ओर से उन वर्षों में माल या सेवाएं भारत में मोल लीं थीं, उसीसे उन दिनों नोटों का प्रसार अधिक बढ़ गया।

(**ख**) **माल की कमी**—सभी प्रकार के उपभोक्ता माल—आयात किये हुए और स्थानीय रूप से बनाए हुए—सभी की कमी पड़ गई।

(**१**) **खाद्यान्नों की कमी**—कुछ वर्षों से भारत खाद्यान्नों के विषय में आत्मनिर्भर नहीं है। वह बर्मा, मलाया और थाईलैंड[1] से १५ लाख टन से लेकर २५ लाख टन तक चावल मंगवाया करता था। जापान द्वारा इन देशों पर कब्जा किये जाने के कारण भारत के खाद्यान्नों की पूर्ति में भारी खाई पड़ गई। इस हानि के अतिरिक्त स्वयं भारत के अपने उत्पादन में भी कमी हो गई, भारत की औसत खाद्य-पूर्ति में यह वास्तविक खाई पड़ जाने पर भी उसको ईराक, बेहरीन, सीलोन, और दक्षिणी अफ्रीका[2] को खाद्यान्नों का निर्यात करना पड़ता था। इससे उसका खाद्यान्नों का घाटा और बढ़ गया और उसमें अकाल की स्थिति उत्पन्न होने लगी।

(२) **आयातित निर्मित माल की कमी**—१९४२-४३ में भारत के समुद्री व्यापार के परिमाण में भी भारी कमी आ गई। इस विषय में आयातों में भारी कमी आई। १९४० से लेकर १९४३ तक के आयातों के परिमाण और मूल्य-स्तर के विषय में निम्नलिखित मूल्यसूचनांक ध्यान देने योग्य हैं :–

तालिका २[3]

आयातों का परिमाण

(आधार : १९३८-३९ = १००)

	१९४०–४१	१९४१–४२	१९४२–४३
आयातों का परिमाण	८१·३	७४·२	३७.६
प्रतिशत कमी	–२०.३	–८.३	–४९.३
मूल्य स्तर	१२६.७	१५३.४	१९२.९

1. Indian Trade Jonrnal : Summary of Crop Forecast.
2. Report on Currency and Financc for 1942-43.
3. Ibid.

इन अंकों से पता चलता है कि विदेशी माल के आयात में १९३८-३९ के आधार वर्ष (Base year) की अपेक्षा ३७·६ प्रतिशत की कमी हुई। आयातों में इतनी भारी गिरावट से उपभोक्ता माल में और भी कमी आ गई।

(२) **भारत में निर्मित माल में कमी**—भारतीय उत्पादनों का एक बड़ा भाग तो युद्ध उद्देश्यों के लिए लिया जाने लगा। इस्पात, कागज, वस्त्र, चमड़ा, रबड़ और चाय को बड़े भारी परिमाण में यूनाइटेड किंगडम कमर्शल कारपोरेशन नामक कम्पनी अथवा अन्य एजेंसियों द्वारा मित्रराष्ट्रों की आवश्यकताओं के लिए मोल ले लिया जाता था और उसमें से भारतीयों के लिए बहुत कम सामान शेष छोड़ा जाता था।

(ग) **सट्टा तथा अति संग्रह**—युद्ध-काल में सट्टे का जोर बढ़ जाता है और मूल्यों में अधिक तेजी आने की आशा में वस्तुओं को उपभोक्ता के पास जाने देने से रोके रखता है। संग्रह करने वाला वास्तव में जनता का 'शत्रु नं० १' है, संग्रह करने वाली सरकारें, बनिये, बैंक अथवा जमींदार कोई भी क्यों न हो यह कार्य सभी के लिए अपराध है, और इसके द्वारा निर्दोष जनता का खून चूसा जाता है। युद्ध काल में सट्टे के कारण वस्तुओं के मूल्यों में बहुत कुछ तेजी आई।

(घ) **युद्ध के समय साधारण मनुष्य की मनोवृत्ति बदल जाती है**—न केवल सटोरिया वरन् मौलिक उत्पादक तथा साधारण उपभोक्ता भी—यदि वह दैनिक मोल लेने वाला न हो—अपने पास यथासंभव एकत्रित करना चाहता है और निर्दोष होने पर भी वह मूल्यों के चढ़ने में सहायक होता है। भारत में १९४३ में यही हुआ।

(ङ) **यातायात की कठिनाइयां तथा माल का दुर्विभाजन**—सैनिकों तथा सैनिक माल के इधर-उधर जाने से उन दिनों रेलों पर भी युद्ध कार्यों का बोझ आ पड़ा, कोयले का जो यातायात पहले समुद्र द्वारा किया जाता था, अब रेलवे द्वारा किया जाने से उनपर अतिरिक्त भार आ पड़ा। पेट्रोल, रबड़ के टायरों तथा मोटर गाड़ियों के विदेशों से कम आने के कारण सड़क यातायात में भी बाधाएं हुई। अतएव बचत के क्षेत्रों से घाटे के क्षेत्रों को आवश्यक माल पर्याप्त परिमाण में ले जाना संभव नहीं रहा। इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्यों ने पूर्ण सहयोग नहीं दिया और केन्द्रीय सरकार को समान मात्रा में सहयोग के लिए अब भी अनुभव सीखना ही पड़ा। इस सारे के फलस्वरूप अतिसंग्रह, मुनाफाखोरी तथा सट्टे का अत्यधिक प्रचलन हो गया।

(च) **सरकारी नियंत्रणों की असफलता**—सभी युद्धरत राष्ट्रों ने मूल्यों[1] पर भारी नियंत्रण लगा दिये। उद्देश्य यह था कि युद्ध-व्यय के लिये आवश्यक अतिरिक्त चलअर्थ के अस्तित्व का मूल्य अनुभव न करें। इसके अतिरिक्त अतिशय मुद्रा को खपाने के लिए युद्ध-ऋण जारी किये गए।

युद्ध के आरम्भिक दिनों में भारत में कृषि पदार्थों के मूल्य पर नियंत्रण लगाना अनावश्यक समझा गया। भारतीय किसानों ने १९२९ की मंदी के बाद अत्यधिक हानि उठाई थी। अब उनको उस हानि की पूर्ति करने की अनुमति दे दी गई थी। १९४१ के अंत में गेहूं के थोक मूल्य निश्चित कर देना उचित समझा गया।

वस्त्र के सूत के भाव भी ऊंचे चढ़ते जाते थे। १९४२ में मूल्य नियंत्रण के लिए तीन कांफ्रेंसे की गई। किन्तु उनमें सभी वस्तुओं के मूल्य का नियंत्रण करने के विषय

---

१. ब्रिटेन ने जुलाई १९४१ में पूर्ण मूल्य-नियंत्रण आरम्भ किये। कैनाडा ने नवम्बर १९४१ में तथा अमरीका ने अप्रैल १९४२ में मूल्य नियंत्रण को लागू

में नहीं सोचा गया। वस्तुओं के ऊपर कठोर भौतिक नियंत्रण न हो सकने के कारण चोर बाजार उत्पन्न हो गया और आवश्यक वस्तुएं बाजार से छिप गईं। यह विश्वास किया जाता था कि नियंत्रण उठा लेने से वस्तुओं को बाहिर आने में प्रोत्साहन मिलेगा। अतएव १९४२[1] में गेहूँ के ऊपर से नियंत्रण उठा लिया गया। चीनी, मिट्टी के तेल तथा पेंट्रोल के ऊपर नियंत्रण लगते ही चोर बाजार में उनका मूल्य अत्यधिक चढ़ गया। १९४३ में सरकार ने वस्त्र तथा सूत का नियंत्रण किया और उनके मूल्य में तेजी को रोकने के लिए निश्चित मूल्य पर स्टैंडर्ड क्लाथ की बिक्री की योजना आरम्भ की।

आरम्भ में सरकार को उसकी नियंत्रण नीति में सफलता नहीं मिली। इसक मुख्य कारण यह था कि उसकी प्रणाली में समान रूप में सहयोग का अभाव था। सरकार ने मूल्य तो निश्चित कर दिये किन्तु न तो माल की पूर्ति पर नियंत्रण लगाया और न उसने उनका राशन किया।

४. युद्धोतर काल में मूल्यों की स्थिति। अगस्त १९४५ में युद्ध समाप्त हो जाने से भारत की अर्थव्यवस्था पर से बोझ कम नहीं हुआ। थोक मूल्यों में कोई कमी नहीं हुई, वरन् इसके विपरीत उनमें कुछ और वृद्धि हुई। मूल्य सूचनाँक २४५ से उपर बढ़ता ही रहा। यह निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है:—

तालिका १ (पीछे के सिलसिले में)

थोक मूल्यों का मूल्य सूचनांक (१९३९=१००)

वर्ष	कृषि पदार्थ	कच्चा माल	मौलिक वस्तुएं	निर्मित वस्तुएं	साधारण मूल्य सूचनांक
१९४६–४७	३१४	२४५	२८०	२०९	२७५
१९४७–४८	३५७	२५४	३१३	२८८	३०८ (बंद कर दिया गया)

किया। पूर्ण नियंत्रण (Blanket Control) का अर्थ है अधिकतम मूल्य निर्धारित करना और यदि भविष्य में उसमें कोई तेजी आवे तो उसे रोकने का उपाय करना।

१. नियंत्रणों के विरुद्ध प्रायः यही युक्ति दी जाती है। यह बात स्मरण रखने योग्य है कि वस्तुओं के मूल्यों का नियंत्रण करने में सरकार की असफलता का कारण यह था कि जनता की उसमें सहानुभूति नहीं थी। गेहूँ जैसी वस्तु को निश्चित मूल्य पर राशन करके सुलभ करना चाहिये था।

नवीन सामान्य उद्देश्य माला

वर्ष	खाद्य वस्तुएं	औद्यागिक कच्चा माल	अर्द्ध निर्मित	निर्मित वस्तुएं	विभिन्न	साधारण मूल्य सूचनाँक
१९४७–४८	३०६	३७८	२६२	२८६	४५६	३०८
१९४८–४९	३८३	४४५	३२७	३४६	५२५	३७६
१९४९–५०	३९१	४७२	३३२	३४७	५७१	३८५
१९५०–५१	४१६	५२३	३४९	३५४	७०७	४१०
अगस्त १९४९	४११	४६१	३३१	३४९	५४२	३८९[१]
जून १९५०	४०३	४९१	३३६	३४८	६९२	३९६
दिसम्बर १९५०	४२४	५४३	३५१	३५०	७१८	४१३[२]
दिसम्बर १९५१	३९९	४७४	३७३	४०२	७५२	४३४

युद्धोत्तर कालीन वर्षों को सुगमता से दो अवधियों में विभक्त किया जा सकता है। एक मूल्य ह्रास से पहले का समय, दूसरा मूल्य ह्रास के बाद का समय।

(**क**) **मूल्य ह्रास से पहले का समय**—युद्ध समाप्त होने पर मूल्य सूचनाँक २४५ था। वस्तुओं की पूर्ति के कम होने तथा उनकी अपेक्षा उनकी मांग अधिक जन-संख्या के साथ-साथ बढ़ती जाने के कारण मूल्य बराबर तेजी से चढ़ते रहे। उदाहरणार्थ, १९४६–४७ में वह ३० अंक बढ़कर २७५ हो गए; १९४७–४८ में ३३ अंक बढ़कर ३०८ हो गये और १९४८–४९ में ६८ अंक बढ़ गये। यहां तक कि मूल्यह्रास से ठीक पूर्व अगस्त १९४९ में वह ३८९ हो गये।

(ख) मूल्यह्रास के बाद—इस समय को तीन विभिन्न कालों में विभक्त कर सकते हैं:—

(१) प्रथम काल में मूल्य बराबर चढ़ते रहे। अगस्त १९४९ के ३८९ से चढ़कर वह जून १९५० में—कोरिया युद्ध की घोषणा की जाने पर—बढ़कर ३९६ हो गए। यह केवल १७ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी।

(२) दूसरे काल में कोरिया युद्ध आरम्भ हो जाने के फलस्वरूप मूल्यों में अत्यधिक तेजी आ गई। यहां तक कि मार्च १९५१ में वह ४३९ हो गए। इस प्रकार

तालिका ३

कुछ चुने हुए देशों के मूल्य सूचनांक

(आधार : १९३७ = १०० शेष सभी के लिए। भारत के लिए १९३९ = १००)

देश	मूल्यह्रास से पूर्व अगस्त १९४९ में	मूल्यहास के बाद (कोरिया युद्ध से पूर्व जून १९५० में	तेजी प्रतिशत	कोरिया युद्ध के बाद दिसम्बर १९५० में	तेजी प्रतिशत
आस्ट्रेलिया	१९०	२२२	१७%	२४२	९
कैनाडा	१८४	१९५	६%	२१०	·७
फ्रांस	२,१६०	२,२२०	२·७%	२,५८०	१६·२
ब्रिटेन	२११	२३६	११·८%	२६९	१४
अमरीका	१७७	१८२	२%	२०३	११·५
भारत	३८९	३९५·६	२·७%	४१३	४·३

१. तथा २. मूल्य-ह्रास से पूर्व के अंक।

कोरिया युद्ध के बाद उनमें ११% की वृद्धि हुई जबकि कोरिया युद्ध के पूर्व मूल्यह्रास के छः मास बाद उनमें कुल १७ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी।

कुछ अन्य देशों के मूल्य की तेजी से भारत की तुलना करना अत्यन्त मनोरंजक होगा। तालिका संख्या तीन से विभिन्न देशों की इस तेजी का विवरण स्पष्ट हो जाता है।

१९५०–५१ में ब्रिटेन, अमेरिका और आस्ट्रेलिया में भारत की अपेक्षा अधिक मूल्य वृद्धि हुई। कोरिया युद्ध आरम्भ होने के बाद विदेशों में तेजी अधिक देखने में आई। उदाहरणार्थ, १९५०–५१ में ब्रिटेन में २७ प्रतिशत, अमेरिका में २० प्रतिशत और आस्ट्रेलिया में ३० प्रतिशत से कम तेजी नहीं आई, जबकि भारत में कुल १२ प्रतिशत ही तेजी आई।

(३) कोरिया युद्ध का तत्काल प्रभाव यह पड़ा कि मूल्य अधिक चढ़ गए। अन्त में यह निश्चय जैसा हो गया कि इस युद्ध के कारण विश्व-युद्ध नहीं होगा। कोरिया युद्ध के ठीक बाद जो संग्रह करने की वृत्ति बढ़ने लगी थी वह अमरीका तथा अन्य देशों में समाप्त हो गई। इस समय मूल्यों ने कम होने के एक नये युग में प्रवेश किया। अप्रैल १९५१ के बाद जब मूल्य सूचनांक ४५८ था, यही देखने में आया। दिसम्बर १९५१ में वह गिरकर ४३३ तक पहुंच गया। फरवरी १९५२ में और भी गिरावट आई और ७ मार्च को मूल्य सूचनांक ३९७ हो गया। उसके बाद सोने, चांदी, गुड़, शक्कर, तेल, तिलहनों, मसालों और रुई के मूल्यों में भारी मंदी आयी। यह मंदी अभी तक बनी हुई है। यह नहीं कहा जा सकता कि मंदी ऐसी ही बनी रहेगी। यदि संसार की राजनीतिक स्थिति विषम न हुई तो मूल्य और भी घटेंगे और फिर इससे कहीं नीचे जाकर ठहर जायेंगे।

५. क—युद्धोत्तर वर्षों में मूल्य चढ़न के कारण—(क) चलअर्थ में वृद्धि— युद्धोत्तर वर्षों में मूल्य बढ़ने के अत्यन्त महत्वपूर्ण कारणों में से एक है भारत में चल-अर्थ में लगातार वृद्धि। वृद्धि केवल बाजार में चलने वाले नोटों में ही नहीं हुई, वरन् बैंक की साख में भी हुई। जैसा कि नीचे की तालिका से स्पष्ट है :—

तालिका ३

वर्ष और मास	बाजार में चलने वाले नोट (दस लाखों में)	ऋण तथा हुंडियां (दस लाखों में)
१९३८–३९	१८२	११६
१९४५–४६	११६३	३०१
१९५०–५१	११६३	४५९
मार्च १९५१	१२४१	५३५
२२ फर. १९५१	११४७	५७६

(ख) केन्द्र तथा अधिकांश राज्यों के बजट में घाटा युद्ध समाप्त होने पर भी बना रहा।

(ग) मूल्यों तथा वस्तुओं पर नियन्त्रण के सम्बन्ध में सरकार की बदलते रहने वाली नीति से कष्ट और बढ़ गया।

(घ) चोर बाजार में माल का जो मूल्य मिला, उसका भी दबाव भारी पड़ा।

यह रकम सरकार द्वारा लगाये हुए करों से बचने के प्रयत्न म अधिकतर सफल रही।

(ड.) सरकार को उधार लेने के अपने प्रयत्नों में मिली हुई असफलता हानिप्रद प्रमाणित हुई। वेतनों तथा मंहगाई में वृद्धि से स्थिति ओर विषम हो गई।

(च) भारत में कृषि पदार्थों तथा औद्योगिक उत्पादनों में व्यापक रूप में कमी होने से स्थिति ओर भी खराब हो गई। अनावृष्टि, देश के बहुत बड़े भाग में प्रति वर्ष आने वाली बाढ़ों तथा भूकम्प की दैवी आपत्तियां भी इस पर आईं। उसके फलस्वरूप उत्पादन में भारी कमी होना और भी भयंकर हुआ। क्योंकि भारत की जनसंख्या में प्रतिवर्ष ४० लाख से लेकर ५० लाख तक की वृद्धि हो जाती है। कच्चे माल तथा पूंजीगत माल के पर्याप्त मात्रा में न मिलने, यातायात में बाधा आने ओर ओद्योगिक अशांति के सभी कारणों ने मिलकर औद्योगिक उत्पादन को घटा दिया।

(छ) देश के विभाजन के कारण जो देश की आर्थिक हानि हुई, उससे स्थिति और भी खराब हो गई। जनसंख्या के व्यापक आधार पर भारत के एक भाग से दूसरे भाग में जा बसने के कारण यान्त्रिक ज्ञान के जानकारों की संख्या में भो कमी हुई।

(ज) आयातों पर नियन्त्रण —क्रमशः भारत का व्यापारिक संतुलन उसके विपरीत, विशेषकर दुर्लभ चलअर्थ वाले देशों के विरुद्ध हो गया। आयात अधिक बढ़ गए। खाद्यान्नों में आयात ने तो आयातों के परिमाण को और भी बढ़ा दिया। औद्योगिक कच्चे माल और पूंजीगत माल को बड़े परिमाण में मोल लिया गया। इस घाटे को पूरा करने के लिए उपभोक्ता माल के आयात में कठोर नियन्त्रण लगाए गये। इनके फलस्वरूप मूल्य अत्यधिक बढ़ने आरम्भ हो गये।

(झ) जून १९५० में कोरिया युद्ध आरम्भ हो जाने से सट्टा तथा संग्रह वृत्ति में भारी वृद्धि हुई। चीन के कोरिया युद्ध में हस्तक्षेप करने पर यूरोप तथा अमेरिका एक और विश्व युद्ध आरम्भ करने की सम्भावना से भयभीत हो गए, और उन्होंने माल जमा करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार भारत को खाद्यान्नों, ओद्योगिक कच्चे माल तथा पूंजीगत माल के प्राप्त करने में अत्यधिक कठिनाई होने लगी। इसके अतिरिक्त भारत के निर्यात माल की मांग भी बढ़ गई ओर उसके फलस्वरूप भारत में इन वस्तुओं की कमी हो गयी और इस प्रकार आयात तथा निर्यात दोनों का ही मूल्य चढ़ गया। अप्रैल १९५१ में साधारण मूल्य सूचनांक अत्यधिक बढ़कर ४६२ तक पहुंच गया।

डालर तथा दुर्लभ चलअर्थ वाले क्षेत्रों के विरुद्ध भारत सहित राष्ट्र मंडल के सभी देशों का प्रतिकूल व्यापारिक संतुलन होने के कारण नवम्बर १९४९ में मूल्य-ह्रास जैसे क्राँतिकारी पग को उठाना पड़ा। दुर्भाग्यवश पाकिस्तान ने राष्ट्र-मंडल के अन्य देशों का साथ इस विषय में देना पसंद नहीं किया। इससे भारत अत्यन्त प्रतिकूल स्थिति में पड़ गया। इस पग के कारण सितम्बर १९४९ के बाद मूल्यों में तेजो आयी।

६ ख. मार्च १९५२ में मूल्य घटने के कारण—जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है अप्रैल १९५२ के मध्य में साधारण मूल्य सूचनांक ४६२ तक पहुंच गया। इसके बाद धीरे-धीरे यह गिरना आरम्भ हुआ। यहां तक जनवरी १९५२ में ४२९ हो गया। इसके पश्चात् मूल्य सूचनांक में आकस्मिक गिरावट आई और मार्च १९५२ के मध्य में यह गिरकर ३६५ हो गया। इस भारी मूल्य गिरावट के कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) **अमरीका तथा दूसरे देशों के अति-संग्रह कार्यक्रम में शिथिलता**— इससे बहुत से पदार्थों की मांग कम पड़ने से मूल्यों में गिरावट आना स्वाभाविक ही था।

(२) **आन्तरिक उत्पादन में वृद्धि**---औद्योगिक तथा कृषि सम्बन्धी उत्पादन में पर्याप्त सुधार हुआ। लगभग सभी महत्वपूर्ण पदार्थों की पूर्ति में वृद्धि हुई। औद्योगिक उत्पादन सूचनांक (आधार= १००-१९४६) १९५० में १०५·२ से चढ़कर १९५१ में ११७·४ हो गया। इसके अतिरिक्त सरकार को परिवर्तित नीति के अनुसार आयातों में भी वृद्धि हुई।

(३) नवम्बर १९५१ में रिजर्व बैंक के दर को ३ प्रतिशत से बढ़ाकर ३॥ प्रतिशत कर दिया गया। यह पग बैंक-साख के विस्तार को रोकने के लिए उठाया गया क्योंकि बैंक-साख में विस्तार के कारण मूल्य ऊपर बढ़ते हैं। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने यह भी घोषणा की कि अब वह सरकारी प्रतिभूतियां नहीं खरीदेगा, बल्कि उनके विरुद्ध केवल कर्ज ही देगा। इस कारण द्रव्य-दरें और भी बढ़ गईं और सटोरियों के लिए उधार लेना कठिन हो गया।

इसके अतिरिक्त सरकार ने कुछ और भी मुद्रा-स्फीति विरोधी पग उठाए जिसके कारण मूल्य और भी नीचे गिरे। उदाहरणार्थ, नये निर्यात करों को लगाना अथवा पुराने निर्यात करों को बढ़ाना---इस कारण बहुत से भारतीय पदार्थों की विदेशी मांग कम हो गई और यह पदार्थ मुख्यतः देश में ही रहे। सरकार द्वारा अमरीका से उधार ली हुई गेहूं को भारतीय बाजार में बेचने से भी मूल्य-स्थिति पर प्रभाव पड़ा।

ऊपरिलिखित कारणों का सामूहिक प्रभाव यह हुआ कि मूल्य नीचे गिरने आरंभ हुए। एक ओर तो सरकार ने इस मूल्य गिरावट का स्वागत किया परन्तु दूसरी ओर सरकार चिंतित थी कि इस मूल्य गिरावट का देश के उत्पादन तथा निर्यात पर कुप्रभाव न पड़े। इसलिए सरकार ने कुछ पग उठाये जिससे यह मूल्य-गिरावट सितम्बर १९५२ में स्थिर हो गई।

६. **मूल्यों में वृद्धि का प्रभाव**---ऊंचे मूल्यों का सभी व्यक्तियों पर वही प्रभाव नहीं पड़ता। जितनी ही आय कम होगी तथा परिवार बड़ा होगा उतनी ही कठिनाई बढ़ेगी। बड़ी आय वालों को तो केवल आमोद-प्रमोद के साधनों से ही वंचित होना पड़ता है। भारत में अधिकांश जनता के निर्धन होने के कारण कष्ट भी साथ-ही-साथ अधिक बढ़े।

मूल्य बढ़ने से आय में विषमता और अधिक बढ़ जाती है। अब भारत में विभिन्न कार्यों और वर्गों पर इस मूल्य-वृद्धि के प्रभाव के सम्बन्ध में विचार किया जाता है :---

१. **उत्पादन पर प्रभाव**---मूल्य कम होने की दशा में कुछ तेजी आने पर उत्पादन बढ़ता है। किन्तु मूल्यों में निरन्तर वृद्धि होने से उत्पादन के व्यय में बराबर वृद्धि होती जाती है। इसके परिणामस्वरूप एक स्तर तक पहुंचकर मांग घट जाती है और उसके परिणामस्वरूप उत्पादन भी घट जाता है। इस प्रकार युद्ध के बाद भारत में उत्पादन घट गया। मुद्रा-स्फीति से समृद्धि की एक झूठी भावना उत्पन्न हो जाती है। वास्तव में व्यापारी द्वारा प्राप्त किया जाने वाला प्रत्येक रुपया माल के रूप में अपने मूल्य में कम है। कर भारी होते हैं। अधिक धन से अधिक आर्थिक-कल्याण नहीं होता। मुद्रा-स्फीति धन तथा निर्धनता के बड़े-बड़े विरोधों का निर्माण करती है।

२. **श्रम पर प्रभाव**---मूल्य चढ़ने से जीवन का व्यय बढ़ जाता है, जिससे श्रमिकों को हानि उठानी पड़ती है। बम्बई के जीवन का व्यय १९४३ के १०० जीवन, व्यय की अपेक्षा अप्रैल १९५२ में ३२९ था। देश के अन्य भागों में जीवन का व्यय बढ़ गया। इसीलिए हड़तालें हुईं तथा दंगे हुए। श्रमिकों को संतुष्ट रखने के लिए मंहगाई

भत्ते दिये गये। किन्तु मूल्य और भी चढ़ जाने से वह भत्ते शीघ्र ही अपर्याप्त दिखलाई देने लगे। अतएव अशांति और भी बढ़ गई।

३. **मध्यम श्रेणी वालों पर प्रभाव**—समाज का मेरुदण्ड वही होते हैं। वह प्रायः शिक्षित होते हैं। उनमें से अधिकांश या तो सरकारी नौकर या व्यावसायिक कार्यालयों में नौकर होते हैं। इस प्रकार उनकी आय निश्चित होती है। मूल्य चढ़ने पर उनको सबसे अधिक कष्ट होता है। उनके-पास अपना खर्चा चलाने लायक बचत न होने के कारण उनको अपने जीवन मान को घटाना पड़ता है। उनकी आय का एक बड़ा भारी प्रतिशत अनुपात उनके परिवार वालों के वस्त्रों पर खर्च होता है। उनको अपना बाह्य स्तर बनाने के लिए इस खर्च को बनाए रखना पड़ता है। अतएव उनके भोजन की किस्म हल्की हो जाती है। यहां तक कि उनकी बचत मूल्य में भी घट जाती है। अतएव उनपर सब तरह से चोट पड़ती है।

४. **अतिसंग्रह तथा चोर बाजार पर पड़ने वाले प्रभाव**—मूल्य चढने से सदा ही खाद्यान्नों सहित वस्तुओं के अतिसंग्रह की वृत्ति को बल मिलता है। उत्पादक, व्यापारी तथा उपभोक्ता सभी अतिसंग्रह करने का यत्न करते हैं। कुछ अधिक मूल्य प्राप्त करने के लिए संग्रह करते हैं और चोर-बाजारी करने में पड़ जाते हैं। कुछ इसलिए संग्रह करते हैं कि वह अधिक मूल्य तथा चोर-बाजार से भयभीत होते हैं। सरकार इन समाज-विरोधी कार्यों को रोकने का यत्न करती है। किन्तु जबतक देश में मुद्रास्फीति रहती है इसके कार्यों का कोई प्रभाव नहीं होता।

७. **उसको ठीक करने के लिए अपनाए गए उपाय** (क) युद्ध के वर्षों में—भारत सरकार ने स्थिति की भयंकरता को समझ लिया था। उसने १९४३ का वर्ष लगते ही उसको ठीक करने के लिए अनेक उपाय अपनाये। उसने एक ओर तो बाजार में मुद्रा कम करने का यत्न किया और दूसरी ओर बाजार में अधिक माल लाकर उसके वितरण का ठीक प्रबन्ध किया। उसके विभिन्न प्रयत्नों का सारांश रूप में इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है —

(१) मूल्यों को चढ़ने से रोकने का एक उपाय है चलअर्थ के विस्तार को रोकना। यदि बाजार में अधिक मुद्रा आती रहेगी और उसको प्रभावहीन करने के लिए कठोर नियन्त्रण नहीं लगाये जाएंगे तो मूल्य पेंचदार घुमाव की प्रणाली पर बढ़ते जावेंगे। १९४३ में ब्रिटेन ने भारत के बाजारों से सबसे अधिक माल मोल लिया। अतएव नोट भी उस वर्ष में सबसे अधिक बढ़े और उसी परिमाण में मूल्य भी चढ़े।

(२) दूसरा उपाय है बाजार में चलने वाली मुद्रा को कम करना, अर्थात् मुद्रा-संकोच (Deflation)। यह सदा से ही एक कष्टकर कार्य है। किन्तु इसको निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है:

(क) कर लगाना—भारत में कर पहले ही पर्याप्त बढ़ गये थे किन्तु उनके और बढ़ाए जाने की आवश्यकता थी। भारतीय अर्थशास्त्रियों ने अपने विज्ञप्ति-पत्र में यह प्रस्ताव किया था, "हमारी सम्मति में करों को यथा-सम्भव व्यावसायिक रूप में वहां तक अधिकतम मात्रा में बढ़ाया जाना चाहिए कि जनता के कंधे उनको सहार सकें।"

मई १९४३ में अतिरिक्त लाभ-कर की रकम उगाहने के लिए १०० करोड़ रुपये की राशि शेष थी। उसको वसूल करने के लिए एक अध्यादेश निकाला गया। आयकर सर्टिफिकेटों की पेशगी भुगतान के रूप में बिक्री से इस मामले में कुछ सहायता मिली।

(ख) **अनिवार्य बचत योजनाएं**––जमींदार को अधिक बचत करने को विवश करने के लिए इस प्रकार की योजनाएं चलाई जा सकती हैं। कुछ राज्यों ने जनता में प्रतिरक्षा-पत्र (Defence Bonds) तथा सर्टिफिकेटों की बिक्री करने के लिए कुछ कन्वेसर नियुक्त किये थे और इस प्रकार बाजार के चलन से लगभग १० करोड़ रुपये निकाले।

(ग) ऋण––सरकार को उधार लेने के प्रयत्न में पर्याप्त सफलता नहीं मिली। इसका कारण जनता का सरकार में अविश्वास था। इसके अतिरिक्त उसके रुपया लगाने के अधिक लाभकर अन्य क्षेत्र भी खोले हुए थे। बाद में मित्रराष्ट्रों की सफलता से विश्वास फिर प्राप्त कर लिया गया, किन्तु ऋण फिर भी अधिक नहीं मिले।

(३) **सट्टे की रोक**––रुई में सट्टे को रोक दिया गया। मौलिक वस्तुओं के भावी सोदों को भी रोक दिया गया। सोने-चांदी के बाजार के वायदे के सौदों को भी रोक दिया गया। बरसाती कम्पनियों के विकास को रोकने के लिए एक पूंजी निकास नियन्त्रण-आज्ञा (Capital Issue Control Order) निकाली गई। व्यापार को नकद के आधार पर चलाने तथा वायदे के सौदों को रोकने के लिए क्रमशः सभी सम्भव उपाय अपनाए गये।

(४) **मूल्य नियंत्रण**––अर्द्ध-नियन्त्रण अनियंत्रण से बुरा होता है। इससे वस्तुएं चोर-बाजार में चली जाती हैं और उसके परिणामस्वरूप चोर बाजार उत्पन्न होता है। सरकार ने १९४२ में पंजाब में गेहूं के मूल्य पर नियन्त्रण तो लगा दिया, किन्तु उसके बाजार में पूर्ति पर कोई नियन्त्रण नहीं लगाया। अस्तु, उक्त नियन्त्रण असफल रहा। मुख्य आवश्यकता "सभी मूल्यों के पूर्ण नियन्त्रण"[1] की थी, अर्थात् अधिकतम मूल्य निश्चित करने के साथ वस्तुओं के ऊपर भौतिक नियन्त्रण स्थापित करना। केवल ऐसी स्थिति में ही अतिरिक्त क्रय-शक्ति पर बन्धन लगाया जा सकता था। भारत जैसे विशाल देश में––जहां प्रत्येक राज्य अपने मार्ग पर चलता था––यह एक सुगम काम नहीं था।

(५) **यातायात**––भारत में मुख्य समस्या केवल खाद्य वस्तुओं की कमी की ही नहीं थी, वरन् उनके ठीक वितरण की भी थी। शीघ्रतया सस्ते यातायात से मूल्य बराबर हो जाते हैं। यदि समस्त देश में भाव स्थायी तथा उचित हों तो अति-संग्रह की मनोवृत्ति नहीं रहती। खाद्य के यातायात में प्राथमिकता देने के सभी सम्भव प्रयत्न किये गये किन्तु रेलवे इस अनिवार्य आवश्यकता का साथ नहीं दे सकी।

(६) **अधिक उत्पादन**––उत्पादन बढ़ने से मूल्य घट सकते थे। किन्तु देश में उपलब्ध मशीनों तथा औजारों के कम होने के कारण कृषि-पदार्थों की पूर्ति अपेक्षाकृत अस्थिर थी और निर्मित माल भी परिमित था। युद्धकाल में वस्तुओं की पूर्ति केवल परिमित ही हो सकती है और वह फैलने वाली मुद्रा के साथ पग मिलाकर नहीं चल सकती। भारत में यही हुआ।

खाद्य तथा खाद्येत्तर फसलों के क्षेत्र को योजनाबद्ध करके नियंत्रित किया जाना चाहिए था। 'अधिक अन्न उपजाओ', 'कम वस्त्र से काम लो', तथा 'अति-आवश्यकता होने पर ही यात्रा करो' आदि के विषय में प्रचार-कार्य में बहुत कम सफलता मिली।

(ख) युद्धोत्तर-काल में अपनाए हुए उपाय। (क) मूल्य-ह्रास से पूर्व का समय––युद्ध समाप्त होने पर भी मूल्य चढ़ते ही रहे। जैसा कि पीछे बतलाया जा चुका है, सरकार

---

१. भारतीय अर्थ-शास्त्रियों की विज्ञप्ति।

१९४८ में अत्यधिक व्यग्र हो उठी और उसने स्वतंत्र अर्थशास्त्रियों सहित विभिन्न संस्थाओं से परामर्श किया। उन्होंने निम्नलिखित उपाय सुझाए :

(१) **आर्थिक उपाय** (अ) **व्यय**—केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारों में से अनावश्यक कर्मचारियों की यथासम्भव छंटनी कर दी गयी, किन्तु बेरोजगारी के अकथनीय कष्टों को ध्यान में रखकर इस पर अत्यधिक बल नहीं दिया गया। सामाजिक-शिक्षा सम्बन्धी तथा लोकहितकारी कार्यों को उतना ही चलने दिया गया, जितनी वर्तमान आय में गुंजाइश थी। राज्यों के लिए अत्यन्त आवश्यकता पर ही कोई अनुदान स्वीकार किया जाता था। रक्षा-व्यय में भी बचत करने का यत्न किया गया। किन्तु भारत के विभाजन के कारण हैदराबाद तथा कश्मीर में आई हुई अड़चनें तथा पाकिस्तान के साथ झगड़े के कारण रक्षा व्यय में अधिक खर्चना आवश्यक हो गया। अतिरिक्त लाभ-कर की वापसी को स्थगित कर दिया गया तथा तत्काल उत्पादक होने वाले के अतिरिक्त सभी अन्य व्यय को रोक दिया।

(आ) **कर लगाना**—उस सभी आयकर को वसूल करने का यत्न किया गया, जिसकी चोरी की गई थी। आयकर की दर को बढ़ा दिया गया।

(इ) **उधार लेना**—छमाही तथा वार्षिक कोष-पत्रों (Treasury Bills) का अधिकतम उपयोग किया गया। छोटी-छोटी बचतों को प्रोत्साहित किया गया। अधिक ब्याज के वचन-पत्रों (Bonds) तथा सर्टिफिकेटों को चलाया गया।

(२) **मुद्रा सम्बन्धी उपाय**—रिजर्व बैंक द्वारा निकाले हुए नोटों के कुल मूल्य को कम करने के प्रबल प्रयत्न किये गये। यद्यपि आरम्भ में उन प्रयत्नों में सफलता नहीं मिली। किन्तु १९५१ के बाद उनमें कुछ सफलता मिलने लगी। यह नियम बना दिया गया कि सभी बैंक तथा बीमा कम्पनियां अपनी सभी तत्कालीन देनदारियों का २५ प्रतिशत में सरकारी प्रतिभूतियां रखें।

(३) **नियंत्रण**—जिन औद्योगिक कार्यों से तत्काल फल मिलने की आशा थी उनमें पूंजी लगाने की यथासम्भव अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता दी गई। जबकि बैंकिंग-कम्पनियों तथा पूंजी लगाने वाले ट्रस्टों (Investment Trusts) की सावधानी से जांच की जाती थी। पूंजीगत माल के आयात को प्राथमिकता दी जाती था। और कम आवश्यक माल के आयात को रोका जाता था। आवश्यक वस्तुओं का आयात करने के लिए किये हुए द्विराष्ट्रीय समझौते को कार्यरूप में परिणत करने के लिए निर्यात पर नियन्त्रण लगाये गए।

सरकार ने इस बात का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया कि वह खाद्यान्नों के मूल्य को एक निश्चित अधिकतम मूल्य (Fixed Ceiling Prices) से ऊपर नहीं जाने देगी। वह ग्रामीण क्षेत्रों से अन्न वसूल करेगी और उनका नागरिक क्षेत्रों में राशन करेगी। और फिर भी यदि कोई कमी पड़ेगी, तो उस कमी को आयात द्वारा पूरा करेगी।

वस्त्र, और सूत, कागज, वनस्पति, इस्पात, सीमेंट, कोयले आदि के नियन्त्रण तथा वितरण लागू किये गए।

(४) **उत्पादन**—प्रत्येक बड़े उद्योग-धन्धे के लिए उत्पादन का लक्ष्य निश्चित किया गया। छोटे-छोटे तथा ग्रामीण उद्योग-धन्धों को पूर्णतः विकसित किया गया। इस विषय में योजनाबद्ध आधार पर उत्पादन बढ़ाने के पहले से अधिक यत्न किये गए। यह अनुभव किया गया कि केवल नियन्त्रण से ही मूल्य कम न होंगे, यद्यपि उनसे मूल्य

कुछ परिमाण में स्थिर हो जाएंगे। इस उद्देश्य के लिए कपास, पटसन और खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाना आवश्यक था। इसी कारण से उत्पादन पर पहले से अधिक बल दिया गया; यद्यपि कंट्रोल तथा राशनिंग को रहने दिया गया, वरन् उनको पहले से भी अधिक कठोर कर दिया।

(ख) मूल्यह्रास के बाद का समय—मूल्य-ह्रास के कुछ मास बाद ही कोरिया-युद्ध आरम्भ हो गया। इससे मूल्य अचानक चढ़ गये। संग्रहवृत्ति बढ़ गई और अप्रैल १९५१ में मूल्य सूचनांक ४५८ तक जा पहुंचा। इस स्थिति का मुकाबला करने के लिए सरकार ने एक अष्टसूत्री कार्यक्रम की घोषणा की। इसमें उसने अपनी आर्थिक नीति के बड़े-बड़े उद्देश्यों को प्रकट किया। इसमें मूल्यों की तेजी को रोकने तथा अधिक उत्पादन द्वारा बड़ी-बड़ी पूर्तियों में बचत करना भी थी, जिससे मुद्राप्रसार पर नियन्त्रण किया जा सके। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए वस्तुएं प्राप्त करने तथा वितरण तथा मूल्यों को नियंत्रित करने के सम्बन्ध में समस्त भारत में मुख्य रूप से एक नीति अपनाने के लिए १९४६ के आवश्यक पूर्ति अधिनियम (Essential Supplies Act) में एक संशोधन करके आयातों पर नियन्त्रण ढीले कर दिये गए तथा खाद्यान्नों के संग्रह को रोक दिया गया। भारत सरकार ने देश के आंतरिक तथा बाह्य व्यापार के सम्बन्ध में, तथा माल के उत्पादन, पूर्ति और वितरण के सम्बन्ध में १५ अगस्त १९५० से (उसके बाद उसे एक वर्ष के लिए और बढ़ा दिया गया) एक वर्ष तक के समय के लिए कानून बनाने का अधिकार अपने हाथ में ले लिया। अतएव कुछ वस्तुओं का नियन्त्रण करने के लिए वस्तुओं की पूर्ति तथा मूल्यों का अध्यादेश (Supply and Prices of Goods Ordinance, 1950) निकाला गया। दूसरे, वस्तुओं के अन्तर्देशीय तथा बहिर्देशीय मूल्यों में अधिक विषमता को दूर करने के लिए अन्य निर्यात-कर भी लगाए गए, अथवा वर्तमान करों को बढ़ा दिया गया। इन उपायों से मूल्य कुछ स्थिर हो गये। किन्तु जब चीन ने कोरिया-युद्ध में हस्तक्षेप किया तो मूल्य फिर चढ़ने लगे। यहां तक कि वह अप्रैल १९५१ में ४५८ तक जा पहुंचे।

८. मूल्य-नीति। भारत में बर्ती जाने वाली मूल्य-नीति को निश्चित करने के लिए यह आवश्यक है कि गत वर्षों में मूल्यों के क्षेत्र में जो कुछ भी हुआ है उसका सिंहावलोकन कर लिया जावे। यह एक स्वीकृत तथ्य है कि मूल्यों के चढ़ने का मुख्य कारण युद्ध के वर्षों में तथा उसके बाद भी नोटों की संख्या में वृद्धि होना था। इस समय हमको नोटों की इस आरम्भिक वृद्धि के कारणों की जांच नहीं करनी। हमारे कहने का केवल यही आशय है कि मुद्रा-स्फीति उसी का परिणाम था। मुद्रा-स्फीति भी कई प्रकार की हुआ करती है और वह कई प्रकार से काम किया करती है। अब हम भारत की मुद्रा-स्फीति की स्थिति का अध्ययन करेंगे।

मुद्रा-स्फीति की आरम्भिक स्थिति में जब मूल्य तेजी से चढ़ते हैं तो उसे हम लाभ की मुद्रा-स्फीति (Profit Inflation) कहते हैं। ऐसे समय मूल्य चढ़ते तो हैं, किन्तु उतने नहीं चढ़ते और लाभ अधिक होता है। पगारें एक विशेष परिमाण तक ही पीछे रहती हैं। किन्तु उनकी सबसे अधिक हानि वेतनभोगी मध्य श्रेणी वालों को होती है। यदि पूंजीगत सामान मिलता रहे और यदि कारीगरों अथवा यातायात की कठिनाई न हो तो उत्पादन अधिक हो तथा साधारण स्थिति वापस आ जावे। यदि किसी कारण से यह संभव न हो तो स्थिति काबू से बाहर हो जाती है और उसके परिणामस्वरूप अत्यधिक मुद्रा-स्फीति होती है, जिससे देश की समस्त अर्थ-व्यवस्था उसी प्रकार नष्ट हो सकती है, जिस प्रकार प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी में और फिर बाद में चीन में हुआ था। किन्तु यदि सरकार बुद्धिमानी से समय को पहचान ले

और मूल्यों को अधिक न चढ़ने देने का उपाय करे तो वह उनको कुछ उच्च-स्तर पर स्थिर करने में सफल हो सकती है। कुछ समय पश्चात् लागत उस उच्च मूल्य के अनुसार ठीक हो जाती है और इस समय हम 'लाभ की मुद्रा-स्फीति' के स्थान में 'लागत की मुद्रा-स्फीति' (Cost Inflation) का अनुभव करते हैं।

लागत की मुद्रा-स्फीति में हमको आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार की असमानता मिलती है। बाह्य असमानता का कारण यह तथ्य होता है कि किसी देश का उत्पादन विश्व-बाजार में प्रतियोगिता नहीं कर सकता। 'निर्यात गिर जाते हैं' आयात या तो चढ़ जाते हैं अथवा स्थिर बने रहते हैं और भुगतान का संतुलन प्रतिकूल हो जाता है। आन्तरिक असमानता इस कारण होती है कि मूल्य चढ़ने के साथ माल को नहीं बेचा जा सकता। उस समय लाभ कम होता है, जिससे बेकारी बढ़ जाती है। इससे मध्य श्रेणी वालों को सबसे अधिक कष्ट होता है और यदि उनमें बोलने की शक्ति के साथ प्रबलता भी है, तो क्रांति हो सकती है।

इसका उपाय सुगम नहीं है। 'द्रुत मुद्रा-स्फीति' (Galloping Inflation) से देश की अर्थ-व्यवस्था उसी प्रकार भग हो सकती है, जिस प्रकार चीन में हुई थी। यदि मूल्यों को अत्यधिक शीघ्रता से दबाया जाता है, तो मिलें और कारखाने बन्द हो सकते हैं, जिससे भारी बेकारी फैलने के साथ-साथ आर्थिक मन्दी भी हो सकती है।

विशाल परिमाण के युद्ध से 'लागत की मुद्रा-स्फीति' के बाद 'लाभ की मुद्रा-स्फीति' सभी देशों में आती है। नीचे दी गई तालिका में गत दस वर्षों के कुछ महत्वपूर्ण देशों के थोक-मूल्यों के मूल्य सूचनांक दिये गये हैं :

तालिका ४
(आधार १९३९ = १००)

	थोक वस्तुएं			जीवन का व्यय[1]		
देश	१९३९	१९४५	१९५०	१९३९	१९४५	१९५०
ब्रिटेन	९५	१५५	२४६	१०३	१५२	१८४
अमरीका	८९	१२३	१८७	९७	१२८	१६७
फ्रांस	१०५	३७५	२,५२०	१२५	४३६	२,३२०
आस्ट्रेलिया	१००	१४०	२२५	१०५	१२९	१७०
भारत	९५	२३१	४१३	१००	२२२	३०२[2]

इसमें संदेह नहीं कि भारत की स्थिति फ्रांस जितनी बुरी नहीं है। किन्तु ब्रिटेन तथा अमरीका की अपेक्षा उसकी स्थिति बहुत बुरी है। ब्रिटेन ने 'स्टर्लिंग सम्पत्ति' के उपाय के चतुरतापूर्ण उपयोग, कठोर नियंत्रणों तथा बुद्धिमत्तापूर्ण राशन प्रणाली के उपायों द्वारा अपने यहां मुद्रा-स्फीति को नहीं पनपने दिया। अमरीका की अर्थ-व्यवस्था स्वाभाविक रूप से प्रबल है और उसकी उत्पादन क्षमता अत्यधिक है। साथ ही कोई देश

१. साधन—भारत सरकार का कृषि मन्त्रालय। २. १९५०–५१ के लिए।

कितना भी बुद्धिमान तथा प्रबल क्यों न हो, मूल्यों के युद्ध-पूर्व के स्तर पर नहीं पहुंच सका। किन्तु यदि उसने अपनी पहले की मुद्रा-प्रणाली का परित्याग कर दिया हो अथवा पुराने चलअर्थ की अत्यधिक परिमाण में मुद्रा-स्फीति होने दी हो तो बात ही दूसरी है। इस प्रकार से निश्चय से मुद्रा-स्फीति दूर हो जाती है किन्तु इसमें जनता को अत्यधिक कष्ट का सामना करना पड़ता है क्योंकि उसको अपनी पिछली बचत से हाथ धोना पड़ता है। निश्चय से भारत के विषय में इस प्रणाली के संबंध में विचार तक नहीं किया जा सकता। अतएव हमको उच्च मूल्यों की वर्तमान स्थिति को ही स्वीकार करना पड़ता है और इस बात के लिए यत्न करना पड़ता है कि प्रथम मूल्यों का आगे चढ़ना रोका जावे। और फिर उत्पादन बढ़ाकर लागत को यथासम्भव शीघ्र कम किया जाय। लागत कम करने से मूल्य अपने-आप गिरेंगे।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भारतसरकार का निम्नलिखित पग उठाने का विचार है :

(क) केन्द्र तथा राज्यों, दोनों ही में घाटे के बजट न बनाए जावें और यथासम्भव औचित्य तथा योग्यतापूर्वक सरकारी व्यय कम किये जावें। (ख) प्रत्यक्ष अथवा परोक्षकरों द्वारा यथासम्भव अधिक-से-अधिक आय बढ़ाना, किन्तु कर पहले से ही भारत में उच्च हैं। यहां तक कि नये कार्यों में पूंजी लगाने का साहस नहीं होता। अतएव नये कर अत्यन्त सोच-विचार कर ही लगाए जावें। (ग) अधिक खाद्य, कच्चे माल तथा उपभोक्ता माल का उत्पादन करना; (घ) विकास उद्देश्यों के लिए जनता से ऋण लेना; (ङ) बैंक की साख पर इस प्रकार नियन्त्रण लगाया जाय कि सट्टे का काम रुक जावे; (च) आवश्यक वस्तुओं के ऊपर कठोर राशन प्रणाली तथा नियन्त्रण लागू करके मूल्य चढ़ने से रोके जावें।

इन सभी उपायों से भारत में काम लिया गया है। किन्तु अनेक दिशाओं में विभिन्न प्रकार का उद्योग करने पर भी मूल्यों में पर्याप्त गिरावट नहीं आई। लागत-मुद्रास्फीति बढ़ी हुई है जिससे हमारे निर्यात कम हो रहे हैं। इसके फलस्वरूप हमारे व्यापार में घाटा है और हमको अपने रुपये का मूल्य डालर की अपेक्षा कम करना पड़ा है। मूल्यह्रास से, निस्संदेह उस समय हमारा व्यापार सन्तुलन ठीक हो गया, किन्तु उससे हमारे मूल्य चढ़ने लगे। नवम्बर १९५१ में बैंक-दर बढ़ाने के कठोर कार्य को भी किया गया। तब से वस्तुओं के थोक मूल्य गिर रहे हैं। १ मार्च १९५२ को समाप्त होने वाले सप्ताह में थोक मूल्यों का मूल्य सूचनांक ३९९ था, जबकि वह अप्रैल १९५१ में ४५८ था। माल एकत्रित हो जाने के कारण सरकार ने ऊन, मूंगफली के तेल और कुछ बीजों पर निर्यात-कर बिलकुल उठा दिया और रुई पर निर्यात प्रति गांठ ४०० रुपये से घटाकर २०० रु० कर दिया। उद्देश्य यह है कि वस्तुओं का निर्यात होता रहे तथा विदेशी निर्यात की आय बनी रहे। इस प्रकार हमारे उद्देश्यों का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है :

(क) सभी आवश्यक पदार्थों के मूल्य को उचित स्तर पर स्थायी करना; (ख) अधिक उत्पादन द्वारा मूल्यों को क्रमशः गिराना। किन्तु यह बात ध्यान रखने की है कि उनको ऐसे स्तर पर रोका जावे कि जिसमें उनकी लागत पूरी हो जाने के साथ-साथ मजदूरों को पर्याप्त मजदूरी मिले और उत्पादक को ऐसा पर्याप्त लाभ मिल जावे कि वह जीवन के उचित मान को बनाए रख सके। (ग) कष्टपीड़ित मध्यवर्ग के कष्टों को दूर करके उनकी सहानुभूति प्राप्त कर उस योजना में क्रियात्मक सहयोग प्राप्त करना, जिसकी इतनी अधिक आवश्यकता है।

बत्तीसवाँ अध्याय

सार्वजनिक राजस्व

१. सार्वजनिक राजस्व का महत्व । भारतीय आर्थिक प्रणाली की प्रवृत्ति भारतीय आर्थिक जीवन के विभिन्न रूपों पर बहुत बड़े परिमाण में प्रभाव डालती है। व्यापार, उद्योगधन्धों और कृषि की परिस्थितियां---जहां तक वह राज्य के समर्थन तथा संरक्षण पर निर्भर करती हैं---देश की आर्थिक रचना से आवश्यक रूप से प्रभावित हैं। यदि जनता निरक्षर है तो इसका केवल यही कारण है कि राज्य एक उचित कम समय में निरक्षरता दूर करने के लिए पर्याप्त द्रव्य नहीं निकाल सकता। अतएव, सार्वजनिक राजस्व का आर्थिक-जीवन पर ऐसा प्रभाव पड़ता है, जिसके विषय में सम्भवतः आवश्यकता से अधिक अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

इसके अतिरिक्त आजकल के समय में सार्वजनिक राजस्व ने एक नया महत्व प्राप्त कर लिया है। वह केवल उन्हीं साधनों का वर्णन नहीं करता, जिनसे राज्य अपनी आय को बढ़ाता है अथवा उनका व्यय करने का निर्देश करता है। इसके अतिरिक्त उसके पीछे एक उद्देश्य है। समाज में सम्पत्ति के विषम विभाजन को सम करने के एक साधन के रूप में उसका उपयोग किया जाता है। कर लगाने का उद्देश्य उतना रुपया प्राप्त करना मात्र ही नहीं है जितना एक ऐसे विशेष समाज से लेकर एकत्रित करना है, जो अधिक समृद्ध है तथा सार्वजनिक व्यय इस प्रकार किया जाता है कि उनसे निर्धनों को लाभ पहुंचे। इन दूरवर्ती उद्देश्यों के कारण सार्वजनिक राजस्व के अध्ययन को एक नया महत्व तथा रुचि प्राप्त हुई है।

२. भारत में सार्वजनिक राजस्व को प्रभावित करने वाले कुछ अंग। यह ऊपर कहा जा चुका है कि एक देश की आर्थिक-दशा वहां की सार्वजनिक राजस्व की प्रणाली से शासित होती है। एक देश के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक अंग भी वहां की आर्थिक प्रणाली पर अधिकतर शासन करते हैं। भारत के विषय में तो यह बहुत अधिक सत्य है। भारत की सार्वजनिक आय के साधन तथा उसके सार्वजनिक व्यय की मदें हमारी विशेष आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक दशाओं के परिणाम हैं।

भारत में सार्वजनिक राजस्व पर प्रभाव डालने वाले मुख्य अंग निम्नलिखित हैं:

(१) **प्रधानता से ग्रामीण रूप---गांव का अकेलापन तथा आत्मनिर्भरता**---गांव वालों की कुछ ऐसी मनोवृत्ति होती है कि उनके आसपास जो कुछ पैदा होता है वह उसी की खपत करते हैं। अतएव गांवों में आन्तरिक आबकारी केवल कुछ वस्तुओं तक ही सीमित रहती है। उदाहरणार्थ, नमक, चीनी, दियासलाई, मिट्टी का तेल तथा शराबें। इन सभी वस्तुओं के लिए गांव वाला बाहर की पूर्ति पर निर्भर करता है। यदि सार्वजनिक स्वास्थ्य, संवाद साधनों तथा यातायात साधनों की पूर्ण तथा योग्य प्रणाली को बनाए रखना है तो गांव को बिखरे हुए तथा उनके अकेलेपन के के लिए अधिक व्यय करना ही पड़ेगा।

(२) **कृषि पर निर्भरता**---जनता का लगभग दो-तृतीयांश भाग कृषि पर निर्भर करता है। जब जनता का एक बड़ा भाग एक विशेष व्यवसाय को अपनाता है

तो वह स्वाभाविक रूप से कर-प्रणाली में अधिक सहायता करेगा । यही कारण है कि प्रत्येक कृषक भारत की सार्वजनिक आय में कुछ-न-कुछ अवश्य देता है । जब कि अधिकांश कृषि-भिन्न-आजीविका वाले साफ छूट जाते हैं ।

इस प्रकार केवल खेती के ऊपर निर्भरता सार्वजनिक राजस्व को अन्य प्रकार से भी प्रभावित करती है । कृषि वर्षा पर निर्भर करती है, जो सदा ही समय पर, पर्याप्त अथवा समान रूप से विभाजित नहीं होती । समस्त कृषि-क्षेत्रफल का चार-पंचमांश से अधिक भाग अनिश्चित वर्षा पर निर्भर करता है । भारत की बरसाती हवाओं का अनिश्चित रूप बजट का हिसाब लगाने में भारी बाधा डालता है । इसी कारण भारतीय बजट को "बरसाती हवाओं में जुआ खेलना", कहा जाता है और जैसा कि इंडियन स्टेट्युटरी कमीशन का कहना है "उसके आने का विशेष प्रयोजन केवल किसान के लिए ही नहीं वरन् शासकों और यहां तक कि भारत के अर्थ-सदस्य के लिए भी है ।" वर्षा न होने से भूमि की आय घट जाती है । अनेक बार लगान माफ करना पड़ता है या वापिस करना पड़ता है तथा अकाल सहायता अथवा तकावी ऋणों पर व्यय करना पड़ता है । यह प्रभाव तो प्रान्तीय राजस्व पर पड़ता है किन्तु केन्द्रीय सरकार के राजस्व भी इस हानि से नहीं बच पाते । क्रयशक्ति घट जाने का प्रभाव आयातों, साधारण व्यापारिक कार्यों तथा रेलों की आय पर पड़ता है ।

(३) **निर्धनता**——भारत की निर्धनता के कारण हमारी कर देने की क्षमता कम है और इसीलिए हमारे करों की आय कम है। यह आगे कर लगाने के क्षेत्र को सीमित कर देती है । इसीलिए हमारा सार्वजनिक, स्वास्थ्य, शिक्षा तथा अन्य उपयोगी कार्यों अथवा 'राष्ट्र-निर्माण' कार्यों पर व्यय अत्यधिक कम होता है । इसका कारण करदाता की निर्धनता तथा राज्य के अत्यधिक सीमित साधन हैं ।

(४) **धन तथा कर लगाने में असमानताएं**——सम्पत्ति के विभाजन में भारी असमानताएं हैं और कर-विभाजन में भी उतनी ही गम्भीर विषमताएं हैं ।

(५) **केन्द्रित शासन की परम्पराएं**——भारत के पास केन्द्रित शासन की बड़ी लम्बी परंपराएं हैं और भारतीयों ने अनेक कार्यों के लिए सरकार के मुख की ओर देखा है । अतएव भारत में सार्वजनिक व्यय के विस्तार तथा बढ़ने की भारी आवश्यकता है । इसके अतिरिक्त केन्द्रीयकरण के द्वारा गांवों को स्वतंत्ररूप से स्वयं कार्य करने वाली पंचायतों का पतन होने के कारण स्थानीय राजस्व पृष्ठभूमि में जा पड़ा । भारत में——अन्य उन्नत देशों की तुलना में——स्थानीय राजस्व का महत्वपूर्ण स्थान है और वह पूर्णतया प्रान्तीय सरकार की सहायता पर निर्भर है ।

(६) **राजनीतिक अवस्था**——सैनिक व्यय का स्तर, वेतनों की दर तथा सार्वजनिक ऋण की प्रकृति हमारी वैधानिक स्थिति के परिणाम हैं ।

३. आर्थिक विकेन्द्रीकरण का इतिहास——सार्वजनिक राजस्व की भारतीय प्रणाली का ठीक-ठीक समझने के लिए हमको आर्थिक हस्तान्तरीकरण के इतिहास पर विचार करके यह देखना आवश्यक है कि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय राजस्वों का क्रमशः किस प्रकार विकास हुआ ।

सन् १८३३ तक प्रत्येक प्रान्त आर्थिक-विषय में स्वतन्त्र था । उस समय उनमें से सभी की आय स्वतन्त्र थी और वह उसको इच्छानुसार व्यय कर सकते थे ।

किन्तु १८३३ के चार्टर एक्ट (Charter Act) ने इस स्थिति में मौलिक परिवर्तन कर दिया । उसने विधान संबंधी केन्द्रीयकरण (Legislative Centra-

lization) की आधारशिला रखी, जिसके साथ आर्थिक केन्द्रीयकरण आ गया। अब सभी आय सपरिषद् गवर्नर-जनरल (Governor-General-in-Council) की आय मानी जाने लगी और प्रान्त केवल उसको एकत्रित करने तथा व्यय करने वाली एजेंसी मात्र बन गए। प्रान्तों को आय बढ़ाने में कोई रुचि नहीं थी। न उनको मितव्ययिता करने का ही कोई प्रलोभन था। वह अपनी मांग को यथासंभव अधिक-से-अधिक बढ़ाकर रखते थे, क्योंकि उनको "अज्ञात होने के कारण असीमित गर्त में से थैली निकालनी पड़ती थी।"

इसका उपाय केवल आर्थिक विकेन्द्रीकरण ही दिखलाई देता था। १८७१ में लार्ड मेयो ने कुछ ऐसे विभागों को प्रान्तों के हाथ में हस्तान्तरित कर दिया, जिनका रूप स्थानीय था, प्रान्तों को इन विभागों से तो आय होती ही थी, इसके अतिरिक्त उनको इन विभागों का खर्चा चलाने के लिए उन्हें निश्चित रकम का अनुदान भी मिलता था।

अगला पग लार्ड लिटन की सरकार ने १८७७ में उठा कर प्रान्तों को कुछ और विभागों के व्यय का उत्तरदायित्व दे दिया। स्थायी रकम के अनुदान के अतिरिक्त प्रान्तों को आय के कुछ साधन भी दिये गये।

सन् १८८२ में लार्ड रिपन के वायसराय काल में एक ऐसी प्रणाली चलाई गई, जिसको 'आय की विभक्त मदों की प्रणाली' कहा जाता था। पिछले बन्दोबस्त में यह कमी थी कि केंद्रीय सरकार वार्षिक अनुदान देती थी। वह प्रतिवर्ष वादविवाद की जड़ बन जाती थी। अतएव सन् १८८२ में इन वार्षिक अनुदानों को बन्द कर दिया गया और उसके स्थान में प्रान्तों को आय की कुछ विशेष मदें दी गई, जो केवल उनके ही लिए निश्चित कर दी गईं। उनके अतिरिक्त प्रान्तों का कुछ अन्य मदों में भाग भी रखा गया।

यह प्रणाली १९१९ के नये सुधारों के लागू होने तक बनी रही।

१९१९ के सुधार अधिनियम ने केंद्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों में आर्थिक सम्बन्ध को बिलकुल ही नया आधार प्रदान किया। आय की विभक्त मदों को बन्द कर दिया गया और केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों के साधनों की स्पष्ट विभाजक-रेखा बना दी गई। इसके अतिरिक्त प्रान्तों को उधार लेने तथा नये कर लगाने का अधिकार भी दे दिया गया।

मेस्टन निर्णय (Meston Award)—केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तों के बीच इस प्रकार साधनों का विभाजन कर देने से केन्द्र को ९ करोड़ रुपये का घाटा रहने लगा और प्रान्तों को १८ करोड़ रुपये की बचत होने लगी। इसलिए यह आवश्यक था कि जब तक केन्द्रीय आय इस घाटे को पूरा करने योग्य न बन जावे प्रान्त केन्द्र को अपनी ओर से देय के रूप में कुछ देते रहें। प्रान्तों द्वारा केन्द्र को दी जाने वाली रकम का निर्णय करने के लिए लार्ड मेस्टन की अध्यक्षता में एक कमेटी बनाई गई। इस कमेटी के निर्णय को मेस्टन-निर्णय (Meston Award) कहा जाता है। मेस्टन निर्णय की कटु आलोचना की गई। उसपर प्रत्येक प्रान्त की अपनी-अपनी आपत्तियां थीं। पंजाब, संयुक्त प्रदेश (अब उत्तर प्रदेश) और मदरास को यह आपत्ति थी कि उनके सिर पर अधिक आर्थिक भार डाला गया था। बम्बई तथा बंगाल को यह आपत्ति थी कि उनके आयकर जैसे आय के बड़े-बड़े साधनों को छीन लिया गया है। इस प्रणाली के विरुद्ध निम्नलिखित मुख्य आपत्तियां थीं—

(१) **अपने-अपने भाग का गलत बंटवारा**—केन्द्र तथा प्रान्तों में साधनों का बंटवारा करते समय उनकी संबंधित आवश्यकताओं का ध्यान नहीं रखा गया। केन्द्रीय

सरकारके कार्य न्यूनाधिक मात्रा में स्थायी थे। अतएव केन्द्रीय सरकार का व्यय भी बढ़ने की आशा नहीं थी, किन्तु केन्द्रीय सरकार के पास आयकर तथा तटकर जैसे आय बढ़ाने के साधन भी थे जबकि प्रान्तों के लोकहितकारी कार्य अथवा राष्ट्र-निर्माणकारी विभाग दिये गए थे। इस प्रकार की सेवाओं पर उनका व्यय अपने भाग का एक अंश तक नहीं था। इन सेवाओं में विस्तार करने की लगातार मांग की जा रही थी। अतएव, उनके ऊपर प्रान्तों के खर्च को अत्यधिक मात्रा में बढ़ना था। किन्तु प्रान्तीय साधनों में लोच नहीं थी।

(२) **अन्तर्प्रान्तीय विषमता को बढ़ाया गया**—एक और त्रुटि यह थी कि कुछ प्रान्तों का ऐसा विचार था कि उनके साथ ठीक-ठीक न्याय नहीं किया गया और वर्तमान विषमताओं को और बढ़ाया गया। बम्बई तथा बंगाल जैसे अत्यधिक उद्योग-प्रधान प्रान्तों को उनके आयकर जैसे एकमात्र उत्पादक साधन को छीन कर हानि पहुंचाई गई, जबकि पंजाब जैसा कृषि-प्रधान प्रान्त लाभ में रहा क्योंकि उसको भूमिकर की आय मिल गई जो उसके लिए एकमात्र महत्वपूर्ण आय-साधन था।

(३) **समाज के विभिन्न वर्गों में असमानता**—इस योजना का परिणाम यह भी हुआ कि विभिन्न वर्गों को पहुंचने वाले लाभों को दृष्टि में रखते हुए उनके द्वारा आय में अत्यन्त विषम देय दिया गया। प्रान्तीय कोष में अधिकतर धन किसानों से आता था। इसके विपरीत औद्योगिक तथा व्यापारी वर्गों वाले जो नागरिक क्षेत्रों में रहते थे और जिनको प्रान्तीय सरकार के कार्यों से अत्यधिक लाभ पहुंचता था—केन्द्रीय कोष में ही अपना भाग देते हैं। इससे प्रान्तों में विषम स्थिति उत्पन्न हो गई और कृषि-जीवियों तथा कृषिभिन्नजीवियों के सम्बन्ध खराब हो गए।

प्रथम महायुद्ध के बाद भारत की आर्थिक कठिनाइयां बढ़ गईं। युद्ध के बाद के पुनर्निर्माण, चलअर्थ तथा विनिमय की अस्थिरता, मूल्यों के उतार-चढ़ाव से व्यापारिक विकास में पड़ने वाली बाधा तथा सबसे अधिक उच्च वेतनों—इन सभी ने मिलकर प्रान्तों के बजट में घाटे उत्पन्न कर दिये। केन्द्रीय अर्थ-व्यवस्था की दशा भी उनसे अच्छी नहीं थी। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय दोनों ही सरकारों को भयंकर मितव्ययिता तथा अतिरिक्त कर लगा कर आर्थिक समानता वापिस लेने के लिए संघर्ष करना पड़ रहा था। मेस्टन-निर्णय के विरुद्ध प्रान्तों का विरोध बढ़ता जा रहा था।[1] १९२३ में केन्द्रीय सरकार की अर्थ-व्यवस्था में उन्नति हो जाने से प्रान्तों द्वारा दिये जाने वाले देय (Contribution) में क्रमशः कमी की जाने लगी। १९२७–२८ में उन्हें अस्थायी रूप में स्थगित करके १९२८–२९ में उनको अन्तिम रूप से समाप्त कर दिया गया।

किन्तु प्रान्तीय देयों के रोक देने से अन्तर्प्रान्तीय विषमता और भी अधिक बढ़ गई। देयों के कारण कृषि-प्रान्तों को कुछ अधिक देना पड़ता था, जिससे असमानता कुछ कम होती जा रही थी। अतएव उनके बन्द कर दिये जाने पर बम्बई तथा बंगाल जैसे औद्योगिक प्रान्तों का असन्तोष अधिक बढ़ गया।

४. **१९३५ के विधान के अनुसार आय का विभाजन**। १९३५ के अधिनियम के पास होने के पूर्व अनेक प्रकार की आर्थिक जांच की गई। उसके परिणामस्वरूप केन्द्र तथा प्रान्तों में आय का निम्न प्रकार से बंटवारा किया गया।

(क) **केन्द्रीय साधन**—तटकर, आयकर (कृषि आय से भिन्न आय), कारपोरेशन टैक्स, नमक कर, रेलवे आय, तम्बाकू तथा भारत में तैयार किये जाने वाले अन्य

---

१. देखो, मुडीमैन कमेटी की रिपोर्ट, पैरा ५३.

माल पर लगाया जाने वाला उत्पाद-कर (शराबों, नशीले पदार्थों तथा इन वस्तुओं वाली औषधियों तथा श्रृंगार सामग्रियों को छोड़कर), चलअर्थ तथा सिक्के ढालना, डाक तथा तार, टेलीफोन, बेतार तथा आकाशवाणी, सम्पत्ति-कर (कृषि-भूमि के करके अतिरिक्त), उत्तराधिकार कर (कृषि भूमि के उत्तराधिकार को छोड़ कर), चेकों, विनिमय-पत्रों आदि परिवर्तनीय दस्तावेजों पर स्टाम्प कर, साख कर, बीमा पालिसियां, कम्पनियों में मत देने के लिए प्रतिनिधि नियुक्ति पत्र, रेल द्वारा ले जाय जाने वाले माल तथा यात्रियों के किराये पर कर, सभी केन्द्रीय साधन थे। रेलों से होने वाली सारी आय केन्द्रीय रेलवे अधिकारियों को दी जाती थी और उसकी बचत को केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तों में इस प्रकार बांट दिया जाता था कि जिसकी प्रणाली को केन्द्रीय सरकार तय करती थी।

(ख) प्रान्तीय साधन—भूमि-राजस्व, सिंचाई कर, आबकारी कर (सभी शराबों, अफीम तथा नशीले पदार्थों तथा उन औषधियों तथा श्रृंगार सामग्रियों पर जिनमें ये वस्तुएं पड़ती हों), कृषि आयकर, भूमि तथा मकान आदि पर कर, कृषि-भूमि उत्तराकार कर, व्यक्ति कर, खनिजवस्तु अधिकार कर, व्यापारों, पेशों, कार्यों तथा नौकरियों पर कर, पशु कर, किसी स्थानीय क्षेत्र में बिक्री या खपत के लिए आने वाले माल पर लगने वाला कर, विज्ञापन तथा माल की बिक्री पर लगने वाला कर, आमोद-प्रमोदों, विलास-वस्तुओं, तमाशों, जुओं तथा शर्तबन्दी पर लगने वाले कर, स्टाम्प कर, रजिस्ट्रेशन कर, जल मार्गों द्वारा प्रान्त के अन्दर ले जाए जाने वाले यात्रियों तथा माल पर लगने वाले कर, औजारों तथा की हुई सेवाओं के शुल्क प्रान्तीय-कर थे।

निम्नलिखित करों को यद्यपि केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाया जाकर उसी के द्वारा वसूल किया जाना था, किन्तु उनको प्रान्तों को दे दिया जाना था—

(१) कृषि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर उत्तराधिकार कर, (२) चैकों, हुंडियों आदि पर स्टाम्प कर, (३) माल तथा यात्रियों पर टर्मिनल टैक्स, (४) माल-भाड़े तथा यात्रियों के किरायों पर खर्च।

निम्नलिखित करों की आय को संघ सरकार तथा प्रान्तों में आपस में बांट लिया जाता था—

(१) आयकर (कृषि आयकर के अतिरिक्त अन्य आय पर), (२) नमक कर, (३) तम्बाकू तथा भारत में बने उस माल का आबकारी कर, जो प्रान्तीय सूची में नहीं है, (४) निर्यात कर, पटसन निर्यात कर सहित, किन्तु संघीय अधिकारी इसमें तबतक भाग न देने के लिए स्वतन्त्र हैं, जबतक उनकी आर्थिक स्थिति उसकी अनुमति न दे।

५. नीमियर रिपोर्ट (Niemeyer Report) प्रान्तीय स्वतन्त्रता लागू करने के अवसर पर यह देखना आवश्यक हो गया कि नये वैधानिक प्रयोग की सफलता के लिए क्या-क्या आर्थिक सुधार किये जावें। अतएव, इस मामले की फिर जांच करना आवश्यक समझा गया। इस जांच के लिए १९३५ में सर ओटो नीमियर (Sir Otto Niemeyer) को नियुक्त किया गया। मुख्य समस्या आयकर के विभाजन की थी। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि बम्बई और बंगाल जैसे औद्योगिक प्रान्तों केन्द्रीय सरकार द्वारा आयकर लगाए जाने को कभी पसन्द नहीं किया।

अपने प्रस्ताव में उन्होंने दो बातों को विशेष रूप से ध्यान में रखा—

(१) केन्द्रीय सरकार की आर्थिक-स्थिरता और साख का मौलिक महत्व है,

अतएव उसमें किसी कार की बाधा नहीं आने देनी चाहिए और इसी कारण,

(२) वह प्रान्तों को ऐसी आर्थिक सहायता देने का प्रस्ताव करना चाहते थे कि प्रान्तीय स्वशासन के आरम्भ में, जिसका उनके पास होना आवश्यक था और उनके पास काम चलाने योग्य उचित बचत का होना भी आवश्यक था। उन्होंने प्रस्ताव किया कि संयुक्त प्रदेश (अब उत्तर-प्रदेश), आसाम, उड़ीसा, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त और सिन्ध को नकद वार्षिक सहायता दी जावे और उड़ीसा तथा सिन्ध को अनावर्त्तक सहायता दी जावे।

मुख्य प्रस्ताव आयकर के विभाजन के सम्बन्ध में था। लगभग १२ करोड़ रुपये के आयकर में से आधा अर्थात् ६ करोड़ रुपया प्रान्तों को अन्तिम रूप में दिया जाना था। किन्तु प्रथम पांच वर्षों में प्रान्तों को कुछ भी नहीं देना था। प्रान्तीय स्वतन्त्रता के छठे वर्ष से उनको छः बराबर-बराबर किश्तों में उनका पूरा भाग दिया जाना था। यह भी प्रस्ताव किया गया कि जबतक केन्द्र के पास विभाजन करने योग्य आयकर तथा रेलवे आय की रकम मिला कर कम-से-कम १३ करोड़ रुपये न हो जावें, आयकर का कोई विभाजन न किया जावे। दूसरे शब्दों में आयकर के विभाजन को रेलवे आय पर निर्भर बना कर आकस्मिक रूप दे दिया गया। प्रान्तों को दिये जाने वाले आधे भाग को भी मूल निवास, जनसंख्या आदि के किसी निश्चित आधार पर विभाजित न करके प्रान्तों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए तय किया गया था। उदाहरणार्थ, बम्बई तथा बंगाल में से प्रत्येक को बीस-बीस प्रतिशत दिया गया, जबकि पंजाब में केवल ८ प्रतिशत ही दिया गया।

बंगाल, बिहार, आसाम, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त तथा उड़ीसा के समस्त ऋण को माफ कर दिया गया। मध्यप्रान्त के १९३६ से पूर्व के बजट के घाटों के ऋण तथा १९२१ से पूर्व के अन्य ऋणों को माफ कर दिया गया।

एक अन्य महत्वपूर्ण प्रस्ताव था—पटसन के निर्यात कर के विभाजन में १२॥ प्रतिशत की वृद्धि, जिससे पटसन उगाने वाले प्रान्तों को जूट निर्यात करके ५९ प्रतिशत भाग के स्थान में ६२॥ प्रतिशत भाग मिलने लगे।

सर ओटो को अनेक परस्पर विरोधी दावों को तय करना था। अतएव यह स्वाभाविक था कि वह सभी को सन्तुष्ट न कर सके। जिनको नकद सहायता न मिल सकी उन्होंने स्वाभाविक रूप से यह शिकायत की कि उनके दावों की उपेक्षा की गई। और जिनको सहायता मिल गई उनका कहना था कि उनको पर्याप्त सहायता नहीं मिली। इस निर्णय को अन्यायपूर्ण तथा स्वेच्छाचारी बतलाया गया। किन्तु यह विश्वास करने के कारण हैं कि प्रान्तों को इस प्रकार सन्तुष्ट नहीं किया गया, जैसे वह दिखलाई देते थे। वह अत्यधिक विरोध प्रदर्शित कर रहे थे। तौ भी नीमियर निर्णय को सन्तोषजनक समझा जा सकता है।

द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ हो जाने के कारण कुछ इस प्रकार की परिस्थिति बन गई कि आयकर के विभाजन के सम्बन्ध में नीमियर योजना में फरवरी १९४० में संशोधन करना पड़ा। सन् १९३९ से लेकर १९४२ तक के तीन वर्षों का केंद्र का भाग गत तीन वर्ष के ओसत के आधार पर ४॥ करोड़ रुपये निश्चित किया गया। इस संशोधित प्रणाली को १९४६–४७ तक के लिए बढ़ा दिया गया और उसके बाद केन्द्रीय सरकार द्वारा रखे जाने वाले आयकर के प्रान्तीय भाग को क्रमशः कम कर दिया जावेगा। पुरानी योजना के अनुसार प्रान्तों को रेलवे आय तथा आयकर के बड़े भाग का लाभ मिलता था और इन दोनों में युद्ध-परिस्थिति के कारण विशेष वृद्धि हो गई थी। केन्द्रीय सर-

कार द्वारा युद्ध की हानि को सहन करने के कारण उचित यही था कि उसके लाभ का अधिकांश भी उसी को मिले। किन्तु यह अनुमान लगाया गया कि नये प्रबन्ध से प्रान्त भी घाटे में नहीं रहे।

६. देशमुख निर्णय (Deshmukh Award) नीमियर निर्णय विभिन्न प्रान्तों के आयकर के उनके भाग के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी दावों को निपटाने में सफल नहीं हो सका। कुछ प्रान्तों ने इस निर्णय का बाद तक भी विरोध किया।

देश का विभाजन होने के कारण नीमियर निर्णय में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया। भारत सरकार ने नवम्बर १९४९ में रिजर्व बैंक के भूतपूर्व गवर्नर और वर्तमान अर्थमंत्री श्री चिंतामणि देशमुख को आयकर तथा पटसन पर निर्यात-करके उचितविभाजन में अपना निर्णय देने के लिए आमन्त्रित किया। पाकिस्तान की स्थापना से भारत से बंगाल, आसाम तथा पंजाब के भागों तथा समस्त सिध एवं पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त को काट दिया गया। इसके परिणामस्वरूप आयकर की विभाज्य आय की रकम को बढ़ा दिया गया। श्री देशमुख को यह काम दिया गया था कि वह (क) विभाजित बंगाल, पंजाब और आसाम के भाग को उनकी नई सीमा को दृष्टि में रखते हुए फिर तय करें; तथा (ख) उनसे बची हुई आय को भारतीय संघ के प्रान्तों में पुनर्विभाजित करें। कुछ नये सिद्धान्तों के अनुसार आय का नये सिरे से पुनर्वितरण करना उनका काम नहीं था क्योंकि उसमें भारी परिवर्तन होने के कारण भयंकर आर्थिक अड़चनें आने की संभावना थी। इस विषय पर १९५२ में नियुक्त किये जाने वाले अर्थ कमीशन (Finance Commission) को नये सिरे से विचार करना था। इसलिए श्री देशमुख ने उसी पुरानी पद्धति से विचार करके परम्परानुसार ही निर्णय दिया। वह नीमियर निर्णय की पुनरुक्ति मात्र ही था।

विभाजन के फलस्वरूप बंगाल तथा पंजाब के प्रतिशत भाग को २० प्रतिशत तथा ८ प्रतिशत से घटा कर क्रमशः १२ प्रतिशत तथा ५ प्रतिशत कर दिया गया। इस कमी के कारण तथा सिन्ध एवं सीमाप्रान्त के भाग के बच जाने के कारण श्री देशमुख के हिसाब के अनुसार आयकर का विभाज्य भाग १९४८ की अपेक्षा १४·५ प्रतिशत बढ़ गया। श्री देशमुख ने उसका निम्नलिखित प्रकार से बंटवारा किये जाने का प्रस्ताव किया—

प्रान्त	आरंभिक मौलिक भाग	अतिरिक्त योग	योगफल
बम्बई	२०	१	२१
मदरास	१५	२·५	१७·५
पश्चिमी बंगाल	१२·५	१	१३·५
उत्तर-प्रदेश	१५	३	१८
मध्य प्रदेश और बरार	५	१	५
पूर्वी पंजाब	४	१·५	५·५
बिहार	१०	२·५	१२·५
उड़ीसा	२	१	३
आसाम	२	१	३

जूट के निर्यात-कर में से प्रान्तों को नए सिरे से विचार करने पर निम्न भाग मिला—पश्चिमी बंगाल १०५ लाख रुपये, आसाम ४० लाख रुपये, बिहार ३५ लाख रुपये तथा उड़ीसा ५ लाख रुपये।

किन्तु देशमुख-निर्णय का भी उसी प्रकार का स्वागत हुआ जैसा नीमियर-निर्णय का किया गया था। कोई भी राज्य उससे सन्तुष्ट नहीं हुआ। जिनको अधिक मिला वह और भी अधिक लेना चाहते थे। जिनको कम मिला वह तो घाटे में थे ही। श्री-देशमुख सभी को किसी प्रकार भी सन्तुष्ट नहीं कर सकते थे। अतएव उन्होंने असन्तोष का भी समान अनुपात में विभाजन कर दिया। सभी राज्यों के इस असन्तोष से सम्भवतः यह प्रकट होता है कि उक्त निर्णय को उनमें से किसी ने भी पसन्द नहीं किया। किन्तु यह एक अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण और उचित निर्णय था और श्री देशमुख ने विभाजन ठीक किया।

७. नये विधान की आर्थिक व्यवस्थाएं। भारत के नये विधान में १९३५ के अधिनियम में दी हुई आर्थिक-व्यवस्था को व्यवहारतः स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। इस प्रकार केंद्रीय सरकार, आगे भी तटकरों, केन्द्रीय आबकारी, कारपोरेशन कर सहित आयकर, डाकखानों तथा तार, रेलों की आय को लेती रहेगी। राज्य सरकारें भूमि-कर, जंगलात, स्टाम्प, रजिस्ट्रेशन, प्रान्तीय आबकारी कर, कृषि आयकर तथा अन्य करों को लेती रहेंगी, जिनमें वह पेशों, व्यापारों,व्यवसायों, नौकरियों, बिक्री-कर, मनोरंजन कर, शर्तबंदी पर कर तथा चल-सम्पत्ति पर कर लेती रहीं। श्री नलिनी रंजन सरकार की अध्यक्षता में बनी हुई विशेषज्ञ कमेटी ने सिफारिश की कि वर्तमान अस्थायी दशाओं को ध्यान में रखते हुए वर्तमान विभाजन को बने रहने दिया जावे। वर्तमान विधान के लागू होने से पांच वर्ष तक के लिए वर्तमान व्यवस्था को जारी रहने दिया गया। पांच वर्ष के बाद अर्थ-कमीशन समस्त समस्या पर नये सिरे से विचार करेगा।

विशेषज्ञ समिति की सिफारिशों के अनुसार केन्द्र के पास निम्नलिखित करों की समस्त आय रहेगी—(क) तटकर निर्यात कर सहित, (ख) सम्पत्ति आदि के पूंजी मूल्य पर कर, (ग) रेलवे के यात्री तथा माल किरायों पर कर, तथा (घ) तम्बाकू के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर केन्द्रीय आबकारी कर। कुछ करों की कुल आय में केन्द्र तथा राज्य सरकारों दोनों का भाग रखा गया। वह यह हैं—(क) कारपोरेशन कर सहित आय कर, (ख) तम्बाकू पर केन्द्रीय आबकारी कर, (ग) जायदादों तथा उत्तराधिकार पर कर। पटसन उत्पादक प्रान्तों को १० वर्ष तक के लिए कुछ निश्चित सहायता दी गई। किन्तु इससे अन्य प्रान्तों को निर्यात करों में भाग मांगने का प्रोत्साहन मिला, उदाहरणार्थ—आसाम चाय के निर्यात कर में भाग मांग रहा है। संघीय स्टाम्प कर तथा माल पर टर्मिनल टैक्स, औषधियों तथा श्रृंगार सामग्रियों आदि पर आबकारी कर का प्रबन्ध तो केन्द्र के हाथ में रखा गया, किन्तु यह निश्चय किया गया कि उसको पूर्णतया प्रान्तों के लाभ में खर्च किया जावे। आसाम तथा उड़ीसा को पहले से कहीं बड़ी सहायता देना तय किया गया। पश्चिमी बंगाल तथा पंजाब को भी एक सीमित अवधि तक सहायता देने का निश्चय किया गया। तम्बाकू का कम-से-कम ५० प्रतिशत भाग अनुमानित उपभोग के आधार पर प्रान्तों में बांटना तय किया गया, उत्तराधिकार तथा स्थायी सम्पत्ति कर का कम-से-कम ६० प्रतिशत प्रान्तों में निम्नलिखित आधार पर बांटना तय किया गया : वास्तविक सम्पत्ति पर कर को सम्पत्ति के स्थान के आधार पर बांट दिया जावे और शेष में से तीन चतुर्थांश को जनसंख्या के आधार पर।

इस बात की व्यवस्था की गई है कि भविष्य में एक अर्थ कमीशन (Finance Commission) नियुक्त किया जावे, जो (क) केन्द्र द्वारा शासित करों में प्रान्तों का भाग निश्चित करे, (ख) प्रान्तों द्वारा सहायता के लिए दिये हुए प्रार्थना-पत्रों पर विचार करके उनके सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट दे और (ग) राष्ट्रपति द्वारा सौंपे

हुए अन्य विषयों के सम्बन्ध में विचार करके उन पर रिपोर्ट दे। इस कमीशन की स्थापना की जा चुकी है। यह कमीशन प्रत्येक पांच वर्ष के बाद परिस्थिति की आलोचना किया करेगा। इस व्यवस्था के अतिरिक्त हमारे विधान में यह भी व्यवस्था है कि राष्ट्रपति अनिवार्य आवश्यकता के समय विधान की सामान्य आर्थिक निवेशों (Provisions) को चाहे जब रोक सकते हैं अथवा उनमें परिवर्तन कर सकते हैं। इन व्यवस्थाओं के कारण भारतीय आर्थिक प्रणाली में अत्यधिक लोच उत्पन्न हो गई है।

भारत में सार्वजनिक अर्थ-प्रबन्ध का रूप अधिकतर इस बात पर निर्भर करेगा कि राष्ट्र-निर्माण अथवा विकास कार्यों के व्यय का उत्तरदायित्व केन्द्र ले अथवा राज्य लें। वर्तमान स्थिति में राज्य की आय अत्यन्त अपर्याप्त है और वह आधुनिक ढंग पर सामाजिक सेवाओं को बनाये नहीं रख सकते और केंद्रीय सरकार के पास भी अपने खर्चे से अधिक इतना धन नहीं है कि वह अपनी भारी बचत से राज्यों की सहायता कर सके। प्रान्तीय स्वतन्त्रता के पक्ष में आज अत्यन्त प्रबल भावनाएं हैं, किन्तु जब तक प्रान्तीय आय के विकास से उसकी सम्पुष्टि नहीं की जा सकती, केंद्र का शासन बना ही रहेगा। जन-संख्या, जन्म अथवा आवश्यकता आदि के आधार पर प्रान्तों के अन्दर विभाजन की वर्तमान आवश्यक प्रणाली को बना ही रहने देना होगा।

८. **देशी राज्यों का आर्थिक एकीकरण**। देशी राज्यों के भारतीय संघ में प्रवेश करने से यह समझा जाता है कि प्रांतों तथा देशी राज्यों का अन्तर मिट जावेगा और संघीय अर्थप्रबन्ध के एकरूप नमूने का विकास किया जावेगा। इस उद्देश्य के लिए श्री वी. टी. कृष्णमचारी की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की गई थी। उक्त कमेटी के प्रस्तावों के अनुसार केन्द्रीय सरकार ने १ अप्रैल १९५० से भारत के देशी राज्यों के केन्द्रीय विषयों के लिए आर्थिक प्रबन्ध तथा उत्तरदायित्व को अपने हाथ में ले लिया। किन्तु देशी राज्यों की अर्थ-व्यवस्था में अचानक गड़बड़ी न होने देने के लिए यह निश्चय किया गया कि आवश्यक आर्थिक तथा शासन सम्बन्धी प्रबन्धों को १० वर्ष के अन्दर-अन्दर किया जावे। इस प्रकार एकीकरण की प्रणाली धीरे-धीरे सम्पन्न की जावेगी और उस एकीकरण के पूर्ण होने तक राज्यों में केन्द्रीय विषयों के वास्तविक शासन के कार्य को सरकारों के हाथ में केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में छोड़ दिया जावेगा। राज्यों तथा राज्य-संघों की इस आंतरिक अर्थप्रबन्ध-रचना को प्रान्तों की रचना के जैसी भी बनाना है। अतएव राज्यों के अधिकार तथा उत्तरदायित्व भी प्रान्तों के समान होंगे। राज्यों को प्रान्तों के समान केन्द्रीय सरकार से अनुदान, आर्थिक सहायता आदि प्राप्त करने का अधिकार होगा।

१ अप्रैल १९५० से केन्द्रीय सरकार ने सभी राज्यों में आयकर, केन्द्रीय आबकारी कर तथा अन्य केन्द्रीय करों को लगा दिया और केन्द्रीय सरकार ने सभी राज्यों के लिए रक्षा, रेलवे, डाक तथा तार, अन्तरिक्ष विज्ञान (Meteorology) तथा आकाशवाणी जैसे कार्यों को करना आरम्भ कर दिया। आयात-निर्यात कर जैसी आन्तरिक व्यापारिक-बाधाओं को दूर कर दिया गया और आज भारत एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य कर रहा है।

९. **अर्थ-कमीशन (१९५२) की मुख्य सिफारिशें**। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हमारे नये विधान में इस बात की व्यवस्था की गई कि विधान के लागू होने के पांच वर्ष बाद एक अर्थ-कमीशन नियुक्त किया जावेगा, जो कि कुछ विषयों के अतिरिक्त केन्द्र द्वारा शासित करों में विविध प्रान्तों का भाग निश्चित करेगा। अतएव, १९५२ में इस कमीशन की स्थापना हुई। इस कमीशन ने ३१ दिसम्बर १९५२ को अपनी रिपोर्ट

राष्ट्रपति के सम्मुख पेश कर दीं। भारत सरकार ने कमीशन की मुख्य सिफारिशों को स्वीकार कर लिया है।

कमीशन के ५ प्रस्तावों के अनुसार लगभग ८६ करोड़ रु. के वार्षिक साधनों को केंद्र से लेकर राज्यों को हस्तान्तरित कर दिया गया है और राज्यों की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने की चेष्टा की गई है।

कमीशन के मुख्य प्रस्ताव निम्नलिखित हैं :—

(क) आय-कर की कुल शुद्ध आय में से राज्यों का भाग ५० प्रतिशत से बढ़ाकर ५५प्रतिशत कर दिया गया है।

(ख) जूट कर के स्थान पर आसाम, बिहार, उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल को केन्द्र द्वारा दिये गये अनुदानों में वृद्धि।

(ग) तम्बाकू, दियासलाई और बनस्पति-घी पर केन्द्रीय उत्पादन करों की आय में से राज्यों को कुछ भाग देने की व्यवस्था।

(घ) कमीशन ने यह भी प्रस्ताव किया है कि कुछ ऐसे राज्यों को, जिन्हें सहायता की आवश्यकता है, आगे से अधिक अनुदान केन्द्र द्वारा दिये जाएं।

(ङ) कुछ अल्पविकसित राज्यों को आरम्भिक शिक्षा के विस्तार के लिये केन्द्र द्वारा अनुदान।

आयकर की विभाज्य आय को विविध राज्यों में इस प्रकार बांटा गया है—

राज्य	कमीशन की सिफारिश प्रतिशत	राज्य	कमीशन की सिफारिश प्रतिशत
आसाम	२·२५	पेप्सू	०·७५
बिहार	९ ७५	पंजाब	३·२५
बम्बई	७१·५०	राजस्थान	३·५०
हैदराबाद	४·५०	सोराष्ट्र	१·००
मध्यभारत	१·७५	ट्रावनकोर-कोचीन	२·५०
मध्यप्रदेश	५·२५	उत्तर प्रदेश	१५·७५
मदरास	१५·२५	पश्चिमी बंगाल	११·२५
मैसूर	२·२५	उड़ीसा	३·५०

तम्बाकू, दियासलाई और वनस्पति पर केंद्रीय उत्पादन करों की आय का ४० प्रतिशत विविध राज्यों में इस प्रकार विभक्त किया गया है :

राज्य	प्रतिशत	राज्य	प्रतिशत
आसाम	२·६१	उड़ीसा	४·२२
बिहार	११·६०	पैप्सू	१·००
बम्बई	१०·३७	पंजाब	३·६६
हैदराबाद	५·३९	राजस्थान	४·४१
मध्यभारत	२.२९	सौराष्ट्र	१·१९
मध्यप्रदेश	६·१३	ट्रावन्कोर-कोचीन	२·६८
मदरास	१६·४४	उत्तर-प्रदेश	१८·२३
मैसूर	२·६२	पश्चिमी बंगाल	७·१६

कमीशन की सिफारिशों के अनुसार जूट-कर के स्थान पर निम्नलिखित अनुदान दिये जायंगे :—

(रु० लाखों में)

पश्चिमी बंगाल	१५०	बिहार	७५
आसाम	७५	उड़ीसा	१५

कमीशन ने यह भी प्रस्ताव किया है कि कि राज्यों के राजस्व का विस्तारपूर्वक अध्ययन करने के लिए एक छोटी-सी संस्था स्थापित की जावे। यह संस्था राजस्व-संबंधी आंकड़े भी एकत्रित करे।

यह हर्ष की बात है कि कमीशन की सिफारिशों का प्रायः सारे देश में स्वागत किया गया है और कमीशन के निर्णय को संतोषजनक तथा न्याययुक्त निर्णय कहा जा रहा है।

तैंतसीवाँ अध्याय

केन्द्रीय अर्थप्रबन्ध

१. **प्रस्तावना** । पिछले अध्याय में हम भारतीय अर्थ-प्रबन्ध प्रणाली को प्रभावित करने वाले अंगों का अध्ययन कर चुके हैं। साथ ही हम केन्द्रीय तथा प्रान्तीय अर्थ-प्रबन्ध के सम्बन्ध के विकास का वर्णन भी पढ़ चुके हैं। प्रस्तुत अध्याय में केंद्रीय अर्थ-प्रबन्ध का अध्ययन किया जावेगा। भारत सरकार की आय की प्रधान मद ये हैं—तटकर, केन्द्रीय उत्पाद कर (Excise), निगमकर, (Corporation Tax) आयकर, नमक, अफीम, रेलवे, जलसिंचन, (Irrigation), डाकखाने तथा तार, ऋण सेवाएं, असैनिक-प्रशासन (Civil Administration), चलअर्थ तथा टकसाल, असैनिक कार्य (Civil Works) तथा विभिन्न सार्वजनिक विकास, रक्षा-सेवाएँ, भारतीय राज्यों से कर रूप में भेंट आदि।

अब आय की सभी प्रधान मदों के विषय में थोड़ा-थोड़ा विचार किया जाता है:—

२. **तटकर** (Customs) । तटकर में आयातकर तथा निर्यात कर दोनों को गिना जाता है। स्वतंत्रता के प्रथम युद्ध (Mutiny) से पूर्व आयात कर ५ प्रतिशत से कम था। किन्तु स्वतन्त्रता के प्रथम युद्ध की घटना के बाद होने वाली आर्थिक तंगी के बाद उसको बढ़ाकर १० प्रतिशत कर दिया गया। किन्तु इंग्लैंड के निहित स्वार्थों वाले औद्योगिकों के आन्दोलन तथा मुक्त व्यापार के प्रचार के कारण आयात कर को १८७५ में प्रथम तो घटा कर ५ प्रतिशत कर दिया गया और बाद में १८८२ में बिलकुल उड़ा दिया गया।

तौ भी, भारत सरकार की विनिमय कठिनाइयों के कारण उसको १८९४ में ५ प्रतिशत आयात कर लगाने को फिर विवश होना पड़ा। इस पर लंकाशायर में प्रतिरोध का तूफान खड़ा हो गया। अतएव लंकाशायर के निर्माताओं को सन्तुष्ट करने के लिए २० नम्बर तथा उसके ऊपर के नम्बरों वाले सूत पर ५ प्रतिशत उत्पाद कर (Excise Duty) लगा दिया गया। किन्तु इससे उसको सन्तोष नहीं हुआ। अतएव कटपीस के सूती माल पर आयात कर को घटा कर ३½ प्रतिशत कर दिया गया। भारत में बने कटपीस के सूती माल पर भी ३½ प्रतिशत उत्पाद-कर लगा दिया गया। इसको राजनीतिक शक्ति का दुरुपयोग माना गया और भारतीय नेताओं ने इसकी उचित रूप से प्रबल आलोचना की।

उसके बाद भी आयात-कर आर्थिक संकट के अनुसार समय-समय पर बढ़ाए गए। किन्तु वस्त्र उत्पाद-कर ३½ प्रतिशत की दर से १९२६ में पूर्णतया बन्द किये जाने तक बराबर बना रह। युद्ध (१९१४–१८) के समय आयात कर की सूची का पूर्णतया नवनिर्माण किया गया और १९२४ में जब विभेदात्मक संरक्षण की नीति अपनाई गई तो उसे रक्षात्मक कर सूची के रूप में बदल दिया गया। तटकर की आय सरकार की मुख्य आय रही है और जब कभी सरकार पर आर्थिक संकट आया, जैसा कि सन् १९३० के आसपास आया था, तो उसी ने सरकार की रक्षा की। १९५४–५५ के

बजट में इस साधन की आय १७५ करोड़ रुपये होने का अनुमान किया गया है। १९५४–५५ के बजट में वित्त-मंत्री ने तटकरों में निम्नलिखित परिवर्तनों का सुझाव रखा : (क) सुपारी पर आयात कर ६$\frac{३}{४}$ आने प्रति पौंड के हिसाब से बढ़ाया जायगा। (ख) कुछ पदार्थों, जैसा कि प्लास्टिक तथा बिजली के तार, बिजली के पंखे इत्यादि पर कर बढ़ा दिये जायंगे। (ग) कपास तथा इस्पात के कुछ पदार्थों पर आयात कर बिलकुल हटा दिये जायंगे।

१९३२ के ओटावा व्यापार संधि तथा १९३९ के भारत-ब्रिटिश व्यापार समझौते द्वारा शाही रियायत (Imperial Preference) के सिद्धान्त को चलाया गया। अब निर्यात कर केवल कच्ची तथा पक्की खालों तथा पटसन पर लगाया जाता है। १९४८–४९ में तिलहनों तथा बनास्पति तेलों पर भी निर्यात कर लगाया गया, किन्तु १९४९–५० के बजट में उसे बन्द कर दिया गया। तौ भी, १९४९–५० में सिगार तथा सिगरेटों पर एक नया निर्यात कर लगाया गया।

मुद्रा-स्फीति का मुकाबला करने के लिए नवम्बर १९४८ में निकाले हुए एक अध्यादेश (Ordinace) द्वारा तटकर सूची में कुछ ऐसे परिवर्तन किये गये, जिनसे कुछ विलास सामग्रियों पर कर बढ़ा दिया गया। १९४९–५० के बजट में भी इस प्रणाली को जारी रखा गया। १९५३–५४ के बजट में कुछ अर्ध-विलास सामग्रियों पर भी तटकर बढ़ा दिये गये हैं। मोटरों, हीरे जवाहरात तथा कराकरी पर भी आयात कर बढ़ा दिये गये हैं। इसके विपरीत पैन्सीलिन, ऐन्टीबाईओटकस, सल्फा ड्रगस, बच्चों का दूध इत्यादि पर आयात कर घटा दिया गया है।

३. आयकर। स्वतंत्रता के प्रथम युद्ध (Mutiny) के कारण आई हुई आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए आयकर को प्रथम बार १८६० में लगाया गया था। वर्ष की आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार इसमें समय-समय पर परिवर्तन किये गए। किंतु महत्त्वपूर्ण परिवर्तन प्रथम १९०३ में तब किये गए, जब कर देने योग्य न्यूनतम आय को ५०० से बढ़ाकर २०००) रु. कर दिया गया। बाद में १९१६ में आयकर की दर में फिर सुधार किया गया तथा अनुक्रम (Progression) के सिद्धान्त को लागू किया गया। १९३१ में कर योग्य न्यूनतम आय को घट कर १०००) रुपये कर दिया गया और आयकर तथा उच्च-कर (Super Tax) पर अधिभार (Surcharges) लगाए गए और उच्च कर (Super Tax) पहले पहल लगाया गया। १९३५ में करमुक्ति सीमा को फिर २००० रुपये कर दिया गया. जिसे बढ़ाकर १९४८ में ३०००) रु० तथा १९५० में ३६००) रु० कर दिया गया। १९३९ में अधिभारों (Surcharges) को बंद करके उन्हें १९४०–४१ में फिर लगा दिया गया। १९५३–५४ के बजट में व्यक्ति के लिए करमुक्ति सीमा को बढ़ाकर ४२०० रुपये और हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के लिए करमुक्ति सीमा को ८४०० रुपये कर दिया गया।

१९३५ में भारत सरकार ने भारतीय आयकर प्रणाली में विस्तृत जांच करने के लिए एक समिति बनाई। उसकी सिफारिशों के अनुसार १९३९ में एक महत्त्वपूर्ण कानून पास किया गया। १९३९ के आयकर अधिनियम (Income-tax Act) में अनेक आवश्यक सुधार किये गए। उसमें पिछली 'सीढ़ी' प्रणाली (Step System) के स्थान पर 'पटिया' प्रणाली (Slab System) को रखा गया। पिछली प्रणाली के अनुसार समस्त आय का हिसाब उसी दर से लगाया जाता था। किन्तु नई प्रणाली में आय को टुकड़ों में बांट दिया गया था और बाद के प्रत्येक टुकड़े पर उच्चतर दर से कर लगाया

जाता था। इस प्रणाली से आयकर का परिमाण बढ़ जाता था, अल्पसंख्यक धनिकों पर अधिक दण्ड पड़ता था, तथा निर्धन करदाता को कुछ चैन की सांस मिलती थी। भारतीय आयकर अब अधिक औचित्यपूर्ण है। इसके अतिरिक्त इस अधिनियम में सभी छिद्रों को बंद करने के उपाय किए गए हैं तथा आयकर क़ानून से बच निकलना कठिन बना दिया गया है। इसके द्वारा न्यूनतम कर योग्य आय से अधिक कमाने वाले सभी व्यक्तियों के लिए यह अनिवार्य कर दिया गया कि वह अपनी आय का हिसाब उपस्थित करें। यदि वह फ़ार्म न मांगें अथवा उसे भर कर न भेजें तो उसके लिए उसमें दंड का विधान किया गया है। इस अधिनियम के अनुसार पति तथा पत्नी की संयुक्त आय पर भी कर लगाया जा सकता है। समस्त प्रणाली को समय के अनुसार पूर्ण कर लिया गया है। इस अधिनियम के द्वारा हमारी आयकर प्रणाली में बड़ी भारी उन्नति देखने में आई। भारतीय आयकर की दर यूरोप में ली जाने वाली दर की अपेक्षा कम है।

हमारी आयकर पद्धति में दो त्रुटियां हैं—प्रथम, हमारी प्रणाली में निर्भर करने वालों (Dependents) की संख्या पर कोई विचार नहीं किया जाता। इकाई केवल व्यक्ति नहीं, वरन् परिवार है। औचित्य की यह मांग है कि समान आय वाले दो व्यक्तियों में से बड़े परिवार वाले से कम लेना चाहिए। इंग्लैंड में इस प्रकार की कटौती या परिवार का भत्ता मुजरे दिया जाता है। यह कहा जाता है कि भारत में परिवार के एक सार्वजनिक तत्व होने के कारण लगभग प्रत्येक व्यक्ति को कटौती देनी पड़ेगी। इससे शासन संबंधी कठिनाइयां आवेंगी तथा आयकर के शासन-प्रबंध का व्यय बढ़ जावेगा। दूसरे, अनेक प्रान्तों में कृषि संबंधी आय को भले ही वह कितनी भी बड़ी क्यों न हो—आयकर से मुक्त रखा गया है। यह हमारी प्रणाली में एक बड़ी भारी कमी है। यह दोनों सुधार बहुत आवश्यक हैं।

द्वितीय महायुद्ध के समय कर लगाने योग्य ३०,०००) रुपयों की न्यूनतम आय से ऊपर ५० प्रतिशत की दर से अतिरिक्त लाभकर (Excess Profits Tax) युद्धकाल में कमाये हुए लाभ पर लगाया गया। बाद में इसको बढ़ाकर ६६⅔ प्रतिशत कर दिया गया। आयकर के ऊपर अधिभार (Surcharge) भी प्रथम २५ प्रतिशत की दर से और बाद में ३३⅓ प्रतिशत की दर से बढ़ा कर लगाया गया। अतिरिक्त आयकर को ३१ मार्च १९४६ को बंद कर दिया गया। तौ भी, १९४७–४८ के बजट में व्यवसाय लाभ कर (Business Profits Tax) लगाया गया। इस कर का व्यापारी वर्ग ने यह कहकर विरोध किया कि इससे नई पूंजी लगाने की मनोवृत्ति में अनुत्साह होगा तथा औद्योगिक पुनर्निर्माण में बाधा आवेगी। यह ब्रिटेन की आय प्रणाली का भी भाग बना हुआ है।

केंद्रीय सरकार के लिए तटकर के बाद आयकर, आय का अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन है, और इससे १९५४–५५ में सरकार को ७०·६७ करोड़ रुपये की आय होगी। इसी प्रकार कारपोरेशन टैक्स से १९५४-५५ में ३८.३५ करोड़ रुपये की आय का अनुमान लगाया गया है।

आयकर की दरें : १९५३–५४ के बजट में आयकर की दरों को बदल दिया गया है। अब दरें इस प्रकार हैं प्रत्येक व्यक्ति, संयुक्त हिंदू परिवार, बिना रजिस्ट्री फर्म तथा व्यक्तियों के ऐसे समाज के विषय में—जिस पर इस भाग का पैरा बी तथा सी लागू होते हैं :

मदें	दर	अधिभार (Surcharge)
समस्त आय के प्रथम १५००) रुपये पर	कुछ नहीं	कुछ नहीं
समस्त आय के अगले ३५००) रुपये पर	नौ पाई प्रति रुपया	गत कालम में बतलाई हुई दर का १/२० भाग
समस्त आय के अगले ५०००) रुपये पर	एक आना और नौ पाई प्रति रुपया	वही
समस्त आय के अगले ५०००) रुपये पर	तीन आना प्रति रु०	वही
समस्त आय की शेष रकम पर	चार आना प्रति रु०	वही

उच्च कर (Super tax) **की दरें**--(ए) प्रत्येक व्यक्ति, संयुक्त हिन्दू परिवार, बिना रजिस्ट्री फर्म तथा व्यक्तियों के ऐसे समाज के विषय में--जिन पर इस भाग के अन्य पैराग्राफ लागू होते हैं--

मदें	दर	अधिभार (Surcharge)
समस्त आय के प्रथम २५,००० रुपये पर	कुछ नहीं	कुछ नहीं
अगले १५,००० रुपये पर	३ आना प्रति रुपया	पिछले कालम में बतलाई हुई दर का १/२० भाग
अगले १५,००० रुपये पर	४ आना प्रति रुपया	वही
अगले १५,००० रुपये पर	६ आना प्रति रुपया	वही
अगले १५,००० रुपये पर	७ आना प्रति रुपया	वही
अगले १५,००० रुपये पर	७॥ आना प्रति रुपया	वही
अगले ५०,००० रुपये पर	८ आना प्रति रुपया	वही
समस्त आय की शेष रकम	८॥ आना प्रति रुपया	वही

४. कृषि आय पर कर लगाना। हमारी कर प्रणाली में सबसे बड़ी खाई है कृषि आय का अब भी कुछ प्रांतों में कर से मुक्त रहना। कृषि आय पर कर लगाने के लिए तर्क इतने प्रबल हैं कि यह देखकर आश्चर्य होता है कि उसको अभी तक कर की छूट क्यों मिली हुई है। भारतीय कर प्रणाली जांच कमेटी (Indian Taxation Enquiry Committee) का कहना है कि "औचित्य के आधार पर इस बात में कोई तर्क नहीं है कि बड़े किसान की बचत पर कर क्यों न लगाया जावे।"[1]

इतिहास का सिंहावलोकन करने से भी इस प्रकार की कर-मुक्ति का समर्थन नहीं मिलता। क्योंकि १८६० से लेकर १८७३ तक बीच के केवल चार वर्ष के समय को छोड़ कर शेषकाल में कृषि आय पर कर लगाया जाता था। यह तर्क ठीक नहीं है कि किसान कृषि आयकर के बदले में भूमिकर देता है और यदि उनको आयकर भी देना पड़ा तो उनको दोहरा कर देना पड़ेगा। भूमिकर कुछ लोगों के लिए स्थायी रूप से तथा कुछ लोगों के लिए लंबी-लंबी अवधि के लिए निश्चित किया हुआ है। उसमें क्रमबद्धता नहीं है और उसका कृषि उत्पादन के मूल्य की विभिन्नताओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव कृषि आय के निरन्तर कर से बचते रहने में कोई तर्क नहीं है।

कृषि आय पर कर लगने से हमारा अर्थप्रबन्ध सुदृढ़ हो जावेगा। उससे हमारी कर प्रणाली की अक्रमबद्धता कुछ परिमाण में ठीक हो जायगी। साथ ही इससे एक ओर कृषि-आय वालों तथा कृषिभिन्न-आयवालों में तथा दूसरी ओर जमींदार और

1. Indian Taxation Enquiry Committe Report, 1924-25, p. 223.

किसान के बीच में कर का बोझ समान हो जावेगा। साथ ही इससे भूमि के स्वामी की कृषि-भिन्न आय पर भी कर लग जावेगा। इससे एक आकस्मिक लाभ यह होगा कि लोग कर से बचने के लिए भूमि में पूंजी लगाने की प्रवृत्ति को छोड़ देंगे। आज भूमि की उपज का मूल्य अत्यधिक बढ़ चुका है। अतएव कर संग्राहक को बढ़े हुए कृषि-लाभ में से अपना भाग अवश्य लेना चाहिये। भारत में जहां कहीं भी भू-स्वामियों के स्वार्थों की अधिक चलती हो वहां के भारतीय विधानमंडलों में अधिक उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न होनी चाहिये। आशा है कि हमारे विधायक (Legislators) इस अवसर पर आगे बढ़कर अपने कर्त्तव्य का पालन करेंगे। आसाम, मद्रास, पश्चिमी बंगाल, उत्तर-प्रदेश, बिहार और उड़ीसा में पहिले से ही कृषि आय पर कर लगाया जाता है।

संघीय उत्पाद कर (Union Excise Duties)—भारत सरकार इस्पात की छड़ों, मोटर स्पिरिट तथा मिट्टी के तेल पर कर लगाती है। किन्तु अत्यधिक महत्वपूर्ण उत्पाद कर १९३४ में चीनी तथा दियासलाई पर लगाया गया था।

चीनी पर उत्पाद कर की दर खांडसारी शक्कर पर १३ आने प्रति हंडरवेट तथा अन्य चीनी पर १ रुपया पांच आने प्रति हंडरवेट कर लगाया गया था। १९३७ में इन दरों को बढ़ाकर क्रमशः १ रुपया पांच आने तथा २ रुपये कर दिया गया। १९४० में युद्ध के कारण गैर खांडसारी चीनी के कर को २ रुपये से बढ़ाकर ३ रुपया कर दिया गया। चीनी कारखाने वालों ने इसकी यह कहकर आलोचना की कि इससे चीनी व्यवसाय को केवल दो वर्ष पूर्व दिया हुआ संरक्षण समाप्त हो जाता था और इससे इस उद्योग के पूर्ण विकास में बाधा आवेगी।

दियासलाई का कर एक ग्रुस बक्सों पर एक रुपया उस अवस्था में लगाया गया, जबकि प्रत्येक बक्स में औसत रूप से ४० तीलियों से कम हों, किंतु यदि प्रत्येक बक्स की तीलियों की संख्या ४० से अधिक, किन्तु ६० से कम हो तो डेढ़ रुपया कर लगाया गया। ६० तीलियों से अधिक होने की दशा में तीन रुपया कर लगाया गया। १९४१ यें युद्ध स्थिति के कारण इस दर को दुगुना कर दिया गया। १९४६–४७ के बजट में दियासलाई के कर को अढ़ाई रुपये से घटाकर उस अवस्था में एक रुपया बारह आने प्रति ग्रुस कर दिया गया, जबकि प्रत्येक बक्स में ४० से ऊपर किन्तु ५० से कम तीलियां हों। किंतु १९४८–४९ के बजट में इस कर को बढ़ाकर उन सब बक्सों पर अढ़ाई रुपया प्रति ग्रुस कर दिया गया, जिनमें ५० तक तीलियां हों। १९५४–५५ में केंद्रीय उत्पाद कर की कुल आय ९२·६० करोड़ रुपया होने की आशा है।

इन उत्पाद करों को लगाने का मुख्य कारण यह था कि बजट में घाटे के कारण भारत सरकार को आय के अन्य साधन खोजने पड़े।

१९४८-४९ में दो महत्वपूर्ण उत्पाद कर लगाए गए—चाय तथा कहवे (Coffee) पर ५० प्रतिशत उत्पाद कर तथा वनस्पति घी पर ७ प्रतिशत उत्पाद कर। १९४९-५० के बजट में चीनी पर उत्पाद कर को ३ रुपये से बढ़ाकर प्रति हंडरवेट ३ रुपया बारह आना कर दिया गया। जनवरी १९४९ से अत्यन्त बारीक (Superfine) कपड़े पर मूल्य के अनुसार २५ प्रतिशत तथा बारीक कपड़े पर ६। प्रतिशत तथा मोटे एवं मध्यम कपड़े पर एक आना प्रति गज उत्पाद कर लगाया गया। १९५३–५४ के बजट में अत्यन्त बारीक कपड़े पर ३ आने ३ पाई प्रति गज और बारीक कपड़े पर १ आना ३ पाई प्रति गज उत्पाद कर लगाया गया है।

१९५४–५५ के बजट में अर्थमंत्री ने सीमेंट, रेशम, साबुन तथा जूतों पर भी उत्पाद कर लगाने की घोषणा की।

रेलवे अर्थ-प्रबंध के विषय में पहले ही विस्तार से लिखा जा चुका है। १९५४-५५ के बजट में उनसे ७·३७ करोड़ रुपये आय होने का अनुमान है।

९. डाक तथा तार। यह आय का अत्यधिक महत्वपूर्ण साधन नहीं है। इस विभाग को लाभ की अपेक्षा लोक-कल्याण के लिए अधिक चलाया जा रहा है। १९५४-५५ में इससे १·५ करोड़ रुपये की आय होने का अनुमान किया गया है।

१०. मृत्यु कर। जायदाद (Estate Duty) कर तथा उत्तराधिकार कर (Succession Duty) में अन्तर जान लेने की आवश्यकता है। जब किसी व्यक्ति की मृत्यु पर उसकी जायदाद उसके किसी उत्तराधिकारी को मिलती है तो मृत्यु कर लगाया जाता है। मृतक द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति के समस्त मूल्य की दृष्टि से उसको लगाया जाता है। इसके विरुद्ध उत्तराधिकार कर में प्रत्येक उत्तराधिकारी के भाग का हिसाब लगाकर कर लिया जाता है; सारी सम्पत्ति के कुल मूल्य को लगाकर नहीं। इसको आकस्मिक तत्व के आधार पर लगाया जाता है। मृतक तथा लाभ-प्राप्त करने वाले उत्तराधिकारी में जितने ही दूर का रिश्ता होगा, उसकी मात्रा उसी परिमाण में बढ़ती जावेगी।

सभी उन्नतिशील राज्यों में मृत्यु कर किसी न किसी रूप में कर-निर्धारण प्रणाली में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। भारत में भी कर-निर्धारण जांच कमेटी ने १९२४-२५ में इसको लगाने का सुझाव दिया था। किन्तु समस्त वैज्ञानिक प्रश्न के ऊपर एक वैधानिक कमीशन द्वारा विचार किये जाने की आशा में इस सुझाव को उस समय कार्यरूप में परिणत नहीं किया गया। इन वैधानिक वादविवादों, अन्वेषणों तथा कांफ्रेंसों के फल-स्वरूप १९३५ में एक अधिनियम पास किया गया। किंतु फेडरल कोर्ट (संघ न्यायालय) के एक निर्णय के अनुसार उक्त अधिनियम में उस कर के लगाने की कोई व्यवस्था नहीं थी। अतएव भारतीय विधान मंडलों को उस प्रकार का कर लगाने का अधिकार देने के लिए उक्त अधिनियम में संशोधन किया गया। इस संशोधन के अनुसार कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर कर लगाने का अधिकार केंद्रीय सरकार को तथा कृषि-भूमि पर कर लगाने का अधिकार प्रांतीय सरकारों को दिया गया। यह व्यवस्था की गई कि केंद्रीय सरकार जब इस कर को लगावे तो इसकी आय को केंद्रीय अधिनियम में बतलाए हुए सिद्धांतों के अनुसार प्रांतों में बांट दिया जावे।

सम्पत्ति (एस्टेट) कर के विधेयक को केंद्रीय विधान सभा (Legislative Assembly) में १९४६ में उपस्थित किया गया। किन्तु राजनीतिक कारणों से उसको समाप्त कर दिया गया। अगस्त १९५२ में एक नया विधेयक संघीय संसद में उपस्थित किया गया। यह विधेयक अब संसद द्वारा पास हो गया है। १९५४-५५ के बजट में इस कर से लगभग २५ लाख की आय होने की आशा है।

इस विधेयक को उपस्थित करने के दो उद्देश्य थे—(१) सम्पत्ति के विभाजन में भारी असमानता को कम करना, जिससे संपत्ति कुछ गिने चुने हाथों में एकत्रित न हो और (२) राज्यों की आर्थिक स्थिति को प्रबल बनाना, जिससे उनके पास उनकी युद्धोत्तरकालीन योजनाओं के लिए पर्याप्त धन हो जावे, और वह अपनी वर्तमान सामाजिक सेवाओं को बनाए रख सकें। युद्धकाल में अतिरिक्त लाभ कर तथा युद्धकालीन अन्य करों के लगाए जाने पर भी कुछ लोगों ने भारी व्यक्तिगत सम्पत्ति एकत्रित कर ली थी। यह आशा की जाती है कि इस विधेयक के पास होने से भारत राष्ट्रीय सम्पत्ति के अधिक उचित विभाजन के मार्ग पर चल पड़ेगा। पश्चिमी बंगाल, ट्रावनकोर-कोचीन और सौराष्ट्र को छोड़कर शेष सभी राज्यों ने अपने विधान मंडलों में प्रस्ताव पास किये हैं, जिनके अंतर्गत केंद्रीय सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह इन राज्यों में स्थित

कृषि-भूमि पर मृत्युकर लगा सकती है। इससे एक बड़ी वैधानिक अड़चन दूर हो गई हैं। इस विधेयक की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं :—

(क) मृत-व्यक्ति द्वारा छोड़ी हुई जायदाद पर मृत्यु-कर लगाया जायगा।

(ख) मृत्यु-कर दोनों प्रकार की संपत्तियों अर्थात् कृषि अथवा कृषि-इतर सम्पत्तियों पर लगाया जावेगा। कर सम्पत्ति के समस्त मूल्य पर लगेगा।

(ग) विधेयक में कर-मुक्ति सीमा नहीं दी गई और न ही कर का दर दिया गया है। यह दोनों संसद द्वारा पास किये गये एक पृथक अधिनियम के अंतर्गत निर्धारित किये जायंगे। लेकिन कर के दर निर्धारित करने में क्रमबद्धता का सिद्धांत अवश्य ही लागू होगा।

(घ) सम्पत्ति का मूल्य खुले बाजार में चालू मूल्यों के आधार पर आंका जायगा।

(ङ) जैसा कि हमारे विधान में व्यवस्था की गई है, इस कर की कुल शुद्ध आय को संसद द्वारा निश्चित सिद्धांतों के अनुसार राज्यों में वितरित किया जायगा। परन्तु कृषि-सम्पत्ति पर से वसूल की गई आय उसी राज्य को सौंपा जायगी, जहां से वह आय एकत्रित की गई हो।

इस कर की आय के विषय में अभी किसी प्रकार का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। क्योंकि वह कर की दर पर निर्भर करेगा।

इस कर की निम्नलिखित दो आधारों पर आलोचना की जाती है :

(१) यह कर भूस्वामियों पर अत्यन्त तीव्र प्रहार करेगा।

(२) इस कर के अंतर्गत भूमि का मूल्यांकन अत्यन्त कठिन होगा।

(३) आय के अन्य साधन अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं।

११. केंद्रीय-व्यय। रेलों के अतिरिक्त व्यय की मुख्य मदें रक्षा-सेवाएं, ऋण सेवाएं तथा नागरिक शासन हैं। भारत में सार्वजनिक व्यय निरंतर बढ़ता रहा है और अब उसका आधार अत्यधिक विस्तृत हो गया है। वह १८९९–१९०० के ८८·७ करोड़ रुपये से बढ़कर १९४९–५० में ३२२·५३ करोड़ रुपये हो गया है। १९५४–५५ के लिए ४६७·०९ करोड़ रुपये कुल व्यय होने का अनुमान किया जाता है। रक्षा-व्यय समस्त योगफल का लगभग आधा है। वह १९५१–५२ के संशोधित अनुमान के अनुसार १८१·२४ करोड़ रुपये था और १९५४–५५ में उसके २०५·६२ करोड़ रुपया हो जाने की आशा है। विभाजन के बाद से हमारा रक्षा व्यय बराबर बढ़ता गया है। संसार की अनिश्चित स्थिति, हमारी सीमाओं पर होने वाले उपद्रव तथा देश की अनिश्चित स्थिति उसके कारण हैं। वास्तव में भारत-पाकिस्तान सम्बन्धों में तनाव, हैदराबाद में पुलिस कार्यवाही तथा काश्मीर-युद्ध हमारे रक्षा व्यय में वृद्धि के कारण हैं। हमारा अपनी जलसेना तथा वायु-सेना बनाने का प्रयत्न तथा सेना का आधुनिकीकरण प्रयत्न भी उसी दिशा में कार्य कर रहे हैं।

१९३९ में युद्ध आरंभ होने के बाद हमारा नागरिक व्यय भी अत्यधिक बढ़ गया। १९३८-३९ से १९४८–४९ तक की एक दशाब्दी में वह २४·८ करोड़ रुपये से बढ़कर ४०·५ करोड़ रुपये हो गया। यह अनुमान किया जाता है कि १९५४–५५ में वह ८६·०८ करोड़ रुपये हो जावेगा। यद्यपि युद्ध समाप्त हो गया, किन्तु युद्धकाल में बनाये गए विभागों को अभी तक नहीं तोड़ा गया है। वेतन भी बराबर बढ़ते जाते हैं। यह जनतंत्र की आवश्यक घटना है। राजदूतावासों के निर्माण, शरणार्थियों को सहायता तथा उनके पुनर्वास,

विकास योजनाएं तथा खाद्य सहायताएं भी हमारे नागरिक-व्यय की असाधारण वृद्धि के लिए उत्तरदायी हैं। मंत्रालयों की संख्या भी १९३८–३९ की संख्या आठ से बढ़कर १९४८–४९ में अठारह हो गई। इसके परिणामस्वरूप सचिवालयों (Secretariate) की संख्या भी बढ़ गई। अंतर्राष्ट्रीय कांफ्रेंसों के लिए भेजे जाने वाले प्रतिनिधि मंडलों की संख्या भी बराबर बढ़ती ही जाती है। इस सबका अर्थ अधिकाधिक व्यय है।

१९४९ में केंद्रीय सरकार द्वारा नियुक्त की हुई मितव्ययिता कमेटी ने सिफारिश की थी कि दूसरे विषयों में से शासन में ६ करोड़ रुपये की कटौती की जावे। १४७ करोड़ रुपये अनावर्तक व्यय वाली तथा १६ करोड़ रुपये वार्षिक के आवर्तक व्यय वाली कुछ योजनाओं को स्थगित कर दिया जावे। साथ ही राजदूतावासों में सांस्कृतिक तथा श्रम-सहायकों के पद को उड़ा दिया जावे तथा किसी नये राजदूतावास की स्थापना न की जावे। जब तक १४५ करोड़ रुपये की लागत की पहले बनाई हुई योजनाओं को पूर्ण न कर लिया जावे, किसी नई योजना को राज्य की ओर से न चलाया जावे। यह आवश्यक है कि केंद्र को मितव्ययिता के साथ-साथ राज्यों में भी मितव्ययिता की जावे।

१२. युद्ध-काल में केन्द्रीय राजस्व।[1] भारत का इन दिनों का अर्थ-प्रबंध संसार के अन्य देशों के अर्थ-प्रबन्धों के समान—विश्वयुद्ध से उसी प्रकार पूर्णतया प्रभावित था—जिस प्रकार अमरीका, ब्रिटेन तथा रूस का व्यय ज्ञात संख्याओं का भी अतिक्रमण कर गया था। भारत में आर्थिक भार युद्ध-पूर्वकाल की अपेक्षा छः गुना बढ़ गया – १९३८-३९ में आय में से ८५·१५ करोड़ रुपये खर्च किया गया था, जबकि १९४४–४५ में वह बढ़कर ५१२·६५ करोड़ रुपया हो गया। भारत का समस्त रक्षा-व्यय १९३९-४० के ५३ करोड़ रुपये से बढ़कर १९४४–४५ में ४०० करोड़ रुपये हो गया और १९४५–४६ में भी लगभग उतना ही बना रहा। यदि युद्ध के पूर्व ऐसे अंक देखने में आते तो जी घबरा जाता। आय में भी भारी वृद्धि हुई। १९३९ से केंद्रीय आय में ३२९ प्रतिशत तथा प्रांतीय आय में १२२ प्रतिशत वृद्धि हुई।

अब हम युद्धकालीन आय-व्यय के लेखे की परीक्षा करेंगे।

युद्धकालीन-व्यय—युद्ध के छः वर्षों में भारतीय आय पर कुल १५९८ करोड़ रुपये व्यय का भार पड़ा। युद्ध-पूर्व के स्तर पर उसको केवल ५११ करोड़ रुपया होना चाहिए था। व्यय में यह भारी वृद्धि रक्षा-व्यय बढ़ जाने के कारण हुई थी, जो १९३८ में ४६·१९ करोड़ रुपये का होने पर भी १९४४–४५ में बढ़कर ३९७·२३ करोड़ रुपये और १९४५–४६ में ३९१·३५ करोड़ रुपये हो गया। वास्तव में यह एक भारी वृद्धि है। किन्तु यह अंक भी समस्त रक्षा-व्यय के समस्त चित्र को उपस्थित नहीं करते क्योंकि इनमें वह रकमें सम्मिलित नहीं हैं जो ब्रिटिश सरकार ने भारत-ब्रिटिश आर्थिक समझौते के अनुसार खर्ची थीं। न इसमें अमरीका द्वारा उधार-पट्टा के रूप में प्राप्त सहायता को ही सम्मिलित किया गया है।

आय पक्ष—इस भारी भरकम व्यय को पूर्ण करने के लिए भारत सरकार को धन एकत्रित करने के सभी साधारण उपायों का उपयोग करना पड़ा, अर्थात्, वर्तमान करों की दरों को बढ़ा दिया गया। नए-नए कर लगाए गए, ऋण लिये गए और मुद्रा-प्रसार किया गया। युद्ध के छः वर्षों में कुल आय १११३ करोड़ रुपये हुई, जिसको युद्ध-पूर्व के सामान्य स्तर पर ५६७ करोड़ होना चाहिए था, अर्थात् आय में शत प्रतिशत वृद्धि हुई। इसमें से दो-तृतीयांश वृद्धि कर-वृद्धि के कारण तथा शेष स्वाभाविक थी।

1. Indian Information of June, 1945.

१९४० के पूरक बजट में आयकर, अधिक-कर(Super Tax) तथा निगम कर(Corporation Tax)पर २५ प्रतिशत अधिभार (Surcharge) लगाया गया था। उसको १९४१-४२ में बढ़ाकर ३३$\frac{1}{3}$ प्रतिशत तथा १९४२–४३ में ५० प्रतिशत कर दिया गया। १९४३-४४ में निगम कर, आयकर तथा अधिक-कर(Super Tax) पर अधिभार (Surcharge) की दर को बढ़ा दिया गया । १९४४–४५ में कुछ वस्तुओं पर आय-कर के अधिभार को और भी बढ़ा दिया गया।

१९४०–४१ में ३०,०००) रुपये के व्यय से अधिक असाधारण युद्ध-लाभ पर ५० प्रतिशत अतिरिक्त लाभ कर (Excess Profit tax) लगाया गया। १९४१–४२ में इस दर को बढ़ाकर ६६$\frac{2}{3}$ प्रतिशत कर दिया गया। १९४४–४५ में अनिवार्य अमानत योजनाओं के अधीन अतिरिक्त लाभ-कर, आय कर तथा अधिक कर के बाद के सभी फालतू लाभों को, जिन्हें चुका दिया गया था–स्थायी कर दिया गया। औद्योगिक लोगों ने अतिरिक्त आय कर का यह कहकर विरोध किया कि उसके कारण वह अपने कारखानों में युद्ध के बाद मशीनें बदलने के लिए कोई रकम जमा नहीं पाते। युद्ध का अर्थ था कारखानों का इतनी तीव्रगति से चलना कि उनमें से कुछ का युद्ध के बाद यथासंभव शीघ्र बदल जाना आवश्यक था। इस कर ने उत्तम योजनाओं को बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से चलाने में बाधा उपस्थित कर दी और इस प्रकार भारतीय उद्योग धंधों की प्रतियोगितात्मक शक्ति में कमी आ गई। यदि यह कर न होता तो वह युद्धोत्तरकालीन प्रतियोगिता का मुकाबला आत्मविश्वास के साथ कर सकते। यहां तक कि सर आर्चिबाल्ड रौलैंडस(Sir Archibald Rowlands)ने १९४६–४७ के अपने बजट-भाषण में यह स्वीकार किया कि अतिरिक्त लाभकर शासन की दृष्टि से एक बुरा कर था और वह ३१ मार्च १९४६ के बाद की आय पर उसको लागू नहीं करेंगे। वास्तव में यह संकटकालीन उपाय था। अतिरिक्त लाभ कर की समाप्ति से भारतीय उद्योग को कुछ चैन की सांस लेने का अवसर मिला। उद्योगधंधों को दी जाने वाली अन्य सुविधाओं में नए निर्माण कार्यों पर १० प्रतिशत विशेष आरंभिक घिसाई का भत्ता तथा नए कारखानों एवं मशीनों पर २० प्रतिशत भत्ता तथा आयकर के उद्देश्यों के लिए वैज्ञानिक अनुसंधान पर व्यय की स्वीकृति थी।

युद्ध के कारण कई एक अन्य करों का लगाना भी आवश्यक हो गया। चीनी पर उत्पाद कर तथा आयात कर को प्रति हंडरवेट २) रुपये से बढ़ाकर १९४०–४१ में ३) कर दिया गया। पैट्रोल कर को १० आना प्रति गैलन से बढ़ाकर १२ आना कर दिया गया। नवम्बर १९४० के पूरक बजट में डाक, तार तथा रेल, टेलीफोन की दर में वृद्धि की गई। इसको १९४३–४४ में और भी बढ़ाया गया। १९४१–४२ में दियासलाई पर उत्पाद कर को दुगना कर दिया गया। हवा भरने योग्य टायर तथा ट्यूबों पर एक नया उत्पाद कर लगाया गया। नकली रेशम के सूत पर आयात कर को ३ आना प्रति पौण्ड से बढ़ाकर ५ आना प्रति पौंड कर दिया गया। १९४२–४३ में सभी आयातों में तटकरों पर $\frac{1}{5}$ अधिभार(Surcharge)लगा दिया गया। १९४३–४४ में तम्बाकू तथा वनस्पति घी पर उत्पाद कर लगाया गया। १९४४–४५ में तम्बाकू के उत्पाद कर को फिर भी बढ़ाया गया तथा सुपारी, कहवा तथा चाय इन तीन नई वस्तुओं पर उत्पाद कर लगाया गया।

युद्धकाल में अपनाए हुए कर लगाने के उपायों के फलस्वरूप भारत की कर रचना-प्रणाली में मौलिक परिवर्तन हो गया। भारतीय कर प्रणाली निश्चित रूप से अधिक उन्नतिशील हो गयी, उसमें प्रत्यक्ष-कर अधिक महत्वपूर्ण कार्य करने लगे। आय के ऊपर कर १९३८–३९ के १७·२८ करोड़ रुपये से अधिक-से-अधिक बढ़कर १९४५–४६

में १९०·५ करोड़ रुपये हो गया, अर्थात् उसमें ११ गुनी वृद्धि हुई। १९३८–३९ में कर की समस्त आय की अपेक्षा आय कर का अनुपात २६ प्रतिशत था, किन्तु १९४४–४५ के संशोधित बजट में वह बढ़कर ७० प्रतिशत तथा १९४५–४६ में वह ६२·३ प्रतिशत हो गया। तटकर में २० प्रतिशत साधारण अधिभार (Surcharge) होने पर भी आयात के प्रतिबन्धों तथा जहाजों की कठिनाई के कारण कमी रही। उत्पाद कर की आय ने असाधारण वृद्धि प्रकट की। उसकी १९३८–३९ की ८·६६ करोड़ रुपये की आय १९४४–४५ में बढ़कर ३९·०७ करोड़ रुपया तथा १९४५–४६ में ४९ करोड़ रुपया हो गयी। समय आने पर उत्पाद कर तट कर की आय से अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करेंगे। १९३८–३९ में तट कर की आय ४०.५१ करोड़ रुपया थी। १९४२–४३ में वह घटकर २६·२० करोड़ रुपया रह गई, किन्तु १९४५–४६ के अनुमान में यह ५५·२५ करोड़ रुपया हो गई। इन बातों से यह प्रकट है कि हमारी कर-प्रणाली में कुछ क्रांति अवश्य हुई है।

१३. १९५३-५४ का बजट : भारत सरकार की आय तथा व्यय की मुख्य मदों को नीचे दिया जाता है :

आय (लाख रुपयों में)

मदें	१९५२—५३ का संशोधित बजट	१९५३-५४ का बजट
तटकर (Customs)	१,७७,००	१,७०,००
संघीय उत्पादकर	८०,००	९४,००
निगम कर (Corporation tax)	३९,८३	३६,६२
निगम करके अतिरिक्त आय पर कर	७३,३५	६८,८०
अफीम	१,९५	२,००
ब्याज (interest)	२,५०	३,०५
नागरिक शासन	११,७४	११,१८
चलअर्थ तथा टकसाल	१०,७७	१५,६९
नागरिक कार्य	१,४७	१,५३
आय के अन्य साधन	१०,४८	८,६९
डाक तथा तार—कुल देय	१,४०	२,३०
रेलों का कुल देय	७,६८	७,६५
असाधारण मदें	४७	१८,४७
समस्त आय	४,१८,६४	४,३९,२६

व्यय (लाख रुपयों में)

मदें	१९५२–५३ का संशोधित बजट	१९५३–५४ का बजट
आयकी सीधी मांगें	३१,०५	३२,४९
भूसिंचन	१७	१९
ऋण सेवाएं	३५,०३	३७,१७
नागरिक शासन	५६,२३	७१,२७
चलअर्थ तथा टकसाल	३,०४	२,५७
नागरिक कार्य	१४,८२	१५,०६
पेंशनें	८,०७	८,३६
शरणार्थियों पर व्यय	११,३२	१२,६७
खाद्यान्नों पर सहायता	२१,११	... ...
अन्य व्यय	१२,६१	८,३४
राज्यों को सहायता	२३,०४	२६,३७
असाधारण मदें	१३,२१	२४,४८
रक्षा-सेवाएं	१,९२,७३	१,९९,८४
समस्त व्यय	४,२२,४३	४,३८,८१
बचत (+) या घाटा (—)	—३,७९	+४५

१९५४–५५ का बजट :

आय (लाख रु० में)

तटकर	१७५,००
संघीय उत्पाद कर	९२,६० + ११,८५ (नये करों से)
कारपोरेशन कर	३८,३५
मृत्यु कर	०,२५
अफीम	१,८५
ब्याज	२,७८
नागरिक शासन	१०,४८
चलार्थ तथा टकसाल	२०,४२
नागरिक कार्य	१,६३
आय के अन्य साधन	७,९२
डाक तथा तार-कुल देय	१,५०
रेलों का कुल देय	७,३७
असाधारण मदें	१०,२१
समस्त आय	४४१,०३
	+११,८५
	४५२,८८

आयकी सीधी मांगें	३२,१९
भूसिंचन	१६
ऋण सेवाएं	४०,००
नागरिक शासन	८६,०८
चलार्थ तथा टकसाल	२,६३
नागरिक कार्य	१५,५४
पेंशनें	८४५
शरणार्थियों पर व्यय	१०,२३
अन्य व्यय	९,७४
राज्यों का अनुदान	३२,४८
असाधारण मदें	२३,९७
रक्षा सेवाएं	२०५६२
समस्त आय	४६७,०९
(—) या घाटा	१४,२१

संसद में बजट पेश करते हुए अर्थ-मन्त्री श्री देशमुख ने महत्वपूर्ण घोषणा की कि सरकार ने कर-भार निर्धारित करने के लिये एक जाँच कमीशन नियुक्त करने का निर्णय किया है। यह कमीशन लगभग दो वर्ष के भीतर अपनी रिपोर्ट सरकार को पेश कर देगी।

१४. अर्थप्रबन्धसम्बंधी ताजे रुझान। ज्यों हीं जहाजी स्थिति सुगम हो जावेगी सरकार की आय कुछ वर्षों तक बराबर बढ़ेगी। उपभोक्ता के माल तथा उत्पादक के माल दोनों की ही भारी मांग है। आयात अवश्य बढ़ेंगे। किन्तु भारत में औद्योगीकरण को अवसर मिलने पर आय के इस साधन में कमी होगी तथा उत्पाद-कर अधिक महत्व-पूर्ण बन जावेंगे।

भारत के औद्योगिक उन्नति प्राप्त करने पर आय कर, अधिक कर (Super Tax) तथा निगम कर की आय के बढ़ने की संभावना है।

प्रत्यक्ष कर को अधिक महत्व मिलेगा और भारतीय कर-प्रणाली में से अक्रमबद्धता का रूप निकल जावेगा। उस समय वह अधिकाधिक उन्नतिशील और इसीलिए अधिक औचित्यपूर्ण हो जावेगी।

युद्धोत्तर विकास योजनाओं का खर्चा चलाने के लिए सार्वजनिक ऋण पर अधिक निर्भरता प्रकट की जावेगी।

वेतनों के ऊंचे मान जो निश्चित कर दिये गये हैं, मुद्रा संकोच की स्थिति आने पर सरकार को एक अत्यन्त कठिन स्थिति में डाल देंगे।

कर लगाने के नये साधनों में सम्पत्ति कर (एस्टेट ड्यूटी) विशेष रूप से उल्लेख-नीय है—यह कर कृषिभिन्न सम्पत्ति पर लगेगा। कृषि आयकर, बिक्री कर तथा समस्त क्रय-विक्रय कर (Turn Over Tax) का विस्तार होगा और कुछ ऐसे मुख्य उद्योग-धंधों से आय होगी, जिनका आगे चलकर राष्ट्रीयकरण किया जा सके।

१५. कर लगाने योग्य-शक्ति—'कर लगाने योग्य शक्ति' शब्द का प्रयोग कई अर्थ में किया जा सकता है। सर्वाधिक प्रचलित भाव इसका यह है कि ऐसी सीमा जिससे आगे कोई करदाता संभवतः कर नहीं दे सकता। उसका यह भी अर्थ है कि प्रत्येक कर के लिए एक अधिकतम विन्दु है, जिससे आगे उसे नहीं बढ़ाया जा सकता, अन्यथा उसकी आय कम होने लगेगी।

कर लगाने के अन्य क्षेत्रों का पता लगाने के लिए किसी देश की कर लगाने योग्य शक्ति का अनुमान लगाने के प्रयत्न किये गये हैं। सर जोसिया स्टाम्प (Sir Josiah Stamp) उसको उत्पादन के ऊपर खपत से मापते हैं। किंतु कर लगाने योग्य शक्ति को यथार्थ रूप में ठीक-ठीक नापना संभव नहीं है। तथ्य यह है कि कर लगाने योग्य शक्ति कोई निश्चित अथवा कठोरता से निश्चित परिमाण में नहीं हुआ करती। यह तरल होती है तथा परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती है। वह बहुत कुछ करदाता की मनोवृत्ति पर निर्भर करती है। एक जनप्रिय नेता, जो राजकीय मामलों का प्रमुख भी हो—जनता की भावना तथा उत्साह को इस प्रकार प्रेरित करके शक्ति से भर सकता है कि जनता आर्थिक सहायता की प्रार्थना का आश्चर्यजनक उत्तर दे। अपनी खुशी से जनता एक सार्वजनिक कार्य के लिए कर दे देती है। किन्तु जबरदस्ती करने से वह विद्रोह भी कर

देती है। एक उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार राष्ट्र की कर लगाने योग्य शक्ति का पता लगाने में अधिक अच्छी स्थिति में होती है।

प्रान्तीय अथवा केंद्रीय विधान मंडलों के कोई सदस्य बढ़े हुए करों के पक्ष में मत देकर बदनामी लेना पसन्द नहीं करते।

इस प्रकार कर लगाने योग्य शक्ति कर देने की इच्छा तथा उस बात पर निर्भर करती है, जिससे उस इच्छा को प्रभावित किया जा सके। इसके अतिरिक्त कर लगाने योग्य शक्ति को निश्चित करने में कर की दर, कर वसूल करने की प्रणाली, विशेष रूप से वह उद्देश्य, जिस पर उस रकम को व्यय किया जाना हो तथा देश में सम्पत्ति का विभाजन भी सहायक होते हैं। इसके अतिरिक्त यह निश्चित किया जा चुका है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति एक सार्वजनिक प्रन्यास (Trust) है और उसे राज्य[1] द्वारा मांगे जाने पर तुरन्त दे देना चाहिए। इस दृष्टिकोण से तो शक्ति का प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता और कर निर्धारण का आधार राज्य की आवश्यकता बन जाती है।

भारत की स्टाम्प के अर्थ के कर लगाने योग्य शक्ति के विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारतवासियों का जीवनमान अत्यन्त नीचा होने के कारण यहां उपभोग बहुत कम है। कर लगाने की शक्ति के उत्पादन तथा उपभोग के अन्तर पर निर्भर होने के कारण यह अनुमान किया जा सकता है कि हमारी कर लगाने योग्य शक्ति बड़ी है। यह स्पष्ट रूप से एक अशुद्ध परिणाम है। क्योंकि भारत में उत्पादन भी बहुत कम है। जीवन का एक निश्चित नागरिक न्यूनतम मान है—जो एक व्यक्ति के लिए न होकर एक परिवार के लिए है—वह मान जनता को मिलना ही चाहिए, जिससे वह केवल अपना अस्तित्व बनाये हुए न रहे,वरन् जीवित रहें और योग्यतापूर्वक कार्य करें। कर का यह उद्देश्य नहीं होना चाहिए कि वह व्यक्ति के जीवन की आवश्यकताओं को दबाकर उत्पादन शक्ति में बाधा डाले।

सर वाल्टर लेटन का कहना है कि भारत में कर-निर्धारण राष्ट्रीय आय का केवल ८ प्रतिशत है, जबकि वह ब्रिटेन में २० प्रतिशत तथा जापान में २० प्रतिशत है। उनके अनुसार धन के अंबार लगे हुए हैं, जिन पर इस प्रकार कर लगाया जा सकता है कि वह असह्य न हो। उनका कहना है—"भारत में व्यापक निर्धनता होते हुए भी मुझे इसमें लेशमात्र भी संदेह करने का कारण नहीं मिलता कि भारत की सार्वजनिक आय को करों को असह्य बनाये बिना पर्याप्त बढ़ाया जा सकता है"[2] युद्ध के बाद के बजट भारत की कर लगाने योग्य ठोस शक्ति के पर्याप्त प्रमाण हैं। किन्तु उस शक्ति से बुद्धिमत्तापूर्वक काम लिया जाना चाहिए। राज्य के लोकहितकारी कार्यों में व्यय को बढ़ाकर तथा सैनिक व्यय में पर्याप्त कमी करके ही कर बढ़ाने के औचित्य को प्रकट किया जा सकता है।

करों का बोझ तथा उसका विभाजन—भारत में कर कम हैं अथवा अधिक, इस विषय में बहुत वाद-विवाद चला आता है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि भारत में उसकी राष्ट्रीय आय का ८ प्रतिशत कर है जबकि जापान तथा ब्रिटेन में वह अपने-अपने यहां की राष्ट्रीय आय का बीस-बीस प्रतिशत है। १९३९-४० में प्रति व्यक्ति कर का बोझ ५ रुपये २ पाई था। उसके बाद युद्ध व्यय को चलाने के लिए लगाये हुए अनेक-अनेक करों

1. Stamp : Principles of Taxation, p. 134.

2. Indian Statutory Commission Report, Vol. 2., p. 208.

के कारण कर का भार और भी अधिक हो गया होगा। अब भी लगभग ६ रुपया प्रति व्यक्ति होगा। यह अनुमान लगाया गया है कि भारत में अन्य उन्नत देशों की अपेक्षा बहुत हल्का कर लगाया जाता है, किन्तु यह ठीक अनुमान नहीं है।

निस्संदेह ऊपर दिये हुए अंकों से भारत में कर का बोझ कम दिखलाई देता है। किंतु हम केवल इन अंकों से ही अन्तिम परिणाम नहीं निकाल सकते। कर निर्धारण के स्तर पर सार्वजनिक व्यय की प्रकृति का उल्लेख किये बिना विचार नहीं किया जा सकता। यदि नागरिकों को राज्य द्वारा दिये जाने वाले लोकहितकारी कार्यों के रूप में उसका उचित बदला नहीं दिया जाता तो हल्का कर भी भारी ही समझा जावेगा। किन्तु इसके विरुद्ध यदि राज्य अनेक प्रकार की सामाजिक सेवाएं करता है तो ऊंचे करों को भी बिना आपत्ति किये चुका दिया जाता है। उसका केवल यह अर्थ है कि जनता ने अपनी आवश्यकताओं को व्यक्तिगत रूप से पूर्ण करने की अपेक्षा सामूहिक रूप से पूर्ण करने का निश्चय कर लिया है। यदि राज्य निःशुल्क शिक्षा तथा निःशुल्क चिकित्सा देता है तथा कमाने वाले के मर जाने पर उसके आश्रितों की देखभाल करता है, और सभी बच्चों को योग्य शिक्षा देकर उनको काम पर लगा देता है तो भले ही वह हमारी आधी आय को ले जावे। किन्तु यदि वह उससे आगे जाकर हमारे भोजन, वस्त्र तथा अन्य बातों की आवश्यकताओं को पूरा करता रहे तथा निःशुल्क सिनेमा दिखलाने आदि की सुविधाएं दे तो वह करों को बिना दमनात्मक बनाये हमारी ७५ प्रतिशत आय को ले सकता है।

अन्य उन्नतिशील देशों में राज्य निर्धनों का पालन करता है, रोग, बरोजगारी तथा वृद्धावस्था की पेंशन का बीमा करता है, अत्यन्त उत्तम सफाई का प्रबन्ध करता है, अच्छी-अच्छी सड़कें बना कर उनकी रक्षा करता है और अत्यन्त उदार परिमाण पर शिक्षा तथा चिकित्सा की सुविधाएं देता है। ऐसे देशों के कर बोझल प्रतीत नहीं होते। किन्तु भारत में, जहां आय का अधिकांश सैनिक व्यय, ऋण सेवाओं तथा नागरिक शासन में खर्च हो जाता है और उपरोक्त कार्यों जैसे सेवा-कार्यों पर लगाने के लिए बहुत कम बच पाता है, छोटे से छोटा कर भी बिना ईर्ष्या किये नहीं चुकाया जा सकता। इसके अतिरिक्त धनी देशों में कर का अधिक प्रतिशत अनुपात भी वास्तव में कम बोझा हो सकता है जब कि एक निर्धन देश में कर का कम प्रतिशत अनुपात भी अधिक बोझल हो सकता है। कर लगाने की उन्नतिशील प्रणाली का यह आरम्भिक सिद्धान्त है। अतएव भारत पर उतना हल्का कर नहीं लगाया गया है जितना कि कभी-कभी समझा जाता है।

किन्तु कर प्रणाली में अनौचित्य—यदि कोई हो तो—कर लगाने के अंकों में नहीं होता, वरन् कर के भार के वितरण में होता है और इस विषय में भारतीय कर प्रणाली सबसे बड़ी अपराधी है। भारत के अधिकांश कर निर्धनों पर अत्यधिक बोझा डाल रहे हैं। उदाहरणार्थ—भूमिकर, तटकर, दियासलाई कर, उत्पाद कर आदि। भूमि कर निश्चित रूप से प्रतिगामी है। केवल आय कर, मोटर स्पिरिट कर तथा आयात सूची में विलास सामग्रियों पर कर धनिकों की जेब से जाते हैं। कुल मिला कर धनिकों की अपेक्षा निर्धनों पर करों का बोझ अधिक है। यह विशेषज्ञों की सम्मति है। भारतीय कर निर्धारण जांच कमेटी (१९२४-२५) तथा सर वाल्टर लेटन ने १९३० में इस सम्मति का समर्थन किया था। मार्च १९३८ में सर जेम्स ग्रिग ने विधान सभा में घोषणा की थी, "मुझे इस बात में संदेह नहीं है कि इस देश में (भारत में) करों का बोझ धनिकों पर बहुत कम तथा निर्धनों पर अत्यधिक है।" प्रोफेसर के० टी० शाह ने १९२३-२४ के सम्बन्ध में अंकों की छानबीन की थी और वह इस परिणाम पर आये थे कि "भारत में अर्थशास्त्र की दृष्टि से अधिक

निर्बल तथा अयोग्य व्यक्ति पर करों के बोझ का सबसे बड़ा अनुपात है, जब कि १०००) रुपये वार्षिक से अधिक आय वाले परिवार से, जो भारत की जनसंख्या का २५ वां भाग है, इन ६०० करोड़ रुपये की समस्त सम्पत्ति में से कुल १०० करोड़ रुपया कर लिया जाता है। कर की शेष १५० करोड़ रुपये की रकम शेष १०००) अथवा १२००) करोड़ रुपयों में से वसूल की जाती है, जो शेष जनसंख्या के ९६ प्रतिशत भाग की है।"[1]

कर के बोझ को अधिक योग्य आधार पर विभक्त करना आवश्यक है। जिन वस्तुओं तथा सेवाओं का उपभोग सार्वजनिक है उनको या तो कर से मुक्त रखा जावे, अथवा उन पर कर कम लगाया जावे और जिनका उपभोग धनी लोग अधिक करें उन पर कर अधिक लगाया जावे। भूमि कर में कमी की जाने तथा कृषि आय पर कर लगाने के पक्ष में अत्यन्त प्रबल युक्तियां हैं। यह कुछ थोड़े से प्रस्ताव हैं। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए कुछ अन्य सुधार भी किये जा सकते हैं। १९४६-४७ के बजट प्रस्तावों में इस विषय में परिवर्तन किये जाने की झलक मिलती है। सर आर्चीबाल्ड रौलैंड्स ने इस आरोप से इन्कार किया था कि वह धनिकों का बजट था। उन्होंने यह बतलाया था कि जब कि युद्ध से पूर्व प्रत्यक्ष कर-दाता २३ प्रतिशत देता था, नये प्रस्तावों के अनुसार वह ५५ प्रतिशत देगा। सामान्य रूप से समृद्ध लोग अब अपनी आय का आधा कर-रूप में देवेंगे और अधिक धनी लोग व्यवहारिक रूप से ९० प्रतिशत देंगे।

युद्धकाल में कर का भार लगभग असह्य हो गया। भारत एक अत्यन्त निर्धन देश है। यहां के कर के बोझ को केवल धीरे-धीरे ही बढ़ाया जा सकता है।

भारत का सार्वजनिक ऋण

१७. सार्वजनिक ऋण का रूप। जहां तक उसके सार्वजनिक ऋण का सम्बन्ध है भारत एक अत्यन्त प्रसन्नतादायक स्थिति में है, क्योंकि उसके प्रायः सार्वजनिक ऋण उत्पादक हैं और उनसे अच्छी आय होती है, यहां तक कि उनकी आय उनके ऊपर दिये जाने वाले ब्याज से कहीं अधिक होती है। उसके ऋण का अधिकाँश रेलों तथा जल-सिंचन साधनों जैसी ठोस तथा लाभदायक सम्पत्तियों में लगा हुआ है अथवा उसे राज्यों को उधार दिया हुआ है। इस प्रकार ३१ मार्च १९५३ तक रेलों पर कम-से-कम ९५२ करोड़ रुपये की पूंजी खर्च हुई थी। डाक और तार तथा अन्य व्यापारिक विभागों पर ८१ करोड़ रुपया खर्च हुआ था। ऋणों तथा पेशगी रकमों में ४२६ करोड़ रुपया तथा नकद एवं पूंजी लगाने में १९२ करोड़ रुपया लगा हुआ था। इस प्रकार २८३५ करोड़ रुपये की ब्याज वाली देनदारी में से कुल ३२९ करोड़ रुपये का ही बिना जमानत का ऋण है। यहां तक कि इसको भी पूर्णतया अनुत्पादक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रक्षा कार्यों तथा केन्द्रीय सम्पत्ति में लगी हुई पूंजी को बिना मूल्य वाली नहीं समझा जा सकता।

१८. सार्वजनिक ऋणों में वृद्धि। सन् १७९२ में सार्वजनिक ऋण का परिमाण केवल ७० लाख पौंड था। किन्तु ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में ब्रिटिश राज्य को बढ़ाने के लिए जो युद्ध किये उनसे ऋण बढ़ गया। स्वतंत्रता के प्रथम युद्ध (Mutiny) के अवसर पर वह ६ करोड़ पौंड था। स्वतन्त्रता के युद्ध का खर्चा मिलाने से वह १८६० में बढ़ कर १० करोड़ पौंड हो गया। जब भारत का अधिकार कंपनी से ब्रिटिश ताज के हाथ में आया

---

1. Jather and Beri—Indian Economics, Vol. II. p. 54.

तो ईस्ट इंडिया कंपनी का ऋण भी वर्तमान भारत सरकार ने ले लिया। ईस्ट इंडिया कंपनी को उस समय तक लाभांश भी चुकाया जाना था, जब तक १८७४ में कम्पनी का स्टाक समाप्त न हो जाता। इसमें से अधिकतर ऋण अनुत्पादक था। किन्तु ताज के हाथ में अधिकार चला जाने से उत्पादक ऋण में जल-सिंचन तथा रेलों की योजनाएं चलाने के कारण क्रमशः वृद्धि होने लगी।

युद्ध पूर्व के वर्षों में सरकार ने केवल एक हिसाब करने के सौदे के परिश्रम द्वारा अनुत्पादक ऋण को कम करने का यत्न किया। आय बचत को सार्वजनिक कार्यों में लगा दिया गया। किन्तु उसको पहले तो साधारण अथवा अनुत्पादक ऋण की पुनः अदायगी मानकर उसको पीछे से सार्वजनिक कार्यों की योजनाओं को उधार दे दिया गया। इस प्रकार प्रत्येक बचत को सार्वजनिक कार्यों के उपयोग में लेकर उत्पादक ऋण को बढ़ाया गया। किन्तु उसने साथ ही साथ अनुत्पादक ऋण को घटाया भी। इसका परिणाम यह हुआ कि १९१४ में अनुत्पादक ऋण घट कर कुल ३ करोड़ रुपये ही रह गया। यदि १९१४-१८ का महायुद्ध अनुत्पादक ऋणका भारी बोझा लेकर सिर पर न आ जाता तो वह अनुत्पादक ऋण कुछ वर्षों में ही समाप्त हो जाता। युद्ध के कारण भारत ने १० करोड़ पौंड की ब्रिटिश सरकार को भेंट दी। साथ ही युद्धोत्तर वर्षों में अनावर्तक घाटा रहने से हमारा ऋण बढ़ता ही गया। इस प्रकार एक शताब्दी में ही १९२४ तक हमारा अनुत्पादक ऋण बढ़ कर २५८ करोड़ रुपये का हो गया। उसी बीच में उत्पादक ऋण ४०० करोड़ रुपये से बढ कर ७०० करोड़ रुपये हो गया।[1] अनुत्पादक ऋणको घटाने की इस नीति के गोखले भारी आलोचक थे। उनकी सम्मति में इस प्रकार की अदृश्य शीघ्रता करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि अनुत्पादक ऋण की रकम बड़ी नहीं थी। यदि आय बचत का उपयोग कर कम करने या शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि लोकोपकारी कार्यों का विस्तार करने में किया जाता तो अधिक अच्छा होता।

यह आशा की जाती है कि १९५४ के अन्त में भारत का बकाया निकलने वाला सार्वजनिक ऋण २९६७ करोड़ रुपये हो जावेगा। ऋण की स्थिति का विस्तृत विश्लेषण निम्नलिखित है:—

(लाख रुपयों में)

	३१ मार्च १९५३ को	३१ मार्च १९५४ को
नियमानुसार कर्जे	२,०८२,०५	२,१७३.०६
दूसरी देनदारियाँ	७७९,९३	८१८,८९
कम ब्रिटिश युद्धीय कर्जे	—२९,०६	—२४,९५
कुल	२,८३५,९२	२,९६७,००

१९. हमारे सार्वजनिक ऋण में विदेशी तत्व। हमारे ऋण का एक बहुत बड़ा भाग विदेशी था। विदेशी ऋण देश के ऊपर एक पत्थर की शिला हुआ करती है, जब कि

1. Datta. B. P.—Economic Problems of Modern India, by Radha. Kamal Mukerjee, 1944, pp. 478-79.

अन्तर्देशीय ऋण केवल देश के भीतर सम्पत्ति का केवल पुनर्विभाजन मात्र हुआ करता था। विदेशी ऋण पर चुकाया जाने वाला ब्याज देश के बाहिर जाता है और स्पष्ट रूप से उसे देश की हानि है। डाक्टर केनज (Dr. Keynes) ने १९०८ में हमारे विदेशी ऋण का अनुमान ३५६० लाख पौंड लगाया था। डाक्टर दुबे ने उसे १९३० में ६० करोड़ पौंड[1] तथा बी. रामचंद्र ने उसे १९३४ में ६१,२० लाख पौंड[2] बतलाया था। निश्चय से हमारी स्टर्लिंग पूंजी का अधिकांश विदेशियों के हाथ में है, किन्तु उनके पास रुपये के ऋण का भी लगभग आधा भाग है। यद्यपि रुपये का ऋण केवल भारत में ही जारी किया जाता है, अतएव यह आवश्यक रूप से भारतीयों के पास रहता है। यह अनुमान लगाया गया है कि लगभग १५ करोड़ रुपये प्रति वर्ष देश के बाहर ब्याज के रूप में चले जाते हैं। विदेशी पूंजी पर प्रति वर्ष १६० लाखपौंड[3] का लाभ होता है।

यह संभव है इन सौदों की इंग्लैंड के साथ हमारे सम्बन्ध के विषय में प्रतिकूल आलोचना की जावे। अतएव यह बात अत्यन्त प्रसन्नता की है कि द्वितीय महायुद्ध के दिनों किये गये हमारे सौदों के कारण हमारा स्टर्लिंग ऋण समाप्त हो चुका है। इस प्रकार युद्ध हमारे लिए एक प्रच्छन्न वरदान सिद्ध हुआ। हमारे अर्थशास्त्रियों की १९१४-१८ के युद्ध तक भारतीय मुद्रा-बाजार के विषय में बड़ी बुरी सम्मति थी, किन्तु उक्त युद्ध के समय युद्ध-ऋणों की सफलता से उन्हें भारी आश्चर्य हुआ। गत महायुद्ध तक जब कभी भारत सरकार को रुपये की आवश्यकता पड़ती थी वह लन्दन के मुद्रा-बाजार में जाती थी और कभी-कभी उसे ऊंची दर पर उधार लेना पड़ता था। युद्ध के बाद उन्होंने भारतीय बाजार का अधिकाधिक सम्मान करना आरम्भ किया, जो उससे सस्ता सिद्ध हुआ। विदेशी ऋण के लिए एक और आपत्ति भी की जाती थी। विदेशी रुपया लगाने वाला सदा ही संरक्षणों की मांग करता था और उससे भारत की वैधानिक उन्नति में बाधा पड़ती थी।

२०. स्थायी तथा अस्थायी। भारत के ऋण का लगभग ९० प्रतिशत भाग स्थायी ऋण है। प्रथम महायुद्ध के समय उसको फिर नया करने की प्रणाली निकाली गई। कोष हुण्डियों को निकाला गया, उनको प्रायः तीन मास बाद पुनः चुकाया जाता था। किन्तु पुरानी शर्तों को समाप्त कर नई शर्तें की जाती थीं। आजकल कोष हुण्डियां (Treasury Bills) भारतीय अर्थ-प्रबन्ध का अत्यन्त महत्वपूर्ण रूप है। अस्थायी ऋण की इतनी भारी रकम सरकार के लिये घबराहट का कारण बन सकती है।

२१. ऋण-मुक्ति। पिछले दिनों भारत के अर्थ विभाग के पास ऋण से मुक्ति पाने की कोई अच्छी योजना नहीं थी। इस उद्देश्य के लिए किसी प्रकार का ऋण कोष (Sinking Fund) सदा अच्छा रहता है। यह केवल इसलिए नहीं कि ऋणों का पुनः भुगतान करना अच्छा है, किन्तु इसलिए भी कि ऋण कोष में रकम डालने से ऋण का भार भावी सन्तति के ऊपर सम रूप से फैल जाता है। देश की साख बनाये रखने तथा उसमें उन्नति करने की दृष्टि से भी यह आवश्यक है।

१७९८ में लार्ड वेलेस्ली ने एक ऋण कोष का प्रयोग करके देखा था। किन्तु वह योजना केवल १० वर्ष तक ही चली। भारत सरकार ने ऋण को कम करने अथवा उससे

---

1. Dubey : Indian Public Debt, 1930, p. 3.
2. India Analysed. Vol. II, p. 87.
3. Rangaswamy Aiyanger: Some Trends of Modern Public Finance, 1936.

मुक्ति पाने में कुछ जल्दीबाजी के काम किये। रेलवे कम्पनियों को मोल लेने के कारण जो ऋण बढ़ा उसे वार्षिक किश्तों की अनिवार्य योजना द्वारा चुकाया गया और इस काम में रेलवे के ऋण कोष से काम लिया गया। कभी-कभी ऋणको कम करनेके लिए वार्षिक अकाल बीमा सहायता (Annual Famine Insurance Grant) से भी काम लिया गया। आय बचत का सामान्य ऋण को कम करने में उपयोग किये जाने का उल्लेख पहले किया जा चुका है। १९१७ में एक ऋणकोष (Sinking Fund) की स्थापना करके यह प्रस्ताव किया गया कि उसमें प्रति वर्ष पांच लाख पौंड डाल दिये जाया करें तथा प्रतिभूतियों (Securities) को मोल लेने तथा उनको रद्द करने के लिए उसमें ऋण का १॥ प्रतिशत भाग भी डाला जावे।

किन्तु नियमित रूप से ऋण को पुनः चुकानेके लिए प्रथम नियमानुसार योजना बनाने का श्रेय सर बेसिल ब्लैकेट (Sir Basil Blacket) को है। उन्होंने प्रस्ताव किया कि प्रति वर्ष ४ करोड़ रुपयें के अतिरिक्त ऋण के उस अतिरिक्त भाग के $\frac{१}{८०}$ को पृथक् रख दिया जाया करे, जो ३१ मार्च १९२३ के बकाया के ऊपर प्रत्येक वर्ष के अन्त में बकाया निकला करे। १९३० से १९३४ तक जब रेलों ने आय में कमी होने के कारण साधारण आय खाते ने अपना भाग देना बन्द कर दिया तो ब्लैकेट योजना को स्थगित कर दिया गया और ऋण में ३ करोड़ रुपया प्रति वर्ष कम करने की व्यवस्था की गई। ऋण के मुख्य रूप से रेलों के कारण होने से साधारण आय खाते की व्यवस्था को रोक देना उचित समझा गया। किन्तु रेलों ने फिर भी अपना भाग देना आरम्भ कर दिया। किन्तु ऋणमें प्रति वर्ष ३ करोड़ रुपया कम करने की व्यवस्था अब भी बनी हुई है।

डाकखाने का सेविंग्स बैंक खाता तथा डाकखाने के कैश सर्टिफिकेट भी भारत सरकार की देनदारियां हैं। पहले यह समझा जाता था कि उनको आने वाली रकमों में से चुका दिया जाया करेगा और उनको चुकाने के लिए कोई नियमित योजना नहीं बनाई गई। किन्तु १९३० से डाकखानों के कैश सर्टिफिकेटों की वास्तविक देनदारी को चुकाने की व्यवस्था नियमित रूप से की जाती रही है।

यह निश्चय है कि हमारा ऋण को चुकाने का प्रबन्ध लेशमात्र भी वैज्ञानिक नहीं है। अन्य देशों में सार्वजनिक ऋण के कमिश्नर होते हैं, जो मुद्रा-बाजार की नाड़ी पर सदा अपना हाथ रखे रहते हैं, जिससे वह नया ऋण लेने या पुराने ऋण को बदलने की योजना के सर्वाधिक उपयुक्त समय को चुन सकें। वह समस्त ऋण को एक दूसरे के साथ व्यवस्थित करते हैं और विभिन्न देनदारियों को चुकाने की समान रूप से योजना बनाते हैं। हमको भी अपने देश में ऐसे ही संगठन बनाने चाहिएं।

२२. द्वितीय महायुद्ध का सार्वजनिक ऋण पर प्रभाव। यह संभव नहीं था कि द्वितीय महायुद्ध जैसा भारी युद्ध किसी देश की अर्थ-व्यवस्था को अप्रभावित छोड़ देता।

भारत सरकार को युद्ध को सफलतापूर्वक चलाने के लिए ऋण लेने पड़े। युद्ध ऋण की कई योजनाएं चलाई गईं, जिन में जून १९४० की ३ प्रतिशत छः वर्षीय डिफेंस बांड की योजना विशेष उल्लेखनीय है। उसके बाद दस वर्षीय डिफेंस सेविंग्स सर्टिफिकेट, बिना ब्याज के बांड (Interest Free Bond) तथा ३ प्रतिशत ब्याज वाला दूसरा रक्षा ऋण फरवरी १९४१ में अधिक समय के लिए निकाले गये। यह ३ प्रतिशत छः वर्षीय डिफेंस बांड के बदले में दिये जाने के लिए था। ऋण की इन योजनाओं के अतिरिक्त सभी सरकारी नौकरों के लिए डिफेंस सेविंग्स प्रावीडेंट फंड की योजना चलई गई। इसके अतिरिक्त पोस्टल डिफेंस सेविंग्स बैंक खाते में सेविंग्स बैंक के साधारण खातेकी अपेक्षा १ प्रतिशत अधिक ब्याज दिया गया। १९४५-४६ में ऋण लेने की योजना का आगे विस्तार करते हुए १९५३-५५ का ३ प्रतिशत ऋण तथा १९५७ का ३ प्रतिशत प्रथम विजय ऋण (First Victory Loan) जारी किये गये। १९४८-५२ के २$\frac{3}{4}$ प्रतिशत ऋण को दुबारा जारी किया गया तथा १९६६-६८ के ३ प्रतिशत फंडिंग लोन (Funding Loan) को जारी किया गया। सरकारी ऋणों में रुपया लगा देने का परिणाम यह हुआ कि जनता की फालतू क्रय शक्ति जाती रही। इससे उपभोक्ता मालके मूल्यों पर दबाव कम हो गया और ऋणों के कारण सरकार विकास कार्यों के लिए सुरक्षा कोषों का निर्माण कर सकी। सार्वजनिक ऋण का समस्त योग जो युद्ध के आरंभ काल से लगा कर जनवरी १९४६ में उसका अन्त होने तक जारी किया १,१७३ करोड़ रुपये था।

भारत के स्टर्लिंग ऋण की मुक्ति और उसकी वापिसी—युद्ध। (१९३९-४५) से जो सबसे बड़ा आश्चर्य हुआ है वह यह है कि हमारा चिरकालीन विदेशी ऋण व्यवहारतः समाप्त हो गया। १९४१-४२ में चुकाने के लिए कुछ रुपया देने की अपेक्षा हम २६०लाख पौंड वापिस पाने की आशा कर रहे थे। युद्धके पूर्व भारत पर ब्रिटेन का ३०करोड़ पौंड ऋण था, जो सबका सब चुकता हो गया। २१ फरवरी १९४४ तक कुल ३५ करोड़ पौंड ऋण चुकाया गया। रेलवे की वार्षिक किश्तें तथा डिबेंचर स्टाक (Debenture Stock) को यदि शीघ्र नहीं तो १९५६ तक पूर्णतया चुका दिया जावेगा। भारत के सार्वजनिक ऋण के रूप में भारी परिवर्तन हुआ है। यह इस बात से स्पष्ट है कि अब वह सब रुपये के ऋण के रूप में है। भारत आज अपने को नई स्थिति में पा रहा है। १९३८-३९ में सार्वजनिक स्टर्लिंग ऋण ३९५·५० करोड़ रुपये का था, जब कि १९४५-४६ में वह केवल १४ करोड़ रुपये का रह गया।

किन्तु यह चमत्कार किस प्रकार हो गया? उसका व्यापारिक संतुलन विशेष रूप से उसके अनुकूल था। उसने जो कुछ विदेशों से मोल लिया उसकी अपेक्षा कहीं अधिक उनके हाथ बेचा। उसने ब्रिटिश सरकार को सैनिक माल बहुत बड़ी मात्रा में मोल दिया। उसने मित्रराष्ट्रों की ओर से भी खर्च किया। उसको युद्ध व्यय का एक भाग ब्रिटिश सरकार से भी वसूल करना था। उसको भारतीय सेना की साज-सज्जा को आधुनिक

बनाने के लिए भी पर्याप्त लागत मिली। इन सभी घटनाओं ने मिल कर संतुलन भारत के पक्ष में कर दिया। भारत का स्टर्लिंग बकाया जमा होता गया, जिसका परिमाण ३१ मार्च १९४६ को १,३३०० लाख पौंड था। तब से लगा कर भारत द्वारा खाद्यान्नों तथा उपभोक्ता माल का आयात किये जाने के कारण उसका परिमाण घटता जाता है। सितम्बर १९५० के समझौते के बाद स्टर्लिंग बकाया का परिमाण घट कर ९१,९० लाख पौंड रह गया। फरवरी १९५२ में यह बकाया और भी कम, अर्थात्, ५७,०० लाख पौंड था।

चौंतीसवाँ अध्याय

प्रान्तीय अर्थप्रबंध

१. प्रस्तावना । एक पिछले अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि एक समय था जब भारतीय प्रान्तों का स्वतन्त्र-आर्थिक-अस्तित्व नहीं था। वह केन्द्र की दया पर आश्रित थे और वार्षिक अनुदानों द्वारा उनकी पूर्ति की जाती थी । १९१९ में केन्द्र तथा प्रान्तों में आय के साधनों का एक स्पष्ट विभाजन हो गया । प्रान्तीय सरकारों के पास आय की मुख्य मदें ये हैं---भूमि कर, भूसिंचन कर, आबकारी, जंगलात, स्टाम्प, रजिस्ट्रेशन तथा सारणीसूची के अन्य कर ।

अब आय के इन साधनों में से प्रत्येक पर पृथक्-पृथक् विचार किया जाता है---

२. आय की प्रान्तीय मदें । भूमिकर---भारतीय कर-प्रणालियों में भूमिकर का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है । तटकरों के बाद आय का यह अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन है । १९५२-५३ में भूमिकर से लगभग ४२ करोड़ रु० की आय की आशा थी ।

भारत की भूमिकर प्रणाली में अनेक परस्पर-विरुद्ध बातें भरी हुई हैं । कृषि-भिन्न आयवाले व्यक्ति पर, जिसकी आय ४२००रुपये से कम हो, कर नहीं लगता, जबकि निर्धन से निर्धन किसान को---जो पूरे वर्ष भर मेहनत करके भी अपने तथा अपने परिवार के भरण-पोषण योग्य पर्याप्त धन नहीं कमा पाता, भूमि-कर देना पड़ता है । उत्तरप्रदेशीय बैंकिंग जांच कमेटी के हिसाब के अनुसार ३० प्रतिशत खेतों में घाटा रहता है । उसके बाद के ५२ प्रतिशत कठिनता से अपना खर्च पूरा कर पाते हैं । स्पष्ट ही सरकार ८२ प्रतिशत खेतों का कर माफ करके इतनी आय की हानि नहीं उठा सकती । घाटेवाले खेतों का कर माफ कर देने से खेतों के खंडीकरण को अधिक प्रोत्साहन मिलेगा । इसके अतिरिक्त किसी लाभप्रद खेत के लिए कोई निश्चित प्रमाण भी स्थिर नहीं किया जा सकता । वह तो प्रत्येक प्रान्त में भिन्न-भिन्न प्रकार का होगा । इसके अतिरिक्त शासन सम्बन्धी अन्य सैंकड़ों कठिनाइयां भी आ उपस्थित होंगी, तौ भी, भारतीय किसान को---जो कि संसारभर में सब से निर्धन तथा सबसे अधिक कर-भार में दबा है---सहायता देने का कोई मार्ग निकालना ही चाहिए ।

भूमिकर की मांग में वास्तविक सम्पत्ति का कुछ प्रतिशत अनुपात होता है, किन्तु इस विषय में तथा बन्दोबस्त की शर्तों में अत्यधिक विभिन्नताएं हैं । एक से दूसरे प्रान्त की अपेक्षा उसमें २८ प्रतिशत की विभिन्नता है । किंतु प्रान्तीय जनसंख्या[1] की दृष्टि से तो उसमें ३०० से ४३० प्रतिशत की विभिन्नता है । "इसके लगान का अनुपात उत्तर प्रदेश में ५० से २० प्रतिशत; मध्यप्रदेश में ४२ से ७ प्रतिशत और मद्रास में १०० से १० प्रतिशत तक है ।"[2]

सब से बड़ी भिन्नता बंगाल के स्थायी बन्दोबस्त में है, जिसके द्वारा राज्य ने मूल्य में वृद्धि करने का अपना अधिकार स्थायी रूप से छोड़ दिया है । भूमिकर की कठोरता इस तथ्य में है कि उसको बड़े लम्बे समय के लिए निश्चित कर दिया गया है ।

भूमि कर की त्रुटियों का वर्णन संक्षेप में इस प्रकार दिया जा सकता है:---

---

1. C. N. Vakil: Fiscal Developments in British India, 1926, p. 371.
2. Rangaswamy Aiyangar : Some Modern Trends in Public Finance, 1936.

"यह कर-भार में अनिश्चित, तखमीना लगाने तथा वसूली में गलत, अपने शासन में खर्चीला, अपने विभाजन में असमान तथा लोचरहित है। यह कर देने वाले कृषक को लाभ न पहुंचा कर पूंजी की वृद्धि तथा कृषि की उन्नति में बाधक है।"[1]

सिंचाई–पानी की दर कर के रूप में है। किंतु यह किसी एक सिद्धांत पर नहीं लगाया जाता। प्रत्येक प्रान्त का रिवाज पृथक्-पृथक् है। कभी-कभी उसको भूमिकर के साथ मिला दिया जाता है। अन्य मामलों में नहरी भूमि तथा बिना नहर वाली भूमि पर अलग दर से कर लिया जाता है। पानी-कर को सेवा की लागत के सिद्धांत पर नहीं लिया जा सकता क्योंकि ऐसी अवस्था में प्रत्येक आबपाशी कार्य के लिए दर अलग-अलग होगी। न उसको लाभ के सिद्धांत पर ही लगाया जा सकता है। कोई मध्यमार्ग निकालना ही होगा।

किसान के साथ उदार व्यवहार किये जाने के लिए कारण हैं। यह सोचना अनुचित है कि कोई विशेष वर्ग भूसिंचन के कार्यों से लाभ उठाता है। वह राष्ट्रीय आय तथा कर लगाने योग्य शक्ति में वृद्धि करते हैं। वह अकाल पड़ने पर प्राणरक्षा करते हैं और भूमि कर न लेने अथवा उसमें कमी करने की आवश्यकता को दूर करते हैं, अतएव उनके ऊपर अधिक व्यापक दृष्टिकोण से विचार करने की आवश्यकता है।

आजकल पानी की दरों पर बहुत कम पुनर्विचार किया जाता है। किंतु कृषि के लिए लाभ-प्रद अथवा अलाभप्रद होने की दृष्टि से उस पर पुनर्विचार किया जाना आवश्यक है। अच्छा हो कि भूसिंचन अर्थप्रबन्ध को साधारण प्रान्तीय अर्थप्रबन्ध से पृथक् कर दिया जावे।

उत्पाद कर–शराब, औषधियों, अफीम आदि के बनाने पर लगे हुए कर तथा उनके बेचने वालों के लैसंस शुल्क से उत्पादन कर प्राप्त होता है। १९२९-३० में उत्पाद कर की आय २०,४१,१३,२८५ रुपये थी। यह भयप्रद थी। क्योंकि इससे प्रकट था कि देश में शराब पीने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। गत वर्षों में उत्पाद कर की आय या तो कम हुई है अथवा वह ठहर गई है। यह निश्चय है कि कुछ समय बाद आय का यह साधन समाप्त हो जावेगा। भारत के प्रत्येक सुधारक की यह इच्छा है कि देश से शराब पीने की बुराई एकदम दूर हो जावे।

सरकार औसत रूप से अधिक कर लगा कर इसकी खपत को कम करने का यत्न कर रही है। कर लगाने की नीति में सावधानता शराब के चोरी से बनाये जाने को रोकने के लिए है। कांग्रेस मन्त्रिमंडल कुछ चुने हुए स्थानों में क्रमशः शराबबंदी करने की नीति पर साहसपूर्वक चल रहे हैं। कलम की एक चोट से शराब को एकदम बन्द कर देना व्यावहारिक अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से ठीक नहीं है। आय में कमी होने के कारण उससे शासन का व्यय बढ़ जावेगा, जो चोरी से शराब लाने तथा बनाने को रोकने में पड़ेगा। किंतु दूकानों की संख्या घटाने, दूकान खोलने के घंटों में कमी करके, माल कम लाकर, अधिक तेज शराब पर अधिक कर लगा कर, दूकानों में अन्य आकर्षणों को कम करके तथा दारूबंदी क्षेत्रों में क्रमिक वृद्धि करके शराबबन्दी के उद्देश्य को प्राप्त किया जा सकता है। १९५२-५३ में कुल आय इसस्रोत से २६ करोड़ रुपये की और पंजाब से २·५ करोड़ रु०।

जंगलात—जंगलों में बहुत लम्बी अवधि के लिए अत्यन्त उदारतापूर्वक पूंजी लगाकर ही उनसे कुछ फल प्राप्त किया जा सकता है। पौधों के लगाने, उनकी रक्षा करने और यातायात के साधनों का विकास करने में बहुत अधिक रकम खर्च करनी पड़ती है।

---

1. Narsimha Aiyangar : Indian Journal of Economics, VII (1927) p. 147.

व्यक्तिगत प्रयत्न से ऐसा नहीं किया जा सकता। किंतु राज्य उसको सुगमता से कर सकता है। और उसके फल की संतोषपूर्वक प्रतीक्षा कर सकता है, क्योंकि निकट भविष्य में भारी लाभ प्राप्त करने की आशा नहीं की जा सकती।। स्पष्ट बात यह है कि हमने अपने वनों पर आवश्यकता से बहुत कम व्यय किया है। उसकी आय का अधिकांश लकड़ी, ईंधन तथा अन्य छोटे उत्पादनों को बेचने तथा चराई शुल्क वसूल करने से प्राप्त होता है। जंगलात से १९३९-४० में कुल आय ३ करोड़ रुपये की थी।

स्टाम्प—स्टाम्प न्यायसम्बन्धी तथा व्यापारी होते हैं। न्यायसम्बन्धी स्टाम्प दीवानी तथा फौजदारी के प्रार्थना-पत्रों पर तथा व्यापारी स्टाम्प व्यापारी सौदों में लगाये जाते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि न्यायसम्बन्धी स्टाम्प न्याय पर कर हैं। किंतु यह बात ध्यान में रखने की है कि ऐसे मामलों में शासन को मुकदमा करने वाली जनता की कुछ सेवा भी करनी ही पड़ती है। ऋणग्रस्तता के कानूनों के कारण मुकदमों की संख्या में कमी हो गयी है, जिससे स्टाम्पों की बिक्री पर्याप्त कम हो गयी है, जो कि १९३९-४० में ब्रिटिश भारत में १० करोड़ रुपये की थी। १९५२-५३ में 'क' भाग राज्यों में स्टाम्पों से कुल आय २०·२ करोड़ रु० थी।

रजिस्ट्रेशन—जब अचर सम्पत्ति के दस्तावेजों की रजिस्ट्री कराई जाती है, रजिस्ट्रेशन शुल्क लगता है। इस मद में आय बढ़ने का अर्थ यह है कि आर्थिक संकट के कारण लोगों को अपनी सम्पत्ति का हस्तान्तरण करने के लिए विवश होना पड़ रहा है। यह इस बात की रकम है कि उस सौदे का दस्तावेज निश्चित रूप में संतोषजनक है। साथ ही उससे इस विषय पर किसी भावी झगड़े को रोका जा सकता है अथवा सुगमता से निपटाया जा सकता है। इसकी कुल आय कम है। १९३९-४० में यह ब्रिटिश भारत में एक करोड़ रुपया थी।

सारिणी सूची के कर—यह वह कर थे, जिनको लगाने का अधिकार प्रान्तीय सरकारों को १९१९ के सुधार अधिनियम के अनुसार मिला था, अर्थात् शर्तबन्दी पर कर, मनोरंजन कर, विज्ञापन कर, उत्तराधिकार कर तथा कृषि-भिन्न उपयोग में भूमि को लेने पर कर।

३. प्रान्तीय व्यय। शासन यंत्र को बनाये रखने के अतिरिक्त प्रान्तीय सरकारों को जनता की सामाजिक आवश्यकताओं पर ध्यान देकर शिक्षा, चिकित्सा और स्वास्थ्य, कृषि उन्नति तथा औद्योगिक उन्नति जैसे राष्ट्रनिर्माणकारी विभागों का प्रबन्ध भी करना पड़ता है। अन्य उन्नत देशों की अपेक्षा भारतीय प्रान्तों में इन सेवाओं पर अत्यधिक कम व्यय किया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि भारत में इन सेवाओं पर जिस मान को बनाये रखा जाता है, वह बहुत हल्का है। इसी कारण भारतीय जनता का केवल एक अत्यधिक अल्पसंख्यक वर्ग ही साक्षर है और लाखों स्त्रियों, पुरुषों तथा बच्चों को महामारियों का शिकार होना पड़ता है।

४· प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्था की तुलनात्मक आलोचना। इस बात को फिर दोहराना पड़ता है कि प्रान्तीय सरकारों के आय के साधन ऐसे हैं जो बढ़ने वाले नहीं, वरन् क्रमशः कम ही होते जावेंगे। इसके विपरीत, जो सेवाएं उनको देनी पड़ती हैं, उनके ठीक-ठीक विस्तार तथा उनका उत्तम ढंग से संचालन करने के लिए उनको बराबर अधिकाधिक रकमें मिलनी चाहिएं। १९१३ से लगाकर १९२९ के बीच भूमि-कर केवल ७॥ प्रतिशत ही बढ़ा है। उत्पाद कर प्रायः जैसे-के-तैसे बने रहे हैं। स्टाम्प की आय तो १९२५ के बाद पर्याप्त घट गई हैं। १९२३-२४ तथा १९२८-२९ के बीच, जबकि प्रांतीय व्यय में २२ प्रतिशत वृद्धि हुई, प्रान्तों की समस्त आय में कुल ४ प्रतिशत

वृद्धि हुई है।[1] भूमि कर पहले ही से अधिक हैं और उनको कम किया जाना चाहिए। उत्पाद कर तो किसी दिन बिल्कुल ही समाप्त हो जायगा, और रजिस्ट्रेशन की आय बहुत कम है। जंगलों को विकास के लिए भारी व्यय की आवश्यकता है। इसके विपरीत यदि हमको शिक्षा तथा स्वास्थ्य के मामलों में अन्य देशों के स्तर पर आना है तो और भी अधिक बड़ी रकमें खर्च करनी पड़ेंगी। इन दोनों विभागों पर व्यय बहुत कम किया जाता है और चिकित्सा की सुविधाएं अत्यन्त अपर्याप्त हैं।

प्रान्तों की आय के साधन न केवल अपर्याप्त हैं, किन्तु प्रान्तों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए वह लोचरहित भी हैं।

इसके अतिरिक्त प्रान्तीय करों का बोझ भी अत्यन्त विषमता से विभिन्न वर्गों में विभक्त किया गया है। निर्धनों पर सबसे अधिक बोझ है। भूमि कर तथा भूसिंचन कर का अधिकांश निर्धनों की जेब से आता है और न्यायालय के स्टाम्प भी प्रायः उन्हीं की जेब से आय देते हैं। १९३२ में २७,११,३९६ दीवानी मुकदमों में से, ३,०२,३२० मुकदमें १० रुपये से कम मूल्य के थे। और कुल के ६७ प्रतिशत १०० रुपये से कम मूल्य के थे।[2]

रजिस्ट्रेशन शुल्क भी—जहां तक भूमि का सम्बन्ध है, निर्धनों के ऊपर ही पड़ता है। नगर के रहने वाले सम्पन्न लोग जब तक शराब या मुकदमेबाजी में न पड़ जावें, प्रान्त की इस आय में कुछ नहीं देते। इसके विपरीत प्रान्तीय सरकारों की सेवाओं का सब से अधिक लाभ उन्हीं को पहुंचता है।

इसके अतिरिक्त प्रान्तीय सरकारों की आर्थिक नीति अत्यन्त पुरातनपंथी है। वह आय के विकास की अपेक्षा छंटनी में अधिक विश्वास करती हैं। जंगलात पर अत्यन्त कंजूसी से खर्च किया जाता है। धनी भूस्वामियों पर कर का अधिक बोझ डालने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। न्याय और व्यवस्था आय के अधिकांश को निगल जाते हैं तथा सामाजिक सेवाओं पर अत्यधिक कम खर्च किया जाता है। भूसिंचन नीति का उद्देश्य भी लाभ ही है, जिससे या तो निर्धन किसान को अधिक देना पड़ता है अथवा रक्षात्मक प्रकृति के अलाभकर कार्यों की उपेक्षा की जाती है।

आजकल प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्था पर भूमि कर का शासन है। भारत में भूमि कर समस्त आय का १६ प्रतिशत है, जब कि ग्रेट ब्रिटेन में वह १९३५-३६ में कुल ८२४·८ लाख पौंड आय में से आठ लाख पौंड ही था, फ्रांस में २ प्रतिशत तथा इटली[3] में कुल सात प्रतिशत था।

भारत के निर्धन किसान को बहुत समय से राहत मिलना चाहिए था। जब बिक्री कर तथा केन्द्रीय उत्पाद कर जैसे कर प्रान्तों के हित के लिए लगाये जावेंगे तो उस समय भूमि कर पर अत्यधिक निर्भरता को कम किया जा सकेगा।

५, प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्था में सुधार के प्रस्ताव। प्रान्तों की अर्थ-व्यवस्था में निम्न लिखित सुधार किये जाने का प्रस्ताव किया जाता है—

(१) जितनी शीघ्र भी सम्भव हो, प्रान्तों को उनके आय कर का पूर्ण भाग दे दिया जावे अथवा उनके भाग को ५० से बढ़ा कर ६६⅔ कर दिया जावे। औद्योगिक प्रान्तों के साथ इस प्रकार न्याय होगा। जैसा कि पहले लिखा गया है अर्थ कमीशन की सिफारिश के अनुसार आय कर की कुल आय में प्रान्तों का भाग ५० से ५५

1. Z. A. Ahmad : Public Revenue and Expenditure in India 1938, pp. 5—6.
2. Ibid, p. 24   3, Ibid, p, 35.

प्रतिशत कर दिया गया है ।

(२) निर्धन किसानों के भूमिकर को क्रमशः कम कर दिया जावे, जिससें कुछ समय बाद अलाभकारी खेतों को कर-मुक्त किया जा सके ।

(३) कृषि आय पर अविलम्ब उन्नतिशील कर लगाये जाने चाहिएं । इससे चौड़े कंधों पर उनका उचित बोझ आ जावेगा, और उससे निर्धन किसान को कुछ राहत दी जा सकेगी । इससे किसी मात्रा में प्रान्तीय करों का प्रतिगामी रूप कुछ ठीक हो सकेगा ।

(४) एक क्रमबद्ध उत्तराधिकार कर का भी वही प्रभाव होगा और उसे तुरन्त लगाया जाना चाहिए ।

(५) प्रान्तीय तथा स्थानीय अर्थ-व्यवस्थाओं में अधिक सहयोग होना चाहिए जिससे शासन की दोनों इकाइयां उनको दी हुई सेवाओं के स्तर को योग्यतापूर्वक बनाये रख सकें ।

(६) सब से बड़ी आवश्यकता है प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्था को बहुरंगी बनाना तथा उसकी भूमि कर पर असमानान्तर निर्भरता को कम करना । यह ग्रामीण उद्योग-धंधों तथा नगर के बड़े उद्योगों को प्रोत्साहित करके किया जा सकता है, जिससे कृषि तथा उद्योग-धंधों में अबसे अधिक अच्छा संतुलन हो सके । व्यापार और उद्योग-धंधों के विकास से कर लगाने के नये-नये क्षेत्र खुलेंगे ।

(७) कर के बोझ को समान करने के लिए धनिकों द्वारा उपयोग की जाने वाली वस्तुओं को नये करों का लक्ष्य बनाना चाहिए । व्यापारों तथा पेशों पर करों को भी उनमें लैसंस शुल्क लगा कर उसी उद्देश्य के लिए क्रमानुसार लगाया जा सकता है ।

(८) बजट को किसी-न-किसी प्रकार संतुलित करने की डरपोक नीति के स्थान में ऐसे सार्वजनिक कार्यों तथा सेवाओं पर उदारतापूर्वक खर्चने की नीति को अपनाना चाहिए, जिससे प्रान्त के मानवी तथा भौतिक साधन विकसित हों । यह कार्य अतिरिक्त कर लगा कर अथवा उधार लेकर पूर्ण किया जा सकता है । इस नीति से आगे चल कर लाभ होगा । आज हम एक व्यापक चक्र में हैं । हम लोग निर्धन हैं और अधिक कर नहीं दे सकते । इसलिए प्रान्तीय सरकारों के साधन आर्थिक विकास करने और उसके फलस्वरूप समृद्धि कराने के लिए अत्यन्त परिमित हैं और हम निर्धन के निर्धन बने रह जाते हैं । इस व्यापक चक्र को तोड़ देना चाहिए और उसको केवल एक कोने पर ही तोड़ा जा सकता है, अर्थात् प्रथम, राज्य धन खर्च करे और प्रान्त के साधनों का विकास करे ।

६. अप्राचीन प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्था । पिछले दिनों प्रांतीय अर्थ-व्यवस्था में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं :

प्रान्तीय स्वशासन के अन्तर्गत नये मंत्रियों के अपने प्रान्तों में जीवन की दशाओं में उन्नति करने के उत्साह के कारण कुछ नये कर लगाये गये । राष्ट्र-निर्माणकारी विभागों अथवा लोकहितकारी विभागों, उदाहरणार्थ—शिक्षा, चिकित्सा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि और उद्योगधंधों का कार्य प्रान्तीय सरकारों के पास आ गया । अधिकांश विकास योजनाओं का सम्बन्ध इन्हीं विभागों से है और उनको अधिक धन की आवश्यकता बराबर बढ़ती जाती है । प्रान्तीय स्वतन्त्रता लागू किये जाने के कुछ वर्षों के अन्दर-अन्दर ही प्रान्तीय सरकारों को आय के नये साधनों को खोजना पड़ा । नये लगाये हुए करों में से बिक्री कर, मनोरंजन कर, मोटर स्पिरिट की बिक्री पर कर, नागरिक क्षेत्रों की अचर सम्पत्ति पर कर, तम्बाकू पर कर तथा शर्तबंदी पर कर का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है । इन नये करों के अतिरिक्त कई प्रान्तों में स्टाम्प कर तथा कोर्ट फीस को बढ़ाया

गया। उत्तर प्रदेश सरकार ने एक रोजगार कर लगा दिया। इन आर्थिक उपायों के परिणामस्वरूप प्रान्तों के बजट को अनेकरूपता दी जा रही है।

युद्धकाल में प्रान्तों के बजटों में नियमानुसार अच्छी बचत देखने में आई। यह बचत १९४५-४६ में ११ करोड़ रुपये तक जा पहुंची। इससे प्रान्तीय अर्थ व्यवस्था में योजनाबद्धता का अभाव ही प्रकट हुआ, किन्तु प्रछन्न रूप में उससे कल्याण हुआ, क्योंकि सुरक्षा निधि की रकम, जो कि एक समय ७० करोड़ रुपये की थी, युद्धोत्तर वर्षों में घाटे को पूरा कर सकी और उससे युद्धोत्तर विकास योजनाओं का व्यय भी चल गया।

तौ भी प्रान्तों की कर की आय कम होती जाती है। यद्यपि १९३८-३९ से १९४८-४९ तक प्रान्तीय आय तिगुनी हो गई। किन्तु इसी बीच में कर की आय का अनुपात ७४·५ प्रतिशत से घट कर ६५·२ प्रतिशत ही रह गया। इससे यह स्पष्ट है कि प्रान्त केन्द्रीय सरकार के अनुदानों और उसकी सहायता पर अधिकाधिक निर्भर होते जाते हैं। प्रान्तीय आय का विकास करना आवश्यक है, जिससे सामाजिक सेवा के कार्यों तथा विकास एवं पुनर्निर्माण की योजनाओं के लिए पर्याप्त धन मिल सके।

आय के प्रान्तीय साधन पर ध्यान देते हुए हम बड़ी भारी मात्रा में लोच का अभाव पाते हैं। दस वर्षों (१९३८-३९ से १९४८-४९) में भूमि-कर में केवल १० लाख रुपये की वृद्धि ही हुई है। युद्धकाल में स्टाम्प कर, उत्पाद कर, जंगलों की आय आदि में कुछ वृद्धि हुई थी। किन्तु यह वृद्धि अस्थायी सिद्ध हुई। क्योंकि १९४५-४६ के बाद उत्पाद कर तथा स्टाम्प कर की आय घटने लगी।

गत शताब्दी में प्रान्तीय सरकारों ने कई नये-नये कर लगाये हैं। पश्चिमी बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, मद्रास, उड़ीसा और आसाम में कृषि आय कर लगाया गया है। अभी सभी प्रान्तों में बिक्री कर लगाया जा रहा है। अन्य नये कर ये हैं—शर्तबन्दी तथा जुये पर कर, मनोरंजन कर, पेशों तथा व्यापारों पर कर तथा नागरिक अचर सम्पत्ति पर कर। औद्योगिक तथा आर्थिक विकास के मान पर ध्यान देते हुए यह पता चलता है कि प्रायः सभी प्रान्तों में कर लगाने योग्य शक्ति की सीमा तक पहुंचा जा चुका है।

प्रान्तों के शराबबंदी ग्रामपंचायतों द्वारा मुकद्दमेबाजी में कमी तथा शर्तबन्दी एवं जुए को बन्द करने की नीति पर चलने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होने के कारण शर्तबन्दी कर, स्टाम्प कर, उत्पाद कर तथा रजिस्ट्रेशन कर में कमी होना अनिवार्य है। इसके विरुद्ध सुरक्षा सेवाओं, महंगाई-भत्तों, खाद्य अनुदानों तथा ऋण सेवाओं में व्यय कम नहीं किया जा सकता। राष्ट्र-निर्माण के विभागों पर व्यय बढ़ना ही चाहिए। १९३८-३९ तथा १९४८-४९ के बीच प्रान्तीय व्यय ९७७·७५ करोड़ रुपये बढ़ गया। इसमें से केवल २६·७ प्रतिशत सामाजिक सेवाओं पर तथा २३.२ प्रतिशत सुरक्षा सेवाओं पर लगा।

इससे प्रान्तों की आर्थिक कठिनाइयां बढ़ गयी हैं और वह केन्द्र से अधिकाधिक सहायता की मांग कर रहे हैं। वह आय कर में सबसे अधिक भाग के अतिरिक्त अनुदानों तथा आर्थिक सहायता की भी अधिकाधिक मांग करते जाते हैं। इसका उचित उपाय यह है कि शराब-बन्दी जैसे सुधार कार्यों को धीरे-धीरे किया जावे। अनिवार्य प्रारम्भिक (Primary) शिक्षा, जमींदारियों की जब्ती तथा शराबबंदी को अभी दो-तीन वर्ष तक और रोका जा सकता है, जिससे प्रान्त अपनी वर्तमान आर्थिक कठिनाइयों को पार कर स्वयं ही स्थायी जीवन की ओर अग्रसर हो सकें। प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्था को एक बुद्धिमतापूर्ण आधार पर आधारित करना चाहिए। प्रान्तीय आय तथा व्यय की भी एक अधिक अच्छी योजना बनाने की आवश्यकता है। पुलिस शासन तथा अनुत्पादक योजनाओं में बचत

करनी ही चाहिए, जिससे सामाजिक सेवाओं तथा उत्पादक योजनाओं के लिए धन मिल सके।

स्वतन्त्रता के आगमन तथा राजनीतिक शक्ति की चेतना के कारण प्रांतीय सरकारों ने देश की आर्थिक परिस्थिति पर ध्यान दिये बिना बड़ी-बड़ी योजनाओं को हाथ में लेकर उनपर कार्य करना आरम्भ कर दिया। इसके परिणामस्वरूप प्रान्तीय व्यय बढ़ गया और उसके फलस्वरूप मुद्रा स्फीति बढ़ गई तथा अर्थव्यवस्था के क्षत्र में गड़बड़ी फैल गई। यदि सरकार लागत का ध्यान किये बिना कुछ उद्देश्यों का अनुसरण करेगी तो समान उद्देश्यों को ही एकमात्र सर्वप्रभुत्व नहीं मिला करता। उदाहरणार्थ—शराबबन्दी के कारण जो आर्थिक क्षति उठानी पड़ती है, उसको पूरा करन के लिए बिना विशेष विचार के कर बढ़ाने पड़ते हैं, इससे शराबबन्दी का लाभ बहुत हल्का पड़ जाता है, यह हो सकता है कि नये करों से व्यापार तथा उद्योगधंधों की गति में बाधा पड़े। "अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा के विषय में भी यह बात स्मरण रखने योग्य है कि जब पहिले से सुधारी हुई भूमि पर भारी तथा वैज्ञानिक कृषि अधिक उत्तम तथा धनधान्यपूर्ण उत्पादन दे सकती है तो उस भूमि अथवा फसल पर विचार किये बिना शिक्षा-भूमि के तल को अधिक विस्तृत प्रदेश में खरोचने से व्यक्ति या समाज का कोई लाभ नहीं हो सकता।[1]

मुद्रा-स्फीति विरोधी उपाय के रूप में केन्द्रीय सरकार प्रान्तों को उनके सुधारों के पागलपन के कार्य से रोकना चाहती थी; जिसका अर्थ है कम आय तथा अधिक व्यय। अतएव प्रान्तीय अर्थमंत्रियों का एक सम्मेलन बुलाया गया। किन्तु ऐसा पता चलता है कि केन्द्रीय सरकार के परामर्श का अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। यद्यपि प्रत्येक प्रान्त ने घाटे का बजट न बनाने का प्रयत्न किया, किन्तु उनको नये-नये तथा बड़-बड़े खर्चों को बचाने के लिए अपनी वर्तमान आय के बलिदान करने के मार्ग पर बढ़ना होगा। दारूबन्दी लागू करने के लिए लगभग सभी प्रान्तों ने पर्याप्त उत्साह दिखलाया है। उन्होंने आय के साधनों का बहुत बुरी तरह से दोहन किया है। संभवतः इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया गया कि नये करों का व्यापार और उद्योगधंधों पर, और औसत व्यक्ति के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ेगा। न इस बात को देखने का यत्न किया गया है कि वह समस्त देश के सम्बन्ध में सार्वजनिक अर्थव्यवस्था में ठीक लागू होते हैं अथवा नहीं। इस प्रकार के विचारणा की उपेक्षा के रूप में बम्बई में स्थानीय बिक्री करों तथा केन्द्रीय उत्पाद करों को उदाहरण के रूप में उपस्थित किया जा सकता है, जिनका वस्त्र व्यापार पर विपरीत प्रभाव पड़ा।

गत दशाब्दी में राज्यों की आर्थिक-रचना में कुछ उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं। १९४६-४७ में कुल आय २४३·०७ करोड़ रुपये की थी। वह १९३८-३९ की तिगुनी आय से कुछ ही कम है। १९४९-५० में भारतीय संघ के सभी राज्यों की कुल आय २७५·३३ करोड़ रुपया थी। यद्यपि कई नये कर लगाये गये, किन्तु बिक्री-कर ने उन सभी को ढक लिया। उत्पाद कर के शीघ्रतापूर्वक कम होते जाने के कारण राज्यों को बिक्री कर लगाने के लिए विवश होना पड़ा। १९४५-४६ में उत्पाद कर (आबकारी कर) आय का सबसे बड़ा साधन था। वह कर की समस्त आय का अकेला ही ३०·८ प्रतिशत था। किन्तु दारूबन्दी की नीति के कारण उस आय में कमी होने लगी और १९४९-५० में उत्पाद कर समस्त कर आय का कुल १० प्रतिशत हो गया। कुछ समय बाद उत्पाद कर की आय बिल्कुल समाप्त हो जावेगी। अब उसके द्वारा छोड़े हुए स्थान को बिक्री कर भरता है।

1. Indian Finance, March 12, 1946, p. 445.

बिक्री कर का प्रथम आविर्भाव १९३९-४० में मद्रास में हुआ। अब तो उसका आकार बहुत लम्बा-चौड़ा हो गया है। १९४६-४७ में अविभक्त भारत में उससे १०·६६ करोड़ रुपये की आय हुई थी। किन्तु १९४९-५० में उसकी आय बढ़कर ३८·३० करोड़ रुपये हो गई। यह समस्त कर आय का लगभग एक पंचमांश था। मन्दी के लौट आने पर उसकी आय घट भी सकती है।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व भूमि कर सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। उसके बाद उत्पाद कर (आबकारी कर) तथा स्टाम्प कर थे। १९३८-३९ में इन तीनों की आय क्रमशः ४२·८४ प्रतिशत, २२·३५ प्रतिशत तथा १६·२३ प्रतिशत थी। भूमि कर तब से अब तक व्यावहारिक रूप में गतिहीन है। स्टाम्प कर की आय जो ९·८३ करोड़ रुपये १९३८-३९ में थी, १९४९-५० में बढ़कर १५·८४ करोड़ रुपये की हो गई। अब उसका समस्त करों में पांचवां स्थान है। उत्पाद कर, जिसका युद्ध से पूर्व दूसरा स्थान था, अब घटकर बहुत नीचा रह गया है जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है। आयकर में से राज्य को जो भाग मिलता है वह अब आय की प्रधान मद हो गया है। आयकर का जो भाग १९३८-३९ में १·५० करोड़ रुपये दिया जाता था उसे बढ़ा कर १९४९-५० में ४३·४३ करोड़ रुपये कर दिया गया। यद्यपि कुछ राज्यों में कृषि आय कर लगा दिया गया, किन्तु उसकी दर कम होने के कारण राज्यों की समस्त कर आय में उसका भाग कुल १·२२ प्रतिशत है।

७. द्वितीय महायुद्ध का प्रान्तीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव। केन्द्रीय अर्थव्यवस्था के समान प्रान्तीय अर्थव्यवस्था पर युद्ध जैसे बाह्य कारणों का उतना प्रभाव नहीं पड़ता। युद्ध का आय कर आदि पर तो प्रभाव पड़ना अनिवार्य है, किन्तु आय की प्रान्तीय मदों पर इस प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता। युद्ध का व्यय केन्द्रीय सरकार को चलाना पड़ता है। अतएव युद्ध परिस्थितियों के कारण प्रान्तीय अर्थव्यवस्था की रचना में विशेष परिवर्तन नहीं होता। निःसंदेह युद्ध-काल में नये-नये कर लगाने के कानून पास किये जाते हैं। उनको युद्ध की आवश्यकताओं की अपेक्षा प्रान्तों की अपनी सामाजिक कल्याण की आवश्यकताओं से लगाना पड़ता है। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रान्तों की जनता को युद्ध के प्रभाव अछूता छोड़ देते हैं। भोजन की कमी, अधिक मूल्य, आवश्यक वस्तुओं की कमी अथवा अनुदान विधि, यातायात की सुविधाओं में कमी तथा युद्ध उद्देश्यों के लिये कुछ ऋण अथवा देय आदि का कष्ट उनको भी होता ही है। किन्तु बात यह है कि प्रान्त की कर प्रणाली में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं किया जाता। तो भी प्रान्तों को हवाई आक्रमण विरोधी योजना-नाओं (A.R.P.) में कुछ खर्च करना ही पड़ता था। उनको अधिक पुलिस रखनी पड़ती थी तथा गेहूं एवं अन्य वस्तुओं के मूल्य नियंत्रण के लिये अधिकारी रखने पड़ पड़ते थे।

युद्धकाल में लगभग सभी प्रान्तों की आय बढ़ गयी। १९३८-३९ की ८५ करोड़ रुपये से बढ़ कर समस्त प्रान्तों की सम्मिलित आय १९४५-४६ में १९० करोड़ रुपये हो गई। बम्बई, उत्तर प्रदेश, मद्रास तथा बंगाल में तो २०० प्रतिशत वृद्धि हुई। यह आय अधिकतर आयकर के अपने-अपने भाग के बढ़ जाने के कारण मिलने वाली रकम से बढ़ी। कृषि पदार्थों का मूल्य बढ़ जाने से भूमि कर की आय भी बढ़ गयी। लकड़ी की मांग बढ़ जाने से जंगलों की आय भी बढ़ गयी। मनोरंजन कर, बिक्री कर तथा स्टाम्प कर की आय में भी वृद्धि हुई। विभिन्न साधनों से उत्पादन बढ़ जाने से आय में वृद्धि हुई। यह वृद्धि कर बढ़ाने के कारण नहीं हुई। प्रान्तों ने अधिकतम आय तथा न्यूनतम व्यय की नीति का अनुसरण किया। प्रत्येक प्रान्त युद्धोत्तर पुनर्निर्माण के लिये कोष का निर्माण कर रहा था। पंजाब ने एक कृषक हितकारी फंड तथा एक विशेष विकास फंड भी बनाया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्वितीय महायुद्ध ने प्रान्तों की आर्थिक स्थिति को पर्याप्त प्रबल बना दिया ।

स्थानीय अर्थव्यवस्था

८. प्रस्तावना। स्थानीय अर्थव्यवस्था की समस्या भी केन्द्रीय तथा प्रान्तीय अर्थ-व्यवस्था जैसी ही है । प्रत्येक मामले में अधिकारी लोग अपने द्वारा किये जाने वाले कार्यों में पूर्णता के स्तर को बढ़ाने के लिये उत्सुक हैं और इसी उद्देश्य से वह उसकी आय को बढ़ाना चाहते हैं । स्थानीय अर्थव्यवस्था का कर निर्धारण के सिद्ध सिद्धान्तों—समानता, मितव्ययिता, निश्चितता, सुविधा, उत्पादकता तथा लोच—के अनुसार ही संचालन किया जाता है ।

किन्तु उसमें थोड़ा-सा कर का अनुमान लगाने के आधार में अन्तर है । क्योंकि स्थानीय अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार अचर सम्पत्ति होती है । राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में एकरूपता आवश्यक तथा महत्वपूर्ण होती है, जब कि स्थानीय अर्थव्यवस्था में अधिक विभिन्नता होती है । क्योंकि उसको स्थानीय दशा के अनुरूप होना चाहिए । इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था औचित्य के सिद्धान्त का अधिक सम्मान करती है, जब कि स्थानीय अर्थ-व्यवस्था लाभ के सिद्धान्त पर अधिक बल देती है । अन्त में स्थानीय अर्थव्यवस्था का आकार बहुत छोटा होता है ।

अब हमको यह देखना है कि क्या भारत में स्थानीय अर्थव्यवस्था औचित्यपूर्ण तथा आवश्यकतानुसार ठीक है ? हमारे स्थानीय स्वशासन की महत्वपूर्ण इकाइयां नगर-पालिकायें (म्युनिसिपल बोर्ड) तथा जिला बोर्ड (डिस्ट्रिक्ट बोर्ड) हैं ।

९. म्युनिसिपल अर्थव्यवस्था। म्युनिसिपैलिटियों को अनेक कार्य करने पड़ते हैं, जिसमें कुछ अनिवार्य तथा कुछ ऐच्छिक होते हैं । उनको सफाई तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य सड़कों का निर्माण तथा उनकी मरम्मत, रोशनी, पानी तथा प्रारम्भिक (Primary) तथा माध्यमिक (Secondary) शिक्षा का प्रबन्ध करना होता है । यदि वह चाहें तो वह सार्वजनिक पुस्तकालय खोल सकती हैं, प्रदर्शनालय रख सकती हैं तथा सार्वजनिक पार्क आदि बना सकती हैं। इन कार्यों को करने के लिए धन की आवश्यकता होती है ।

कर निर्धारण जांच कमेटी (Taxation Enquiry Committee) के अनुसार म्युनिसिपैलिटी की आय के साधनों को चार शीर्षकों में क्रमबद्ध रखा जा सकता है —

(१) **व्यापारियों पर कर,** जैसे मार्ग कर (Toll tax), सीमा कर (Terminal tax) तथा चुंगी कर (Octroi duty) ।

(२) **गृह-कर** (House tax) तथा मकानों के स्थानों पर कर, जैसे **संपत्तिकर।**

(३) **व्यक्तियों** पर कर, जैसे, यात्रियों, घरेलू नौकरों, कुत्तों तथा अन्य पशुओं पर कर, तथा परिस्थितियों, पेशों, व्यापारों और कार्यों पर कर ।

(४) **शुल्क तथा लैसंस**–कुछ दी हुई सेवाओं पर शुल्क लिया जाता है, जैसे स्कूल फीस, सड़क बुहारने का शुल्क, बाजार शुल्क या कसाईखानों का शुल्क । लैसंस लगाने की प्रणाली का उद्देश्य भी कुछ कार्यों को नियमबद्ध करना ही है । जैसे गाड़ियों तथा भयंकर एवं अपराधपूर्ण व्यापारों से संबंध रखने वाले, कार्पोरेशन तथा अन्य बड़ी–

बड़ी म्युनिसिपैलिटियां सार्वजनिक उपयोग की सेवाओं—जैसे बिजली या गैस देना, बस या ट्राम सर्विस अथवा किसी ऐसे ही अन्य व्यापारिक कार्य से बड़ा भारी लाभ प्राप्त करके अपनी आय को बढ़ा लेते हैं। १९३९-४० में भारत में ७५६ म्युनिसिपैलिटियां थीं और उनकी कुल आय ४४,३१,४२,१६८ रुपये थी। उनको दिये हुए करों से १३,७१,४३,३७४ रुपये की तथा अन्य साधनों से ३०,५९,९८,७९४ रुपये की आय थी। इस आय का औसत प्रति व्यक्ति ८ रुपया ७ आना ६ पाई पड़ता था।

इन करों में से संख्या (१) में चुंगी, मार्ग कर तथा सीमा कर अत्यन्त आपत्तिजनक हैं। वह व्यापार में बाधा डालते हैं और बड़ी भारी असुविधा के साधन हैं। उनसे वापिसी में तो बड़ी असुविधा होती है और वह सबसे अधिक अप्रगतिशील हैं। निरीक्षण ढिलाई के कारण एक भारी संख्या कर देने से बच जाती है। सारांश यह है कि चुंगी कर कर-शास्त्र की सभी संहिताओं के विरुद्ध एक अपराध कार्य है। कर निर्धारण जांच कमेटी ने प्रस्ताव किया था कि सके स्थान में किसी प्रकार का बिक्री कर लगा देना चाहिये। अन्य सभी देशों में स्थानीय अर्थव्यवस्था में से चुंगी कर को व्यावहारिक रूप में समाप्त कर दिया गया है और सम्पत्ति कर को अधिक महत्वपूर्ण स्थान मिल गया है। यह अत्यन्त खेद की बात है कि भारत में चुंगी कर अपने सभी आपत्तिजनक रूपों सहित म्युनिसिपल अर्थव्यवस्था का प्रधान कर बना हुआ है।

१०. जिला (देहाती) बोर्डों की अर्थव्यस्था। भारत गांवों का देश है। उसकी जनसंख्या का १० में से ९ भाग ग्रामीण क्षेत्रों में रहता है। जिला बोर्डों से उन लोगों के स्वार्थों की देखभाल की आशा की जाती है, अतएव वह स्थानीय स्वशासन की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण इकाई है। किन्तु अधिक सक्रिय न होने के कारण जनता की दृष्टि में उनका स्थान नगर की म्युनिसिपैलिटियों जैसा नहीं होता।

डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को यह काम करने पड़ते हैं—सड़कों, पुलों, घाटों आदि की साज संभाल रखना, स्कूलों, औषधालयों तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य के अन्य प्रबन्ध कार्यों को चलाना। उनकी आय का सबसे बड़ा साधन भूमि कर पर प्रान्तीय सरकार द्वारा उसके साथ ही लिया जाने वाला अधिभार (Surcharge) है। डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को यह अधिकार दिया गया है कि यदि वह चाहें तो भूमि का कम से कम ६॥ प्रतिशत तथा अधिक से अधिक १२॥ प्रतिशत कर वसूल कर सकें। उनको नागरिक कार्यों तथा अन्य विभिन्न साधनों से भी कुछ आय हो जाती है। पंजाब के डिस्ट्रिक्ट बोर्डों ने हैसियत टैक्स तथा पेशा टैक्स लगा रखे हैं।

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की आय का अधिकांश भूमिकर के साथ एक समतल दर पर वसूल किया जाने वाला प्रान्तीय कर है। यह कर न तो क्रमबद्ध होते हैं और न इनको करदाता की योग्यता के अनुसार लगाया जाता है। अतएव यह औचित्य शास्त्र के सिद्धांत का उल्लंघन करते हैं। हमको इसी कहावत की शरण लेनी पड़ती है कि 'पुराना कर कोई कर नहीं है।' यह भूमि कर जैसा ही लोचरहित होता है। पंजाब में भूमि कर की क्रमिक पद्धति लागू किये जाने से उसको आय का घटने-बढ़ने वाला साधन बना दिया गया है।

भारत भर के सभी डिस्ट्रिक्ट बोर्डों की कुल आय १७ करोड़ रुपया थी। इतनी थोड़ी-सी रकम से डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को शिक्षा, अस्पतालों, महामारियों के विरुद्ध प्रतिबन्धक उपायों का काम चलाना तथा सभी पांच लाख गांवों को आपस में मिलाने वाली सड़कें बनानी पड़ती हैं। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि आज सहस्रों गांवों में न

तो कोई स्कूल है, न अस्पताल है और न वहां कोई सड़क है। डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को सदा ही धन की कमी बनी रहती है। इसीलिये प्रान्तीय सहायता की रकम को पर्याप्त बढ़ाना आवश्यक है और जैसा कि कर निर्धारण जांच समिति ने प्रस्ताव किया है कि भूमि कर को इतने हल्के स्तर पर लगाया जावे कि डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को उसके लिए ऊपर एक स्थानीय कर लगाने योग्य अवकाश छूट जावे। गत वर्षों में कर को बढ़ाने की अथवा मद्रास के समान अनेक कर लगाने की प्रवृत्ति बढ़ती रही है। स्थानीय दर को भी उन्नतिशील बनाया जाना चाहिये।

११. स्थानीय साधनों की स्वल्पता। भारत में अभी पिछले वैधानिक परिवर्तनों स स्थानीय संस्थाओं को बड़े भारी अधिकार मिल गये हैं। स्थानीय संस्थाओं को करने के लिए जो कार्य दिये गये हैं, वह अत्यन्त विस्तृत तथा विभिन्न आकार के हैं—शिक्षा, चिकित्सा, सफाई तथा संचार साधनों में सुधार जैसी जिन सेवाओं की हम म्युनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डों से किये जाने की आशा करते हैं, वह अत्यन्त राष्ट्रीय महत्व के हैं। इस सारी बात को तथा उनके द्वारा सेवा किये जाने वाले क्षेत्रफल तथा जनसंख्या की दृष्टि में रखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उनके साधन बहुत कम हैं। १९२७-२८ में ब्रिटिश भारत में सभी देहाती बोर्डों की समस्त आय सवा करोड़ पौंड थी। जोकि लन्दन कौंटी कौंसिल[1] की आय से जरा ही ज्यादा है। १९३१-३२ में स्थानीय बोर्डों का समस्त व्यय केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय सभी व्ययों का कुल ११ प्रतिशत था। यह व्यय प्रति व्यक्ति कुल १ रुपया १ आना बैठता था। प्रति व्यक्ति इतनी कम रकम खर्च करके, विशेषकर जबकि उसको स्थानीय व्यय की इतनी अधिक मदों में खर्च करना पड़ता है—हम किस चमत्कार की आशा कर सकते हैं। इंग्लैंड और वेल्स ने १९२९-३० में समस्त व्यय का ३५ प्रतिशत स्थानीय बोर्डों पर व्यय किया, जो जो प्रति व्यक्ति १० पौंड १७ शिलिंग बैठता है। अमरीका में स्थानीय व्यय समस्त सार्वजनिक व्यय का ५५ प्रतिशत और जापान में ५०[2] प्रतिशत, पंजाब में विभिन्न सामाजिक सेवाओं पर म्युनिसिपैलिटियों ने प्रति व्यक्ति ६ रुपये ८ आना खर्च किया था।[3] इतने कम व्यय के साथ हमारी स्थानीय संस्थाएं शासन के आधुनिक मान को न तो प्राप्त कर सकती है और न बनाये रख सकती हैं। यही कारण है कि हैजा, प्लेग (ताऊन) तथा चेचक जैसे संक्रामक रोग भारत में इतने अधिक फैलते हैं कि सारे संसार भर में सब प्रकार से मिला कर भी वह इतना नहीं फैलाते और इसी लिए हमारी शिक्षा में उतनी अधिक बाधा तथा व्यर्थ व्यय होता है।

स्थानीय अर्थ-व्यवस्था में इतनी तंगी के कारण निम्नलिखित हैं — (१) जनता की सर्वसाधारण निर्धनता तथा कर लगाने योग्य अत्यन्त कम शक्ति, (२) कर देने में असहमति, (३) नगर पिताओं में साहस का अभाव। उनको यह भय रहता है कि कहीं वह बदनाम न हो जायें, जिससे वह दुबारा चुनाव में न आ पावें। इसका परिणाम यह होता है कि कुछ साधनों पर तो कर लगाया ही नहीं जाता और कुछ पर कर कम लगाया जाता है।

(४) दोषपूर्ण निरीक्षण तथा अपर्याप्त शासन के फलस्वरूप अनेक व्यक्ति कर देने से बच जाते हैं और अनेक के पास बकाया रकम एकत्रित हो जाती है। इस तथ्य को लग-

1. Indian Statutory Commission Report, 1930. Vol. I. p. 336.
2. Economic Problems of Modern India, 1941. Edited by Radha-Kamal Mukerjee. pp. 430-31.
3. D. K. Malhotra: "Finance of Local Boards in the Punjab," a paper read at the 25th Indian Economic Conference.

भग सभी प्रांतों में स्थानीय संस्थाओं के कार्यों की रिपोर्टों में पाया जाता है।

(५) स्थानीय संस्थाओं का विशाल कार्यक्षेत्र।

(६) किन्तु अत्यन्त मौलिक कारण है केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय अर्थव्यवस्था के बीच में साधनों का अशुद्ध विभाजन। अन्य देशों में भूमि कर विशेष रूप से स्थानीय संस्थाओं के लिए छोड़ दिये जाते हैं। किन्तु भारत में प्रान्तीय सरकारें भूमि कर को अपने पास मुख्य रूप से रखती हैं, क्योंकि केन्द्रीय सरकार ने उनसे उनके आयकर जैसे उचित साधन को छीना हुआ है।

(७) प्रान्तीय सरकार ने जो अभी-अभी बिक्री कर और नागरिक अचर सम्पत्ति कर तथा मनोरंजन कर जैसे करों को लगाया है वह भी स्थानीय अर्थव्यवस्था के ठोस साधनों में पराधिकार प्रवेश ही है।

(८) स्थानीय संस्थायें अपने साधनों से बाहर जाकर मूर्खता से शिक्षा तथा स्वास्थ्य की योजनाओं को अपने हाथ में ले लेती हैं। इससे उनकी आर्थिक कठिनाइयां बढ़ जाती हैं। इसीलिए उनकी सेवाओं के मान (Standard) हल्के हैं और उनके कर्मचारियों के वेतन में आए दिन कटौती होती रहती है।

हमारी स्थानीय संस्थाओं के साधनों की अपर्याप्तता के अनेक कारणों में से यह थोड़े से कारण हैं। इन्हीं के कारण वह हमारी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में अपना योग्य कार्य नहीं कर पातीं।

१२. स्थानीय संस्थाओं के साधनों को किस प्रकार विकसित किया जावे। हम यह देख चुके हैं कि स्थानीय संस्थायें अपने साधनों के अपर्याप्त होने के कारण किस प्रकार अपने कार्य का भली भांति सम्पादन नहीं कर पातीं। हमने उनकी अयोग्यता के कारणों पर भी विचार किया है। स्थानीय संस्थाओं की मुख्य समस्या है उनके साधनों को विकसित करके अधिक उत्तम बनाना।

हमको यह आरम्भ में ही कह देना चाहिये कि जनता की संक्रामक निर्धनता के कारण नये कर लगाने के साधन खोजने में भारी बाधाएं हैं। शासन यंत्र को कुछ कठोर करने से कुछ काम हो सकता है, जिससे उनमें पूर्णता तथा योग्यता लाई जा सके। जबतक जनता तथा स्थानीय संस्थाओं में उनके प्रतिनिधियों में पूर्ण नागरिक उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न नहीं होती, उनके ऊपर प्रान्तीय सरकार इस प्रकार का कठोर निर्णय रखे कि किसी के ऊपर उचित मात्रा से कम कर न लगे। कोई देने योग्य होता हुआ कर से न छुटने पावे, किसी के पास कर की रकम जमा न होने पावे अथवा वर्तमान साधनों से अधिक से अधिक प्राप्त करने में कोई भूल न होने पावे। व्यय के ऊपर भी कठोर निरीक्षण रखा जावे, जिससे सार्वजनिक धन का अपव्यय, निजी उपयोग में लाना अथवा अन्य प्रकार से दुरुपयोग करना कठिन हो जावे।

कर निर्धारण जांच कमेटी (Taxation Enquiry Committee) ने स्थानीय अर्थ-व्यवस्थाओं के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये हैं :—

(१) भूमि कर को कम दर पर लगा कर उसका मान स्थिर कर दिया जावे, जिससे स्थानीय कर लगाने की गुंजायश उसमें निकल आवे।

(२) स्थानीय संस्थाओं को प्रान्तीय सरकार के भूमिकरों में से तथा कृषिभिन्न-भूमि की दर को बढ़ा कर उसकी वृद्धि में से एक भाग दिया जाना चाहिए।

(३) म्युनिसिपैलिटियां एक विज्ञापन-कर लगावें।

(४) प्रान्तीय सरकारें मनोरंजन कर तथा शर्तबन्दी कर में एक भाग स्थानीय संस्थाओं को दें।

(५) परिस्थितियों, सम्पत्ति तथा पेशों पर करों को और भी अधिक व्यापक बनाया जावे।

(६) केन्द्रीय सरकार को मोटरकारों पर आयात कर घटा देना चाहिए और प्रान्तीय सरकारों को इस बात की अनुमति देनी चाहिए कि वह स्थानीय संस्थाओं के हित के लिए उस पर अधिभार (Surcharge) लगा सकें।

(७) स्थानीय संस्थाओं को विवाहों की रजिस्ट्री पर एक शुल्क लगाना चाहिए।

(८) प्रान्तीय सरकारों को राष्ट्रीय महत्व की कुछ ऐसी सेवाओं की आर्थिक सहायता करनी चाहिए, जो अब स्थानीय संस्थाओं द्वारा की जाती है। इस सहायता का उद्देश्य केवल उनके साधन बढ़ाना न हो, वरन् उनमें कार्य-दक्षता उत्पन्न करना भी हो।

इन प्रस्तावों में हम निम्नलिखित प्रस्तावों को और सम्मिलित कर सकते हैं:—

(९) प्रान्तीय सरकारों को मोटरकारों के कर के एक बड़े भाग को अथवा पूरे का पूरा स्थानीय संस्थाओं को दे देना चाहिए। साथ ही उनको नये करों में, जैसे बिक्री कर, अचर सम्पत्ति कर, मनोरंजन कर तथा कृषि आयकर का एक भाग, जिसे तुरन्त लगाया जाना चाहिए—स्थानीय संस्थाओं को देना चाहिए।

(१०) स्थानीय संस्थाओं, विशेषकर म्युनिसिपैलिटियों को व्यापारिक रूप वाले ऐसे उत्पादक कार्यों पर कर लगाना चाहिए, जिनकी अभी तक पूर्णतया उपेक्षा की गई है। ऐसे कार्य यह हो सकते हैं—तम्बाकू और पैट्रोल जैसी वस्तुओं की बिक्री का एकाधिकार, सिनेमाओं, सार्वजनिक उपयोग की सेवाओं, जैसे बिजली, स्थानीय यातायात सेवाओं, गन्दे पानी के नालों तथा खाद की बिक्री। संसार की सभी म्युनिसिपैलिटियों ने म्युनिसिपैलिटियों के व्यापार तथा उद्योग-धन्धों के क्षेत्र को बढ़ाकर अपने साधनों का विकास करने को पसन्द किया है। आय का यह बड़ा अच्छा साधन है। यह खेद की बात है कि इसकी अब तक उपेक्षा की जाती है।

(११) एक और साधन की भी अब तक उपेक्षा की गई है। वह है विशेष कर लगाना। यदि किसी सम्पत्ति को म्युनिसिपैलिटी द्वारा किये हुए सुधार कार्यों, उदाहरणार्थ कोलतार की सड़क तथा भूम्यन्तर्गत नालियों से लाभ पहुंचा है, तो उस सम्पत्ति के मालिक को प्राप्त लाभ के अनुपात में म्युनिसिपैलिटी को विशेष कर देना चाहिए। इस प्रकार के विशेषकरों का उपयोग अमरीका, ब्रिटेन तथा यूरोप के अन्य देशों में अत्यंत व्यापक रूप में किया जाता है। और इस बात का कोई कारण दिखलाई नहीं देता कि उसकी यहां भी क्यों उपेक्षा की जावे। सम्भवतः निहित स्वार्थ वाले इसमें बाधा डालते हैं।

(१२) शिक्षा, चिकित्सा, सफाई तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा ऐसी बड़ी-बड़ी सड़कों के साज-संवार के व्यय के अधिक भाग को—जिन पर एक से अधिक जिलों का यातायात चलता रहता है—प्रान्तीय खजाने से दिया जाना चाहिए। क्योंकि इनके स्थानीय महत्व की अपेक्षा कुछ व्यापक महत्व होता है।

(१३) इतना सब कुछ हो जाने पर प्रान्तीय सरकारों को उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता देने की आवश्यकता पड़ेगी।

(१४) ऋण का उपयोग आजकल की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक किया

जाना चाहिए। म्युनिसिपैलिटी के व्यापार तथा भारी कार्यों के लिए धन जुटाने के लिए तो विशेष रूप से ऋण ले लेना चाहिए। भावी सन्तति को लाभ पहुंचाने वाले सुधोर कार्यों के लिए भी ऋण ले लेना चाहिए।

साधारण विचार यह है कि स्थानीय संस्थाएं स्वयं ही सत्यता से अपने पैरों पर खड़ा होने का यत्न नहीं करतीं और प्रायः प्रान्तीय कृपाओं पर निर्भर रहना पसन्द करती हैं। वह आय के उन सब साधनों से काम नहीं लेतीं, जिनका वह उपयोग कर सकती हैं और न वह अपनी-अपनी वसूली में विशेष सावधान हैं। यदि स्थानीय शासन में सुधार करना है तो ऐसी बातों को समाप्त कर देना चाहिए।

१४. स्थानीय अर्थ व्यवस्था जांच कमेटी १९५१ (Local Finance Enquiry Committee) स्थानीय अर्थ व्यवस्था जाच कमेटी ने अपना रिपोर्ट १९५१ में प्रकाशित की थी। उसने उसमें निम्नलिखित सुझाव दिये थे :—

(१) केन्द्र को परामर्श दिया गया है कि वह रेल्वे, समुद्र तथा वायु मार्गों द्वारा यात्रा करने वाले यात्रियों पर सीमा-शुल्क लगावे और उस आय को स्थानीय संस्थाओं को दे दे।

(२) राज्य सरकारें इन करों का पूर्णतया स्वयं खर्च करना बन्द कर दें — बिजली की बिक्री, गाड़ी कर (मोटर गाड़ियों के अतिरिक्त अन्य गाड़ियां), भूमियों तथा मकानों का अचर सम्पत्ति जैसे कर तथा मनोरंजन कर।

(३) राज्य सरकारों को कहा गया है कि वह स्थानीय संस्थाओं को कर लगाने की सभी वर्तमान शक्तियों का पूर्ण उपयोग करने को विवश करें।

(४) सम्पत्ति कर को विशेष रूप से अनिवार्य कर दिया जावे और उसमें तीन आना स्थानीय कोष में दिया जाना चाहिए।

(५) चुंगी कर के लिए एक आदर्श सूची निश्चित करनी चाहिए।

(६) पेशे कर को बढ़ाकर प्रति पेशा प्रति वर्ष १०००) रुपया कर दिया जावे।

(७) होटलों में ठहरने वालों पर भी कर लगाने का सुझाव दिया गया।

(८) राज्यों को मोटर गाड़ियों के कर में स्थानीय संस्थाओं को भाग देना चाहिए।

(९) केन्द्रीय सरकार ने जो अपनी सम्पत्ति को स्थानीय संस्थाओं के क्षेत्र में कर मुक्त रखा हुआ है उसके लिए उसे स्थानीय संस्थाओं को हर्जाना देना चाहिए।

यदि इन सभी प्रस्तावों को समस्त भारतीय संघ में कार्यरूप में परिणत कर दिया जावे तो उसकी लगभग ४० करोड़ रुपया आय बढ़ जावेगी।

आलोचना—(१) इस रिपोर्ट में ७९७ स्थानीय संस्थाओं के विषय में लिखा गया है और पंचायतों तथा छोटी-छोटी नगर कमेटियों के विषय में नहीं लिखा गया। अतएव इस रूप में इसका महत्व सीमित है।

(२) स्थानीय कर निर्धारण के स्तर को बढ़ाना उतना सुगम नहीं है, जैसा कि प्रस्ताव किया गया है।

(३) राज्यों के बजट से स्थानीय बजट में पर्याप्त रकम बदली जावेगी। यह सम्भव है कि स्थानीय संस्थाएं उस रकम को अधिक अच्छी प्रकार से खर्च न करें।

(४) इस रिपोर्ट में एक भारी कमी यह है कि उसने भारतीय जनसंख्य

वाले क्षेत्र की उपेक्षा की है। इस प्रकार जनपदों, ग्राम सभाओं तथा पंचायतों की स्थापना द्वारा स्थानीय स्वशासन का विस्तार करने की ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

(५) कमेटी ने ऐसे छोटे-छोटे करों को लगाने का प्रस्ताव किया है, जो व्यापार को हानि पहुंचा सकते हैं। यह ठीक नहीं है।

कमेटी ने जो अधिकृत व्यय के ऊपर अधिभार (Surcharge) लगाने के मूल्य पर पुनर्विचार करने तथा वसूली के लिए न्यूनतम प्रतिशत सारिणी तय की है, उन प्रस्तावों को तत्काल ही कार्यरूप में परिणित किया जाना चाहिए। तो भी सहायता के अनुदानों के वितरण तथा व्यय के न्यूनतम मान को निश्चित करने के लिए स्थानीय सरकार अधिनियम (Local Government Act) के सिद्धान्तों को अपनाने के लिए अभी उपयुक्त समय नहीं है।

निम्नलिखित सुधार अत्यन्त आवश्यक हैं :—

(१) स्थानीय संस्थाओं की सहायता करने के लिए एक आर्थिक मूल्य निर्धारण एजेंसी (Economical Valuation Agency) बनाई जानी चाहिए।

(२) एक स्थानीय सरकार सेवा (Local Government Service) का संगठन किया जाना चाहिए।

(३) सहायतार्थ अनुदानों की रकमों को बढ़ाया जावे।

(४) जिला बोर्ड के कुछ कार्य पंचायतों को दे दिये जावें और जिला बोर्डों की उसी अनुपात में आय भी पंचायतों को दे दी जावे।

यदि इन सभी सुझावों को कार्यरूप में परिणत कर दिया गया तो स्थानीय संस्थाओं की उन्नति को अग्रसर करने में बहुत कुछ लाभ हो जावेगा।

१५. भारतीय अर्थ-व्यवस्था की तुलनात्मक आलोचना। संसार भर में अर्थव्यवस्था की कोई प्रणाली पूर्ण होने का दावा नहीं कर सकती। किन्तु भारतीय प्रणाली में साधारण से भी अधिक त्रुटियां हैं। हम उसकी त्रुटियों पर दो दृष्टिकोणों से विचार करेंगे—(१) कर लगाने की प्रणाली में त्रुटियां और (२) सार्वजनिक व्यय में त्रुटियां।

कर प्रणाली—भारतीय कर प्रणाली आकस्मिक है। उसकी आय का उन्नतिशील विकास करने के लिए वैज्ञानिक रूप से योजना नहीं बनाई गयी। उसको समय की आकस्मिक आवश्यकता से ढाल लिया गया है। उसका मुख्य कार्य बजट को सन्तुलित करना है। कर लगाने की घटना और देश में उसके उत्पादन तथा वितरण पर पड़ने वाले प्रभाव की ओर सम्भवतः बहुत कम ध्यान दिया गया है। जैसा कि सर वाल्टर लेटन का कहना है कि बजट को इस प्रकार कस कर तंग बनाया गया है कि उसमें आकस्मिक तथा अभूतपूर्व व्ययों के लिए कोई गुंजायश नहीं है, इसीलिए जिनको प्रायः उधार लेकर पूरा करना पड़ता है।

इसके अतिरिक्त भारतीय बजट में अनिश्चितता का तत्व भी है। वर्षा की हवाएँ (मानसून) तो सारे हिसाब पर पानी फेर देती हैं। इसके अतिरिक्त हमारे साधन अपर्याप्त तथा लोचरहित हैं।

हमारी कर प्रणाली की एक और विशेषता उसका परम्परागत दकियानूसीपना

है। सार्वभौम आलोचना की जाने पर भी भूमि कर तथा उत्पादक कर जैसे कर अब भी बने हुए हैं।

हमको इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि अन्य देशों के विपरीत भारत में प्रत्यक्ष करों की अप्रधानता है और परोक्ष करों की प्रधानता है। प्रत्यक्ष कर प्रणाली की अविकसित दशा हमारी कर प्रणाली की सबसे भयंकर त्रुटि है।

एक और भी त्रुटि हमारी कर प्रणाली का अप्रगतिशील रूप है। वह औचित्य अथवा बलिदान की समानता के शास्त्र सम्मत नियम का उल्लंघन करती है। वह निर्धनों के विरुद्ध भेदात्मक व्यवहार करती है और धनिकों का पक्ष करती है। धनी लोग केवल एक कर आय-कर ही देते हैं और यहां भी इतनी अधिक प्रगति नहीं की जाती, जितनी करनी चाहिए थी। भूमिकर, तटकर, उत्पाद कर और यहां की रेल्वे के किराये भी सब मिलाकर निर्धनों द्वारा ही दिये जाते हैं। उत्तराधिकार कर, कृषि आयकर, आकस्मिक आयकर के न होने से उसके इस प्रतिगामी रूप में और भी वृद्धि हो रही है। भारतीय परिनियम कमीशन (Indian Statutory Commission) का कहना है कि "एक निर्धन किसान जो राज्य को केवल भूमि से ही आय का पर्याप्त भाग नहीं देता, वरन् चीनी, मिट्टी के तेल, नमक तथा सामान्य उपभोग की अन्य वस्तुओं के कर के भार को भी उठाता है—उस जमींदार से बिल्कुल भिन्न प्रकार का व्यवहार पाता हुआ दिखलाई देता है, जिसकी कृषि आय आय-कर से पूर्णतया मुक्त है।"[1] पेशेवर मध्यम श्रेणी वाले तथा व्यवसायी लोग बड़े जमींदारों के साथ-साथ अपना योग्य भाग देने से बच जाते हैं। प्रो० के. टी. शाह के शब्दों में "अधिक धनिक वर्ग इस प्रकार के बोझ को उठाने की शक्ति कहीं अधिक होने पर भी अपने अपेक्षाकृत हल्के बोझ से बच निकलते हैं, जबकि निर्धन वर्गों को, जो ऐसे बोझ से नहीं बच सकते—महान् बोझ के भाग को उठाना पड़ता है, यद्यपि उनकी उसको उठाने की शक्ति तिनके से भी कम होती है।"[2] रक्षात्मक तटकर लग जाने से साधारण जनता का बोझ बढ़ गया।

केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय अर्थ-व्यवस्था में प्रत्येक भाग को अत्यन्त दोषपूर्ण ढंग से इस प्रकार निश्चित किया गया है कि प्रथम दूसरे को भूखा मारता है और दूसरा अपने बाद वाले को भूखा मारता है।

सार्वजनिक व्यय की आलोचना—भारत में सार्वजनिक व्यय धीरे-धीरे स्थायी रूप से बढ़ रहा है। किन्तु यदि व्यय बुद्धिमत्तापूर्वक किया जावे और उससे देश के मानवी तथा भौतिक साधनों का विकास किया जावे तो इसमें डरने की कोई बात नहीं है। किन्तु हमारे सार्वजनिक व्यय में सबसे बड़ी त्रुटि यही है।

भारत में सदाही सार्वजनिक ध्यान देश के रक्षा-व्यय पर केन्द्रित किया जाता है। इसके लम्बे-चौड़े आकार पर—जो उसका बन चुका है, सेना में विदेशी तत्व पर और उसको रखने के उद्देश्य पर आपत्ति की जाती है। यह कहा जाता है कि सेना तथा रक्षा सेवाएं हमारी कुल आय का ५५ प्रतिशत ले जाती हैं।

भारतीय लोकमत भी शान्ति-काल में युद्ध आधार पर इतनी बड़ी स्थायी सेना रखने के विरुद्ध था। यदि जातीय तथा आर्थिक विकास की अधिक महत्वपूर्ण योजनाओं पर धन खर्च करना है तो रक्षा-व्यय की भारी कटौती करनी ही पड़ेगी। सेना के भारतीयकरण, भारतीय युवकों को अनिवार्यतः सैनिक शिक्षा देने, पड़ोसियों से अच्छे सम्बन्ध

1. Vide Report, Vol. I, 130, pp. 334-335.
2. K. T. Shah : Review of Indian Finance, 1927-34. p. 48.

स्थापित करके तथा राष्ट्र मंडल की रक्षा-प्रणाली के लाभ में भाग लेकर हमारे सैनिक बजट में आवश्यक कमी की जा सकेगी।

हमारे सार्वजनिक व्यय का एक और आपत्तिजनक रूप है, अत्यधिक खर्चीला नागरिक शासन। हमारी सिविल सर्विस संसार भर में सबसे मंहगी है। "भत्तों तथा अन्य सुविधाओं को बिना गिने अफसरों के वेतन का औसत तीन सहस्र रुपये प्रति मास है। जबकि ब्रिटेन अफसरों के वेतन का औसत एक सहस्र रुपये प्रति मास है।"[1] भारत जैसा निर्धन देश इतने ऊंचे वेतनों को सहन नहीं कर सकता। इस विषय में भारतीयकरण से कुछ भी सहायता नहीं मिली। क्योंकि भारतीयों को भी अंग्रेजों जैसे वेतन ही दिये गये। इन ऊंचे वेतनों को पर्याप्त मात्रा में कम किया जाना चाहिए। हमारी सम्मति में भारत में सबसे अधिक वेतन प्रति व्यक्ति आय का औसत लगाकर एक सहस्र रुपया प्रति मास होनी चाहिए। दूसरी ओर छोटे कर्मचारियों के वेतन अत्यन्त कम हैं। ५०) रुपये अथवा २०) रुपया मासिक वेतन केवल मजाक है। कम-से-कम वेतन ५०) से कम नहीं होना चाहिए। ऊंचे तथा नीचे वेतनों की खाई को अधिक-से-अधिक भरना चाहिए।

ऋण-सेवाएं हमारी आय के एक और बड़े टुकड़े को काट लेती हैं। जब कभी यह एक विदेशी ऋण होता है तो एक पूरी हानि बन जाता है। सौभाग्यवश अब हम अपने सभी विदेशी ऋणों को चुकता कर चुके हैं। अत्यधिक सैनिक व्यय तथा अत्यधिक शासन व्यय के फलस्वरूप हमारी सारी आय सरकारी यन्त्र को चलाने में ही समाप्त हो जाती है तथा लोकहितकारी कार्यों के लिए हमारे पास बहुत कम बच पाता है, जिससे हमारे आर्थिक तथा सामाजिक विकास में बाधा आती है। यह कहा जाता है कि भारत में कुल १२ प्रतिशत राष्ट्र निर्माण के विभागों पर तथा ८८[2] प्रतिशत सरकार को चलाने पर खर्च किया जाता है। सर वाल्टर लेटर के शब्दों में "रक्षा तथा कानून तथा देश की रक्षा जैसे सरकार के आरम्भिक कार्यों में वह (भारत) अपनी सम्पत्ति के अनुपात में पश्चिमी राष्ट्रों जैसा खर्च कर रहा है। इसके विरुद्ध शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई आदि सामाजिक सेवाओं पर उसका व्यय पश्चिमी स्तर से कहीं पीछे है और अनेक दिशाओं में तो वह कुछ भी खर्च नहीं करता।"

जब हमारी आय का इतना बड़ा अनुपात राज्य के आरम्भिक कार्यों में खर्च हो जाता है, तो सामाजिक सेवाओं पर व्यय का बहुत कम होना अनिवार्य है। १९३४–३५ में शिक्षा पर हमारा (केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा स्थानीय) कुल व्यय प्रति व्यक्ति ९ आना था। जबकि ब्रिटेन में वह १९ रुपये तथा अमेरिका में ५५ रुपये था। चिकित्सा, कृषि तथा औद्योगिक उन्नति पर भी व्यय बहुत कम था। निर्धनों की सहायता, स्वास्थ्य, बेकारी जैसे सामाजिक बीमे, बीमे तथा वृद्धावस्था की पेंशनों पर तो अभी तक कुछ भी खर्च नहीं किया गया है। १९४५-४६ में विभिन्न मदों पर प्रति व्यक्ति व्यय निम्नलिखित किया गया था :[3]

1. K. T. Shah : Review of Indian Finance, 1927-34, p. 16.
2. Malani and Soni : Indian Economics, 1934. p. 609.
3. Z. A. Ahmad : Public Revenue and Expenditure in India, 1938; pp. 54-56.

मद	रुपया	आना	पाई
सैनिक व्यय	०	१३	७
पुलिस, न्याय, जेल, कैदियों की बस्ती आदि	०	७	११
शिक्षा	०	७	२
चिकित्सा	०	२	३
सार्वजनिक स्वास्थ्य	०	०	११
कृषि	०	१	७
उद्योग-धन्धे	०	०	६
वैज्ञानिक विभाग	०	०	६

इन अंकों को किसी टीका की आवश्यकता नहीं है। हमारा राज्य अभी तक भी एक 'पुलिस राज्य' ही है और उसको सामाजिक सेवाओं के उस युग में प्रवेश करना है, जिसमें अन्य देश यात्रा करते हुए बहुत दूर निकल गये हैं। हमारे सार्वजनिक व्यय का अधिकांश इस प्रकार नहीं खर्चा जाता कि जिससे जनता की आर्थिक उन्नति हो और उनकी कर देने योग्य क्षमता बढ़े।

हमारे सार्वजनिक व्यय का एक और रूप भी है, जिसके विषय में भी हम उल्लेख कर सकते हैं। विभिन्न प्रान्तों द्वारा संभाल कर चलाये हुए सेवा के स्तर एक दूसरे से अत्यधिक भिन्नता लिये हुए हैं। अधिक निर्धन प्रान्त, जिनको सामाजिक सेवाओं की सबसे अधिक आवश्यकता है, धन की कमी के कारण इस विषय में कुछ अधिक नहीं कर पाते। उनकी सेवाओं को व्यावहारिक रूप में कुछ नहीं मिलता। इस प्रकार की स्थिति देश का एक-सा तथा सब क्षेत्रों में विकास नहीं हो सकता।

अन्त में हम सारांश रूप में यही कह सकते हैं कि एक आधुनिक राज्य केवल कर-संग्राहक एजेंसी अथवा केवल शान्ति तथा सुरक्षा करने वाली एजेंसी ही नहीं होती। हमारी आर्थिक प्रणाली पर नैतिक विचारणाओं की प्रधानता होनी चाहिए। अर्थ-व्यवस्था में औचित्य जनतन्त्र का आवश्यक अंग है। सार्वजनिक अर्थव्यवस्था को सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्निर्माण का साधन बनाना चाहिए। इस दृष्टि से विचार करने पर हमारी कर-प्रणाली में आमूल-चूल सुधार करने तथा हमारे सार्वजनिक व्यय में भारी परिवर्तन करने की आवश्यकता है। भूमि-कर तथा सिचाई-कर में कमी, जीवनोपयोगी वस्तुओं तथा कारखानों की माल के तटकर से मुक्ति तथा विलास-वस्तुओं पर सबसे अधिक कर, उत्पाद-कर (आबकारी) की आय का बिल्कुल लोप, कृषि आय पर वृद्धिगत स्तर पर कर-निर्धारण, आयकर के उच्च स्तरों में ढलवां-क्रम से वृद्धि, आयकर की कर मुक्ति योग्य निम्नतम सीमा में थोड़ी और वृद्धि, उत्तराधिकार कर तथा आकस्मिक आयकर जैसे कुछ ऐसे कार्य हैं, जिनको शीघ्र या देर से करना ही होगा।

किन्तु यदि आवश्यकतावश कर-प्रणाली इसी प्रकार अप्रगतिशील बनी रही तो कम से कम सार्वजनिक व्यय द्वारा इस सन्तुलन को ठीक कर लेना चाहिए। वास्तव में वर्तमान परिस्थिति में हमको अपनी अर्थ प्रणाली में कुप्रबन्ध को ठीक करने के लिए अपने सार्वजनिक व्यय में परिवर्तन करने चाहिएं। सैनिक तथा नागरिक शासन के व्यय में भारी कमी करके ही अपनी अर्थ-प्रणाली में सामाजिक न्याय के आन्तरिक सिद्धान्त को लागू कर सकते हैं। सार्वजनिक व्यय को इस प्रकार ढाला जावे, कि उसमें किसानों, कारखाने के श्रमिकों तथा समाज के अन्य निर्धन वर्गों को अधिकाधिक लाभ पहुंच सके।

पैंतीसवाँ अध्याय

राष्ट्रीय आय

१. परिभाषा । मनुष्य का आर्थिक हित उसके कार्य के लिए मिलने वाले पारितोषिक पर निर्भर करता है । इसी प्रकार राष्ट्र का आर्थिक हित इस बात पर भी निर्भर करता है कि उसके लोगों के उपयोग के लिए कौन-कौन-सी वस्तुएं और सेवाएँ उपलब्ध हैं । देश के लोगों की जो सम्पत्तियां हैं—केवल वही सम्पत्तियां, जो हिसाब में लगाई जा सकती हैं और जिनका परिवर्तन हो सकता है—उन सबके सम्पूर्ण राशि के योग को राष्ट्र की सम्पत्ति माना जा सकता है । सम्पूर्ण सम्पत्तियों के इस कोष में से जो आय होती है, उसको राष्ट्रीय आय कहते हैं । इसमें सम्मिलित किये जाने वाली भिन्न-भिन्न मदों के विषय में अनेक मत हैं । उदाहरण के लिए, एक माता अथवा गृह-पत्नी द्वारा जो सेवाएं की जाती हैं, वह बहुत मूल्यवान हैं और उनसे महान संतोष की भी प्राप्ति होती है । उन्हें बहुधा द्रव्य से आंका भी जा सकता है, किन्तु राष्ट्रीय आय में उसे स्थान नहीं दिया जाता । वही सेवा गृह-सेविका द्वारा की जाने पर राष्ट्रीय आय मानी जाती है । इसी प्रकार प्रो० पीगू के कथनानुसार मकान और सामान को भी राष्ट्रीय आय में माना जाता है, बशर्ते कि उन्हें किराये पर दिया जाता हो । किन्तु यदि उन्हें उपहार में दिया जाता है, तो नहीं । कुछेक अर्थशास्त्रियों का विश्वास है कि सरकारी कर्मचारियों की सेवाओं को सम्पूर्ण राष्ट्रीय-आय में स्थान नहीं देना चाहिए । कुछ अन्यों का मत है कि केवल उसी आय को, जिसके बदले में किसी प्रकार की सेवा नहीं मिल पाती, राष्ट्रीय आय में स्थान नहीं देना चाहिए ; जैसे वृद्धावस्था की पैंशनें ।

डाक्टर वी० के० आर० वी० राव के अनुसार, जो एक अधिकृत भारतीय विद्वान् हैं—राष्ट्रीय आय की परिभाषा में माल और सेवाओं के प्रभाव के द्रव्य-मूल्य को लेना चाहिए । उसमें से उसी काल में किये हुए उन आयातों को निकाल देना चाहिए, जो बिक्री के लिए उपलब्ध हों (अथवा बिक्री योग्य हों), उसके मूल्य को उस समय प्रचलित मूल्य के अनुसार लगाकर उसमें निम्नलिखित मदों के योग को निकाल देना चाहिए, (१) उस बीच में यदि स्टाक में कोई कमी हो गई हो तो उसके द्रव्य-मूल्य को; (२) उत्पादन करने के दिनों में उपयोग किये हुए माल तथा सेवाओं के प्रवाह के द्रव्य मूल्य को; (३) वर्तमान पूंजीगत साजसज्जा को वैसे की वैसी ही बनाए रखने के लिए जितने माल तथा सेवा के उपयोग का प्रयोग किया गया हो, उसके द्रव्य मूल्य को (इन सभी मामलों में बाजार में प्रचलित मूल्य लगाया जावे); (४) अप्रत्यक्ष कर से राज्य की प्राप्त आय; (५) कोष में सोदों सहित व्यापार के अनुकूल सन्तुलन को; (६) देश की विदेशी ऋणग्रस्तता में कुल वृद्धि को अथवा विदेशों में बकाया धन तथा प्रतिभूतियों की सम्पत्ति में वास्तविक कमी को, भले ही देश की सरकार अथवा किसी की भी हो ।"[1]

२. राष्ट्रीय आय के आंकड़ों की प्रतियोगिता । किसी समाज का आर्थिक-हित उसकी आय से आंका जाना चाहिए । निसन्देह, उसमें कुछ त्रुटियां हैं । एक समाज में धनी लोगों अथवा वृद्धों की बहुत बड़ी संख्या हो सकती है । और संभव है, इस कारण,

1. Dr. V. K. R. V. Rao—National Income, of British India.

द्रव्य की बड़ी-बड़ी रकमें दवाइयों और सुख-सुविधा पर अनुपात रूप में खर्च की जाती हों। अथवा समाज की शान्ति निरन्तर दंगों के कारण भंग होती हो और उसे पुलिस तथा सुरक्षा उपायों पर बहुत व्यय करना पड़ता हो। इस प्रकार, ऐसे समाज की आय अधिक आर्थिक-हित के लिए सहायक नहीं हो सकेगी। इन त्रुटियों के होते हुए भी हमें यह स्वीकार करना ही होगा कि "यदि राष्ट्रीय-आय अपेक्षाकृत अधिक है, तो राष्ट्रीय हित भी अपेक्षाकृत अधिक होगा, और अन्य वस्तुएं तो समान ही होती हैं।"[1]

राष्ट्रीय आय के अंकों से हमें समाज के जीवन-मान का पता चलता है। निश्चय से यह अंक केवल औसत अंक होते हैं। यह सम्भव है कि कुछ लोग, देश की आय के बड़े अंश को हड़प जाते हों और बहुत बड़ी संख्या के पास केवल थोड़ा ही भाग रह जाता हो। इसलिए, राष्ट्रीय आय के आंकड़ों को न केवल देश के सम्पूर्ण अर्थ का विस्तृत दृष्टिकोण प्रकट करना चाहिए, प्रत्युत उन विभिन्न दलों का भी वर्णन करना चाहिए जो उत्पादक और आय प्राप्त करने वालों के रूप में भाग लेते हैं। इस प्रकार वह भूतकाल में देश के आर्थिक आधार-मूलक परिवर्तनों का स्पष्टीकरण करेंगे और साथ ही भविष्य की प्रवृत्तियों के विषय में प्रस्ताव कर सकेंगे।

राष्ट्रीय आय के अंकों का हितकर उपयोग यह जानने के लिए भी किया जाता है कि एक देश सुदृढ़ आधार पर प्रगति कर रहा है, अथवा नहीं। यदि वह उस प्रगति को सही-सही नहीं भी नाप पाते, तो भी कम-से-कम उनसे उनमें प्रवृत्तियों का तो ज्ञान होता ही है। चूंकि देश के लोगों की आय को नापने के लिए समय की अवधि अपेक्षाकृत अधिक आवश्यक होती है, इसलिए मूल्यों और लोगों की आदतों में परिवर्तन हो जाने की गुंजायश की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में मार्शल द्वारा प्रस्तावित शृङ्खला का उपाय लाभपूर्ण सिद्ध हो सकता है। इस तरह यदि हम दो विभिन्न देशों के विभिन्न जीवन-मान की तुलना करते हैं, और उनके अन्तरों के लिए उचित गुंजायश किये बिना उसके आर्थिक हितों के सापेक्ष अनुमानों को बनाने की चेष्टा करते हैं, तो उससे गलतफहमी हो जायगी।

आज राष्ट्रीय आय का अध्ययन केवल शास्त्रीय दिलचस्पी का विषय नहीं है। इसके विपरीत इस प्रकार के अंक एक देश की आर्थिक त्रुटियों की छानबीन करने के लिए उपयोगी होते हैं, और साथ ही उन त्रुटियों का उपचार करने के लिए भी उपयोग में लाये जाते हैं। यह आंकड़े हमें आय के वितरण के परिवर्तनशील आदर्शों का परिचय देते हैं। योजना की कृषि-विषयक अथवा औद्योगिक, कोई भी कार्यवाही, तब तक सम्भव नहीं होती, जब तक हमें यह पता नहीं होता कि समाज का कौन-सा भाग बचा सकता है और वह कितना बचा सकता है? इस ज्ञान के बिना उनके हित अथवा उनकी बचत की क्षमता को आघात पहुंचाये बिना, उस पर व्यय का बोझ डालना सम्भव नहीं है। इस लाभपूर्ण ज्ञान के साथ सरकार प्रगतिकारी और संरक्षण, दोनों उद्देश्यों के लिए कोष प्राप्त करन के निमित्त टैक्स लगाने की स्थिति में होती है। जब सरकार को मालूम होता है कि देश के साधन इन उद्देश्यों के लिए पर्याप्त पूंजी की पूर्ति नहीं कर सकते, तो वह आवश्यकतानुसार विदेशों से पूंजी को आमन्त्रित करती है। सरकार जब इस प्रकार सुसम्पन्न होती है, तभी वह कर-विषयक नीतियां बना सकती है। तभी वह उत्पादन, प्रवाह और उपभोग के नियन्त्रण की आवश्यकता को भी आंक सकती है।

भारत की दरिद्रता तो एक कहावत हो गई है। भौतिक समृद्धि के सम्बन्ध में

---

1. Haberler—National Income. Saving and Investment, Vol. 2. pp. 140-41.

भी हमारा देश अन्तिमराष्ट्र है। स्वास्थ्य का मान क्षीण है, पोषण अपर्याप्त है, मृत्यु अनुपात ऊंचा है, शिशु और जच्चा की मृत्यु का अनुपात असाधारण रूप में अत्यधिक है, जबकि जीवन-यापन का स्तर बहुत ही निम्न है। इस प्रकार के वातावरण में, भारत की आय का विश्लेषण अत्यावश्यकता का विषय हो जाता है। सही अंक दिये जाने पर, सरकार इस स्थिति में होगी कि वह आय के असमान वितरण के दोषों को दूर कर सके और बुरे पोषण के दोषों को ठीक कर सके। उनसे लोगों की टैक्स-योग्य वास्तविक क्षमता और उनकी क्षमता के उपयुक्त बोझ डालने की खोज में भी सहायता मिलेगी।

३. किसी देश की राष्ट्रीय आय का हिसाब लगाने के उपाय । सामान्यतः इस आय की गणना के लिए तीन उपायों को बतलाया जाता है।

१. आय प्रणाली—यह आयकर के आंकड़ों पर आधारित होती है। आय-कर के अंकों को विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए विभिन्न मजदूर दलों के उपार्जनों की औसत लेकर पूरक किया जाता है। इस प्रकार का उपाय उस देश में अधिक लाभकर होगा, जहां आय-करदाताओं की अधिक संख्या होती है। किन्तु भारत में भी यह उपयोगी हो सकता है, बशर्ते कि इस उद्देश्य से सम्बन्धित उन लोगों की आयों की जांचों में इसकी सहायता की जाय कि जिन पर आय-कर नहीं लगता, अर्थात् मजदूरों, छोटे-छोटे दुकानदारों तथा कर्मकरों के अन्य दलों की आय।

२. उत्पादन की गणना-प्रणाली अथवा राष्ट्र-सम्पति की सूची प्रणाली—यह वर्ष भर में बाजार भाव पर खपत की गई वस्तुओं और सेवाओं के योग पर विचार करती है। इस उपाय के लिए उत्पादन और पगार की ठीक-ठीक गणना की आवश्यकता है। कृषि-विषयक मुख्य जिन्सों के उत्पादन का अनुमान प्रकाशित करती है, जिसका अर्थ यह है कि तीन में से प्रायः प्रत्येकदो व्यक्तियों की आय का हिसाब लगा लिया जाता है।[1] खनिजों और जंगलों के उत्पाद के भी संपूर्ण आंकड़े प्रकाशित किये जाते हैं। कुछ महत्व-पूर्ण उद्योगों के उत्पादन के अंक भी उपलब्ध हैं।[2] इसके अतिरिक्त दूध और दूध की बनी वस्तुओं के अंक भी उपलब्ध हैं। हाल ही में, राष्ट्रीय आय कमेटी ने १९४८–४९ के लिए प्रति अंश की आय २५५ रु० बताई थी।

३. आय और राष्ट्र-सम्पत्ति-सूची प्रणाली का सम्मिश्रण । डा० राओ ने भारत में दोनों उपायों को सफलतापूर्वक मिला दिया है। उन्होंने कृषि-विषयक उत्पादनों के सरकारी अनुमानों, खनिजों, उद्योगों, और जंगलों के उत्पादनों के प्रकाशित अंकों, दूध और दूध की वस्तुओं के उपलब्ध अंकों, और आय कर के आंकड़ों तथा छोटे सरकारी कर्मचारियों की आयों के अंकों और उन औद्योगिक कर्मकरों की आयों के अंकों का उपयोग किया है, जिनके वेतन नियमतः प्रकाशित होते हैं। उन्होंने अन्य दिशाओं में इस उद्देश्य से सम्बन्धित जांच द्वारा इनको पूरक किया है।

---

1. Agricultural Situation in India, a Monthly Journal.
2. Statistical Abstract, a Monthly.

४. भारत में राष्ट्रीय आय के अनुमान—भारत की राष्ट्रीय आय का निश्चय करने के लिए समय-समय पर अनुमान लगाये गए हैं। इनमें सबसे पुराना अनुमान डा० नौरोजी ने १८६७-७० के विषय में बनाया था। ब्रिटिश भारत में विभाजन से पूर्व प्रति व्यक्ति आय के विभिन्न अनुमान नीचे दिये जाते हैं :—

सं०	लेखक का नाम	अनुमान का वर्ष	आय रु०	आ०	पा०
१.	दादाभाई नौरोजी	१८६७–७०	२०	०	०
२.	लार्ड क्रॉमर और बारबॉर	१८८२	२७	०	०
३.	डिगबी	१८९८–९९	१७	८	५
४.	लार्ड कर्जन	१९००	३०	०	०
५.	डिगबी	१९०१	१८	८	११
६.	एफ. जी. एटकिन्सन	१८७५	३०	८	०
	,, ,, ,,	१८९५	३९	८	०
७.	वाडिया और जोशी	१९१३–१४	४४	५	६
८.	शाह और खम्बत	१९००–१४ (युद्ध पूर्व)	३६	०	०[1]
९.	,, ,,	युद्ध और युद्धोत्तर	३८	०	०
१०.	फिंडले शिरास	१९२१	१०७	०	०
११.	,, ,,	१९२२	११६	०	०
१२.	साईमन कमीशन की रिपोर्ट	१९२९	११६	०	०
१३.	डा० राओ	१९२५–२९	७६	०	०
१४.	,, ,,	१९३१–३२	५१	०	०[2]
			१६६	०	०[3]
			६५	०	०[4]
१५.	सर जेम्स ग्रिग	१९३७–३८	५६	०	०[5]
१६.	कामर्स पत्र में एक विद्यार्थी	१९३८–३९	६६	०	०
१७.	,, ,, ,,	१९४२–४३	१२४	०	०

यह स्पष्ट है कि ऊपरिलिखित आय के अनुमानों में अनेक विभिन्नताएं हैं। एक कारण मूल्यों में परिवर्तन का है। उदाहरण के लिए, १९१३–१४ के ४५ रु० १९२१–२२ में ६० रु० की समानता में कम नहीं होंगे बशर्ते कि मूल्यों की उन्नति में गुंजाइश की जाय। इसे छोड़ कर विभिन्न अनुमानों द्वारा जो क्षेत्र आच्छादित होता है, वह सदैव

1. As adjusted by Dr. Rao according to the Changes in level of prices.
2. Rural.
3. Urban.
4. India, Dr. Rao allaws a margin of error ±6%.
5. Budget Speech, 1938.

१९३१-३२ में ब्रिटिश भारत की राष्ट्रीय आय का विवरण।

मद	अनुमान (दस लाख रु० में)	शुद्ध रु०	भूल का सीमान्त (प्रतिशत)
क. राष्ट्र सम्पत्ति अनुमान :			
१. कृषि उत्पत्ति	६,०८९.२		
फल, मसाले, दालें आदि	१,७४६.९		
	७,८३६.१		
घटाओ— क्षय से हानि, बीज, ब्याज, पशुओं की रक्षा और घटी, और औजारों की मरम्मत आदि।	१,९०९	५,९२७	
२. पशु—दूध, मांस, खालों, हड्डियों ऊन आदि सहित	१२०	२,६८३	+१०
३. मछली मारना और शिकार	१८०		±२०
खनिज	९२		
४. जंगल उत्पादन			
ख. आय अनुमान :—			
१. आयकर से निर्धारित आय		२,१६१	
२. बिना टैक्स के आय—			
(अ) उद्योगों में मजदूरों की	२,१००		
(आ) सरकारी नौकरों, रेलों डाक और तार के कर्मकरों की	५९०		
(इ) अन्य यातायात के कर्मकरों की	२८३		
(ई) व्यापार के कर्मकरों की	१,२३३		
(उ) व्यवसायों और कलाओं के कर्मकरों की	४१६		
(ऊ) घरेलू कर्मकरों की	३२५	४,९४७	±१६
ग. मिश्रित :	७७४		
मकान सम्पत्ति	१२		
रेशम	६०		
बासन	१०		
शहद	७९		
पेंशनें	८९		
सरकार की व्यापारिक जिम्मेदारियां	१७०		
कृषि ऋण पर ब्याज	८३९		
अप्रत्यक्ष कर	१८५५		
घटाओ—			
अप्रत्यक्षकरों से राजस्व	+८३९		
आन्तरिक सरकारी ऋण पर ब्याज	−१६०		
आयातों पर निर्यातों का आधिक्य, आदि	३९६		
	१०७५	७८०	±नदारद
	१६,८९०		±६

५. राष्ट्रीय आय के विभाजनोत्तर काल के अनुमान। "ईस्टर्न इकोनामिस्ट" ने १९४८ के अपने वार्षिक अंक में प्रति व्यक्ति आय का अनुमान किया था। डा. राओ के १९३१-३२ के आधार पर पाकिस्तान के लिए २२४ रु० के विपरीत अनुमान किया गया था। भारत में अल्प आय के लिए यह युक्ति दी गयी थी कि भारत की अपेक्षा पाकिस्तान की कृषि-संपत्ति संभवत: अधिक ठहराई गई थी। भारत सरकार के व्यापार सचिवालय ने १९४५-४६ और १९४६-४७ के विभाजन के अनंतर भारत संघ के प्रांतों के राष्ट्रीय-आय के लागत अंशों के रूप में अनुमान प्रकाशित किये थे, जो इस प्रकार हैं:—

(करोड़ रुपयों म)

मदें	ब्रिटिश भारत	भारतीय संघ प्रान्त	
	१९४५-४६	१९४५-४६	१९४६-४७
१. मौलिक उत्पादन:—			
(क) कृषि की शुद्ध उत्पत्ति और पशुपालन	२,७४५	१,९६३	२,२९१
(ख) जंगलों की शुद्ध उत्पत्ति	१२	९	४६
(ग) खनिजों की शुद्ध उत्पत्ति	३८	३७	६१
शुद्ध मौलिक उत्पादन का योग	२,७९५	२,००९	२,३९८
२. अ—मौलिक भिन्न उत्पादन—			
(क) कर निर्धारित आय	५७९	५३५	५६६
(ख) बिना कर की आय	२,८६०	२,३८७	२,६१६
लागत अंश पर कुल राष्ट्रीय आय	६,२३४	४,९३१	५,५८०
प्रति व्यक्ति आय रु० में	१९८	२०४	२२८

ऊपर के अंकों से पता होता है कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई, किंतु यह वृद्धि वास्तविक नहीं है, क्योंकि कीमतों के स्तर में लगभग १२.५ प्रतिशत की उन्नति के लिए गुंजायश की जानी है। ५,५८० रु० के अंकों में अनंतरकाल में भारत में सम्मिलित हुई रियासतों की आय शामिल नहीं की गई।

राष्ट्रीय आय कमेटी—भारत की वास्तविक राष्ट्रीय आय जापने की आवश्यकता को इतना महत्व दिया गया कि सरकार ने अगस्त १९४९ में राष्ट्रीय आय कमेटी नियत कर दी। इस कमेटी को उपलब्ध अंकों को उन्नत करने और अधिक आवश्यक आंकड़ों को संग्रहित करने के उपायों के साथ ही राष्ट्रीय आय की दिशा में अनुसंधान को उन्नत करने के उपायों और साधनों के प्रस्ताव भी करने थे। कमेटी की पहली सूचना अप्रैल १९५१ में पेश की गई, और वह १९४८-४९ की राष्ट्रीय-आय का अनुमान प्रदान करती है

१९४८-४९ के लिए भारत की राष्ट्रीय आय (लागत अंश पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति) ८,७३० करोड़ रु० रखी गई है, जिसमें २० करोड़ रु० विदेशों में भुगतान करने के लिए घटाये जाने हैं। अनुमानित जनसंख्या ३४ करोड़ है। इस प्रकार इस वर्ष में प्रति व्यक्ति आय २५५ रु० आती है। अगले पृष्ठ की तालिका में आय का पूर्ण विवरण प्रकट हो जाता है।

१९४८–४९ में भारत की राष्ट्रीय आय

मदें	शुद्ध उत्पत्ति करोड़ रु० में	प्रतिशत	नियोजित व्यक्तियों की संख्या (लाखों में)	प्रति नियोजि व्यक्ति की शुद्ध उत्पत्ति रु०
१. कृषि :				
क. कृषि, पशुपालन और संबंधित कार्य-कलाप	४,०७०	४६.७	—	—
ख. जंगल	६०	०.७	—	—
ग. मछली व्यापार	२०	०.२	—	—
योग	४,१५०	४७.६	९,०५	५००
२. खानों, निर्माण और हस्त व्यापार :				
क. खानों	६०	०.७	३८	१,७००
ख. फैक्टरियों के कर्मकर	५८०	६.६		
ग. छोटे-छोटे व्यवसाय	८६०	९.९	१,४९	६००
योग	१,५००	१७.२	१,८७	८००
३. व्यापार और यातायात :				
क. संवाहन (डाक व तार)	३०	०.३	१२	१,९००
ख. रेलें	२००	२.३		
ग. संगठित बैंकिंग और बीमा	५०	०.६		
घ. अन्य व्यापार और यातायात (देसीसहित)	१,४२०	१६.३	९५	१,५००
४. अन्य सेवाएं :				
क. पेशे और उदार कलाएं	३२०	३.७	५९	६००
ख. सरकारी नौकरियां (शासन)	४६०	५.३	३६	१,३००
ग. घरेलू नौकरियां	१५०	१.७	४२	४००
घ. मकान सम्पत्ति	४५०	५.२	–	–
अन्य सेवाओं का योग	१,३८०	१५.९	१,३७	२,३००
५. शुद्ध घरेलूआय का योग	८,७३०	१००.२	१३,२७	६००
विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय	–२०	–०.२	—	–
लागत अंश पर शुद्ध-राष्ट्रीय आय	८,७१०	१००	—	—

भारतीय अर्थशासन में कृषि की सापेक्ष महत्ता इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि इससे ४,१५० करोड़ रु० अथवा संपूर्ण राष्ट्रीय आय का ४७.६ प्रतिशत प्राप्त हुआ। उसके बाद व्यापार और यातायात, जिससे १७०० करोड़ रु० अथवा १९.५ प्रतिशत मिला। अंशदान की दृष्टि से खनिज, निर्माण, हस्त व्यापार तृतीय दर्जे पर आते हैं, जिनसे

१५०० करोड़ रु० अथवा १७.२ प्रतिशत प्राप्त होता है। प्रबंध विषयक सेवाओं का ५ प्रतिशत का अंश है।

इस रिपोर्ट का कहना है कि छोटे-छोटे व्यवसायों (अधिकांशतः घरेलू) का मुख्य भाग है, जो ५,३५० करोड़ रु० होता है अर्थात् शुद्ध घरेलू उत्पादन का ६१.३ प्रतिशत; प्रति नियोजित व्यक्ति का औसत शुद्ध उत्पादन ६६० रु० आंका गया है। रेलों और संवाहनों के कर्मकरों को सबसे अधिक वेतन मिलते हैं। एक अन्य दिलचस्प निर्णय यह है कि संपूर्ण आय में से निजी भाग ७,९७० करोड़ रुपये आंका गया है और सरकारी साहसिक कार्यों और प्रशासन के लिए केवल ७६० रु० आंके गए हैं। सरकार ने टैक्सों, फीसों आदि की दृष्टि से ६९० करोड़ ० अथवा निजी आय का ८ प्रतिशत प्राप्त किया।

यह अनुमान किया गया है कि खाद्य पर भोक्ता व्यय ४,६०० करोड़ रु० से कम नहीं हुआ अथवा संपूर्ण राष्ट्रीय आय का ५३ प्रतिशत, जो देश के अधिकांश लोगों की दरिद्रता का परिचायक है। सुदृढ़ निर्णय तभी संभव होंगे जब इस प्रकार के अंक कुछ वर्षों तक मिलते रहेंगे।

आय में वृद्धि होने के अतिरिक्त हाल ही की जांचों से पता चलता है कि उसके वितरण में भी परिवर्तन हुआ है। यह बयान किया गया है कि राष्ट्रीय आय का एक बड़ा अंश ग्राम क्षेत्र में समाज के अ-नियोजित वर्ग की ओर चला गया है, जो या तो अपनी बचतों का विनियोज करने की प्रवृत्ति नहीं रखते अथवा बैंकिंग सुविधाओं के अभाव में वैसा नहीं कर पाते। १९५० की आर्थिक कमीशन की रिपोर्ट ने आय के इस परिवर्तन की ओर ध्यान आकर्षित किया था। उसी वर्ष में प्रकाशित हुई ग्राम बैंकिंग जांच कमेटी की रिपोर्ट परिवर्तन का उचित अनुमान नहीं कर सकी थी, और उसने भी उसे ज्यों-का-त्यों रखा। भारतीय सरकार के अर्थ-सचिव श्री सी. डी. देशमुख ने भी यही दृष्टिकोण उपस्थित किया था। देश के भिन्न भागों के व्यापार मंडलों ने भी इसी विचार का समर्थन किया था और शहरी वर्ग में से ग्राम-वर्ग की द्रव्य आमदनियों के परिवर्तन पर चिंता प्रकट की थी। यह कहा जाता है कि औद्योगिक नियोजन में न्यूनता का मुख्य यही कारण है।

पंजाब और बम्बई जैसे राज्यों में हाल ही के परीक्षणों से यह परिणाम प्राप्त हुआ है। यह उल्लेख किया गया है कि मालगुजारी की दरों में तो किसी प्रकार की वृद्धि की नहीं गई, और केवल सिंचाई के पानी के लिए थोड़ी-सी वृद्धि की गई है, किंतु देखा जाता है कि मुख्य जिन्सों की मूल्यों में अपेक्षाकृत बहुत उन्नति हो गई है। फलतः, ग्रामीण जनसंख्या १९३९ की अपेक्षा वर्तमान में कहीं बेहतर है और उसकी बचत करने की क्षमता में वृद्धि हो गई है, जब कि शहरी वर्ग में इसका ह्रास हुआ है। इसी प्रकार, मद्रास राज्य के विषय में डा० नारायण स्वामी नायडू का अध्ययन भिन्न निर्णय पर पहुंचता है। ऐसी दशा में, राष्ट्रीय आय का नियमित रूप से वार्षिक पर्यवेक्षण अत्यावश्यक जान पड़ता है।

६. निष्कर्ष। ऊपर के विचार से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि भारत में

आंकड़ों का संग्रह करने का कार्य बहुत ही दोषपूर्ण है और विशेषरूप से पुरानी देसी रियासतों में। आंकड़े अत्यावश्यक अनिवार्यता हैं। १९३४ में प्रकाशित बाऊले-राबर्टसन रिपोर्ट ने प्रस्ताव किया था कि संग्रह के लिए केंद्र में एक स्थाई विभाग होना चाहिए, जिसकी सहायता के लिए अर्थशास्त्र का विशेषज्ञ नियत किया जाय। उन्होंने प्रस्ताव किया था कि गवर्नर-जनरल की कौंसिल में चार सदस्यों की नियुक्ति की जानी चाहिए। सदस्यों में से दो अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ होने चाहिएं और तीसरा डाइरेक्टर आव स्टेटिसटिक्स (आंकड़ों) का हो। उत्पादन की गणना पंच-वर्षीय की जानी चाहिए और जनसंख्या की गणना दस वर्ष बाद ही हो। किंतु प्रति दस वर्ष के मध्य में पूरक रूप में एक संक्षिप्त गणना भी होनी चाहिए। यथासंभव, दोनों की एक ही समय गणना होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रत्येक मुख्य राज्य में एक पूर्ण-काल का आंकड़ा अफसर होना चाहिए, जो सब विभागों के आंकड़ों का परीक्षण करे और केंद्रीय डाइरेक्टर के साथ योग-प्रदान करे। इस रिपोर्ट के लेखकों ने देश की राष्ट्रीय आय की गणना के उपायों की भी तजवीज की थी और उन्हीं आधारों पर अनंतर डा० राओ ने अपनी जांच का कार्य किया था।

द्वितीयतः, सब भिन्न अनुमानों से, जो सरकारी अथवा गैर-सरकारी, भारतीय या योरोपियन, मत-भेद होने पर भी, अधिक या थोड़ा, प्रकट होता है कि भारतीय बहुत दरिद्र हैं। वह उसी सीमा तक ही दरिद्र नहीं कि जहां तक प्रति व्यक्ति की आय का संबंध है, प्रत्युत वस्तुओं की खपत की दृष्टि से भी गरीब हैं। यह स्थिति तब और भी अंधकारमय हो जाती है जब हम यह देखते हैं कि भारत कृषि प्रधान देश होते हुए भी अपने लिए पर्याप्त खाद्य उत्पन्न नहीं कर पाता। डा. आर. के. मुखर्जी के कथनानुसार भारत ६ करोड़ ३९ लाख व्यक्तियों को खाद्य देने में अशक्त है। डा. एक्रायड् के कथनानुसार पोषक तत्वों की दृष्टि से इससे भी अधिक न्यूनता है। खाद्य-अन्न-नीति कमेटी ने अंकन किया था कि भारत में प्रचलित खपत के मान बहुत ही न्यून हैं और उस स्तर की ओर अधिक कटौती नहीं की जा सकती। औद्योगिक नगरों में मकानों की अवस्थाएं भयंकर हैं और ग्रामों में अधिक अस्वास्थ्यकर और विभाजन ने तो स्थिति और भी बिगाड़ दी है। मृत्यु अनुपात ऊंचे हैं। पश्चिम की अपेक्षा शिशु और जच्चा की मृत्यु संख्या बहुत अधिक है। यह हीन अवस्थाएं कृषि और उद्योग, दोनों ही दयनीय उत्पादन के परिणामस्वरूप हैं।

भारत की दुर्दशा तब और भी बढ़ जाती है, जब हम अन्य देशों की अवस्था के साथ उसकी तुलना करते हैं। मि० कोलिन क्लार्क ने भिन्न देशों के आर्थिक-हितों की तुलना के लिए एक सूत्र उपस्थित किया है। उन्होंने कीमतों के समान अनेक देशों की राष्ट्रीय आयों के अनुमानों को न्यून किया है और कार्यकारी जनसंख्या के प्रति व्यक्ति के अन्तर्राष्ट्रीय इकाइयों के रूप में उन्हें प्रकट किया है। वह अन्तर्राष्ट्रीय इकाई की व्याख्या इस प्रकार करते हैं : "१९२५-३४ की अवधि के औसत के ऊपर अमरीका में एक डालर वस्तुओं और सेवाओं की जो राशि क्रय करेगा।" निम्न तालिका इसी कालांतर्गत कुछ देशों में अन्तर्राष्ट्रीय इकाई के प्रति व्यक्ति की औसत असली आय प्रकट करती है:—

अन्तर्राष्ट्रीय इकाइयों में प्रति व्यक्ति की औसत असली आय

देश	अंतर्राष्ट्रीय इकाई	देश	अंतर्राष्ट्रीय इकाई
अमरीका ...	१,३८१	जापान ...	३५३
ग्रेट ब्रिटेन ...	१,०६९	मिस्र ...	३००-३५०
आस्ट्रेलिया ...	९८०	रूस ...	३२०
फ्रांस ...	६८४	दक्षिणी अफरीका ...	२७६
चीन ...	१००-१२०	ब्रिटिश भारत ...	२००

संभव है कि मि० कोलिन क्लार्क के अनुमान किसी सीमा तक दोषपूर्ण हों, किंतु इसमें भी संदेह नहीं कि उन वर्षों में ब्रिटिश भारत और चीन का मान बहुत निम्न स्तर पर था और यह भी स्पष्ट ही है कि अब भी अवस्था बहुत सुधरी नहीं। भारत को अभी बहुत लंबा मार्ग तय करना है और यह तभी हो सकता है, जब संपूर्ण राष्ट्र मिल कर इच्छापूर्वक काम करे। भिन्न दोषों के लिए उपचार मालूम किये जा सकते हैं बशर्ते कि गंभीरतापूर्वक पर्यवेक्षण किया जाय और सही-सही आंकड़े संग्रहीत किये जायं।

नोट:—अभी अभी (मार्च १९५४) राष्ट्रीय आय समिति की अंतिम रिपोर्ट छपी है। इस रिपोर्ट के अनुसार भारत की कुल राष्ट्रीय आय (Gross National Income) १९५०-५१ में ९५३० करोड़ रु० आंकी गई है। इस हिसाब से प्रति व्यक्ति की आय २६५.२ आंकी गई है। इसकी तुलना पिछले वर्षों से की जा सकती है।

	कुल आय	प्रति व्यक्ति, आय
१९४८-४९	८६५० करोड़	२४६.९
१९४९-५०	९०१० ,,	२५३.९
१९५०-५१	९५३० ,,	२६५.२

प्रति व्यक्ति मौद्रिक आय में चाहे वृद्धि हुई हो लेकिन प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई क्योंकि मूल्यों में भी वृद्धि होती रही है। निम्नलिखित तालिका से तीन वर्षों की आय के अनुमान स्पष्ट हो जायेंगे :

(रु० करोड़ों में)

मदें	१९५०—५१	१९४९—५०	१९४८—४९
(क) कृषि :			
१. कृषि, पशुपालन तथा अन्य कार्यकलाप	४७८०	४३८०	४१६०
२. जंगलात	७०	७०	६०
३. मच्छली व्यापार	४०	४०	३०
समस्त आय	४८६०	४४६०	४२५०
(ख) खनिज, निर्माण तथा हस्त-व्यापार			
४. खनिज	७०	६०	६०
५. कारखानों से	५५०	५४०	५५०
६. छोट उद्योगों से	९१०	९००	८७०
समस्त आय	१५३०	१५००	१४८०
(ग) व्यापार, यातायात और संचार			
७. संचार (पास्ट टैलीग्राफ)	४०	३०	३०
८. रेलवे	१८०	१८०	१७०
९. संगठित बैंकिंग तथा बीमा	७०	६०	५०
१०. अन्य व्यापार तथा यातायात	१४००	१३६०	१३५०
समस्त	१६९०	१६६०	१६००
(घ) अन्य सेवाएं			
११. व्यवसाय तथा उदार कलाएं	४७०	४५०	४३०
१२. सरकारी सेवाएं	४३०	४१०	४००
१३. घरेलू सेवाएं	१३०	१२०	१२०
१४. गृह-सम्पत्ति	४१०	४००	३९०
समस्त	१४४०	१३८०	१३४०
शुद्ध घरेलू उत्पादन अंशों की लागत पर	९५५०	९०३०	८९७०
शुद्ध उपर्जित बाह्य आय	—२०	—२०	—२०
शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन या शुद्ध राष्ट्रीय आय	९५३०	९०१०	८९५०
प्रतिव्यक्ति आय	२६५·२	२५३·९	२४६·९

छत्तीसवाँ अध्याय

भारत में आर्थिक योजना-निर्माण

१. चिरकाल तक राष्ट्र की आर्थिक नीतियों पर और लोगों के दिलों पर तटस्थता (Laissez faire) का शासन रहा। यह विश्वास किया जाता था कि आत्म-हित के लिए कार्य करना अधिकतम व्यक्तिगत लाभ प्रदान करने वाला था। यह युक्ति दी जाती थी कि उपभोक्ता का अल्पतर लागतों से हित होगा और उत्पादन करने वालों का अधिक लाभों से। जो भी हो, हाल ही के समयों में, तटस्थता का लोप हो गया है, और राज्य के हस्तक्षेप की विपरीत लहर चल पड़ी है। इस प्रकार, आज, योजना होने और न होने के बीच का प्रश्न नहीं, प्रत्युत राज्य के संरक्षण में योजना निर्माण की स्थितियों के बीच का प्रश्न है।

तीस वर्ष के अल्पकाल में दो विश्व-युद्धों ने संसार को उसकी नींवों से हिला दिया है। पहले की अपेक्षा दूसरा अधिक विनाशकारी था और आगामी इससे भी बढ़कर प्रलयकारी होगा। धर्म और राज्य इस प्रकार के प्रलयकारी उत्पातों को रोकने में अभी तक असफल रहे हैं। अब अर्थशास्त्री की बारी है। यदि वह सब मुख्य देशों का सहयोग प्राप्त करने के लिए सही खेल कर सका और यदि वह रंग-भेद केबिना संसार के लोगों के जीवन-मान को उन्नत करने में सफल हुआ, तो वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा। स्पष्ट ही है कि जब तक भारत की भूमि पर भूख का राज है, वह विश्व की स्थिति को ठीक करने की दिशा में कुछ भी नहीं कर सकता। जीवन-मान निम्न है और लोगों की बहुत बड़ी संख्या कष्टकर दीनता में जीवन बिता रही है। अल्प विकसित प्रसाधनों के कारण जन-संख्या की निरंतर वृद्धि का संकट भी सदा विद्यमान रहता है।

१९३३ में सर जान मेगा की रिपोर्ट ने प्रकट किया था कि केवल ३९ प्रतिशत लोगों के लिए यह कहा जा सकता है कि उन्हें पर्याप्त खुराक मिलती है, ४१ प्रतिशत को घटिया तरीके से और २० प्रतिशत के एक बड़े अनुपात को बहुत बुरी प्रकार की खुराक मिलती है। भारत के विषय में हाल ही में चर्चा करते हुए डा० एक्रायड ने कहा था, "इसमें संदेह नहीं कि जन-संख्या के एक महान् प्रतिशत को पर्याप्त खाने के लिए नसीब नहीं होता," और वह सामान्यतः न्यून भोजियों का अनुपात ३० प्रतिशत से कम नहीं आंकते।

प्रति अंश की आय की न्यूनता का कारण भारतीय अर्थ-व्यवस्था की गलत प्रगति है। कृषि पर अत्यधिक निर्भर रहना जीवन-मान को निम्न बनाये रहता है। गांव की आत्म-निर्भरता बेरोजगार को हटाएगी, किंतु जीवन-मान को उन्नत नहीं करेगी। उसके लिए देश का औद्योगीकरण अत्यावश्यक है। केवल तभी भारतीयों को बेहतर मकानों की सुविधाएं, अधिक वस्त्र और पर्याप्त चिकित्सा की आशा हो सकती है।

इस प्रकार यहां (क) उत्पादन की अपूर्णता है, (ख) व्यवस्थित आर्थिक जीवन की अस्थिरता है, (ग) और, वितरण की असमानता है। यहां तक कि एक छोटा-सा मकान बनाने के लिए हमें एक नक्शा और अपने साधनों का सही विचार होने की आवश्यकता है। भारतीय अर्थ-व्यवस्था के भवन की सही स्थिति जानने के लिए, जो एक विशाल उत्तर-दायित्व है, एक अतिविशिष्ट मान और सामान्य पर्यवेक्षण की आवश्यकता है।

उत्पादन की अपूर्णता का कारण बेरोजगारी है अथवा उत्पादन के अंशों के लिए अल्प-नियोजन है। उसके प्रगति के वर्तमान स्तर के लिए, भारत में जन-संख्या का आधिक्य है। उसके प्रसाधन भले ही विशाल हो सकते हैं, किंतु उनका पूर्णतया उपयोग नहीं किया गया। उसके पास न तो पर्याप्त पूंजी है, न ही उसके पास पर्याप्त मशीनें अथवा कारीगर हैं। गांवों में अधिकांश लोग—लगभग ८७ प्रतिशत उनमें से वहां रहते ही हैं—आज भी मध्ययुग के आभूषण के रूप में होंगे।

इसके अतिरिक्त, भारत की राष्ट्रीय आय के वितरण में बहुत बड़ी असमानताएं हैं। प्रो० के. टी. शाह और मि. खम्बट्टा को १९२४ में मालूम हुआ था कि यदि एक सौ रुपये एक सौ आदमियों में वितरित करने होते थे, तो मोटे रूप में ३३ रुपये धनी वर्गों के एक सदस्य के भाग में आते; ३३ रु० मध्यम वर्ग के ३३ व्यक्तियों को मिलते और शेष ३३ रु० श्रमिक-वर्गों के ६६ सदस्यों के हिस्से में जाते। १९३१-३२ में डा० वी० के० आर. वी. राओ ने मालूम किया था कि जब ग्राम-क्षेत्रों में प्रति व्यक्ति की ओसत आय केवल ५१ ० थी तो शहरी क्षेत्रों में यह १६६ रु० थी। यह ध्यान देने की बात है कि उस जांच के समय शहरी क्षेत्रों में केवल १२ प्रतिशत जन-संख्या रहती थी। इस प्रकार मालूम होता है कि देश के आर्थिक-जीवन का सभी दिशाओं से पुनरुद्भव करने की अत्यावश्यकता है।

२. योजना निर्माण का उद्देश्य। अन्य राष्ट्रों के समान हमारा उद्देश्य भी यह है कि "जनतंत्र के नागरिक को अपने स्वास्थ्य की रक्षा के लिए पर्याप्त खाद्य के अधिकार का वचन मिलना चाहिए। उसे आवास, वस्त्र और खाद्य के न्यूनतम-स्तर का विश्वास होना चाहिए। उसे शिक्षा के पूर्ण और समान अवसर दिये जाने चाहिएं। उसे इसका आनंद लेने के लिये सुख और सुविधाएं होनी चाहिएं। वृद्धावस्था, अस्वास्थ्य और बेरोजगारी के भय के विरुद्ध उसकी रक्षा होनी चाहिए।"[1] इस प्राप्ति के लिए सुलझी हुई योजना की हमें आवश्यकता है। अब, एक योजना बनी है, जिसमें लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए पूर्वतः ही संगठित यत्नों को उपस्थित किया गया है। इसका उद्देश्य आंशिक अथवा न्यून उन्नत प्रसाधनों को उन्नत करने के लिए यत्नों के बहाव को संगठित करना है। यह स्वीकार करता है कि कार्य करने औरउ पार्जन करने की स्वतन्त्रता नागरिक का जन्मसिद्ध अधिकार है और यह प्रत्येक को पूर्ण रोजगार देने के आदर्श का अनुगामी है।

इसका उद्देश्य सब वर्तमान प्रसाधनों की उपयोगिता और सब तुलनात्मक व्यवसायों में उनका शुद्ध बटवारा करना है। इसका उद्देश्य न्यूनतम लागत पर वस्तुओं का उत्पादन करना भी है। यह मांग और पूर्ति के बीच सही संतुलन के लिए कार्य करता है ताकि उत्पादन और न्यूनता के आधिक्य की चरम-सीमाओं से बचा जा सके।

तो भी, इस बात पर बल दिया जा सकता है कि (क) देश के लोगों के पूर्ण-हार्दिक सहयोग के बिना कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती, (ख) और कोई भी योजना प्रत्येक नागरिक के सुख के लिए कार्य नहीं कर सकती। बहुसंख्या के हित के लिए किसी सीमा तक व्यक्ति की स्वाधीनता की बलि देनी ही होगी।

पिछले कुछ वर्षों में भारत में सब विचारवान लोग अपने लोगों की अत्यधिक दीनता और उसके उपचार की समस्या के विषय में चिंतित हो उठे थे। इस प्रकार गत कुछ वर्षों में योजनाओं की बाढ़-सी आ गई—जैसे, बंबई योजना, जनता की योजना,

1. Sir J P. Srivastava—Aim of Post-war Reconstuction.

गांधीवादी योजना, राष्ट्रीय योजना निर्माण कमेटी की योजना, बिरला योजना, सरकारी योजना, पंचवर्षीययोजना का लेख्य, आदि। उनमें से प्रत्येक का दावा था कि वह भारत की आर्थिक बुराइयों के लिए विशिष्ट है और हजारों करोड़ रुपये के खर्च के प्रस्ताव किये गये।

३. युद्धकालीन तथा युद्धोत्तर योजनाएं[1]—बंबई योजना—इस योजना के लेखकों का उद्देश्य भारत के जीवन-मान को उन्नत करना है। लेखकों को आशा है कि १५ वर्ष के काल में प्रति व्यक्ति की आय दोगुना हो जायगी, जिसका, जन-संख्या की वृद्धि के लिए गुंजायश रखते हुए, अर्थ होगा, देश की वर्तमान सामूहिक आय में तीन गुनी वृद्धि।

उद्योग—इस योजना में उद्योग, कृषि, संवाहन, शिक्षा, स्वास्थ्य और भवन-निर्माण को उन्नत करने के लिए लक्ष्य नियत किये गये हैं। उद्योग के विषय में, आधार-मूलक उद्योगों, जैसे बिजली, खानें, इंजीनियरिंग, रासायनिक, यातायात आदि को मुख्य महत्व दिया गया है और पहले उनकी प्रगति की दिशा में ध्यान दिया जायगा। किंतु साथ ही उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन के लिए उद्योगों को उन्नत करने का भी कार्य किया जायगा। हमारे यहां की सस्ती मानव-शक्ति को दृष्टि में रखते हुए घरेलू और लघु-स्तर के उद्योगों को उन्नत करने पर विशेष महत्व दिया गया है जिससे बहुमूल्य यंत्रों को मोल लेने तथा लगाने की आवश्यकता की उपेक्षा की जा सके। सब उद्योगों की उत्पत्ति में पांच-गुना वृद्धि की जायगी।

कृषि—कृषि उत्पादनों की उत्पत्ति को दुगुना किया जावेगा। यह उल्लेख किया गया है कि कृषि उन्नति का प्रश्न तब तक निरर्थक है, जब तक कृषि की तीन मुख्य समस्याएं हल नहीं हो जातीं, अर्थात् अर्थ-व्यवस्थाहीन अधिसंपत्तियां, ग्रामीण ऋण ग्रस्तता और धरती का कटाव। अनुत्पादक कृषि संपत्तियों के लिए सहकारिता कृषि की तजवीज की गई है और धरती कटाव को रोकने के लिए जंगल उगाने की तजवीज की गई है। यह भी आवश्यक होगा कि कृषि-कार्य के क्षेत्र में वृद्धि की जावे और प्रति एकड़ उपज में भी वृद्धि की जावे।

यातायात—औद्योगिक और कृषि उत्पादनों के परिमाण में वृद्धि हो जाने से वस्तुओं का आवागमन भी बढ़ेगा। इस आवागमन की वृद्धि को पूरा करने के लिए प्रस्ताव किया गया है कि वर्तमान रेल-मार्गों में २१ हजार मील की और वृद्धि की जाय, सड़कों के वर्तमान को दुगुना किया जाय और तटवर्ती जहाजरानी को विस्तार दिया जाय।

सामाजिक सुविधाएं—कृषि, उद्योग और संवाहन को उन्नत करने के साथ ही साथ बेहतर शिक्षा, चिकित्सा और सफाई तथा आवास के लिए योजनाएं जारी करने का प्रस्ताव किया गया है। आशा की गई है कि संतुलित खुराक दी जा सकेगी, वर्ष भर में ३० गज कपड़ा और रहने के लिए एक मकान। आशा है कि प्रत्येक ग्राम में एक डिस्पेंसरी होगी और एक कस्बे में एक सामान्य अस्पताल और उसके साथ ही जच्चा अस्पताल भी। प्रत्येक ग्राम में एक स्कूल होगा और पड़ोसी कस्बों में सैकंडरी और हायर शिक्षा का प्रबंध होगा।

---

१. यह योजनाएं अब केवल ऐतिहासिक दिलचस्पी की रह गई हैं। उन्हें नयी पंचवर्षीय योजना को स्थान देने के लिए पर्याप्त रूप में छांट लेना चाहिए—अगस्त के तृतीय सप्ताह में 'स्टेट्समैन' में प्रकाशित ए. डी. गोरवाला के लेख के अनुसार।

अर्थ-व्यवस्था—इस योजना के लिए १० हजार करोड़ रुपये की संपूर्ण पूंजी की आवश्यकता होगी। प्रस्ताव है कि इस लागत का प्रबंध भिन्न आर्थिक स्रोतों से किया जायगा—जो इस प्रकार है:—दबायी हुई संपत्ति ८०० करोड़, स्टर्लिंग प्रतिभूतियां १००० करोड़, व्यापार का संतुलन ६०० करोड़, विदेशी ऋण ७०० करोड़, लोगों की बचतों से ४ हजार करोड़ रु० और ३४०० करोड़ रु० के लिए तजवीज की गई है कि स उद्देश्य संबंधी प्रतिभूतियों के विरुद्ध रिजर्व बैंक से ऋण लिया जावे।

यह योजना तीन स्तरों में पूर्ण की जायगी। प्रत्येक में पांच वर्ष लगेंगे। इसलिए, वस्तुतः, यह तीन पंच-वर्षीय योजनाओं की बनी हुई है।

जनता की योजना।[1] (People's Plan) जबकि बंबई-योजना युद्धोत्तर निर्माण की दिशा में पूंजीवादी दृष्टिकोण को प्रकट करती है, वहां इस विषय के संबंध में जनता की योजना भारतीय श्रम-संघ के दृष्टिकोण को व्यक्त करती है। यह योजना बंबई योजना की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। यह योजना-निर्माण के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डालती है, जिसमें संपत्ति का उत्पादन और वितरण भी सम्मिलित है। संपूर्ण योजना के लिए दस वर्ष की अवधि रखी गई है और संपूर्ण काल के लिए इस योजना-निर्माण पर १५ हजार करोड़ रु० खर्च बताया गया है।

योजना के पहले तीन वर्षों के लिए प्रारंभिक पूंजी व्यय का अनुमान १६०० करोड रु० किया गया है। यह गणना की गई है कि इस प्रारंभिक लागत से योजना स्वतः अपना अर्थ-प्रबंध करेगी, अर्थात् इसके बाद आगे की पूंजी लगाने के लिए राज्य के पास पर्याप्त कोष हो जायेंगे, क्योंकि प्रारंभिक व्यय ऐसी मदों पर केंद्रीभूत होगा, जिनसे तत्काल लाभ की आशा की जाती है। योजना ने कृषि पर विशेष बल दिया है। इसके विषय में उत्पत्ति की दिशा में ४०० प्रतिशत वृद्धि की आशा की जाती है। कृषि से उत्पादन की वृद्धि के लिए भूमि का राष्ट्रीयकरण किया जायगा और जमींदारी हटा दी जायगी। उत्पादन के उपायों को यान्त्रिक किया जायगा और २५ हजार राज्य क्षेत्र और अनुसंधान संस्थाएं स्थापित की जायंगी, जिनमें नवीनतम यंत्र होंगे। यह विश्वास किया गया है कि इन कार्यवाहियों से न केवल पर्याप्त खाद्य और उद्योगों के लिए कच्चे पदार्थ मिलेंगे, प्रत्युत निर्यात के लिए आधिक्य का उत्पाद भी हो सकेगा।

गांधीवादी योजना। यह योजना अन्यों की भांति बहुत महत्वाकांक्षी नहीं। इसका कहना है कि भारत गरीब है और उसे मितव्ययिता से ही आरंभ करना चाहिए। इसका प्रस्ताव है कि दस वर्षों में ३५०० करोड़ रु० खर्च किये जायं, जिनमें से ११७५ करोड़ रु० कृषि पर खर्च होंगे, १०३० करोड़ रु० वृहद्-स्तर और मूल उद्योगों पर, ३५० करोड़ रु० ग्राम उद्योगों पर, ४०० करोड़ रु० यातायात पर, और शेष सामाजिक सेवाओं पर।

गांधीवाद योजना आदर्शवादी है। यह ग्राम क्षेत्रों के सुधार, कृषि उन्नति, और सहायक घरेलू उद्योगधंधों पर विशेष बल प्रदान करती है। उसका मत है, "हमारी योजना निर्माण का परिणाम जनता को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन की स्वतन्त्रता से बदल कर सैनिककरण का नहीं होना चाहिए। उसे प्रजातंत्र के लिए कार्य करना चाहिए और सर्वाधिकारवादी नहीं बनना चाहिए।"

---

1. The People's Plan for the Economic Development of India being the Report of Postwar Reconstruction Committee of the Indian Federation of Labour.

गांधीवादी योजना का मत है कि योजना-निर्माण की ब्रिटिश प्रणाली पूंजीवादियों को गरीबों का शोषण करने की स्वीकृति देती है और उसके बाद शोषकों पर टैक्स लगा कर शोषितों के सामने आर्थिक सहायता के टुकड़े फेंकती है। यह अपमानजनक विधि है। रूसी योजना भी, "नये और शक्तिसंपन्न दल द्वारा अधिकृत है—प्रबंधकवर्ग द्वारा।"[1] व्यक्ति की कोई स्वतंत्रता नहीं, भले ही भौतिक रूप में वह कितना ही संपन्न हो। फासिस्ट-वादी योजना पूर्ण रोजगार देती है, किंतु लोगों को माखन की अपेक्षा बंदूकों को अधिक पसंद करने की शिक्षा दी जाती है।[2]

गांधीजी वृहद्-स्तर उद्योग के आधार पर योजना नहीं बनाना चाहते थे। उनके अनुसार 'मशीन' पूंजी की अनुचरी है और अनेकों का शोषण करती है। दूसरी ओर ग्रामों में ग्राम-समाज द्वारा उत्पादन तत्काल उपयोग के लिये होगा। प्रत्येक गांव या गांवों के दल को आत्मनिर्भर होना है। यंत्रीकरण को एक बुराई समझा जाता है और घरेलू उद्योगों में सुधार के लिए तथा भारत की सुरक्षा के लिए कुछ एक आधार-मूलक उद्योगों का समर्थन किया गया है।

योजना के उद्देश्य इस प्रकार बताये गये हैं: २६०० कैलोरीज की संतुलित खुराक, २० गज वस्त्र प्रतिवर्ष, प्रत्येक व्यक्ति के लिए १०० फुट आवास का स्थान, प्रत्येक लड़के और लड़की के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन की सुविधाएं, देसी थियेटर और ग्रामीण नृत्य।

कोष प्राप्ति के लिए प्रस्ताव किया गया है कि आंतरिक ऋणों, निर्मित द्रव्य और करों से संग्रह किया जायगा।

यह तजवीज की गई है कि आयकरों को अधिक प्रगतिशील बनाया जायगा, जिससे नमक-कर हटाया जा सके और ऊंची कृषि आमदनियों पर आय-कर लगाया जा सके। फौजी खर्चों को भी भीषणतापूर्वक छांट दिया जायगा और किसी भी असैनिक कर्म-कर को ५०० रु० मासिक से अधिक वेतन नहीं दिया जायगा।

४. राष्ट्रीय योजना निर्माण कमेटी के प्रस्ताव। राष्ट्रीय योजना-निर्माण कमेटी भारतीय कांग्रेस ने १९३८ में बनाई थी। इसका उद्देश्य ऐसी योजना बनाना था, जिससे जनता का पर्याप्त उचित जीवन-मान बन सके।

देश की सुरक्षा और सार्वजनिक उपयोगिता के आवश्यक उद्योगों का स्वामित्व और कार्य-चालन सरकार द्वारा होना था; मूल-उद्योगों का भी राष्ट्रीयकरण करना था। कुछ अवस्थाओं में अयोग्यता को दूर करने के लिए सार्वजनिक ट्रस्ट बनाये जाने थे।

खानों और खनिजों का स्वामित्व पूर्णतया सामूहिक रूप में लोगों को सौंपा जाना था। जमींदारी को हटाया जाना था और कृषि के लिए सहकारिता का सिद्धांत लागू होना था और इस प्रकार अर्थ-व्यवस्था रहित अधिसंपत्तियों से मुक्त होना था। यह भी उचित समझा गया कि रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण किया जाय और अन्य सब बैंक और बीमा कंपनियां इसके नियंत्रण में रहें। राष्ट्रीय हितों को उन्नत करने के लिए भारत के विदेशी व्यापार को नियमित करना था। आयातों और निर्यातों पर नियंत्रण आवश्यक था।

इस वृहद् कार्य को करने के लिए विभिन्न समस्याओं की खोज के हेतु २९ उप-समितियां बनाई गई। उन्हें उन समस्याओं का हल बताना था और रिपोर्ट करनी थी।

---

1. Burnham—Managerial Revolution.
2. Penguin Series by S. N. Aggarwal—The Gandhian Plan.

देश के किसी भी आर्थिक अंग को अछूता नहीं रखा गया था। इन खोजों का तात्पर्य अखिल भारतीय पर्यवेक्षण के लिए प्रारंभिक आधार था ।

राष्ट्रीय योजना कमेटी ने हमें समाजवाद की दिशा में प्रवृत्त होने की योजना दी है, साथ ही व्यापार और निर्माण के उद्योगों में निजी कार्य करने वालों के लिए सम्मानपूर्ण अंश भी सुरक्षित रखा है ।

५. भारत सरकार की योजनाएं । योजना और प्रगति के विभाग को अगस्त, १९४४ में सर ए. दलाल के हाथों में सौंपने के बाद, भारत सरकार ने युद्धोत्तर योजना, की दिशा में कुछ महत्वपूर्ण कार्य किया। १९४४ में, जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी, वह योजना निर्माण अधिकारियों के लिए मुख्यत: मार्ग दर्शन के हेतु थी । अनंतरकाल में सब सापेक्ष विवरणों के साथ संपूर्ण योजना प्रकाशित हुई। यह दो भागों में खंडित थी, एक अल्प कालीन योजना और दूसरी दीर्घ कालीन ।

अल्पकालीन योजना के ध्येयों में, जिसे १९४७-४८ से आरंभ करके पांच वर्ष में काम करना था, मुख्यत: यह बातें निहित थीं :

१. सुरक्षा सेवाओं और व्यक्तियों का पुनर्वास;
२. फौजी स्टोरों तथा साज-सामान के आधिक्य को समाप्त करना;
३. उद्योग को युद्ध से शांति की दिशा में बदलना; और
४. शांति अवस्थाओं के अनुरूप नियंत्रणों का समाधान ।

दीर्घकालीन योजना में वृहद्-स्तर पूंजी व्यय होने थे और उन्नति के लिए उनका आधारमूलक महत्व था । ये इस प्रकार थे :

१. उद्योग और कृषि की सहायता के लिए जल-विद्युत महायंत्रों का प्रबंध;
२. बहुमूल्य वस्तुओं और उन उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन की विशिष्टता के साथ, जो जन-संख्या की बड़ी संख्या के लिए आवश्यक हों, उद्योग की प्रगति;
३. सड़क संवाहनों और यातायात के कृत्यों को उन्नत करना ; विशेषरूप से ग्रामीण क्षेत्रों में, और;
४. सिंचाई, धरती कटाव-विरोधी और भूमि सुधार की योजनाओं से कृषि की उन्नति।

यह प्रस्ताव किया गया कि उन्नत शिक्षा, आवास और स्वास्थ्य की स्कीमों को जारी किया जावे, क्योंकि कृषि और उद्योग की उन्नति के लिए इन सेवाओं को सही रूप में पूर्ण-आवश्यक समझा गया । इस प्रकार की सेवाओं में टैक्निकल शिक्षा संभवत: सब से महत्वपूर्ण थी । सरकार जानती थी कि उन्नति के लिए केवल अर्थ-व्यवस्था ही नहीं चाहिए प्रत्युत शिक्षित व्यक्तिमंडल भी। टेक्निकल मानव-शक्ति देने के लिए सरकार ने न केवल नवयुवकों को शिक्षा प्राप्ति के लिए विदेश भेजा, प्रत्युत देश में अनुसंधान की संस्थाएं तथा प्रयोगशालाएं भी स्थापित कीं ।

दुर्भाग्य से विभाजन के कारण युद्धोत्तर काल की यह सब योजनाएं उपयोग में न आ सकीं । और एक नयी योजना बनाने की आवश्यकता हुई । फलस्वरूप, योजना-निर्माण कमीशन की स्थापना की गयी ।

६. योजना निर्माण कमीशन (Planning Commission) । युद्ध ने भारत के आर्थिक ढांचे को छिन्न-भिन्न कर दिया था। विभाजन ने उसे और भी विक्षिप्त कर दिया। कुछ भागों में सूखा और अन्य में बाढ़ों तथा भूकंप ने स्थिति और भी बिगाड़ दी। फलस्वरूप, अर्थ-विषयक साधनों, बहुमूल्य साज-सामान, कुशल कारीगरों और कच्चे

पदार्थों की हमारे यहां कमी हो गयी। इस कारण इसका सावधानी के साथ रक्षण और वितरण अत्यावश्यक था। इस बात का अनुभव करते हुए कि खंडित योजना-निर्माण इस समस्या का निराकरण नहीं कर सकेगा, सरकार ने पं. नेहरू की अध्यक्षता में, दिसंबर १९४९ में योजना-निर्माण कमीशन की स्थापना की। यह देखा गया कि समस्या को केवल छू-छू जाने से काम नहीं होगा; केवल आमूल योजना ही हमें निश्चित ध्येय की प्राप्ति करा सकती है। द्वितीयत:, किसी भी आयोजित अर्थ-व्यवस्था की प्रणाली तबतक सफल नहीं हो सकती, जबतक जनता का पूर्ण सहयोग न हो।

२८ मार्च, १९५० को कमीशन का पहला अधिवेशन हुआ और उसने अपने कामों को ६ भागों में संगठित किया : साधन और आर्थिक पर्यवेक्षण; अर्थ; खाद्य और कृषि; उद्योग, व्यापार और यातायात; प्राकृतिक साधनों की उन्नति और रोजगार तथा सामाजिक सेवाएं।

कमीशन ने केंद्र और राज्यों की सब उन्नति की स्कीमों का भलीभांति अध्ययन किया और उनके प्रसाधनों की परीक्षा की। वह खोज की हुई तथा हस्तगत की हुई अनेक महत्वाकांक्षा स्कीमों के मार्ग में आनेवाली बाधाओं से परिचित थी—जैसे, सीमित अर्थ-व्यवस्था, कुशल कारीगरी का अभाव, और कच्चे पदार्थों का अभाव—जैसे रुई और जूट और खाद्यान्नों के लिए विदेशों पर निर्भरता, तथा आवागमन के अपर्याप्त साधन।

तदनुसार, पंच-वर्षीय लेख्य योजना को उपस्थित करते समय उसने इन त्रुटियों को दृष्टि में रखा। यह लेख्य १९५१ में प्रकाशित हुआ था। राज्य सरकारों को विशिष्ट निर्देशन किये गये थे कि :–

१. वर्तमान मुद्रा-स्फीति की शक्तियों को रोकने के लिए बजटों को निश्चित संतुलित किया जाना चाहिए।

२. हस्तगत स्कीमों के प्रसाधनों के नियोजन को प्राथमिकता दी जाए।

३. केवल ऐसी ही स्कीमें ली जायं, जो युक्तियुक्त अवधि में पूर्ण करनी संभव हों, और

४. निर्वाचित कार्यों की उत्पादन क्षमता उनमें लगी हुई पूंजी की अपेक्षा अधिक होनी चाहिए।

इतिहास में पहली बार, अखिल भारतीय आधार पर इस देश में योजना-निर्माण का कार्य किया गया है। यही नहीं कि क्षेत्र केवल केंद्रीय और राज्य सरकारों तथा निजी साहसिक कार्यों के लिए रखा गया, प्रत्युत स्थानीय अधिकारियों के नियंत्रित क्षेत्र को भी लिया गया, जैसे आवागमन, पानी की पूर्ति, रोशनी और बिजली। सब भागों का परस्पर संगठन भी आवश्यक था।

आवश्यक योजना उपस्थित कर सकने से पूर्व, कमीशन को जुलाई, १९५० में, कामन्वैल्थ विचार-विनिमय कमेटी से पूर्व देश के लिए ६ वर्षीय योजना बनाने के लिए कहा गया। अनन्तर काल में इस कमेटी को दक्षिण और दक्षिण-पूर्व एशिया में सहकारिता आर्थिक प्रगति के लिए कोलम्बो योजना में शामिल हो जाना था।

७. कोलम्बो योजना। यह योजना दक्षिण-पूर्व एशिया के सब कामन्वैल्थ देशों भारत, पाकिस्तान, लंका, मलाया, बोर्नियो और सारावाक की आर्थिक सहायता के लिए बनाई गई है। इस क्षेत्र में रहने वाले लोगों में अधिकांश अपढ़ और निर्धन हैं तथा बुरी खुराक के कारण अस्वस्थ हैं। दुनिया में अन्य भी कुछ ऐसे हिस्से हैं, जहां ऐसी ही स्थितियां हैं–जैसे, दक्षिण अमेरिका, अफरीका, चीन आदि। किंतु दक्षिण पूर्व एशिया

पहला ऐसा देश है जो अपेक्षया बृहद्-स्तर की अन्तर्राष्ट्रीय सहायता के लिए चुना गया है। इसके निम्न कारण हैं :–

१. संभवतः, विश्व के अन्य न्यून-उन्नत क्षेत्रों में यहां अपेक्षाकृत अधिक गरीबी और भूख है। प्रतिदिन, प्रति व्यक्ति की खाद्य की खपत २ हजार कैलोरीज (उष्ण तत्व) से कुछ कम है, जब कि खाद्य विशेषज्ञों का मत है कि मनुष्य की खुराक के लिए २८०० कैलोरीज की आवश्यकता होती है। १९४९-५० में भारत के यह अंक १६६० तक न्यून थे।

२. ब्रिटिश कामन्वैल्थ के साथ इस क्षेत्र के अधिक निकट संबंध हैं। वस्तुतः लोगों का ७५% इस क्षेत्र में रहता है। फलतः इंगलैंड, कैनाडा, आस्ट्रेलिया आदि, सरीखे कामन्वैल्थ के धनी सदस्य-देश अन्यों की अपेक्षा इस क्षेत्र की सहायता करना पसंद करते थे। अनंतर चरण में इस योजना के साथ अमरीका को भी मिला लेने की तजवीज की गई।

३. यह क्षेत्र राजनीतिक अशांति से त्रस्त है। यदि लोगों की आवश्यकताओं को पूर्ण न किया गया और उनके जीवन-मान को उन्नत न किया गया, तो चीन की भांति यह क्षेत्र भी साम्यवादी बन जाएगा।

४. इस क्षेत्र का आर्थिक महत्व भी बहुत बड़ा है। यह विश्व की प्राकृतिक रबर की ९०% पूर्ति का उत्पादन करता है, ९० प्रतिशत जूट का, ७०% चाय और ६६ प्रतिशत टीन का। पूर्ति के इन स्रोतों पर से अधिकार की क्षति हो जाने पर पश्चिमी देशों की अर्थव्यवस्था पंगु हो जाएगी।

५. युद्ध ने इस क्षेत्र की अर्थ-व्यवस्था को संपूर्णतः नष्ट कर दिया है। इस प्रकार १ करोड़ ५० लाख एकड़ चावल की भूमि नष्ट हो गयी है, लगभग ३३% रेलवे लाईन उपयोग रहित हो गई और ५० प्रतिशत कृषि-पशु नष्ट हो गये। इस क्षेत्र में भीषण अकाल को अंतर्राष्ट्रीय सहायता कार्य द्वारा रोका गया है।

६. इन सब से बढ़ कर भारी मुद्रा-स्फीति थी और फलस्वरूप मूल्यों में भारी उत्कर्ष हुआ।

इसलिए, आर्थिक सहायता के लिए न्यून-उन्नत क्षेत्रों में से दक्षिण-पूर्व एशिया को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी है।

स्वतः योजना—जनवरी १९५० में कामन्वैल्थ के विदेश-मंत्रियों की कोलम्बो विचार विमर्श कमेटी का अधिवेशन हुआ। छः वर्षीय योजना के विचार पर तर्क किया गया। अन्ततः, जुलाई १९५१ में योजना को जारी किया गया।

(क) भिन्न दिशाओं में १९५७ के लिए निम्न लक्ष्य हैं :

	अतिरिक्त इकाइयां	प्रतिशत वृद्धि
कृषि की जाने वाली भूमि (१० लाख एकड़ में)	१३	३.५
सिंचाई की जाने वाली भूमि (,,)	१३	१७
खाद्य अन्न (१० लाख टनों में)	६	१०
बिजली (१० लाख किलोवाट में)	१.१	६७

(ख) योजना पर संपूर्ण अनुमानित व्यय इस प्रकार है :

देश का नाम	अतिरिक्त इकाइयाँ		प्रतिशत वृद्धि
भारत	१,३७९	दस लाख	७५%
पाकिस्तान	२८०	,,	१५%
लंका	१०४	,,	५%
मलाया औल बोर्नियो	१०४	,,	५%
	१,८६८	,,	

भारतीय कार्यक्रम के लिए इस प्रकार १,८४० करोड़ रुपये खर्च की आवश्यकता होगी। विश्वास किया जाता है कि भारत आंतरिक रूप में १,०३० करोड़ रुपये का प्रबंध करने योग्य हो जाएगा और ८१० करोड़ रुपये बाहरी सहायता से आ जाएंगे।

(ग) सहायता रूप में, योजना जिन मुख्य आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रस्ताव करती है, वह इस प्रकार है :–

(१) कला विशेषज्ञ (टैक्नीशियन), जैसे असैनिक, यांत्रिक, विद्युत, जल-विद्युत के इंजीनियरों की, जो बांध बनाने, सिंचाई कार्यों आदि और शास्त्रीय कृषि कलाविशेषज्ञ प्राणी वातावरण प्रभाव विशेषज्ञ, फसलें उगाने और शासन प्रबंध करने के अनुभवी हों।

(२) पूंजी।

(घ) **पूंजी की स्रोत**—यह निश्चय किया गया कि भिन्न देश आंतरिक रूप में ७८ करोड़ ४० लाख पौंड का प्रबंध कर लेंगे, २४ करोड़ ५० लाख पौंड स्टर्लिंग सम्पत्तियों से आ जाएंगे, ८ करोड़ ३० लाख पौंड कामन्वैल्थ देशों का अंशदान होगा, २ करोड़ २० लाख पौंड अंतर्राष्ट्रीय बैंक I. B. R. D. और शेष अमरीका तथा विदेशों से निजी विनियोगों द्वारा प्राप्त होगा।

योजना की आलोचना—कोलंबो योजना के अधीन जो देश सहायता प्राप्त कर रहे हैं, उनकी संपूर्ण जनसंख्या ४२ करोड़ ९० लाख है। इस योजना पर संपूर्ण व्यय की तजवीज १८६८ मिलियन पौंड की की गयी है। ६ वर्षों के लिए प्रति व्यक्ति का व्यय ४ पौंड से कुछ अधिक है, और एक वर्ष में १३ शिलिंग ४ पेंस से कुछ ऊपर आता है। यह बहुत ही थोड़ा है। अकेले इंगलैंड ने तीन वर्षों में पुनः शस्त्रीकरण के कार्यक्रम पर ४७०० मिलियन पौंड खर्च करने का प्रस्ताव किया है, जिसका अर्थ ३१ पौंड प्रतिव्यक्ति प्रति वर्ष होता है।

जैसा कि कोलंबो योजना का छोटा आकार है, उस तक के लिए भी संपूर्णराशि प्राप्त नहीं की गयी है। अब भी लगभग ५० करोड़ पौंड कामन्वैल्थ के बाहरी साधनों से हस्तगत करने रहते हैं। इसके अतिरिक्त कोलंबो योजना उस काल में आरंभ की गयी थी, जबकि साधन और पदार्थों की अल्पता थी। इसलिए आवश्यक बहुमूल्य वस्तुओं तथा कारीगरों का इस क्षेत्र के लिए प्राप्त करना बहुत कठिन हुआ।

इस योजना की इस कारण आलोचना की गई है कि यह कृषि, यातायात और बिजली-शक्ति पर अपेक्षाकृत अधिक बल देती है और सामाजिक सेवा पर बहुत कम। किंतु यह मानी हुई बात है कि जब तक अशिक्षा और अज्ञान पर विजय न पा ली जाएगी, कोई भी

योजना सफल नहीं होगी । इसे छोड़ कर, इस योजना में औद्योगिक प्रगति के प्रति भी उपेक्षा की गयी है । यह स्मरण रखना चाहिए कि जैसे ही कृषि यांत्रिक हो जाएगी, किसानों की एक बहुत बड़ी संख्या बेकार हो जाएगी । यदि उन्हें उद्योग में न खपाया गया, तो अनुभव यह बतलाता है कि वह भूमि की ओर पुन: झुकेंगे और अपने जीवन-भर के खातिर उत्पादन करेंगे, अथवा विपरीत दशा में देश में बेकारी की वृद्धि होगी । इस कारण मुख्य साधनों तथा उपभोक्ता वस्तुओं के लिए उद्योग की आनुक्रमिक उन्नति आवश्यक है, और इतने पर भी इस योजना में प्रगति के लिए पर्याप्त गुंजायश नहीं रखी गयी ।

इस प्रकार, यह तर्क किया जाता है कि कोलम्बो योजना युक्तिसंगत तो है किंतु दक्षिण-पूर्वी एशिया की आर्थिक अवस्था पर इसके प्रभाव के आकार के विषय में बहुत बड़ी आशाएं उत्पन्न हो जाती हैं ।

निष्कर्ष—जो भी हो, हमें यह याद रखना चाहिए कि यह योजना केवल आरंभ ही है और इसे युग निर्माण की घटना नहीं कहा जा सकता । वर्तमान अवस्थाओं में कृषि पर बल देना एक उचित समस्या है । जहां तक खाद्य का संबंध है, भारत कमीवाला देश है और इस घाटे के कारण संतुलनों के भुगतान की कमी को पूरा करना उसके लिए कठिन हो रहा है । फलत:, कृषि पर बल देना प्रशंसनीय है ।

पंचवर्षीय योजना । पं. जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में इस प्रकार की योजना बनाने के लिए योजना-निर्माण कमीशन को कहा गया । उसी ने कोलंबो योजना भी बनायी थी । जो भी हो, कोलम्बो योजना बहुत जल्दी में बनाई गई थी और उसमें अनेक त्रुटियां रह गई थीं । अपने कार्य में, कमीशन को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था । उदाहरण के लिए, मूल्यों का स्तर निरंतर उन्नत हो रहा था । संतुलन के भुगतानों की स्थिति बहुत ही गम्भीर हो रही थी । खाद्य समस्या बहुत ही संकटपूर्ण थी । देश के विभाजन ने रूई और जूट की कमी पैदा कर दी थी । इसके साथ ही अन्य मुख्य जिंसों का उत्पादन गिर रहा था जबकि देश की जनसंख्या ४२ लाख प्रति वर्ष के हिसाब से बढ़ रही थी ।

योजना का सारांश—मार्च १९५० में योजना-कमीशन बनाया गया था और १५ मास बाद, १९५१ में उसने अपना लेख्य (रिपोर्ट) दे दिया और ७ दिसम्बर १९५२ को कमीशन ने अपनी अंतिम रि ोर्ट सरकार के सम्मुख रखी । सारांश की रिपोर्ट को तीन भागों में बांटा गया है । पहले भाग में कमीशन ने योजना-निर्माण के विषय में अपने ृष्टिकोण का विवरण दिया है; दूसरे भाग में नीति तथा प्रसाशन और तीसरे भाग में विकास के कार्यक्रम की चर्चा की गई है । इसके मुख्य अंग यह हैं :–

ध्येय—योजना के दो मुख्य ध्येय हैं : (१) लोगों के लिए बेहतर जीवन-मान और (२) सामाजिक न्याय । इस प्रकार यह सब नागरिकों के लिए समान अवसर, कार्य का अधिकार, पर्याप्त वेतन पाने का अधिकार और सामाजिक सेवा के उपाय प्रकट करता है । यह कहा गया है कि केवल जनतंत्री योंजना के अधीन ही आर्थिक प्रगति की प्राप्ति संभव है । इसलिए लोगों के स्वेच्छापूर्वक सहयोग और त्याग की आवश्यकता है ।

कृषि और सिंचाई पर योजना ने अधिक वल दिया है, किंतु देश के जीवन के अन्य अंगों के प्रति भी योजना ने उपेक्षा नहीं की । प्रस्ताव किया गया है कि निजी भाग को उत्पादन और वितरण की दोनों दशाओं में महत्वपूर्ण कार्य करते रहना चाहिए, किंतु उसे "अपने को नया रूप देने की कल्पना करनी होगी और देश के हितों के लिए नियंत्रण की नयी विधियों को स्वीकार करना होगा ।"

(क) कृषि—द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व भारत १५ लाख टन प्रति वर्ष खाद्यान्नों का

आयात करता था। विभाजन और जन-संख्या की वृद्धि ने खाद्य की समस्या को अब अधिक संकटमय कर दिया है। इसलिए योजना में खाद्य-उत्पादन को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई है, सब राज्यों के लिए एकाधिकार प्राप्ति की सिफारिश की गई है और जब तक न्यूनता जारी है, समान वितरण और राशनिंग का समर्थन किया गया है। आंशिक अथवा सम्पूर्णतया, खाद्य को अनियंत्रित करना खतरे से खाली नहीं।

पंच-वर्षीय योजना में कृषि संबंधी नियत लक्ष्य इस प्रकार हैं :

उत्पादन लक्ष्य

जिन्स	मात्रा (मिलियन)	प्रतिशत वृद्धि
खाद्य अन्न (टनों में)	७.६	२४
रूई (गांठों में)	१.२६	४२
जूट (,, ,,)	२.०९	६३
गन्ना (टनों में)	०.७	१२
तिलहन	०.४	८

इन विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के ढांचे को बदलना होगा। कृषि-कार्य में बहुत अधिक लोग लगे हुए हैं। एक भारतीय किसान ५ एकड़ से कम भूमि पर खेती करता है, जब कि अमरीकी १४५ एकड़ और ब्रिटेनवासी २१ एकड़ पर खेती करते हैं। ५ एकड़ तो केवल औसत है। अनेकों के पास तो इससे भी कम है। इसके अतिरिक्त किसान के पास जो भूमि है, वह एकाकी टुकड़े में नहीं है। जहां-तहां फैले हुए अनेक टुकड़े हैं। इसलिए न तो उसके पास बेचने को कुछ बहुत है, न ही वह अपनी भूमि अथवा पशुओं की उचित ढंग से देखभाल कर सकते हैं। फलतः कृषि के चरित्र को जीवनमात्र की कृषि के रूप से आर्थिक कृषि कार्य में बदलना होगा। कृषि के आदर्श में आमूल परिवर्तन करना चाहिए। यह प्रस्ताव किया गया है कि जमींदारी का सर्वथा विलोप किया जावे और उत्पादन की वृद्धि के लिए ग्राम-उत्पादन कौंसिलें बनाई जावें। किसान वर्षा की दया पर आश्रित हैं। इसलिए कमीशन ने सिंचाई तथा शक्ति महायंत्रों के लिए ५६१ करोड़ रु० की स्वीकृति दी है। निम्न तालिका से वार्षिक व्यय और लाभ का ज्ञान हो जाता है :—

वर्ष	व्यय (करोड़ों में)	अतिरिक्त सिंचाई (एकड़ों में)	अतिरिक्त बिजली (किलोवाट)
१९५१-५२	८५	६४६,०००	५२,०००
१९५२-५३	१२१	१,८९०,०००	२३९,०००
१९५३-५४	१२७	३,५५५,०००	७२४,०००
१९५४-५५	१०७	५,७४९,०००	८७५,०००
१९५५-५६	७८	८,५३३,०००	१,०८२,०००
अन्ततः	....	१६,९४२,०००	१,४६५,०००

(ख) **उद्योग**—उद्योग को इतना महत्व नहीं दिया गया, जितना कृषि को। उद्योग में विनियोजन की निम्न योजना बनाई गई है :—

औद्योगिक लक्ष्य
(रुपये करोड़ों में)

	पांच वर्ष का योग १९५१ से १९५६
वृहद् स्तर उद्योग	१४०
घरेलू और लघुस्तर उद्योग	२७
वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान तथा खनिज उन्नति	६
	१७३

उद्योग में सार्वजनिक भाग के साथ ही साथ निजी भाग का भी कार्य होगा। उद्योग के विस्तार में इसे महत्वपूर्ण भाग लेना है। किंतु इसे मजदूर, विनियोजक और भोक्ता के प्रति अपने दायित्व को पूर्ण करना है। उद्योग के निजी भाग के कार्यक्रम में महत्वपूर्ण दिशाएं निम्न प्रकार हैं :-

निजी औद्योगिक भाग के लिए लक्ष्य

उद्योग का नाम	इकाई	स्थापित क्षमता १९५०-५१में	१९५० में उत्पादन	स्थापित क्षमता १९५५-५७	अनुमानित उत्पादन
डीजल इंजन	नम्बर	६३२०	५५४०	३९,७२५	५०,०००
मोटर गाड़ियां	नम्बर	३०,०००	४,०७७	३०,०००	३०,०००
सीमेंट	०००टन	३,१९४	२,६९२	५०१६	४,५५०
रुई (१) सूत	मिलियन पौंड में	१,६४६	११७४	१६७१	१६००
(२) कपड़ा	मिलियन गजों में	४,७२२	३,६६५	४७४१	४५००
इस्पात	०००टनों में	९७५	९७५	१५५०	१२८०
कागज	०००टनों में	१३७	११४	१९८	१८८
मद्य सार	मिलियन गैलन	१३	५	२१	१८

इसके लिए ३८३ करोड़ रुपय संपूर्ण व्यय की आवश्यकता होगी। स राशि में से १५० करोड़ रुपय मशीनों के पुन:स्थापन तथा नवीनता पर व्यय किये जाएंगे। शेष २३३ करोड़ रुपये ऊपरिलिखित विकास कार्यक्रम को लागू करने में खर्च होंगे। साथ ही विदेशी पूंजी का भी स्वागत किया गया है और यह घोषणा की गई है कि भारतीय और विदेशी व्यवसायों में कोई भेद नहीं किया जायगा और लाभों को भेजने तथा पूंजी को स्वदेश लौटाने की सुविधाएं दी जाएंगी और राष्ट्रीयकरण की दशा में समान हर्जाना दिया जाएगा।

लघु-स्तर उद्योगों की भी उपेक्षा नहीं की गई। कमीशन की राय है कि वृहद्-स्तर, लघु-स्तर और घरेलू उद्योगों के साथ ही साथ मिल कर काम करने की बहुत गुंजायश है। उद्योग के इन तीनों रूपों केलिए उत्पादन के कार्यक्रम की सिफारिश की गई है। वस्तुत:, घरेलू उद्योग को ग्राम प्रगति के कार्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यह विचार किया गया है कि ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की प्रगति के साथ घरेलू उद्योगों की गतिशील उन्नति

होगी और सभी दिशाओं में क्रय-शक्ति में भी सुविधा होगी। जिन घरेलू उद्योगों में विस्तार के लिए बहुत स्थान है, वह यह हैं : खद्दर, गुड़, तेल (विशेषत: नीम का) मरे पशुओं की उपयोगिता, हाथ का बना कागज, और ऊनी कंबल तथा दियासलाई का निर्माण।

कमीशन ने श्रम की उत्पादन शक्ति में गिरावट पर विचार किया है। उसने इस गिरावट की जांच करने की सिफारिश की है और उत्पादन-शक्ति की वृद्धि के लिए यत्न करने को कहा है। वह वेतनों में वृद्धि का समर्थन नहीं करती, प्रत्युत उसने प्रस्ताव किया है कि मूल्यों की न्यूनता के साथ जीवन-मान को ऊंचा किया जावे और उनकी उत्पादन शक्ति में वृद्धि की जावे।

(ग) **यातायात**—आर्थिक कार्यकलापों के लिए योग्य और सस्ती यातायात तथा संवाहन प्रणाली की आवश्यकता है। हमारी आवश्यकताएं बहुत बड़ी हैं, किंतु यातायात प्रणाली अपर्याप्त है। योजना का विचार है कि सब प्रकार के यातायात और संवाहनों की श्रृंखलाबद्ध प्रगति होनी चाहिए। उसके विवरण इस प्रकार हैं :

(रु० लाखों में)

पंचवर्षीय योग १९५१-५६		पंचवर्षीय योग १९५१-५६	
रेलें	२५,०००.०	आंतरिक जल यातायात	१०.०
सड़कें	१०,८८७.८	डाक और तार	५०००.०
सड़क यातायात	८९६.९	आकाशवाणी	३५२.०
जहाजों पर	१,८०५.८	समुद्रपार संवाहन	१००.०
शहरी वायु आवागमन	२२८७.०	ऋतु विज्ञान विभाग	६२.०
बंदरगाहें और समु ि घाट	३३०८.०	कुल	४९,७१०.३

रेलों के लिए नये इंजनों, डिब्बों और गाड़ियों की आवश्यकता है। बदलने के अलावा युद्ध काल में जो रेल-सड़कें टूट गई थीं, उन्हें पुन: चालू करना होगा। छोटे दर्जे के यात्रियों के लिए अधिक सुविधाओं का प्रबंध किया जाना है।

भारत का लगभग २९०० मील लंबा समुद्री तट है और उसके लि व्यापारी जहाजी बेड़ों की आवश्यकता है। हमारे पास बहुत थोड़े जहाज हैं, जो आयु पार कर चुके हैं। विशाखापटनम में जहाजी आश्रयस्थल बनाने के लिए १२ करोड़ रु० और दिया गया है।

वायु-विश्व में भारत की सैनिक महत्ता की स्थिति है। वायु-शक्ति का विस्तार करने के लिए और साथ ही टैक्निकल प्रसाधनों के लिए १३ करोड़ रुपये की गुंजायश की गई है।

देश में सड़कों की आवश्यकता के विषय में भी कमीशन ने पूरी तरह ध्यान दिया है। सड़कों पर कें ३१ करोड़ रुपया व्यय करेगा।

(घ) **समाजिक सेवाएं**—सामाजिक सेवाओं की भी उपेक्षा नहीं की गई। समाज के हित के लिए जो भी काम हो सकते हैं, वह इसमें सम्मिलित हैं, जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, पिछड़े वर्गों का उत्कर्ष, और स्त्रियों की आयोग्यताओं को दूर करना, और बच्चों तथा रोगों की चिकित्सा। सामाजिक सेवाओं को उन्नत करने के लिए निम्न योजना है :

पांच वर्षों का योग, १९५१-५६ (रु० करोड़ में)

शिक्षा	१५६
स्वास्थ्य	१००
मकान	४९
श्रम और श्रम सुधार	७
पिछड़े वर्गों का उत्कर्ष	२९

पंचवर्षीय योजना में विकास कार्यक्रम पर व्यय का विवरण इस प्रकार है :

मद	व्यय (करोड़ों में)	योग का प्रतिशत
कृषि तथा सामूहिक विकास	३६१	१७.५
सिंचाई	१६८	८.१
बहुद्देशीय सिंचाई तथा शक्ति योजनाएं	२६६	
शक्ति	१२७	६.१
यातायात तथा संवाहन	४९७	२४.०
उद्योग	१७३	८.४
सामाजिक सेवाएं	३४०	१६.४
पुनर्वास	८५	४.१
फुटकर	५२	२.५
	२०६९	१००.०

(ङ.) उपरोक्त व्यय केंद्र तथा राज्यों में इस प्रकार बांटा गया है :

केंद्रीय सरकार	१२४१ (करोड़)
क- भाग के राज्य	६१० ,,
ख-भाग के राज्य	१७३ ,,
ग-भाग के राज्य	३२ ,,
जम्मू कश्मीर	१३ ,,
	२,०६९

यह संपूर्ण राशि निम्नलिखित साधनों से प्राप्त की जानी है :—

केंद्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा राजस्व बचतें	७३८ करोड़ रु०
केंद्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा आंतरिक कर्ज	५२० ,, ,,
घाटा राजस्व (Deficit Financing)	२९० ,, ,,
बाहरी सहायता अब तक	१५६ ,, ,,
अतिरिक्त बाहरी सहायता जिसकी आशा की जाती है परंतु जिसके न मिलने पर यह राशि आंतरिक करों, कर्जों तथा घाटा राजस्व द्वारा प्राप्त की जायगी	३६५ ,, ,,
कुल	२०६९

९. निष्कर्ष । भूतकाल में भारत सरकार जब कभी बड़ी-बड़ी योजनाओं को हाथ में लेती थी, तो सामान्य आरोपों में एक यह होता था कि वह अपनी शक्तियों और साधनों को विशेषज्ञों और रिपोर्टों के आमंत्रण के आयातों में, जो नष्ट कर दी जाती थीं, अंत कर देती है। ब्रिटिश सरकार भारत में विदेशी-हितों को बनाए रखने के लिए भारतीय-

हितों के मुकाबिले में उनको तरजीह देती थी । दूसरी ओर, सांप्रदायिकता किसी ठोस योजना पर सफलतापूर्वक कार्य करने के मार्ग में बाधक थी। भारतीय रियासतों की बहुत बड़ी संख्या की विद्यमानता ने, जो अपने-अपने स्वार्थों और सम्मान के लिए सबल थीं, स्थिति को और भी भयंकर कर दिया था ।

भारत अब स्वतंत्र है । वह एक ऐसी संपूर्ण इकाई है, जैसे पहले कभी नहीं थी । उसका ृष्टिकोण धर्म-निरपेक्ष है । योजना निर्माण जितना आज सफल हो सकता है, उतना भूतकाल में कदापि नहीं हो सकता था ।

इस प्रकार भिन्न योजनाओं का विश्लेशण करने से हमें एक ऐसी नीति का सामान्य बिचार प्रकट हो जाता है कि जो स्वतंत्र भारत को अपनानी चाहिए । सरकार द्वारा पुनर्निर्माण के जिस भावी कार्यक्रम का अनुसरण किया जाता है, वह अब स्पष्ट हो गया है । भारत को बहुमूल्य वस्तुओं और उपभोक्ता वस्तुओं के लिए विदेशों पर निर्भर रहने की स्थिति से छुटकारा पाना ही है । लोगों के जीवन-मान को उन्नत करना है । रूस जो-कुछ अपनी जनता के लिए करने योग्य हुआ है, भारत भी उसमें सफल हो सकता है । रूस ने भी विश्व के शक्तिशाली राष्ट्रों में अपना स्थान बना लिया है । उसने दिखा दिया है कि संपूर्ण योजना-निर्माण से क्या हो सकता है । किंतु जो भी हो, भारतीय परंपराएं और समस्याएं रूस से भिन्न हैं, फलतः भारत में उपयुक्त किये जाने वाले उपाय भी भिन्न होने चाहिएं । किंतु भारतीय समस्या भी समानरूप में ही महत्वपूर्ण है और भारत को ग्राम्य स्थिति से औद्योगिक देश में बदलना होगा, और उसके साथ ही कृषि के मान को भी उन्नत करना होगा। नीचे हम भारत की आत्यावश्यक कुछेक जरूरतों का उल्लेख करते हैं ।

आर्थिक स्थिरता की आवश्यकताएं—भारत भीषण संकट में पड़ा हुआ है । उसकी अर्थ-व्यवस्था बुरी तरह विक्षिप्त हो गई है । उसके यहां अन्न की कमी है । औद्योगिक रूप में उसके साधन ठीक नहीं । उसकी आयातों निर्यातों की अपेक्षा कहीं अधिक हैं, और उन्हें वह पूरी तरह चुका नहीं सकता । उसके सामने आर्थिक बवंडर को रोकने का अत्यावश्यक काम है । इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए देश की आर्थिक प्रणाली को संतुलित करना है, जिससे पूर्ण रोजगार मिल सके और जनता का जीवन-मान उन्नत हो सके । किंतु कोई भी कार्यक्रम,जिसका उद्देश्य देश के बिखरे हुएभागों को सहयोग प्रणाली में लाना ठीक नहीं है, इस कष्ट को अधिक बढ़ाने वाला होगा । इस प्रकार के कार्यक्रम का कार्य निम्न आधार-मूलक दिशाओं म आवश्यक है :

१. खाद्यमें आत्म-निर्भरता—आज भारत अपनी खाद्य की आवश्यकताओं में कम से कम १० प्रतिशत के अभाव में है । उसे १९४८-४९ में न्यूनतम ३० लाख टन खाद्य-अन्नों का आयात करना पड़ा था। १९४९-५० में उससे अधिक और अनंतर के दो वर्षों में और भी ज्यादा । बंजर भूमियों को ट्रैक्टरों तथा मिश्रित साधनों से सुधारने की भारी चेष्टाएं की जा रही हैं ताकि पर्याप्त अन्न उत्पन्न किया जा सके, किंतु सूखे और बाढ़ों जैसी प्राकृतिक बाधाओं ने अभी तक उन्नति के मार्ग को रोक रखा है । फलस्वरूप, खाद्य को भारी लागतों पर भी आयात करना ही था । यदि यह आयातें चिरकाल तक रहीं, तो देश की आर्थिक स्थिति छिन्न-भिन्न हो जाएगी । इसलिए अल्पकालीन योजनाओं से सहायक खाद्यों की वृद्धि का संकेत मिला है, जैसे केला, शकरकंदी, और मछली जिससे हमारी विदेशी-निर्भरता कम होगी और साथ ही डालर संरक्षण होगा ।

२. देश के औद्योगिक ढांचे का एकीकरण—इसके लिए आवश्यक है कि अनेक नये उद्योग स्थापित किये जाएं, पुरानों की उन्नति की जाए, आधारमूलक उद्योगों का

राष्ट्रीयकरण हो और साथ ही औद्योगिक ढांचे का विकेंद्रीकरण हो, जिससे ग्राम क्षेत्रों में बेकार अंशों को रोज़गार मिलने में वृद्धि हो।

३. आयातों और निर्यातों की कमी को पाटना—१९४८-४९ में, भारत के व्यापार में ९५ करोड़ रु. का बड़ा भारी घाटा था। इस प्रकार के भारी घाटों को पूरा किये बिना नहीं छोड़ा जा सकता। हमें कमर कस कर उपभोक्ता वस्तुओं के आयातों को कम करना है। ज्यों-त्यों खाद्यका आयात करना है, बहुमूल्य वस्तुओं और कच्चे पदार्थों को प्राथमिकता देनी ही है। उसके साथ ही निर्यातों के परिणाम और प्रमाण में भी वृद्धि करनी है। मुद्रा अव-मूल्यन ने किसी सीमा तक सहायता की थी। जो भी हो, उसका प्रभाव अब जाता रहा है। अब दीर्घकालीन उपचार यही है कि लागतों में कमी की जाए और भारतीय उद्योग को सब संभव उपाय करने चाहिएं ताकि निर्यातों और आयातों के बीच की खाई पट जाय।

४. भारत में लागत के ढांचे को न्यून करना—भारत के विभाजन ने भारतीय अर्थ-व्यवस्था को सख्त आघात पहुंचाया है। कच्ची रुई और जूट, जो हमारे फायदे के निर्यात थे, अधिकांशतः पाकिस्तान को चले गये हैं। फलरूप भारत अब इन दोनों कच्चे पदार्थों का आयातक हो गया है। इसके अतिरिक्त भारत में जो उपभोक्ता वस्तुएं निर्मित होती हैं, वह वैसी ही अन्यत्र की वस्तुओं की अपेक्षा महंगी हैं। इस संबंध में खांड, सीमेंट और सूती वस्त्रों का उल्लेख किया जा सकता है। इससे भी अधिक चाय और तंबाकू जैसी जो वस्तुएं भारत से निर्यात की जाती हैं, वह सही तरह से बनी नहीं होतीं और बहुधा उनमें मिलावट होती है। इन अनेक कारणों से भारतीय वस्तुओं के लिएआवश्यक बाजार नहीं मिल रहे। लागत के ढांचे को न्यून करने और उन वस्तुओं की किस्म को उन्नत करने के उपाय किये जाने चाहिएं, जिससे देश का अंतर्राष्ट्रीय बाजार बन सके।

५. यातायात की भीड़ को हटाना—भारत की जनसंख्या बढ़ गई है और अभी बढ़ रही है। आंतरिक व्यापार भी बढ़ गया है। इसके फलरूप यात्रियों और वस्तुओं के आवागमन में भारी वृद्धि हो गई है, और वर्तमान यातायात-प्रणाली उसे सहन नहीं कर सकती। सड़कों, रेलों, जलमार्गों, सभी की उन्नति की जानी है, ताकि बढ़ती हुई आव-श्यकताएं पूर्ण हो सकें।

६. राष्ट्रीय आय का समान वितरण—सबके लिए समान अवसर और राष्ट्रीय आय का समान वितरण और उसके साथ ही सब और अनेकों के लिए न्यूनतम जीवन-मान एक आदर्श है। हमें समाजवादी रूप की आवश्यकता है, जो योग्यता और मूल्य के अनुसार अंतरों के लिए गुंजायश करता है, न कि वंश-परंपरा के कारण। हरएक व्यक्ति, जिसे काम चाहिए, उसे काम मिलना चाहिए ताकि वह राष्ट्रीय श्रम में अपना अंशदान कर सके। यदि कोई व्यक्ति अस्वस्थता या वृद्धावस्था के कारण काम करने के अयोग्य है तो राज्य को उसकी रक्षा करनी चाहिए। टैक्स प्रणाली को आय की असमानताओं में और भी न्यूनता करनी चाहिए।

भारत में योजना-निर्माण का अंतिम ध्येय नई आर्थिक नीति होना चाहिए, जो विवेकपूर्ण पूंजीवाद, मूल उद्योगों के राष्ट्रीयकरण और सहयोग कृषि का मिश्रण हो। राज्य को मशीन, खादें, और पानी गरीब किसान को मुहय्या करने चाहिएं और दूसरी ओर जमींदारों का; जो किसान के श्रम का अधिकांश हड़प जाते हैं, लोप हो जाना चाहिए। योजना इस दिशा में सहज आरंभ करती है। किंतु यह सहज आरंभ ही अंत में सफल नहीं हो सकता, जब तक कि जनता का सहयोग न हो और वह स्वेच्छापूर्वक योजना के अंत-र्गत स्थापित संस्थाओं की सहायता करने को तय्यार न हो। लोगों को यह महसूस करना

चाहिए कि वह एक साझे हेतु में हिस्सेदार हैं और एक महान उद्देश्य के लिए कार्य कर रहे हैं।

१०. सामूहि विकास योजनाएं। (Community Development) जैसा कि चौदहवें अध्याय में बतलाया गया है १९३० के बाद भारत के कई प्रान्तों में ग्रामीण पुर्ननिर्माण योजनाएं लागू की गयीं परन्तु खेद की बात है कि लगभग सभी प्रान्तों में ऐसी योजनाएं अपने ध्येय की पूर्ति में असफल रहीं। सामूहिक विकास योजनाएं भी, जिनको अक्तूबर १९५२ से लागू किया गया है, एक प्रकार की ग्रामीण पुर्ननिर्माण योजनाएं हैं। परन्तु ये पुरानी पद्धति के दोषों से रहित हैं। इन योजनाओं का मुख्य उद्देश्य ग्रामों के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में एक परिवर्तन लाना है।

प्रत्येक विकास योजना के अधीन एक ऐसी संस्था का संस्थापन किया जायेगा जो कि तीव्र तथा विस्तृत ग्रामीण विकास कार्य के लिए उत्तरदायी होगी। अब तक राज्य-सरकारों के विभिन्न कृषि सम्बन्धित विभागों ने ग्रामीणों के साथ अपने ही अधिकारियों द्वारा सम्पर्क बनाये रखा। इस पद्धित में तीन प्रकार की गंभीर त्रुटियां पाई जाती थीं।

प्रथम यह भली प्रकार अनुभव नहीं किया जाता था कि एक ग्रामीण के जीवन के भिन्न-भिन्न पहलू एक दूसरे से सम्बन्धित तथा एक दूसरे पर निर्भर हैं। अतएव उन पहलुओं को सामूहिक रूप में देखने से ही ग्रामीण जीवन में किसी प्रकार के सुधार की आशा की जा सकती है।

द्वितीय, प्रत्येक सरकारी विभाग ने, जो कुछ भी कार्य किया था, वह प्रायः निष्फल रहा, क्योंकि प्रत्येक विभाग का लघुतम अधिकारी ही ग्रामीणों के सम्पर्क में आता था और वह प्रायः अपने कार्य के लिए अयोग्य था।

तृतीय, ग्रामीण जनता के उत्साह को उत्तेजित करने के लिए कोई भी पग नहीं उठाया गया। इसके विपरीत इस कार्य का सारा बोझ सरकार के कन्धों पर ही रखा गया।

वर्तमान विकास योजनाएं इन तीनों प्रकार की त्रुटियों से रहित है। प्रथम, वे ग्रामीण जीवन के विभिन्न पहलुओं पर एक एकीकृत आघात करती हैं। इनका उद्देश्य तीव्र तथा विस्तृत ग्रामीण विकास को लाना है। यह विकास कृषि सम्बन्धी उत्पादन को बढ़ाने, ग्रामीणों के स्वास्थ्य में सुधार, शिक्षा विस्तार, अल्प स्तर तथा घरेलू उद्योगों की उन्नति, ग्रामीण सड़कों के निर्माण, मकानों के सुधार, सामाजिक कल्याण के विस्तार आदि द्वारा (और इन सबका एक ही समय प्रयत्न किया जाएगा) किया जाएगा।

इसके बाद यह प्रश्न उठता है कि यह सब वांछनीय उद्देश्य किस कार्यकर्ता द्वारा पूर्ण किये जाएंगे। प्रत्येक योजना केन्द्र में एक प्रोजेक्ट एग्जेकिटव आफिसर होगा, उसकी सहायता के लिए कृषि, सार्वजनिक, स्वास्थ्य, सामाजिक शिक्षा, सड़कें इंजीनियरिंग आदि के विशेषज्ञ होंगे जो पारस्परिक परामर्श द्वारा एक विकास सम्बन्धी कार्यक्रम बनाएंगे। ऐसे कार्यक्रम को लागू करने के लिए प्रत्येक चार-पांच ग्रामों के के लिए एक ग्राम-सेवक होगा। इस अधिकारी को नियुक्ति से पूर्व कृषि, पशुपालन तथा अन्य सम्बन्धित ग्रामीण विषयों में पर्याप्त शिक्षा दी जायेगी। सारांश यह कि वह अधिकारी एक बहूद्देशीय व्यक्ति होगा। यह अधिकारी अपने हल्के से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखेगा और इस प्रकार जनता का सहयोग प्राप्त करके कार्यक्रम को पूरा करने में सहायता देगा। जनता का सहयोग प्राप्त करने तथा उनका उत्साह उत्तेजित करने के लिए योजना में कई प्रकार के उपायों की व्यवस्था की गयी है। ग्रामीणों की भित्त

भिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सहकारिता समितियों की ओर विशेष ध्यान दिया जाएगा ।

ऊपर दिया वर्णन एक मौलिक विकास योजना का है । परन्तु एक अन्य प्रकार की भी योजना है जिसके अन्तर्गत शहरी केन्द्र के विकास की व्यवस्था की जाती है। ऐसी योजना को कम्पोजिट विकास योजना कहा जाता है । इस योजना में उद्योग धंधों के संस्थापन तथा प्रोत्साहन की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है ।

पहली प्रकार की प्रत्येक योजना की कुल लागत ६५ लाख रु० और दूसरी प्रकार की प्रत्येक योजना की लागत १११ लाख रु० अनुमानित की जाती है । प्रत्येक योजना १३ वर्ष की अवधि में पूर्ण की जायेगी ।

क्योंकि इन योजनाओं की सफलता अधिक मात्रा में ग्राम-सेवकों पर निर्भर करती है, इसलिए उनको व्यावहारिक शिक्षा देने के लिए योजना क्षेत्रों के समीप शिक्षा केन्द्र खोले गये हैं ।

शुरू-शुरू में ५५ विकास योजनाएं देश के विभिन्न भागों में २ अक्तूबर १९५२ को लागू की गयीं । प्रत्येक योजना में लगभग ३०० ग्राम होते हैं, जिनका क्षेत्रफल लगभग १५०,००० एकड़ होता है, और जनसंख्या लगभग २००,००० होती है । राज-शासन की सुविधा के लिए योजना-क्षेत्रफल को तीन विकास खण्डों में विभक्त किया जाता है और प्रत्येक खण्ड में १०० ग्राम होते हैं । विकास-खण्डों को पुनः पांच-पांच ग्रामों के समुदायों में बांटा जाता है । प्रत्येक ग्राम-समुदाय एक ग्राम-सेवक की देख-रेख में रखा जाता है ।

लगभग सभी राज्यों में ऐसी विकास योजनाएं बांटी गयी हैं । उदाहरणार्थ, पंजाब को इस प्रकार की छः योजनाएं दी गयी हैं । उनके केन्द्र हैं—बटाला, नवांशहर, जगाधरी, सोनीपत, फरीदाबाद, तथा नीलोखेड़ी । इसी प्रकार यू. पी. और मदरास को छः-छः, बिहार, बम्बई , मध्यप्रदेश को चार-चार योजनाएं प्रदान की गयीं । इन योजनाओं की गणना क्रमशः बढ़ा दी जाएगी । यह आशा की जाती है कि १०–१५ वर्ष की अवधि में इनकी गिनती इतनी बढ़ जाएगी कि सारे देश में इनका जाल बिछ जाएगा ।

अब कुछ शब्द इन योजनाओं के राजस्व के बारे में । अमरीकी सरकार ने इस विषय में आर्थिक तथा टेकनीकल (विशेष-कला-सम्बन्धी) सहायता देना स्वीकार किया है । परन्तु इन योजनाओं के राजस्व का अधिक भाग भारतीय सरकार देगी । लगभग प्रत्येक अमरीकी डालर की सहायता के विरुद्ध भारतीय सरकार ७ डालर प्रदान करेगी । पंचवर्षीय योजना में सामूहिक विकास योजनाओं के लिए भारतीय सरकार ने कुल ९० करोड़ रु० की व्यवस्था की है ।

इन योजनाओं की प्रगति को निश्चित करने के लिए सरकार ने एक उच्चा-धिकारी विकास योजना एडमिसिट्रेटर नियुक्त किया है जो कि इनकी दिन प्रति दिन की प्रगति पर देखरेख रखेगा ।

ऊपर दिये गए विवरण से स्पष्ट है कि यह योजनाएं साधारण व्यक्ति के उत्थान की दिशा में एक अत्यन्त साहसी तथा वैज्ञानिक प्रयत्न हैं । आशा की जाती है कि यह योजनाएं समय बीतने पर ग्रामीण भारत का मुख पूर्णतया परिवर्तित कर देंगी ।

इस समय (दिसंबर १९५३) २२० विकास खंडों तथा २४० राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्डों में कार्य हो रहा है । इन खण्डों में लगभग ४६,००० ग्राम सम्मिलित हैं । जिनमें देश की ,१. जनसंख्या रहती है । ये खण्ड देश के सभी राज्यों में शुरू किये गये हैं । लेकिन

सबसे अधिक संख्या उत्तर-प्रदेश में है। उत्तर प्रदेश में २६ सामुदायिक खण्ड और ३६ विस्तार खण्ड हैं।

अब तक देश के सभी राज्यों में जहां विकास योजनाएं लागू की गई हैं, पर्याप्त प्रगति हो चुकी है। ग्रामीणों के प्रयत्नों द्वारा सैकड़ों मील लम्बी ग्रामीण सड़कें बनाई गई हैं। छोटे-छोटे सिंचाई कार्य भी पूर्ण किये गये हैं। नये स्कूल, प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र, स्वास्थ्य केन्द्र इत्यादि स्थापित किये गये हैं। घरेलू उद्योगों का सुधार किया गया है। नई सहकारिता समितियां संगठित की गई हैं और साख समितियों को बहूद्देशीय समितियों में परिवर्तित कर दिया गया है। विभिन्न राज्यों में ग्रामीण विकास मण्डलों को स्थापित किया गया है। एक देखने योग्य बात यह है कि इस विकासात्मक कार्यक्रम को पूर्ण करने के लिए ग्रामीणों में अधिक उत्साह पाया जाता है। वे स्वयं ही सरकार को नकदी तथा श्रम के रूप में अंश दान देने के लिए उत्सुक हैं। सारांश यह है कि "सहकारिता द्वारा क्रांति" देखने में आ रही है।

पंचवर्षीय योजना को प्रगति १९५१ से १९५३ तक—पंचवर्षीय योजना १९५१–५२ के आर्थिक वर्ष से आरम्भ की गई और इस समय हम योजना की लगभग आधी अवधि से गुजर चुके हैं। आइये, हम देखेंगे कि योजना ने अब तक कितनी प्रगति की है।

१९५३ के मध्य में बेरोजगारी की स्थिति विषम हो गई। यह अनुभव किया गया कि योजना का संशोधन करके विकासात्मक व्यय को बढ़ाया जाये ताकि इससे लोगों को अधिक रोजगार उपलब्ध हो सके। नवम्बर १९५३ को वित्त मंत्री ने संसद में घोषणा की कि सार्वजनिक खण्ड में समस्त व्यय को १७५ करोड़ रु० के अनुपात से बढ़ा दिया जाएगा। इस कार योजना का समस्त व्यय अब २२४४ करोड़ रु० हो गया है।

योजना के इन दो वर्षों में लगभग ५८५ करोड़ रु० खर्च किये गये हैं। इस प्रकार योजना के समस्त व्यय का लगभग ७० प्रतिशत अभी शेष रहता है जोकि आगामी वर्षों में पूरा किया जाएगा।

यदि हम सार्वजनिक व्यय की कुछ मदों पर विचार करें तो हमें पता चलेगा कि सिंचाई तथा बिजली योजनाएं सन्तोषजनक प्रगति कर रही हैं। उन पर लगभग १९० करोड़ रु० व्यय किया जा चुका है। इन सिंचाई योजनाओं के कारण लगभग १.४२ मिलियन एकड़ क्षेत्र कृत्रिम सिंचाई के अधीन लाया गया है। बिजली के क्षेत्र में निर्धारित लक्ष्य से भी अधिक बिजली पैदा की जा रही है। बहुत से छोटे-छोटे सिंचाई कार्य भी पूरे किये गये हैं और नलदार कुएं भी लगाये गये हैं। केन्द्रीय ट्रैक्टर संस्था ने ४ लाख एकड़ से भी अधिक भूमि को कृषि योग्य बना दिया है। ६० लाख एकड़ अधिक भूमि में अब कृषि की जा रही है। अधिक मात्रा में रसायनिक खादों का वितरण किया जा रहा है और कृषि उद्देश्यों के लिए काश्तकारों को अधिक ऋण दिये जा रहे हैं। फलतः कृषि की सब फसलों में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है। खाद्य उत्पादन में १० लाख टन, जूट १४ लाख गांठें, कपास ४ लाख गांठें तथा गन्ने के उत्पादन में ४ लाख टन वृद्धियां हुई हैं।

उद्योग के निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्रों में भी पर्याप्त प्रगति हुई है। सार्वजनिक क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण राज्य-उपक्रमों ने उत्पादन कार्यक्रम आरम्भ कर दिया है। सिन्द्री रासायनिक खाद कारखाने तथा चितरंजन लोकोमोटिव फैक्ट्री ने भी कार्य शुरू कर दिया है। विशाखापतनम में ६ जहाज बनाये गये और इसी कालावधि में लगभग ७७,०००

टन के जहाज खरीदे गये । निजी क्षेत्र में भी लगभग सभी उद्योगों में उत्पादन वृद्धि हुई है । सूती कपड़ा उद्योग ने तो पहले ही अपने निर्धारित पंच-वर्षीय लक्ष्य से अधिक कपड़ा निर्मित किया है । सीमेंट, भारी रसायन, खाद, कागज, जूट, बाईसिकिल, सिलाई की मशीनें तथा इंजीनियरिंग उद्योग में भी उत्पादन में वृद्धि हुई है । यातायात तथा सामाजिक सेवाओं के क्षेत्र में भी प्रगति हुई है ।

११. राष्ट्रीय विस्तार सेवा (National Exten sion Servce)—१० मई १९५३ का प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रीय परामर्श दातृ समिति को सम्बोधित करते हुए यह घोषणा की कि सरकार तथा योजना कमीशन ने परस्पर विचार-विमर्श के बाद देश में राष्ट्रीय विस्तार सेवा स्कीम को लागू करने का विचार किया है । यह स्कीम लगभग १२०,००० ग्रामों में लागू की जाएगी । इन ग्रामों की जनसंख्या लगभग ७ करोड़ है ।

राष्ट्रीय विस्तार सेवा स्कीम की सिफारिश १९५२ में अधिक अन्न उपजाओ जांच समिति ने की थी और इसको पंचवर्षीय योजना में सम्मिलित कर लिया गया है । इस स्कीम के अन्दर कृषि तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य के क्षेत्रों में की गयी वैज्ञानिक अनुसन्धानों द्वारा प्राप्त निष्कर्षों को साधारण किसानों तक पहुंचाया जाएगा ।

इस स्कीम की अनुमानित लागत १०१ करोड़ रु० है और वर्तमान सामूहिक विकास योजनाएं भी इसी योजना में सम्मिलित हैं । यह कार्यक्रम केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा पूरा किया जाएगा और इस विषय में आरम्भिक कार्यवाही २ अक्तूबर १९५३ को की गई। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों में स्थायी संस्था का संस्थापन किया जाएगा, जिसके द्वारा विकास सम्बन्धी कार्य किया जाएगा । स्कीम के अनुसार १२०० विकास खण्ड भारत के विभिन्न भागों में शुरू किये जाएंगे । प्रत्येक खण्ड में १०० ग्राम होंगे । इन १२०० खण्डों में ३०० तो पहले ही अक्तूबर १९५२ से आरम्भ किये जाएंगे, अर्थात् १९५३-५४ में १७०, १९५४-५५ में २७० और १९५५–५६ में ४५० । इन में से ४०० खण्डों को सामूहिक योजना विकास के आधार पर तीव्र विकास के लिए चुना जाएगा । इस प्रकार कुल १२०० विकास खण्डों में से ७०० खण्डों (ग्राम—७०,०००, जन संख्या–४.६२ करोड़) को सामूहिक योजनाओं के अन्तर्गत तथा शेष ५०० खण्डों (ग्राम—५०,०००, जनसंख्या ३.३० करोड़) को राष्ट्रीय विकास सेवा के अन्तर्गत शुरू किया जाएगा । इन योजनाओं का योग्य राज्य शासन निश्चित करने के लिए प्रत्येक खण्ड को सब-कलक्टर की देख-रेख में रखा जाएगा ।

आशा की जाती है कि यह कार्यक्रम निपुण तथा अनिपुण मजदूरों के लिये रोजगार मुहय्या करेगा । लगभग ७५००० अभ्यस्त तथा टैकनीकल व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ेगी । इनको शिक्षा देने के लिए सरकार ने पहले ही लगभग ३४ शिक्षा-केन्द्र देश के विभिन्न भागों में खोल रखे हैं । इस कार्यक्रम के अधीन विद्यार्थियों तथा नवयुवकों को ग्रामीण जनता की सेवा करने के पर्याप्त अवसर मिलेंगे ।

अब तक हुई प्रगति—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, २ अक्तूबर १९५२ को (जो कि महात्मा गांधी का जन्म दिवस है) ५५ सामुदायिक विकास योजनाएं आरम्भ की गयीं । २ अक्तूबर १९५३ को ५३ और विकास योजनाएं और २४० राष्ट्रीय विस्तार सेवा- खण्ड आरम्भ किये गये । विकास योजना तथा विस्तार सेवा खण्ड में भेद यह है । विकास योजना ग्रामीण जीवन के सब पहलुओं पर ध्यान देती है लेकिन

विस्तार सेवा खण्ड केवल कृषि पर बल देता है। इसीलिए एक विकास खण्ड की तीन वर्ष के लिए लागत १५ लाख रु० और एक विस्तार सेवा खण्ड की लागत ७½ लाख रु० है। लेकिन अभी तक प्रत्येक विकास योजना के तीनों खण्डों पर काम शुरू नहीं किया गया है।

इस कालावधि की एक महत्वपूर्ण घटना है मुद्रा-स्फीति का नियन्त्रण। यह अंशतया बाह्य प्रभावों के कारण सम्भव हुआ लेकिन सरकार की अर्थ-नीति ने भी ऐसा करने में महत्वपूर्ण अंश प्रदान किया। बजटों में घाटों की व्यवस्था की गयी है। और अनेकों नियन्त्रणों को या तो बिल्कुल उठा लिया गया है या पर्याप्त मात्रा में ढीला कर दिया गया है। लेकिन ऐसा करने से कोई कुप्रभाव देखने में नहीं आये हैं। यह मानना पड़ेगा कि राज्य सरकारों द्वारा किया गया व्यय निर्धारित लक्ष्यों की तुलना में कम है। इसके दो कारण हैं, प्रथमतः उनके राजस्वों में ह्रास हुआ है। द्वितीयतः, दुर्भिक्ष तथा बाढ़ आदि पर अधिक व्यय। आशा की जाती है कि यदि आगामी वर्ष साधारण रहे और कोई दैवी आपत्ति न हुई तो राज्य-सरकारें योजना सम्बन्धी कार्यों पर अधिक खर्च कर सकेंगी।

योजना को कार्यान्वित करने के लिए जनता का सहयोग आवश्यक है। इस सहयोग की प्राप्ति के लिए अनेकों पग उठाये गये हैं। इनमें भारत सेवक समाज, स्वेच्छा कल्याणकारी कार्यक्रम, स्थानीय कार्यक्रम, विस्तार सेवा तथा सामुदायिक योजनाएं सम्मिलित हैं। जनता की ओर से यह सहयोग पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हुआ है।

सैंतीसवाँ अध्याय

बेकारी, पूर्ण रोजगार और विस्थापितों का पुनर्वास

१. समस्या का रूप । युद्धकाल में, भारत में रहने वाला विशाल मानव-समाज पूरी तरह काम में लाया गया था । बेकारी बहुत अल्प अवस्था में थी । किन्तु यह असाधारण अवस्था थी और सदैव बने रहने की उसकी आशा नहीं थी । सामान्यतः, हम देखते हैं, कि भारत में नौकरी की खोज में बहुत बड़ी मात्रा जहां-तहां मारी-मारी फिरती है । हमारे यहां गरीबों की सहायता का कोई प्रबन्ध नहीं, और न ही बेकार व्यक्तियों के लिए कोई आंकड़े हैं । किन्तु आंकड़ों के प्रमाण की उस बात के लिए कोई आवश्यकता नहीं कि जो जग-जाहिर है । सामान्य समय में भारत में वृहद्-स्तर बेकारी है अथवा न्यून रोजगार है । इस तथ्य को हमारे यहां की संयुक्त परिवार की रीति छिपाए रहती है, जो वृद्धों, अशक्तों, अयोग्यों, और परिवार के बेकारों का पोषण करती है । इसके अतिरिक्त भारतीयों की परोपकार की भावनाएं तथा विपरीत धार्मिक भावनाएं भारत में भिखारियों के एक बड़े वर्ग की रक्षा करने में सहायक होती हैं । सम्भव है, उनकी बेकारी स्वेच्छा रहित न हो । तिस पर भी उन्हें लाभपूर्ण रोजगार में लगे हुए नहीं समझा जा सकता ।

भारत में बेकारी की समस्या बहुत बड़ी है, जिसमें बहुत बड़ी संख्या निहित है । यह भारत में प्रचलित सामाजिक और धार्मिक विचित्र अवस्थाओं के कारण भी पेचीदी है । देश के विभाजन के कारण लाखों लोगों के उखड़कर आने से पुनर्वास और रोजगारकी समस्या में नयी तेजी हो गयी है ।

२. बेकारी का रूप । भारतीय अर्थ-व्यवस्था का रूप योरोपीय देशों से बहुत भिन्न है । फलरूप, बेकारी का जो रूप यहां है, वैसा अन्यत्र नहीं है । उच्चतम रूप में औद्योगिक देशों में बेकारी अधिकांशतः औद्योगिक कर्मकरों को प्रभावित करती है । किन्तु भारत में बेकारी के तीन मुख्य रूप हैं :—

क. कृषि-विषयक बेकारी ।
ख. औद्योगिक बेकारी ।
ग. शिक्षित वर्ग में बेकारी ।

हम इन तीन रूपों पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे ।

कृषि–विषयक बेकारी

३. कारण । भारतीय कृषि का इतिहास एक पुराना रोग और निरन्तर अपकर्ष का है । जिस प्रकार भारत में दलित वर्ग है, उसी तरह यह उद्योग, अर्थात् कृषि भी दलित है सामान्यतः दलित अवस्था होने के कारण भारतीय कृषि लोगों के विशाल आधिक्य को खपाने में अयोग्य है कि जो धरती से अपनी आजीविका का उपार्जन करते हैं । पंजाब बेकारी कमेटी (१९३७–१९३८) के सामने दी गई गवाहियों से हमें मालूम होता है कि यद्यपि किसानों में स्थायी बेकारी नहीं है, तथापि मौसमी अथवा यदाकदा की बेकारी बहुत बड़ी मात्रा में फैली हुई है और अल्प-रोजगार तो पुराना रोग है । भारतीय-कृषि की अल्प योग्यता के लिए निम्न कारण उत्तरदायी हैं :—

१. धरती पर निरन्तर बढ़ने वाला दबाव—भारत की निरन्तर बढ़ने वाली जनसंख्या रोजगार के लिए अन्य क्षेत्र न होने के कारण अविरुद्ध गति से भूमि की दिशा में में बढ़ती आई है। परिणामस्वरूप भारतीय जनसंख्या का दो-तिहाई कृषि तथा सहायक व्यवसायों पर निर्भर करता है।

२. कृषि कार्यों का मौसमी रूप और पूरक उद्योगों का अभाव—भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में वर्ष में तीन से चार मास तक बेकारी की अवस्था लागू होती है। स्वेच्छा-रहित बेकारी का काल भूमि-खण्डों की विभिन्नता के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। अच्छी सिंचाई वाले भूमि खण्डों में किसान लगभग वर्ष भर व्यस्त रहता है। नहरी इलाकों में वर्ष में ९ से १० मास तक अपने काम में व्यस्त रहते हैं। किन्तु बारानी क्षेत्रों में किसानों को ५ से ७ मास तक वर्ष में बेकार रहना होता है। यदि हमारे किसानों के पास कृषि से संबंधित कुछ पूरक उद्योग भी हों, जैसे दुग्धशाला, मुर्गीखाना, रेशमी कपड़ों का पोषण, मधु मक्खी पालन आदि तो वह अपने को लाभपूर्ण ढंग से वर्ष भर व्यस्त रखते। हमारे किसानों के पास दूसरा कोई चारा ही नहीं। और वह नितान्त कृषि कार्य पर निर्भर रहते हैं।

३. कृषि-कार्य की भूमि का विस्तार उतना नहीं हुआ कि जितनी कृषि करने वाली जनसंख्या की वृद्धि हुई।

४. कृषि करने की कारीगरी में कोई प्रशंसनीय उन्नति नहीं हुई।

५. वर्षा तो अपर्याप्त होती है अथवा असामयिक, अथवा बाढ़ें आ जाती हैं, जो कृषि कार्यों को असम्भव बना देती हैं ; भारतीय कृषि को वर्षा का जुआ कहा जाता है।

६. भारतीय किसान ऋण ग्रस्तता के पुराने रोग में ग्रस्त हैं और पूंजी का अभाव है।

७. अर्थ-व्यवस्था-हीन भू-सम्पत्तियां एक और बाधा हैं।

८. कृषि अर्थ-व्यवस्था का रूप जीने-मात्र का है और इसका योजना-हीन रूप भी इसकी पिछड़ी हुई दशा के लिए उत्तरदायी है।

९. कृषि की लाभकारिता के लिए अयोग्य मार्केटिंग की भी गणना की जा सकती है।

इन सब कारणों का सामूहिक प्रभाव भारत में कृषि के मान की अल्पता है, जिससे कि वह लाखों ऐसों को रोजगार नहीं दे पाती कि जिन्हें इसकी आवश्यकता है और जिनका कृषि से गठबन्धन है।

४. कृषि बेकारी के परिणाम। यह सोचते हुए कि भारतीयों की एक बहुत बड़ी संख्या भूमि पर आश्रित है, कृषि-बेकारी का यह निश्चित अर्थ होगा कि लाखों को महान् कष्ट और यातनाएं होंगी। जब लोगों की बहु संख्या को आघात होता है तो शेष भी घायल हुए बिना नहीं रह सकते, कृषि की दलित अवस्था उद्योग को भी दलित बनाएगी, सरकारी अर्थ-व्यवस्था को भी आघात पहुँचेगा। जिससे सरकारी कार्यालापों और साह-सिक कार्यों में छांटी होगी। इसलिए, कृषि विषयक बेकारी आर्थिक कार्य-कलाप के अन्य क्षेत्रों की दिशा में बढ़ेगी। ग्राम क्षेत्रों में रहने वाले ९० प्रतिशत लोगों की क्रय-शक्ति की क्षति राष्ट्रीय विनाश से कम नहीं कही जा सकती।

५. उपचार। यदि मौसमी और समय सम्बन्धी बेकारी को दूर करना है तो

भारतीय कृषि का पुनर्निर्माण नितान्त आवश्यक जान पड़ता है । इसका जीने-मात्र का रूप बदला ही जाना चाहिए । कृषि की रीतियों में क्रांतिकारी परिवर्तन होना चाहिए । कृषि विषयक कारीगरी को उन्नत करना चाहिए । सिंचाई की सुविधाओं में उन्नति होनी चाहिए ताकि भारतीय कृषि वर्षा की दयालुता पर आश्रित न रहे । मार्केटिंग की रीति में विवेक उत्पन्न करना चाहिए । हमें फसलों का योजना निर्माण जारी करना चाहिए । कृषि अधीन भूमि को भूमि सुधार स्कीमों के साधनों से विस्तार देना चाहिए । रासायनिक खादों, उन्नत बीजों, फसल, अदल-बदल की बेहतर रीति, बेहतर बोआई, और बेहतर नालियों का उपयोग कुछ अन्य उपाय हैं, जिन्हें ग्रहण किया जा सकता है ।

किन्तु कृषि के बेहतर उपाय ग्रहण करने में एक महत्वपूर्ण बाधा भी है, अर्थात् भूसम्पत्तियों का आकार । जबतक कृषि-भूमियों का उचित आकार नहीं बन जाता, तब तक भारतीय कृषि को नवीनता का रूप देने की आशा नहीं की जा सकती । यान्त्रीकरण का तभी उपयोग हो सकता है, जब कृषि-क्षेत्र बड़े हों ।

सबसे बढ़कर, कृषि विषयक बेकारी का प्रभावपूर्ण उपचार हो सकता है बशर्ते कि जनसंख्या के दबाव की समानता हो । इस समय भूमि पर बहुत अधिक लोग हैं । ग्राम-जनसंख्या के आधिक्य को कृषि में से छांट देना चाहिए और उसे व्यापार और उद्योग में खपाना चाहिए । पंजाब बेकारी कमेटी ने (१९३८–३९-पैरा ९) अपनी रिपोर्ट में गणना की थी कि कम-से-कम एक तिहाई जनसंख्या, जो कृषि पर जीने मात्र का कार्य कर रही थी, क्रियात्मक रूप में बेकार थी । अन्य प्रान्तों में भी अवस्थाएं इससे बेहतर नहीं हो सकतीं । देश की सामान्य आर्थिक प्रगति की आवश्यकता है, जो धरती के दबाव को कम कर सके और कृषि बेकारी के विस्तार को अल्प कर सके ।

आधारमूलक संगठित परिवर्तनों की भी आवश्यकता है । संगठित परिवर्तनों के अभाव में अन्य उपचार भी सम्भवतः लीपापोती-मात्र प्रमाणित होंगे । हमें सहकारिता कृषि जारी करनी चाहिए । जैसा कि सरदार त्रिलोकसिंह अपनी "पावर्टी एंड सोशल चेंज" नामक पुस्तक में कहते हैं, "भूमि के प्रबन्ध पर सहकारिता-नियन्त्रण के अभाव में यह सम्भव नहीं कि हम बेहतर कृषि के संगठित कार्य को कर सकें । और दलित वर्गों को समानता एवं स्वतंत्रता का विश्वास दिला सकें । इनके अतिरिक्त हम नैतिक और औद्योगिक अर्थ व्यवस्था की भी रचना नहीं कर सकेंगे ।"

औद्योगिक बेकारी

६. औद्योगिक बेकारी की सीमा । यहां पुनः हमारे सामने आंकड़ों का अभाव है । हमारे पास देश की औद्योगिक बेकारी के विस्तार का निर्धारण करने के लिए विश्वस्त अंक नहीं हैं ।

चिरकाल तक हमारे उद्योगों में श्रम-पूर्ति का अभाव बना रहा । भारत के उन्नत होते हुए उद्योगों का प्रबन्ध करने के लिए उपयुक्त श्रम नहीं आ रहा था । नगरों में न तो रहने का आकर्षण था, न ही पगारों का, जिससे कि पर्याप्त श्रम आ पाता । भारतीय मजदूर मुख्यतः किसान है और आवश्यकतावश कारखाने का मजदूर । औद्योगिक श्रमिक ग्रामीण क्षेत्रों से भाग कर आते थे । उनके भगोड़ेपन का कारण यह था कि वह "उस यातना अथवा सामाजिक अयोग्यता अथवा कानूनी दण्डों अथवा कठोर जुर्मानों से बचना चाहते थे कि जो ग्राम के सामाजिक और नैतिक विधान के विरुद्ध अपराधों के कारण उन पर लगाये जाते थे ।......यदि औद्योगिक श्रमिकों को गांव में ही खाना और

कपड़ा मिल जाता तो, उद्योग में बहुत थोड़े श्रमिक रह पाते। वह नगरों की ओर धकेले जाते हैं, न कि आकर्षित होते हैं।"[1] इस प्रकार औद्योगिकों को मजदूरों की बहुत कमी दीख पड़ी। श्रम निष्कासित चलन का था और स्थायी नहीं था। मजदूर सदा ही ललचाई आंखों से गांव की ओर देखता था, और यथाशीघ्र सम्भव अवसर होते ही घर के लिए रवाना होना चाहता था।

किन्तु श्रम की कमी का युग समाप्त होने को है। सम्भव है, औद्योगिक केन्द्रों की अवस्थाएं बहुत उन्नत न हुई हों, किन्तु गांव-क्षेत्रों की अवस्थाएं अधिक बुरी हो गई हैं। जिसका फल यह है कि श्रम-बाजार इस समय ग्राम-क्षेत्रों से कर्तव्यच्युत लोगों द्वारा भरा पड़ा है। इस प्रकार उद्योगों में रोजी चाहने वालों की एक बड़ी संख्या हो गई है। हम उस संख्या को सही-सही तो बता नहीं सकते, किन्तु निश्चित ही वह बहुत बड़ी संख्या होगी।

७. यह औद्योगिक बेकारी क्यों? हमारी औद्योगिक प्रगाली हमारी बढ़ती हुई जन संख्या को खपा नेके अयोग्य है और इसके अनेक कारण हैं। (१) हमारी औद्योगिक प्रगति अपरिपक्क है और अपर्याप्त है। भारत में औद्योगिक ढांचे का विस्तार न तो उसके विशाल प्रसाधनों और न ही उसकी जनसंख्या को वृद्धि की समानता के साथ मेल खाता है।

(२) उद्योगों की स्थान-विषयक-दशा बहुत ही दोषपूर्ण और अर्थ-व्यवस्था-हीन है। कतिपय क्षेत्रों में बाहुल्य है और प्रत्यक्षतः उत्पादन को लागत ऊँची हो जाती है। यदि औद्योगिक उपायों का विवेकपूर्ण योजना-निर्माण के आधार पर भोगोलिक वितरण होता, तो औद्योगिक ढांचा अधिक अर्थ-व्यवस्थित होता और उसको श्रमिकों को खपाने को क्षमता निश्चित ही बढ़ जाती।

(३) लागत का ढांचा बहुत ही कठोर है और औद्योगिक वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन नहीं करता। फलस्वरूप हमारे उद्योग समय-समय पर मन्दी के कारण व्यग्र हो जाते हैं, जिससे बेकारी हो जाती है।

(४) हमारे ग्रामीण क्षेत्रों में प्रचलित जोने-मात्र की अर्थ-व्यवस्था हमारे औद्योगिक उत्पादों के लिए उचित बाजार की उन्नति में बाधा है।

इन कारणों के प्रभाव का शुद्ध परिणाम यह होता है कि हमारी औद्योगिक प्रणाली हमारी बढ़ती हुई संख्या के भारी दबाव को स्थिर रखने के अयोग्य हो जाती है, न ही यह देश में रोजगार के दबाव का समान वितरण कर सकती है। इससे सुदृढ़ मजदूर बाजार भी नहीं मिल सकता।

८. उपचार। औद्योगिक बेकारी का उपचार औद्योगिक योग्यता को उन्नत करने में निहित है। हमारे औद्योगिक ढांचे में आमूल सुधार की आवश्यकता है। हमारे अधिकांश उद्योगों में अभिनवीकरण की आवश्यकता है, जिससे कि सब प्रकार की व्यर्थता जाती रहे और औद्योगिक क्षमता यथासम्भव उच्चता को प्राप्त हो। उद्योगों के केन्द्रीयकरण की अधिकता में सुधार करना होगा, कच्चे पदार्थों के प्रमाण को उन्नत करना होगा। श्रम को कारीगरी की शिक्षा देना होगी। पूंजी विषयक प्रसाधनों का संग्रह करना होगा, प्रबन्ध विषयक चतुराई को उन्नत करना होगा और औद्योगिक संगठन को सामान्यतः चमका देना होगा।

---

1. Report of the Royal Commission on Labour pp. 15-17.

वर्तमान औद्योगिक ढांचे की त्रुटियों को दूर करने के अतिरिक्त, उद्योग-उन्नति की स्कीमों को जारी करना आवश्यक होगा। भाग्यवश, योजना-निर्माण कमीशन ने पंच-वर्षीय योजना उपस्थित की है, जिसे सम्पूर्ण विवरणों के साथ लागू किया जाना चाहिए। औद्योगिक उन्नति के विषय में, निश्चित ही हमें कुछ ठोस काम करना होगा।

इस तथ्य पर अधिक बल देने की आवश्यकता नहीं कि केवल उद्योग ही है जिसमें हम बढ़ती हुई बेकारी की लहर को खपा सकते हैं। कृषि में पहले ही भारी भीड़ है और इसी प्रकार अन्य उदार व्यवसाय भी। उद्योग की उन्नति ही हमारी एकमात्र आशा है, जो हमें बेकारी के कष्टों से मुक्ति दिला सकती है। जब हमारा उद्योग अपने पूर्ण आकार में, जिसका उसे अधिकार है, उन्नत हो जाएगा, तो बेकारी का लोप हो जाएगा।

शिक्षित-वर्ग में बेकारी

९. **एक भीषण समस्या।** शिक्षित बेकारी की समस्या बहुत गम्भीर और भयंकर समस्या है। शिक्षित बेकार भयंकर व्यक्ति होता है। उसमें बोलने की शक्ति है, उसका प्रभाव है; उसमें व्यक्तिगत आघात की सहज भावना है और, यदि कष्ट चिरकाल तक जारी रहता है, जैसी कि भारत में स्थिति है, तो परिस्थिति निश्चित ही फट पड़ने वाली है, और राज्य की सुरक्षा और स्थिरता के लिए निरन्तर भयप्रद होगी।

यह समस्या एक अन्य रूप से भी गम्भीर है। यदि शिक्षित लोगों को बेकार रहना पड़ेगा तो इस प्रकार की परिस्थिति को बनाये रहने वाली वस्तुओं का दायित्व प्रबल रूप से निन्दनीय है। इसके कारण हमारे सर्वोच्च मानव प्रसाधन बेकार हो जाते हैं। इसका अर्थ बहुत बड़ी राष्ट्रीय हानि है कि जो इस प्रकार की बहुमूल्य मानव-पूंजी निठल्ली पड़ी रहती है।

१०. **शिक्षित लोग बेकार क्यों** ? शिक्षित-वर्ग में बेकारी की विद्यमानता का कारण शिक्षा का अत्यधिक शास्त्रीय होना बताया जाता है। भारत की प्रचलित शिक्षा प्रणाली का वास्तविक जीवन के साथ सम्बन्ध-विच्छेद है। स्नातकों (Graduates) को भारी संख्या में उत्पन्न किया जा रहा है। जिनकी खपत के लिए पर्याप्त मांग नहीं है। हमारी शिक्षा एक युवक को सीधे एम. ए. तक पहुंचा देती है, जिसके बाद, यदि किसी को क्लर्क या अध्यापक की नौकरी नहीं मिलती, तो वह निराश हो जाता है। हमारे यहां बहुत ही थोड़े ऐसे वैकल्पिक मार्ग हैं, जिनमें युवकों के लिए सम्मानपूर्ण जीवन का भविष्य अन्तर्हित हो।

हमारी शिक्षा प्रणाली पर कड़ी टिप्पणियां भी हुई थीं। १९३७ की पंजाब बेकारी कमेटी के प्रधान सर जार्ज एंडर्सन ने स्वतः माना था कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अपने प्रारम्भ से ही इस विशिष्ट उद्देश्य में ढाली गई है कि लड़कों को परीक्षाओं से बाहर निकाला जाय और उन्हें क्लर्कों के काम के लिए शिक्षित किया जाए, और उन्होंने इस प्रणाली के उत्पाद मैट्रिक पास का यह विवरण दिया है, "परित्यक्त, पृथ्वी के स्तर पर एक आवारा, बेकार, क्योंकि वह बेकारी के योग्य है।" यह कहा जाता है कि "वर्तमान शिक्षा उदासीन बाबुओं की अपेक्षा बेहतर पौंद नहीं निकाल सकती।" एक प्रमाण पत्र को "सरकारी नौकरी के लिए जादू का प्रवेश-पत्र" माना जाता है।

मि० आर्मस्ट्रांग ने, जो कभी पंजाब के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर थे, १९३७ की पंजाब बेकारी कमेटी के सामने शिक्षा प्रणाली के पक्ष में बहुत जोरों से बयान दिया था। उनका कहना था, "इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि भूतकाल में हमारी शास्त्रीय

शिक्षा के रूप ने अपने छात्रों को रोजगारी का विस्तृत क्षेत्र प्रदान किया है। पश्चिम में, जहां की शिक्षा प्रणाली का रूप बहुत ही संगिठत है और जहां सब प्रकार के रूपों की उपलब्धि है, वहां भी पर्याप्त बेकारी है, और यह एक समस्या है, जिसका निराकरण वहां की शिक्षा प्रणाली में सुधार द्वारा नहीं देखा जा रहा, प्रत्युत आर्थिक प्रगति और काम मुहय्या करने की गुंजायश की दृष्टि से उसका समाधान किया जाता है। उनकी संख्या में कमी किये बिना बेकारों की केवल शिक्षा विषयक योग्यता को बदलना समस्या का निराकरण तो न हुआ, और अपने युवकों को कारीगरी और दस्तकारी की शिक्षा यह भरोसा दिये बिना देना कि जब वह अपनी शिक्षा को समाप्त कर लेंगे, तो कृषि और उद्योग उन्हें रोजगार दे सकेंगे केवल एक प्रकार की बेकारी की जगह दूसरी को खड़ा करना है।"

मि० आर्मस्ट्रांग ने जो कुछ कहा है, वह बहुत हद तक सचाई है। केवल शिक्षा की प्रणाली में परिवर्तन करना पर्याप्त नहीं। उसके साथ ही आर्थिक प्रगति की स्कीमें होनी चाहिएं, जिससे जब दस्तकारी की संस्थाओं से कारीगर निकलें, तो नौकरियां तय्यार हों। अन्यथा बेकार बी. ए. पासों की जगह बेकार इंजीनियर तथा अन्य कारीगर हो जाएंगे। इस प्रकार की स्थिति सदैव भारत में रही है। हमारे यहां बेकार लोगों की संख्या में इस प्रकार के कुशल-कारीगरों की हमेशा एक संख्या रही है।

इन सबके कारण हमें यह कहना ही होगा कि शिक्षा की प्रणाली दोषपूर्ण है। जीवन के संघर्ष के लिए संतोषजनक रूप में व्यक्ति को सम्पन्न करना इसकी गणना का आधार नहीं। शिक्षा के माध्यम से, जो विदेशी भाषा है, अपरिपक्व युवक के दिमाग पर भारी बोझ पड़ता है और निश्चित ही उससे मानसिक प्रगति में बाधा होती है। हमारी शिक्षा-प्रणाली के त्रुटिपूर्ण रूप के विषय में भिन्न मत नहीं हो सकता।

११. शिक्षित-वर्ग में बेकारी की सीमा। शिक्षित वर्ग में बेकारों की सही संख्या को बता सकना असम्भव है। भिन्न प्रान्तों में इस समस्या की परीक्षा के लिए कमेटियां नियत की गई थीं और इन कमेटियों ने इस प्रकार के लोगों की संख्या का अनुमान करने की चेष्टा की थी किन्तु "शिक्षित" शब्द की भिन्न व्याख्याओं और साथ ही परम्पराओं की कठिनाइयों के कारण अनुमान के अधिकांश अंक केवल फर्जी ही हैं। किन्तु विश्वस्त आंकड़ों का अभाव इस बात को प्रकट नहीं करता कि बेकारी है ही नहीं। इसके विपरीत यह तथ्य जग-जाहिर है कि शिक्षित व्यक्तियों की अधिकांश संख्या रोजगार प्राप्त नहीं कर पाती।

१९३७ में पंजाब बेकारी कमेटी ने शिक्षित व्यक्तियों की बेकारी की संख्या का अनुमान किया था और अविभाजित पंजाब में वह डेढ़ लाख थी। विश्वविद्यालय की ड्योढ़ी को पार करके हजारों व्यक्ति प्रति वर्ष बेकारी की संख्या को अधिकाधिक कर रहे हैं। यह बुराई निरंतर बढ़ने वाली है।

सब सरकारी विभागों का यह सामान्य अनुभव है कि एक कार्यालय में छोटी-सी नौकरी के लिए सैंकड़ों आवेदन-पत्र जमा हो जाते हैं। ऊपर कही कमेटी की एक रिपोर्ट से हमें पता चलता है कि, "किसी एक जिले में पटवारी की २५ नौकरियों के लिए लगभग ७०० प्रार्थी थे—उन में से ९० प्रतिशत मैट्रिक पास थे, और कुछ एम. ए. तथा डबल ग्रेजुएट थे।" पंजाब सरकार के मुख्य मंत्री ने कमेटी को वक्तव्य दिया था, "लगभग २५ क्लर्कों की जगह के लिए कम से कम ३०० आवेदन पत्र प्रतिवर्ष प्राप्त होते हैं। इन आवेदन पत्रों में अधिकांश प्रार्थी ग्रेजुएट और एम. ए. पास होते हैं। समाचार-पत्रों में "आवश्यकता" निकलवाने से निश्चित ही आवेदन-पत्रों की बहुत बड़ी संख्या आ जाती

है। उसे बेकारी का निश्चित सूचनांक कहा जा सकता है।"ट्रिब्यून" के मलिक अर्जुनदास का कहना है, "मुझे याद है कि अफरीका में एक पुलिस हैड कांस्टेबल को आवश्यकता का विज्ञापन छापने पर, आवेदन-पत्रों की इतनी वृहद् संख्या आई थी कि ३ या ४ दिन के बाद विज्ञापनदाता ने डाक लेने ही से इन्कार कर दिया था और उपरान्त सैकड़ों पत्र व्यक्तिगत रूप में मैंने उनके यहां पहुंचाये थे।" इस प्रकार, इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं रह जाता कि सामान्यतः भारत में हजारों व्यक्ति उचित नोकरी प्राप्त करने में असफल रहते हैं।

भारत में युद्धोत्तर काल में, विशेषकर १९५१ से बेकारी में बड़े वेग से वृद्धि हो रही है और समस्या वास्तविक रूप में भयंकर होती जा रही है। यहां तक कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को भी इस भीषण समस्या की ओर ध्यान देना पड़ा और जुलाई १९५३ को अपने आगरा अधिवेशन में कमेटी ने इस विषय पर एक विशेष प्रस्ताव पास किया, जिसके द्वारा सरकार का ध्यान तेजी से बढ़ती हुई बेकारी की ओर आकर्षित किया गया।

१२. इसका उपचार क्या है ? इसका प्रत्यक्ष उपचार तो यह है कि शिक्षा-प्रणाली में सुधार किया जावे। शिक्षा विषयक सुविधाएं बहु-दिशी होनी चाहिएं, जिससे हमारे युवकों को दी जाने वाली शिक्षा नितांत साहित्यिक न हो। कारीगरी और दस्तकारी की संस्थाओं को बढ़ा देना चाहिए जिससे हमारे युवक शिल्प सीखने और अपने बल पर घरेलू दस्तकारियां आरम्भ करने के योग्य हो सकें। इससे किसी मालिक के यहां नौकरी करने की आवश्यकता जाती रहेगी।

किंतु शिक्षा-सुधार के साथ-साथ आर्थिक-प्रगति का कार्य भी होना चाहिए। यह आवश्यक है कि नोकरियों की रचना की जावे और यही पर्याप्त नहीं कि नौकरियों पर लोगों को जमा दिया जाए। देश की आर्थिक और औद्योगिक प्रगति लोगों के लिए उपलब्ध नौकरियों में वृद्धि कर सकती है। इसलिए, वास्तविक उपचार, देश के प्रसाधनों का पूर्ण उपयोग करना है और प्रगति योजना को विस्तृत रूप में सफल बनाना है जिससे रोजगार के अवसरों में वृद्धि की जा सके।

भारतीय योजना कमीशन ने बेकारी की समस्या को हल करने के लिए ११ सूत्री कार्यक्रम बनाया है जो निम्नलिखित है :

(१) कार्य तथा शिक्षा केंद्रों की उन स्थानों पर स्थापना, जहां कि पंच-वर्षीय योजना के अधीन कार्य-अवसर उपलब्ध हैं।

(२) व्यक्तियों तथा लोगों के छोटे-छोटे समहों को अल्पस्तर उद्योगों और व्यवसायों की स्थापना के लिए विशेष सहायता।

(३) जिन-जिन व्यवसायों में मानव-शक्ति की न्यूनता है वहां अधिक शिक्षा सुविधाओं की व्यवस्था।

(४) सार्वजनिक अधिकारियों द्वारा घरेलू तथा अल्पस्तर उद्योगों की वस्तुओं को प्रोत्साहन।

(५) एक-अध्यापक स्कूलों का बड़ी संख्या में खोलना।

(६) राष्ट्रीय विस्तार सेवा को शीघ्रातिशीघ्र बढ़ाना क्योंकि इससे बेकारी की समस्या को हल करने में अधिक सहायता मिलेगी।

(७) सड़क-यातायात को विकसित करना। इससे भी पर्याप्त संख्या को काम मिलेगा।

(८) मैली-कुचैली गलियों (Slums) को साफ करने और शहरी क्षेत्रों में अल्पआय वाले लोगों के लिये सस्ते मकान बनवाना।

(९) शरणार्थी नगरों (Town ships) को आयोजित सहायता प्रदान करना।

(१०) निजी भवन निर्माण कार्यकलाप (Building Activity) को प्रोत्साहन देना।

(११) अन्ततः पंचवर्षीय योजना को इस प्रकार संशोधित करना कि उसके द्वारा अधिकाधिक लोगों को रोजगार मिल सके।

१३. निष्कर्ष। निःसंदेह, भारत में, सामान्य समय में सभी वर्गों में विस्तृत बेकारी होती है। बहुत बड़ी मात्रा में छिपी हुई बेकारी अथवा अल्प-रोजगार विद्यमान है। यहां शिक्षित वर्ग में, अशिक्षित जनता, औद्योगिक श्रमिकों और कृषकों में बेकारी है। प्रत्येक वर्ग के बेकारों की अवस्थाओं को सुधारने के लिए विशिष्ट औपचारिक उपाय किये जाने चाहिएं।

किंतु सब प्रकार की बेकारी के मूल में जो कारण है, वह देश की आर्थिक-पिछड़ेपन की अवस्था है। सब प्रकार के संभावित श्रमिकों की संख्या उपलब्ध रोजगार की राशि की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ी है। यह इस कारण है कि देश के उत्पाद-प्रसाधनों का पूर्णतया एवं उचित रूप में उपयोग नहीं किया गया। भारत के प्रसाधन या तो बिना उपयोग के पड़े हैं अथवा अपूर्ण ढंग से उपयुक्त हुए हैं। यह स्थिति होते हुए, आर्थिक प्रगति को उन्नत करना ही एकमात्र उपचार है और देश की बढ़ती हुई जन-संख्या और प्रसाधनों के साथ तुल्य बनाना चाहिए। देश के प्रसाधनों की आनुक्रमिक प्रगति के बिना जनसंख्या की वृद्धि बेकारी की विद्यमानता के विवरण के लिए अपेक्षित हो सकती है।

जैसा कि भारतीय जनता की घातक और काल्पनिक धारणा है, बेकारी परमात्मा का कार्य नहीं। बेकारी प्राकृतिक संकट नहीं, प्रत्युत मानवी-संगठन के दोषपूर्ण परिणामस्वरूप है। यह आर्थिक-प्रणाली की परिवर्तनीय अवस्थाओं के अनकूल अपना समाधान न करने की अयोग्यता से उत्पन्न होती है, अर्थात् जन-संख्या की वृद्धि। बेकारी के महान् विस्तार के साथ एक देश दोषपूर्ण चक्र में पड़ जाता है: बेकारी की विद्यमानता का अर्थ है क्रय-शक्ति में न्यूनता। इसका अर्थ यह है कि समाज के सब प्रसाधनों के लिए वस्तुओं और सेवाओं की मांग पर्याप्त रूप में उपस्थित नहीं होती। मांग में न्यूनता होने के फलस्वरूप उत्पाद कार्यवाही में छांटी होती है। उत्पाद कार्यवाही में छांटी होने के फलस्वरूप बेकारी होती है और बेकारी अपनी बारी के मुजिब मांग में पुनः अल्पता करती है। यदि उपभोग और उत्पाद का उचित संतुलन हो, तो बेकारी नहीं हो सकती। प्रारम्भिक समाज में, जहां परिवर्तन या विवरण नहीं था, उपभोग और उत्पाद साथ-साथ चलते थे, वहां बेकारी का विचार भी नहीं किया जा सकता। इस कारण, हमें अपनी आर्थिक-प्रणाली इस रूप में योजित करनी चाहिए, कि उत्पाद की क्षमता और उपभोग में समानता बनी रहे।

१४. पूर्ण रोजगार। बेकारी का मुकाबला करना नकारात्मक नीति है। हमें कुछ सकारात्मक करना चाहिए। हमें ऐसी आर्थिक-प्रणाली का निर्माण करना चाहिए, कि प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति को राज्य की ओर से नौकरी का वचन प्राप्त हो। हाल ही के वर्षों में, भिन्न देशों में पूर्ण रोजगार के लिए जोरदार आंदोलन हुए हैं। बैवरिज, पीगू, रूजवेल्ट और सेनेटर मरे के इस प्रकार के कार्यक्रमों के प्रति अंशदान जग-विख्यात हैं। पीगू, के कथनानुसार, पूर्ण रोजगार का यह अर्थ है कि प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति बारोज-

जगार हो, बशर्ते कि वह पगारों की प्रचलित दरों पर कार्य करना चाहता हो। पूर्ण रोजगार का भरोसा देने के लिए राज्य को देखना चाहिए कि किसी भी समय नौकरियों की संख्या बेकार व्यक्तियों की संख्या से कम नहीं होनी चाहिए।

पूर्ण रोजगार की निम्न तरीकों से रक्षा की जा सकती है :

(१) सदा ही श्रम की मांग को श्रम की पूर्ति के ऊपर रखा जाए।

(२) श्रम के लिए मांग का उचित निर्देशन किया जाना चाहिए।

(३) श्रम की मांग और पूर्त्ति, दोनों को ऐसे ढंग से संगठित किया जावे कि श्रम के लिए मांग में परिवर्तनों को पूर्त्ति के परिवर्तनों के साथ अधिक काल में विस्तृत न किया जाय और इसी प्रकार इससे विपरीत भी। संभव है, हिसाब बैठाने की अवधि के दौरान में आंशिक बेकारी हो।

सबको रोजगार देने के लिए आर्थिक क्षेत्र पर राज्य का नियंत्रण अनिवार्य होगा। श्रम की गतिशीलता नौकरी-दिलाऊ दफ्तरों के द्वारा नियंत्रित की जायगी; उद्योग की दिशा-स्थिति पर भी नियंत्रण किया जायगा, जिससे उपलब्ध श्रम की पूर्त्ति का उचित वितरण किया जा सके। सबसे बढ़ कर, संपूर्ण व्यय, सार्वजनिक और निजी, दोनों का ऐसा अंक होना चाहिए कि वस्तुओं और सेवाओं की मांग इतनी अधिक हो कि यह तभी पूर्ण की जा सके, जबकि समाज की संपूर्ण मानव-शक्ति नियोजित हो।

१५. क्या भारत में पूर्ण रोजगारी का कार्यक्रम क्रियात्मक है? भारत की सीमाओं के अंतर्गत विश्व-मानव-समूह का $\frac{1}{5}$ अंश बसता है। मानवता की इतनी महान संख्या को रोजगार देने की चेष्टा बहुत बड़ा कार्य है। कुछ लोग इसे सनक कहेंगे और उनकी राय में वही लोग इस उप-महाद्वीप में पूर्ण रोजगार का समर्थन कर सकते हैं, जिनका दिमाग फिर गया हो।

संभव है, यह विचार सनक दीख पड़ता हो, किंतु ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि वह संख्या, जिसके लिए हमें कार्य तलाश करना है, बहुत बड़ी है, तो हमारे प्रसाधन भी तो वैसे ही होंगे। हमने अभी तक अपने प्रसाधनों का पूर्ण उपयोग आरंभ नहीं किया। उदाहरण के लिए, हमने बड़ी मुश्किल से जल-विद्युत के प्रसाधनों को केवल ६ प्रतिशत उन्नत किया है। साधनों के विषय में कोई बात निश्चित नहीं है। जितना ही अधिक उनका उपयोग होगा, उतनी ही अधिक उनकी वृद्धि होगी। कारीगरी की उन्नति समाज के लिए प्रसाधनों की वृद्धि करने में सशक्त होगी।

युद्ध-काल में, क्रियात्मक रूप में पूर्ण रोजगार था। तो फिर आर्थिक कार्य-कलापों की उस दशा को हम क्यों नहीं बनाये रख सकते? यदि युद्ध के दबाव के कारण कोई सफलता प्राप्त की जा सकती है तो कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता कि हम उसे शांति-काल में स्थिर नहीं रख सकते। हमें अब विचार करना चाहिए कि हमें एक अन्य शत्रु से लड़ना है, "आवश्यकता, रोग, अज्ञान और गंदगी"[1] के चार राक्षसों के साथ। हमें तो केवल लड़ाई को जारी रखना है। इस लड़ाई का उद्देश्य कहीं अधिक प्रशंसनीय है। यह पद-दलित मानवता की विशाल संख्या की उन्नति है। १९३८-३९ में, केंद्रीय और प्रांतीय व्यय १७१ करोड़ रु. हुआ था किंतु १९४५-४६ में यह राशि ११९८ करोड़ रु. की ऊंचाई तक चली गई। युद्ध से पूर्व हमारे खर्चों में इस प्रकार की घटनावश वृद्धि के विषय में कौन सोच सकता था? सुदृढ़-अर्थ-व्यवस्था के समर्थक इस

---

1. Beveridge---Full Employment in a Free Society, 1944, p. 31.

१६. भारत के लिए पूर्ण रोजगार कार्यक्रम के कुछ रूप[1]। भारत के लिए पूर्ण रोजगार के कार्यक्रम में भारतीय आर्थिक जीवन के प्रायः सब महत्वपूर्ण अंगों का समावेश होना चाहिए। उसे भारतीय अर्थशास्त्र के अंतर्राष्ट्रीय अंगों को भारतीय कृषि और उद्योग के पुनर्निर्माण को, आवागमन के सहयोग और विस्तार को, द्रव्य वाजार और विदेशी व्यापार के नियमित रूप देने को, सरकारी अर्थ के पुनरुदय आदि को छूना चाहिए। हम इनमें से प्रत्येक रूप के विषय में विचार करेंगे।

आज सारी दुनिया एक आर्थिक-इकाई बन गई है। कोई भी देश उपराम और एकाकी नहीं रह सकता। गत महान् मंदी और विश्व-युद्ध ने विश्व के विभिन्न देशों की अन्तर्निर्भरता का प्रदर्शन कर दिया है। योरोप के औद्योगिक देशों की आर्थिक दृढ़ता और स्थिरता एशिया के कृषि क्षेत्रों की आर्थिक समृद्धि एवं स्थिरता के साथ निकट रूप में परस्पर गुंथी हुई है। संयुक्त राष्ट्रों की आर्थिक और सामाजिक कौंसिल द्वारा नियत किये अर्थशास्त्र के पांच विशेषज्ञों ने अपनी रिपोर्ट में सिफारिश की थी कि विश्व भर के देशों को पूर्ण रोजगार के विश्वास के लिए विश्व-व्यापार को संतुलित और विस्तृत रूप देने के निमित्त संयुक्त चेष्टा करनी चाहिए। पुनर्निर्माण और प्रगति के अन्तर्राष्ट्रीय बैंक को विशाल और सुदृढ़ अन्तर्राष्ट्रीय विनियोजनों के लिए प्रबन्ध करने चाहिएं। (आई. एम. एफ.) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के संगठन का भी विश्व-व्यापार और संतुलन की रक्षा के लिए उपयोग किया जाना चाहिए।

भारत जैसे आर्थिक रूप में पिछड़े हुए देशों की आर्थिक प्रगति की विभिन्न अंशों की किसी योजना को लागू करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी का परिचालन आवश्यक होगा। पूंजी और बहुमूल्य वस्तुएं विदेशों से आनी होंगी। हमें अन्य देशों के साथ बहुगुणी अर्थ-व्यवस्था और आर्थिक सम्बन्धों की स्थापना की आवश्यकता होगी। इस प्रकार हमारे विदेशी व्यापार का ढांचा प्रभावित होगा, जो बदले में आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करके रहेगा।

यदि भारत को अपने आर्थिक-भाग्य की साधना करनी है और उसे विश्व की शिष्ट-शक्तियों में अपना उचित स्थान प्राप्त करना है, तो उसे अपना आर्थिक ढांचा उन्नत करना होगा, जो न केवल उसकी बढ़ती हुई जनसंख्या के रोजगार के दबाव को सहन कर सकेगा, प्रत्युत अन्य राष्ट्रों को भी उनके पूर्ण रोजगार के उद्देश्य की पूर्ति करने में सहायक होगा।

हमारी कृषि-प्रणाली का चरित्र जीने-भर की अर्थ-व्यवस्था का है। यदि हमें पूर्ण नियोजन की आय के ढांचों और जीवनमान की रचना करनी है, तो इसे बदलना होगा। इसके कारण श्रम की अन्तर्व्यवसायी वृहद परिचालन की आवश्यकता होगी। इस परिचालन को उचित ढंग से संगठित करना होगा, क्योंकि सर विलियम बेवरिज के अनुसार पूर्ण-नियोजन-नीति का अनिवार्य अंश है, "श्रम की गलतशीलता नहीं, प्रत्युत संगठित गतिशीलता।"

वर्तमान में हमारी सदा वृद्धि होने वाली जन-संख्या भूमि पर दबाव को प्रबल कर रही है और यहां तक कि ग्राम-क्षेत्रों के पूर्वतः दरिद्र जीवन-मान को निरन्तर आतंकित कर रही है। कृषि-विषयक जन-संख्या में वर्ष के कुछ मासों में अनिवार्य बेकारी

१. पूर्ण अध्ययन के लिए देखें, T, N. Ramaswamy—Full Employment in India, 1946.

होती है। ऋण का बोझ किसान को दबाता जा रहा है। इन त्रुटियों को हटाना होगा। प्रति एकड़ की उत्पाद शक्ति को नियोजन के दबाव की तुल्यता के लिए अधिक करना होगा। कृषि-विषयक उत्पाद को उचित रूप में आयोजित करना होगा। संक्षेप में हमारी ग्राम-अर्थ-व्यवस्था का आमूल पुनर्निर्माण होना चाहिए और उसे शहरी अथवा औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था के साथ अंश-योजित करना होगा, जिससे पूर्ण रोजगार के कार्यक्रम को लागू करने के साथ उसका मेल बैठाया जा सके। यह केवल इसलिए नहीं कि जन-संख्या में से नियोजन-योग्य उत्पन्न होने वाले वयस्क-दलों को ही खपाया जावे प्रत्युत जन-संख्या के अन्य अंशों को भी खपाना होगा।[1]

वर्तमान भारतीय औद्योगिक ढांचा कतिपय कारीगरी विषयक और आर्थिक कठोरताओं के कारण प्रताड़ित है और पूर्ण रोजगार के कार्यक्रम को सहन करने के अयोग्य है। यह इतना भी पर्याप्त रूप से बलवान नहीं कि "शहरी क्षेत्रों के समान कोमल श्रम बाजार को भी सुदृढ़ बना सके।" पूर्ण-रोजगार के आदर्श की औद्योगिक प्रणाली को देश की सामान्य आर्थिक प्रगति का श्रृङ्खलाबद्ध अंश बनाना होगा।

औद्योगिक पुनर्निर्माण के निम्न कार्यक्रम को उपस्थित किया गया है:[2] औद्योगिक ढांचे का अधिक अर्थ-व्यवस्थापूर्ण स्थान नियत करना; (२) औद्योगिक इकाइयों की अनेकरूपता और विकेंद्रीकरण; (३) देश के श्रम बाजारों को सुदृढ़ करने के लिए गणनानुसार औद्योगिक दिशा स्थान का नियंत्रण करना; (४) क्षेत्र में औद्योगिक विकास के साथ सामान्य आर्थिक विकास का सहयोग; (५) औद्योगिक उत्पादों के लिए क्षेत्रीय बाजारों के विकास का नियंत्रण; (६) जीवनमान के पूर्ण नियोजन की रक्षा के लिए पगार-स्फीति का प्रबन्ध करना; (७) औद्योगिक उत्पादों के अन्तर्क्षेत्रीय परिचलन का व्यवस्थित नियंत्रण; (८) निर्माण-रीति में टैकनीकल उन्नति के सम्बन्ध में औद्योगिक ढांचे का नियंत्रित विकास; (९) क्षेत्र के विशिष्ट उद्योगों का नियमित पुनर्निर्माण, (१०) अन्तर्व्यावसायिक और साथ ही अन्तर्क्षेत्रीय श्रम परिचालन की व्यवस्था, (११) क्षेत्रीय उद्योगों में विनियोजन की व्यवस्था और (१२) सटोरियों और एकाधिकारियों द्वारा औद्योगिक उत्पादों की 'खपत' की व्यवस्था। भारतीय उद्योग के पुनर्निर्माण के ठोस कार्यक्रम से कम पूर्ण नियोजन के कार्यक्रम का समर्थन नहीं किया जा सकता। औद्योगिकीकरण का केवल यही उद्देश्य नहीं कि जीवनमान उन्नत हो प्रत्युत अपने लोगों के सांस्कृतिक स्तर को भी उन्नत करना है। टैक्नीकल इंजीनियर की गति और शक्ति का मुकाबला सामाजिक इंजीनियर के साथ भी करना होगा।

जहां तक हमारी आवागमन-प्रणाली का सम्बन्ध है, वह विक्षिप्त, आयोजन रहित है और अपर्याप्त है। इस प्रकार की आवागमन प्रणाली कृषि-विषयक समृद्धि, औद्योगिक प्रगति और देश के सामान्य आर्थिक-विकास में बाधा है। पूर्ण-रोजगार कार्यक्रम के सफल बनाने के लिए आवागमन की सहयोगपूर्ण-प्रणाली अनिवार्य है। इसलिए, आवागमन के कंठावरोध को हटाना होगा, यदि इस उप-महाद्वीप की अर्थ-व्यवस्था को पुनर्जीवन प्रदान करना है।

सामान्य आर्थिक सुदृढ़ता के कार्यक्रम में वस्तुओं के अन्तर्क्षेत्रीय परिचलन की व्यवस्था होनी चाहिए, अन्तर्क्षेत्रीय और अन्तर्व्यावसायिक श्रमचालन का संगठन होना

1. Ibid. p 51.
2. Ibid, 143-44.

चाहिए और औद्योगिक कृषि वस्तुओं की खपत की व्यवस्था होनी चाहिए । इस सबमें आवागमन-प्रणाली को महत्वपूर्ण भाग अदा करना है।

जब समाज का पूर्ण-रोजगार का आदर्श स्थापित हो जायगा, तो यातायात-प्रणाली को इसकी रक्षा करनी चाहिए, और इसे खंडित होने से रोकना चाहिए। उसे असाधारण आर्थिक-स्फीति को रोकना चाहिए, जिससे संभव है, आर्थिक ढांचा अस्थिर हो जाय, जो पूर्ण-रोजगार प्रदान कर सके। इस दृष्टिकोण से यातायात प्रणाली[1] में निम्न समन्वयों की आवश्यकता होगी : (१) यातायात प्रणाली का विकेंद्रीकरण और क्षेत्रीकरण करना होगा और उस यातायात प्रणाली के साथ न्यूनतम सम्बन्ध से कि जिसका स्वतः सम्बन्ध केवल अन्तर्क्षेत्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों की रक्षा करने के लिए आवागमन को अनिवार्यता के साथ है; (२) यातायात-प्रणाली को सेवा को सार्वजनिक उपयोगिता के स्तर तक उन्नत करना होगा और यातायात का व्यय स्थानीय व्यय के रूप में होना चाहिए; (३) विभिन्न यातायात प्रणालियों में, जैसे रेलों, मोटरों और जल-यातायात की प्रणालियों में सक्रिय सहयोग होना चाहिए, जिससे उनमें किसी प्रकार की प्रतिद्वंद्विता न रह सके; (४) क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय—पूर्ण नियोजन की स्थिरता को लागू करने के लिए विनिसयोजन ढांचे के अंश-योजित आदर्श की रक्षा करने के लिए यातायात-प्रणालियों का राष्ट्रीयकरण, जिससे मार्ग सम्बन्धी अथवा किराये में प्रतिद्वंद्विता कम हो, (५) आवागमन की वस्तुओं और श्रम की क्षेत्रीय-व्यवस्था करना, जिससे कृषि और उद्योग की कीमतें निर्मित करने के आवश्यक आदर्श की रक्षा हो सके, (६) यातायात सेवाओं में, आवागमन के पुनर्योजित आकार एवं दबाव की आवश्यकता के लिए 'व्यय-अनुपात' का उचित समन्वय करना।

यातायात प्रणाली को नितांत लोचदार होना चाहिए जिससे वह पूर्ण-रोजगार के कार्यक्रम को लागू करने से उन्नत हुए असाधारण आवागमन को सक्रिय रूप में पूर्ण कर सके। इस उद्देश्य के लिए अकेली रेलों पर ही आश्रित नहीं रहा जा सकता। सहयोग-पूर्ण और विस्तृत सड़क के यातायात की प्रणाली की अत्यावश्यकता होगी। संक्षेप में, यातायात प्रणाली को सामान्य और आर्थिक स्थिरता के कार्यक्रम का अंशयोजित भाग बनना होगा ।

पूर्ण-रोजगार के लिए उचित रूप में द्रव्य-बाजार की व्यवस्था भी आवश्यक अंग है। आर्थिक ढांचे के पूर्ण-रोजगार के आदर्श को व्यापार और उद्योग में से चक्रपूर्ण स्फीतियों को निकाल फैंकना चाहिए। समृद्धियों और मंदियों के निरन्तर होते रहने से नई आर्थिक प्रणाली निश्चय ही अस्थिर हो जाती है, जिसकी पूर्ण-नियोजन की आय के ढांचे की रक्षा के लिए गणना की गयी है। कीमतों के स्तर की स्थिरता बहुत ही आवश्यक है। फलतः, नयी कार्य-विधि में यह आवश्यक होगा कि बैंकिंग संस्थाओं की अमानतें रचना करने की क्षमता को व्यवस्थित किया जावे और उन शक्तियों का निरीक्षण किया जावे, जो समाज की क्रय-शक्ति को प्रभावित करती हैं।

भारतीय द्रव्य-बाजार में आवश्यक लोच का अभाव है। इसके विभिन्न अंग अनेक खंडों में बिखरे हुए हैं, जिससे उन्होंने एक सम्पूर्ण सुघटन नहीं बना रखा। यह अंकन किया गया है कि भारत में बैंकिंग प्रगति 'सुघटित' होने की अपेक्षा 'अणुविक' रही है। वह सम्मिलित क्रिया के अयोग्य है।

1, Ibid, p. 168.

पूर्ण नियोजन अर्थ-प्रणाली के सामान्य ढांचे में इसको सही बैठाने के लिए भारतीय द्रव्य-बाजार के ढांचे में कतिपय समन्वयों की अत्यावश्यकता है। भारत जैसे बड़े देश के लिए भिन्न ेशों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त एक केंद्रीय बैंक पर्याप्त नहीं हो सकता। केंद्रीय बैंकिंग का किसी सीमा तक विकेंद्रीकरण करना, स्वतन्त्र छोटी बैंकिंग इकाइयों की स्थापना करना, देश में बैंकों के कृत्यों को व्यवस्थित करना और विदेशी विनिमय के कार्यों का नियंत्रण करना, भारतीय द्रव्य-बाजार में कुछ ऐसे आवश्यक समन्वय हैं, जो पूर्ण नियोजन के दबाव को सहन करने में योग्य होंगे।

यदि एक देश पूर्ण-रोजगार के कार्यक्रम को चालू करता है, तो विदेशी व्यापार अछूता नहीं रह सकता। जैसा कि सर विलियम बैवरिज का कहना है, "जिस देश में पूर्ण रोजगार होता है, उसके विदेशी व्यापार के आधारमूलक भिन्न रूप होते हैं।" हमें पूर्ण नियोजन की नीति को सफल करने के लिए अपने विदेशी व्यापार की नीति को पुन-र्जीवन देना आवश्यक होगा। यह प्रस्ताव किया गया कि जहां तक भारत के विदेशी व्यापार का सम्बन्ध है, उसे समन्वयों की तीन दशाओं में से निकलना होगा,[1] (१) अपने अनेक आर्थिक प्रगति के कार्यक्रमों को लागू करने तथा उनकी अर्थ-व्यवस्था के लिए अन्त-र्राष्ट्रीय पूंजी के परिचालनों के अधिकतम लाभों की प्राप्ति के निमित्त द्विधातुकरण (Bilateralism) करना; (२) ब्रिटिश कामन्वैल्थ के राष्ट्रों के अन्तर्गत "बहु-मुखी गुट" बनाना, जिससे उसका बाहरी आर्थिक सम्बन्धों का ढांचा सुदृढ़ हो और विश्व के आर्थिक-विकास की शक्तियों द्वारा संघातक होने से अपने पूर्ण-रोजगार के भीतरी कार्यक्रमों की रक्षा करना; (३) सार्वभौम बहुमुखी व्यापार में अंश-योजित इकाई के रूप में 'शाही स्टर्लिंग गुट' में हिस्सा लेना, जिससे अन्य करैंसी गुटबंदियों की अस्थिरता की लूट से अपनी आर्थिक प्रणाली की स्थिरता की रक्षा की जा सके। और यह तबतक हो, जबतक कि विश्व में महान् शक्तिशाली राष्ट्रों के, जो आज संयुक्त राष्ट्र संघ की संस्थाओं पर अधिकृत हैं, स्वार्थ-निहित अर्थ-व्यवस्था और आर्थिक हितों द्वारा निर्मित अंतर्राष्ट्रीय चलअर्थ का विकास सक्रिय-रूप में लागू नहीं हो जाता। विदेशी व्यापार प्रतिद्वंद्वी होने की अपेक्षा पूरक होना चाहिए।

भारत में पूर्ण नियोजन की नीति को सफल बनाने के मार्ग में कुछ अंश बाधक हैं, आज की मुद्रा-स्फीति की स्थिति इस प्रकार की नीति की वृद्धि नहीं कर सकती, क्योंकि इस प्रकार की नीति के कारण न्यूनता व्यय मुद्रा-स्फीति में केवल फुलावट पैदा करने वाला होगा। पूंजी निर्माण का अल्प-अनुपात एक अन्य विपरीत अंश है। कीनेसियन शब्दावलि के अनुसार "विनयोजन की प्रवृत्ति" बहुत ही न्यून ै। निजी विनियोजन में गिरावट हुई है। किंतु पूर्ण-रोजगार की नीति के लिए वृह् विनियोजित व्यय की आव-श्यकता है। नि ोजन की संख्या का अभाव, खपत करने की सीमान्त प्रवृत्ति और वृद्धि करने वाला, आदि, पूर्ण नियोजन की नीति को चालू करना किंचित् रूप में भयं-कर कर देता है, राज्य की मुद्रा-स्फीति विरोधी नीति और अप्रत्यक्ष टैक्स-विधि के उच्च-स्तर को भी पूर्ण-रोजगार कार्यक्रम की वृद्धि के लिए नहीं गिना गया।

जो भी हो, यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि भारत जैसे प्रति-व्यक्ति की अल्प-आय वाले देश में, पूर्ण नियोजन करने की अपेक्षा टैक्नीकल (कला-कौशल विषयक) योग्यता को उन्नत करना अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि पूर्ण नियोजन स्वतः राष्ट्रीय आय की वृद्धि नहीं कर सकता।

---

1. Ibid., p. 262.

विस्थापितों का पुनर्वास

१७. महान् दुःखपूर्ण (घटना)—अन्य देश रक्त-पात के बाद स्वतन्त्रता प्राप्त करते हैं, किंतु हमने स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के बाद रक्त बहाया। स्वतन्त्र भारत के जन्म के अवसर पर भारतीय भूमि में मानवीय इतिहास में एक अभूतपूर्व दुःखांत अभिनय का प्रदर्शन हुआ। पंजाब में राज्य विप्लव हो गया था। चाकू चलाने वाला, बम फैंकने वाला, आग लगाने वाला और लुटेरा घर के बाहर था और वह बेरोकटोक अपने नीचतापूर्ण कार्य कर रहा था। आदमी पागल बन गया था। मानव स्वभाव के निम्नतम रूप ने अपना नंगापन प्रदर्शित कया था। ऐसे पशुतापूर्ण कार्य किये गये, जो कभी सुनने में नहीं आये थे, और यह सहज ही कहा जा सकता है कि यह मानव रूप में अनेक हिंसक पशु थे। यहां तक कि यह कहना भी पशुओं के प्रति अन्याय करना है। हिंसक पशु इस प्रकार के मनुष्यों की अपेक्षा कहीं अच्छे होते हैं। लाखों लोग, जो शान्ति काल में सदियों से एक दूसरे के पड़ोसी होकर रहे थे, जिनकी परस्पर व्यक्तिगत रूप में कोई शत्रुता नहीं थी, एकाएक उखड़ गये। इन्हें अपने घरों से निकाला गया, और उन्हें जो कुछ पास था, उसे वहीं छोड़ना पड़ा। यदि उनका परिवार सम्पूर्ण रूप से निकल आया और उनमें से कोई भार नहीं डाला गया, अथवा स्त्रियों को भगा नहीं लिया गया, तो वह अपने को भाग्यवान समझते थे। वह अपने लक्षित देश में पहुंचते थे, "दुरावस्था में, भूखों, लुटे-पुटे हुए, अपने निकट सम्बन्धियों की क्षति से सब कोई उदास मानव-कंकाल के रूप में, पूर्णतया अव्यवस्थित और निरन्तर बहने वाले स्रोत की भांति।"

१८. अति विशाल समस्या—इन दुःखपूर्ण अवस्थाओं में "लाखों लोगों के प्रवास" ने एक ऐसी समस्या उत्पन्न कर दी, जो अभी तक के मानव-इतिहास में किसीभी सरकार के समक्ष उत्पन्न नहीं हुई। यह इतनी विलक्षण थी कि राजनीति के महान्तम पंडित और अनुभवी तथा योग्य शासक भी सहम गये। डा. एल. सी. जैन लिखते हैं, कि ५० लाख लोगों के पाकिस्तान से भारत में परिवर्तन से उत्पन्न हुई समस्या और इतनी ही संख्या का हिंसक दबाव के कारण भारत से पाकिस्तान जाना और वह भी सर्वथा आर्थिक उद्देश्यों के विपरीत, एक ऐसी विलक्षणता है, कि कोई भी उनके प्रभाव की गहराई को आंक नहीं सकता। यह इस प्रकार है, जैसे कि आस्ट्रेलिया की वर्तमान सम्पूर्ण जनसंख्या का, जो एकाएक धरती से उखड़ गयी हो और उत्पादन के सब साधनों से वंचित हो गयी हो, और उसे आज के भारत जैसे देश में, जो सांप्रदायिकता के कारण छिन्न-भिन्न हो गया हो और आर्थिक रूप में विक्षिप्त हो गया हो, पुनर्वास किया जावे।[1] पश्चिमी पाकिस्तान से आये ५० लाख व्यक्तियों में पूर्वीय पाकिस्तान से आये लोगों को जोड़ा जा सकता है। विस्थापितों की कुल संख्या मार्च १९५३ तक ८० लाख थी।

विस्थापितों की समस्या के दो रूप हैं (१) पाकिस्तान से आने वाले अभागे और उखड़े हुए गैर-मुस्लिमों के लिए आश्रय-स्थान खोजना; (२) उन्हें लाभकर व्यवसायों में लगाते हुए पुनर्वास करना। आइये, हम समस्या के दोनों पहलुओं पर विचार करें।

१९. विस्थापितों की सहायता। तात्कालिक समस्या पाकिस्तान भर में फैले हुए लाखों हिंदुओं और सिक्खों का सुरक्षापूर्वक निष्कासन था, जो चारों ओर से दुश्मनों से घिरे हुए थे, और जिन्हें लूटे जाने तथा मारे जाने का भीषण डर था और जिनकी औरतों को भगाये जाने का आतंक था। इस सम्बन्ध में भारत सरकार ने फोजी निष्कासन

---

1. L. C. Jain—Some Thoughts on the Problems of Rehabilitation of Displaced Persons from Pakistan.

संगठन की स्थापना की थी। और इस दिशा में अद्भुत कार्य किया था। यह संगठन मानव-सामान की गाड़ियां और लारियां भर भर कर भारतीय संघ के विभिन्न भागों में रिक्त करता था, विशेष रूप से पूर्वीय पंजाब में। उसी के साथ ही पैदल काफिलेभी सड़क मार्ग से चलते, जो कभी-कभी एक लाख से भी अधिक संख्या में होते थे। वह भारतीय गरमियों को तपती दुपहरी में भूखे, प्यासे अपने बच्चों को और सामान को उठाये चलते थे।

जैसे ही वह सीमान्त पार कर लेते थे और उन्हें कष्ट से छुटकारा दीख पड़ता था, तब उन्हें अन्न और आवास देने की समस्या उत्पन्न हो जाती थी। अनेक आवागमन के शिविर और शरणार्थी शिविर खोले गये। पूर्वीय पंजाब की शिशु-सरकार शरणार्थियों की एकाएक महान् संख्या से कांप उठी। उनकी सहायता के लिए भारत सरकार ने हाथ बढ़ाया। पहले तो सभी ओर अनिश्चय, असहायता और क्रियाहीनता थी। किन्तु समयान्तर पर सरकार इस एकाएक और भारी धक्के से संभली और सहायता-संगठन ने रूप धारण करना आरम्भ किया। सभी प्रान्तों में भली प्रकार संगठित शरणार्थी शिविरों की स्थापना की गई।

वर्तमान लेखकों को इस प्रकार के शिविर चलाने का निजी अनुभव है। हम यह नहीं कह सकते हैं कि सहायता संगठन वह सब कुछ कर सका कि जो उसे करना चाहिए था अथवा शिविरों के प्रबन्ध से हम सर्वथा सन्तुष्ट थे; इससे भी अधिक शरणार्थियों को असंतोष था। शरणार्थियों की मानवी आवश्यकताएं इतनी अधिक थीं कि सरकार के आदमी तथा द्रव्य के प्रसाधन उसे पूर्ण नहीं कर सकते थे। इन अवस्थाओं में यह असंभव भी था। यदि शरणार्थी शिकायतें करते थे और चिल्लाते थे, तो यह स्वाभाविक था। किंतु, समष्टि रूप में, शरणार्थियों ने उल्लेखनीय धैर्य और शान्ति का परिचय दिया। वह सब तरह की असुविधाओं को सहन करने के लिए उद्यत थे।

अवस्थाओं के अनुसार, जो भी सहायता दी गई, वह युक्तिसंगत थी। कई शिविर तो सफाई की दृष्टि से आदर्श थे। उन्हें नगरों के बाहर खुले मैदानों में बसाया गया था। शिक्षा, मनोरंजन और चिकित्सा की सुविधाएं दी गई थीं। राशन नियमतः दिया जाता था, जिसमें आटा, दाल, घी, नमक, सब्जियां, मसाले, और फल तथा बीमारों और बच्चों के लिए दूध तथा तेल और साबुन भी शामिल था।

रजाइयां, कम्बल, बड़े कोट, स्वेटर, रुई की बंडियां, और कमीजों, पायजामों, पगड़ियों सलवार दुपट्टों के लिए भी कपड़ा दिया जाता। सरकार के अतिरिक्त निजी लोकोपकारी संस्थाएं और संगठन भी सामान बांटते। पहले तो इस प्रकार की पूर्ति पर्याप्त नहीं थी। इसका कारण या तो यह था कि वस्तुएं तैयार नहीं थीं अथवा बांटने के साधन तैयार नहीं थे अथवा आतंकपूर्ण यातायात था। किंतु कुछ ही मास बाद सहायता-यंत्र गतिपूर्वक चलने लगा और इन आवश्यकताओं की पूर्ति भी होने लगी। पर्याप्त मात्रा में उनका वितरण होने लगा। इन शिविरों की सफलता और योग्यता इस बात से आंकी जा सकती है कि मृत्यु और रोग का अनुपात आश्चर्यजनक रूप में न्यून था और बसी हुई जनसंख्या की औसत से तो बहुत ही कम था। कुछ ही लोग जाड़े और भूख के कारण मरे।

इन शिविरों में भ्रष्टाचार की शिकायतें थीं और उनसे इंकार नहीं किया जा सकता। भ्रष्टाचार हमारे जीवन का अंग और अंश बन गया है। जब तक शिविरों का प्रबंध शिक्षाविभाग के अधीन था, भ्रष्टाचार को न्यूनतम रूप में कम किया गया था।

यदि लोकोपकारी जनता, जिसमें परोपकार की भावना होती, सहायता-कार्य में सहयोग देती, तो संभव था कि भ्रष्टाचार के अवसर न्यूनतम रूप में उत्पन्न हो पाते । किंतु हमें यह कहते संकोच नहीं होता कि जिस स्तर पर सहायता दी गई, उससे सरकार की महान् उदारता का परिचय मिलता है । यह जान पड़ता है कि वह लोग उन अभागों को सांत्वना देने की कीमत नहीं समझते थे कि जो दुखदायी राजनीतिक निर्णय के शिकार हुए थे ।

भारत सरकार ३० अप्रैल १९४९ तक शरणार्थियों के निष्कासन, स्वागत, सहायता और पुनर्वास पर २९ करोड़ रुपया खर्च कर चुकी थी। १९५३–५४ के बजट में शरणार्थियों के पुनर्वास के लिए ३२ करोड़ रु. रखे गये । प्रांतीय सरकारों ने भी इस दिशा में करोड़ों रु. खर्च किया है ।

३१ अक्तूबर १९४९ से शरणार्थी-शिविरों में निःशुल्क सहायता बंद कर दी गई, और प्रांतीय तथा राज्य सरकारों को विस्थापितों के नियमित पुनर्वास तथा भंग करने के प्रबंध के लिए कहा गया ।

२०. पुनर्वास की समस्या । शरणार्थियों को भोजन देना, उन्हें रहने का स्थान देना और कपड़ा देना आदि, समस्या का निराकरण करना नहीं है । इससे अकारण ही सरकार के प्रसाधन क्षीण हो जाएंगे और इससे शरणार्थियों का नैतिक पतन होगा । वह अपने कष्टों को पोषित करते रहेंगे और अपनी दु:खभरी कहानियों को बारंबार सुना-सुना कर अपने घावों को ताजा बनाएं रहेंगे । इसके अतिरिक्त राष्ट्र इन श्रमी,समझदार और साधन-संपन्न लोगों द्वारा अपने आर्थिक जीवन के लिए कर सकने योग्य अंश-दान से वंचित रह जायगा । "शरणार्थी समस्या का यह अत्यधिक दु:खपूर्ण अंश है कि ऐसे साहसी और परिश्रमी लोगों के लिए, जिन्हें बहुधा हमने पूर्वी पंजाब के शिविरों में देखा था और और अधिकांशत: चतुर और साहसिक कार्य करने वाले थे, अपने देश की स्वतंत्रता के उदय के साथ ही उत्पादन-योग्य भूमि के द्वार बंद हो जावें और उन्हें शिविरों के अंदर बंद रहना पड़े, जबकि दुनिया श्रम के लिए परेशान होती हो और उनके अपने ही देश के प्रसाधन अछूते पड़े रह जावें । वह बिना काम के शिविरों में पड़े रहते, उनके नव-जात-प्रांत (पूर्वी पंजाब) के क्षीण साधनों पर दबाव पड़ रहा था, वह प्रतीक्षा करते—किंतु किस बात की ? कोई भी महसूस कर सकता है कि वह स्वयं नहीं जानते; वह केवल प्रतीक्षा करते ।"[1] यह असमंजस, क्रियाहीनता और मानसिक चिंता का काल यथा-शीघ्र समाप्त होना चाहिए । यदि और अधिक हानि और राष्ट्रीय विनाश से बचना है तो शरणार्थियों को अपने आर्थिक जीवन में अंतिम रूप से खपा लेने के लिए एक चमत्कृत प्रेरणा की आवश्यकता है । मानवी-संकट को बांटा नहीं जा सकता और जबतक शरणार्थियों को तत्काल ही बसाया नहीं जाता; तबतक निश्चय ही वह सभी ओर कष्ट फैलाएंगे । "पुनर्वास केवल पुन:आवास नहीं; यह पुनर्समन्वय की आधारमूलक रीति है, जो यह प्रकट करती है कि जीवन के लिए युक्तियुक्त उपाय प्राप्त हो गए हैं और शर-शरणार्थी नये वातावरण में सचेष्ट इकाई में अपने को स्थिर कर रहा है ।"

डा. एल. सी. जैन ने, जो एक समय सहायता और पुनर्वास के सचिवालय के अर्थपरामर्शदाता थे, शरणार्थियों को पुन: बसाने के लिए एक विस्तृत योजना बनाई थी । यदि उस योजना को ईमानदारी के साथ पूर्ण किया जाता तो समस्या सफलता-पूर्वक हाथ में आ गई होती । यदि पुनर्वास को वैज्ञानिक ढंग से किया जाना है, तो हमें पुनर्वास चाहने वालों की संख्या पर विचार करना होगा और उसके साथ ही पाकि-

1 The Eastern Economist, May 21, 1948, p. 930.

स्तान के लिए जाने वाले मुसलमानों के कारण रिक्त स्थान की भी गणना करनी चाहिए।

भारतीय संघ में प्रवास करने वाले गैर-मुस्लिम अधिकांशतः भू-स्वामी गैर-काश्तकार हैं अथवा ऐसे व्यक्ति हैं, जो व्यापार, उद्योग और नौकरी-पेशा हैं। दूसरी ओर, मुसलमान दस्तकार हैं, कारीगर हैं, और मज़दूर हैं। पाकिस्तान से आने वालों का जीवन-मान बहुत ऊंचा था और पूर्वी पंजाब तथा पश्चिमी बंगाल के मुसलमानों का जीवन-स्तर नीचा था। इसके कारण हमारे पुनर्वास की समस्या अधिक कष्टकर हो जाती है। मुसलमानों के निष्कासन ने हमारे आर्थिक-जीवन में एक खाई पैदा कर दी है, जो आने वाले गैर-मुस्लिमों द्वारा पूर्ण नहीं हो सकती। मुस्लिमों के निष्कासन ने पूर्वी पंजाब और पश्चिमी बंगाल के आर्थिक जीवन को भंग कर दिया है और वहां के उद्योग ठप हो गए हैं। इसलिए, आने वाले गैर-मुस्लिमों का पुनर्वास करने से पहले उत्पाद-यंत्रों को चालू करने के लिए विक्षत अर्थ-व्यवस्था की मुरम्मत करनी होगी।

२१. **पुनर्वास अखिल भारतीय समस्या है**। पुनर्वास की समस्या को खंडित रूप में हल नहीं किया जा सकता और उसे बंगाल तथा पंजाब से संबंधित समस्या का एकाकी रूप देकर भी हल नहीं किया जा सकता। इसका निखिल भारतीय आधार पर निराकरण होना चाहिए। इसलिए, यह अच्छा है कि शरणार्थियों को सब प्रांतों में बांट दिया गया है। मोटे रूप में, ४० लाख को पूर्वी बंगाल में बसाया जाना होगा। सब प्रांतों और राज्यों ने अपने यहां शरणार्थियों के पुनर्वास के लिए एक नियत संख्या उपस्थित की है।

२२. **शरणार्थियों का वर्गीकरण—ग्रामीण और शहरी**। पुनर्वास के उद्देश्य से शरणार्थियों का ग्रामीण और शहरी वर्गीकरण किया जा सकता है। हिंदू और सिक्खों की पश्चिमी पाकिस्तान में शहरी जन-संख्या, जो भारत में आई है, अनुमानतः २० लाख है। इस प्रकार ग्रामीण जन-संख्या को ३० लाख कहा जा सकता है। यह अनुमान किया गया है कि ग्रामीण विस्थापितों में से २७ लाख पूर्वी पंजाब में पहुंचे हैं, जिनमें १८ लाख कृषक हैं, ८ लाख गांवों में रहने वाले गैर-काश्तकार हैं और ६ लाख दस्तकारों के अन्य दल हैं।

२३. **पुनर्वास के लिए उपलब्ध साधन**। पुनर्वास के लिए हमें भूमि, आवास और नियोजन की आवश्यकता है। यदि हम इस बात की तुलना करें कि गैर-मुस्लिम पाकिस्तान में क्या छोड़ आए हैं और मुसलमानों ने भारत में क्या छोड़ा है, तो हमें उपलब्ध प्रसाधनों की अपर्याप्तता और क्षीणता सहज ही नजर आ जाएगी। यह मुकाबला बहुत ही चौंकाने वाला है। हिंदू और सिक्खों ने पश्चिमी पाकिस्तान में ६७ लाख एकड़ भूमि छोड़ी जबकि पूर्वी पंजाब में मुसलमानों ने ४५ लाख एकड़। इनमें से ११.५ लाख एकड़ हिसार और गुड़गांव में हैं, जो फसलों के लिए अरक्षित मानी जाती है। इसके अतिरिक्त, मुसलमानों द्वारा छोड़ी हुई भूमि की उस नहरी और समृद्धिशाली भूमि से तुलना नहीं की जा सकती जो हमारे लोग पश्चिमी पंजाब में छोड़ आए हैं।

हिंदू और सिक्ख रहने के जो स्थान छोड़ आए हैं, वह उनकी अपेक्षा कहीं बढ़िया हैं, जो मुसलमान इधर छोड़ कर गए हैं—प्रमाण और परिमाण दोनों ही रूपों में। यह अनुमान किया गया है कि हमारी ओर ७५ हजार से १ लाख तक मकानों की कमी है।

जहां तक रोजगार की उपलब्धि का प्रश्न है, उसका भविष्य बहुत ही निराशापूर्ण है। हिंदू और सिक्ख, जो पाकिस्तान से आये हैं, व्यापार, उद्योग, नौकरियों और पेशों में लगे हुए थे, और यह पेशे इस ओर उपलब्ध नहीं हैं, क्योंकि यह पूर्वतः हिंदुओं

और सिक्खों के हाथों में है। जो मुसलमान गये हैं, वह अधिकांशतः दस्तकार और श्रमिक थे और यह निश्चित ही है कि आने वाले गैर-मुस्लिम वह नहीं हो सकते।

२४. **ग्रामीण पुनर्वास**। ग्रामीण जन-संख्या का पुनर्वास करने के लिए, जिसमें कृषक, छोटे दुकानदार, साहूकार, दस्तकार और छोटे कामों के करने वाले सम्मिलित हैं, यह आवश्यक है कि किसानों को तत्काल ही बसा दिया जाय, क्योंकि प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः अन्य उन पर निर्भर करते हैं। पूर्वी पंजाब सरकार ने भूमि वितरण की एक विस्तृत योजना तैयार की है, जिसके अनुसार शरणार्थी कृषक-स्वामी, चाहे वह काश्तकार हों, अथवा नहीं और उप-कृषक उसके अधिकारी होंगे; यह वितरण १९४८ की खरीफ और रबी के समय दलीय आधार पर होना था। प्रत्येक परिवार को, संयुक्त प्रबंध के ढांचे के अन्तर्गत, ८ से १५ एकड़ वितरण किये जाने थे। दलीय-प्रणाली इस कारण अपनाई गई थी कि बेहतर कृषि का भरोसा हो और बैलों तथा औजारों की बचत की जा सके। क्योंकि जाने वाले मुसलमानों की विनाश-नीति और स्थानीय गैर-मुस्लिमों की ठगी के कारण उनका अभाव हो गया था।

यह योजना ठीक प्रकार से सफल न हुई। गैर-काश्तकार स्वामियों ने अपने प्रभाव का अकारण लाभ उठाया और विभिन्न स्थानों पर तथा भिन्न नामों से जमीनें अपने नाम करा लीं, किंतु वह जमीनों पर रहते नहीं थे। उन्हें खड़ी फसलों और तकावी ऋणों का लोभ था, जो उन्हें मिले और उन्होंने उनका दुरुपयोग किया। उन्होंने कृषि की उपेक्षा की और रबी फसल को बोया, यह शोक की बात है कि यहां तक कि जब हमें काम करने का पूर्ण अवसर भी था, तो भी स्वार्थी हितों को नहीं छोड़ा जा सका। ६ गांवों में योजना के कार्य की जांच करने पर मालूम हुआ कि १९४७-४८ की रबी फसल के लिए मुसलमानों द्वारा छोड़े हुए संपूर्ण क्षेत्रफल का ६६ प्रतिशत बोया गया था और ९० प्रतिशत बोआई का काम उन लोगों ने किया था, जिन्हें जमीनें नहीं दी गई थीं। कहा जाता है कि ४० से ५० प्रतिशत की भूमियों का वितरण गैर-काश्तकार स्वामियों अथवा उन लोगों के हिस्से गया था, जिनका भूमि के साथ कोई संबंध नहीं था। "लूट, धूर्तता और कपट" फैला हुआ था।[1]

सब मिलाकर पंजाब और पैप्सू राज्यों में पाकिस्तान से आये हुए ४,४६,००० व्यक्तियों में भूमि बांटी गई। यह बंटवारा अर्ध-स्थायी आधार पर किया गया। लगभग इन सब व्यक्तियों ने अपनी जमीनों के कब्जे ले लिये हैं। इसके अतिरिक्त ३३,००० अन्य परिवारों को इन वितरण भागीदारों की जमीनों पर अस्थायी काशतकारों के रूप में बसाया गया है। यह अनुमान लगाया गया है कि सब मिलाकर पश्चिमी पाकिस्तान से आये विस्थापितों को लगभग ५५ लाख एकड़ भूमि वितरण की गई है। इसमें से पंजाब और पैप्सू का भाग लगभग ८५ प्रतिशत है। ग्रामीण विस्थापितों को बसाने के लिये आर्थिक सहायता दी गई है। उन्हें बैल खरीदने, औजारों के लिये, मकान बनाने या मुरम्मत करने के और कुएं खोदने के लिये आर्थिक सहायता दी गई है। लगभग ५ करोड़ रुपये की राशि पंजाब और पेप्सू में बसे ग्रामीण विस्थापितों को कर्जे के रूप में दी गई है। इसी प्रकार पूर्वी बंगाल से आये विस्थापितों को भी भूमि पर बसाया गया है। लगभग २,३०,००० परिवारों को कृषि तथा कृषिसंबंधी व्यवसायों में खपत किया गया है अन्य २५,००० परिवारों को १९५३–५४ वर्ष में भूमि पर बसाया जाएगा। बैल, बीज तथा

१. Eastern Economist, May 28.1948. p. 971.

औजार खरीदने के लिए १९५२–५३ तक लगभग ७.७४ करोड़ रु० कर्ज के रूप में दिये गये हैं।

उपलब्ध एकड़-भूमि के पर्याप्त न होने से हमें अपनी भूमि के प्रसाधनों को सुधार, सिंचाई और यंत्रों की योजनाओं से उन्नत करना चाहिए। भारत में ८ करोड़ ३५ लाख एकड़ व्यर्थ भूमि है। पूर्वी पंजाब में २५ लाख एकड़ ऐसी भूमि है, जिसमें से ९ लाख एकड़ का निश्चित रूप से सुधार हो सकता है इसमें कृषि-योग्य क्षेत्रफल में पर्याप्त वृद्धि होगी। तालाबों और ट्यूब-वैलों (नलीदार कुओं) जैसे सिंचाई कार्यों और भाखरा बांध, नांगल और दामोदर घाटी जैसे मुख्य यंत्रों से केवल खाद्य ही नहीं मिलेगा, यही नहीं कि शरणार्थियों को सौंपा गया लघुतर क्षेत्र भी अधिक प्राप्ति करेगा प्रत्युत आनुपातिक रूप में पर्याप्त-मात्रा में नियोजन प्रदान भी कर सकेंगे। इसलिए कृषि को नवीन रूप देने के लिये प्रत्येक यत्न किया जाना चाहिए और भूमि की उत्पाद-शक्ति को फलों के बगीचे लगाकर, रासायनिक खादों का उपयोग करके, बेहतर बीजों और बेहतर साधनों से कृषि करके उन्नत करना चाहिए।

२५. **शहरी पुनर्वास**। पाकिस्तान से आये ११ लाख गैर-मुस्लिमों में से, अनुमान किया गया है कि एक लाख वृहद्-स्तर उद्योग में लगे हुए थे और १० लाख घरेलू और लघु-स्तर के उद्योगों, व्यापार, नौकरियों और पेशों में लगे हुए थे। लघु-स्तर उद्योग के विस्तार के लिए बड़ा क्षेत्र है, क्योंकि वृहद् स्तर पर नियोजन की आवश्यकता है, उपभोक्ता वस्तुओं की अल्पता है, शरणार्थियों के साधन सीमित हैं और लघु-स्तर उद्योगों की वह सरलतापूर्वक स्थापना कर सकते हैं। घरेलू दस्तकारियों को पश्चिमी पंजाब से पूर्वी पंजाब में लाने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए। सिंध में लघु-स्तर के अनेक उद्योग थे, जैसे, ठाटा की लुंगियां, नसरपुर के खेस, गादरो की ऊनी दरियां और हाला का सलमे और कढ़ाई का काम। इन दस्तकारों को पूर्वीपंजाब में जमा होने में सहायता करनी चाहिए और उन्हें आवश्यक आर्थिक तथा अन्य सहायता देकर अपने पांव पर खड़ा करना चाहिए।

विस्तार और निर्माण के योग्य जो उद्योग हैं, उनमें उल्लेखनीय यह हैं: हाथ-कताई और बुनाई, हौजरी, रंगाई और कपड़े की छपाई,छापाखाना, दरी बनाना, फलों के बगीचे और फलों की सुरक्षा करना, दुग्धशालाएं, मुर्गीखाने, मधु-मक्खी पालन, तेल पेलना साबुन बनाना, खेल के सामान बनाना, खिलौने, लकड़ी का काम, फर्नीचर, डाक्टरी के औजार, साईकिल उद्योग, चमड़ा, बुनाई-रंगाई, कागज बनाना, इत्यादि। उन्नत हो जाने की दशा में उनसे आशा की जा सकती है कि वह तीन लाख व्यक्तियों को खपा लेंगे शरणार्थियों को थोड़ी-सी शिक्षा दी जा सकती हैओर उद्योगों को सहकारिता के आधार पर आरंभ किया जा सकता है। इस उद्देश्य से पहले ही शिक्षा केंद्र जारी हो चुके हैं।

वृहद् और मध्य स्तर के उद्योगों को पूर्वी पंजाब में इन दिशाओं में उन्नत किया जा सकता है: एक या दो कताई की मिलें; फाजिल्का में एक ऊनी मिल; रेलवे पुलिस और सेना विभाग की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक कपड़े का कारखाना; जालंधर, कालका और अंबाला में खाद तैयार करने के कारखाने, मोटरों की मरम्मत और कोच बनाने के उद्योग; उत्तर प्रदेश में असलाह फैक्ट्री; अम्बाला और जालन्धर में जलविद्युत की इंजीनियरिंग; पठानकोट या गुरुदासपुर में बटन बनाने का उद्योग और दियासलाई का कारखाना; तारपीन के कारखाने; अनेक छापेखाने, (पंजाब सरकार के सरकारी प्रेस के अतिरिक्त), आरे की मिलें, इमारती लकड़ी के काम, टाइल और ईंटें बनाने के काम, सफाई का सामान, नालियों के लिए नल, चीनी मिट्टी की वस्तुओं को बनाने के काम तथा कठोर पदार्थ और बिजली के सामान आदि। किन्तु

इस प्रकार की वृहद-स्तर औद्योगिक उन्नति केवल सरकार की सक्रिय सहायता के आधार पर ही संभव है ।

छोटे-छोटे व्यापारियों का पुनर्वास अपेक्षाकृत कठिन है । उन्हें दो वस्तुओं की आवश्यकता होगी, एक तो नगर में कारोबार की जगह, दूसरे रहने के लिए मकान। दोनों ही बातों की भयंकर न्यूनता है। पूर्वी पंजाब में वैसे भी बहुत थोड़े नगर हैं और उनमें पहले ही जरूरत से ज्यादा भीड़ है। उन्हें कर्जों की भी आवश्यकता है, जो सुगमता से मंजूर हो सकते हैं। यदि उन्हें दुकान और रहने के लिए मकान मिल जावें, तो वह सरलता-पूर्वक अपना पुनर्वास कर सकते हैं। वह कर भी रहे हैं। पूर्वी पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और दिल्ली में सड़कों की दोनों ओर लगी हुई दुकानें इन शरणार्थियों की साहसकिता का परिचय देती हैं । अब शहरी पुनर्वास के क्षेत्र में किये गये सरकारी कार्य के बारे में कुछ आंकड़े उपस्थित किये जायेंगे। शहरों में विस्थापितों को रहने की जगह मुहय्या करने के लिए पंजाब और पेप्सू में लगभग ३७,००० मकान बनाये जा चुके हैं। इसके अतिरिक्त २००० मकान बनाये जा रहे हैं। पुनः इन दोनों राज्यों में नवम्बर १९५२ तक ५०,००० विस्थापित व्यक्तियों को लगभग ३·५ करोड़ रु० की राशि शहरी कर्जों के रूप में दी गई। इसके अतिरिक्त पुनर्वास अर्थ प्रशासन (Rehabilitation Finance Administration) ने, जो कि वृहद्-स्तर उद्योगों तथा व्यवसायों को कर्ज देता है, लगभग २.५ करोड़ रु० पश्चिमी पाकिस्तान से आये विस्थापितों को कर्ज के रूप में दिये, एम्प्लायमेंट एक्सचेंजों (Employment Exchanges) ने लगभग १,१८,००० पंजाब में बसे व्यक्तियों को ही नौकरियां दिलाने में सहायता की । इसी प्रकार लगभग २३,००० व्यक्तियों को टेकनिकल शिक्षा दी गई । इस समय लगभग ३७,००० औरतें तथा बच्चे सरकारी खर्चे पर कैंपों में रहते हैं और लगभग १५,००० विस्थापित व्यक्तियों को मासिक जीने-योग्य भत्ते दिये जा रहे हैं।

इसी प्रकार पूर्वी बंगाल से आये हुए विस्थापितों को शहरों में बसाने का प्रयत्न किया जा रहा है । १९५२–५३ तक लगभग ७.१४ करोड़ रु० शहरी कर्जों के रूप में बांटे गये। और कोई ६००० व्यक्तियों ने ये कर्ज लिये। एम्प्लायमेंट एक्सचेंजों ने ३४,००० विस्थापितों को नौकरियां दिलाईं। और १०,००० व्यक्तियों को टेकनिकल शिक्षा दी गई। लगभग ३७,००० औरतें तथा बच्चे शिविरों में रह रहे हैं।

यह कुछ तथ्य इस बात के प्रमाण हैं कि संघ सरकार और राज्य सरकारों ने शरणार्थियों की समस्या का निराकरण करने के लिये भारत संघ में ईमानदारी के साथ यत्न किये हैं। जो अवस्थाएं हैं, उनमें यह असंभव है कि विस्थापितों को पूर्व जैसा आर्थिक स्तर और जीवन-मान दिया जा सके, किंतु इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि कुछ ऐसे सुदृढ़ कार्य किये गए हैं कि जिनसे वह एक बार पुनः अपने पांवों पर खड़े हो सकें।

अड़तीसवां अध्याय

आर्थिक नियंत्रण

१. भूमिका । युद्ध काल की अवस्थाओं में आर्थिक-नियंत्रण आवश्यकीय घटना है। उन्हें उस समय लागू किया जा सकता है, जब एक राष्ट्र शत्रु के विरुद्ध लड़ाई की तैयारियां कर रहा हो, भले ही वह काल्पनिक हो अथवा वास्तविक । लड़ाई आरंभ होने पर उन्हें लागू करना ही होता है; और युद्ध के बाद वह तबतक जारी रहते हैं, जबतक कि युद्ध-जन्य अवस्थाएं जारी रहती हैं। एक युद्ध के लिए नियंत्रण आवश्यक होते हैं और उनका उद्देश्य राष्ट्र के सीमित प्रसाधनों को युद्ध को सफल करने के लिये संग्रहीत करना होता है और इस ध्येय को दृष्टि में रखते हुए उन प्रसाधनों की शहरी उपयोग की दिशा बदल कर उन्हें युद्ध-काल के उद्देश्यों में लगाया जाता है । भारत में आर्थिक नियंत्रण हाल ही के द्वितीय विश्व-युद्ध की देन हैं ।

२. नियंत्रणों का इतिहास । युद्ध नियंत्रणों के आगमन की घोषणा करता है। किन्तु भारत में, १९३९ में युद्ध के आरम्भ होते ही नियंत्रण नहीं आये । कुछ समय के लिये अवस्थाएं सुगम रही थीं और युद्ध ने मूल्यों के सूचनांक पर कोई विशेष प्रभाव उत्पन्न नहीं किया था । यहां तक कि शुरू-शुरू में तो मूल्यों की उन्नति का स्वागत किया गया, क्योंकि कृषि और उद्योग को, सन् १९३० के शुरू में, इतिहास में अज्ञात भारी मन्दी में से निकलना पड़ा था । सरकार ने संतोष की भावना के साथ मूल्यों का उत्कर्ष होने दिया था। किंतु जब मूल्यों के उत्कर्ष ने वेदना उत्पन्न कर दी, तो सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा। "सरकार को निद्रा से जगाने केलिये एक बंगाल दुर्भिक्ष की आवश्यकता थी।"[1] यदि उपयुक्त मूल्य नीति की कार्यकारिता पर पर्याप्त रूप से विचार कर लिया जाता, तो बाद की कठिनाइयों से बचा जा सकता था। १९४३ तक कोई भी निश्चित नीति नहीं थी, न ही विभिन्न प्रांतों में अनुसरण की जाने वाली नीति में स्थिरता अथवा समानता थी। "खाद्य-संकट का एक पर्याप्त बड़ा भाग, जिसमें हम अपने को पड़ा पाते हैं,निश्चय ही अधिकारियों द्वारा संपूर्ण स्थिति को सामयिक रूप में हस्तगत करने की असफलता का परिणाम कहा जा सकता है । उन्होंने उस दशा का सामना करने के लिए पर्याप्त रूप में विस्तृत स्तर पर कार्यवाही नहीं की।"[2] समय पाकर अनेक प्रकार के नियंत्रण चालू किये गये, जिनमें महत्वपूर्ण यह थे : खाद्य नियंत्रण, वस्त्र-नियंत्रण, और व्यापार नियंत्रण ।

१९४५ में युद्ध की समाप्ति से नियंत्रणों का अंत नहीं हुआ। निःसंदेह, कुछ नियंत्रणों में सुधार कर दिया गया अथवा खत्म कर दिये गये। निर्यात और आयात में नियंत्रण पर्याप्त रूप में ढीले कर दिये गए । पूंजी नियंत्रण भी किसी सीमा तक ढीला कर दिया गया । यातायात के कठोर नियंत्रणं समाप्त कर दिये गए, और १९४३ का (Hoarding and Profiteering Prevention Ordinance) अति-संग्रह और लाभ-निवारक अध्यादेश और १९४३ का उपभोक्ता वस्तुओं के वितरण का नियंत्रणह अध्यादेश (Coensumer's Goods (Control of Distribution) Order) समाप्त कर दिये गये। किंतु कतिपय आवश्यक वस्तुओं के वितरण और मूल्यों के नियंत्रण को बनाये रहना आवश्यक समझा गया । इस ध्येय को दृष्टि में रखते

1. R. N. Bhargava : Price Control and Rationing.
2. Anjaria and others—Price Control in India, 1946, P. 1.

हुए १९४६ में अनिवार्य पूर्ति अधिनियम (Essential Supplies Act) पास किया गया। १९४७ के विदेशी विनियम व्यवस्था अधिनियम (Foreign Exchange Regulation Act) ने विदेशी विनिमय पर नियंत्रग रखा। खाद्य-नियंत्रण को राशनिंग बढ़ाकर कठोर कर दिया गया।

१९४७ की खाद्य अन्न नीति कमेटी ने मुख्यत: महात्मा गांधी के प्रभाव के वशीभूत होकर नियंत्रण हटाने की नीति की सिफारिश की। यह सोचा गया कि जैसे ही नियंत्रण हटाय जाएंगे, अति संग्रह करने वाले अपने गोपनीय कोषों को बाहर निकालेंगे और उत्पादन में विस्तार हो जायगा। यह विश्वास किया जाता था कि वस्तुत: देश में कमी नहीं और केवल नियंत्रणों ने ही इसे उत्पन्न किया है और स्थिर रखा हुआ है। इस कमेटी की सिफारिशों के अनुसार कतिपय क्षेत्रों से और खांड तथा वस्त्र पर से नियंत्रण हटा लिया गया।

किंतु नियंत्रण हटाने का प्रयोग बुरी तरह असफल रहा। कीमतें एकदम ऊपर चढ़ीं, आर्थिक सलाहकार का सूचनांक, जो नवंबर १९४७ में ३०२ था, उन्नत होकर जुलाई १९४० में ३९० हो गया। फलत:, नियंत्रणों को पुन: लागू करना पड़ा—कपड़े का नियंत्रण जुलाई १९४८ में और खाद्य पर अक्तूबर १९४८ में।

सितम्बर १९४९ में मुद्रा-अवमूल्यन के कारण कीमतें उन्नत होने का भय हो गया था और उन पर अंकुश लगाने की कार्यवाहियों की आवश्यकता हुई। भावी और सटोरी व्यापारों पर भी नियंत्रण लगा दिया गया। अपने विदेशी विनिमय को सुरक्षित करने की आवश्यकता के कारण विदेशी विनिमय और आयात तथा निर्यात पर भी नियंत्रण करना पड़ा। पाकिस्तान द्वारा मुद्रा-अवमूल्यन न करने के कारण भारत-पाकिस्तान का व्यापार ठप्प हो गया और उससे जूट तथा रुई की न्यूनता हो गई और उसके फलस्वरूप इन आवश्यक कच्चे पदार्थों पर भी कड़ा नियंत्रण करने की आवश्यकता हुई।

कोरिया का युद्ध छिड़ने से अनेक देशों ने युद्ध-सामग्री बनाने के कार्यक्रम को बढ़ा दिया और माल जमा करना आरंभ हो गया। इसी अवसर पर भारत पर प्राकृतिक आपदाएं आ पड़ीं, जैसे बाढ़ें और आसाम का भूकंप। इन कारणों ने प्रचलित न्यूनता को और भी बढ़ा दिया और नियंत्रण बनाये रखने की आवश्यकता का संकेत किया। फलत:, भारत सरकार ने नियंत्रण जारी रखने का दृढ़ मत घोषित किया और यह भी विश्वास दिलाया कि अनिवार्य जिंसों का उचित कीमतों के आधार पर समान वितरण किया जावेगा।

हाल ही (मार्च १९५२) में जिन्सों की कीमतों में गिरावट होने से सरकार किसी सीमा तक नियंत्रणों को ढीला करने के योग्य हुई, विशेषकर वस्त्र में। खांड से भी आवश्यक नियंत्रण हटा लिया गया है। मदरास, पंजाब तथा अन्य प्रान्तों में खाद्य नियंत्रण हटा लिया गया है और खाद्य राशनिंग समाप्त कर दिया गया।

सामान्य मूल्य नियंत्रण

३. मूल्य नियंत्रण क्यों ? एक युद्ध अपने साथ नियंत्रणों के एक क्रम को लाता है, जिससे समाज के आर्थिक-जीवन पर प्रभाव होता है। जो भी हो, इन नियंत्रणों में मूल्य-नियंत्रण विशेष महत्व का है। मूल्यों में परिवर्तन का सरकार सहित हर एक पर प्रभाव होता है। युद्ध-काल में मूल्यों की प्रवृत्ति अनिच्छित रूप में और निरन्तर उन्नत होने की होती है और यदि, उन्हें उचित स्तर पर न रखा जाय तो उसके भीषण परिणाम हो सकते हैं। समाज के अपेक्षाकृत निर्धन अंग पर, जो जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग है, सबसे अधिक आघात हुआ। यदि वह अत्यधिक ऊँची कीमतें होने के कारण जीवन की

आवश्यक वस्तुओं का क्रय करने के अयोग्य हो, तो क्रांति हो सकती है और राजनीतिक स्थिरता को भी खतरा हो सकता है । यहां तक कि विपरीततः इससे कष्ट बढ़ेगा । जन-साधारण की नैतिकता को बनाये रखना चाहिए अन्यथा घरेलू फ्रंट भंग हो सकता है । सरकार को निजी हित के लिये कीमत-नियंत्रण जारी करना पड़ा । वह सबसे बड़ी क्रेता है और उसे अपने क्रयों में बचत करनी ही चाहिए । सरकारी नौकरियों की दिशा में बढ़े हुए वेतनों के लिए पूर्वतः मांग उपस्थित करने के लिए भी मूल्य-नियंत्रण आवश्यक हैं ।

यहां तक कि शांतिकाल में भी कुछ मूल्यों पर नियंत्रण किया जा सकता है । कीमतों पर इसलिए भी रोक लगाई जा सकती है कि लाभपूर्ण जिंस को ग़रीब भी खपत कर सकें । एकाधिकार की जिन्सों की कीमतों पर इसलिए नियंत्रण किया जाता है कि लाभों की व्यवस्था की जा सके और अथवा उपभोक्ता को शोषण से बचाया जा सके । किंतु युद्ध-काल में मूल्य नियंत्रण अनिवार्य आवश्यकता है । यह मांग और पूर्ति के बीच घोर असंतुलन के कारण आवश्यक होती है । पूर्ति में संकुचन होता है और मांग फैलती है । पूर्ति में न्यूनता का यह कारण है कि प्रसाधनों को युद्ध के उद्देश्यों में बदल दिया जाता है और शहरी उत्पादन को यातना सहनी होती है । इसके साथ ही घरेलू उत्पादन में गिरावट होने से आयात गिर जाते हैं । इसका कारण विदेशी विनिमय में न्यूनता है, जो निर्यातों में न्यूनता, जहाजों में स्थानाभाव, समुद्र में शत्रु-कार्यवाहियों और विदेशों द्वारा वस्तुओं की पूर्ति करने की अयोग्यता––क्योंकि उन्होंने अपने प्रसाधनों को युद्ध-उद्देश्यों में बदल दिया होता है––के कारण होती है । दूसरी ओर वस्तुओं की मांग बुरी तरह बढ़ जाती है । सरकार सबसे बड़ी क्रेता के रूपमें बाजार में प्रविष्ट होती है । समाज की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है । क्योंकि बेकार प्रसाधन पूर्णतया नियोजित होते हैं और यह अतिरिक्त क्रय-शक्ति असैनिक वस्तुओं के क्रय में खर्च होती है । इस प्रकार मांग में वृद्धि और पूर्ति में न्यूनता युद्ध-काल में मूल्यों में असाधारण उत्कर्ष करती है । मुद्रा-स्फीति और द्रव्य की गतिशीलता में वृद्धि के कारण मूल्यों में और उत्कर्ष होता है । यदि सब कीमतें और आमदनियां उसी अनुपात से उन्नत हों तो किसी पर भी विपरीत प्रभाव नहीं होगा । किंतु जो स्थिति है, कीमतों के उत्कर्ष में समानता नहीं होती और कुछ आमदनियां अन्यों की अपेक्षा कहीं अधिक उन्नत हो जाती हैं । धनी और निर्धन में जो खाई होती है, वह अधिक चौड़ी हो जाती है । उसका परिणाम भयंकर सामाजिक विषमता होती है, जिसके प्रति सरकार का कर्त्तव्य है कि वह मूल्य नियंत्रण को उस उद्देश्य के लिए लागू करे ।

६. मूल्य नियंत्रण सम्बन्धी कार्यवाही । द्वितीय विश्व युद्ध के आरम्भिक चरण में, भारत में कीमतों में अधिक उत्कर्ष नहीं हुआ था । किंतु जापान के युद्ध में शामिल होते ही वह बुरी तरह चढ़ने लगीं । जापान की विजयों के कारण बरमा से चावल की पूर्ति बंद हो गई । आस्ट्रेलिया गेहूं की पूर्ति करने के अयोग्य था । बरमा से शरणार्थियों का आना और भारत में सेनाओं की वृद्धि और लोगों की क्रय-शक्ति में वृद्धि, कुछ ऐसे कार्य थे, जिनसे मूल्यों में उककर्ष हुआ, शत्रु की विजयों के कारण सरकार में विश्वास का ह्रास और कीमतों में और अधिक वृद्धि की आशा के कारण माल दबा लेने की प्रवृत्ति हुई और इस प्रकार न्यूनता में और भी वृद्धि हुई ।

मूल्यों की समस्या पहले तो अनमने ढंग से हल की गयी । सरकार कीमतों के उत्कर्ष के विषय में पूर्णतः विरोधी नहीं थी, क्योंकि उत्पादकों को सन् १९३० के आरंभ में महान मंदी के कारण भीषणतापूर्वक यातना सहन करनी पड़ी थी और वह चाहती थी कि मूल्यों में कुछ उन्नति से उन्हें लाभ मिलना ही चाहिए । किंतु चूंकि कीमतें बहुत तेजी के साथ चढ़ीं, इसलिए सरकार ने उन पर रोक लगाने की सोची । भारत रक्षा कानून

की धारा ८१ के आधीन उसे सब प्रकार की जिन्सों की कीमतों का नियंत्रण करने का अधिकार था और १९३९ में इन अधिकारों को प्रान्तीय सरकारों को सौंपा गया था।

कीमतों के नियंत्रण-कर्त्ता और कीमत परामर्शदातृ कमेटियां १९४२ में प्रांतीय सरकारों द्वारा नियुक्त की गईं। चूंकि कीमतों की स्थिति भीषण रूप धारण कर रही थी, इसलिए केंद्रीय सरकार ने १९४३ में कुछ आदेश और आर्डीनेंस जारी किये, जिनमें महत्वपूर्ण ये थे : सूती वस्त्र और सूत (नियंत्रण) आज्ञा (जून १९४३), अति संग्रह और लाभ निवारक अध्यादेश (अक्तूबर १९४३) और उपभोक्ता वस्तुओं का वितरण नियंत्रण अध्यादेश (जून १९४४)। प्रान्तों को यह भी अधिकार दिया गया कि वह कतिपय चुनी हुई जिन्सों की अधिकतम परचून कीमतें नियत कर सकते हैं। लाइसेंस-प्राप्त और अधिकृत व्यापारियों की रीति जारी की गयी और व्यापारियों को अपने व्यापारों का व्योरा देना होता था। राशनिंग भी जारी किया गया। अतिसंग्रह और लाभ व्यवस्था के आधीन किसी भी जिस को युद्ध-पूर्व की सामान्य कीमत पर २० प्रतिशत से अधिक पर अथवा सामान्य युद्ध-पूर्व सीमान्त पर, कि जो आयात की हुई वस्तुओं की दशा में भूमि पर पहुंच की लागत के आधार पर हो, और घरेलू निर्मित वस्तुओं की दशा में उत्पाद की लागत के आधार पर हो, जो भी दोनों में कम हो, बेचा जा सकता था। एक सम्पूर्ण राशि की भी सीमा नियत कर दी गई कि जो एक व्यापारी अथवा निर्माता रख सकता था और साथ ही एक ही समय पर अधिकतम क्रय की भी स्वीकृति रखी गयी थी। एक दुकानदार को १० रु० से अधिक की खरीददारी के लिए नकदी परचा (Cash-memo) देना होता था और यदि ग्राहक चाहे तो उससे कम पर भी। कोई भी व्यापारी या निर्माता पर्याप्त कारण के बिना विक्रय से इन्कार नहीं कर सकता था। कीमतों के नियंत्रण-कर्त्ता के आदेश से व्यापारियों को अपने कारोबार की पूर्ति की सूचना देनी होती थी। वस्तुओं पर कीमतें लिखनी होती थीं और उन्हें प्रत्यक्ष स्थान पर प्रदर्शित करना होता था। उपभोक्ता वस्तुओं के (वितरण के नियंत्रण) अध्यादेश के आधीन आयात करने वालों और निर्माताओं को ३२ वस्तुओं के विषय में स्टाक की स्थिति, ताजा पहुंचों और वह उपाय कि जिनमें उन्हें समाप्त किया जाना हो, सूचना देनी होती थी।

युद्ध समाप्ति के बाद अतिसंग्रह और लाभनिवारक अध्यादेशों का अन्त हो जाने दिया गया, किंतु अन्तरकालीन अवस्था में कुछ नियंत्रणों को अनिवार्य समझा गया। इसलिए सरकार ने १९४६ में, अनिवार्य पूर्ति अस्थायी (अधिकार) अधिनियम (Essential Supplies Temporary Powers Act), कतिपय चुनी हुई जिंसों के निर्माण, पूर्ति और वितरण पर नियंत्रण रखने के लिए लागू किया। अगस्त १९५० में इस विधेयक के जीवन-काल को ३० दिसंबर १९५२ तक बढ़ा दिया गया। यह एक्ट निम्न वस्तुओं पर लागू है : खाद्य-अन्नों, पशुओं का चारा, सूती और ऊनी वस्त्र, कच्ची कपास, कपास के बीज, कागज, पैटरोल, और तज्जनित वस्तुएं, यांत्रिक गाड़ियों के खुर्दा पुर्जे-हिस्से, कोयला, लोहा, इस्पात और अभ्रक।

१९४७ में, अनियंत्रण के संक्षिप्त एवं असफल प्रयोग के बाद भारत में कीमतों की स्थिति बिगड़ती रही; पहले तो विभाजन के कारण, और अनन्तर मुद्रा-अवमूल्यन भारत पाकिस्तान व्यापार गतिरोध और कोरिया-युद्ध के फलस्वरूप पुनः शस्त्रीकरण में वृद्धि और अतिसंग्रह के कारण। इसीलिए, यही नहीं कि कीमत-नियंत्रण को रखना पड़ा प्रत्युत उसे कठोर भी करना पड़ा। औषधि (नियंत्रण) आर्डीनेन्स ३ अक्तूबर १९४९को जारी हुआ,

जिसका उद्देश्य औषधियों की कीमतों में उत्कर्ष को रोकना था। इस आर्डिनेंस की जगह पार्लियामेंट ने ७ अप्रैल १९५० के अधिनियम को पास किया, वस्तुओं की पूर्ति और कीमतों का कानून १९५० में स्वीकार हुआ था। यह कानून लोहा-इतर धातुओं पर लागू होता है, जिनमें पीतल, वाईसिकल, साईकिल के हिस्से और पुर्जे, साईकल टायर और ट्यूब, बिजली के हंडे, कास्टिक सोडा, सोडाएश, चमड़ा रंगाई-बुनाई के पदार्थ, कच्ची रबड़, ग्लैक्सो, हार्लिक्स जैसे बच्चों के खाद्य, गंधक, टैनरी, ऊन और क्रोम (चमड़ा) भी सम्मिलित हैं। इस कानून का उपयोग उन वस्तुओं की कीमतें नियत करने और वितरण को नियंत्रित करने में किया गया, जिससे सीमित पूर्तियों को केवल अनिवार्य उद्देश्यों के लिए ही रखा जा सके।

कतिपय अन्तर्राष्ट्रीय अंशों के प्रभावों तथा आंतरिक उत्पादन में वृद्धि के कारण मई १९५१ के बाद मूल्य क्रमशः गिरने आरंभ हुए। मार्च १९५२ में मूल्यों में आकस्मिक गिरावट आई जिसके कारण सरकार ने कतिपय नियंत्रण हटा दिये अथवा ढीले कर दिये। उदाहरणार्थ सूती कपड़े के निर्यात तथा आंतरिक वितरण पर नियंत्रण हटा दिया गया। जून १९५२ को मद्रास सरकार ने एक साहससूर्ण पग उठाया और खाद्यान्नों को अनियंत्रित कर दिया। उस पग का कई दूसरे राज्यों ने अनुसरण किया जैसे कि बिहार, उत्तर प्रदेश। पंजाब ने भी अप्रैल १९५३ से खाद्यान्नों पर से नियंत्रण हटा लिया है, अब तक तो यह प्रयोग ठीक जा रहा है।

अक्तूबर १९५२ से कई सूती कपड़े की कई किस्मों के मूल्यों तथा वितरण पर से नियंत्रण उठा लिया गया है।

५. मूल्य नियत करना। एक मूल्य परामर्शदातृ समिति (Prices Advisory Board) है, जिसका कार्य कीमतों को नियत करने और अन्य मामलों के विषय में, जो पूर्ति और वस्तुओं की कीमतों के १९५० के कानून (Supply and Prices of Goods Act 1950) के अंतर्गत होते हैं, सरकार को परामर्श देना है। इस समिति ने विशिष्ट मूल्य नियत करने के लिये निम्न सामान्य सिद्धांत स्थिर किये हुए हैं:

१. जहां तक उन वस्तुओं का सम्बन्ध है कि जो पूर्णतः अथवा अधिकतः देश में उत्पन्न होती हैं, उनके लिए यह सूत्र है: निर्माता अथवा व्यापारी के लिए उत्पाद की लागत जमा लाभ का एक उचित सीमांत।

२. आयात की हुई वस्तुओं के विषय में यह है कि भूमि तक पहुंच की लागत जमा लाभ का उचित सीमान्त।

३. उन वस्तुओं के विषय में, कि जो अंशतः देश में उत्पन्न होती हैं और अंशतः आयात की जाती हैं। आयात की हुई वस्तुओं की कीमत सामान्यतः अधिक ही होगी। यदि प्रमाण द्वारा अन्तर न्याय्य होगा और दोनों वस्तुओं को रूपों द्वारा एक-दूसरे से भिन्न किया जा सकता हो, तो उस दशा में केवल आयात की हुई वस्तुओं की अधिकतम कीमत नियत करना पर्याप्त होगा। जहां कीमतों की असमानता को न्याय्य न ठहराया जा सकता हो और दो किस्मों को एक-दूसरे से भिन्न किया जा सकता हो, तो दोनों किस्मों की उच्चतम कीमत नियत की जानी चाहिए। उन अवस्थाओं में जहां आयात की हुई किस्म को देसी किस्म से सहज-पूर्वक भिन्न नहीं किया जा सकता, यदि आवश्यक हो तो साझी उच्चतम कीमत नियत की जा सकती है।

६. क्या मूल्य नियंत्रण असफल रहा? इस प्रश्न का कोई प्रत्यक्ष उत्तर नहीं

दिया जा सकता । निःसदेह, शुरू-शुरू में मूल्य नियंत्रण बुरी तरह असफल रहा । तिस पर भी कुछ वर्षों के अनुभव के बाद नियंत्रणों की प्रणाली उचित सफलता के साथ कार्य करने लगी, अथवा क्या हम यह कहें, कि भारतीय विवाह की भांति, हमें उसके साथ समझौता करना ही पड़ा ? यह भी मान ही लेना चाहिए कि यह आशा करना भी व्यर्थ ही है कि इंग्लैंड में जिस योग्यता के साथ मूल्य नियंत्रण सफल हुए हैं, वह यहां भी उसी योग्यता के साथ होंगे । भारत का महाद्वीप जैसा क्षेत्रफल है, और उत्पादन है, विशेषतः कृषि और लघु-स्तर के उद्योग बिखरे हुए हैं और असंगठित हैं । ऐसी अवस्था होने के कारण कोई नियमित नियंत्रण नहीं हो पाता , और उत्पाद पर नियंत्रण के बिना मूल्यों पर नियंत्रण अर्थ-हीन है । इसके अतिरिक्त भारतीयों का अनुशासनहीन और अत्यधिक व्यक्तिगत एवं स्वार्थपूर्ण चरित्र भी कीमतों के नियंत्रण के प्रणाली की दुर्बलता के लिए उत्तरदायी है । कीमत-नियंत्रण की असफलता की जिम्मेदारी विशेषरूप से आर्थिक दुरावस्था को भी दी जा सकती है । इस स्थिति में हमें धकेलने के ये कारण थे : यातायात प्रणाली का क्रियात्मक रूप में भंग हो जाना, अत्यधिक मुद्रा-स्फीति और सट्टेबाजी का खब्त । राजनीतिक परिस्थिति ने भी, जिसके फलस्वरूप विभाजन हुआ और जिसने देश की अर्थ-व्यवस्था को भंग कर दिया, मूल्यों की नियंत्रण की असफलता में अपना कार्य किया । भारत में कीमत-नियंत्रण प्रणाली की सफलता-पूर्वक कार्य करने के लिए यह सामान्य सीमाएं हैं किंतु इसे छोड़कर स्वतः इस प्रणाली में कुछ अनुगत दोष भी थे । इनमें से निम्न का उल्लेख किया जा सकता है ।

(१) मूल्य विषयक स्थिति को ठीक समय पर काबू करने के अभाव के कारण सरकार के लिए अनंतर जब स्थिति काबू से बाहर हो गयी और व्यवस्था योग्य न रही, तो नियंत्रण करने की कठिनाई हो गयी । शुरू-शुरू में, जब परिस्थिति सहज थी, पर्याप्त समय था, जबकि उचित रूप से सुदृढ़ मूल्य नियंत्रण प्रणाली को चालू किया जा सकता था । किन्तु जान पड़ता है कि सरकार बहुत देर करके चेती ।

(२) प्रारंभिक चरणों में अधिकारियों में अनुभव का अभाव भी मूल्य-नियंत्रण की असफलता के लिए उत्तरदायी था । परिस्थिति को हस्तगत करने के लिए सरकार के पास पर्याप्त रूप में योग्य और विशिष्ट योग्यता प्राप्त व्यक्ति-मंडल भी नहीं था । जो कार्यकर्त्ता उपलब्ध थे, वह पर्याप्त रूप में सतर्क नहीं थे । "अपराधों की संख्या बहुत थी, किन्तु चंद गिरफ्तारियां होती थीं । कभी-कभी सजा होती थी और दंड बहुत ही नरम दिया जाता था ।"[1]

(३) सरकारी कार्यकर्ताओं में पवित्रता का अभाव एक और अनुगत दुर्बलता थी । भ्रष्ट कार्यकर्त्ता लोगों की योग्यतापूर्वक सेवा करने की अपेक्षा अपनी जेबें भरने पर अधिक उत्सुक थे । जब ढांचा ही इतना क्षीण और जर्जरित था, तो नियंत्रण-यंत्र क्यों कर कार्य कर सकता था ? "यह नहीं कहा जा सकता था कि उन युद्ध के दिनों में, जब उपभोक्ता वास्तविक रूप में असहाय था, इस देश के प्रशासन ने योग्यता की दिशा में अपनी ख्याति में श्रीवृद्धि की है ।"[2] जब नियंत्रण इस प्रकार प्रभावहीन रहे, तो उपभोक्ता चोरबाजारी की ओर लपका—जो उसकी पूर्ति का एकमात्र स्रोत था ।

(४) भारत में मूल्य-नियंत्रण की असफलता के लिए सम्पूर्ण दोष अधिकारियों

1. R. N. Bhargava—Price Control and Rationing, 1945 p. 82.
2. Anjaria & Others—Price Control in India, 1946, p. 8.

के ही मथे नहीं मढ़ा जा सकता। सामान्य जनता को भी उस दोष का भाग दिया जाना चाहिए। लोगों ने नितान्त स्वार्थभावना से काम किया। जो लोग चोर-बाजार से अपनी इच्छानुसार खरीदने की शक्ति रखते थे, उन्होंने बिना किसी ननुनच के खरीदा। व्यापारी भी उन्हें माल देने के लिए अत्यधिक उत्सुक रहते। इस प्रकार चोरबाजारी का विस्तार हुआ। अतिसंग्रह सामान्य था और अपलाभ के लिए एक सनक पैदा हो गई थी।

(५) सरकार की दृढ़ता और स्थिरता के अभाव के कारण भी मूल्य-नियंत्रण की सफलता के मार्ग में कठिनाइयां हुईं। सरकार की नीति नियंत्रण और अनियंत्रण के बीच भटकती थी। इससे भी बढ़कर कीमतों पर नियंत्रण और नोटों को जारी करने का आवश्यकताहीन विस्तार परस्पर असंगत थे।

(६) सामयिक और शुद्ध आंकड़ों का अभाव भी एक बड़ी त्रुटि था। जान पड़ता था कि सरकार अंधेरे में कूद फांद कर रही है और वह तथ्यों के आधार पर विश्वासपूर्ण नीति का निर्धारण नहीं कर सक रही। सरकार को प्रयोगों के आधार पर बढ़ना होता था।

(७) मूल्य-नियंत्रण की रीति योजना-रहित, सहयोग-रहित और पर्याप्त अविस्तृत थी। कोई भी साझी निखिल भारतीय नीति ग्रहण नहीं की गयी थी। प्रत्येक प्रान्त की निजी रीति थी और जिला अधिकारियों के विस्तृत मत पर छोड़ दिया जाता था: जो कीमतें नियत की गई थीं, उनमें जिला से जिला तक अंतर था। कभी-कभी यातायात और उत्पाद की लागत पर ध्यान रखे बिना भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में एक ही कीमत नियत कर दी जाती थी। पहले केवल परचून कीमतों को नियत किया गया और थोक व्यापारियों को उच्चतम दरें लेने की छूट दे दी गई, जिससे खुदरा व्यापारी को चोर-बाजारी की कीमतें लेने के लिए बाध्य होना पड़ा। यहां पूर्ति पर नियंत्रण के बिना कीमत पर नियंत्रण था और आवश्यक रूप में इसका परिणाम चोरबाजारी होना था। सरकार ने कीमतें नियत कर दीं, किंतु और कुछ न किया। एक बार तो स्थिति इतनी संकटापन्न हो गई कि स्वतः सरकार को भी चोरबाजारी में जाना पड़ा। १९४३ में बंगाल सरकार के प्रतिनिधियों को आदेश थे कि वह किसी भी कीमत पर खाद्य का क्रय करें। समष्टि रूप में नियंत्रण की अपेक्षा व्यष्टि रूप में नियंत्रण था, जिसका फल यह हुआ कि नियंत्रण-रहित जिन्सों की कीमतें ऊंची चढ़ गयीं, जिन्होंने नियंत्रित जिन्सों पर नियंत्रण रखना कष्टकर बना दिया। यह तो महसूस नहीं किया गया कि अधिकांश जिन्सों की कीमतें पारस्परिक रूप में जुड़ी हुई थीं। इससे बढ़कर, पूर्त्ति में वृद्धि करने के लिए कोई गम्भीर चेष्टा नहीं की गयी और न ही कमी को दूर किया गया जो कि कीमत-नियंत्रण की असफलता का वास्तविक आधारमूलक हेतु था। नियंत्रण के कानून, विशेषकर जो प्रारम्भिक चरणों में स्वीकार किये गये थे, बहुत ही सामान्य थे। उन्हें स्वीकार करना सहज था, किन्तु अमल करना कठिन था। उदाहरण के लिए १९४३ के अतिसंग्रह और अपलाभ निवारक अध्यादेश को आयात कीमतों और उत्पाद की लागत के साथ जोड़ा गया था। लागतों में अन्तर होता था और वस्तुओं की भिन्न समयों और भिन्न कीमतों पर आयात की जाती थी। क्या भिन्न कीमतें ली जा सकती थीं? यदि ऐसा था, तो नियंत्रण अर्थहीन था। जिन अंशों को लागत में सम्मिलित किया जाना था, उनका उल्लेख ही नहीं था। यह भी न्यायानुसार नहीं कि सम्पूर्ण देशभर के व्यापारियों के लिए एक ही सीमान्त नियत किया जावे। आयात वस्तुओं की स्थिति में बन्दरगाहों के नगर-व्यापारी लाभ में रहते थे और उन लोगों का सीमान्त, जो भीतरी भागों में रहते थे, यातायात की लागतों से खत्म हो जाता था। इसलिए, वस्तुएं बन्दरगाहों के नगरों में केंद्रीभूत हो गयी

थीं। जितना ही भीतरी भाग में नगर होता, उतनी ही कम पूर्ति होती और चोरबाजारी की अधिक संभावना होती।

यह हैं कुछेक कारण, जिन्होंने भारत में कीमत के नियंत्रण को असफल करने के लिए षड्यंत्र रचा। किन्तु हमें इतनी कठोरतापूर्वक निर्णय नहीं करना चाहिए। जो परिस्थितियां थीं, उनके वशीभूत होकर सरकार को एक के बाद एक भूल के मार्ग में से निकलना ही था। हमें उपस्थित वातावरण की छूट तो देनी ही होगी। हमें उन स्वाभाविक आपदाओं पर भी विचार करना है, जो भारत में हुई अर्थात् विभाजन और अंतर्राष्ट्रीय स्थिति की घोर दशा। निःसंदेह, यदि इन परिस्थितियों में सरलतापूर्वक और सफलतापूर्वक कुछ किया जा सकता है, तो उसे आश्चर्य ही कहा जा सकता था।

७. खाद्य नियन्त्रण। नियंत्रण की जाने वाली जिन्सों में से, विशेषतः १९४३ के बंगाल-दुर्भिक्ष के बाद, स्वभावतः, खाद्य-अन्नों पर अधिकतम ध्यान दिया गया। जुलाई, १९४१ के शुरू में, केंद्रीय सरकार ने कतिपय मुख्य जिन्सों की, जिनमें गेहूँ भी शामिल था, निखिल भारतीय आधार पर अधिकतम थोक कीमत नियत की थी। इसके बाद, जब नियंत्रण और पूर्ति प्राप्त करने की दिशा में कोई चेष्टा नहीं की गई, तो जिन्सें चोरबाजार में गायब हो गयीं। अन्ततः सरकार को गेहूं का नियंत्रण तोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा, जो वस्तुतः, इस बात को मान लेना था कि नियंत्रण के मुहासरे पर सरकार की पराजय हुई। दिसंबर १९४२ में केंद्र में खाद्य विभाग की स्थापना की गयी किन्तु कुछ समय के लिए कोई स्पष्ट खाद्य नीति नहीं बनाई गई। सरकार ने भूल तथा परीक्षा के मार्ग का अनुसरण किया और स्थिति को अधिक जटिल बना दिया।

जुलाई १९४३ में, खाद्य-अन्न विषयक नीति के लिए एक कमेटी नियुक्त हुई। १९४४ के अन्त तक खाद्य-अन्नों के स्वतंत्र व्यापार को अंततः बन्द कर दिया गया। १९४५ की फसल के लिए अधिकतम कानूनी कीमतें नियत की गयीं। आधिक्य वाले प्रांतों को भी कीमत-नियंत्रण और राशनिंग के सिद्धान्त को स्वीकार करना पड़ा। १९४६ के अनिवार्य पूर्ति (अस्थायी अधिकार) कानून के आधीन प्रान्तीय सरकारों को खाद्य वस्तुओं पर नियंत्रण करने का अधिकार दिया गया था, यह कानून दिसंबर १९५२ तक बढ़ा दिया गया। १९४७ में नियंत्रण भंग करने के सूक्ष्म और असफल प्रयोग के बाद, खाद्य नियंत्रण पुनः लागू किया गया।

खाद्य-नियंत्रण का मुख्य उद्देश्य उपलब्ध खाद्य-अन्नों का उचित कीमतों पर विभिन्न वर्ग के लोगों में समान वितरण करना है। इसमें यह बातें सम्मिलित हैं: (१) आवश्यकताओं का अनुमान, (२) आन्तरिक आधिक्यों की प्राप्ति करना, (३) सम्पूर्ण पूर्ति और आवश्यकताओं के बीच की खाई को आयात की अतिरिक्त पूर्ति द्वारा पूर्ण करना, (४) उपलब्ध पूर्ति का योजित परिचलन, (५) पूर्ति का राशनिंग और (६) कीमतों को नियमित करना।[1]

विभिन्न राज्यों में आन्तरिक खाद्यान्नों की पूर्ति को प्राप्त करने के विभिन्न तरीके जारी किये गये। एक रीति तो यह है कि एकाधिकार प्रणाली को लागू करके प्राप्ति की जाय। दूसरी रीति यह है कि अन्न का जो अंश व्यापारियों तक पहुंचता जाय, वह नियत कीमत पर सरकार को सौंपते जायं। इनके मध्य की रीति पंजाब और उत्तर प्रदेश में प्रचलित है, जिसके अनुसार आधिक्य वाले क्षेत्रों पर घेरा डाल दिया जाता है और अनाजों

1. Econmic Control in India--Issued by Ministry of Commerce & Industry, P. 48.

को स्वतः पेश करने पर सरकारी संस्था द्वारा संग्रहीत किया जाता है। निजी व्यापार पर रोक है। प्राप्त करने की सभी स्कीमों का उद्देश्य क्रय करने की प्रतिद्वंद्विता को हटाना है और खाद्य अन्नों के परिचलन और यातायात को नियंत्रित करना है। परिचलन पर नियन्त्रण राशियों को कंठावरुद्ध करता है और प्राप्ति केंद्रों की दिशा में उनके बहाव का परिचलन करता है और यातायात में आरपार हो जाने की क्षति को रोकता है।

कीमत-नीति का उद्देश्य उपभोक्ताओं को उचित दर पर खाद्य पूर्ति करना है और साथ ही उत्पादक को उचित लाभ की प्राप्ति का भी भरोसा देना है। १९४६ में घरेलू उत्पादित अन्नों की अपेक्षा आयात अन्नों की कीमतें चढ़ गयी थीं। उनकी कीमतों को अल्प रखने से लिए और इस प्रकार निर्धन वर्ग को संकट से बचाने के लिए आयात अन्नों में सहायता देने की रीति चालू की गयी थी। १ जनवरी १९५१ को लागू की गयी सहायता की संशोधित स्कीम के आधीन, केंद्रीय सरकार का दायित्व कतिपय चुने हुए औद्योगिक और शहरी क्षेत्रों और कतिपय ट्रावनकोर और कोचीन जैसे भारी घाटे के राज्यों तक सीमित था। शेष के लिए राज्य सरकारों को सहायता देनी होती थी बशर्ते की वह आवश्यक समझें और देने के योग्य हों।

भारत में कीमत-नियंत्रण का कारण मुख्यतः खाद्य नियंत्रण की असफलता थी। उसकी सापेक्ष असफलता के लिए जिम्मेदार अत्यधिक अल्पता ही थी। अच्छे-से-अच्छे यत्न करने पर भी अधिक उपजाओ-आन्दोलन ने हमारे खाद्य उत्पादन में किसी प्रकार की ठोस वृद्धि नहीं की। खाद्य की आयातें सदैव ही तत्पर नहीं मिलती थीं। इधर भारत में भयंकर सूखा पड़ रहा था। प्राप्ति आशा से बहुत ही न्यून थी। जो भी हो, सरकार को इसका श्रेय देना ही होगा कि उसने १९४३ के बंगाल दुर्भिक्ष जैसी घटना को पुनः होने से बचाया।

८. वस्त्र और सूत नियन्त्रण। वस्त्र पर नियंत्रण का अभाव इतना भयंकर प्रश्न नहीं था कि जितना खाद्य पर नियंत्रण के अभाव का। खाद्य की ऊंची कीमतों का अर्थ लाखों के लिए विनाश हो सकता है, किन्तु वस्त्र की ऊंची कीमतों का नहीं। प्रत्येक व्यक्ति बिना विशेष कष्ट के, वस्त्र के क्रय को स्थगित कर सकता है। किन्तु खाद्य की मांग किसी भी दशा में स्थगित नहीं की जा सकती। भारत में वस्त्र की प्रति व्यक्ति अत्यल्प खपत जो भी हो, स्थगित करने का प्रश्न ही नहीं रहने देती। खाद्य-नियंत्रण के साथ तुलना करने पर वस्त्र-नियंत्रण में अनेक किस्में होने के कारण कुछ कठिनाइयां हुईं।

अन्य जिन्सों की तरह ही, कपड़े की कीमतों के लिए भी असाधारण उत्कर्ष के लिए एकस्तर नियत कर दिया गया था। घरेलू उत्पादन को कोयले के अभाव, खुर्दा हिस्सों और पुर्जों की आयात करने में कठिनाई और श्रम-अशांति के कारण क्षति सहन करनी पड़ी। आयात सर्वथा शून्य-स्तर पर पहुंच गए थे। इस प्रकार पूर्ति की अवस्था बहुत ही असंतोष-जनक थी। दूसरी ओर, मांग बढ़ती ही जा रही थी। सप्लाई डिपार्टमेंट (पूर्ति विभाग ने देश के अधिकतम उत्पाद में से अपने लिए एक बहुत बड़ा हिस्सा काट लिया था। सूती मिल उद्योग को सप्लाई विभाग और मोटे कपड़े के लिए अपनी क्षमता में से ६० प्रतिशत सुरक्षित रखना पड़ता था। इसके अतिरिक्त आस्ट्रेलिया, अफ्रीका और मध्यपूर्व के देशों से भी वस्त्र की बहुत मांग थी। इन अवस्थाओं में वस्त्र के मूल्य में उत्कर्ष होना अनिवार्य था। वस्तुतः, १९४३ में तृतीय मूल्य-नियंत्रण कांफ्रेंस हुई और उसने विचार किया कि वस्त्र की कीमत में उत्कर्ष होगा। मई १९४२ तक, कपड़े की कीमतों में युद्ध-पूर्व के स्तर से पांच गुना अधिक कीमत हो गई किन्तु उन पर रोक लगाने के लिए कुछ भी नहीं किया गया। जून १९४३ तक स्वतः वस्तुओं को उनके भाग्य पर छोड़ दिया गया। "वस्त्र-

नियंत्रण का प्रारंभिक इतिहास क्रियाहीनता और उदासीनता का रहा है।[1] वस्त्र की कीमतों का सूचनांक अप्रैल १९४३ में ४६९ हो गया था, जो बहुत ही गंभीर स्थिति का द्योतक था।

अंततः, वस्त्र-नियंत्रण की आवश्यकता के लिए सरकार की निद्रा भंग हुई और जून १९४३ में वस्त्र और सूत पर विस्तृत नियंत्रण लागू किया गया। तदनुसार, (Textile Control Board) वस्त्र-नियंत्रण समिति का निर्माण कियागया, जिसे केंद्रीय सरकार को वस्त्र-नियंत्रण के विषय में परामर्श देते रहना था। एक (टैक्सटाईल) वस्त्र-कमिश्नर नियत किया गया, जिसे कीमतों उत्पादन और वितरण को नियमित करने के अधिकार सौंपे गये। पहला पग यह उठाया गया कि बाजार के अतिसंग्रह को निकालने के लिए बाध्य किया गया। पुराने स्टाकों को अक्तूबर १९४३ से पूर्व साफ करने का आदेश किया गया। (अनंतर दिसंबर १९४३ तक यह बढ़ा दिया गया)। कारखाने से निकलने, थोक और खुर्दा की कीमतों की मोहर लगानी होती थी। वस्त्र की दशा में कारखाने से बाहर जाने कीकीमत पर खुर्दा कीमतों में २० प्रतिशत और सूत की अवस्था में १५ प्रतिशत जोड़ा जा सकता था। यह बहुत ही सुखकर सीमांत था और भारी टैक्सों के बावजूद मिलों ने भारी नफा कमाया और अगस्त १९३९ में लाभ प्राप्ति का ५९·४ सूचनांक दिसंबर १९४० में १८८·१ हो गया। १९४३—४४ में केवल अहमदाबाद ने अतिरिक्त लाभ-कर के रूप में ४० करोड़ रुपया दिया था। १९४७ में धीरे-धीरे नियंत्रण भंग करने के प्रयोग के अतिरिक्त, भारत में १९४३ से वस्त्र नियंत्रण जारी रहा है। अगस्त १९४८ में सूती वस्त्र (नियंत्रण) आज्ञा (Cotton Textiles Control Order) अनिवाय पूर्त्ति (अस्थायी अधिकार) कानून १९४६ के आधीन जारी की गई।

कपड़े की कीमतों, उत्पादन और वितरण पर अभी कुछ समय पहले नियंत्रण था। वस्त्र और सूत नियंत्रण के प्रशासन में सरकार की सहायता के लिए उच्च-अधिकार-संपन्न दो कमेटियां हैं: सूती वस्त्र और कपास नियंत्रण कमेटी नियंत्रणों की कार्यकारिता में सहायक होती है और वस्त्र प्रगतिकारी कमेटी, अन्य विषयों में वस्त्र की अधिकतम उत्पत्ति के लिए लक्ष्यों की सिफारिश करती है और कपास की पूर्त्ति मिल के सामान और साधनों तथा अन्य कच्चे पदार्थों की पूर्ति के विषय में अनुमति प्रदान करती है। यह पूर्ण वस्तुओं की कीमतें भी नियत करती है। कीमतें प्रत्येक तिमाही के बाद नियत की जाती हैं और संबंधित सब माल की गिनती कर ली जाती है। जहां तक उत्पाद का संबंध है, १९४३ में पहली चेष्टा मोटा कपड़ा (Standard cloth Scheme) बनाने की योजना के संबंध में की गई थी। दूसरी चेष्टा अक्तूबर १९४८ में सर्वसाधारण की मांग द्वारा किस्मों की पर्याप्त संख्या के विषय में निर्माता को आश्वासन दिलाने के लिये की गई थी और साथ ही ऐसे उत्पादों पर, जो लोक-प्रिय नहीं थे, और न बिकने योग्य किस्मों पर रोक लगाने का भी यत्न किया गया। किंतु १९४९ में जब स्टाक जमा हो गये थे तो इनमें से कई नियंत्रणों को वापिस लेना पड़ा और मिलों को इच्छानुसार बिकने योग्य किस्मों को बनाने की स्वीकृति दे दी गई। १९५० के अंत में और १९५१ के शुरू में, जब धोतियों और साड़ियों की कमी थी, मिलों को आदेश दिया गया कि वह अपनी उत्पाद क्षमता को ५० प्रतिशत इन किस्मों को निर्मित करने में लगाएं। यह देखने पर कि रंगदार और छींटदार वस्त्र के लिये मांग कम है, उसके उत्पादन पर रोक लगा दी गई और मिलों को अपने संपूर्ण उत्पाद का १० प्रतिशत बनाने के लिए आज्ञा दीगई, हाथ करघों द्वारा उत्पाद

1. Anjaria & Others— Price Control in India 1946. p. 120.

में सहायता देने के लिए, एक हैंडलूम प्रगतिकारी कोष की रचना की गई, जिसमें आरंभ में १० लाख रुपया रखा गया और उत्पाद की कतिपय किस्मों को हैंड लूमों के लिए सुरक्षित कर दिया गया। अतिसंग्रह को रोकने के लिये यह आदेश दिया गया कि मिल द्वारा निर्मित वस्त्र ६ मास के अंदर-अंदर गांठों से खुल जाना चाहिए और १२ मास के अंदर-अंदर पूरी तरह बिक जाना चाहिए। वस्त्र पर उत्पाद के मास की मोहर लगवानी होती थी। ऐसा न हो कि कपड़ा चोरबाजार में गायब हो जाय, इसलिए १९४८ में वस्त्र (परिचलन-नियंत्रण) आज्ञा जारी की गई, जिसके द्वारा वस्त्र रेल, सड़क, समुद्र अथवा आकाश द्वारा वाहन-स्वीकृति-पत्र के बिना आ-जा नहीं सकता था। डाक-पार्सलों से वस्त्र भेजने पर भी रोक लगाई गई और उसके लिए सूती वस्त्र (डाक द्वारा भेजना) रोकाज्ञा, १९५१ जारी की गयी। भारत सरकार ने इस बात का दायित्व लिया था कि प्रत्येक राज्य को नियम-पूर्वक उसका वस्त्र और सूत का मासिक कोटा पहुंचता रहेगा। वस्त्र कमिश्नर राज्य द्वारा मनोनीत व्यक्तियों को उत्पाद केंद्रों से वस्त्र क्रय करने के स्वीकृति-पत्र देता था। राज्य अपने निजी लाइसेंसदार व्यापारी नियत करते हैं और कपड़े के लिए मिल के बाहर जाने की कीमत पर अधिकतम सीमान्त लाभ १४ प्रतिशत और सूत पर १२॥ प्रतिशत नियत करते हैं। अपने राज्य के अंतर्गत ही राज्य सरकार को वितरण का अधिकार है। कुछ राज्यों ने बड़े-बड़े केंद्रों में राशनिंग जारी किया है और कुछ ने फेअर प्राइस शॉप (उचित कीमत पर माल देने वाली दुकानें) खोल दी हैं।

कीमतों, उत्पाद और वितरण पर नियंत्रण होने के अतिरिक्त आयातों, निर्यातों और मिलों के गोदामों पर भी नियंत्रण है। ८० काऊंट या अधिक के सूत की आयात पर नियंत्रण नहीं है। जहां तक वस्त्र का संबंध है, केवल ऐसी ही किस्मों का आयात किया जा सकता है, जो या तो देश में कतई पैदा नहीं की जातीं अथवा केवल अल्प परिमाण में उत्पन्न होती हैं। सूत के निर्यातों पर पूर्णतः प्रतिबंध है और मिल के उत्पाद का केवल १० प्रतिशत निर्यात के लिये बांधा जा सकता है। जो भी हो, यह प्रतिशत व्यापार की अवस्थाओं के अनुसार घटता-बढ़ता है। कपास के वितरण और अन्य मिल के सामान का भी नियंत्रण किया जाता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अक्तूबर १९५२ से वस्त्र नियंत्रण ढीला कर दिया गया है और वस्त्रों की कई किस्मों पर से तो नियंत्रण बिलकुल ही उठा दिया गया है।

खाद्य-नियंत्रण की तरह वस्त्र-नियंत्रण भी, किसी सीमा तक प्रारंभिक दशाओं में सफल नहीं हुआ। इस स्कीम में निम्न त्रुटियां थीं:—

(१) नियंत्रण बोर्ड (समिति) निजी स्वार्थों से पूर्ण था और पक्षपात-हीन परामर्श की उससे आशा नहीं की जा सकती थी। उद्योग कमेटी ने, जिनमें उद्योग के प्रतिनिधि थे, बहुत ऊंचे सीमांत नियत किये थे। इसने प्रामाणीकरण को निरुत्साहित किया और अनेक किस्मों के उत्पाद को प्रोत्साहन दिया।

(२) नियंत्रण अधिकारी का यातायात पर नियंत्रण नहीं था कि जो वितरण पर नियंत्रण की सफल कार्यकारिता के लिये अनिवार्य है।

(३) कोयले की पूर्ति भी वस्त्र नियंत्रण अधिकारी की शक्ति से बाहर थी कि जो, परिणामतः, उत्पाद की वृद्धि के यत्नों में एक भारी त्रुटि थी।

(४) सप्लाई विभाग के क्रय वस्त्र नियंत्रण अधिकारी की परिधि से बाहर थे।

(५) मुद्रा की निरंतर बढ़ती हुई राशियों ने कीमतों में उत्कर्ष कर दिया था और उन पर नियंत्रण करने की सरकार की चेष्टाओं को शून्य कर दिया था।

(६) नियंत्रण जारी करने की स्कीम को बिना सोचे-विचारे लागू कर दिया गया था और बहुत देर करके, और यहां तक कि अनमने चित्त से उपाय लागू किये गए थे। "अधिकारियों ने समस्या के आकार को नहीं समझा था और इसके अन्य कारण यह थे : प्रबंध विषयक देरी, यातायात का अभाव, अतिसंग्रह और अपलाभ करने वालों पर रोक लगाने में असफलता और सबसे बढ़कर जनता में विश्वास की भावना उत्पन्न करने में असफलता।"[1]

९. **अन्य जिन्सों पर नियंत्रण।** त्रिसूत्री नियंत्रण अर्थात् कीमत पर नियंत्रण, उत्पाद पर नियंत्रण और वितरण पर नियंत्रण, अन्य कुछ जिन्सों पर भी किया गया। किसी सीमा तक कीमत नियंत्रण और खाद्य तथा वस्त्र की मुख्य आवश्यकताओं पर नियंत्रण के विषय में सामान्य विचार कर चुकने पर, अब हम अन्य जिन्सों के नियंत्रण पर भी विहंगम दृष्टिपात करेंगे।

खांड—अप्रैल १९४२ में खांड पर नियंत्रण किया गया था और इसका उद्देश्य उपलब्ध पूर्ति का उचित दामों पर समान वितरण करना था। दिसंबर १९४७ में नियंत्रण उठा दिया गया। किंतु यह प्रयोग सफल न हुआ और सितंबर १९४९ में पुनः नियंत्रण लागू कर दिया गया। वर्तमान में केंद्रीय सरकार सब कारखानों की खांड के कारखाने से बाहर जाने की दरों, गन्ने की कीमतों और राज्यों को जाने वाले कोटों को नियत करती है। राज्य अपनी सीमाओं के अंतर्गत खांड के वितरण का स्वतः प्रबंध करते हैं। शहरी क्षेत्रों में यह राशन की दूकानों अथवा फेयर प्राइस दूकानों द्वारा वितरण की जाती है। राज्य केंद्रीय सरकार द्वारा नियत कीमतों के आधार पर अपनी सीमाओं में थोक और खुर्दा की कीमतें नियत करते हैं। गुड़ और खांडसारी की उच्चतम कीमतें भी नियत की गई हैं।

खांड में आंशिक विनियंत्रण (Partial Decontrol) की रीति को भी चालू किया गया है। कारखानों को स्वीकृति दी गई है कि वह अपने नियत कोटे से ऊपर के उत्पाद को खुले बाजार में बेच सकते हैं। इसका उद्देश्य अधिकतम उत्पाद करने के लिए प्रलोभन देना है। इस रीति के अनुसार प्रत्येक उपभोक्ता को नियत उचित कीमत पर न्यूनतम पूर्ति का भरोसा हो जाता है और साथ ही जो लोग क्रय करने में समर्थ हैं, वह अपनी आवश्यकतानुसार ऊँची कीमतों पर खुले बाजार से क्रय कर सकते हैं।

१९५२–५३ से खांड के मूल्यों तथा वितरण पर से नियंत्रण उठा लिया गया है।

लोहा और इस्पात—लोहे और इस्पात और टुकड़ों पर लोहा और इस्पात (उत्पाद और वितरण का नियंत्रण) आज्ञा १९४१ (Iron & Steel Control &Production Order, 1941) तथा लोहा और इस्पात (टुकड़ा नियंत्रण) आज्ञा १९४३, (Iron & Steel Scrap Control Order, 1943) के अधीन नियंत्रण किया जाता है। केंद्रीय सरकार ने इन नियंत्रणों के प्रबंध के लिए स्टील कंट्रोलर (इस्पात नियंत्रण-कर्त्ता) नियत किया हुआ है। वह इस्पात के उत्पाद के विषय में आदेश करता है और विशिष्ट आदेशों के लिए रोलिंग प्राथमिकता प्रदान करता है।

व्यापार और उद्योग सचिवालय उपलब्ध पूर्तियों की उपभोक्ताओं के १५ समूहों में बांट करता है। सर्वसाधारण जनता और लघु-स्तर के उत्पादक अपनी आवश्यकताएँ अपने राज्य के नियत अंश में से प्राप्त करते हैं। लगभग १५०० स्टाकिस्ट हैं, जो राज्य सरकारों द्वारा दिये गए आज्ञा-पत्र के अनुसार लोहे और इस्पात की पूर्ति करते हैं। औद्योगिक टुकड़ों और दोषपूर्ण टुकड़ों की उपलब्ध मात्रा को राज्य सरकारों के जिम्मे कर दिया जाता है, जो आज्ञा-पत्रों के विरुद्ध नियंत्रित टुकड़ा व्यापारियों द्वारा वितरण

---

1. Anjaria & others—Price Control in India, 1946, p. 6.

किया जाता है। भारत में उत्पाद किये जाने वाले लोहे और इस्पात की लगभग सभी किस्मों की कीमतें जुलाई १९४४ से कानूनी नियंत्रण के आधीन हैं। सहायक उत्पादों की कीमतों का नियंत्रण विभिन्न समयों पर लागू किया गया। फरवरी १९४३ में टुकड़ों और दोषपूर्ण इस्पात का; अप्रैल १९४५ में तारों और तार-उत्पादों का; जुलाई १९४५ में नलों और लगाने के सामानों का; नवम्बर १९४९ में कच्चे लोहे (पिग आइरन) का; जनवरी १९५० में टीन की चादरों का। एक समानीकरण कोष (Equalization Fund) की रचना की गई, ताकि सब उत्पादक, छोटे या बड़े, समान कीमत पर बेच सकें। स्टील कंट्रोलर इस्पात की आयात के लिए लाइसेंस भी देता है और आयात किये इस्पात का उसके आदेशानुसार वितरण किया जाता है।

सीमेंट—युद्ध के दिनों में सीमेंट उत्पादन का ९० प्रतिशत सरकार ले लेती थी। अगस्त १९४२ में, सीमेंट उत्पाद पर पहले-पहल नियंत्रण लागू हुआ था। मूल्य और वितरण पर मार्च १९४४ में भारत रक्षा अधिनियम के आधीन नियंत्रण लागू किया गया था। सितंबर १९४६ में इन अधिनियमों की समाप्ति पर उत्पादकों के साथ "शिष्ट समझौते" के अनुसार नियंत्रण जारी रहा। साधारण मटमैले रंग के पोर्टलैंड सीमेंट पर कानूनी कीमत नियंत्रण मार्च १९४४ में लागू किया गया था। समय-समय पर भारत सरकार उत्पाद की लागत औसत के आधार पर थोक कीमतें नियत करती थी। खुर्दा कीमतें राज्य सरकारों द्वारा नियत की जाती हैं।

जहां तक उपलब्ध पूर्त्तियों के वितरण का सम्बन्ध है, उपभोक्ताओं के भिन्न वर्गों को त्रैमासिक बांट की जाती है। किफायत और समान वितरण के उद्देश्य से देश को क्षेत्रों में बांटा गया है और उन्हें क्षेत्रीय अवैतनिक सीमेंट परामर्शदाताओं (Regional Cement Advisors) के आधीन रखा गया है। यह परामर्शदाता कारखानों से सीमेंट लेने के लिए आज्ञा पत्र जारी करते हैं। राज्य का कोटा सरकार की मांग की पूर्ति करने के बाद सर्वसाधारण जनता के क्रय के लिए जिला के स्टाकिस्टों में वितरण कर दिया जाता है। एक अंश उद्योगों के डाइरेक्टरों को सौंपा गया है, जो लघु-स्तर के उद्योगों की आवश्यकताओं को पूर्ण करता है। जिला के अंतर्गत जिलाधिकारी स्थानीय स्टाकिस्टों से माल लेने के लिए आज्ञा-पत्र देता है।

कोयला—कोयले पर पहले-पहल अक्तूबर १९४४ में भारत रक्षा अधिनियम के आधीन नियंत्रण जारी किया गया था और इस समय १९४६ के अनिवार्य पूर्त्ति (अस्थायी अधिकार) कानून के आधीन जारी है। इन नियंत्रणों का प्रबंध कोल कमीशन करता है। कोयले के नियंत्रण का उद्देश्य उपभोक्ताओं को उचित कीमत पर प्राप्ति का विश्वास देना है और उद्योग के लिए दृढ़ अवस्थाओं को उत्पन्न करना, आन्तरिक आवश्यकताओं से अधिक का निर्यात करना, यातायात विषयक कठिन क्षेत्रों में उपभोक्ताओं की पूर्ति के लिए यातायात का सदुपयोग करना, इस बात का विश्वास दिलाना कि जहां घटिया किस्म से काम चल सकता है, वहां बढ़िया का उपयोग नहीं किया जा सकता और खानों से सामान तथा नियमित कोयले की ढुलाई का प्रबंध करना। कोयले की पूर्त्तियों को बांटने के उद्देश्य से उद्योगों का उनके महत्व के अनुसार विभिन्न समूहों में वर्गीकरण किया गया है और प्रत्येक उद्योग अथवा समूह के लिए मांग उपस्थित करने वाला अधिकारी है, जो कोल (कोयला) कमिश्नर के सामने समूह की मांग उपस्थित करता है।

इन जिन्सों के अतिरिक्त अन्य अनेक जिन्सें हैं, जो नियंत्रण के आधीन हैं। उनमें से निम्न का उल्लेख किया जा सकता है: नमक, मिट्टी का तेल पत्थर का कोयला, ईंधन की लकड़ी, दूध और दूध के उत्पाद, वनस्पति, कपास, जूट, ऊन, कहवा, रबर इत्यादि।

१०. व्यापार नियंत्रण। आन्तरिक व्यापार पर नियंत्रण अब तक विचारकी गई जिन्सों के नियंत्रण द्वारा अपूर्ण हो जाता है। अब हमें यह देखना रह जाता है कि विदेशी व्यापार कहां तक नियंत्रण की शर्त में आता है। वर्तमान में आयात नियंत्रण और निर्यात-नियंत्रण की विस्तृत प्रणाली जारी है।

आयात-नियंत्रण—यह मई १९४० की बात है कि भारत रक्षा अधिनियम के आधीन युद्ध उपाय के रूप में आयात-नियंत्रण जारी किया गया था। युद्ध से शांतिकाल में सरलतापूर्वक बदलने के उद्देश्य से आयात-नियंत्रण को १९४६ के आकस्मिक अधिकार (अविच्छेद) आर्डीनेंस,(Emergedcy Provision Continuance Ordinance, 1946) के आधीन एक वर्ष के लिए जारी रखा गया था। जो भी हो, यह आवश्यक समझा गया कि इसे और आगे जारी रखा जावे और उस उद्देश्य के लिए आयात और निर्यात (नियंत्रण) अधिनियम(Imports and Exports Control Act) १९४७ में स्वीकार किया गया, जो १९५० में संशोधित हुआ। इसके द्वारा भारत में आयात-नियंत्रण का कानूनी आधार प्राप्त होता है।

आयात-नियंत्रण के आधार-मूलक उद्देश्य यह हैं: (१) सम्पूर्ण उपलब्ध विदेशी विनिमय के उपार्जनों के अनुसार देश की अधिकतम आयातों को सीमित करना; (२) अपने विदेशी विनिमय के साधनों को आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं और कृषि तथा उद्योग की उन्नति की वस्तुओं में समान रूप से बांटना; और (३) विशिष्ट जिन्स की कीमतों में चढ़ाव-उतार को नियमित करना। प्रति ६ मास का विदेशी विनिमय बजट तैयार किया जाता है। देश की आयात विषयक आवश्यकताओं का अनुमान घरेलू उत्पाद की इन वस्तुओं की कीमतों, परिमाण और प्रमाण की गणना करने के बाद किया जाता है। आयात की जाने वाली वस्तुओं को प्राथमिकता और बांटे गए विदेशी विनिमय की दृष्टि से क्रमित किया जाता है।

आयात की जाने वाली वस्तुओं के लिए विदेशी विनिमय की बांट आयात वस्तुओं केलिए लाइसेंस णाली की आवश्यकता प्रकट करती है। ऐसी भी कतिपय वस्तुएं जिन्हें कोई भी बिना लाइसेंस के मंगा सकता है। उन्हें ओ० जो० एल० (Open General Licence) खुले लाइसेंस के आधीन रखा गया है। आयात लाइसेंसों के लिये आवेदन-पत्रों का तीन वर्गों में विभाजन किया गया है: (१) कच्चे पदार्थों और अर्द्ध-पूर्ण-वस्तुओं के अमली उपयोग करने वाले; (२) परिस्थापित आयात करने वाले; (३) नव-आगन्तुक। पाकिस्तान से आये विस्थापितों को रियायत दी गयी है। जब तक कि एक वस्तु ओ० जी० एल० में अंकित न हो, उसके लिए लाइसेंस होना ही चाहिए, अन्यथा वह वस्तुएं जब्त कर ली जाएंगी अथवा उन पर दंड देना पड़ेगा। जो वस्तुएं आयात की जायें वह देश के अर्थ-लाभ के लिए अनिवार्यतः होनी चाहियें—कृषि और उद्योग की उन्नति के लिए और समाज के सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए।

निर्यात-नियंत्रण—युद्ध के दिनों निर्यातों पर कड़ा नियंत्रण लगाना अत्यावश्यक हो जाता है अन्यथा वे वस्तुएं शत्रुओं तक पहुंच जावेंगी। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक समझा जाता है कि युद्ध को सफल करने के लिए कतिपय जिन्सों की पर्याप्त पूर्ति बनी रहे अथवा उन्हें नागरिक उपयोग के लिए सुरक्षित रखा जा सके। पहले-पहल भारत-रक्षा अधिनियम के आधीन निर्यात-नियंत्रण किया गया था और अनन्तर आकस्मिक अधिकार आज्ञा १९४६ तथा आयात और निर्यात कानून, १९४७ और १९५० में उसके संशोधन के अधीन १९५५ तक बनाये रहने के लिए जारी रखा गया।

अपने भुगतानों के संतुलन को उन्नत करने के लिए भारत ने युद्धोत्तर काल में निर्यातों पर से नियंत्रण हटाने की प्रगतिशील नीति का अनुसरण किया है। कतिपय वस्तुओं पर से या तो नियंत्रण पूर्णतया हटा लिया गया है अथवा पर्याप्त रूप में नरम कर दिया गया है। कोरिया-युद्ध के बाद अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति के कारण निर्यात-नीति का परीक्षण करने की आवश्यकता हुई और कुछ दुर्लभ एवं अत्यावश्यक वस्तुओं के निर्यात पर पूर्ण रोक लगा दी गयी। मार्च १९५२ में, जिन्सी कीमतों में एकाएक न्यूनता हुई और निर्यात-नीति को पुनः उदार बना दिया गया। निर्यात नियंत्रण के मुख्य उद्देश्य ये हैं: आन्तरिक आवश्यकताओं और देश की आर्थिक प्रगति की वृद्धि के अनुरूप निर्यातों को प्रोत्साहन देना; (२) डालर और कठोर मुद्रा क्षेत्रों की दिशा में निर्यातों का बहावीकरण ताकि उन देशों की आवश्यकीय आयातों की व्यय-पूर्ति हो सके; (३) बनी हुई वस्तुओं की निर्यात को प्रोत्साहन देना; (४) दुर्लभ जिन्सों का आन्तरिक खपत के लिए संचय करना। वस्तु-विशेष के लिए लाइसेंस की उपेक्षा करने के लिए, ओ० जी० एल० (खुला लाइसेंस) जारी किया जाता है और उसमें अंकित वस्तुओं का स्वतंत्रतापूर्वक निर्यात किया जा सकता है। शेष के लिए निर्यात लाइसेंस आवश्यक है। ऐसी वस्तुओं का निर्यात, जो (Export Trade Control Notification) निर्यात व्यापार नियंत्रण-आज्ञा के अंतर्गत हैं या तो रोक दिया गया है अथवा कोटा द्वारा नियमित किया गया है अथवा उदारतापूर्वक लाइसेंस दिये जाते हैं अथवा गुणों के कारण स्वीकृति दी जाती है या ओ० जी० एल० के आधीन स्वीकार किया जाता है।

११. यातायात नियंत्रण। युद्ध के समय यातायात के सब साधनों पर युद्ध-सामग्री तथा अन्य आवश्यकीय पूर्तियों और फौजों के असाधारण परिचलन के कारण भारी दबाव पड़ जाता है। यहां तक कि शहरी आवागमन भी उच्चतम शिखर पर पहुंच जाता है। यदि उसे उसी के भरोसे छोड़ दिया जाय, तो यातायात प्रणाली निःसंदेह इसके दबाव के कारण नष्ट हो जावे। इसलिए यातायात का नियंत्रण आवश्यकीय होता है।

भारत सरकार ने रेलों पर दबाव को कम करने के सभी संभव उपाय किये। लोगों में इस बात का प्रबल प्रचार किया गया कि कम सामान के साथ यात्रा करो और "अत्यावश्यकता के समय ही यात्रा करें।" एक प्राथमिकता की प्रणाली बनाई गई और वस्तुओं तथा यात्रियों को उस रीति के अनुसार ले जाया जाता। फौजी आवा-गमन और अनिवार्य वस्तुओं के परिचलन को खुला मार्ग दिया जाता था। कतिपय वस्तुओं का परिचलन कतिपय क्षेत्रों के लिए रोक दिया गया था और अन्यों के परिचालन को रेल द्वारा रोक दिया गया था, जिससे इस आवागमन को यातायात के अन्य साधनों की दिशा में बदल दिया जाय।

इन प्रतिबन्धों की विद्यमानता में भी यातायात की यह रीति जनता, व्यापार और उद्योग की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए पर्याप्त सिद्ध न हुई। यह देखा गया कि आवश्यकीय वस्तुओं, जैसे खाद्य-अन्नों, कोयले और कपड़े को जिस गति के साथ ले जाना चाहिए, वैसा करना असंभव था। १९४३ के बंगाल दुर्भिक्ष में मृत्यु की इतनी बड़ी संख्या न होती यदि खाद्य को अधिक गति के साथ पहुंचाया जा सकता। यदि कोयले और अनिवार्य कच्चे पदार्थों के लिए यातायात उपलब्ध होता तो औद्योगिक उत्पाद को भी इतनी क्षति न होती। वस्त्र-अकालों को भी रोका जा सकता था। यातायात की पर्याप्त सुविधाओं के अभाव में लोगों को अनंत कष्ट सहन करने पड़े।

किन्तु जान पड़ता है कि रेलें अब युद्ध की क्षति से लगभग सम्पूर्णतया स्वस्थ हो चुकी हैं। वर्तमान में प्रायः संपूर्ण सामान्य सुविधाएं जारी कर दी गई हैं।

१२. विदेशी विनिमय नियंत्रण। युद्ध कार्यों में प्रवृद्धि करने के लिए और साथ ही देश की अर्थ-व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिए देश के विदेशी विनिमय प्रसाधनों का संचय करने के निमित्त युद्धकाल में, प्रथम बार विदेशी विनिमय नियंत्रण लागू किया गया। किन्तु युद्ध के उपरान्त भी इसे जारी रखना आवश्यक समझा गया जिससे उपलब्ध विदेशी विनिमय को देश की आर्थिक प्रगति और पुनर्वास के लिए उपयुक्त किया जा सके। तदनुसार, १९४७ में (Foreign Exchange Regulation Act) विदेशी विनिमय अधिनियम स्वीकार किया गया। वर्तमान प्रबंधों के अनुसार विदेशी विनिमय की पूंजी को भारतीय विनिमय नियंत्रण (Indian Exchange Control) को सौंप दिया जाता है और उसकी कुल राशि को आयात के अर्थ-प्रबन्ध में खर्च किया जाता है। विदेशी विनिमय के व्यवहार रिजर्व बैंक द्वारा स्वीकृत व्यापारियों द्वारा हो सकते हैं। बुलियन और मुद्रा के आयात और निर्यात पर भी प्रतिबन्ध लगा दिये गए हैं। पहले विनिमय नियंत्रण स्टर्लिंग-हीन देशों के साथ आदान-प्रदान पर लागू होता था, क्योंकि स्टर्लिंग को स्टर्लिंग संतुलन में से तत्काल निकाला जा सकता था। किन्तु जब स्टर्लिंग समझौते के अनुसार स्टर्लिंग प्राप्ति को नियमित किया गया तो स्टर्लिंग आदान-प्रदान को भी विनिमय नियंत्रण में लिया गया। स्टर्लिंग क्षेत्र का सदस्य होने के नाते भारत ने अन्य देशों की समता में कतिपय ऐसे उपाय करने स्वीकार कर लिये हैं, जिनसे डालर तथा अन्य कठोर मुद्राओं के कारण उत्पन्न हुए घाटों को पूर्ण किया जा सके। विनिमय नियंत्रण इन उपायों पर भी क्रियाशील होता है। आयात लाइसेंसदार स्वतः विदेशी विनिमय की प्राप्ति का अधिकारी बन जाता है। अन्य विदेशी भुगतानों के लिए विदेशी विनिमय या तो रिजर्व बैंक से या भारत सरकार से प्राप्त करना होता है।

१३. विनियोजन पर नियंत्रण। विनियोजन और पूंजी विषयों पर मई १९४३ में प्रथम बार नियंत्रण किया गया था, जिससे उपलब्ध कोषों का युद्ध की सफलता के लिए केवलमात्र उपयोग किया जा सके। युद्ध के बाद पूंजी विषयक नियंत्रण को जारी रखना पड़ा। इस प्रकार (Capital Issues, Continuance of Control, Act) पूंजी नियंत्रण अधिनियम १९४७ में स्वीकार किया गया और पुनः १९५० में उसे दो वर्ष की अवधि के लिए बढ़ा दिया गया।

युद्ध-काल में पूंजी नियंत्रण का जो उद्देश्य था, युद्धोत्तर काल में इस नियंत्रण का भिन्न अर्थ है। वर्तमान में इस का अर्थ यह है कि निजी विनियोजनों को कृषि, उद्योग और सामाजिक सेवाओं की उन्नति के सम-स्तर पर लाया जावे। अंशों, स्कन्धों, प्रतिज्ञा-पत्रों तथा ऋण-पत्रों और अन्य विनियोजनों पर नियंत्रण लागू है। पांच लाख अथवा कम के विनियोजनों पर छूट दी गयी है। पूंजी जारी करने के लिए पूंजी विषयों के नियंत्रण-कर्त्ता को स्वीकृति के लिए आवेदन-पत्र दिया जाता है। और यदि वह प्रस्तावित विनियोजन केंद्रीय अथवा राज्य सरकारों की योजनाओं के अनुकूल होता है अथवा उचित समझा जाता है, तो स्वीकृति दी जाती है। विनियोजनों को प्रभावित करने वाले अन्य उपायों का विदेशी पूंजी को विश्वास दिलाने, घरेलू औद्योगिकों को रियायतें, सहानुभूतिपूर्ण कर-नीति, विनिमय नियंत्रण, बैंकिंग पर नियंत्रण, आयात और निर्यात नियंत्रण, उद्योगों के संरक्षण, अल्पपूर्ति के कच्चे पदार्थों के वितरण, राष्ट्रीय बचत के आंदोलन, जहाजी तथा रेलों के यातायात आदि के साथ सम्बन्ध है।

१४. नियंत्रण की कार्यकारिता। हमने युद्ध और उसके बाद से जारी रहने वाले विभिन्न नियंत्रणों के उपायों पर विहंगम दृष्टि डाली है। क्या यह उपाय सफल हुए और

इन से इच्छित परिणामों की प्राप्ति हुई? इस विषय में अनेक मत हैं। एक साधारण व्यक्ति नियंत्रणों से कतई निराश हो चुका है और वह चाहता है कि यथाशीघ्र उनसे मुक्ति मिले। महात्माजी इन नियंत्रणों के विरुद्ध थे और उन्होंने अपने शक्तिपूर्ण प्रभाव का इन्हें हटाने में प्रयोग किया था। दूसरी ओर, विशेषज्ञों की राय इन्हें जारी रखने के पक्ष में है, इसलिए नहीं कि वह अच्छे हैं, प्रत्युत वह आवश्यक हैं——एक अनिवार्य बुराई की भांति।

इन नियंत्रणों के प्रारम्भिक चरणों में क्रियान्वित स्थिति की असफलता के विषय में किसी को भी मतभेद नहीं। इसके क्या कारण थे? हम पूर्वतः मूल्य नियंत्रण (भाग ६) की असफलता के विषय में विचार कर चुके हैं। नियंत्रणों की सामान्यतः असफलता के लिए यही कारण उत्तरदायी हैं। हम इन कारणों की परिगणना कर सकते हैं:—

१. सरकारी क्षेत्रों में आत्म-संतोष ने नियंत्रणों को समय पर लागू न होने दिया। नियंत्रणों को जारी करने में देरी ने उस स्थिति का मुकाबला करने में कठिनाई उत्पन्न की, जो अन्ततः सम्पूर्णतया हीनतम हो चुकी थी। नियंत्रणों के यंत्र-चालन के विषय में पर्याप्त रूप से पूर्वतः विचार नहीं किया गया था।

२. प्रशासन यंत्र में त्रुटियां थीं, जिसके अनेक कारण थे: पर्याप्त शिक्षा और अनुभव-हीन नौसिखियों को नियंत्रणों की सेवा पर नियत किया गया था। बड़े और छोटे सभी अधिकारी नियंत्रणों की कार्यकारिता से सर्वथा अपरिचित थे। अयोग्यता और अभिज्ञता के अतिरिक्त सब सरकारी दर्जों में भ्रष्टाचार फैला हुआ था। ऐसा जान पड़ता था कि वह नियंत्रणों को सफल बनाने में इतनी रुचि नहीं रखते, जितनी यथासंभव अल्पकाल में अपने लिये धन उत्पन्न कर लेने में रखते हैं। इसका मुख्य कारण यह भी था कि अधिकांश उनमें से अस्थायी नौकरी पर थे। उन्हें पता था कि किसी न किसी समय उन्हें जाना ही होगा। उन्होंने स्वभावतः समय से लाभ उठाया।

३. लोगों का भी दोष था। नियंत्रण उपायों को सफल करने के लिए एक विशिष्ट रूप का चरित्र होता है कि जिसका हमारे लोगों में सर्वथा अभाव है। उनमें संयम की भावना का अभाव है। उनमें राष्ट्र के लिए त्याग करने का उत्साह नहीं। वह भ्रष्टाचार को बढ़ाते हैं और उसमें सहायक होते हैं। जनता से सहयोग के अभाव में नियंत्रण क्यों कर लागू हो सकते थे? जनता में सहयोग के अभाव का कारण योग्यता में और सरकार के औचित्य में अविश्वास था। प्रत्येक व्यक्ति अपने ही स्वार्थ में जुटा हुआ था, जिसका फल अशांति हुआ।

४. इसके अतिरिक्त, विभिन्न प्रबंध इकाइयों के बीच सहयोग और शृङ्खला का अभाव था। प्रायः राज्य की क्रिया केंद्रीय निर्देशन की विरोधी होती थी और नियंत्रण के उपायों को सफल बनाने के लिए केंद्रीय सरकार के यत्नों को शून्य कर देते थे।

५. जनता और सरकार के सब दोषों को समक्ष रखते हुए यह मानना ही पड़ेगा कि भारत-जैसे देश में नियंत्रण लागू करना बहुत कठिन है। हमारा देश बहुत विस्तार वाला है और उसमें यातायात और आवागमन के साधन अपर्याप्त हैं। यहां विभिन्न क्षेत्र की आर्थिक अवस्थाओं में नितान्त भिन्नता है। उत्पाद असंगठित हैं और मार्केटिंग संगठन तो बहुत अर्वाचीन है। लगभग सर्वमान्य निरक्षरता और शिक्षा का अभाव, जिससे हम प्रताड़ित हैं, सिवा सरकार के उपाय में बाधक होने के और कुछ नहीं हो सकती। इन वातावरणों में और इस प्रकार की स्वाभाविक कठिनाइयों में, यदि नियंत्रण इंग्लैंड और अमरीका की भांति सफल हो जाते तो उसे जादू का ही प्रभाव कहा जा सकता था।

नियंत्रणों की असफलता के बहुत ही भयंकर परिणाम हुए।

(१) हमारे लोगों का समष्टि रूप में नैतिक-पतन हुआ। सार्वजनिक जीवन नितांत दूषित हो चुका था। ईमानदारी और सचाई के जो थोड़े से मामले थे, वह भ्रष्टाचार और घूसखोरी में विलीन हो गये।

(२) स्वतंत्र अर्थ-प्रबंध में नियंत्रणों ने भयानक दराड़ें कर दी थीं। फलस्वरूप, उनसे उत्पादशक्ति बुरी तरह प्रभावित हुई। औद्योगिक और व्यापारियों ने अपने को अनेक बंद गलियों में पड़े पाया।

(३) सामान्य व्यापार के स्रोत सूख गये हैं। लाइसेंस प्राप्त और अधिकृत व्यापारियों को कारोबार सौंप दिया गया है और शेष व्यापारी समाज अनिवार्य बेकारी में छोड़ दिया गया है। अनेक स्थापित फर्में दिवालिया हो चुकी हैं।

(४) नियंत्रणों की असफलता के फलस्वरूप चोरबाजारी और अतिसंग्रह की समाज-विरोधी बुराइयां पैदा हो गई हैं। यदि नियंत्रण सफल हो जाते तो इन बुराइयों का उभरते ही सिर कुचला जाता। लोगों ने विश्वास के साथ इस नई रीति में अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि के प्रति अग्रभाव से देखा होता।

जो भी हो, हमें यह अनुमान नहीं करना चाहिए कि नियंत्रणों की अप्रामाणिक असफलता हुई। यह केवल प्रारम्भिक चरण थे जबकि नियंत्रण असफल हुए। वर्तमान में वह उचित ढंग से सफलतापूर्वक कार्य कर रहे है और जिन बुराइयों का हमने ऊपर उल्लेख किया है, वह अधिकांशतः लोप हो गई हैं। सरकार ने नियंत्रण की रीति को उन्नत कर लिया है और प्रशासन-यंत्र को कस दिया है। साथ ही, अधिकारियों ने भी पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर लिया है। इसके अतिरिक्त लोग भी नियंत्रणों के विरोधी नहीं, क्योंकि सरकार अब विदेशी नहीं। भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन गतिशील हो रहा है। पूर्ति की स्थिति पर्याप्त अच्छी हो रही है। यातायात-प्रणाली अब सामान्यतः कार्य करने लगी है। इन सब अशों का सामूहिक प्रभाव सफलता का वह उचित उपाय है, जो वर्तमान में भारत में आर्थिक नियंत्रण पूर्ण कर रहे हैं।

१५. हाल ही के मूल्यों में भारी मंदी (मार्च १९५२) और नियंत्रण। सरकार ने मुद्रा-स्फीति-विरोधी जो उपाय किये थे, उनका अन्त में प्रभाव होकर रहा और कीमतों ने १९५१ के उत्तर-काल की कीमतों में ह्रास की प्रवृत्ति ग्रहण की। किन्तु १९५२ के आरम्भ में वह बुरी तरह फिसलीं। सर्वसाधारण के लिए यह अत्यधिक संतोष की बात थी कि मार्च १९५२ में वह एकाएक गिर गई। १९५१ में जिस सोने की कीमत १२० रु० थी, वह ८४ हो गई; और चांदी २१५ रु० से १६२ रु० हो गई। अरंडी की कीमतें फरवरी में १६२ रु० से मार्च में १२८ रु० रह गई। बंगाली देसी कपास में १५ प्रतिशत से भी अधिक की न्यूनता हो गई और इसी प्रकार सूती वस्तुओं में भी कीमतों में कमी हो गई। मोटे और मध्य-वस्त्र की किस्मों की कीमतें जहां मिल के बाहर की अपेक्षा १०० प्रतिशत अधिक होती थीं, वह ४० से ९० प्रतिशत तक गिर गईं। अहमदाबाद के बाजार में १५ से ६० प्रतिशत की न्यूनता हुई। ऐसा जान पड़ता था कि देश सन् ३० वाली महान मंदी की ओर अग्रसर होने जा रहा है। सारा बाजार ठप्प हो गया और क्रेता भी कोई नहीं था। जनवरी-फरवरी, १९५२ में राज्यों के मनोनीतों ने बारीक १० प्रतिशत और बढ़िया वस्त्र ३५ प्रतिशत उठाया था। वस्त्र की मिलों में स्टाक संचित हो गये थे। खांड के कारखानों ने पेलना बद कर दिया था और गन्ने से भरे छकड़े कारखानों के बाहर लंबी पांतों में खड़े

थे, किन्तु कारखानों ने मोल लेने से इंकार किया। गन्ना उगाने वालों को भीषण हानि हुई। वस्त्र की मिलों ने भी काम बंद करना शुरू कर दिया था।

इन अवस्थाओं में सरकार ने महसूस किया कि नियंत्रणों में कुछ छूट होनी चाहिए। कई राज्य सरकारों ने कपड़े के वितरण पर से नियंत्रण हटा लिये। राजस्थान सरकार ने वस्त्र पर से सब भांति का, प्रमाण और परिमाण विषयक अथवा अन्य प्रकार के प्रतिबंध, नियंत्रण उठा लिया। भारत सरकार ने घोषणा की कि १ अप्रैल १९५२ से सितम्बर १९५२ तक फाईन और सुपर फाईन वस्त्र के निर्यात के लिए उदारतापूर्वक लाइसेंस दिये जायेंगे, विशेषकर विदेशी कपास के बने वस्त्रों के। कपड़े के आंतरिक नियंत्रण को भी ढीला कर दिया गया। यह निश्चय किया गया कि १ अप्रैल १९५२ से मिलों द्वारा बनने वाले मोटे और मध्यम दर्जे के वस्त्र का ५० प्रतिशत सरकार के मनोनीतों को दिया जावे और शेष के लिए मिलों को लाइसेंस प्राप्त व्यापारियों को इच्छानुसार देने की छूट हो। यह भी निश्चय किया गया कि फाईन कपड़े की कोई भी किस्म राज्य के मनोनीतों को न दी जावे। सूत के विषय में निर्णय किया गया कि विदेशी कपास से बने सूत को मिलें सब काऊंटों में अपनी इच्छानुसार लाइसेंस प्राप्त व्यापारियों को दे सकती हैं। जो भी हो, भारतीय कपास का बना सूत तो राज्य-सरकारों या उनके मनोनीतों में ही वितरित होता रहेगा। किन्तु यदि गांठें उठाई न जावें और नियत अवधि में दाम न चुकायें जावें, तो मिलों को स्वेच्छापूर्वक बेचने का अधिकार होगा। निर्यात नियंत्रण में छूट देने का तात्पर्य यह था कि कपड़े का निर्यात बढ़े और विदेशी विनिमय का उपार्जन हो सके। जनवरी-मार्च १९५२ में १० करोड़ गज के निर्यात कोटे में से वस्तुतः केवल ५ करोड़ गज का निर्यात हुआ। वितरण नियंत्रण में छूट देने का अर्थ यह था कि मिलों में वस्त्र और सूत का संचय न हो और जनता को स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्त हो सके। इस सारी स्थिति का वस्त्र-नियंत्रण कमेटी ने अवलोकन किया और उसने ११ अप्रैल, १९५२ को सिफारिश की कि वर्तमान अवस्थाओं में पूर्ण नियंत्रण नहीं उठाना चाहिए।

१६. **नियंत्रणों का भविष्य**। पहले-पहल नियंत्रण युद्धकाल में जारी किये गए थे। लोगों को आशा थी कि जैसे ही युद्ध समाप्त होगा, ये जाते रहेंगे। किन्तु यह आशा पूर्ण नहीं हो सकी। उन्हें इसलिए भी युद्ध के बाद जारी रखा गया कि युद्ध से शांति के अंतर-काल की अर्थ-व्यवस्था का भरोसा हो सके और साथ ही अब तक पूर्ति की स्थिति में कठिनाई बनी हुई है। विभाजन के अनन्तर परिस्थिति भयंकर हो गई। १९४९ में मुद्रा-अवमूल्यन ने मूल्यों को और अधिक ऊँचा करके भयभीत कर दिया और नियत्रणों को अधिक कड़ा करना पड़ा। कोरिया के युद्ध और फलस्वरूप स्टाक-संचय ने नियंत्रणों को रखने तथा कड़ा करने की अधिक आवश्यकता प्रकट की। इस प्रकार वातावरण ने ऐसा रूप धारण किया कि नियंत्रणों से पिंड छुड़ाना असम्भव हो गया। किंतु भविष्य के विषय में क्या होगा?

अर्थशास्त्री कोई ज्योतिषी नहीं है और अर्थ-विज्ञान में भविष्यवाणी करने की योग्यता का अभाव है। किन्तु सब संबंधित अंशों और संभावित प्रवृत्तियों को दृष्टि में रखते हुए यह जान पड़ता है कि नियंत्रण अभी कुछ वर्षों तक जारी रहेंगे। संभव है कि उन्हें एक-एक करके हटाया जावे या उन्हें ढीला किया जावे (एक-एक जिस के रूप में)। उदाहरण के लिए खांड पर से आंशिक रूप में नियंत्रण पहले ही हटाया जा चुका है और यहां तक कि यह आंशिक भी विलोप हो जावे। किन्तु खाद्य और वस्त्र पर, जो जीवन के लिए अनिवार्य हैं, नियंत्रण रहना ही चाहिए। खाद्य की आत्म-निर्भरता का ध्येय अभी हमेशा की तरह बहुत दूर है। केवल जब मुख्य नदी-योजनाएं पूर्ण होंगी, तभी खाद्य की

स्थिति में उन्नति संभव है। किन्तु कष्ट यह है कि हमारी जनसंख्या में बहुत वेग के साथ वृद्धि हो रही है। इसलिए, खाद्य की स्थिति, आगामी दस वर्षों के लिए अभी चिंता का कारण बनी रह सकती है। कपड़े पर नियंत्रण इस कारण जारी रखा जाना चाहिए कि विदेशी विनिमय का उपार्जन किया जा सके।

किन्तु नियंत्रणों को जारी रखने का सबसे महत्वपूर्ण कारण वह आयोजित अर्थ-व्यवस्था है, जिसके निर्माण का हमने प्रस्ताव किया है। हमने अपनी प्रथम पंच-वर्षीय योजना आरंभ कर दी है और उसके बाद ऐसी ही योजनाएं और भी चलेंगी। इन आयोजित योजनाओं का उद्देश्य समाज के सीमित प्रसाधनों का अधिकतम लाभ के लिए उपयोग करना है। इन प्रसाधनों के बहाव को संयत रूप देना है। यदि हमें आयोजित अर्थ-व्यवस्था के लक्ष्य को प्राप्त करना है, तो प्रसाधनों का स्वतंत्रतापूर्वक परिचालन नहीं होने देना होगा। इस प्रकार पूंजी विषय और विदेशी विनिमय पर नियंत्रण जारी रहना चाहिए। उत्पाद का भी नियंत्रण जारी रहना चाहिए। यदि राज्य निश्चय करता है कि क्या उत्पाद हो, और क्या नहीं होना चाहिए तो उपभोक्ताओं को कदापि यह आज्ञा नहीं होनी चाहिए कि वह किस वस्तु की खपत करना चाहते हैं। इसलिए उपभोक्ताओं की स्वच्छन्दता पर सीमाएं लगानी ही होंगी। इस प्रकार सहज ही इस निर्णय पर पहुंचा जा सकता है कि नियंत्रणों से मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती। किन्तु इसकी चिन्ता हमें नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सरकार ने इन नियत्रणों को योग्यतापूर्वक चलाने में पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर लिया है।